ॐ अर्हं

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क १४

[परमश्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री जोरावरमलजी महाराज की पुण्यस्मृति में आयोजित]

पंचमगणधर भगवत् सुधर्मस्वामी-प्रणीत : पंचम अंग

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र

[भगवतीसूत्र-प्रथम खण्ड]

[मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद, विवेचन, टिप्पणयुक्त]

☐

प्रेरणा

(स्व.) उपप्रवर्तक शासनसेवी स्वामी श्री व्रजलालजी महाराज

☐

आद्य संयोजक तथा प्रधान सम्पादक

(स्व०) युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर'

☐

सम्पादक—विवेचक—अनुवादक ☐

श्री अमर मुनि

[भण्डारी श्री पदमचन्दजी महाराज के सुशिष्य]

श्रीचन्द सुराणा 'सरस'

☐

प्रकाशक

श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क १४

☐ निर्देशन
साध्वी श्री उमरावकुंवर 'अर्चना'

☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ द्वितीय संस्करण
वीर निर्वाण सं० २५१८
विक्रम सं० २०४८
नवम्बर १९९१ ई०

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति
श्री ब्रज-मधुकर स्मृति भवन,
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन—३०५९०१

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय,
केसरगंज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य : [redacted] 85/-

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Shri Joravarmalji Maharaj

FIFTH GANADHAR SUDHARMA SWAMI COMPILED.
FIFTH AṄGA

VYAKHYĀPRAJNAPTI SŪTRA

(BHAGAVATĪ SŪTRA)
First Part
[Original Text, with Variant Readings, Hindi Version, Notes, etc.]

□
Inspiring Soul
(Late) Up-pravartaka Shasansevi Rev. Swami Shri Brijlalji Maharaj

□
Convener & Founder Editor
(Late) Yuvacharya Shri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

□
Editors & Annotators
Shri Amarmuni
Shri Chand Surana 'Saras'

□
Publishers
Shri Agam Prakashan Samiti
Beawar (Raj.)

Jinagam Granthmala Publication No. 14

☐ **Direction**
Sadhwi Shri Umravkunwar 'Archana'

☐ **Board of Editors**
Anuyoga-pravartaka Muni Shri Kanhaiyalalji 'Kamal'
Upacharya Shri Devendra Muni Shastri
Shri Ratan Muni

☐ **Promotor**
Muni Shri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendra Muni 'Dinakar'

☐ **Second Edition**
Vir-Nirvana Samvat 2518
Vikram Samvat 2048, Nov 1991.

☐ **Publishers**
Sri Agam Prakashan Samiti,
Shri Brij-Madhukar Smriti Bhawan,
Pipalia Bazar, Beawar (Raj.)
Pin 305 901

☐ **Printer**
Satish Chandra Shukla
Vedic Yantralaya
Kesarganj, Ajmer

☐ **Price : [redacted] 85/-**

समर्पण

जो अपने युग मे असाधारण व्यक्तित्व के वैभव से विभूषित थे,

जिनागम-निरूपित विमल साधना का सकल्प ही जिनका एकमात्र साध्य रहा,

जिनवाणी के प्रचार-प्रसार एवं जिनशासन के उद्योत के लिए जिनका सयमजीवन समर्पित रहा,

जिनकी शिष्य-प्रशिष्य-परम्परा ने कालानुक्रम से विशाल-विराट् रूप धारण किया,

जिन्होने अपने जीवन द्वारा जैन इतिहास के नूतन अध्यायो का निर्माण किया, उन

परमपूज्य

आचार्यश्री धर्मदासजी महाराज

के कर-कमलो मे

सादर विनय सभक्ति ।

—मधुकर मुनि

(प्रथम संस्करण से)

प्रकाशकीय

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र अपरनाम भगवतीसूत्र के प्रथम खण्ड का यह द्वितीय सस्करण है।

द्वादशांगो मे यह पाचवा अङ्गशास्त्र है और गणधर सुधर्मास्वामी द्वारा ग्रथित है। विभिन्न दार्शनिक विचारो और जिज्ञासाओ के समाधानो से इसे ग्रन्थराज भी कहा जाता है। इसमे गणधर गौतमस्वामी, अन्यान्य गणधरो, श्रमणो एव श्रावक-श्राविकाओ द्वारा पूछे गये ३६००० प्रश्नो तथा उनके श्रमण भगवान् महावीर द्वारा किये गये समाधानो का सकलन किया गया है।

यह ग्रन्थराज अनेक शतको (अध्ययनो) मे विभाजित है और उन शतको मे भी अनेक अवान्तर अध्ययन है। इसकी मुख्य विवेचन शैली प्रश्नोत्तररूप है।

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र के विविध प्रकार के संस्करण प्रकाशित हुए हैं। उनमें कतिपय अति विस्तृत और कतिपय अति सक्षिप्त है। इस प्रकार के सस्करण जनसामान्य योग्य नही हो सकेंगे, ऐसा हमारा अनुमान है। अत आगमप्रकाशन समिति ने दोनो प्रकार के सस्करणो की विशेषताओ का समावेश करके यह प्रकाशन किया है। जिसको जनसाधारण ने सराहा एव ग्रन्थ भण्डारो व आगम अध्येताओ की माग बढती रही। इसी कारण यह द्वितीय सस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। इसके शेष खण्डो और अन्य अनुपलब्ध शास्त्रो का भी पुनर्मुद्रण हो रहा है। जिनसे समस्त आगमबत्तीसी आगमपाठी महानुभावो को प्राप्त हो सके।

समिति की ओर से हम उन सभी महानुभावो का सधन्यवाद आभार मानते हैं, जिनके सहयोग से आगमो के प्रकाशन जैसे महान् कार्य मे सफलता प्राप्त कर सके हैं।

रतनचन्द मोदी — कार्यवाहक अध्यक्ष
सायरमल चोरड़िया — महामत्री
अमरचन्द मोदी — मत्री
श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.)

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

(कार्यकारिणी समिति)

अध्यक्ष	श्री सागरमलजी बेताला	इन्दौर
कार्यवाहक अध्यक्ष	श्री रतनचन्दजी मोदी	ब्यावर
उपाध्यक्ष	श्री धनराजजी विनायकिया	ब्यावर
	श्री पारसमलजी चोरड़िया	मद्रास
	श्री हुक्मीचन्दजी पारख	जोधपुर
	श्री दुलीचन्दजी चोरड़िया	मद्रास
	श्री जसराजजी सा. पारख	दुर्ग
महामन्त्री	श्री जी० सायरमलजी चोरडिया	मद्रास
	श्री अमरचन्दजी मोदी	ब्यावर
	श्री ज्ञानराजजी मूथा	पाली
सहमन्त्री	श्री ज्ञानचन्दजी विनायकिया	ब्यावर
कोषाध्यक्ष	श्री जवरीलालजी शिशोदिया	ब्यावर
	श्री आर प्रसन्नचन्द्रजी चोरड़िया	मद्रास
परामर्शदाता	श्री माणकचन्दजी सचेती	जोधपुर
कार्यकारिणी सदस्य	श्री एस सायरमलजी चोरड़िया	मद्रास
	श्री मोतीचन्दजी चोरडिया	मद्रास
	श्री मूलचन्दजी सुराणा	नागौर
	श्री तेजराजजी भण्डारी	जोधपुर
	श्री भवरलालजी गोठी	मद्रास
	श्री प्रकाशचन्दजी चोपडा	ब्यावर
	श्री जतनराजजी मेहता	मेड़तासिटी
	श्री भवरलालजी श्रीश्रीमाल	दुर्ग
	श्री चन्दनमलजी चोरडिया	मद्रास
	श्री सुमेरमलजी मेडतिया	जोधपुर
	श्री आसूलालजी बोहरा	जोधपुर

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र (प्रथम खण्ड : प्रथम संस्करण) के अर्थसहयोगी

माननीय सेठ श्रीहीराचन्दजी सा. चोरड़िया

[प्रथम संस्करण से]

नोखा (चादावतो का) चोरडिया-परिवार जितना विशाल है, उतना ही इस परिवार का हृदय विशाल है। आर्थिक दृष्टि से जितना सम्पन्न है, उदारभावना से भी उतना ही सम्पन्न है। सार्वजनिक सेवा, शासन-अभ्युदय और परोपकार के कार्यों मे जितना अग्रसर है, उतना ही विनम्र, सौम्य और सरल है। सेठ हीराचन्दजी सा. इस परिवार के वयोवृद्ध सम्माननीय सदस्य हैं। आपकी सरलता और गम्भीरता असाधारण है।

चोरडियाजी का जन्म वि स. १९५६ की फाल्गुन शुक्ला सप्तमी को नोखा मे हुआ। पिताजी श्रीमान् सिरेमलजी चोरडिया के आप सुपुत्र हैं। आपने श्रीमती सायबकु वरजी की कुक्षि को पावन किया।

जब आप केवल १८ वर्ष के थे तभी आपको पितृवियोग के दारुण प्रसग का सामना करना पडा। पिताजी के बिछुडते ही परिवार का समग्र उत्तरदायित्व आपके कन्धो पर आ पडा। आपने बड़ी कुशलता, सूझबूझ, धैर्य और साहस से अपने दायित्व का निर्वाह किया।

आज आप की गणना मद्रास के प्रतिष्ठित व्यवसायियो मे की जाती है। आप अपने व्यवसाय-कौशल के कारण अनेक फर्मों के सस्थापक एव सचालक हैं। आपकी मुख्य फर्म **'सिरेमल हीराचन्द फाइनेन्सीयर्स'** (साहूकार पेट, मद्रास) है। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित सस्थानो के भी आप अधिपति हैं—

(१) सिरेमल हीराचन्द एण्ड कम्पनी

(२) इन्टरनेशनल टायर सर्विस—टायर्स एण्ड बेटरीज डीलर्स, माउन्ट रोड, मद्रास

(३) चोरडिया रबर प्रोडक्टस् प्रा लि. मद्रास

व्यवसाय के क्षेत्र मे सलग्न और अग्रसर होने पर भी आपका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से उसी के लिए समर्पित नही है। आपने उपार्जित लक्ष्मी का समाजसेवा एव परोपकार मे व्यय किया है और कर रहे हैं। मरुभूमि मे जल और जलाशय का कितना मूल्य और महत्त्व है, यह सर्वविदित है। सस्कृतभाषा मे जल का एक नाम 'जीवन' है। वास्तव मे जल के अभाव मे जीवन टिक नही सकता। वह जीवन की सर्वोच्च आवश्यकता है। इस तथ्य को ध्यान मे रख कर आपने आज से चालीस वर्ष पूर्व नोखा-निवासियो की सुविधा के लिए कुआ खुदवाया, जिससे सारा गाव आज भी लाभ उठा रहा है।

यही नही, आपके जन्मग्राम नोखा मे ही 'सिरेमल जोरावरमल प्राइमरी हेल्थसेंटर' के निर्माण में भी आपका विशिष्ट योगदान रहा है।

मद्रास मे होने वाले प्रत्येक सार्वजनिक कार्य मे आपका सक्रिय एव सार्थक योगदान रहा है, चाहे वह हाईस्कूल हो, जैन कालेज हो या बालिकाओ का हाईस्कूल हो।

मगर आपका सब से महत्त्वपूर्ण और विशेष उल्लेखनीय सेवाकार्य है—**हीराचन्द आई हॉस्पिटल** नामक नेत्रचिकित्सालय। यह मद्रास के साहूकार पेट मे अवस्थित है। यह अस्पताल सेठ हीराचन्दजी सा तथा आपके तीन सुपुत्रों—श्रीतेजराजजी, प्रकाशचन्दजी तथा शरबतचन्दजी सा. ने बडे ही उत्साह के साथ स्थापित किया है।

आपने अपने परिवार के 'सिरेमल हीराचन्द चेरिटेबिल ट्रस्ट' द्वारा सात लाख रुपयो की बडी राशि लगा कर बनवाया है। यह अस्पताल आधुनिक साधन-सामग्री से सम्पन्न है। इसमे १५ बिस्तर (Beds) हैं, आउट पेशेन्ट वार्ड है। आधुनिक एयरकण्डीशण्ड (वातानुकूलित) आपरेशन थियेटर है तथा स्पेशल वार्ड आदि सभी सुविधाएं हैं। यह आधुनिक शस्त्रो तथा साज-सामान से सुसज्जित है।

इस अस्पताल से प्रतिदिन ७५ रोगी लाभ उठा रहे हैं और प्रतिवर्ष ६०० आपरेशन होते हैं। विशेष उल्लेखनीय तो यह है कि इस अस्पताल का दैनिक प्रबन्ध सेठ साहब और आपके सुपुत्र स्वय ही करते हैं।

समाज सेवा की उत्कट भावना के अतिरिक्त आपका धार्मिक जीवन भी सराहनीय है। प्रतिदिन सामयिक-प्रतिक्रमण करना तो आपका नियमित अनुष्ठान है ही, कई वर्षों से आप चौविहार भी बराबर कर रहे हैं।

आपका परिवार खूब भरा-पूरा है। तीन सुपुत्र नौ पौत्र, सात प्रपौत्र एव चार सुपुत्रिया हैं।

इस समय आपकी उम्र ८२ वर्ष की है, फिर भी आप अपने सात्विक आहार-विहार तथा विचारो की बदौलत स्वस्थ और सक्रिय है।

सक्षेप मे सेठ श्रीहीराचन्दजी सा पूर्वोपार्जित पुण्य के धनी हैं और भविष्य के लिए भी पुण्य की महा-निधि सचित कर रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन मे आपके विशिष्ट अर्थ-सहयोग के लिए समिति अत्यन्त आभारी है।

—मन्त्री
आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

आदि वचन
[प्रथम संस्करण से]

विश्व के जिन दार्शनिको—दृष्टाओं/चिन्तको, ने "आत्मसत्ता" पर चिन्तन किया है, या आत्म-साक्षात्कार किया है उन्होंने पर-हितार्थ आत्म-विकास के साधनो तथा पद्धतियो पर भी पर्याप्त चिन्तन-मनन किया है। आत्मा तथा तत्सम्बन्धित उनका चिन्तन-प्रवचन आज आगम/पिटक/वेद/उपनिषद् आदि विभिन्न नामो से विश्रुत है।

जैन दर्शन की यह धारणा है कि आत्मा के विकारो—राग द्वेष आदि को, साधना के द्वारा दूर किया जा सकता है, और विकार जब पूर्णत निरस्त हो जाते हैं तो आत्मा की शक्तियाँ ज्ञान/सुख/वीर्य आदि सम्पूर्ण रूप मे उद्घाटित-उद्भासित हो जाती हैं। शक्तियो का सम्पूर्ण प्रकाश-विकास ही सर्वज्ञता है और सर्वज्ञ/आप्त-पुरुष की वाणी, वचन/कथन/प्ररूपणा—"आगम" के नाम से अभिहित होती है। आगम अर्थात् तत्त्वज्ञान, आत्म-ज्ञान तथा आचार-व्यवहार का सम्यक् परिबोध देने वाला शास्त्र/सूत्र/आप्तवचन।

सामान्यत. सर्वज्ञ के वचनो/वाणी का सकलन नही किया जाता, वह बिखरे सुमनो की तरह होती है, किन्तु विशिष्ट अतिशयसम्पन्न सर्वज्ञ पुरुष, जो धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं, सघीय जीवन पद्धति मे धर्म-साधना को स्थापित करते है, वे धर्मप्रवर्तक/अरिहत या तीर्थंकर कहलाते हैं। तीर्थंकर देव की जनकल्याणकारिणी वाणी को उन्ही के अतिशयसम्पन्न विद्वान् शिष्य गणधर सकलित कर "आगम" या शास्त्र का रूप देते हैं अर्थात् जिन-वचनरूप सुमनो की मुक्त वृष्टि जब मालारूप मे ग्रथित होती है तो वह "आगम" का रूप धारण करती है। वही आगम अर्थात् जिन-प्रवचन आज हम सब के लिए आत्म-विद्या या मोक्ष-विद्या का मूल स्रोत है।

"आगम" को प्राचीनतम भाषा मे "गणिपिटक" कहा जाता था। अरिहंतो के प्रवचनरूप समग्र शास्त्र-द्वादशाग मे समाहित होते हैं और द्वादशाग/आचाराग-सूत्रकृताग आदि के अग-उपाग आदि अनेक भेदोपभेद विकसित हुए हैं। इस द्वादशागी का अध्ययन प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक और उपादेय माना गया है। द्वादशागी मे भी बारहवाँ अग विशाल एव समग्र श्रुतज्ञान का भण्डार माना गया है, उसका अध्ययन बहुत ही विशिष्ट प्रतिभा एव श्रुतसम्पन्न साधक कर पाते थे। इसलिए सामान्यत एकादशाग का अध्ययन साधको के लिए विहित हुआ तथा इसी ओर सबकी गति/मति रही।

जब लिखने की परम्परा नही थी, लिखने के साधनो का विकास भी अल्पतम था, तब आगमो/शास्त्रो/को स्मृति के आधार पर या गुरु-परम्परा से कठस्थ करके सुरक्षित रखा जाता था। सम्भवत इसलिए आगम ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा गया और इसीलिए श्रुति/स्मृति जैसे सार्थक शब्दो का व्यवहार किया गया। भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के एक हजार वर्ष बाद तक आगमो का ज्ञान स्मृति/श्रुति परम्परा पर ही आधारित रहा। पश्चात् स्मृतिदौर्बल्य, गुरुपरम्परा का विच्छेद, दुष्काल-प्रभाव आदि अनेक कारणो से धीरे-धीरे आगमज्ञान लुप्त होता चला गया। महासरोवर का जल सूखता-सूखता गोष्पद मात्र रह गया। मुमुक्षु श्रमणो के लिए यह जहाँ चिन्ता का विषय था, वहाँ चिन्तन की तत्परता एव जागरूकता को चुनौती भी थी। वे तत्पर हुए श्रुतज्ञान-निधि के सरक्षण हेतु। तभी महान् श्रुतपारगामी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने विद्वान् श्रमणो का एक सम्मेलन बुलाया और स्मृति-दोष से लुप्त होते आगम ज्ञान को सुरक्षित एव सजोकर रखने का आह्वान किया। सर्व-सम्मति से आगमो को लिपि-बद्ध किया गया।

जिनवाणी को पुस्तकारूढ करने का यह ऐतिहासिक कार्य वस्तुत आज की समग्र ज्ञान-पिपासु प्रजा के लिए एक अवर्णनीय उपकार सिद्ध हुआ। सस्कृति, दर्शन, धर्म तथा आत्म-विज्ञान की प्राचीनतम ज्ञानधारा को प्रवहमान रखने का यह उपक्रम वीरनिर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् प्राचीन नगरी वलभी (सौराष्ट्र) मे आचार्य श्री देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व मे सम्पन्न हुआ। वैसे जैन आगमो की यह दूसरी अन्तिम वाचना थी, पर लिपिबद्ध करने का प्रथम प्रयास था। आज प्राप्त जैन सूत्रो का अन्तिम स्वरूप-सस्कार इसी वाचना मे सम्पन्न किया गया था।

पुस्तकारूढ होने के बाद आगमो का स्वरूप मूल रूप मे तो सुरक्षित हो गया, किन्तु काल-दोष, श्रमण-सघो के आन्तरिक मतभेद, स्मृतिदुर्बलता, प्रमाद एव भारतभूमि पर बाहरी आक्रमणो के कारण विपुल ज्ञान-भण्डारो का विध्वस आदि अनेकानेक कारणो से आगमज्ञान की विपुल सम्पत्ति, अर्थबोध की सम्यक् गुरु-परम्परा धीरे-धीरे क्षीण एव विलुप्त होने से नही रुकी। आगमो के अनेक महत्त्वपूर्ण पद, सन्दर्भ तथा उनके गूढार्थ का ज्ञान, छिन्न-विच्छिन्न होते चले गए। परिपक्व भाषाज्ञान के अभाव मे, जो आगम हाथ से लिखे जाते थे, वे भी शुद्ध पाठ वाले नही होते, उनका सम्यक् अर्थ-ज्ञान देने वाले भी विरले ही मिलते। इस प्रकार अनेक कारणो से आगम की पावन धारा सकुचित होती गयी।

विक्रमीय सोलहवी शताब्दी मे वीर लोकाशाह ने इस दिशा मे क्रान्तिकारी प्रयत्न किया। आगमो के शुद्ध और यथार्थ अर्थज्ञान को निरूपित करने का एक साहसिक उपक्रम पुन चालू हुआ। किन्तु कुछ काल बाद उसमे भी व्यवधान उपस्थित हो गये। साम्प्रदायिक-विद्वेष, सैद्धातिक विग्रह, तथा लिपिकारो का अत्यल्प ज्ञान आगमो की उपलब्धि तथा उसके सम्यक् अर्थबोध मे बहुत बडा विघ्न बन गया। आगम-अभ्यासियो को शुद्ध प्रतिया मिलना भी दुर्लभ हो गया।

उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम चरण मे जब आगम-मुद्रण की परम्परा चली तो सुधी पाठको को कुछ सुविधा प्राप्त हुई। धीरे-धीरे विद्वत्-प्रयासो से आगमो की प्राचीन चूर्णियाँ, निर्युक्तियाँ, टीकाये आदि प्रकाश मे आई और उनके आधार पर आगमो का स्पष्ट-सुगम भावबोध सरल भाषा मे प्रकाशित हुआ। इसमे आगम-स्वाध्यायी तथा ज्ञान-पिपासु जनो को सुविधा हुई। फलत आगमो के पठन-पाठन की प्रवृत्ति बढी है। मेरा अनुभव है, आज पहले से कही अधिक आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति बढी है, जनता मे आगमो के प्रति आकर्षण व रुचि जागृत हो रही है। इस रुचि-जागरण मे अनेक विदेशी आगमज्ञ विद्वानो तथा भारतीय जैनेतर विद्वानो की आगम-श्रुत-सेवा का भी प्रभाव व अनुदान है, इसे हम सगौरव स्वीकारते हैं।

आगम-सम्पादन-प्रकाशन का यह सिलसिला लगभग एक शताब्दी से व्यवस्थित चल रहा है। इस महनीय-श्रुत-सेवा मे अनेक समर्थ श्रमणो, पुरुषार्थी विद्वानो का योगदान रहा है। उनकी सेवायें नीव की ईंट की तरह आज भले ही अदृश्य हो, पर विस्मरणीय तो कदापि नही। स्पष्ट व पर्याप्त उल्लेखो के अभाव मे हम अधिक विस्तृत रूप मे उनका उल्लेख करने मे असमर्थ हैं, पर विनीत व कृतज्ञ तो हैं ही। फिर भी स्थानकवासी जैन परम्परा के कुछ विशिष्ट-आगम श्रुत-सेवी मुनिवरो का नामोल्लेख अवश्य करना चाहेंगे।

आज से लगभग साठ वर्ष पूर्व पूज्य श्री अमोलकऋषिजी महाराज ने जैन आगमो—३२ सूत्रो का प्राकृत मे खडी बोलो मे अनुवाद किया था। उन्होने अकेले ही बत्तीस सूत्रो का अनुवाद कार्य सिर्फ ३ वर्ष व १५ दिन मे पूर्ण कर अद्भुत कार्य किया। उनकी दृढ लगनशीलता, साहस एव आगम ज्ञान की गम्भीरता उनके कार्य से ही स्वतः परिलक्षित होती है। वे ३२ ही आगम अल्प समय मे प्रकाशित भी हो गये।

इससे आगमपठन बहुत सुलभ व व्यापक हो गया और स्थानकवासी-तेरापंथी समाज तो विशेष उपकृत हुआ।

गुरुदेव श्री जोरावरमल जी महाराज का संकल्प

मैं जब प्रातःस्मरणीय गुरुदेव स्वामीजी श्री जोरावरमलजी म० के सान्निध्य में आगमो का अध्ययन-अनुशीलन करता था तब आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित आचार्य अभयदेव व शीलांक की टीकाओं से युक्त कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्ही के आधार पर मैं अध्ययन-वाचन करता था। गुरुदेवश्री ने कई बार अनुभव किया—यद्यपि यह सस्करण काफी श्रमसाध्य व उपयोगी है, अब तक उपलब्ध सस्करणो में प्राय शुद्ध भी है, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट हैं, मूलपाठो मे व वृत्ति मे कही-कही अशुद्धता व अन्तर भी है। सामान्य जन के लिये दुरूह तो हैं ही। चू कि गुरुदेवश्री स्वय आगमो के प्रकाण्ड पण्डित थे, उन्हे आगमो के अनेक गूढार्थ-गुरु-गम से प्राप्त थे। उनकी मेधा भी व्युत्पन्न व तर्क-प्रवण थी, अत वे इस कमी को अनुभव करते थे और चाहते थे कि आगमो का शुद्ध, सर्वोपयोगी ऐसा प्रकाशन हो, जिससे सामान्य ज्ञानवाले श्रमण-श्रमणी एव जिज्ञासुजन लाभ उठा सकें। उनके मन की यह तडप कई बार व्यक्त होती थी। पर कुछ परिस्थितियो के कारण उनका यह स्वप्न-सकल्प साकार नहीं हो सका, फिर भी मेरे मन मे प्रेरणा बनकर अवश्य रह गया।

इसी अन्तराल मे आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज, श्रमणसघ के प्रथम आचार्य जैनधर्म दिवाकर आचार्य श्री आत्माराम जी म०, विद्वद्रत्न श्री घासीलालजी म० आदि मनीषी मुनिवरो ने आगमो की हिन्दी, सस्कृत, गुजराती आदि मे सुन्दर विस्तृत टीकाये लिखकर या अपने तत्त्वावधान मे लिखवा कर कमी को पूरा करने का महनीय प्रयत्न किया है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आम्नाय के विद्वान् श्रमण परमश्रुतसेवी स्व० मुनि श्री पुण्यविजयजी ने आगम-सम्पादन की दिशा मे बहुत व्यवस्थित व उच्चकोटि का कार्य प्रारम्भ किया था। विद्वानो ने उसे बहुत ही सराहा। किन्तु उनके स्वर्गवास के पश्चात् उसमे व्यवधान उत्पन्न हो गया। तदपि आगमज्ञ मुनि श्री जम्बूविजयजी आदि के तत्त्वावधान मे आगम-सम्पादन का सुन्दर व उच्चकोटि का कार्य आज भी चल रहा है।

वर्तमान मे तेरापथ सम्प्रदाय मे आचार्य श्री तुलसी एव युवाचार्य महाप्रज्ञजी के नेतृत्व मे आगम-सम्पादन का कार्य चल रहा है और जो आगम प्रकाशित हुए है उन्हे देखकर विद्वानो को प्रसन्नता है। यद्यपि उनके पाठ-निर्णय मे काफी मतभेद की गु जाइश है। तथापि उनके श्रम का महत्त्व है। मुनि श्री कन्हैयालाल जी म० "कमल" आगमो की वक्तव्यता को अनुयोगो मे वर्गीकृत करके प्रकाशित कराने की दिशा मे प्रयत्नशील हैं। उनके द्वारा सम्पादित कुछ आगमो मे उनकी कार्यशैली की विशदता एव मौलिकता स्पष्ट होती है।

आगम साहित्य के वयोवृद्ध विद्वान् प० श्री बेचरदासजी दोशी, विश्रुत-मनीषी श्री दलसुखभाई मालवणिया जैसे चिन्तनशील प्रज्ञापुरुष आगमो के आधुनिक सम्पादन की दिशा मे स्वय भी कार्य कर रहे है तथा अनेक विद्वानो का मार्ग-दर्शन कर रहे हैं। यह प्रसन्नता का विषय है।

इस सब कार्य-शैली पर विहगम अवलोकन करने के पश्चात् मेरे मन मे एक सकल्प उठा। आज प्राय सभी विद्वानो की कार्यशैली काफी भिन्नता लिये हुए है। कही आगमो का मूल पाठ मात्र प्रकाशित किया जा रहा है तो कही आगमो की विशाल व्याख्याये की जा रही हैं। एक पाठक के लिये दुर्बोध है तो दूसरी जटिल। सामान्य पाठक को सरलतापूर्वक आगमज्ञान प्राप्त हो सके, एतदर्थ मध्यम मार्ग का अनुसरण आवश्यक है। आगमो का एक ऐसा सस्करण होना चाहिये जो सरल हो, सुबोध हो, सक्षिप्त और प्रामाणिक हो। मेरे स्वर्गीय गुरुदेव ऐसा ही आगम-सस्करण चाहते थे। इसी भावना को लक्ष्य मे रखकर मैंने ५-६ वर्ष पूर्व इस विषय की चर्चा प्रारम्भ की

थी, सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात् वि स २०३६ वैशाख शुक्ला दशमी, भगवान् महावीर कैवल्यदिवस को यह दृढ निश्चय घोषित कर दिया और आगमबत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ भी। इस साहसिक निर्णय में गुरुभ्राता शासनसेवी स्वामी श्री ब्रजलाल जी म की प्रेरणा/प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन मेरा प्रमुख सम्बल बना है। साथ ही अनेक मुनिवरो तथा सद्गृहस्थो का भक्ति-भाव भरा सहयोग प्राप्त हुआ है, जिनका नामोल्लेख किये बिना मन सन्तुष्ट नही होगा। आगम अनुयोग शैली के सम्पादक मुनि श्री कन्हैयालालजी म० "कमल", प्रसिद्ध साहित्यकार श्री देवेन्द्रमुनिजी म० शास्त्री, आचार्य श्री आत्मारामजी म० के प्रशिष्य भण्डारी श्री पदमचन्दजी म० एव प्रवचन-भूषण श्री अमरमुनिजी, विद्वद्रत्न श्री ज्ञानमुनिजी म०, स्व० विदुषी महासती श्री उज्ज्वलकु वरजी म० की सुशिष्याए महासती दिव्यप्रभाजी, एम ए, पी-एच. डी, महासती मुक्तिप्रभाजी एम. ए., पी-एच. डी. तथा विदुषी महासती श्री उमरावकु वरजी म० 'अर्चना', विश्रुत विद्वान् श्री दलसुखभाई मालवणिया, सुख्यात विद्वान् प० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, स्व प श्री हीरालालजी शास्त्री, डा० छगनलालजी शास्त्री एव श्रीचन्दजी सुराणा "सरस" आदि मनीषियो का सहयोग आगमसम्पादन के इस दुरूह काय को सरल बना सका है। इन सभी के प्रति मन आदर व कृतज्ञ भावना से अभिभूत है। इसी के साथ सेवा-सहयोग की दृष्टि से सवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार एव महेन्द्र मुनि का साहचर्य-सहयोग, महासती श्री कानकु वरजी, महासती श्री झणकारकु वरजी का सेवाभाव सदा प्रेरणा देता रहा है। इस प्रसग पर इस कार्य के प्रेरणा-स्रोत स्व० श्रावक चिमनसिहजी लोढा, स्व० श्री पुखराजजी सिसोदिया का स्मरण भी सहजरूप मे हो आता है जिनके अथक प्रेरणा-प्रयत्नो से आगम समिति अपने कार्य में इतनी शीघ्र सफल हो रही है। दो वर्ष के अल्पकाल मे ही दस आगम ग्रन्थो का मुद्रण तथा करीब १५-२० आगमो का अनुवाद-सम्पादन हो जाना हमारे सब सहयोगियो की गहरी लगन का द्योतक है।

मुझे सुदृढ विश्वास है कि परम श्रद्धेय स्वर्गीय स्वामी श्री हजारीमलजी महाराज आदि तपोपूत आत्माओ के शुभाशीर्वाद से तथा हमारे श्रमणसघ के भाग्यशाली नेता राष्ट्र-सत आचार्य श्री आनन्दऋषिजी म० आदि मुनिजनो के सद्भाव-सहकार के बल पर यह सकल्पित जिनवाणी का सम्पादन-प्रकाशन कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

इसी शुभाशा के साथ,

—मुनि मिश्रीमल "मधुकर"
(युवाचार्य)



सम्पादकीय

[प्रथम संस्करण से]

भगवतीसूत्र : एकादशांगी का उत्तमांग

जैन-आगम-साहित्य मे समस्त जैनसिद्धान्तो के मूल स्रोत बारह अगशास्त्र माने जाते है (जो 'द्वादशांगी' के नाम से अतीव प्रचलित हैं। इन बारह अगशास्त्रो मे 'दृष्टिवाद' नामक अन्तिम अगशास्त्र विच्छिन्न हो जाने के कारण अब जैनसाहित्य के भडार मे एकादश अगशास्त्र ही वर्तमान मे उपलब्ध है। ये अग 'एकादशांगी' अथवा 'गणिपिटक' के नाम से विश्रुत हैं।

जो भी हो, वर्तमान काल मे उपलब्ध ग्यारह अगशास्त्रो मे भगवती अथवा 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' सूत्र जैन आगमो का उत्तमाग माना जाता है। एक तरह से समस्त उपलब्ध आगमो मे भगवती सूत्र सर्वोच्चस्थानीय एव विशालकाय शास्त्र है। द्वादशागी मे व्याख्याप्रज्ञप्ति पचम अगशास्त्र है, जो गणधर सुधर्मास्वामी द्वारा ग्रथित है।

नामकरण और महत्ता

वीतराग सर्वज्ञ प्रभु की वाणी अद्भुत ज्ञाननिधि से परिपूर्ण है। जिस शास्त्रराज में अनन्तलब्धिनिधान गणधर गुरु श्रीइन्द्रभूति गौतम तथा प्रसगवश अन्य श्रमणो आदि द्वारा पूछे गए ३६,००० प्रश्नो का श्रमण शिरोमणि भगवान् महावीर के श्रीमुख से दिये गये उत्तरो का सकलन-सग्रह है, उसके प्रति जनमानस मे श्रद्धा-भक्ति और पूज्यता होना स्वाभाविक है। वीतरागप्रभु की वाणी मे समग्र जीवन को पावन एव परिवर्तित करने का अद्भुत सामर्थ्य है, वह एक प्रकार से भागवती शक्ति है, इसी कारण जब भी व्याख्याप्रज्ञप्ति का वाचन होता है तब गणधर भगवान् श्रीगौतमस्वामी को सम्बोधित करके जिनेश्वर भगवान् महावीर प्रभु द्वारा व्यक्त किये गए उद्गारो को सुनते ही भावुक भक्तो का मन-मयूर श्रद्धा-भक्ति से गद्गद होकर नाच उठता है। श्रद्धालु भक्तगण इस शास्त्र के श्रवण को जीवन का अपूर्व अलभ्य लाभ मानते हैं। फलत अन्य अगो की अपेक्षा विशाल एव अधिक पूज्य होने के कारण व्याख्याप्रज्ञप्ति के पूर्व 'भगवती' विशेषण प्रयुक्त होने लगा और शताधिक वर्षों से तो 'भगवती' शब्द विशेषण न रह कर स्वतत्र नाम हो गया है। वर्तमान मे व्याख्याप्रज्ञप्ति की अपेक्षा 'भगवती' नाम ही अधिक प्रचलित है। वर्तमान '**व्याख्याप्रज्ञप्ति**' का प्राकृतभाषा '**वियाहपण्णत्ति**' नाम है। कहीं-कहीं इसका नाम 'विवाहपण्णत्ति' या 'विबाहपण्णत्ति' भी मिलता है। किन्तु वृत्तिकार आचार्यश्री अभयदेव सूरि ने 'वियाहपण्णत्ति' नाम को ही प्रामाणिक एव प्रतिष्ठित माना है। इसी के तीन सस्कृतरूपान्तर मान कर इनका भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ किया है—

व्याख्याप्रज्ञप्ति—गौतमादि शिष्यो को उनके द्वारा पूछे गए प्रश्नो के उत्तर मे भगवान् महावीर के विविध प्रकार से कथन का समग्रतया विशद (प्रकृष्ट) निरूपण जिस ग्रन्थ मे हो। अथवा जिस शास्त्र मे विविधरूप से भगवान् के कथन का प्रज्ञापन—प्ररूपण किया गया हो।

व्याख्या-प्रज्ञाप्ति—व्याख्या करने की प्रज्ञा (बुद्धिकुशलता) से प्राप्त होने वाला अथवा व्याख्या करने में प्रज्ञ (पटु) भगवान् से गणधर को जिस ग्रन्थ ज्ञान की प्राप्ति हो, वह श्रुतविशेष।

थी, सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात् वि स २०३६ वैशाख शुक्ला दशमी, भगवान् महावीर कैवल्यदिवस को यह दृढ निश्चय घोषित कर दिया और आगमबत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ भी। इस साहसिक निर्णय मे गुरुभ्राता शासनसेवी स्वामी श्री ब्रजलाल जी म की प्रेरणा/प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन मेरा प्रमुख सम्बल बना है। साथ ही अनेक मुनिवरो तथा सद्गृहस्थो का भक्ति-भाव भरा सहयोग प्राप्त हुआ है, जिनका नामोल्लेख किये बिना मन सन्तुष्ट नही होगा। आगम अनुयोग शैली के सम्पादक मुनि श्री कन्हैयालालजी म० "कमल", प्रसिद्ध साहित्यकार श्री देवेन्द्रमुनिजी म० शास्त्री, आचार्य श्री आत्मारामजी म० के प्रशिष्य भण्डारी श्री पदमचन्दजी म० एव प्रवचन-भूषण श्री अमरमुनिजी, विद्वद्रत्न श्री ज्ञानमुनिजी म०, स्व० विदुषी महासती श्री उज्ज्वलकु वरजी म० की सुशिष्याए महासती दिव्यप्रभाजी, एम ए, पी-एच. डी, महासती मुक्तिप्रभाजी एम. ए., पी-एच डी. तथा विदुषी महासती श्री उमरावकु वरजी म० 'अर्चना', विश्रुत विद्वान् श्री दलसुखभाई मालवणिया, सुख्यात विद्वान् प० श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, स्व प श्री हीरालालजी शास्त्री, डा० छगनलालजी शास्त्री एव श्रीचन्दजी सुराणा "सरस" आदि मनीषियो का सहयोग आगमसम्पादन के इस दुरूह कार्य को सरल बना सका है। इन सभी के प्रति मन आदर व कृतज्ञ भावना से अभिभूत है। इसी के साथ सेवा-सहयोग की दृष्टि से सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार एव महेन्द्र मुनि का साहचर्य-सहयोग, महासती श्री कानकु वरजी, महासती श्री झणकारकु'वरजी का सेवाभाव सदा प्रेरणा देता रहा है। इस प्रसग पर इस कार्य के प्रेरणा-स्रोत स्व० श्रावक चिमनसिंहजी लोढा, स्व० श्री पुखराजजी सिसोदिया का स्मरण भी सहजरूप मे हो आता है जिनके अथक प्रेरणा-प्रयत्नो से आगम समिति अपने कार्य मे इतनी शीघ्र सफल हो रही है। दो वर्ष के अल्पकाल मे ही दस आगम ग्रन्थो का मुद्रण तथा करीब १५-२० आगमो का अनुवाद-सम्पादन हो जाना हमारे सब सहयोगियो की गहरी लगन का द्योतक है।

मुझे सुदृढ विश्वास है कि परम श्रद्धेय स्वर्गीय स्वामी श्री हजारीमलजी महाराज आदि तपोपूत आत्माओ के शुभाशीर्वाद से तथा हमारे श्रमणसघ के भाग्यशाली नेता राष्ट्र-सत आचार्य श्री आनन्दऋषिजी म० आदि मुनिजनो के सद्भाव-सहकार के बल पर यह सकल्पित जिनवाणी का सम्पादन-प्रकाशन कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

इसी शुभाशा के साथ,

—मुनि मिश्रीमल "मधुकर"
(युवाचार्य)



सम्पादकीय

[प्रथम संस्करण से]

भगवतीसूत्र : एकादशांगी का उत्तमांग

जैन-आगम-साहित्य मे समस्त जैनसिद्धान्तो के मूल स्रोत बारह अगशास्त्र माने जाते हैं (जो 'द्वादशांगी' के नाम से अतीव प्रचलित हैं। इन बारह अगशास्त्रो मे 'दृष्टिवाद' नामक अन्तिम अगशास्त्र विच्छिन्न हो जाने के कारण अब जैनसाहित्य के भडार मे एकादश अगशास्त्र ही वर्तमान मे उपलब्ध है। ये अग 'एकादशांगी' अथवा 'गणिपिटक' के नाम से विश्रुत है।

जो भी हो, वर्तमान काल मे उपलब्ध ग्यारह अगशास्त्रो मे भगवती अथवा 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' सूत्र जैन आगमो का उत्तमाग माना जाता है। एक तरह से समस्त उपलब्ध आगमो मे भगवती सूत्र सर्वोच्चस्थानीय एव विशालकाय शास्त्र है। द्वादशागी मे व्याख्याप्रज्ञप्ति पचम अगशास्त्र है, जो गणधर सुधर्मास्वामी द्वारा ग्रथित है।

नामकरण और महत्ता

वीतराग सर्वज्ञ प्रभु की वाणी अद्भुत ज्ञाननिधि से परिपूर्ण है। जिस शास्त्रराज मे अनन्तलब्धिनिधान गणधर गुरु श्रीइन्द्रभूति गौतम तथा प्रसगवश अन्य श्रमणो आदि द्वारा पूछे गए ३६,००० प्रश्नो का श्रमण शिरोमणि भगवान् महावीर के श्रीमुख से दिये गये उत्तरो का सकलन-सग्रह है, उसके प्रति जनमानस मे श्रद्धा-भक्ति और पूज्यता होना स्वाभाविक है। वीतरागप्रभु की वाणी मे समग्र जीवन को पावन एव परिवर्तित करने का अद्भुत सामर्थ्य है, वह एक प्रकार से भागवती शक्ति है, इसी कारण जब भी व्याख्याप्रज्ञप्ति का वाचन होता है तब गणधर भगवान् श्रीगौतमस्वामी को सम्बोधित करके जिनेश्वर भगवान् महावीर प्रभु द्वारा व्यक्त किये गए उद्गारो को सुनते ही भावुक भक्तो का मन-मयूर श्रद्धा-भक्ति से गद्गद होकर नाच उठता है। श्रद्धालु भक्तगण इस शास्त्र के श्रवण को जीवन का अपूर्व अलभ्य लाभ मानते हैं। फलत अन्य अगो की अपेक्षा विशाल एव अधिक पूज्य होने के कारण व्याख्याप्रज्ञप्ति के पूर्व 'भगवती' विशेषण प्रयुक्त होने लगा और शताधिक वर्षों से तो 'भगवती' शब्द विशेषण न रह कर स्वतत्र नाम हो गया है। वर्तमान मे व्याख्याप्रज्ञप्ति की अपेक्षा 'भगवती' नाम ही अधिक प्रचलित है। वर्तमान '**व्याख्याप्रज्ञप्ति**' का प्राकृतभाषा '**वियाहपण्णत्ति**' नाम है। कही-कही इसका नाम 'विवाहपण्णत्ति' या 'विबाहपण्णत्ति' भी मिलता है। किन्तु वृत्तिकार आचार्यश्री अभयदेव सूरि ने 'वियाहपण्णत्ति' नाम को ही प्रामाणिक एव प्रतिष्ठित माना है। इसी के तीन सस्कृतरूपान्तर मान कर इनका भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ किया है—

व्याख्याप्रज्ञप्ति—गौतमादि शिष्यो को उनके द्वारा पूछे गए प्रश्नो के उत्तर मे भगवान् महावीर के विविध प्रकार से कथन का समग्रतया विशद (प्रकृष्ट) निरूपण जिस ग्रन्थ मे हो। अथवा जिस शास्त्र मे विविधरूप से भगवान् के कथन का प्रज्ञापन—प्ररूपण किया गया हो।

व्याख्या-प्रज्ञाप्ति—व्याख्या करने की प्रज्ञा (बुद्धिकुशलता) से प्राप्त होने वाला अथवा व्याख्या करने में प्रज्ञ (पटु) भगवान् से गणधर को जिस ग्रन्थ ज्ञान की प्राप्ति हो, वह श्रुतविशेष।

व्याख्या-प्रज्ञप्ति—व्याख्या करने की प्रज्ञापटुता से ग्रहण किया जाने वाला अथवा व्याख्या करने में प्रज्ञ भगवान् से कुछ ग्रहण करना व्याख्या-प्रज्ञप्ति है।

इसी प्रकार विवाहप्रज्ञप्ति और विबाधप्रज्ञप्ति इन दोनों संस्कृत रूपान्तरों का अर्थ भी निम्नोक्त प्रकार से मिलता है—(१) **विवाहप्रज्ञप्ति**—जिसमें विविध या विशिष्ट प्रवाहो—अर्थप्रवाहों का प्रज्ञापन-प्ररूपण किया गया हो, उस श्रुत का नाम विवाहप्रज्ञप्ति है। (२) **विबाधप्रज्ञप्ति**—जिस ग्रन्थ में बाधारहित—प्रमाण से अबाधित तत्त्वों का प्ररूपण हो, वह श्रुतविशेष विबाध-प्रज्ञप्ति है।

विषयवस्तु की विविधता—

विषयवस्तु की दृष्टि से व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र मे विविधता है। ज्ञान-रत्नाकार शब्द से यदि किसी शास्त्र को सम्बोधित किया जा सकता है तो यही एक महान् शास्त्रराज है। इसमे जैनदर्शन के ही नहीं, दार्शनिक जगत् के प्राय सभी मूलभूत तत्त्वो का विवेचन तो है ही, इसके अतिरिक्त विश्वविद्या की कोई भी ऐसी विधा नहीं है, जिसकी प्रस्तुत शास्त्र मे प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से चर्चा न की गई हो। इसमे भूगोल, खगोल, इहलोक-परलोक स्वर्ग-नरक, प्राणिशास्त्र, रसायनशास्त्र, गर्भशास्त्र, स्वप्नशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, गणितशास्त्र, ज्योतिष, इतिहास, मनोविज्ञान, पदार्थवाद, अध्यात्मविज्ञान आदि कोई भी विषय अछूता नही रहा है।

इसमे प्रतिपादित विषयो के समस्त सूत्रो का वर्गीकरण मुख्यतया निम्नोक्त १० खण्डो मे किया जा सकता है—

(१) **आचारखण्ड**—साध्वाचार के नियम, आहार-विहार एव पाँच समिति, तीनगुप्ति, क्रिया, कर्म, पंचमहाव्रत आदि से सम्बन्धित विवेकसूत्र, सुसाधु, असाधु, सुसयत, असयत, सयतासयत आदि के आचार के विषय मे निरूपण आदि।

(२) **द्रव्यखण्ड**—षट्द्रव्यो का वर्णन—पदार्थवाद, परमाणुवाद, मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि, गति शरीर आदि का निरूपण।

(३) **सिद्धान्तखण्ड**—आत्मा, परमात्मा, (सिद्ध-बुद्ध-मुक्त), केवलज्ञान आदि ज्ञान, आत्मा का विकसित एव शुद्ध रूप, जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, कर्म, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, क्रिया, कर्मबन्ध एव कर्म से विमुक्त होने के उपाय आदि।

(४) **परलोकखण्ड**—देवलोक, नरक आदि से सम्बन्धित समग्र वर्णन, नरकभूमियो के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श का तथा नारको की लेश्या, कर्मबन्ध, आयु, स्थिति, वेदना, आदि का तथा देवलोको की सख्या, वहाँ की भूमि, परिस्थिति देवदेवियो की विविध जातियाँ-उपजातियाँ, उनके निवासस्थान, लेश्या, आयु, कर्मबन्ध, स्थिति, सुखभोग, आदि का विस्तृत वर्णन। सिद्धगति एव सिद्धो का वर्णन।

(५) **भूगोल**—लोक, अलोक, भरतादिक्षेत्र, कर्मभूमिक, अकर्मभूमिक क्षेत्र, वहाँ रहने वाले प्राणियों की गति, स्थिति, लेश्या, कर्मबन्ध आदि का वर्णन।

(६) **खगोल**—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे, अन्धकार, प्रकाश, तमस्काय, कृष्णराजि आदि का वर्णन।

(७) **गणितशास्त्र**—एकसयोगी, द्विकसयोगी, त्रिकसयोगी, चतुःसयोगी भग आदि, प्रवेशनक राशि सख्यात, असख्यात, अनन्त पल्योपम, सागरोपम, कालचक्र आदि।

(८) **गर्भशास्त्र**—गर्भगतजीव के आहार-विहार, नीहार, अंगोपांग, जन्म इत्यादि वर्णन।

(९) **परिवर्तन**—श्रमण भगवान् महावीर के सम्पर्क में आने वाले अनेक तापसों, परिव्राजकों, श्रावक-श्राविकाओ, श्रमणों, निर्ग्रन्थो, अन्यतीर्थिको, पार्श्वापत्यश्रमणो आदि के पूर्वजीवन एवं परिवर्तनोत्तरजीवन का वर्णन।

(१०) **विविध**—कुतूहलजनक प्रश्न, राजगृह के गर्म पानी के स्रोत, अश्वध्वनि, देवो की ऊर्ध्व-अधोगमन शक्ति, विविध वैक्रिय शक्ति के रूप, आशीविष, स्वप्न, मेघ, वृष्टि आदि के वर्णन।

इस प्रकार इस अग मे सभी प्रकार का ज्ञानविज्ञान भरा हुआ है। इसी कारण इसे ज्ञान का महासागर कहा जा सकता है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति के अध्ययन 'शतक' के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह शत (सय) का ही रूप है। प्रस्तुत आगम के उपसहार में '**इक्कचत्तालीसइमं रासी जुम्मसयं समत्तं**' ऐसा समाप्तिसूचक पद उपलब्ध होता है। इसमे यह बताया गया है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति मे १०१ शतक थे; किन्तु इस समय केवल ४१ शतक ही उपलब्ध होते हैं। इस समाप्तिसूचक पद के पश्चात् यह उल्लेख मिलता है कि '**सव्वाए भगवईए अट्ठतीसं सयं सयाणं**' अर्थात्—अवान्तरशतको की सख्या सब शतको को मिला कर १३८ होती है, उद्देशक १९२५ होते हैं। ये अवान्तरशतक १३८ इस प्रकार हैं—प्रथम शतक मे बत्तीसवें शतक तक और इकतालीसवे शतक मे कोई अवान्तरशतक नही है। ३३वें शतक से ३९वें शतक जो ७ शतक है, इनमे १२-१२ अवान्तर शतक हैं। ४०वें शतक मे २१ अवान्तर शतक हैं। अत इन ८ शतको की परिगणना १०५ अवान्तरशतको के रूप मे की गई है। इस तरह अवान्तरशतक रहित ३३ शतको और अवान्तरशतक सहित १०५ शतको को मिलाकर कुल १३८ शतक होते हैं। शतक में उद्देशक रूप उपविभाग है। उद्देशको की जो १९२५ सख्या बताई गई है, गवेषणा करने पर भी उसका आधार प्राप्त नही होता। कुछ शतको मे दस-दस उद्देशक है, कुछ मे इससे भी अधिक हैं। इकतालीसवें शतक में १९६ उद्देशक है। नौवें शतक मे ३४ उद्देशक हैं। शतक शब्द से सौ की सख्या का कोई सम्बन्ध नही है, यह अध्ययन के अर्थ मे रूढ है।

४१ शतको मे विभक्त विशालकाय भगवतीसूत्र मे श्रमण भगवान् महावीर के स्वय के जीवन की, गणधर गौतम आदि उनके शिष्यवर्ग की, तथा भक्तो, गृहस्थो, उपासक-उपासिकाओ, अन्यतीर्थिको और उनकी मान्यताओ की विस्तृत जानकारी मिलती है। आजीवक सघ के आचार्य गोशालक के सम्बन्ध मे इसमे विस्तृत और प्रामाणिक जानकारी प्राप्त होती है। यत्र-तत्र पुरुषादानीय भगवान् पार्श्वनाथ के अनुगामी साधु-श्रावको का तथा उनके चातुर्याम धर्म का एव चातुर्याम धर्म के बदले पचमहाव्रत रूप धर्म स्वीकार करने का विशद उल्लेख भी प्रस्तुत आगम में मिलता है। इसमे सम्राट् कूणिक और गणतत्राधिनायक महाराजा चेटक के बीच जो महाशिलाकण्टक और रथमूशल महासग्राम हुए, तथा इन दोनो महायुद्धो मे जो करोडो का नरसहार हुआ, उसका विस्तृत मार्मिक एव चौंका देने वाला वर्णन भी अकित है।

ऐतिहासिक दृष्टि से आजीवक सघ के आचार्य मखली गोशाल, जमालि, शिवराजर्षि, स्कन्दक परिव्राजक, तामली तापस आदि का वर्णन अत्यन्त रोचक है। तत्त्वचर्चा की दृष्टि से जयन्ती श्राविका, मद्दुक श्रमणोपासक, रोह अनगार, सोमिल ब्राह्मण, भगवान् पार्श्व के शिष्य कालास्यवेशीपुत्र, तु गिका नगरी के श्रावक आदि प्रकरण बहुत ही मननीय हैं। इक्कीस से लेकर तेईसवें शतक तक वनस्पतियो का जो वर्गीकरण किया गया है, वह अद्भुत है। पचास्तिकाय के प्रतिपादन मे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, ये तीनो अमूर्त होने से अदृश्य हैं, वर्त्तमान वैज्ञानिको ने धर्मास्तिकाय को 'ईथर' तत्त्व के रूप मे तथा आकाश को 'स्पेस' के रूप में स्वीकार कर लिया है। जीवास्तिकाय भी अमूर्त्त होने से अदृश्य है, तथापि शरीर के माध्यम से होने वाली

चैतन्यक्रिया के द्वारा वह दृश्य हैं। पुद्‌गलास्तिकाय मूर्त्त होने से दृश्य है। इस प्रकार प्रस्तुत आगम मे किया गया प्रतिपादन वैज्ञानिक तथ्यो के अतीव निकट है। इसके अतिरिक्त जीव और पुद्‌गल के सयोग से दृष्टिगोचर होने वाली विविधता का जितना विशद विवरण प्रस्तुत आगम मे है, उतना अन्य भारतीय दर्शन या धर्मग्रन्थो मे नही, मिलता।

आधुनिक शिक्षित एव कतिपय वैज्ञानिक भगवतीसूत्र मे उक्त स्वर्ग-नरक के वर्णन को कपोल-कल्पित कहते नही हिचकिचाते। उनका आक्षेप है कि 'भगवतीसूत्र का आधे से अधिक भाग स्वर्ग-नरक से सम्बन्धित वर्णनो से भरा हुआ है, इस ज्ञान का क्या महत्त्व या उपयोग है ?'

परन्तु सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् महावीर ने तथा जैनतत्त्वज्ञो ने स्वर्ग-नरक को सर्वाधिक महत्त्व दिया है, इसके पीछे महान् गूढ रहस्य छिपा है। वह यह है कि यदि आत्मा को हम अविनाशी और शाश्वत सत्तात्मक मानते हैं तो हमे स्वर्ग-नरक को भी मानना हागा। स्वर्ग-नरक से सम्बन्धित वर्णन को निकाल दिया जाएगा तो आत्मवाद, कर्मवाद, लोकवाद, क्रियावाद एव विमुक्तिवाद आदि सभी सिद्धान्त निराधार हो जाएगे। स्वर्ग-नरक भी हमारे तिर्यग्लोकसम्बन्धी भूमण्डल के सदृश ही क्रमश ऊर्ध्वलोक और अधोलोक के अग हैं, अतिशय पुण्य और अतिशय पाप से युक्त आत्मा को अपने कृतकर्मों का फल भोगने के लिए स्वर्ग या नरक मे गए बिना कोई चारा नही। अत. सर्वज्ञ-सर्वदर्शी पुरुष जगत् के अधिकाश भाग से युक्त क्षेत्र का वर्णन किये बिना कैसे रह सकते थे ?

भगवतीसूत्र, अन्य जैनगामो की तरह न तो उपदेशात्मक ग्रन्थ है, और न केवल सैद्धान्तिक-ग्रन्थ है। इसे हम विश्लेषणात्मक ग्रन्थ कह सकते है। दूसरे शब्दो मे इसे सिद्धान्तो का अकगणित कहा जा सकता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टिन का सापेक्षवाद का सिद्धान्त अकगणित का ही तो चमत्कार है ! गणित ही जगत् के समस्त आविष्कारो का स्रोत है। अत भगवती मे सिद्धान्तो का बहुत ही गहनता एव सूक्ष्मता से प्रतिपादन किया गया है। जिसे जैनसिद्धान्त एव कर्मग्रन्थो या तत्त्वो का अच्छा ज्ञान नही है, उसके लिए भगवतीसूत्र मे प्रतिपादित तात्त्विक विषयो की थाह पाना और उनका रसास्वादन करना अत्यन्त कठिन है।

इसके अतिरिक्त उस युग के इतिहास-भूगोल, समाज और सस्कृति, राजनीति और धर्मसस्थाओं आदि का जो अनुपम विश्लेषण प्रस्तुत आगम मे है, वह सर्व-साधारण पाठको एव रिसर्च स्कालरो के लिए अतीव महत्त्वपूर्ण है। छत्तीस हजार प्रश्नोत्तरो मे आध्यात्मिक ज्ञान की छटा अद्वितीय है।

प्रस्तुत आगम से यह भी ज्ञात होता है कि उस युग मे अनेक धर्मसम्प्रदाय होते हुए भी उनमे साम्प्रदायिक कट्टरता इतनी नही होती थी। एक धर्मतीर्थ के परिव्राजक, तापस और मुनि दूसरे धर्मतीर्थ के विशिष्ट ज्ञानी या अनुभवी परिव्राजको, तापसो या मुनियो के पास नि सकोच पहुँच जाते और उनसे ज्ञानचर्चा करते थे, और अगर कोई सत्य-तथ्य उपादेय होता तो वह उसे मुक्तभाव से स्वीकारते थे। प्रस्तुत आगम मे वर्णित ऐसे अनेक प्रसगो से उस युग की धार्मिक उदारता और सहिष्णुता का वास्तविक परिचय प्राप्त होता है।

प्रस्तुत आगम मे वर्णित अनेक सिद्धान्त आज विज्ञान ने भी स्वीकृत कर लिये हैं। विज्ञान समर्थित कुछ सिद्धान्त ये हैं—(१) जगत् का अनादित्व, (२) वनस्पति मे जीवत्वशक्ति, (३) पृथ्वीकाय एव जलकाय मे जीवत्वशक्ति की सम्भावना, (३) पुद्‌गल और उसका अनादित्व और (५) जीवत्वशक्ति के रूपक आदि।

प्रस्तुत आगम मे षट्द्रव्यात्मक लोक (जगत्) को अनादि एव शाश्वत बताया गया है। आधुनिक विज्ञान भी जगत् (जीव-अजीवात्मक) की कब सृष्टि हुई ? इस विषय मे जैनदर्शन के निकट पहुँच गया है। प्रसिद्ध जीवविज्ञानवेत्ता जे बी एस हालडेन का मन्तव्य है कि 'मेरे विचार मे जगत् की कोई आदि नही है।'

इसी प्रकार प्रस्तुत आगम मे बताया गया है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकाय मे जीवत्व-शक्ति है। वे हमारी तरह श्वास लेते और नि श्वास छोडते हैं, आहार आदि ग्रहण करते है, उनके शरीर में भी चय-उपचय, हानि-वृद्धि, सुखदु खात्मक अनुभूति होती है आदि।[1]

सुप्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक श्रीजगदीशचन्द्र बोस ने अपने परीक्षणो द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि वनस्पति क्रोध और प्रेम भी प्रदर्शित करती है। स्नेहपूर्ण व्यवहार से वह पुलकित हो जाती है और घृणापूर्ण दुर्व्यवहार से वह मुरझा जाती है। श्री बोस के प्रस्तुत परीक्षण को समस्त वैज्ञानिक जगत् ने स्वीकृत कर लिया है। प्रस्तुत आगम मे वनस्पतिकाय मे १० सज्ञाएँ (आहारसज्ञा आदि) बताई गई हैं। इन संज्ञाओ के रहते वनस्पति आदि वही व्यवहार अस्पष्टरूप से करती है, जिन्हे मानव स्पष्टरूप से करता है।

इसी प्रकार पृथ्वी मे भी जीवत्वशक्ति है, इस सम्भावना की ओर प्राकृतिक चिकित्सक एव वैज्ञानिक अग्रसर हो रहे हैं। सुप्रसिद्ध भूगर्भ वैज्ञानिक फ्रासिस अपनी प्रसिद्ध प्रस्तक **'Ten years under earth'** में दशवर्षीय विकट भूगर्भयात्रा के सस्मरणो मे लिखते हैं—"मैंने अपनी इन विविध यात्राओ के दौरान पृथ्वी के ऐसे-एसे स्वरूप देखे है, जो आधुनिक पदार्थविज्ञान के विरुद्ध थे। वे स्वरूप वर्तमान वैज्ञानिक सुनिश्चित नियमो द्वारा समझाए नही जा सकते।" अन्त मे वे स्पष्ट लिखते है—'तो क्या प्राचीन विद्वानो ने पृथ्वी मे जो जीवत्व शक्ति की कल्पना की थी, वह सत्य है ?'

इसी प्रकार जैनदर्शन पानी की एक बू द मे असख्यात जीव मानता है। वर्तमान वैज्ञानिको ने माइक्रोस्कोप के द्वारा पानी की बू द का सूक्ष्मनिरीक्षण करके अगणित सूक्ष्म प्राणियो का अस्तित्व स्वीकार किया है। जैन जीवविज्ञान इससे अब भी बहुत आगे है।

आधुनिक वैज्ञानिको ने अगणित परीक्षणो द्वारा जैनदर्शन के इस सिद्धान्त को निरपवाद रूप से सत्य पाया है कि कोई भी पुद्गल (Matter) नष्ट नही होता, वह दूसरे रूप (Form) मे बदल जाता है।

भगवान् महावीर द्वारा भगवतीसूत्र मे पुद्गल की अपरिमेय शक्ति के सम्बन्ध मे प्रतिपादित यह तथ्य आधुनिक विज्ञान से पूर्णत समर्थित है कि 'विशिष्टपुद्गलो मे, जैसे तैजस पुद्गल मे, अंग, बग, कलिंग आदि १६ देशो को विध्वस करने की शक्ति विद्यमान है। आज तो आधुनिक विज्ञान ने एटमबम से हिरोशिमा और नागासाकी नगरो का विध्वस करके पुद्गल (Matter) की असीम शक्ति सिद्ध कर बताई है।

इसी प्रकार नरसयोग के बिना ही नारी का गर्भधारण, गर्भस्थानान्तरण आदि सैकडो विषय प्रस्तुत आगम मे प्रतिपादित हैं, जिन्हे सामान्यबुद्धि ग्रहण नही कर सकती, परन्तु आधुनिक विज्ञान ने नूतन शोधो द्वारा परीक्षण करके ऐसे अधिकाश तथ्य स्वीकृत कर लिये हैं, धीरे-धीरे शेष विषयो को भी परीक्षण करके स्वीकृत कर लेगा, ऐसी आशा है।

'समवायाग' मे बताया गया है कि अनेक देवो, राजाओ एव राजर्षियो ने भगवान् महावीर से नाना प्रकार के प्रश्न पूछे, उन्ही प्रश्नो का भगवान् ने विस्तृत रूप से उत्तर दिया है। वही व्याख्याप्रज्ञप्ति मे अकित है।

---

१ आचाराग मे वनस्पति मे जीव होने के निम्नलिखित लक्षण दिये हैं—(१) जाइधम्मय (उत्पन्न होने का स्वभाव) (२) वुड्ढिधम्मय (शरीर की वृद्धि होने का स्वभाव), (३) चित्तमतय (चैतन्य-सुखदु खात्मक अनुभवशक्ति), (४) छिन्नंमिलाति (काटने से दु ख के चिह्न—सूखना आदि-प्रकट होते हैं)। (५) आहारग (आहार भी करता है) (६) अणिच्चय असासय (शरीर अनित्य अशाश्वत है।), (७) चओवचइय (शरीर मे चय-उपचय भी होता है)।

इसमें स्वसमय-परसमय, जीव-अजीव, लोक-अलोक आदि की व्याख्या की गई है। आचार्य अकलंक के अभिमतानुसार इस शास्त्र मे 'जीव है या नहीं' इस प्रकार के अनेक प्रश्नो का निरूपण किया गया है। आचार्य 'वीरसेन' के कथनानुसार इस आगम मे प्रश्नोत्तरो के साथ ९६,००० छिन्न-छेदक नयो से प्रज्ञापनीय शुभ और अशुभ का वर्णन है।

निष्कर्ष यह है कि प्रस्तुत विराट् आगम मे एक श्रुतस्कन्ध, १०१ अध्ययन, १०,००० उद्देशनकाल, १०,००० समुद्देशनकाल, ३६,००० प्रश्नोत्तर, २,८८,००० पद और सख्यात अक्षर हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति की वर्णन परिधि मे अनन्त गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस और अनन्त स्थावर आ जाते हैं।

व्यापक विवेचन-शैली

भगवतीसूत्र की रचना प्रश्नोत्तरो के रूप मे हुई है। प्रश्नकर्ताओ मे मुख्य है—श्रमण भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य गणधर इन्द्रभूति गौतम। इनके अतिरिक्त माकन्दिपुत्र, रोह अनगार, अग्निभूति, वायुभूति आदि। कभी-कभी स्कन्धक आदि कई परिव्राजक, तापस एव पार्श्वापत्य अनगार आदि भी प्रश्नकर्ता के रूप में उपस्थित होते हैं। कभी-कभी अन्यधर्मतीर्थावलम्बी भी वाद-विवाद करने या शका के समाधानार्थ आ पहुचते हैं। कभी तत्कालीन श्रमणोपासक अथवा जयती आदि जैसी श्रमणोपासिकाए भी प्रश्न पूछ कर समाधान पाती हैं। प्रश्नोत्तरो के रूप मे ग्रथित होने के कारण इसमे कई बार पिष्टपेषण भी हुआ है, जो किसी भी सिद्धान्तप्ररूपक के लिए अपरिहार्य भी है, क्योकि किसी भी प्रश्न को समझाने के लिए उसकी पृष्ठभूमि बतानी भी आवश्यक हो जाती है।

जैनागमो की तत्कालीन प्रश्नोत्तर पद्धति के अनुसार प्रस्तुत आगम मे भी एक ही बात की पुनरावृत्ति बहुत है, जैसे—प्रश्न का पुनरुच्चारण करना, फिर उत्तर मे उसी प्रश्न को दोहराना, पुन उत्तर का उपसहार करते हुए प्रश्न को दोहराना। उस युग मे यही पद्धति उपयोगी रही होगी।

एक बात और है—भगवतीसूत्र मे विषयो का विवेचन प्रज्ञापना, स्थानाग आदि शास्त्रो की तरह सर्वथा विषयबद्ध, क्रमबद्ध एव व्यवस्थित पद्धति से नही है और न गौतम गणधर के प्रश्नो का सकलन ही निश्चित क्रम से है। इसका कारण भगवतीसूत्र के अध्येता को इस शास्त्र मे अवगाहन करने से स्वत ज्ञात हो जाएगा कि गौतम गणधर के मन मे जब किसी विषय के सम्बन्ध मे स्वत या किसी अन्यतीर्थिक अथवा स्वतीर्थिक व्यक्ति का या उससे सम्बन्धित वक्तव्य सुनकर जिज्ञासा उत्पन्न हुई, तभी उन्होने भगवान् महावीर के पास जाकर सविनय अपनी जिज्ञासा प्रश्न के रूप मे प्रस्तुत की। अत सकलनकर्त्ता श्रीसुधर्मास्वामी गणधर ने उस प्रश्नोत्तर को उसी क्रम से, उसी रूप में ग्रथित कर लिया। अत यह दोष नही, बल्कि प्रस्तुत आगम की प्रामाणिकता है।

इससे सम्बन्धित एक प्रश्न वृत्तिकार ने प्रस्तुत शास्त्र के प्रारम्भ मे, जहाँ से प्रश्नो की शुरुआत होती है, उठाया है कि प्रश्नकर्त्ता गणधर श्रीइन्द्रभूतिगौतम स्वय द्वादशागी के विधाता हैं, श्रुत के समस्त विषयो के पारगामी है, सब प्रकार के सशयो से रहित हैं। इतना ही नही, वे सर्वाक्षरसन्निपाती है, मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यायज्ञान के धारक है, एक दृष्टि से सर्वज्ञ-तुल्य हैं, ऐसी स्थिति मे सशययुक्त सामान्यजन की भाति उनका प्रश्न पूछना कहाँ तक युक्तिसगत है? इसका समाधान स्वय वृत्तिकार ही देते है—(१) गौतमस्वामी कितने ही अतिशययुक्त क्यो न हों, छद्मस्थ होने के नाते उनसे भूल होना असम्भव नही। (२) स्वय जानते हुए भी, अपने ज्ञान की अविसवादिता के लिए प्रश्न पूछ सकते है। (३) स्वय जानते हुए भी अन्य अज्ञानिजनो के बोध के लिए प्रश्न पूछ सकते हैं। (४) शिष्यो को अपने वचन मे विश्वास जमाने के लिए भी प्रश्न पूछा जाना सम्भव है। (५) अथवा शास्त्ररचना की यही पद्धति या आचारप्रणाली है। इनमे से एक या अनेक कुछ भी कारण हो, गणधर गौतम का प्रश्न पूछना असगत नही कहा जा सकता।

उपलब्ध व्याख्याप्रज्ञप्ति मे जो प्रश्नोत्तरशैली विद्यमान है, वह अतिप्राचीन प्रतीत होती है। अचेलक-परम्परा के ग्रन्थ राजवार्तिक मे अकलंकभट्ट ने व्याख्याप्रज्ञप्ति में इसी प्रकार की शैली होने का स्पष्ट उल्लेख किया है।[1]

प्रस्तुत आगम मे अनेक प्रकरण कथाशैली मे लिखे गए हैं। जीवनप्रसंगों, घटनाओ और रूपको के माध्यम से कठिन विषयो को सरस करके प्रस्तुत किया गया है। भगवान् महावीर को जहाँ कहीं कठिन विषय को उदाहरण देकर समझाने की आवश्यकता महसूस हुई, वहाँ उन्होने दैनिक जीवनधारा से कोई उदाहरण उठा कर दिया है। किसी भी प्रश्न का उत्तर देने के साथ-साथ वे हेतु का निर्देश भी किया करते थे। जहाँ एक ही प्रश्न के एक से अधिक उत्तर-प्रत्युत्तर होते, वहाँ वे प्रश्नकर्ता की दृष्टि और भावना को मद्देनजर रख कर तदनुरूप समाधान किया करते थे। जैसे—रोहक अनगार के प्रश्न के उत्तर मे स्वय प्रतिप्रश्न करके भगवान् ने प्रत्युत्तर दिया है।

मुख्यरूप मे यह आगम प्राकृत भाषा मे या कही कही शौरसेनी भाषा मे सरल-सरस गद्यशैली में लिखा हुआ है। प्रतिपाद्य विषय का सकलन करने की दृष्टि से सग्रहणीय गाथाओ के रूप के कहीं-कहीं पद्यभाग भी उपलब्ध होता है। कही पर स्वतत्ररूप से प्रश्नोत्तरो का क्रम है, तो कही किसी घटना के पश्चात् प्रश्नोत्तरो का सिलसिला चला है।

प्रस्तुत आगम मे द्वादशांगी-पश्चात्वर्ती काल में रचित राजप्रश्नीय, औपपातिक, प्रज्ञापना, जीवाभिगम, प्रश्नव्याकरण एव नन्दीसूत्र आदि (मे वर्णित अमुक विषयों) का अवलोकन करने का निर्देश या उल्लेख देख कर इतिहासवेत्ता विद्वानो का यह अनुमान करना यथार्थ नही है कि यह आगम अन्य आगमों के बाद मे रचा गया है। वस्तुत जैनागमो को लिपिबद्ध करते समय देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने ग्रन्थ की अनावश्यक बृहद्ता कम करने तथा अन्य सूत्रो मे वर्णित विषयो की पुनरावृत्ति से बचने की दृष्टि से पूर्वलिखित आगमो का निर्देश-अतिदेश किया है। आगम-लेखनकाल मे सभी आगम क्रम से नही लिखे गए थे। जो आगम पहले लिखे जा चुके थे, उन आगमो मे उस विषय का विस्तार से वर्णन पहले हो चुका था, अतः उन विषयो की पुनरावृत्ति न हो, ग्रन्थगुरुत्व न हो, इसी उद्देश्य से श्रीदेवर्द्धिगणी आदि पश्चाद्वर्ती आगमलेखको ने इस निर्देशपद्धति का अवलम्बन लिया था। इसलिए यह आगम पश्चाद्ग्रथित है, ऐसा निर्णय नही करना चाहिए। वस्तुतः व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र गणधर रचित ही है, इसकी मूलरचना प्राचीन ही है।

अद्यावधि मुद्रित व्याख्याप्रज्ञप्ति

सन् १९१८-२१ में अभयदेवसूरिकृत वृत्तिसहित व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र धनपतसिंह जी द्वारा बनारस से प्रकाशित हुआ। यह १४ वें शतक तक ही मुद्रित हुआ था।

वि स. १९७४-७९ मे पण्डित बेचरदासजी दोशी द्वारा सम्पादित एव टीका का गुजराती में अनूदित भगवतीसूत्र छठे शतक तक दो भागो मे जिनागम-प्रकाशकसभा बम्बई से प्रकाशित हुआ, तत्पश्चात् गुजरात विद्यापीठ तथा जैनसाहित्य प्रकाशन ट्रस्ट अहमदाबाद से सातवे से ४१ वे शतक तक दो भागों मे पं. भगवानदास दोशी द्वारा केवल मूल का गुजराती अनुवाद होकर प्रकाशित हुआ।

---

१. 'एवं हि व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषु उक्तम् इति गौतमप्रश्ने भगवता उक्तम्।'

—तत्त्वार्थ० राजवार्तिक अ. ४, सू २६, पृ. २४५

सन् १९३८ मे श्री गोपालदाल जीवाभाई पटेल द्वारा गुजराती मे छायानुवाद होकर जैनसाहित्य प्रकाशन समिति अहमदाबाद से भगवती-सार प्रकाशित हुआ।

वि स २०११ मे श्री मदनकुमार द्वारा भगवतीसूत्र १ से २० शतक तक का केवल हिन्दी अनुवाद श्रुतप्रकाशन मन्दिर, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ।

इसी प्रकार वीर सवत् २४४६ मे आचार्य श्री अमोलकऋषिजी म. कृत हिन्दी अनुवादयुक्त भगवतीसूत्र हैदराबाद से प्रकाशित हुआ।

सन् १९६१ मे आचार्य घासीलालजी महाराज कृत भगवतीसूत्र-सस्कृतटीका तथा उसके हिन्दी-गुजराती अनुवाद श्वे स्था जैनशास्त्रोद्धार समिति, राजकोट द्वारा प्रकाशित हुए।

जैन सस्कृति रक्षकसघ सैलाना द्वारा प्रकाशित एव प घेवरचन्दजी बाठिया, 'वीरपुत्र' द्वारा हिन्दी-अनुवाद एव विवेचन सहित सम्पादित भगवतीसूत्र ७ भागो मे प्रकाशित हुआ।

सन् १९७४ मे प. बेचरदास जीवराज दोशी द्वारा सम्पादित 'वियाहपण्णत्तिसुत्त' मूलपाठ-टिप्पणयुक्त श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई द्वारा प्रकाशित हुआ है। इसमे अनेक प्राचीन-नवीन प्रतियो का अवलोकन करके शुद्ध मूलपाठ तथा सूत्रसख्या का क्रमश निर्धारण किया गया है।

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र के इतने सब मुद्रित सस्करणो मे अनेक सस्करण तो अपूर्ण ही रहे, जो पूर्ण हुए उनमे से कई अनुपलब्ध हो चुके हैं। जो उपलब्ध हैं वे आधुनिक शिक्षित तथा प्रत्येक विषय का वैज्ञानिक आधार ढूढने वाली जैनजनता एव शोधकर्त्ता विद्वानो के लिए उपयुक्त नही थे। अत न तो अतिविस्तृत और न अतिसक्षिप्त हिन्दी विवेचन तथा तुलनात्मक टिप्पणयुक्त भगवतीसूत्र की माग थी। क्योकि केवल मूलपाठ एव सक्षिप्त सार से प्रस्तुत आगम के गूढ रहस्यो को हृदयगम करना प्रत्येक पाठक के बस की बात नही थी।

भगवती के अभिनव संस्करण की प्रेरणा

इन्ही सब कारणो से श्रमणसघ के युवाचार्य आगममर्मज्ञ पण्डितप्रवर मुनिश्री मिश्रीमलजी म 'मधुकर' ने तथा श्रमणसघीय प्रथम आचार्य आगमरत्नाकर स्व पूज्य श्रीआत्मारामजी म की जन्मशताब्दी के उपलक्ष्य मे उनके प्रशिष्य जैनविभूषण परमश्रद्धेय गुरुदेव श्री पद्मचन्द भण्डारीजी महाराज ने व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र का अभिनव सर्वजनग्राह्य सम्पादन करने की बलवती प्रेरणा दी. इसके पश्चात् इसे प्रकाशित करने का बीडा श्रीआगमप्रकाशनसमिति, ब्यावर ने उठाया, जिसका प्रतिफल हमारे सामने है।

प्रस्तुत सम्पादन की विशेषता

प्रस्तुत सम्पादन की विशेषता यह है कि इसमे पाठो की शुद्धता के लिए श्रीमहावीर जैन विद्यालय, बम्बई से प्रकाशित शुद्ध मूलपाठ, टिप्पण, सूत्रसख्या, शीर्षक, पाठान्तर एव विशेषार्थ से युक्त 'वियाहपण्णत्तिसुत्त' का अनुसरण किया गया है। प्रत्येक सूत्र मे प्रश्न और उत्तर को पृथक् पृथक पक्ति मे रखा गया है। प्रत्येक प्रकरण के शीर्षक-उपशीर्षक दिये गए है, ताकि पाठक को प्रतिपाद्य विषय के ग्रहण करने मे आसानी रहे। प्रत्येक परिच्छेद के मूलपाठ देने के बाद सूत्रसख्या देकर क्रमशः मूलानुसार हिन्दी-अनुवाद दिया गया है। जहाँ कठिन शब्द हैं, या मूल मे सक्षिप्त शब्द हैं, वहाँ कोष्ठक मे उनका सरल अर्थ तथा कही-कही पूरा भावार्थ भी दे दिया गया है। शब्दार्थ के पश्चात् विवेच्यस्थलो का हिन्दी मे परिमित शब्दो मे विवेचन भी दिया गया है। विवेचन प्रसिद्ध वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरिरचित वृत्ति को केन्द्र मे रख कर किया गया है। वृत्ति में जहाँ अतिविस्तार है वहाँ उसे छोडकर सारभाग ही ग्रहण किया गया है। जहाँ मूलपाठ अतिविस्तृत है अथवा पुनरुक्त

है, वहाँ विवेचन मे उसका निष्कर्षमात्र दे दिया गया है। कही-कही विवेचन मे कठिन शब्दो का विशेषार्थ अथवा विशिष्ट शब्दो की परिभाषाएँ भी दी गई है। कही-कही मूलपाठ मे उक्त विषय को युक्ति हेतु पूर्वक सिद्ध करने का प्रयास भी विवेचन मे किया गया है। विवेचन मे प्रतिपादित विषयो एव उद्धृत प्रमाणो के सन्दर्भ स्थलो का उल्लेख भी पादटिप्पणो (Foot notes) मे कर दिया गया है। जहाँ कही आवश्यक समझा गया, वहाँ जैन, बौद्ध, वैदिक एव अन्यान्य ग्रन्थो के तुलनात्मक टिप्पण भी दिये गए हैं। प्रत्येक शतक के प्रारम्भ मे प्राथमिक देकर शतक मे प्रतिपादित विषयवस्तु की समीक्षा की गई है, ताकि पाठक उक्त शतक का हार्द समझ सके। भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) सूत्र विशालकाय आगम है, इसे और अधिक विशाल नही बनाने तथा पुनरुक्ति से बचने के लिए हमने सक्षिप्त एव सारगर्भित विवेचनशैली रखी है। जहाँ आगमिक पाठों के सक्षेप-सूचक 'जाव', जहा, एव आदि शब्द हैं, उनका स्पष्टीकरण प्रायः शब्दार्थ मे कर दिया गया है।

प्रस्तुत सम्पादन को समृद्ध बनाने के लिए अन्त मे हमने तीन परिशिष्ट दिये है—एक मे सन्दर्भग्रन्थो की सूची है, दूसरे मे पारिभाषिक शब्दकोश, और तीसरे में विशिष्ट शब्दो की अकारादि क्रम से सूची। ये तीनो ही परिशिष्ट अन्तिम खण्ड मे देने का निर्णय किया गया है। इस विराट् आगम को हमने कई खण्डो मे विभाजित किया है। यह प्रथम खड प्रस्तुत है।

कृतज्ञता-प्रकाशन

प्रस्तुत विराट्काय शास्त्र का सम्पादन करने मे जिन-जिनके अनुवादो, मूलपाठो, टीकाओ एव ग्रन्थो से सहायता ली गई है, उन सब अनुवादको, सम्पादको, टीकाकारो एव ग्रन्थकारो के प्रति हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं।

मै श्रमणसघीय **युवाचार्यश्री मिश्रीमलजी महाराज** एव मेरे पूज्य गुरुदेव **श्री भण्डारी पद्मचन्दजी महाराज** के प्रति अत्यन्त आभारी हूँ, जिनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन से हम इस दुरूह, एव बृहत्काय शास्त्र-सम्पादन मे अग्रसर हो सके है। आगमतत्त्वमनीषी प्रवचनप्रभाकर **श्री सुमेरमुनिजी म** एव विद्वद्वर्य **पं० मुनिश्री नेमिचन्द्रजी म०** के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ जिन्होने निष्ठापूर्वक प्रस्तुत आगम-सम्पादनयज्ञ मे पूरा सहयोग दिया है। आगम-मर्मज्ञ **प० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल** की श्रुतसेवाओ का कैसे विस्मृत किया जा सकता है?, जिन्होने इस विराट् शास्त्रराज को सशोधित-परिष्कृत करके मुद्रित कराने का दायित्व सफलतापूर्वक पूर्ण किया है। साथ ही हम अपने ज्ञात-अज्ञात सहयोगीजनो के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते है, जिनकी प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से इस सम्पादनकार्य मे सहायता मिली है।

प्रस्तुत सम्पादन के विषय मे विशेष कुछ कहना उपयुक्त नही होगा। सुज्ञ पाठक, विद्वान् शोधकर्ता, आगमरसिक महानुभाव एव तत्त्वमनीषी साधुसाध्वीगण सम्पादनकला की कसौटी पर कस कर इसे हृदय से अपनाएँगे और इसके अध्ययन-मनन से अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र को समुज्ज्वल बनाएँगे तो हम अपना श्रम सार्थक समझेंगे। सुज्ञेषु किं बहुना!

—अमरमुनि
श्रीचन्द सुराना

वियाहपण्णत्तिसुत्तं (भगवईसुत्तं)

विषय-सूची

चतुर्थ उद्देशक—(कर्म) प्रकृति (सूत्र १-१८) ८१—८९

कर्मप्रकृतियों से सम्बन्धित निर्देश ८१, कर्म और आत्मा का सम्बन्ध ८१, उदीर्ण-उपशान्तमोह जीव के सम्बन्ध में उपस्थान उपक्रमणादि-प्ररूपण ८४, मोहनीय का प्रासंगिक अर्थ ८३, 'वीरियत्ताए' शब्द का आशय, त्रिविध वीर्य ८३, उपस्थान क्रिया और अपक्रमण क्रिया ८४, मोहनीय कर्म वेदते हुए भी अपक्रमण क्यों ? ८४, कृतकर्म भोगे बिना मोक्ष नहीं ८४, प्रदेशकर्म ८५, अनुभाग कर्म ८५, आभ्युपगमिकी वेदना का अर्थ ८५, औपक्रमिकी वेदना का अर्थ ८६, यथाकर्म, यथानिकरण का अर्थ ८६, पापकर्म का आशय ८६, पुद्गल, स्कन्ध और जीव के सम्बन्ध में त्रिकाल शाश्वत प्ररूपणा ८६, वर्तमान काल को शाश्वत कहने का कारण ८७, पुद्गल का प्रासंगिक अर्थ ८७, छद्मस्थ मनुष्य की मुक्ति से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर, केवली की मुक्ति से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर ८८, 'छद्मस्थ' का अर्थ ८९, आधोऽवधि एवं परमावधि ज्ञान ८९ ।

पंचम उद्देशक—पृथ्वी (सूत्र १-३६) ९०—१०६

चौबीस दण्डकों की आवास संख्या का निरूपण ९०, अर्थाधिकार ९१, नारकों के क्रोधोपयुक्त आदि निरूपणपूर्वक प्रथम स्थिति स्थानद्वार ९१, (नारकों की) जघन्यादि स्थिति ९३, 'समय' का लक्षण ९३, अस्सी भंग ९४, नारकों के कहाँ, कितने भंग ? ९४, द्वितीय—अवगाहना द्वार ९४, अवगाहना स्थान ९५, उत्कृष्ट अवगाहना ९५, जघन्य स्थिति तथा जघन्य अवगाहना के भंगों में अन्तर क्यों ? ९५, तृतीय—शरीरद्वार ९५, शरीर ९६, वैक्रिय शरीर ९६, तैजस शरीर ९६, कार्मण शरीर ९६, चौथा—संहनन द्वार ९६, पांचवाँ—संस्थान द्वार ९७, उत्तर वैक्रिय शरीर ९७, छठा—लेश्याद्वार ९८, सातवाँ—दृष्टिद्वार ९८, आठवाँ—ज्ञानद्वार ९९, दृष्टि ९९, तीनों दृष्टियों वाले नारकों में क्रोधोपयुक्तादि भंग ९९, तीन ज्ञान और तीन अज्ञान वाले नारक कौन और कैसे ? १००, ज्ञान और अज्ञान १००, नौवाँ—योगद्वार १००, दसवाँ—उपयोगद्वार १०१, नारकों का क्रोधोपयुक्तादि निरूपण पूर्वक नौवाँ एवं दसवाँ योग-उपयोगद्वार १०१, योग का अर्थ १०१, उपयोग का अर्थ १०१, ग्यारहवाँ—लेश्याद्वार १०१, लेश्या के सिवाय सातों नरकपृथ्वियों में शेष नौ द्वारों में समानता १०२, भवनपतियों क्रोधोपयुक्तादि वक्तव्यतापूर्वक स्थिति आदि दस द्वार १०२, एकेन्द्रियों की क्रोधोपयुक्त प्ररूपणापूर्वक स्थिति आदि द्वार १०२, विकलेन्द्रियों के क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक स्थिति आदि दस द्वार १०३, तिर्यंच पंचेन्द्रियों के क्रोधोपयुक्तादि कथन-पूर्वक दस द्वार निरूपण १०३, मनुष्यों के क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक दस द्वार १०४, वाणव्यंतरों के क्रोधोपयुक्त-पूर्वक दस द्वार १०४, भवनपति से लेकर वैमानिक देवों तक के क्रोधोपयुक्त आदि भंग निरूपणपूर्वक स्थिति अवगहना आदि दस द्वार प्ररूपण १०३, भवनपति देवों की प्रकृति नारकों की प्रकृति से भिन्न १०४, असंयोगी एक भंग १०५, द्विक् संयोगी छह भंग १९५, त्रिक् संयोगी बारह भंग १०५, चतु संयोगी ८ भंग १०५, अन्य द्वारों में अन्तर १०५, पृथ्वीकायादि के दश द्वार और क्रोधादियुक्त के भंग १०५, विकलेन्द्रिय जीवों से नारकों में अन्तर १०५, तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों और नारकों में अन्तर १०६, मनुष्यों और नारकों के कथन में अन्तर १०६, चारों देवों सम्बन्धी कथन में अन्तर १०६ ।

छठा उद्देशक—यावन्त (सूत्र १-२७) १०७—१२०

सूर्य के उदयास्त क्षेत्र स्पर्शादि सम्बन्धी प्ररूपणा १०७, सूर्य कितनी दूर से दिखता है और क्यों ? १०८, विशिष्ट पदों के अर्थ १०९, सूर्य द्वारा क्षेत्र का अवभासादि १०९, लोकान्त-अलोकान्तादि स्पर्श प्ररूपणा १०९, लोक-अलोक ११०, चौबीस दण्डकों में अठारह-पाप-स्थान-क्रिया-स्पर्श प्ररूपणा ११०, प्राणातिपातादि क्रिया के सम्बन्ध में निष्कर्ष ११२, कुछ शब्दों की व्याख्या ११२, रोह अनगार का वर्णन ११२, रोह अनगार और भगवान्

के मिथ्या मतो का निराकरण १५९, ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी क्रिया संबंधी चर्चा १६०, ऐर्यापथिकी १६०, सांपरायिकी १६०, एक जीव द्वारा एक समय मे ये दो क्रियाएँ सभव नहीं १६१, नरकादि गतियो मे जीवो का उत्पाद-विरह काल १६१, नरकादि गतियो तथा चौबीस दण्डको मे उत्पाद-विरह काल १६१, नरकादि में उत्पाद-विरह काल १६१।

द्वितीय शतक १६२–२५१

द्वितीय शतक का परिचय १६२

द्वितीय शतक के दस उद्देशको का नाम-निरूपण १६३

प्रथम उद्देशक—श्वासोच्छ्वास (सूत्र २-५४) १६३—१९८

एकेन्द्रियादि जीवो मे श्वासोच्छ्वास सम्बन्धी प्ररूपणा १६३, आणमति पाणमंति ऊस्ससति नीससति १६५, एकेन्द्रिय जीवो के श्वासोच्छ्वास सबधी शका क्यों ? १६५, श्वासोच्छ्वास-योग्य पुद्गल १६५, व्याघात-प्रव्याघात १६५, वायुकाय के श्वासोच्छ्वास पुनरुत्पत्ति, मरण एव शरीरादि सबधी प्रश्नोत्तर १६५, वायुकाय के श्वासोच्छ्वास-सबधी शका-समाधान १६७, दूसरी शका १६७, वायुकाय आदि की कायस्थिति १६७, वायुकाय का मरण स्पृष्ट होकर ही १६७, मृतादी निर्ग्रन्थो के भवभ्रमण एव भवान्तकरण के कारण १६७, 'मृतादी' शब्द का अर्थ १६९, 'णिरुद्धभवे' आदि शब्दो के अर्थ १६९, 'इत्थत्त' शब्द का तात्पर्य १७०, पिंगल निर्ग्रन्थ के पाँच प्रश्नो से निरुत्तर स्कन्दक परिव्राजक १७०, स्कन्दक का भगवान की सेवा मे जाने का सकल्प और प्रस्थान १७३, गौतम स्वामी द्वारा स्कन्दक का स्वागत और वार्तालाप १७४, भगवान द्वारा स्कन्दक की मनोगत शकाओ का समाधान १७७, भगवान् द्वारा किये गये समाधान का निष्कर्ष १८२, विशिष्ट शब्दो के अर्थ १८२-१८३, स्कन्दक द्वारा धर्मकथाश्रवण, प्रतिबोध, प्रव्रज्याग्रहण और निर्ग्रन्थधर्माचरण १८३, कठिन शब्दो की व्याख्या १८६, स्कन्दक द्वारा शास्त्राध्ययन भिक्षुप्रतिमाऽऽराधन और गुणरत्न आदि तपश्चरण १८६, स्कन्दक का चरित किस वाचना द्वारा अकित किया गया ? १९०, भिक्षुप्रतिमा की आराधना १९१, गुणरत्न (गुणरचन) सवत्सर तप १९२, उदार, विपुल, प्रदत्त, प्रगृहीत तपोविशेषणो की व्याख्या १९२, स्कन्दक द्वारा सलेखना-भावना, अनशन-ग्रहण, समाधिमरण १९२, कुछ विशिष्ट शब्दो के अर्थ १९६, स्कन्दक की गति और मुक्ति के सबध मे भगवत्-कथन १९६, विशिष्ट शब्दो की व्याख्या १९८।

द्वितीय उद्देशक—समुद्घात (सूत्र १) १९९—२०२

समुद्घात प्रकार तथा तत्सबधी विश्लेषण, १९९, समुद्घात २००, आत्मा समुद्घात क्यो करता है ? २००, (१) वेदना समुद्घात २००, (२) कषाय समुद्घात २००, (३) मारणान्तिक समुद्घात २००, (४) वैक्रिय समुद्घात २००, (५) तैजस समुद्घात २०१, (६) आहारक समुद्घात २०१, (७) केवलिसमुद्घात २०१, समुद्घातयन्त्र २०२।

तृतीय उद्देशक—पृथ्वी (सूत्र १) २०३—२०४

सप्त नरकपृथ्वियाँ तथा उनसे सम्बन्धित वर्णन २०३, सात पृथ्वियो की सख्या, बाहल्य आदि का वर्णन २०४।

तृतीय शतक २५३-३११

अनगार ३४३, 'आणद्-पासद' का रहस्य ३४३, चौभगी क्यो ? ३४३, वायुकाय द्वारा वैक्रियकृत रूप-परिणमन एव गमन सम्बन्धी प्ररूपणा ३४३, कठिन शब्दो की व्याख्या ३४५, बलाहक के रूप-परिणमन एव गमन की प्ररूपणा ३४५, निष्कर्ष ३४७, चौबीस दण्डकवर्ती जीवो मे उत्पन्न होने योग्य जीवो की लेश्यासम्बन्धी प्ररूपणा ३४७, एक निश्चित सिद्धान्त ३४८, तीन सूत्र क्यो ? ३४८, अन्तिम समय की लेश्या कौन-सी ? ३४८, लेश्या और इसके द्रव्य ३४९, भावितात्मा अनगार द्वारा अशक्य एव शक्य विकुर्वणा शक्ति ३४९, बाह्य पुद्गलो का ग्रहण आवश्यक क्यो ? ३५०, विकुर्वणा से मायी की विराधना और अमायी की आराधना ३५१, मायी द्वारा विक्रिया ३५२, अमायी विक्रिया नही करता ३५२ ।

पंचम उद्देशक—'स्त्री' अथवा 'अनगार विकुर्वणा' (सूत्र १-१६) ३५३—३६१

भावितात्मा अनगार के द्वारा स्त्री आदि के रूपो की विकुर्वणा ३५६, कठिन शब्दो की व्याख्या ३५७, भावितात्मा अनगार द्वारा अश्वादि रूपो के अभियोग-सम्बन्धी प्ररूपणा ३५७, अभियोग और वैक्रिय मे अन्तर ३५९, मायी द्वारा विकुर्वणा और अमायी द्वारा अविकुर्वणा का फल ३५९, विकुर्वणा और अभियोग दोनो के प्रयोक्ता मायी ३६०, आभियोगिक अनगार का लक्षण ३६०, पचम उद्देशक की सग्रहणी गाथाएँ ३६१ ।

छठा उद्देशक—नगर अथवा अनगार वीर्यलब्धि (सूत्र १-१५) ३६२—३६९

वीर्यलब्धि आदि के प्रभाव से मिथ्यादृष्टि अनगार का नगरान्तर के रूपो को जानने-देखने की प्ररूपणा ३६३, मायी मिथ्यादृष्टि अनगार द्वारा विकुर्वणा और उसका दर्शन ३६४, निष्कर्ष ३६४, मायी, मिथ्यादृष्टि, भावितात्मा अनगार की व्याख्या ३६४, लब्धित्रय का स्वरूप ३६४, कठिन शब्दो की व्याख्या ३६५, अमायी सम्यग्दृष्टि अनगार द्वारा विकुर्वणा और उसका दर्शन ३६५, निष्कर्ष ३६७, भावितात्मा अनगार द्वारा ग्रामादि के रूपो का विकुर्वण-सामर्थ्य ३६७, चमरेन्द्र आदि इन्द्रो के आत्मरक्षक देवो की सख्या का निरूपण ३६८, आत्मरक्षक देव और उनकी सख्या ३६९ ।

सप्तम उद्देशक—लोकपाल (सूत्र १-७) ३७०—३८१

शक्रेन्द्र के लोकपाल और उनके विमानो के नाम ३७०, सोम लोकपाल के विमानस्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन ३७०, कठिन शब्दो के अर्थ ३७३, सूर्य और चन्द्र की स्थिति ३७३, यम लोकपाल के विमान-स्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन ३७४, यमकायिक आदि की व्याख्या ३७६, अपत्य रूप से अभिमत पन्द्रह देवो की व्याख्या ३७६, वरुण लोकपाल के विमान-स्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन ३७७, वैश्रमण लोकपाल के विमान-स्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन ३७८, वैश्रमण देव के अन्य नाम ३८०, कठिन शब्दो की व्याख्या ३८१ ।

अष्टम उद्देशक—अधिपति (सूत्र १-६) ३८२—३८६

भवनपति देवो के अधिपति के विषय मे प्ररूपण ३८२, नागकुमार देवो के अधिपति के विषय मे पृच्छा ३८२, सुपर्णकुमार से स्तनितकुमार देवो के अधिपतियो के विषय मे आलापक ३८३, आधिपत्य मे तारतम्य ३८३, दक्षिण भवनपति देवो के इन्द्र और उनके प्रथम लोकपाल ३८३, सोमादि लोकपाल वैदिक ग्रन्थो मे ३८४, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक देवो पर आधिपत्य की प्ररूपणा ३८४, वाणव्यन्तर देव और उनके अधिपति दो-दो इन्द्र ३८५, ज्योतिष्क देवो के इन्द्र ३८६, वैमानिक देवो के अधिपति—इन्द्र एव लोकपाल ३८६ ।

चतुर्थ शतक ३९१-३९९

पंचम शतक ४००-५२२

महोत्व ४५२, चार निष्कर्ष ४५३, अनुत्तरौपपातिक देवो का अनन्त मनोद्रव्य-सामर्थ्य ४५३, अनुत्तरौपपातिक देव उपशान्तमोह है ४५३, अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञानी केवली इन्द्रियो से नही जानते-देखते ४५४, केवली भगवान् का वर्तमान और भविष्य मे अवगाहन सामर्थ्य ४५४, कठिन शब्दो के अर्थ ४५५, चतुर्दश पूर्वधारी का लब्धि-सामर्थ्य-निरूपण ४५५, उत्करिका भेद स्वरूप और सामर्थ्य ४५६, लब्ध, प्राप्त और अभिसमन्वागत की प्रकरणसगत व्याख्या ४४६ ।

पंचम उद्देशक—छद्मस्थ (सूत्र १-६) ४५७—४६२

छद्मस्थ मानव सिद्ध हो सकता है, या केवली होकर ? एक चर्चा ४५७, समस्त प्राणियो द्वारा एवम्भूत अनेवम्भूत वेदन सम्बन्धी प्ररूपणा ४५७, कर्मफलवेदन के विषय मे चार तथ्यो का निरूपण ४५९, एवम्भूत और अनेवम्भूत का रहस्य ४५९, अवसर्पिणी काल मे हर, कुलकर, तीर्थङ्करादि की सख्या का निरूपण ४५९, कुलकर ४६०, चौबीस तीर्थङ्करो के नाम ४६०, चौबीस तीर्थङ्करो के पिता के नाम ४६१, चौबीस तीर्थङ्करो की माताओ के नाम ४६१, चौबीस तीर्थङ्करो की प्रथम शिष्याओ के नाम ४६१, बारह चक्रवर्तियो के नाम ४६१, चक्रवर्तियों की माताओ के नाम ४६१, चक्रवर्तियो के स्त्री-रत्नो के नाम ४६१, नौ बलदेवो के नाम ४६१, नौ वासुदेवो के नाम ४६१, नौ वासुदेवो की माताओ के नाम ४६२, नौ वासुदेवो के पिताओ के नाम ४६२, नौ वासुदेवो के प्रतिशत्रु— प्रतिवासुदेवो के नाम ४६२ ।

छठा उद्देशक -आयुष्य (सूत्र १-२०) ४६३—४७७

अल्पायु और दीर्घायु के कारणभूत कर्मबन्धो के कारणो का निरूपण ४६३, अल्पायु और दीर्घायु का तथा उनके कारणो का रहस्य ४६४, विक्रेता और क्रेता को विक्रेय माल से सबधित लगने वाली क्रियाएँ ४६५, छह प्रतिफलित तथ्य ४६८, मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी क्रिया ४६८, कठिन शब्दो के अर्थ ४६८ अग्निकाय कब महा-कर्मादि से युक्त, कब अल्पकर्मादि से युक्त ? ४६९, महाकर्मादि या अल्पकर्मादि से युक्त होने का रहस्य ४६९, कठिन शब्दो की व्याख्या ४६९, धनुष चलाने वाले व्यक्ति को तथा धनुष से सबधित जीवो को उनसे लगने वाली क्रियाएँ ४७०, किसको, क्यो, कैसे और कितनी क्रियाए लगती है ? ४७१, कठिन शब्दो के अर्थ ४७२, अन्यतीर्थिक प्ररूपित मनुष्य समाकीर्ण मनुष्यलोक के बदले नरकसमाकीर्ण नरकलोक की प्ररूपणा एव नैरयिक विकुर्वणा ४७२, नैरयिको की विकुर्वणा के सम्बन्ध मे जीवाभिगम का अतिदेश ४७३, विविध प्रकार से आधाकर्मादि दोष-सेवी साधु अनाराधक कैसे ?, आराधक कैसे ? ४७४, विराधना और आराधना का रहस्य ४७५, आधाकर्म की व्याख्या ४७६, गणसरक्षणतत्पर आचार्य-उपाध्याय के सबध मे सिद्धत्व प्ररूपणा ४७६, एक, दो या तीन भव मे मुक्त ४७६, मिथ्यादोषारोपणकर्ता के दुष्कर्मबन्ध प्ररूपणा ४७६, कठिन शब्दो की व्याख्या ४७७ ।

सप्तम उद्देशक—एजन (सूत्र १-४४) ४७८—४९७

परमाणुपुद्गल-द्विप्रदेशिकादि स्कन्धो के एजनादि के विषय मे प्ररूपणा ४७८, परमाणुपुद्गल और स्कन्धो के कपन आदि के विषय मे प्ररूपणा ४७९, परमाणुपुद्गल से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक कम्पनादि धर्म ४७९, विशिष्ट शब्दो के अर्थ ४७९, परमाणुपुद्गल से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक के विषय मे विभिन्न पहलुओ मे प्रश्नोत्तर ४७९, असख्यप्रदेशी स्कन्ध तक छिन्न-भिन्नता नही, अनन्तप्रदेशी स्कन्ध मे कादाचित्क छिन्न-भिन्नता ४८१, परमाणुपुद्गल से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक सार्ध, समध्य आदि एव तद्विपरीत होने के विषय मे प्रश्नोत्तर ४८१, फलित निष्कर्ष ४८३, सार्ध, समध्य, सप्रदेश, अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश का अर्थ ४८३,

परमाणु पुद्गल-द्विप्रदेशी आदि स्कन्धों की परस्पर-स्पर्श-प्ररूपणा ४८३, स्पर्श के नौ विकल्प ४८५, सर्व से सर्व के स्पर्श की व्याख्या ४८६, द्विप्रदेशी और त्रिप्रदेशी स्कन्ध मे अन्तर ४८६, द्रव्य-क्षेत्र-भावगत पुद्गलो का काल की अपेक्षा निरूपण ४८६, द्रव्य-क्षेत्र भावगत पुद्गल ४८८, विविध पुद्गलो का अन्तरकाल ४८८, अन्तरकाल की व्याख्या ४९०, क्षेत्रादि स्थानायु का अल्पबहुत्व ४९०, द्रव्य स्थानायु का स्वरूप ४९१, द्रव्य स्थानायु आदि के अल्प-बहुत्व का रहस्य ४९१, चौबीस दण्डक मे जीवों के आरम्भ-परिग्रहयुक्त होने की सहेतुक प्ररूपणा ४९१, आरम्भ और परिग्रह का स्वरूप ४९५ विविध अपेक्षाओ मे पाच हेतु-अहेतुओ का निरूपण ४९५, हेतु-अहेतु विषयक सूत्रो का रहस्य ४९६ ।

अष्टम उद्देशक—निर्ग्रन्थ (सूत्र १-२८) ४९८—५१०

पुद्गलो की द्रव्यादि की अपेक्षा सप्रदेशता-अप्रदेशता आदि के सबध मे निर्ग्रन्थीपुत्र और नारदपुत्र की चर्चा ४९८, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादेश का स्वरूप ५०१, सप्रदेश-अप्रदेश के कथन में सार्द्ध-अनर्द्ध और समध्य-अमध्य का समावेश ५०२, द्रव्यादि की अपेक्षा पुद्गलो की अप्रदेशता के विषय मे ५०२, द्रव्यादि की अपेक्षा पुद्गलो की सप्रदेशता के विषय मे ५०२, सप्रदेश-अप्रदेश पुद्गलो का अल्पबहुत्व ५०३, ससारी और सिद्ध जीवो की वृद्धि-हानि और अवस्थिति एव उनके कालमान की प्ररूपणा ५०३, चौबीस दण्डको की वृद्धि, हानि और अवस्थित कालमान की प्ररूपणा ५०४, वृद्धि, हानि और अवस्थिति का तात्पर्य ५०६, ससारी एव सिद्ध जीवो मे सोपचय आदि चार भग उनके कालमान का निरूपण ५०७ सोपचय आदि चार भगो का तात्पर्य ५०९, शका-समाधान ५१० ।

नवम उद्देशक—राजगृह (सूत्र-१-१८) ५११—५२१

राजगृह के स्वरूप का तात्त्विक दृष्टि से निर्णय ५११, राजगृह नगर जीवाजीव रूप ५१२, चौबीस दण्डक के जीवो के उद्योत, अन्धकार के विषय मे प्ररूपणा ५१२, उद्योत और अन्धकार के कारण शुभाशुभ पुद्गल एव परिणाम—क्यो और कैसे ? ५१४, चौबीस दण्डको मे समयादि काल-ज्ञान सबधी प्ररूपणा ५१५, निष्कर्ष ५१६, मान और प्रमाण का अर्थ ५१७, पार्श्वापत्य स्थविरो द्वारा भगवान् से लोक-सबधी शका-समाधान एव पचमहाव्रत धर्म मे समर्पण ५१७, पार्श्वापत्य स्थविरो द्वारा कृत दो प्रश्नो का आशय ५१९, भगवान् द्वारा दिये गये समाधान का आशय ५१९, लोक अनन्त भी है, परित्त भी इसका तात्पर्य ५१९, अनन्त जीवघन और परित्त जीवघन ५२०, चातुर्याम एव सप्रतिक्रमण पचमहाव्रत मे अन्तर ५२०, देवलोक और उसके भेद-प्रभेदो का निरूपण ५२०, देवलोक का तात्पर्य ५२०, भवनवासी देवो के दस भेद ५२१, वाणव्यन्तर देवो के आठ भेद ५२१, ज्योतिष्क देवो के पाच भेद ५२१, वैमानिक देवो के दो भेद ५२१, उद्देशक की सग्रहणीगाथा ५२१ ।

दशम उद्देशक—चम्पा-चन्द्रमा (सूत्र १) ५१२

जम्बूद्वीप मे चन्द्रमा के उदय-अस्त आदि से सम्बन्धित अतिदेश पूर्वक वर्णन ५२२, चम्पा-चन्द्रमा ५२२ ।

□□

पंचमगणहर-सिरिसुहम्मसामिविरइय पंचमं अंगं

वियाहपण्णत्तिसुत्तं

[भगवई]

पञ्चमगणधर-श्रीसुधर्मस्वामिविरचित पञ्चम अङ्ग

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र

[भगवती]

वियाहपण्णत्तिसुत्तं (भगवईसुत्तं)

परिचय

- द्वादशांगी में पंचम अंग का नाम **'व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र'** है।
- इसका वर्तमान मे प्रसिद्ध एव प्रचलित नाम **'भगवती सूत्र'** है।
- वृत्तिकार ने **'वियाहपण्णत्ति'** शब्द के संस्कृत मे पाच रूपान्तर करके इनका पृथक्-पृथक् निर्वचन किया है—(१) व्याख्याप्रज्ञप्ति, (२) व्याख्याप्रज्ञाप्ति, (३) व्याख्या-प्रज्ञात्ति, (४) विवाह-प्रज्ञप्ति, (५) विबाधप्रज्ञप्ति।
- **व्याख्या-प्रज्ञप्ति**—(वि+आ+ख्या+प्र+ज्ञप्ति)—जिस ग्रन्थ मे विविध प्रकार (पद्धति) से भगवान् महावीर द्वारा गौतमादि शिष्यो को उनके प्रश्नों के उत्तर के रूप मे जीव-अजीव आदि अनेक ज्ञेय पदार्थों की व्यापकता एव विशालतापूर्वक की गई व्याख्याओ (कथनो) का श्रीसुधर्मा-स्वामी द्वारा जम्बूस्वामी आदि शिष्यो के समक्ष प्रकर्षरूप से निरूपण (ज्ञप्ति) किया गया हो। अथवा जिस शास्त्र मे विविध रूप से या विशेष रूप से भगवान् के कथन का प्रज्ञापन—प्रतिपादन किया गया हो। अथवा व्याख्याओ—अर्थ-प्रतिपादनाओं का जिसमे प्रकृष्ट ज्ञान (ज्ञप्ति) दिया गया हो, वह 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' है।
- **व्याख्याप्रज्ञाप्ति**—(व्याख्या+प्रज्ञा+आप्ति) और **व्याख्याप्रज्ञात्ति**—(व्याख्या+प्रज्ञा+आत्ति)—व्याख्या (अर्थ-कथन) की प्रज्ञा (प्रज्ञान हेतुरूप बोध) की प्राप्ति (या ग्रहण) जिस ग्रन्थ से हो। अथवा व्याख्या करने मे प्रज्ञ (पटु भगवान्) से प्रज्ञ (गणधर) को जिस ग्रन्थ द्वारा ज्ञान की प्राप्ति हो, या ग्रहण करने का अवसर मिले।
- **विवाहप्रज्ञप्ति**—(वि+वाह+प्रज्ञप्ति)—जिस शास्त्र मे विविध या विशिष्ट अर्थप्रवाहो या नयप्रवाहो का प्रज्ञापन (प्ररूपण या प्रबोधन) हो।
- **विबाधप्रज्ञप्ति**—जिस शास्त्र मे बाधारहित अर्थात् प्रमाण से अबाधित निरूपण उपलब्ध हो।[1]
- **भगवती**—अन्य अगो की अपेक्षा अधिक विशाल एव अधिक आदरास्पद होने के कारण इसका दूसरा नाम 'भगवती' भी प्रसिद्ध है।
- अचेलक परम्परा मे 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' नाम का उल्लेख है। उपलब्ध व्याख्याप्रज्ञप्ति की शैली गौतम गणधर के प्रश्नो और भगवान् महावीर के उत्तरो के रूप मे है, जिसे 'राजवार्तिककार' ने भी स्वीकार किया है।[2]

---

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति अभयदेववृत्ति, पत्रांक १,२,३

२ (क) राजवार्तिक अ ४, सू २६, पृ २४५, (ख) कषाय-पाहुड भा १, पृ १२५, (ग) अभयदेववृत्ति पत्रांक २, (घ) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा. १, पृ १८७, (ङ) 'शिक्षासमुच्चय' पृ १०४ से ११२ में' प्रज्ञा-पारमिता' को 'भगवती' कहा गया है।

☐ समवायाग और नन्दीसूत्र के अनुसार व्याख्याप्रज्ञप्ति मे नाना प्रकार के ३६००० प्रश्नो का व्याख्यान (कथन) है, जो कि अनेक देवो, राजाओ, राजर्षियो, अनगारो तथा गणधर गौतम आदि द्वारा भगवान् से पूछे गए हैं। 'कषायपाहुड' के अनुसार प्रस्तुत आगम मे जीव-अजीव, स्वसमय-परसमय, लोक-अलोक आदि की व्याख्या के रूप मे ६० हजार प्रश्नोत्तर है। आचार्य अकलक के मतानुसार इसमे 'जीव है या नही ?' इस प्रकार के अनेक प्रश्नो का निरूपण है। आचार्य वीरसेन के मतानुसार व्याख्याप्रज्ञप्ति में प्रश्नोत्तरो के साथ ९६ हजार छिन्नछेदनयो से ज्ञापनीय शुभाशुभ का वर्णन है।[1]

☐ प्राचीन सूची के अनुसार प्रस्तुत आगम मे एक श्रुतस्कन्ध, सौ से अधिक अध्ययन (शतक), दश हजार उद्देशनकाल, दश हजार समुद्देशनकाल, छत्तीस हजार प्रश्नोत्तर तथा २८८००० (दो लाख अठासी हजार) पद एव सख्यात अक्षर हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति की वर्णन परिधि मे अनन्तगम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस और अनन्त स्थावर आते है।[2]

☐ वर्तमान मे उपलब्ध 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' में ४१ शतक है। 'शतक' शब्द शत (सय) का ही रूप है। प्रत्येक शतक मे उद्देशकरूप उपविभाग है। कतिपय शतको मे दश-दश उद्देशक हैं, कुछ मे इससे भी अधिक है। ४१ वे शतक मे १९६ उद्देशक है।[3]

☐ प्रत्येक शतक का विषयनिर्देश शतक के प्रारम्भ मे यथास्थान दिया गया है। पाठक वहा देखे।

☐ प्रस्तुत शास्त्र मे भगवान् महावीर के जीवन का तथा, उनके शिष्य, भक्त, गृहस्थ, उपासक, अन्यतीर्थिक गृहस्थ, परिव्राजक, आजीवक एव उनकी मान्यताओ का विस्तृत परिचय प्राप्त होता है। साथ ही उस युग मे प्रचलित अनेक धर्म-सम्प्रदाय, दर्शन, मत एव उनके अनुयायियो की मनोवृत्ति तथा कतिपय साधको की जिज्ञासाप्रधान, सत्यग्राही, सरल, साम्प्रदायिक कट्टरता से रहित उदारवृत्ति भी परिलक्षित होती है। इसमे जैनसिद्धान्त, समाज, सस्कृति, राजनीति, इतिहास, भूगोल, गणित आदि सभी विषयो का स्पर्श किया गया है। विश्वविद्या की कोई भी ऐसी विद्या नही है, जिसकी चर्चा प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से इसमे न हुई हो। अन्य आगमो की अपेक्षा इसमे विषय-वस्तु की दृष्टि से विविधता है।[4] ☐☐

---

१ (क) समवायाग सू ९३, नन्दीसूत्र सू ८५, ४९, (ख) तत्त्वार्थराजवार्तिक १/२०,
(ग) कषायपाहुड भा १, पृ १२५, (घ) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा १, पृ० १८९

२ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ४ (ख) जैन आगम साहित्य मनन और मीमासा, पृ. ११३,
(ग) सूत्रकृताग शीलाक वृत्ति पत्राक ५

३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा १, पृ १८९

४. जैन आगम साहित्य मनन और मीमासा पृ १२५, १२६, ११३

पढम सतगं

प्रथम शतक

प्राथमिक

☐ भगवतीसूत्र का यह प्रथम शतक है। इस शतक मे दस उद्देशक हैं।

☐ दस उद्देशको की विषयानुक्रमणिका इस प्रकार है—(१) चलन, (२) दु ख, (३) कांक्षाप्रदोष, (४) प्रकृति, (५) पृथ्वियाँ, (६) यावन्त, (जितने) (७) नैरयिक, (८) बाल, (९) गुरुक, (१०) चलनादि।

☐ प्रथम उद्देशक प्रारम्भ करने से पूर्व शास्त्रकार ने उपर्युक्त विषयसूची देकर श्रुतदेवता को नमस्कार के रूप मे मगलाचरण किया है।

☐ प्रथम उद्देशक मे उपोद्घात देकर **'चलमाणे चलिए'** इत्यादि पदो की एकार्थ-नानार्थ-प्ररूपणा, चौबीस दण्डको की स्थिति आदि का विचार, जीवो की आरम्भ प्ररूपणा, चौबीस दण्डको की आरम्भ प्ररूपणा, लेश्यायुक्त जीवो मे आरम्भ की प्ररूपणा, भव की अपेक्षा ज्ञानादि प्ररूपणा, असवृत-सवृतसिद्धिविचार, असयत जीव देवगतिविचार आदि विषयो का निरूपण किया गया है।

☐ द्वितीय उद्देशक मे जीव की अपेक्षा से एकत्व-पृथक्त्व रूप से दु खवेदन-आयुष्यवेदन-प्ररूपण, चौबीस दण्डको मे समाहारादि सप्त द्वार प्ररूपण, जीवादि की ससारस्थितिकाल के भेदाभेद, अल्प-बहुत्व-अन्तक्रिया कारकादि निरूपण, दर्शनव्यापन्न पर्याप्तक असयत-भव्य-देवादि की विप्रतिपत्ति विचार, असज्ञी जीवो के आयु, आयुबध, अल्प-बहुत्व का विचार प्रतिपादित है।

☐ तृतीय उद्देशक मे संसारी जीवो के कांक्षामोहनीय कर्म के विषय में विविध पहलुओं से विचार प्रस्तुत किया गया है।

☐ चतुर्थ उद्देशक मे कर्मप्रकृतियो के बन्ध तथा मोक्ष आदि का निरूपण किया गया है।

☐ पचम उद्देशक मे नारकी आदि २४ दण्डको की स्थिति, अवगाहना, शरीर, सहनन, सस्थान, लेश्या, दृष्टि, ज्ञान, योग, उपयोग आदि द्वारो की दृष्टि से निरूपण किया गया है।

☐ छठे उद्देशक मे सूर्य के उदयास्त के अवकाश, प्रकाश, लोकान्तादि स्पर्शना, क्रिया, रोहप्रश्न, लोकस्थिति, स्नेहकाय आदि का निरूपण किया गया है।

☐ सातवे उद्देशक मे नारक आदि २४ दण्डकों के जीवों की उत्पत्ति, स्थिति, विग्रहगति, गर्भस्थ जीव के आहारादि का विचार प्रस्तुत किया गया है।

☐ आठवें उद्देशक में बाल, पण्डित और बालपण्डित मनुष्यों के आयुष्यबन्ध, कायिकादि क्रिया, जय-पराजय, हेतु, सवीर्यत्व-अवीर्यत्व की प्ररूपणा है।

☐ नौवें उद्देशक मे विविध पहलुओं से जीवों के गुरुत्व-लघुत्व आदि का निरूपण किया गया है।

☐ दसवे उद्देशक मे 'चलमान चलित' आदि सिद्धान्तों के विषय मे अन्यतीर्थिक प्ररूपणा प्रस्तुत करके उसका निराकरण किया गया है।

☐ कुल मिला कर समस्त जीवों की सब प्रकार की परिस्थिति के विषय मे इस शतक मे विचार किया गया है, इस दृष्टि से यह शतक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

☐☐

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र (भगवतीसूत्र)

प्रथम उद्देशक

समग्र-शास्त्र-मंगलाचरण

१—नमो अरहंताणं। नमो सिद्धाणं। नमो आयरियाणं। नमो उवज्झायाणं। नमो लोए सव्वसाहूण।[1] नमो बंभीए लिवीए।

१—अर्हन्तो को नमस्कार हो, सिद्धो को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायो को नमस्कार हो, लोक मे सर्व साधुओ को नमस्कार हो। ब्राह्मी लिपि को नमस्कार हो।

विवेचन—मंगलाचरण—प्रस्तुत सूत्र मे समग्रशास्त्र का भावमगल दो चरणो मे किया गया है। प्रथम चरण मे पच परमेष्ठी नमस्कार और द्वितीय चरण मे ब्राह्मी लिपि को नमस्कार।

प्रस्तुत मंगलाचरण क्यो और किसलिए?—शास्त्र सकल कल्याणकर होता है, इसलिए उसकी रचना तथा उसके पठन-पाठन मे अनेक विघ्नो की सम्भावनाएँ हैं। अतः शास्त्र के प्रारम्भ मे मगलाचरण के तीन कारण बताए गए है—

(१) विघ्नो के उपशमन के लिए।

(२) अशुभक्षयोपशमार्थ मंगलाचरण मे शिष्यवर्ग की प्रवृत्ति के लिए।

(३) विशिष्ट ज्ञानी शिष्टजनो की परम्परा के पालन के लिए।

प्रस्तुत मगलाचरण भावमगलरूप है क्योकि द्रव्यमगल एकान्त और अत्यन्त अभीष्टसाधक मगल नही है। यद्यपि भावमगल स्तुति, नमस्कार, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप आदि कई प्रकार का है, किन्तु **'चत्तारि मंगलं'** आदि महामगलपाठ में जो परमेष्ठीमगल है, वह लोकोत्तम एव इन्द्रादि द्वारा शरण्य है, तथा पचपरमेष्ठी-नमस्कार सर्व पापो का नाशक होने से विघ्नशान्ति का कारण एवं सर्वमगलो मे प्रधान (प्रथम) है। इसलिए उसे सर्वश्रुतस्कन्धाभ्यन्तर बताकर प्रस्तुत शास्त्र के प्रारम्भ मे मगलाचरण के रूप मे प्रस्तुत किया गया है।[2]

'नमः' पद का अर्थ—द्रव्यभाव से सकोच करना होता है। इस दृष्टि से पचपरमेष्ठी नमस्कार का अर्थ हुआ—द्रव्य से दो हाथ, दो पैर और मस्तक, इन पाच अगो को सकोच कर अर्हन्त आदि

---

१ कुछ प्रतियो मे **'नमो सव्वसाहूण'** पाठ है।

२ (क) भगवतीसूत्र अभयदेववृत्ति पत्रांक २

(ख) **'चत्तारि मगल-अरिहतामगल, सिद्धामगल, साहू मगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मगल।'** —आवश्यकसूत्र

(ग) **'एसो पंच णमोक्कारो सव्वपावप्पणासणो। मगलाणं च सव्वेसि पढम हवइ मंगलं।'** —आवश्यकसूत्र

(घ) **'सो सव्वसुयक्खंधऽब्भतरभूओ'** —भगवती वृत्ति पत्रांक २

पचपरमेष्ठी को नमन करता हूँ, तथा भाव से आत्मा को अप्रशस्त परिणति से पृथक् करके अर्हन्त आदि के गुणो में लीन करता हूँ ।[1]

'अरहंताणं' पद के रूपान्तर और विभिन्न अर्थ—प्राकृत भाषा के 'अरहत' शब्द के सस्कृत मे ७ रूपान्तर बताए गए हैं—(१) अर्हन्त, (२) अरहोन्तर, (३) अरथान्त, (४) अरहन्त, (५) अरहयत्, (६) अरिहन्त और (७) अरुहन्त आदि । क्रमशः अर्थ यो हैं—

अर्हन्त—वे लोकपूज्य पुरुष, जो देवो द्वारा निर्मित अष्टमहाप्रातिहार्य रूप पूजा के योग्य हैं, इन्द्रों द्वारा भी पूजनीय हैं ।

अरहोन्तर—सर्वज्ञ होने से एकान्त (रह) और अन्तर (मध्य) की कोई भी बात जिनसे छिपी नही है, वे प्रत्यक्षद्रष्टा पुरुष ।

अरथान्त—रथ शब्द समस्त प्रकार के परिग्रह का सूचक है । जो समस्त प्रकार के परिग्रह से और अन्त (मृत्यु) से रहित हैं ।

अरहन्त—आसक्ति से रहित, अर्थात् राग या मोह का सर्वथा अन्त—नाश करने वाले ।

अरहयत्—तीव्र राग के कारणभूत मनोहर विषयो का ससर्ग होने पर भी (अष्ट महाप्रातिहार्यादि सम्पदा के विद्यमान होने पर भी) जो परम वीतराग होने से किञ्चित् भी रागभाव को प्राप्त नही होते, वे महापुरुष अरहयत् कहलाते हैं ।

अरिहन्त—समस्त जीवो के अन्तरग शत्रुभूत आत्मिक विकारो या अष्टविध कर्मों का विशिष्ट साधना द्वारा क्षय करने वाले ।

अरुहन्त—रुह कहते हैं—सन्तान परम्परा को । जिन्होने कर्मरूपी बीज को जलाकर जन्म-मरण की परम्परा को सर्वथा विनष्ट कर दिया है, वे अरुहन्त कहलाते है ।[2]

'सिद्धाण' पद के विशिष्ट अर्थ—सिद्ध शब्द के वृत्तिकार ने ६ निर्वचनार्थ किये है—(१) बधे हुए (सित) अष्टकर्म रूप ईन्धन को जिन्होने भस्म कर दिया है, वे सिद्ध हैं, (२) जो ऐसे स्थान मे सिधार (गमन कर) चुके हैं, जहाँ से कदापि लौटकर नही आते, (३) जो सिद्ध-कृतकृत्य हो चुके है, (४) जो ससार को सम्यक् उपदेश देकर ससार के लिए मगलरूप हो चुके हैं, (५) जो सिद्ध—नित्य हो चुके हैं, शाश्वत स्थान को प्राप्त कर चुके है, (६) जिनके गुणसमूह सिद्ध-प्रसिद्ध हो चुके हैं ।[3]

---

१ 'द्रव्यभावसंकोचण पयत्थो नमः' —भगवती वृत्ति पत्राक ३

२. (क) भगवती वृत्ति पत्राक ३

(ख) 'अरिहति वदणनमसणाणि, अरिहति पूयसक्कार ।
सिद्धिगमण च अरहा, अरहता तेण वुच्चति ॥'

(ग) अट्ठविहपि य कम्म अरिभूय होइ सयलजीवाण ।
त कम्ममरिं हता अरिहता तेण वुच्चति ॥ —भगवती वृत्ति पत्राक ३

३. (क) भगवती वृत्ति पत्राक ३

(ख) ध्मात सित येन पुराणकर्म्म, यो वा गतो निर्वृतिसौधमूर्ध्नि ।
ख्यातोऽनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो, य सोऽस्तु सिद्ध कृतमगलो मे ॥ —भगवती वृत्ति पत्राक ४

'आयरियाणं' पद के विशिष्ट अर्थ—वृत्तिकार ने आचार्य शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—(१) आ=मर्यादापूर्वक या मर्यादा के साथ जो भव्यजनों द्वारा, चार्य=सेवनीय हैं, आचार्य कहलाते है, (२) आचार्य वह है जो सूत्र का परमार्थ ज्ञाता, उत्तम लक्षणो से युक्त, गच्छ के मेढीभूत, गण को चिन्ता से मुक्त करने वाला एव सूत्रार्थ का प्रतिपादक हो, (३) ज्ञानादि पचाचारो का जो स्वयं आचरण करते हैं, दूसरो को आचरण कराते हैं, वे आचार्य हैं (४) जो (मुक्ति) दूत (आ+चार) की तरह हेयोपादेश के संघहिताहित के अन्वेषण करने मे तत्पर हैं, वे आचार्य हैं।[१]

'उवज्झायाणं' पद के विशिष्ट अर्थ—उपाध्याय शब्द के पांच अर्थ वृत्तिकार ने किये हैं—(१) जिनके पास आकर सूत्र का अध्ययन, सूत्रार्थ का स्मरण एव विशेष अर्थचिन्तन किया जाता है, (२) जो द्वादशागीरूप स्वाध्याय का उपदेश करते है, (३) जिनके सान्निध्य (उपाधान) से श्रुत का या स्वाध्याय का अनायास ही आय—लाभ प्राप्त होता है, (४) आय का अर्थ है—इष्टफल। जिनकी सन्निधि (निकटता) ही इष्टफल का निमित्त—कारण हो, (५) आधि (मानसिक पीड़ा) का लाभ (आय) आध्याय है तथैव 'अधी' का अर्थ है—कुबुद्धि, उसकी आय अध्याय है, जिन्होने आध्याय और अध्याय (कुबुद्धि या दुर्ध्यान) को उपहत—नष्ट कर दिया है, वे उपाध्याय कहलाते हैं।[२]

'सव्वसाहूण' पद के विशिष्ट अर्थ—साधु शब्द के भी वृत्तिकार ने तीन अर्थ बताए हैं—(१) ज्ञानादि शक्तियो के द्वारा जो मोक्ष की साधना करते है, (२) जो सर्वप्राणियो के प्रति समताभाव धारण करते है, किसी पर रागद्वेष नही रखते, निन्दक-प्रशसक के प्रति समभाव रखते हैं, प्राणिमात्र को आत्मवत् समझते है, (३) जो संयम पालन करने वाले भव्य प्राणियो की मोक्षसाधना मे सहायक बनते है, वे साधु कहलाते है।

साधु के साथ 'सर्व' विशेषण लगाने का प्रयोजन—जैसे अरिहन्तों और सिद्धो मे स्वरूपत. समानता है, वैसी समानता साधुओ मे नही होती। विभिन्न प्रकार की साधना के कारण साधुओ के अनेक अवान्तर भेद होते है। साधुत्व की दृष्टि से सब साधु समान है, इसलिए वन्दनीय हैं। 'सव्व' (सर्व) विशेषण लगाने से सभी प्रकार के, सभी कोटि के साधुओ का ग्रहण हो जाता है, फिर चाहे वे सामायिकचारित्री हो, चाहे छेदोपस्थापनिक, परिहारविशुद्धिक, सूक्ष्मसम्परायी हो या यथाख्यातचारित्री, अथवा वह प्रमत्तसयत हो या अप्रमत्तसयत (सातवें से १४ वे गुणस्थान तक के साधु) हो, या वे पुलाकादि पाच प्रकार के निर्ग्रन्थो मे से कोई एक हो, अथवा वे जिनकल्पी, स्थविरकल्पी, प्रतिमाधारी यथालन्दकल्पी या कल्पातीत हो, अथवा वे प्रत्येकबुद्ध, स्वयबुद्ध या बुद्धबोधित मे से किसी भी कोटि के हो, अथवा भरतक्षेत्र, महाविदेह क्षेत्र, जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड आदि

१ (क) भगवती वृत्ति पत्रांक ३
(ख) 'सुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो, गच्छस्स मेढिभूओ य।
गणतत्तिविप्पमुक्को, अत्थ वाइए आयरिओ॥'
(ग) पचविह आयार आयारमाणा तहा पयासता।
आयार दसता आयरिया तेण वुच्चति॥ —भ वृ. ४

२ (क) भगवती वृत्ति पत्रांक ४
(ख) बारसगो जिणक्खाओ सज्झाओ कहिओ बुहे।
त उवइसंति जम्हा उवज्झाया तेण वुच्चति॥ —भ. वृ. ४

किसी भी क्षेत्र मे विद्यमान हो, साधुत्व की साधना करने वालो को नमस्कार करने की दृष्टि से 'सव्व' विशेषण का प्रयोग किया गया है । सर्व शब्द-प्रयोग उन परिमेष्ठियो के साथ भी किया जा सकता है ।

'सव्व' शब्द के वृत्तिकार ने १ सार्व, २ श्रव्य और ३ सव्य, ये तीन रूप बताकर पृथक्-पृथक् अर्थ भी बताए हैं । सार्व का एक अर्थ है—समानभाव से सब का हित करने वाले साधु, दूसरा अर्थ है—सब प्रकार के शुभ योगो या प्रशस्त कार्यों की साधना करने वाले साधु, तीसरा अर्थ है—सार्व अर्थात्—अरिहन्त भगवान् के साधु अथवा अरिहन्त भगवान् की साधना-आराधना करने वाले साधु या एकान्तवादी मिथ्यामतो का निराकरण करके सार्व यानी अनेकान्तवादी आर्हतमत की प्रतिष्ठा करने वाले साधु सार्वसाधु है ।

'णमो लोए सव्वसाहूणं' पाठ का विशेष तात्पर्य—इस पाठ के अनुसार प्रसगवशात् सर्व शब्द यहाँ एकदेशीय सम्पूर्णता के अर्थ मे मान कर इसका अर्थ किया जाता है—ढाई द्वीप प्रमाण मनुष्य लोक के विद्यमान सर्वसाधुओ को नमस्कार हो । लोकशब्द का प्रयोग करने से किसी गच्छ, सम्प्रदाय, या प्रान्तविशेष की सकुचितता को अवकाश नही रहा । कुछ प्रतियों मे 'लोए' पाठ नही है ।

श्रव्यसाधु का अर्थ होता है—श्रवण करने योग्य शास्त्रवाक्यो मे कुशलसाधु (न सुनने योग्य को नही सुनता) । **सव्यसाधु** का अर्थ होता है - मोक्ष या सयम के अनुकूल (सव्य) कार्य करने में दक्ष ।[1]

पाँचो नमस्करणीय और मांगलिक कैसे ?—अर्हन्त भगवान् इसलिए नमस्करणीय है कि उन्होने आत्मा की ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य रूप शक्तियो को रोकने वाले घातीकर्मों को सर्वथा निर्मूल कर दिया है, वे सर्वज्ञतालाभ करके संसार के सभी जीवो को कर्मों के बन्धन से मुक्ति पाने का मार्ग बताने एव कर्मों से मुक्ति दिलाने वाले, परम उपकारी होने से नमस्करणीय हैं एव उनको किया हुआ नमस्कार जीवन के लिए मगलकारक होता है । सिद्ध भगवान् के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख और वीर्य आदि गुण सदा शाश्वत और अनन्त है । उन्हे नमस्कार करने से व्यक्ति को अपनी आत्मा के निजी गुणो एव शुद्ध स्वरूप का भान एव स्मरण होता है, गुणो को पूर्णरूप से प्रकट करने की एव आत्मशोधन की, आत्मबल प्रकट करने की प्रेरणा मिलती है, अत सिद्ध भगवान् ससारी आत्माओ के लिए नमस्करणीय एव सदैव मगलकारक है । आचार्य को नमस्कार इसलिए किया जाता है कि वे स्वय आचारपालन मे दक्ष होने के साथ-साथ दूसरो के आचारपालन का ध्यान

---

१ (क) साधयन्ति ज्ञानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति साधव । समता वा सर्वभूतेषु ध्यायन्तीति साधव ॥
(ख) निव्वाणसाहए जोए, जम्हा साहेंति साहुणो । समया सव्वभूएसु, तम्हा ते भावसाहुणो ॥
(ग) असहाए सहायत्त करेंति मे सयम करेतस्स । एएण कारणेण णमामिऽह सव्वसाहूण ॥
(घ) सर्वेभ्यो जीवेभ्यो हिता सार्वा सार्वस्य वाऽर्हत साधव सार्वसाधव । सर्वान्‌शुभयोगान् साधयन्ति । —भगवती वृत्ति पत्राक ३
(च) लोके मनुष्यलोके, न तु गच्छन्ति, ये सर्वसाधवस्तेभ्यो नम —भगवती वृत्ति पत्राक ४
(छ) भगवती वृत्ति पत्राक ५

रखते हैं और संघ को ज्ञान-दर्शन-चारित्र मे स्थिर रखते है। इस महान् उपकार के कारण तथा ज्ञानादि मगल प्राप्त करने के कारण आचार्य नमस्करणीय एव मागलिक हैं। संघ मे ज्ञानबल न हो तो अनेक विपरीत और अहितकर कार्य हो जाते हैं। उपाध्याय सघ मे ज्ञानबल को सुदृढ बनाते हैं। शास्त्रीय एव सैद्धान्तिक ज्ञान उपाध्याय की कृपा से प्राप्त होता है, इसलिए उपाध्याय महान् उपकारी होने से नमस्करणीय एव मंगलकारक हैं। मानव के सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ एवं परमसाधना के ध्येयस्वरूप मोक्ष की साधना—सयम साधना—में असहाय, अनभिज्ञ एव दुर्बल को सहायता देने वाले साधु निराधार के आधार, असहाय के सहायक के नाते परम उपकारी, नमस्करणीय एव मंगलफलदायक होते है। अरिहत तीर्थंकर विशेष समय मे केवल २४ होते है, आचार्य भी सीमित सख्या मे होते हैं, अतः उनका लाभ सबको, सब क्षेत्र और सर्वकाल मे नही मिल सकता, साधु-साध्वी ही ऐसे हैं, जिनका लाभ सर्वसाधारण को सर्वक्षेत्रकाल मे मिल सकता है। पाँचो कोटि के परमेष्ठी को नमस्कार करने का फल एक समान नही है, इसलिए **'सव्वसाहूणं'** एक पद से या **'नमो सव्व सिद्धाण व नमो सव्वसाहूणं'** इन दो पदो से कार्य नही हो सकता। अत पाँच ही कोटि के परमेष्ठीजनो को नमस्कार-मगल यहाँ किया गया है।[1]

द्वितीय मंगलाचरण—ब्राह्मी लिपि को नमस्कार—क्यों और कैसे?—अक्षर विन्यासरूप अर्थात्—लिपिबद्ध श्रुत द्रव्यश्रुत है, लिपि लिखे जाने वाले अक्षरसमूह का नाम है। भगवान् ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को दाहिने हाथ से लिखने के रूप मे जो लिपि सिखाई, वह ब्राह्मी लिपि कहलाती है। ब्राह्मीलिपि को नमस्कार करने के सम्बन्ध मे तीन प्रश्न उठते है—(१) लिपि अक्षरस्थापनारूप होने से उसे नमस्कार करना द्रव्यमगल है, जो कि एकान्तमगलरूप न होने से यहाँ कैसे उपादेय हो सकता है? (२) गणधरो ने सूत्र को लिपिबद्ध नही किया, ऐसी स्थिति मे उन्होने लिपि को नमस्कार क्यो किया? (३) प्रस्तुत शास्त्र स्वय मगलरूप है, फिर शास्त्र के लिए यह मगल क्यो किया गया? इनका क्रमश समाधान यो है—प्राचीनकाल मे शास्त्र को कण्ठस्थ करने की परम्परा थी, लिपिबद्ध करने की नही, ऐसी स्थिति मे लिपि को नमस्कार करने की आवश्यकता नही थी, फिर भी लिपि को नमस्कार किया गया है, उसका आशय वृत्तिकार स्पष्ट करते है कि यह नमस्कार प्राचीनकालिक लोगो के लिए नही, आधुनिक लोगो के लिए है। इससे यह भी सिद्ध है कि गणधरो ने लिपि को नमस्कार नही किया है, यह नमस्कार शास्त्र को लिपिबद्ध करने वाले किसी परम्परानुगामी द्वारा किया गया है। अक्षरस्थापनारूप लिपि अपने आप मे स्वत. नमस्करणीय नही होती, ऐसा होता तो लाटी, यवनी, तुर्की, राक्षसी आदि प्रत्येक लिपि नमस्करणीय होती, परन्तु यहाँ ब्राह्मी लिपि ही नमस्करणीय बताई है, उसका कारण है कि शास्त्र ब्राह्मीलिपि मे लिपिबद्ध हो जाने के कारण वह लिपि आधुनिकजनो के लिए श्रुतज्ञान रूप भावमगल को प्राप्त करने मे अत्यन्त उपकारी

---

१. (क) नमस्करणीयता चैषा भीमभवगहनभ्रमणभीतभूतानामनुपमानन्दरूपपरमपदपुरपथप्रदर्शकत्वेन् परमोपकारित्वादिति।

(ख) नमस्करणीयता चैषामविप्रणाशिज्ञानदर्शनसुखवीर्यादिगुणयुक्ततयास्वविषयप्रमोदप्रकर्षोत्पादनेन भव्याना मतीवोपकारहेतुत्वादिति।

(ग) नमस्यता चैषामाचारोपदेशकतयोपकारित्वात्।

(घ) नमस्यता चैषासुसम्प्रदायाप्तजिनवचनाध्यापनतो विनयेन भव्यानामुपकारित्वात्।

(ङ) एषां च नमनीयता मोक्षमार्गसाहायककरणेनोपकारित्वात्॥"—भगवती वृत्ति पत्रांक ३-४

है। द्रव्यश्रुत भावश्रुत का कारण होने से सज्ञाग्रक्षररूप (ब्राह्मीलिपिरूप) द्रव्यश्रुत को भी मगलरूप माना है। वस्तुत यहाँ नमस्करणीय भावश्रुत ही है, वही पूज्य है। अथवा शब्दनय की दृष्टि से शब्द और उसका कर्ता एक हो जाता है। इस अभेद विवक्षा से ब्राह्म लिपि को नमस्कार भगवान् ऋषभदेव (ब्राह्मीलिपि के आविष्कर्ता) को नमस्कार करना है। अत मात्र लिपि को नमस्कार करने का अर्थ अक्षरविन्यास को नमस्कार करना लिया जाएगा तो अतिव्याप्ति दोष होगा।

यद्यपि प्रस्तुत शास्त्र स्वय मगलरूप है, तथापि इस शास्त्र के लिए जो मगलाचरण किया गया है, वह इस उद्देश्य से कि शिष्यगण शास्त्र को मगलरूप (श्रुतज्ञानरूप मगल हेतु) समझ सके। तथा मगल का ग्रहण उनकी बुद्धि मे हो जाए अर्थात् वे यह अनुभव करें कि हमने मगल किया है।[1]

शास्त्र की उपादेयता के लिए चार बातें—वृत्तिकार ने शास्त्र की उपादेयता सिद्ध करने के लिए चार बाते बताई है—(१) मगल, (२) अभिधेय, (३) फल और (४) सम्बन्ध। शास्त्र के सम्बन्ध मे मगल का निरूपण किया जा चुका है, तथा प्रस्तुत शास्त्र के विविध नामो का निर्देश एव उनकी व्याख्या करके इस शास्त्र का अभिधेय भी बताया जा चुका है। अब रहे फल और सम्बन्ध। अभिधेय सम्बन्धी अज्ञान दूर होकर शास्त्र मे जिन-जिन बातो का वर्णन किया गया है, उन बातो का ज्ञान हो जाना, शास्त्र के अध्ययन या श्रवण का साक्षात् फल है। शास्त्र के अध्ययन या श्रवण से प्राप्त हुए ज्ञान का परम्परा से फल मोक्ष है। शास्त्र मे जिन अर्थों की व्याख्या की गई है, वे अर्थ वाच्य है, और शास्त्र उनका वाचक है। इस प्रकार वाच्य-वाचक भावसम्बन्ध यहाँ विद्यमान है, 'अथवा' इस शास्त्र का यह प्रयोजन है, यह[2] सम्बन्ध (प्रयोजक-भावसम्बन्ध) भी है।

प्रथम शतक : विषयसूची मंगल

२—रायगिह चलण १ दुक्खे २ कंखपओसे य ३ पगति ४ पुढवीओ ५।
जावते ६ नेरइए ७ बाले ८ गुरुए य ९ चलणाओ १०॥ १॥

२—(प्रथम शतक के दस उद्देशको की सग्रहणी गाथा इस प्रकार है—) (१) राजगृह नगर मे "चलन" (के विषय मे प्रश्न), (२) दुःख, (३) काक्षा-प्रदोष, (४) (कर्म) प्रकृति, (५) पृथ्वियाँ, (६) यावत् (जितनी दूर से इत्यादि), (७) नैरयिक, (८) बाल, (९) गुरुक और (१०) चलनादि।

विवेचन—प्रथम शतक की विषयसूची—प्रस्तुत सूत्र मे प्रथम शतक के दस उद्देशको का क्रम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है। इसमे से प्रत्येक का स्पष्टीकरण आगे यथास्थान किया जाएगा।

३—नमो सुयस्स।

३—श्रुत (द्वादशागीरूप अर्हत्प्रवचन) को नमस्कार हो।

---

१ (क) एव तावत्परमेष्ठिनो नमस्कृत्याऽधुनातनजनानाश्रुतज्ञानस्यात्यन्तोपकारित्वात्। तस्य च द्रव्यभाव श्रुतरूपत्वात् भावश्रुतस्य द्रव्यश्रुतहेतुत्वात् सज्ञाक्षररूप द्रव्यश्रुत।'—भग. अ. वृ पत्राक ५

(ख) 'लेह लिवीविहाण जिणेण बभीइ दाहिण करेण।'—भग अ वृत्ति, पत्राक ५

२. भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ५

विवेचन—प्रथम शतक का मंगलाचरण—यद्यपि शास्त्र के प्रारम्भ में मगलाचरण किया गया है, तथापि शास्त्रकार प्रथम शतक के प्रारम्भ मे श्रुतदेवतानमस्काररूप विशेष मगलाचरण करते है। आचारांग आदि बारह शास्त्र अर्हन्त भगवान् के अगरूप प्रवचन है, उन्ही को यहा 'श्रुत' कहा गया है। इष्टदेव को नमस्कार करने की अपेक्षा यहाँ इष्टदेव की वाणीरूप श्रुत को नमस्कार किया गया है, इसके पीछे आशय यह है कि श्रुत भी इष्टदेवरूप ही है, क्योकि अर्हन्त भगवान् जैसे सिद्धो को नमस्कार करते है उसी प्रकार **'णमो तित्थस्स'** (तीर्थ को नमस्कार हो) कह कर परम आदरणीय तथा परम उपकारी होने से श्रुत (प्रवचन का सिद्धान्त)—रूप भावतीर्थ को भी नमस्कार करते है।

श्रुत भी भावतीर्थ है क्योंकि द्वादशागी-ज्ञानरूप श्रुत के सहारे से भव्यजीव ससारसागर से तर जाते है, तथा श्रुत अर्हन्त भगवान् के परम केवलज्ञान से उत्पन्न हुआ है, इस कारण इष्टदेव-रूप है। गणधर ने श्रुत को नमस्कार किया है उसके तीन कारण प्रतीत होते हैं—(१) श्रुत की महत्ता प्रदर्शित करने हेतु, (२) श्रुत पर भव्यजीवो की श्रद्धा बढे एव (३) भव्य जीव श्रुत का आदर कर, आदरपूर्वक श्रवण करे।[1]

प्रथम उद्देशक : उपोद्घात—

४—(१) **तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था। वण्णओ। तस्स णं रायगिहस्स नगरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभागे गुणसिलए नामं चेइए होत्था।**

४ (१) उस काल (अवसर्पिणी काल के) और उस समय (चौथे आरे—भगवान् महावीर के युग मे) राजगृह नामक नगर था। वर्णक। (उसका वर्णन औपपातिक सूत्र मे अकित चम्पानगरी के वर्णन के समान समझ लेना चाहिए) उस राजगृह के बाहर उत्तर-पूर्व के दिग्भाग (ईशानकोण) मे गुणशीलक नामक चैत्य (व्यन्तरायतन) था। वहाँ श्रेणिक (भम्भासार-बिम्बसार) राजा राज्य करता था और चिल्लणादेवी उसकी रानी थी।

(२) **तेण कालेणं तेणं समएण समणे भगव महावीरे आइगरे तित्थगरे सहसंबुद्धे पुरिसुत्तमे पुरिससीहे पुरिसवरपुडरीए पुरिसवरगधहत्थी लोगणाहे लोगप्पदीवे लोगपज्जोयगरे अभयदये चक्खुदये मग्गदये सरणदये धम्मदेसए धम्मसारही धम्मवरचाउरतचक्कवट्टी अप्पडिहयवरनाण-दंसणधरे वियट्टछउमे जिणे जावए बुद्धे बोहए मुत्ते मोयए सव्वण्णू सव्वदरिसी सिवमयलमरुजमणत-मक्खयमव्वाबाह 'सिद्धिगति' नामधेय ठाणं संपाविउकामे जाव समोसरणं।**

परिसा निग्गया। धम्मो कहिओ। परिसा पडिगया।

(२) उस काल मे, उस समय मे (वहाँ) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विचरण कर रहे थे, जो आदि-कर (द्वादशागीरूप श्रुत के प्रथम कर्ता), तीर्थंकर (प्रवचन या सघ के कर्ता) सहसम्बुद्ध (स्वय तत्त्व के ज्ञाता), पुरुषोत्तम, पुरुषसिह (पुरुषो मे सिह की तरह पराक्रमी) पुरुषवर-पुण्डरीक (पुरुषो मे श्रेष्ठ पुण्डरीक—श्वेत-कमल रूप), पुरुषवरगन्धहस्ती (पुरुषो मे श्रेठ गन्धहस्ती के समान), लोकोत्तम, लोकनाथ (तीनो लोको की आत्माओ के योग-क्षेमकर), (लोकहितकर) लोक-प्रदीप, लोकप्रद्योतकर, अभयदाता, चक्षुदाता (श्रुतधर्मरूपी नेत्रदाता), मार्गदाता (मोक्षमार्ग-प्रदर्शक), शरणदाता (त्राण-दाता), (बोधिदाता), धमदाता, धर्मोपदेशक, (धर्मनायक), धर्मसारथि (धर्मरथ के सारथि), धर्मवर-

१ भगवती अभयदेववृत्ति पत्राक ६

चातुरन्त-चक्रवर्ती, अप्रतिहत (निराबाध) ज्ञान-दर्शनधर, छद्मरहित (छलकपट और ज्ञानादि आवरणों से दूर), जिन (रागद्वेषविजेता), ज्ञायक (सम्यक् ज्ञाता), बुद्ध (समग्र तत्त्वों को जानकर रागद्वेषविजेता), बोधक (दूसरों को तत्त्वबोध देने वाले), मुक्त (बाह्य-आभ्यन्तर ग्रन्थि से रहित), मोचक (दूसरों को कर्मबन्धनों से मुक्त कराने वाले), सर्वज्ञ (समस्त पदार्थों के विशेष रूप से ज्ञाता) सर्वदर्शी (सर्व पदार्थों के सामान्य रूप से ज्ञाता) थे। तथा जो शिव (सर्व बाधाओं से रहित), अचल (स्वाभाविक प्रायोगिक चलन-हेतु से रहित), अरुज (रोगरहित), अनन्त (अनन्तज्ञानदर्शनादियुक्त), अक्षय (अन्तरहित), अव्याबाध (दूसरों को पीडित न करने वाले या सर्व प्रकार की बाधाओं से विहीन), पुनरागमनरहित सिद्धिगति (मोक्ष) नामक स्थान को सम्प्राप्त करने के कामी (इच्छुक) थे।

(यहाँ से लेकर समवसरण तक का वर्णन औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए।)

(भगवान् महावीर का पदार्पण जानकर) परिषद् (राजगृह के राजादि लोग तथा अन्य नागरिकों का समूह भगवान् के दर्शन, वन्दन, पर्युपासन एवं धर्मोपदेश श्रवण के लिए) निकली। (निर्गमन का समग्र वर्णन औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिये)।(भगवान् ने उस विशाल परिषद् को) धर्मोपदेश दिया। (यहाँ धर्मकथा का वर्णन कहना चाहिए)। (धर्मोपदेश सुनकर और यथाशक्ति धर्म-धारण करके वह) परिषद् (अपने स्थान को) वापस लौट गई। (यह समग्र वर्णन भी औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए।

(३) तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूती नामं अणगारे गोयमसगोत्ते णं सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए वज्जरिसभनारायसंघयणे कणगपुलगणिघसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे ओराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबंभचेरवासी उच्छूढसरीरे संखित्तविपुलतेयलेसे चउदसपुव्वी चउनाणोवगए सव्वक्खरसन्निवाती समणस्स भगवतो महावीरस्स अदूरसामंते उड्ढंजाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

(३) उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के पास (न बहुत दूर, न बहुत निकट), उत्कुटुकासन से (घुटना ऊंचा किए हुए) नीचे सिर झुकाए हुए, ध्यानरूपी कोठे (कोष्ठ) में प्रविष्ट श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति नामक अनगार संयम और तप से आत्मा को भावित (वासित) करते हुए विचरण करते थे। वह गौतम-गोत्रीय थे, (शरीर से) सात हाथ ऊंचे, समचतुरस्र संस्थान एवं वज्रऋषभनाराच संहनन वाले थे। उनके शरीर का वर्ण सोने के टुकड़े की रेखा के समान तथा पद्म-पराग के समान (गौर) था। वे उग्रतपस्वी, दीप्ततपस्वी, तप्ततपस्वी, महातपस्वी, उदार, घोर (परीषह तथा इन्द्रियादि पर विजय पाने में कठोर), घोरगुण, (दूसरों द्वारा दुश्चर मूलगुणादि) सम्पन्न, घोरतपस्वी, घोर (कठोर) ब्रह्मचर्यवासी, शरीर-संस्कार के त्यागी थे। उन्होंने विपुल (व्यापक) तेजोलेश्या (विशिष्ट तपस्या से प्राप्त तेजोज्वाला नामक लब्धि) को संक्षिप्त (अपने शरीर में अन्तर्लीन) करली थी, वे चौदह पूर्वों के ज्ञाता और चतुर्ज्ञानसम्पन्न सर्वाक्षर-सन्निपाती थे।

(४) तए णं से भगवं गोयमे जायसड्ढे जायसंसए जायकोऊहल्ले, उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नसंसए उप्पन्नकोऊहल्ले, संजायसड्ढे संजायसंसए संजायकोऊहल्ले, समुप्पन्नसड्ढे समुप्पन्नसंसए समुप्पन्नकोऊहल्ले उट्ठाए उट्ठेति।

उट्ठाए उट्ठेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिणं करेति, तिक्खुत्तो आयाहिण पयाहिणं करेत्ता वंदति, नमंसति, नच्चासन्ने नाइदूरे सुस्सूसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलियडे पज्जुवासमाणे एवं वयासी—

(४) तत्पश्चात् जातश्रद्ध (प्रवृत्त हुई श्रद्धा वाले), जातसंशय, जातकुतूहल, संजातश्रद्ध, समुत्पन्न श्रद्धा वाले, समुत्पन्न कुतूहल वाले भगवान् गौतम उत्थान से (अपने स्थान से उठकर) खड़े होते हैं।

उत्थानपूर्वक खडे होकर श्रमण गौतम जहाँ (जिस ओर) श्रमण भगवान् महावीर हैं, उस ओर (उनके निकट) आते हैं। निकट आकर श्रमण भगवान् महावीर को उनके दाहिने ओर से प्रारम्भ करके तीन बार प्रदक्षिणा करते हैं। फिर वन्दन-नमस्कार करते हैं। नमस्कार करके वे न तो बहुत पास और न बहुत दूर भगवान् के समक्ष विनय से ललाट पर हाथ जोडे हुए भगवान् के वचन सुनना चाहते हुए उन्हे नमन करते व उनकी पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—

विवेचन—राजगृह में भगवान् महावीर का पदार्पण : गौतम स्वामी की प्रश्न पूछने की तैयारी— प्रस्तुत चतुर्थ सूत्र से शास्त्र का प्रारम्भ किया गया है। इसमे नगर, राजा, रानी, भगवान् महावीर, परिषद्—समवसरण, धर्मोपदेश, गौतमस्वामी तथा उनके द्वारा प्रश्न पूछने की तैयारी तक का क्षेत्र या व्यक्तियो का वर्णन किया गया है, वह सब भगवती सूत्र मे यत्र-तत्र श्री भगवान् महावीर स्वामी से श्री गौतमस्वामी द्वारा पूछे गए प्रश्न और उनके द्वारा दिए गये उत्तरो की पृष्ठभूमि के रूप मे अकित किया गया है। इस समग्र पाठ मे कुछ वर्णन के लिए 'वर्णक' या 'जाव' से अन्य सूत्र से जान लेने की सूचना है, कुछ का वर्णन यही कर दिया गया है। इस समग्र पाठ का क्रमश: वर्णन इस प्रकार है--

(१) भगवान् महावीर के युग के राजगृह नगर का वर्णन[1]

(२) वहाँ के तत्कालीन राजा श्रेणिक और रानी चिल्लणा का उल्लेख

(३) अनेक विशेषणो से युक्त श्रमण भगवान् महावीर का राजगृह के आसपास विचरण।

(४) इसके पश्चात् 'समवसरण' तक के वर्णन मे निम्नोक्त वर्णन गर्भित हैं—(अ) भगवान् के १००८ लक्षणसम्पन्न शरीर तथा चरण-कमलो का वर्णन, (जिनसे वे पैदल विहार कर रहे थे), (आ) उनकी बाह्य (अष्टमहाप्रातिहार्यरूपा) एव अन्तरग विभूतियो का वर्णन, (इ) उनके चौदह हजार साधुओ और छत्तीस हजार आर्यिकाओ के परिवार का वर्णन, (ई) बडे-छोटे के क्रम से ग्रामानुग्राम सुखपूर्वक विहार करते हुए राजगृह नगर तथा तदन्तर्गत गुणशीलक चैत्य मे पदार्पण का वर्णन, (उ) तदनन्तर उस चैत्य मे अवग्रह ग्रहण करके सयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विराजमान हुए और उनका समवसरण लगा। (ए) समवसरण मे विविध प्रकार के ज्ञानादि शक्तियो से सम्पन्न साधुओ आदि का वर्णन[2], तथा असुरकुमार, शेष भवनपतिदेव, व्यन्तरदेव, ज्योतिष्कदेव एव वैमानिकदेवो का भगवान् के समीप आगमन एव उनके द्वारा भगवान् की पर्युपासना का वर्णन।[3]

---

१ **राजगृह वर्णन**—औपपातिक सूत्र १

२. **भगवान् के शरीरादि का वर्णन**—औपपातिक सूत्र १०, १४, १५, १६, १७

३. **देवागमन वर्णन**—औपपातिक सूत्र २२ से २६ तक

(५) परिषद् के निर्गमन का विस्तृत वर्णन ।[1]

(६) भगवान् महावीर द्वारा दिये गए धर्मोपदेश का वर्णन ।[2]

(७) सभाविसर्जन के बाद श्रोतागण द्वारा कृतज्ञताप्रकाश, यथाशक्ति धर्माचरण का सकल्प, एव स्वस्थान प्रतिगमन का वर्णन ।[3]

(८) श्री गौतमस्वामी के शारीरिक, मानसिक एव आध्यात्मिक व्यक्तित्व का वर्णन ।

(९) श्री गौतमस्वामी के मन मे उठे हुए प्रश्न और भगवान् महावीर से सविनय पूछने की तैयारी ।[4]

प्रस्तुत शास्त्र किसने, किससे कहा ?—प्रस्तुत भगवतीसूत्र का वर्णन पचम गणधर श्री सुधर्मास्वामी ने अपने शिष्य जम्बूस्वामी के समक्ष किया था । इसका कारण आवश्यकसूत्र-निर्युक्ति मे बताया गया है कि सुधर्मास्वामी का ही तीर्थ चला है । अन्य गणधरो की शिष्य परम्परा नही चली, सिर्फ सुधर्मास्वामी के शिष्य हुए है ।[5]

'चलमाणे चलिए' आदि पदों का एकार्थ-नानार्थ

५ (१) से नूणं भंते ! चलमाणे चलिते ? उदीरिज्जमाणे उदीरिते २ ? वेइज्जमाणे वेइए ३ ? पहिज्जमाणे पहीणे ४ ? छिज्जमाणे छिन्ने ५ ? भिज्जमाणे भिन्ने ६ ? डज्झमाणे डड्ढे ७ ? मिज्जमाणे मडे ८ ? निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे ९ ?

हंता गोयमा ! चलमाणे चलिए जाव निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे ।

५—[१ प्र] हे भदन्त (भगवन्) ! क्या यह निश्चित कहा जा सकता है कि १ जो चल रहा हो, वह चला ?, २. जो (कर्म) उदीरा जा रहा है, वह उदीर्ण हुआ ?, ३ जो (कर्म) वेदा (भोगा) जा रहा है, वह वेदा गया ? ४ जो गिर (पतित या नष्ट हो) रहा है, वह गिरा (पतित हुआ या हटा) ? ५ जो (कर्म) छेदा जा रहा है, वह छिन्न हुआ ? ६ जो (कर्म) भेदा जा रहा है, वह भिन्न हुआ (भेदा गया) ? ७ जो (कर्म) दग्ध हो रहा है, वह दग्ध हुआ ?, ८ जो मर रहा है, वह मरा ?, ९ जो (कर्म) निर्जरित हो रहा है, वह निर्जीर्ण हुआ ।

---

१ **परिषद् निर्गमन वर्णन**—औपपातिक सूत्र २७ से ३३ तक

२ **धर्मकथा वर्णन**—औपपातिक सूत्र ३४

३. **परिषद् प्रतिगमन वर्णन**—औपपातिक सूत्र ३५-३६-३७

४. **चतुर्ज्ञानी गौतमस्वामी द्वारा प्रश्न पूछने के पाच कारण**—(१) अतिशययुक्त होते हुए भी छद्मस्थ होने के कारण, (२) स्वय जानते हुए भी ज्ञान की अविसवादिता के लिए, (५) अन्य अज्ञजनो के बोध के लिए, (४) शिष्यो को अपने वचन मे विश्वास बिठाने के लिए, (५) शास्त्ररचना की यही पद्धति होने से ।
—भगवतीसूत्र वृत्ति, पत्राक १६

५. (क) भगवती सूत्र अ वृत्ति पत्राक ७ से १४ तक का साराश ।
(ख) वही—पत्रांक ६—"तित्थ च सुहम्माओ, निरवच्चा गणहरा सेसा ।"
(ग) जम्बूस्वामी द्वारा पृच्छा—'जड ण भते ! पचमस्स अगस्स विवाहपन्नत्तीए के अट्ठे पण्णत्ते ?"
—ज्ञाताधर्मकथागमसूत्र

[१ उ.] हाँ गौतम ! जो चल रहा हो, उसे चला, यावत् निर्जरित हो रहा है, उसे निर्जीर्ण हुआ (इस प्रकार कहा जा सकता है।)

[२] एए णं भंते ! नव पदा किं एगट्ठा नाणाघोसा नाणावंजणा उदाहु नाणट्ठा नाणाघोसा नाणावंजणा ?

गोयमा ! चलमाणे चलिते १, उदीरिज्जमाणे उदीरिते २, वेइज्जमाणे वेइए ३, पहिज्जमाणे पहीणे ४, एए णं चत्तारि पदा एगट्ठा नाणाघोसा नाणावंजणा उप्पन्नपक्खस्स। छिज्जमाणे छिन्ने १, भिज्जमाणे भिन्ने २, डज्झमाणे डड्ढे ३, भिज्जमाणे मडे ४, निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे ५, एए णं पंच पदा नाणट्ठा नाणाघोसा नाणावंजणा विगतपक्खस्स।

[२ प्र.] भगवन् ! क्या ये नौ पद, नाना-घोष और नाना-व्यञ्जनों वाले एकार्थक हैं ? अथवा नाना-घोष वाले और नाना-व्यञ्जनों वाले भिन्नार्थक पद हैं ?

[२ उ.] हे गौतम ! १ जो चल रहा है, वह चला; २ जो उदीरा जा रहा है, वह उदीर्ण हुआ, ३ जो वेदा जा रहा है वह वेदा गया, ४ और जो गिर (नष्ट हो) रहा है, वह गिरा (नष्ट हुआ), ये चारों पद उत्पन्न पक्ष की अपेक्षा से एकार्थक, नाना-घोष वाले और नाना-व्यञ्जनों वाले हैं। तथा १ जो छेदा जा रहा है, वह छिन्न हुआ, २ जो भेदा जा रहा है, वह भिन्न हुआ, ३ जो दग्ध हो रहा है, वह दग्ध हुआ, ४ जो मर रहा है, वह मरा, और ५ जो निर्जीर्ण किया जा रहा है, वह निर्जीर्ण हुआ, ये पांच पद विगतपक्ष की अपेक्षा से नाना अर्थ वाले, नाना-घोष वाले और नाना-व्यञ्जनों वाले हैं।

विवेचन—चलन आदि से सम्बन्धित नौ प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत पंचम सूत्र में दो विभाग हैं—प्रथम विभाग में कर्मबन्ध के नाश होने की क्रमशः प्रक्रिया से सम्बन्धित ९ प्रश्न और उनके उत्तर हैं, दूसरे विभाग में इन्हीं ९ कर्मबन्धनाशप्रक्रिया के एकार्थक या नानार्थक होने के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर है।[1]

विशेषावश्यकभाष्य में श्रावस्ती में प्रादुर्भूत 'बहुरत' नामक निह्नवदर्शन के प्रवर्तक जमालि का वर्णन है। उसका मन्तव्य था कि जो कार्य किया जा रहा है, उसे सम्पूर्ण न होने तक 'किया गया', ऐसा कहना मिथ्या है, इस प्रकार के प्रचलित मत को लेकर श्रीगौतमस्वामी द्वारा ये प्रश्न समाधानार्थ प्रस्तुत किए गए।[2]

जो क्रिया प्रथम समय में हुई है, उसने भी कुछ कार्य किया है, निश्चयनय की अपेक्षा से ऐसा मानना उचित है।

चलन—कर्मदल का उदयावलिका के लिए चलना।

उदीरणा—कर्मों की स्थिति परिपक्व होने पर उदय में आने से पहले ही अध्यवसाय विशेष से उन कर्मों को उदयावलिका में खींच लाना।

वेदना—उदयावलिका में आए हुए कर्मों के फल का अनुभव करना।

प्रहाण—आत्मप्रदेशों के साथ एकमेक हुए कर्मों का हटना-गिरना।

छेदन—कर्म की दीर्घकालिक स्थिति को अपवर्तना द्वारा अल्पकालिक स्थिति में करना।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति पत्रांक १४, १५ का सारांश

२. विशेषावश्यकभाष्य गा. २३०६, २३०७ (विशेष चर्चा जमालि प्रसंग में देखें)

भेदन—बद्ध कर्म के तीव्र रस को अपवर्त्तनाकरण द्वारा मन्द करना अथवा उद्वर्त्तनाकरण द्वारा मन्द रस को तीव्र करना।

दग्ध—कर्मरूपी काष्ठ को ध्यानाग्नि से जलाकर अकर्म रूप कर देना।

मृत—पूर्वबद्ध आयुष्यकर्म के पुद्गलों का नाश होना।

निर्जीर्ण—फल देने के पश्चात् कर्मों का आत्मा से पृथक् होना—क्षीण होना।

एकार्थ—जिनका विषय एक हो, या जिनका अर्थ एक हो।

घोष—तीन प्रकार के हैं—उदात्त (जो उच्चस्वर से बोला जाए), अनुदात्त (जो नीचे स्वर से बोला जाए) और स्वरित (जो मध्यमस्वर से बोला जाए)। यह तो स्पष्ट है कि इन नौ पदों के घोष और व्यञ्जन पृथक्-पृथक् हैं।

चारों एकार्थक—चलन, उदीरणा, वेदना और प्रहाण, ये चारों क्रियाएँ तुल्यकाल (एक अन्तर्मुहूर्त्तस्थितिक) की अपेक्षा से, गत्यर्थक होने से तथा एक ही कार्य (केवलज्ञान प्रकटीकरण रूप) की साधक होने से एकार्थक हैं।

पाँचों भिन्नार्थक—छेदन, भेदन, दहन, मरण, निर्जरण, ये पाँचों पद वस्तु विनाश की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न अर्थ वाले हैं। तात्पर्य यह है कि छेदन स्थितिबन्ध की अपेक्षा से, भेदन अनुभाग (रस) बन्ध की अपेक्षा से, दहन प्रदेशबन्ध की अपेक्षा से, मरण आयुष्यकर्म की अपेक्षा से और निर्जरण समस्त कर्मों की अपेक्षा से कहा गया है। अतएव ये सब पद भिन्न-भिन्न अर्थ के वाचक हैं।[1]

चौबीस दंडकगत स्थिति आदि का विचार

[नैरयिक चर्चा]

६. [१-१] **नेरइयाणं भंते! केवइकाल ठिई पण्णत्ता?**

गोयमा! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता।

६ [१-१ प्र.] भगवन्! नैरयिकों की स्थिति (आयुष्य) कितने काल की कही है?

[१-१ उ] हे गौतम! जघन्य (कम से कम) दस हजार वर्ष की, और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) तैंतीस सागरोपम की कही है।

[१-२] **नेरइया णं भंते! केवइकालस्स आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा? जहा ऊसासपदे।**

[१-२ प्र] भगवन्! नारक कितने काल (समय) में श्वास लेते हैं और कितने समय में श्वास छोड़ते हैं—कितने काल में उच्छ्वास लेते हैं और निःश्वास छोड़ते हैं।

[१-२ उ] (प्रज्ञापना-सूत्रोक्त) उच्छ्वास पद (सातवें पद) के अनुसार समझना चाहिए।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १५ से १९ तक

[१-३] नेरइया णं भंते ? आहारट्ठी ?
जहा पण्णवणाए पढमए आहार उद्देसए तथा भाणियव्वं।
ठिति उस्सासाहारे किं वा ऽऽहारेंति सव्वओ वा वि।
कतिभागं सव्वाणि व कीस व भुज्जो परिणमति ? ॥ २ ॥

[१-३ प्र] भगवन् ! क्या नैरयिक आहारार्थी होते है ?

[१-३ उ] गौतम ! प्रज्ञापनासूत्र के आहारपद (२८वे) के प्रथम उद्देशक के अनुसार समझ लेना।

गाथार्थ—नारक जीवो की स्थिति, उच्छ्वास तथा आहार-सम्बन्धी कथन करना चाहिए। क्या वे आहार करते हैं ? वे समस्त आत्मप्रदेशो से आहार करते हैं ? वे कितने भाग का आहार करते हैं या वे सर्व-आहारक द्रव्यो का आहार करते है ? और वे आहारक द्रव्यो को किस रूप मे बार-बार परिणमाते है।

[१-४] नेरइयाणं भंते ! पुव्वाहारिता पोग्गला परिणता १ ? आहारिता आहारिज्जमाणा पोग्गला परिणता २ ? अणाहारिता आहारिज्जिस्समाणा पोग्गला परिणया ३ ? अणाहारिया अणाहारिज्जिस्समाणा पोग्गला परिणया ४ ?

गोयमा ! नेरइयाण पुव्वाहारिता पोग्गला परिणता १, आहारिता आहारिज्जमाणा पोग्गला परिणता परिणमति य २, अणाहारिता आहारिज्जिस्समाणा पोग्गला नो परिणता, परिणमिस्संति ३, अणाहारिया अणाहारिज्जिस्समाणा पोग्गला नो परिणता, नो परिणमिस्संति ४।

[१-४ प्र.] भगवन् ! नैरयिको द्वारा पहले आहार किये हुए पुद्गल परिणत हुए ? आहारित (आहार किये हुए), तथा (वर्तमान मे) आहार किये जाते हुए पुद्गल परिणत हुए ? अथवा जो पुद्गल अनाहारित (नही आहार किये हुए) है, वे तथा जो पुद्गल (भविष्य मे) आहार के रूप मे ग्रहण किये जाएँगे, वे परिणत हुए ? अथवा जो पुद्गल अनाहारित है और आगे भी आहारित (आहार के रूप मे) नही होगे, वे परिणत हुए ?

[१-४ उ] हे गौतम ! नारको द्वारा पहले आहार किये हुए पुद्गल परिणत हुए; १ (इसी तरह) आहार किये हुए और आहार किये जाते हुए पुद्गल परिणत हुए, परिणत होते है, २. किन्तु नही आहार किये हुए (अनाहारित) पुद्गल परिणत नही हुए, तथा भविष्य मे जो पुद्गल आहार के रूप मे ग्रहण किये जाएँगे, वे परिणत होगे, ३ अनाहारित पुद्गल परिणत नही हुए, तथा जिन पुद्गलो का आहार नही किया जाएगा, वे भी परिणत नही होगे ४।

[१-५] नेरइयाणं भंते ! पुव्वाहारिया पोग्गला चिता० पुच्छा।
जहा परिणता तहा चिया वि। एवं उवचिता, उदीरिता, वेदिता, निज्जिण्णा। गाहा—
परिणता चिता उवचिता उदीरिता वेदिया य निज्जिण्णा।
एक्केक्कम्मि पदम्मी चउव्विहा पोग्गला होंति ॥ ३ ॥

[१-५ प्र] हे भगवन् ! नैरयिको द्वारा पहले आहारित (सगृहीत) पुद्गल चय को प्राप्त हुए ?

[१-५ उ] हे गौतम ! जिस प्रकार वे परिणत हुए, उसी प्रकार चय को प्राप्त हुए; उसी प्रकार उपचय को प्राप्त हुए; उदीरणा को प्राप्त हुए, वेदन को प्राप्त हुए तथा निर्जरा को प्राप्त हुए।

गाथार्थ—परिणत, चित, उपचित, उदीरित, वेदिका और निर्जीर्ण, इस एक-एक पद मे चार प्रकार के पुद्गल (प्रश्नोत्तर के विषय) होते है।

[१-६] **नेरइया णं भंते ! कतिविहा पोग्गला भिज्जंति ?**

गोयमा ! कम्मदव्ववग्गणं अहिकिच्च दुविहा पोग्गला भिज्जंति । तं जहा—अणू चेव बादरा चेव १।

नेरइया ण भते ! कतिविहा पोग्गणा चिज्जंति ?

गोयमा ! आहारदव्ववग्गणं अहिकिच्च दुविहा पोग्गला चिज्जति । तं जहा—अणू चेव बादरा चेव २। एवं उवचिज्जंति ३।

नेरइया णं भंते ! कतिविहे पोग्गले उदीरेंति ?

गोयमा! कम्मदव्ववग्गण अहिकिच्च दुविहे पोग्गले उदीरेंति । त जहा—अणू चेव बादरे चेव ४।

एवं वेदेंति ५। निज्जरेंति ६। ओयट्टिसु ७। ओयट्टेंति ८। ओयट्टिस्संति ९। संकामिंसु १०। संकामेंति ११। संकामिस्संति १२। निहत्तिसु १३। निहत्तेंति १४। निहत्तिस्संति १५। निकायंसु १६। निकाएंति १७। निकाइस्संति १८। सव्वेसु वि कम्मदव्ववग्गणमहिकिच्च । गाहा—

भेदित चिता उवचिता उदीरिता वेदिया य निज्जिण्णा ।
ओयट्टण-संकामण-निहत्तण-निकायणे तिविह कालो ॥ ४ ॥

[१-६ प्र] हे भगवन् ! नारकजीवो द्वारा कितने प्रकार के पुद्गल भेदे जाते हैं ?

[१-६] उ गौतम ! कर्मद्रव्यवर्गणा की अपेक्षा दो प्रकार के पुद्गल भेदे जाते है। वे इस प्रकार हैं—अणु (सूक्ष्म) और बादर (स्थूल) १।

(प्र.) भगवन् ! नारक जीवो द्वारा कितने प्रकार के पुद्गल चय किये जाते है ?

(उ) गौतम ! आहार द्रव्यवर्गणा की अपेक्षा वे दो प्रकार के पुद्गलों का चय करते हैं, वे इस प्रकार है—अणु और बादर २, इसी प्रकार उपचय समझना ३।

(प्र.) भगवन् ! नारक जीव कितने प्रकार के पुद्गलो की उदीरणा करते हैं ?

(उ.) गौतम ! कर्मद्रव्यवर्गणा की अपेक्षा दो प्रकार के पुद्गलो की उदीरणा करते है। वह इस प्रकार है—अणु और बादर ४। शेष पद भी इसी प्रकार कहने चाहिए—वेदते है ५, निर्जरा करते है ६, अपवर्त्तन को प्राप्त हुए ७, अपवर्त्तन को प्राप्त हो रहे है ८, अपवर्त्तन को प्राप्त करेंगे ९, सक्रमण किया १०, सक्रमण करते हैं ११, सक्रमण करेंगे १२, निधत्त हुए १३, निधत्त होते है १४ निधत्त होगे १५, निकाचित हुए १६, निकाचित होते हैं १७, निकाचित होगे १८, इन सब पदो मे भी कर्मद्रव्यवर्गणा की अपेक्षा (अणु और बादर पुद्गलो का कथन करना चाहिए।)

गाथार्थ—भेदे गए, चय को प्राप्त हुए, उपचय को प्राप्त हुए, उदीर्ण हुए, वेदे गए और निर्जीर्ण हुए (इसी प्रकार) अपवर्त्तन, सक्रमण, निधत्तन और निकाचन, (इन पिछले चार) पदो मे भी तीनो प्रकार काल कहना चाहिए।

[१-७] **नेरइया णं भंते ! जे पोग्गले तेयाकम्मत्ताए गेण्हंति ते किं तीतकालसमए गेण्हंति ? पडुप्पन्नकालसमए गेण्हंति ? अणागतकालसमए गेण्हति ?**

गोयमा ! नो तीतकालसमए गेण्हंति, पडुप्पन्नकालसमए गेण्हंति, नो अणागतकालसमए गेण्हंति १ ।

[१-७ प्र.] हे भगवन् ! नारक जीव जिन पुद्गलो को तैजस और कार्मणरूप मे ग्रहण करते हैं, उन्हे क्या अतीत काल मे ग्रहण करते है ? प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) काल मे ग्रहण करते हैं ? अथवा अनागत (भविष्य) काल मे ग्रहण करते है ?

[१-७ उ.] गौतम ! अतीत काल मे ग्रहण नही करते, वर्तमान काल मे ग्रहण करते हैं, भविष्यकाल मे ग्रहण नही करते ।

[१-८] नेरइयाणं भंते ! जे पोग्गले तेयाकम्मत्ताए गहिए उदीरेंति ते किं तीतकालसमयगहिते पोग्गले उदीरेंति ? पडुप्पन्नकालसमयघेप्पमाणे पोग्गले उदीरेंति ? गहणसमयपुरेक्खडे पोग्गले उदीरेंति ?

गोयमा ! तीतकालसमयगहिए पोग्गले उदीरेंति, नो पडुप्पन्नकालसमयघेप्पमाणे पोग्गले उदीरेंति, नो गहणसमयपुरेक्खडे पोग्गले उदीरेंति २ । एव वेदेंति ३, निज्जरेंति ४ ।

[१-८ प्र] हे भगवन् ! नारक जीव तैजस और कार्मणरूप मे ग्रहण किये हुए जिन पुद्गलो की उदीरणा करते हैं, सो क्या अतीत काल मे गृहीत पुद्गलो की उदीरणा करते हैं ? या वर्तमान काल मे ग्रहण किये जाते हुए पुद्गलो को उदीरणा करते है ? अथवा जिनका उदयकाल आगे आने वाला है, ऐसे भविष्यकालविषयक पुद्गलो की उदीरणा करते है ?

[१-८ उ] हे गौतम ! वे अतीत काल मे गृहीत पुद्गलो की उदीरणा करते हैं, (परन्तु) वर्तमान काल मे ग्रहण किये जाते हुए पुद्गलो की उदीरणा नही करते, तथा आगे ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलो की भी उदीरणा नही करते ।

इसी प्रकार (उदीरणा की तरह) अतीत काल मे गृहीत पुद्गलो को वेदते है, और उनकी निर्जरा करते है ।

[१-९] नेरइयाण भंते ! जीवातो किं चलिय कम्म बंधति ? अचलिय कम्म बधति ?

गोयमा ! नो चलियं कम्मं बंधंति, अचलित कम्म बंधति १ । एव उदीरेंति २ वेदेंति ३ ओयट्टेंति ४ संकामेंति ५ निहत्तेंति ६ निकाएंति ७ । सव्वेसु णो चलियं, अचलियं ।

[१-९ प्र.] भगवन् ! क्या नारक जीवप्रदेशो से चलित (जो जीवप्रदेशो मे अवगाढ नही है, ऐसे) कर्म को बांधते है, या अचलित (जीवप्रदेशो मे स्थित) कर्म को बाधते है ?

[१-९ उ] गौतम ! (वे) चलित कर्म को नही बाधते, (किन्तु) अचलित कर्म को बाधते हैं ।

इसी प्रकार (बध के अनुसार ही वे) अचलित कर्म की उदीरणा करते हैं, अचलित कर्म का ही वेदन करते है, अपवर्त्तन करते है, सक्रमण करते है, निधत्ति करते हैं और निकाचन करते है । इन सब पदो मे अचलित (कर्म) कहना चाहिए, चलित (कर्म) नही ।

[१-१०] नेरइयाण भंते ! जीवातो किं चलियं कम्मं निज्जरेंति ? अचलियं कम्मं निज्जरेंति ?

गोयमा ! चलिअं कम्मं निज्जरेंति, नो अचलियं कम्मं निज्जरेंति ८। गाहा—

बंधोदय-वेदोव्वट्ट-संकमे तह निहत्तण-निकाए।

अचलिय कम्म तु भवे चलितं जीवाउ निज्जरइ ॥ ५ ॥

[१-१० प्र] भगवन् ! क्या नारक जीवप्रदेश से चलित कर्म की निर्जरा करते है अथवा अचलित कर्म की निर्जरा करते हैं ?

[१-१० उ] गौतम ! (वे) चलित कर्म की निर्जरा करते है, अचलित कर्म की निर्जरा नही करते।

गाथार्थ—बन्ध, उदय, वेदन, अपवर्त्तन, सक्रमण, निधत्तन और निकाचन के विषय मे अचलित कर्म समझना चाहिए और निर्जरा के विषय मे चलित कर्म समझना चाहिए।

विवेचन—नारकों की स्थिति आदि के सम्बन्ध के प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत छठे सूत्र के २४ अवान्तर विभाग (दण्डक) करके शास्त्रकार ने प्रथम अवान्तर विभाग मे नारको की स्थिति आदि से सम्बन्धित १० प्रश्नोत्तर-समूह प्रस्तुत किये है। वे क्रमश इस प्रकार है—(१) स्थिति, (२) श्वासोच्छ्वास समय, (३) आहार, (४) आहारित-अनाहारित पुद्गल परिणमन, (५) इन्ही के चय, उपचय, उदीरणा, वेदना, और निर्जराविषयक विचार, (६) आहारकर्म द्रव्यवर्गणा के पुद्गलो के भेदन, चय, उपचय, उदीरणा, वेदना निर्जरा, अपवर्तन, सक्रमण, निधत्तन और निकाचन से सम्बन्धित विचार, (७-८) तैजस-कार्मण के रूप मे गृहीत पुद्गलो के ग्रहण, उदीरणा, वेदना और निर्जरा की अपेक्षा त्रिकालविषयक विचार, (९-१०) चलित-अचलित कर्म सम्बन्धी बन्ध, उदीरणा, वेदन, अपवर्तन, सक्रमण, निधत्तन, निकाचन एव निर्जरा की अपेक्षा विचार।[1]

स्थिति—आत्मारूपी दीपक मे आयुकर्मपुद्गलरूपी तेल के विद्यमान रहने की सामयिक मर्यादा।[2]

आणमन-प्राणमन तथा उच्छ्वास-निःश्वास—यद्यपि आणमन-प्राणमन तथा उच्छ्वास-नि श्वास का अर्थ समान है, किन्तु इनमे अपेक्षाभेद से अन्तर बताने की दृष्टि से इन्हे पृथक्-पृथक् ग्रहण किया है। आध्यात्मिक (आभ्यन्तर) श्वासोच्छ्वास को आणमन-प्राणमन और बाह्य को उच्छ्वास-नि श्वास कहते है। प्रज्ञापनासूत्र मे नारको के सतत श्वासोच्छ्वास लेने-छोडने का वर्णन है।[3]

नारकों का आहार—प्रज्ञापनासूत्र मे बताया है कि नारको का आहार दो प्रकार का होता है—आभोग निर्वर्तित (खाने की बुद्धि से किया जाने वाला) और अनाभोगनिर्वर्तित (आहार की इच्छा के बिना भी किया जाने वाला)। अनाभोग आहार तो प्रतिक्षण—सतत् होता रहता है, किन्तु आभोगनिर्वर्तित-आहार की इच्छा कम से कम असख्यात समय मे, अर्थात्—अन्तर्मुहूर्त्त मे होती है।

---

१. भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १९ से २५ तक का साराश

२ भगवतीसूत्र अ वृत्ति पत्राक १९

३ (क) वही, पत्राक १९, (ख) प्रज्ञापना, उच्छ्वासपद—७ मे—"**गोयमा ! सयय संतयामेव आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा।**"

इसके अतिरिक्त नारकों के आहार का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, दिशा, समय आदि की अपेक्षा से भी विचार किया गया है।[1]

परिणत, चित, उपचित आदि—आहार का प्रसंग होने से यहा परिणत का अर्थ है—शरीर के साथ एकमेक होकर आहार का शरीररूप मे पलट जाना। जिन पुद्गलो को आहाररूप मे परिणत किया है, उनका शरीर मे एकमेक होकर शरीर को पुष्ट करना चय (चित) कहलाता है। जो चय किया गया है, उसमे अन्यान्य पुद्गल एकत्रित कर देना उपचय (उपचित) कहलाता है।

आहार—शब्द यहाँ ग्रहण करने और उपभोग करने (खाने) दोनो अर्थों में प्रयुक्त है। प्रस्तुत मे प्रत्येक पद के आहार से सम्बन्धित (१) आहारित, (२) आहारित-आह्रियमाण, (३) अनाहारित-आहारिष्यमाण, एव अनाहारित—अनाहारिष्यमाण, इन चारो प्रकार के पुद्गल विषयक चार-चार प्रश्न हैं।[3]

पुद्गलो का भेदन—अपवर्त्तनाकरण तथा उद्वर्त्तनाकरण (अध्यवसायविशेष) से तीव्र, मन्द, मध्यम रस वाले पुद्गलो को दूसरे रूप मे परिणत (परिवर्तित) कर देना। जैसे—तीव्र को मन्द और मन्द को तीव्र बना देना।

पुद्गलो का चय-उपचय—यहाँ शरीर का आहार से पुष्ट होना चय और विशेष पुष्ट होना उपचय है। ये आहारद्रव्यवर्गणा की अपेक्षा जानना चाहिए।

अपवर्तन—अध्यवसायविशेष के द्वारा कर्म की स्थिति एव कर्म के रस को कम कर देना। अप-वर्त्तनाकरण से कर्म की स्थिति आदि कम की जाती है, उद्वर्तनाकरण से अधिक।

सक्रमण—कर्म की उत्तरप्रकृतियो का अध्यवसाय-विशेष द्वारा एक दूसरे के रूप मे बदल जाना। यह सक्रमण (परिवर्त्तन) मूल प्रकृतियो मे नही होता। उत्तरप्रकृतियो मे भी आयुकर्म की उत्तरप्रकृतियो मे नही होता तथा दर्शनमोह और चारित्रमोह मे भी एक दूसरे के रूप मे सक्रमण नही होता।

निधत्त करना—भिन्न-भिन्न कर्म-पुद्गलो को एकत्रित करके धारण करना। निधत्त अवस्था मे उद्वर्तना और अपवर्तना, इन दो करणो से ही निधत्त कर्मो मे परिवर्तन किया जा सकता है। अर्थात् इन दो करणो के सिवाय किसी अन्य सक्रमणादि के द्वारा जिसमे परिवर्तन न हो सके, कर्म की ऐसी अवस्था को निधत्त कहते है।

---

१ (क) भगवतीसूत्र अभय वृत्ति, पत्राक २० से २३ तक
(ख) देखिये, प्रज्ञापना—आहारपद, पद २८, उद्दे. १

२ भगवतीसूत्र अभय वृत्ति, पत्राक २४

३ (१) पूर्वाहृत, (२) आह्रियमाण, (३) आहारिष्यमाण, (४) अनाहृत, (५) अनाह्रियमाण और (६) अनाहारिष्यमाण, इन ६ पदा के ६३ भग होते है—एकपदाश्रित ६, द्विकसयोग से १५, त्रिकसयोग मे २०, चतुष्कसयोग से १५, पचकसयोग से ६ और षट्सयोग से एक।

—भगवती अ वृत्ति अनुवाद, पृ ६२-६३

निकाचित करना—निधत्त किये गए कर्मों का ऐसा सुदृढ हो जाना कि, जिससे वे एक-दूसरे से पृथक न हो सके, जिनमे कोई भी कारण कुछ भी परिवर्तन न कर सके। अर्थात्—कर्म जिस रूप मे बांधे है, उसी रूप मे भोगने पडे, वे निकाचित कर्म कहलाते हैं।[1]

चलित-अचलित—जिन आकाशप्रदेशो मे जीवप्रदेश अवस्थित हैं उन्ही आकाशप्रदेशो मे जो अवस्थित न हो, ऐसे कर्म चलित कहलाते हैं, इससे विपरीत कर्म अचलित।[2]

देव (असुरकुमार) चर्चा—

[२-१] असुरकुमाराणं भंते! केवइय कालं ठिती पण्णता?

जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेण सातिरेगं सागरोवमं।

[२-१ प्र] भगवन्! असुरकुमारो की स्थिति कितने काल की कही गई है?

[२-१ उ.] हे गौतम! जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट एक सगारोपम से कुछ अधिक की है।

[२-२] असुरकुमाराणं भंते! केवइकालस्स आणमति वा[3] ४?

गोयमा! जहन्नेणं सत्तण्ह थोवाणं,[4] उक्कोसेण साइरेगस्स पक्खस्स आणमंति वा ४।

[२-२ प्र] भगवन्! असुरकुमार कितने समय मे श्वास लेते है और कितने समय मे नि श्वास छोडते है?

[२-२ उ] गौतम! जघन्य सात स्तोकरूप काल मे और उत्कृष्ट एक पक्ष (पखवाडे) से (कुछ) अधिक समय मे श्वास लेते और छोडते है।

[२-३] असुरकुमाराण भंते! आहारट्ठी?

हंता आहारट्ठी।

[२-३ प्र] हे भगवन्! क्या असुरकुमार आहार के अभिलाषी होते है?

[२-३ उ] हाँ, गौतम! (वे) आहार के अभिलाषी होते हैं।

[२-४] असुरकुमाराण भते! केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ?

---

१ भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्राक २४-२५

२ वही, पत्राक २८

३ **'आणमति वा'** के वाद '४' का अक **'पाणमति वा ऊससति वा नीससति वा'**, इन शेष तीन पदो का सूचक है।

४. हट्ठस्स अणवगल्लस्स, निरुवकिट्ठस्स जतुणो।
एगे ऊसास-निसासे, एस पाणुत्ति वुच्चइ।
सत्त पाणूणि से थोवे, सत्त थोवाणि से लवे।
लवाण सत्तहत्तरिए, एस मुहुत्ते वियाहिए॥

अर्थात्—रोगरहित, स्वस्थ, हृष्टपुष्ट प्राणी के एक श्वासोच्छ्वास (उच्छ्वास-नि श्वास) को एक प्राण कहते है। सात प्राणो का एक स्तोक होता है, सात स्तोको का एक लव और ७७ लवो का एक मुहूर्त होता है।

गोयमा ! असुरकुमाराणं दुविहे आहारे पण्णत्ते। तं जहा—आभोगनिव्वत्तिए य, अणाभोगनिव्वत्तिए य। तत्थ णं जे से अणाभोगनिव्वत्तिए से अणुसमयं अविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ। तत्थ णं जे से आभोगनिव्वत्तिए से जहन्नेण चउत्थभत्तस्स, उक्कोसेणं साइरेगस्स वाससहस्सस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ।

[२-४ प्र] हे भगवन् ! असुरकुमारो को कितने काल मे आहार की इच्छा उत्पन्न होती है ?

[२-४ उ] गौतम ! असुरकुमारों का आहार दो प्रकार का कहा गया है; जैसे कि—आभोगनिर्वर्त्तित और अनाभोग-निर्वर्त्तित। इन दोनो मे से जो अनाभोग-निर्वर्त्तित (बुद्धिपूर्वक न होने वाला) आहार है, वह विरहरहित प्रतिसमय (सतत) होता रहता है। (किन्तु) आभोगनिर्वर्त्तित आहार की अभिलाषा जघन्य चतुर्थभक्त अर्थात्– एक अहोरात्र से और उत्कृष्ट एक हजार वर्ष से कुछ अधिक काल मे होती है।

[२-५] असुरकुमारा णं भंते ! किं आहारं आहारेंति ?

गोयमा ! दव्वओ अणंतपएसियाइं दव्वाइं, खित्त-काल-भावा पण्णवणागमेणं। सेसं जहा नेरइयाणं जाव ते णं तेसिं पोग्गला कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ! गोयमा ! सोइंदियत्ताए ५[1] सुरूवत्ताए सुवण्णत्ताए इट्ठत्ताए इच्छियत्ताए अभिज्झियत्ताए, उड्ढत्ताए, णो अहत्ताए, सुहत्ताए, णो दुहत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति।

[२-५ प्र] भगवन् ! असुरकुमार किन पुद्गलो का आहार करते है ?

[२-५ उ] गौतम ! द्रव्य से अनन्तप्रदेशी द्रव्यो का आहार करते हैं। क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से प्रज्ञापनासूत्र का वही वर्णन जान लेना चाहिए, जो नैरयिको के प्रकरण मे कहा गया है।

(प्र) हे भगवन् ! असुरकुमारो द्वारा आहार किये हुए पुद्गल किस रूप मे बार-बार परिणत होते है ?

(उ) हे गौतम ! श्रोत्रेन्द्रिय रूप मे यावत् स्पर्शेन्द्रिय रूप में, सुन्दर रूप मे, सु-वर्णरूप मे, इष्ट रूप मे, इच्छित रूप मे, मनोहर (अभिलषित) रूप मे, ऊर्ध्वरूप में परिणत होते हैं, अधःरूप में नहीं, सुखरूप मे परिणत होते है, किन्तु दु:खरूप मे परिणत नही होते।

[२-६] असुरकुमाराणं पुव्वाहारिया पुग्गला परिणया ?

असुरकुमाराभिलावेण जहा नेरइयाणं जाव[2]। चलियं कम्मं निज्जरंति।

[२-६ प्र] हे भगवन् ! क्या असुरकुमारो द्वारा आहृत—पहले आहार किये हुए पुद्गल परिणत हुए ?

---

१ '**इंदियत्ताए**' के आगे '५' का अंक शेष चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय एव स्पर्शनेन्द्रिय का सूचक है।

२ असुरकुमारो के विषय मे '**चलियं कम्मं निज्जरंति**' पर्यन्त शेष प्रश्न प्रज्ञापनासूत्रानुसार नारको की तरह समझ लेने चाहिए। इसी बात के द्योतक 'जहा' और 'जाव' शब्द है।

[२-६ उ.] गौतम ! असुरकुमारो के अभिलाप मे, अर्थात्—नारको के स्थान पर 'असुरकुमार' शब्द का प्रयोग करके अचलित कर्म की निर्जरा करते हैं, यहाँ तक सभी आलापक नारको के समान ही समझने चाहिए।

नागकुमार चर्चा

[३-१] नागकुमाराण भंते ! केवइयं काल ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइ, उक्कोसेण देसूणाइं दो पलिओवमाइं।

[३-१ प्र] हे भगवन् ! नागकुमार देवो की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[३-१ उ] गौतम ! जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट देशोन=कुछ कम दो पल्योपम की है।

[३ २] नागकुमारा ण भंते ! केवइकालस्स आणमंति वा ४ ?

गोयमा ! जहन्नेणं सत्तण्हं थोवाणं, उक्कोसेणं मुहुत्तपुहत्तस्स[1] आणमंति वा ४।

[३-२ प्र] हे भगवन् ! नागकुमार देव कितने समय मे श्वास लेते है और छोडते है ?

[३-२ उ] गौतम ! जघन्यत सात स्तोक मे और उत्कृष्टत मुहूर्त्त-पृथक्त्व मे (दो मुहूर्त्त से लेकर नौ मुहूर्त्त के अन्दर किसी भी समय) श्वासोच्छ्वास लेते हैं।

[३-३] नागकुमारा णं भंते ! आहारट्ठी ?

हंता, गोयमा ! आहारट्ठी।

[३-३ प्र] भगवन् ! क्या नागकुमारदेव आहारार्थी होते है ?

[३-३ उ] हाँ गौतम ! वे आहारार्थी होते है।

[३-४] नागकुमाराणं भंते ! केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ?

गोयमा ! नागकुमाराणं दुविहे आहारे पण्णत्ते। त जहा—आभोगनिव्वत्तिए य अणाभोगनिव्वत्तिए य। तत्थ णं जे से अणाभोगनिव्वत्तिए से अणुसमय अविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जेइ, तत्थ णं जे से आभोगनिव्वत्तिए, से जहन्नेणं चउत्थभत्तस्स, उक्कोसेणं दिवस-पुहत्तस्से आहारट्ठे समुप्पज्जइ। सेस जहा असुरकुमाराण जाव चलियं कम्म निज्जरेंति, नो अचलिय कम्म निज्जरेंति।

[३-४ प्र] भगवन् ! नागकुमार देवो को कितने काल के अनन्तर आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है ?

[३-४ उ] गौतम ! नागकुमार देवो का आहार दो प्रकार का कहा गया है—आभोग-निर्वर्त्तित और अनाभोग-निर्वर्त्तित। इन में जो अनाभोग-निर्वर्त्तित आहार है, वह प्रतिसमय विरहरहित (सतत) होता है, किन्तु आभोगनिर्वर्त्तित आहार की अभिलाषा जघन्यत चतुर्थभक्त (एक अहोरात्र) के पश्चात् और उत्कृष्टत दिवस-पृथक्त्व (दो दिवस से लेकर नौ दिवस तक), के बाद उत्पन्न होती

१. 'पृथक्त्व' शब्द दो से लेकर नौ तक के अर्थ मे सिद्धान्त मे प्रसिद्ध है।

है। शेष "चलित कर्म की निर्जरा करते हैं, किन्तु अचलित कर्म की निर्जरा नहीं करते"; यहाँ तक सारा वर्णन असुरकुमार देवो की तरह समझ लेना चाहिए।

[४-११] एव सुवण्णकुमाराण वि जाव[1] थणियकुमाराणं ति।

[४ से ११ तक] इसी तरह सुपर्णकुमार देवो से लेकर स्तनितकुमार (शेष सभी भवनपति) देवो तक के भी (स्थिति से लेकर चलित कर्म-निर्जरा तक के) सभी आलापक (पूर्ववत्) कह देने चाहिए।

विवेचन—भवनपतिदेवों की स्थिति आदि के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर—छठे सूत्र से दूसरे अवान्तर विभाग (दण्डक) से (असुरकुमार से) लेकर ग्यारहवे अवान्तर विभाग (दण्डक) तक (स्तनितकुमार पर्यन्त) की स्थिति आदि के सम्बन्ध मे नारको की तरह, क्रमश. प्रश्नोत्तर अंकित हैं।

नागकुमारो की स्थिति के विषय मे स्पष्टीकरण—मूल पाठ मे उक्त नागकुमारो की देशोन दो पल्योपम की उत्कृष्ट स्थिति उत्तर दिशा के नागकुमारो की अपेक्षा से समझनी चाहिए। दक्षिण-दिशावर्ती नागकुमारो की उत्कृष्ट स्थिति डेढ पल्योपम की है।[2]

पृथिवीकाय आदि स्थावर चर्चा

[१२-१] पुढविक्काइयाणं भंते! केवइय काल ठिती पण्णता?

गोयमा! जहन्नेणं अतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावीस वाससहस्साइ।

[१२-१ प्र] भगवन्! पृथ्वीकायिक जीवो की स्थिति कितने काल की कही गई है?

[१२-१ उ] गौतम! जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की, और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष की है।

[१२-२] पुढविक्काइया केवइकालस्स आणमंति वा ४?

गोयमा! वेमायाए आणमंति वा ४।

[१२-२ प्र] भगवन! पृथ्वीकायिक जीव कितने काल मे श्वास नि श्वास लेते है?

[१२-२ उ] गौतम! (वे) विमात्रा से—विविध या विषम काल मे श्वासोच्छ्वास लेते है, (अर्थात्—इनके श्वासोच्छ्वास का समय स्थिति के अनुसार नियत नही है।)

[१२-३] पुढविक्काइया आहारट्ठी?

हंता, आहारट्ठी।

[१२-३ प्र.] भगवन्! पृथ्वीकायिक जीव आहार के अभिलाषी होते है?

[१२-३ उ] हाँ, गौतम! वे आहारार्थी होते है।

[१२-४] पुढविक्काइयाणं केवइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ?

गोयमा! अणुसमय अविरहिए आहारट्ठे समुप्पज्जइ।

---

१ यहाँ 'जाव' शब्द सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, वायुकुमार और स्तनितकुमार, इन शेष ८ भवनपतिदेवो का सूचक है।

२. कहा है—"**दाहिणदिवड्ढपलिय, दो देसूणतरिल्लाण।**"

[१२-४ प्र] भगवन्! पृथ्वीकायिक जीवो को कितने काल मे आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है।

[१२-४ उ] हे गौतम! (उन्हे) प्रतिसमय विरहरहित निरन्तर आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है।

[१२-५] पुढविक्काइया किं आहारं आहारेंति ?

गोयमा! दव्वओ जहा नेरइयाणं जाव निव्वाघाएणं छद्दिसिं; वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं, सिय चउद्दिसिं सिय पचदिसिं। वण्णओ काल-नील-लोहिल-हालिद्द-सुक्किलाणि। गधओ सुब्भिगध २, रसओ तित्त ५, फासओ कक्खड ८।[1] सेसं तहेव। नाणत्तं कतिभागं आहारेंति ? कइभाग फासादेंति।

गोयमा! असंखिज्जइभागं आहारेंति, अणतभाग फासादेंति जाव ते ण तेसिं पोग्गला कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति ? गोयमा! फासिंदियवेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति। सेसं जहा नेरइयाण जाव चलियं कम्मं निज्जरेंति, नो अचलियं कम्मं निज्जरेंति।

[१२-५ प्र.] भगवन्! पृथ्वीकायिक जीव क्या (किसका) आहार करते है ?

[१२-५ उ] गौतम! वे द्रव्य से अनन्तप्रदेशी द्रव्यो का आहार करते है, इत्यादि (आहार-विषयक) सब बातें नैरयिको के समान जानना चाहिए। यावत् पृथ्वीकायिक जीव व्याघात न हो तो छहो दिशाओ से आहार लेते हैं। व्याघात हो तो कदाचित् तीन दिशाओ से, कदाचित् चार और कदाचित् पाच दिशाओ से आहार लेते है। वर्ण की अपेक्षा से काला, नीला, पीला, लाल, हारिद्र(हल्दी जैसा) तथा शुक्ल (श्वेत) वर्ण के द्रव्यो का आहार करते है। गन्ध की अपेक्षा से सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध, दोनो गन्ध वाले, रस की अपेक्षा से तिक्त आदि पाचो रस वाले, स्पर्श की अपेक्षा से कर्कश आदि आठो स्पर्श वाले द्रव्यो का आहार करते है। शेष सब वर्णन पूर्ववत् ही समझना चाहिए। सिर्फ भेद यह है—(प्र) भगवन्! पृथ्वीकाय के जीव कितने भाग का आहार करते है और कितने भाग का स्पर्श—आस्वादन करते है ?

(उ) गौतम! वे असख्यातवे भाग का आहार करते है और अनन्तवे भाग का स्पर्श—आस्वादन करते हैं। यावत्—"हे भगवन्! उनके द्वारा आहार किये हुए पुद्गल किस रूप मे बार-बार परिणत होते है ?" हे गौतम! स्पर्शेन्द्रिय के रूप मे साता—असातारूप विविध प्रकार से बार-बार परिणत होते है। (यावत्) यहाँ से लेकर 'अचलित कर्म की निर्जरा नही करते', यहाँ तक का अवशिष्ट सब वर्णन नैरयिको के समान समझना चाहिए।

[१३-१६] एव जाव वणस्सइकाइयाण। नवरं ठिती वण्णेयव्वा जा जस्स, उस्सासो वेमायाए।

[१३-१६] इसी प्रकार अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय तक के जीवो के विषय मे समझ लेना चाहिए। अन्तर केवल इतना है कि जिसकी जितनी स्थिति हो उसकी उतनी

---

१ '२' अक मे सुरभि दुरभि दो गन्ध का, '५' अक से तिक्त, कटुक, कषाय, अम्ल (खट्टा) और मधुर, यो पाच रसो का, और '८' अक से—कर्कश, कोमल, भारी हलका, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष आठ प्रकार के स्पर्श का ग्रहण करना चाहिए।

स्थिति कह देनी चाहिए तथा इन सबका उच्छ्वास भी विमात्रा से—विविध प्रकार से—जानना चाहिए, (अर्थात्—स्थिति के अनुसार वह नियत नही है।)

विवेचन—पंच स्थावर जीवो की स्थिति आदि के विषय में प्रश्नोत्तर— छठे सूत्र के अन्तर्गत १२वें दण्डक से सोलहवे दण्डक तक के पृथ्वीकायादि पाँच स्थावर जीवो की स्थिति आदि का वर्णन किया गया है।

पृथ्वीकायिक जीवो की उत्कृष्ट स्थिति—खरपृथ्वी की अपेक्षा से २२ हजार वर्ष की कही गई है। क्योकि सिद्धान्तानुसार स्निग्ध पृथ्वी की एक हजार वर्ष की, शुद्ध पृथ्वी की बारह हजार वर्ष की, बालुका पृथ्वी की १४ हजार वर्ष की, मन शिला पृथ्वी की १६ हजार वर्ष की, शर्करा पृथ्वी की १८ हजार वर्ष की और खर पृथ्वी की २२ हजार वर्ष की उत्कृष्ट स्थिति मानी गई है।

विमात्रा-आहार, विमात्रा-श्वासोच्छ्वास—पृथ्वीकायिक जीवो का रहन-सहन विचित्र होने से उनके आहार की कोई मात्रा—आहार की एकरूपता—नही है। इस कारण उनमे श्वास की मात्रा नही है कि कब कितना लेते है। इनका श्वासोच्छ्वास विषमरूप है—विमात्र है।

व्याघात—लोक के अन्त मे, जहाँ लोक-अलोक की सीमा मिलती है, वही व्याघात होना सम्भव है। क्योकि अलोक मे आहार योग्य पुद्गल नही होते।

आहार स्पर्शेन्द्रिय से कैसे—पृथ्वीकायिक आदि स्थावर जीवो के एकमात्र स्पर्शेन्द्रिय ही होती है, इसलिये ये स्पर्शेन्द्रिय द्वारा आहार ग्रहण करके उसका आस्वादन करते है।

शेष स्थावरो की उत्कृष्ट स्थिति—पृथ्वीकाय के अतिरिक्त शेष स्थावरो की उत्कृष्ट स्थिति क्रमश अप्काय की ७ हजार वर्ष की, तेजस्काय की ३ दिन की, वायुकाय की ३ हजार वर्ष की, और वनस्पतिकाय की दस हजार वर्ष की है।[1]

द्वीन्द्रियादि त्रस-चर्चा

[१७-१] बेइन्दियाण ठिई भाणियव्वा। ऊसासो वेमायाए।

[१७-१] द्वीन्द्रिय जीवो की स्थिति कह लेनी चाहिए। उनका श्वासोच्छ्वास विमात्रा से (अनियत) कहना चाहिए।

[१७-२] बेइन्दियाण आहारे पुच्छा। अणाभोगनिव्वत्तिओ तहेव। तत्थ ण जे से आभोगनिव्वत्तिए से ण असखेज्जसमइए अतोमुहुत्तिए वेमायाए आहारट्ठे समुप्पज्जइ। सेसं तहेव जाव अणत-भागं आसायति।

[१७-२] (तत्पश्चात्) द्वीन्द्रिय जीवो के आहार के विषय मे (यो) पृच्छा करनी चाहिए—(प्र) भगवन्! द्वीन्द्रिय जीवो को कितने काल मे आहार की अभिलाषा होती है? (उ) अनाभोग निर्वर्त्तित आहार पहले के ही समान (निरन्तर) समझना चाहिए। जो आभोग-निर्वर्त्तित आहार है, उसकी अभिलाषा विमात्रा से असख्यात समय वाले अन्तर्मुहूर्त्त मे होती है। शेष सब वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए, यावत् अनन्तवे भाग का आस्वादन करते हैं।

[१७-३] बेइन्दिया णं भंते! जे पोग्गले आहारत्ताए गेण्हंति ते किं सव्वे आहारेंति? नो सव्वे आहारेंति?

१, भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक २९

गोयमा ! बेइन्दियाण दुविहे आहारे पण्णत्ते । तं जहा—लोमाहारे पक्खेवाहारे य । जे पोग्गले लोमाहारत्ताए । गिण्हति ते सव्वे अपरिसेसिए आहारेंति । जे पोग्गले पक्खेवाहारत्ताए गिण्हंति तेसि णं पोग्गलाण असंखिज्जभाग आहारेंति, अणेगाइ च ण भागसहस्साइं अणासाइज्जमाणाइं अफासाइज्जमाणाइं विद्धसमागच्छति ।

[१७-३ प्र] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव जिन पुद्गलो को आहाररूप से ग्रहण करते हैं, क्या वे उन सबका आहार कर लेते है ? अथवा उन सबका आहार नही करते ?

[१७-३ उ] गौतम ! द्वीन्द्रिय जीवो का आहार दो प्रकार का कहा गया है, जैसे कि—रोमाहार (रोमो द्वारा खीचा जाने वाला आहार) और प्रक्षेपाहार (कौर, बू द आदि रूप मे मु ह आदि मे डाल कर किया जाने वाला आहार) । जिन पुद्गलो को वे रोमाहार द्वारा ग्रहण करते हैं, उन सबका सम्पूर्णरूप से आहार करते है, जिन पुद्गलो को वे प्रक्षेपाहाररूप से ग्रहण करते है, उन पुद्गलो मे स असख्यातवॉ भाग आहार ग्रहण किया जाता है, और (शेष) अनेक-सहस्रभाग बिना आस्वाद किए और बिना स्पर्श किये ही नष्ट हो जाते है ।

[१७-४] एतेसि ण भंते ! पोग्गलाण अणासाइज्जमाणाणं अफासाइज्जमाणाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ?[१]

गोयमा ! सव्वत्थो वा पुग्गला अणासाइज्जमाणा, अफासाइज्जमाणा अणंतगुणा ।

[१७-४ प्र] हे भगवन् ! इन बिना आस्वादन किये हुए और बिना स्पर्श किये हुए पुद्गलो मे से कौन-से पुद्गल, किन पुद्गलो से अल्प है, बहुत है, अथवा तुल्य है, या विशेषाधिक है ?

[१७-४ उ] हे गौतम ! आस्वाद मे नही आए हुए पुद्गल सबसे थोडे हैं, (जबकि) स्पर्श मे नही आये हुए पुद्गल उनसे अनन्तगुणा है ।

[१७-५] बेइंदिया ण भंते ! जे पोग्गले आहारत्ताए गिण्हति ते ण तेसिं पुग्गला कीसत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति ?

गोयमा ! जिब्भिदिय-फासिंदिय-वेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति ।

[१७-५ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव जिन पुद्गलो को आहाररूप मे ग्रहण करते है, वे पुद्गल उनके किस रूप मे बार-बार परिणत होते है ?

[१७-५ उ] गौतम ! वे पुद्गल उनके विविधतापूर्वक जिह्वेन्द्रिय रूप मे और स्पर्शेन्द्रिय-रूप मे बार-बार परिणत होते है ।

[१७-६] बेइंदियाणं भंते ! पुव्वाहारिया पुग्गला परिणया तहेव जाव[२] चलियं कम्मं निज्जरंति ।

[१७-६ प्र] हे भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीवो को क्या पहले आहार किये हुए पुद्गल परिणत हुए है ?

---

१ यहाँ 'अप्पा वा' के आगे ४ का अक 'बहुआ वा, तुल्ला वा, विसेसाहिया वा' इन शेष तीन पदो का सूचक है ।

२ यहाँ 'जाव' पद से छठे सूत्र के १-४ से १-१० पर्यन्त सूत्रपाठ देखें ।

[१७-६ उ.] ये 'चलित कर्म की निर्जरा करते हैं' यहाँ तक सारा वक्तव्य पहले की तरह समझ लेना चाहिए।

[१८-१९-१] तेइंदिय-चउरिंदियाणं णाणत्तं ठितीए जाव णेगाइं च णं भागसहस्साइं अणाघाइज्जमाणाइं अणासाइज्जमाणाइं अफासाइज्जमाणाइं विद्धंसमागच्छंति।

[१८-१९-१] त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवो की स्थिति मे भेद है, (शेष सब वर्णन पूर्ववत् है,) यावत् अनेक-सहस्रभाग बिना सूंघे, बिना चखे तथा बिना स्पर्श किये ही नष्ट हो जाते हैं।

[१८-१९-२] एतेसिं णं भंते ! पोग्गलाणं अणाघाइज्जमाणाणं ३,[1] पुच्छा।

गोयमा ! सव्वत्थोवा पोग्गला अणाघाइज्जमाणा अणासाइज्जमाणा अणंतगुणा, अणासाइज्जमाणा अणंतगुणा।

[१८-१९-२ प्र] भगवन् ! इन नही सूंघे हुए, नही चखे हुए और नही स्पर्श किये हुए पुद्गलो मे से कौन किससे थोडा, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक है ? ऐसी पृच्छा करनी चाहिए।

[१८-१९-२ उ] गौतम ! नही सूंघे हुए पुद्गल सबसे थोडे है, उनसे अनन्तगुणे नही चखे हुए पुद्गल हैं, और उनसे भी अनन्तगुणे पुद्गल नही स्पर्श किये हुए है।

[१८-३] तेइंदियाण घाणिंदिय-जिब्भिंदिय-फासिंदियवेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति।

[१८-३] त्रीन्द्रिय जीवो द्वारा किया हुआ आहार घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के रूप मे बार-बार परिणत होता है।

[१९-३] चउरिंदियाणं चक्खिदिय-घाणिंदिय-जिब्भिंदिय-फासिंदियत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति।

[१९-३] चतुरिन्द्रिय जीवो द्वारा किया हुआ आहार चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के रूप मे बार-बार परिणत होता है।

विवेचन--विकलेन्द्रिय जीवों की स्थिति आदि का वर्णन --छठे सूत्र के अन्तर्गत १७-१८-१९वे दण्डक के रूप मे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवो की स्थिति आदि का वर्णन किया गया है।

विकलेन्द्रिय जीवों की स्थिति-- जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है, उत्कृष्ट द्वीन्द्रिय की बारह वर्ष की, त्रीन्द्रिय की ४९ अहोरात्र की, एव चतुरिन्द्रिय की छह मास की है।

असंख्यातसमयवाला अन्तर्मुहूर्त--एक अन्तर्मुहूर्त्त मे असख्यात समय होने से वह असख्येय भेदवाला होता है, इसलिए द्वीन्द्रिय जीवो को आभोग आहार की अभिलाषा असख्यात समय वाले अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् बताई गई है।

रोमाहार-- वर्षा आदि मे स्वत (ओघत) रोमो द्वारा जो पुद्गल प्रविष्ट हो जाते है, उनके ग्रहण को रोमाहार कहते है।[2]

---

१ यहाँ '३' अक से '**अणासाइज्जमाणाणं अफासाइज्जमाणाण**' ये दो पद सूचित किये गये है।

२ भगवती सूत्र अ. वृत्ति पत्राक ३०

[२०] पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण ठिति भाणिऊण ऊसासो वेमायाए। आहारो अणाभोगनिव्वत्तिओ अणुसमयं अविरहिओ आभोगनिव्वत्तिओ जहन्नेणं अंतोमुहुत्तस्स, उक्कोसेणं छट्ठभत्तस्स। सेसं जहा चउरिंदियाण जाव[1] चलियं कम्मं निज्जरेंति।

[२०] पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीवो की स्थिति कह कर उनका उच्छ्वास विमात्रा से (विविध प्रकार से—अनियत काल मे) कहना चाहिए, उनका अनाभोगनिर्वर्तित आहार प्रतिसमय विरहरहित (निरन्तर) होता है। आभोगनिर्वर्तित आहार जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त मे और उत्कृष्ट षष्ठभक्त अर्थात् दो दिन व्यतीत होने पर होता है। इसके सम्बन्ध मे शेष वक्तव्य 'अचलित कर्म की निर्जरा नही करते,' यहाँ तक चतुरिन्द्रिय जीवो के समान समझना चाहिए।

मनुष्य एवं देवादि विषय

[२१] एवं मणुस्साण वि। नवरं आभोगनिव्वत्तिए जहन्नेण अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अट्ठमभत्तस्स। सोइंदिय ५[2] वेमायत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमंति। सेसं तहेव जाव निज्जरेंति।

[२१] मनुष्यो के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही जानना चाहिए, किन्तु इतना विशेष है कि उनका आभोगनिर्वर्तित आहार जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त मे, उत्कृष्ट अष्टभक्त अर्थात् तीन दिन बीतने पर होता है।

पचेन्द्रिय जीवो द्वारा गृहीत आहार श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, और स्पर्शनेन्द्रिय, इन पाँचो इन्द्रियो के रूप मे विमात्रा से बार-बार परिणत होता है। शेष सब वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए, यावत् वे 'अचलित कर्म की निर्जरा नही करते।'

[२२] वाणमंतराणं ठिईए नाणत्तं अवसेसं जहा[3] नागकुमाराणं।

[२२] वाणव्यन्तर देवो की स्थिति मे भिन्नता (नानात्व) है। (उसके सिवाय) शेष समस्त वर्णन नागकुमारदेवो की तरह समझना चाहिए।

[२३] एवं जोइसियाण वि। नवरं उस्सासो जहन्नेणं मुहुत्तपुहत्तस्स, उक्कोसेण वि मुहुत्तपुहत्तस्स। आहारो जहन्नेण दिवसपुहत्तस्स, उक्कोसेण वि दिवसपुहत्तस्स। सेसं तहेव।

[२३] इसी तरह ज्योतिष्क देवो के सम्बन्ध मे भी जानना चाहिए। इतनी विशेषता है कि उनका उच्छ्वास जघन्य मुहूर्त्तपृथक्त्व और उत्कृष्ट भी मुहूर्त्तपृथक्त्व के बाद होता है। उनका आहार जघन्य दिवसपृथक्त्व से और उत्कृष्ट दिवसपृथक्त्व के पश्चात् होता है। शेष सारा वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

[२४] वेमाणियाण ठिती भाणियव्वा ओहिया। ऊसासो जहन्नेण मुहुत्तपुहत्तस्स, उक्कोसेणं तेत्तीसाए पक्खाणं। आहारो आभोगनिव्वत्तिओ जहन्नेणं दिवसपुहत्तस्स, उक्कोसेणं तेत्तीसाए वाससहस्साणं। सेसं तहेव जाव[4] निज्जरेंति।

[२४] वैमानिक देवो की औधिक स्थिति कहनी चाहिए। उनका उच्छ्वास जघन्य मुहूर्त्तपृथक्त्व से और उत्कृष्ट तैंतीस पक्ष के पश्चात् होता है। उनका आभोगनिर्वर्तित आहार जघन्य

---

१. 'जाव' शब्द से छठे सूत्र के १-२ से १-१० तक का सूत्रपाठ देखें।

२ यहाँ '५' का अक पाँचो इन्द्रियो का सूचक है।

३ यहाँ 'जहा' शब्द सू-६, के ३-२ से लेकर ३-१० तक के पाठ का सूचक है।

४. यहाँ 'जाव' शब्द के लिए सूत्र ६, के १-४ से १-१० तक का सूत्रपाठ देखें।

दिवसपृथक्त्व से और उत्कृष्ट तैंतीस हजार वर्ष के पश्चात् होता है। वे 'चलित कर्म की निर्जरा करते है, अचलित कर्म की निर्जरा नही करते,' इत्यादि (यहाँ तक) शेष समग्र वर्णन पूर्ववत् ही समझना चाहिए।

विवेचन—पंचेन्द्रिय, तिर्यञ्च, मनुष्य, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक देवों की स्थिति आदि का वर्णन—छठे सूत्र के अन्तर्गत चौवीस दण्डको मे से अन्तिम २० से २४ वे दण्डक के जीवो की स्थिति आदि का निरूपण किया गया है।

पंचेन्द्रिय जीवों की स्थिति—प्रस्तुत मे तिर्यञ्चपचेन्द्रिय, मनुष्य एव तीनो निकायों के देवो का समावेश हो जाता है। तिर्यञ्चपचेन्द्रिय और मनुष्य की स्थिति जघन्यत: अन्तर्मुहूर्त्त की, उत्कृष्टत तीन पल्योपम की है। वाणव्यन्तर देवो की स्थिति जघन्य १० हजार वर्ष की, उत्कृष्ट एक पल्योपम की है। ज्योतिष्क देवो की स्थिति जघन्य पल्योपम के ८ वे भाग की, और उत्कृष्ट तक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की है। वैमानिक देवो की औघिक (समस्त वैमानिक देवो की अपेक्षा से सामान्य) स्थिति कही है। औघिक का परिमाण एक पल्योपम से लेकर तैंतीस सागरोपम तक है। इसमे जघन्य स्थिति सौधर्म देवलोक की अपेक्षा से और उत्कृष्ट स्थिति अनुत्तरविमानवासी देवो की अपेक्षा से कही गई है।

तिर्यंचों और मनुष्यों के आहार की अवधि : किस अपेक्षा से? प्रस्तुत मे तिर्यञ्चपचेन्द्रिय का आहार षष्ठभक्त (दो दिन) बीत जाने पर बतलाया गया है, वह देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्र के यौगलिक तिर्यञ्चो की तथा ऐसी ही स्थिति (आयु) वाले भरत-ऐरवत क्षेत्रीय तिर्यंचयौगलिको की अपेक्षा से समझना चाहिए। इसी प्रकार मनुष्यो का आहार अष्टमभक्त बीत जाने पर कहा गया है, वह भी देवकुरु-उत्तरकुरु के यौगलिक मनुष्यो की तथा भरत-ऐरवतक्षेत्र मे जब उत्सर्पिणीकाल का छठा आरा समाप्ति पर होता है, और अवसर्पिणी काल का प्रथम आरा प्रारम्भ होता है, उस समय के मनुष्यो की अपेक्षा से समझना चाहिए।

वैमानिक देवो के श्वासोच्छ्वास एवं आहार के परिमाण का सिद्धान्त—यह है कि जिस वैमानिक देव की जितने सागरोपम की स्थिति हो, उसका श्वासोच्छ्वास उतने ही पक्ष मे होता है, और आहार उतने ही हजार वर्ष मे होता है।[1] इस दृष्टि से यहाँ श्वासोच्छ्वास और आहार का जघन्य परिमाण जघन्य स्थिति वाले वैमानिक देवो की अपेक्षा और उत्कृष्ट परिमाण उत्कृष्ट स्थिति वाले देवो की अपेक्षा से समझना चाहिए।

मुहूर्त्तपृथक्त्वः जघन्य और उत्कृष्ट—जघन्य मुहूर्त्तपृथक्त्व मे दो या तीन मुहूर्त्त और उत्कृष्ट मुहूर्त्तपृथक्त्व मे आठ या नौ मुहूर्त्त समझना चाहिए।[2]

जीवों की आरंभ विषयक चर्चा

७. [१] जीवा णं भंते ! किं आयारंभा ? परारंभा ? तदुभयारंभा ? अणारंभा ?

---

१ ''जस्स जइ सागराइ तस्स ठिई तत्तिएहिं पक्खेहिं।
उस्सासो देवाण वाससहस्सेहिं आहारो ॥''

२. भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्रांक ३०-३१

गोयमा ! अत्थेगइया जीवा आयारंभा वि, परारंभा वि, तदुभयारंभा वि,[1] नो अणारंभा। अत्थेगइया जीवा नो आयारंभा, नो परारंभा, नो तदुभयारंभा, अणारंभा।

[७-१ प्र.] हे भगवन् ! क्या जीव आत्मारम्भी हैं, परारम्भी है, तदुभयारम्भी हैं, अथवा अनारम्भी हैं ?

[७-१ उ.] हे गौतम ! कितने ही जीव आत्मारम्भी भी हैं, परारम्भी भी है और उभयारम्भी भी हैं, किन्तु अनारम्भी नही हैं। कितने ही जीव आत्मारम्भी नही है, परारम्भी नही हैं, और न ही उभयारम्भी है, किन्तु अनारम्भी हैं।

[२] से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चति—अत्थेगइया जीवा आयारंभा वि ? एवं पडिउच्चारेतव्वं।

गोयमा ! जीवा दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—संसारसमावन्नगा य असंसारसमावन्नगा य। तत्थ णं जे ते असंसारसमावन्नगा ते णं सिद्धा, सिद्धा णं नो आयारंभा जाव अणारंभा। तत्थ णं जे ते संसारसमावन्नगा ते दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—संजता य, असंजता य। तत्थ णं जे ते संजता ते दुविहा पण्णत्ता। तं जहा—पमत्तसंजता य, अप्पमत्तसंजता य। तत्थ णं जे ते अप्पमत्तसंजता ते णं नो आयारंभा, नो परारंभा, जाव अणारंभा। तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया ते सुभं जोगं पडुच्च नो आयारंभा जाव अणारंभा, असुभं जोगं पडुच्च आयारंभा वि जाव नो अणारंभा। तत्थ णं जे ते असंजता ते अविरतिं पडुच्च आयारंभा वि जाव नो अणारंभा से। तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—अत्थेगइया जीवा जाव[2] अणारंभा।

[७-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से आप ऐसा कहते है कि कितने ही जीव आत्मारम्भी भी हैं ? इत्यादि पूर्वोक्त प्रश्न का फिर से उच्चारण करना चाहिए।

[७-२ उ.] गौतम ! जीव दो प्रकार के कहे गए है, वे इस प्रकार है—ससारसमापन्नक और असंसारसमापन्नक। उनमे से जो जीव असंसारसमापन्नक है, वे सिद्ध (मुक्त) है और सिद्ध भगवान् न तो आत्मारम्भी हैं, न परारम्भी हैं और न ही उभयारम्भी है, किन्तु अनारम्भी है। जो ससार-समापन्नक जीव हैं, वे दो प्रकार के कहे गए हैं, वे इस प्रकार है—सयत और असयत। उनमे जो सयत हैं, वे दो प्रकार के कहे गए है, जैसे कि—प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसयत। उनमे जो अप्रमत्त-सयत हैं, वे न तो आत्मारम्भी है, न परारम्भी है, और न उभयारम्भी है, किन्तु अनारम्भी है। जो प्रमत्तसयत हैं, वे शुभ योग की अपेक्षा न आत्मारम्भी है, न परारम्भी है, और न उभयारम्भी है; किन्तु अनारम्भी है। अशुभयोग की अपेक्षा वे आत्मारम्भी भी है, परारम्भी भी है और उभयारम्भी भी हैं, किन्तु अनारम्भी नही है। जो असयत है, वे अविरति की अपेक्षा आत्मारम्भी हैं, परारम्भी है, उभयारम्भी हैं किन्तु अनारम्भी नही है। इस कारण (हेतु से) हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि कितने ही जीव आत्मारम्भी है, यावत् अनारम्भी भी है।

---

१ 'वि' (अपि) शब्द पूर्वपद और उत्तरपद के सम्बन्ध को तथा कालभेद से एकाश्रयता या भिन्नाश्रयता सूचित करने के लिए है। जैसे—एक ही जीव किसी समय आत्मारम्भी, किसी समय परारम्भी और किसी समय तदुभयारम्भी होता है। इसलिए अनारम्भी नही होता। भिन्नाश्रयता भिन्न-भिन्न जीवो की अपेक्षा से समझना चाहिए। जैसे कई (असयती जीव) आत्मारम्भी, कई परारम्भी और कई उभयारम्भी होते हैं, इत्यादि।

२. 'जाव' पद के लिए देखिये सू. ७-१ का सूत्रपाठ

चौबीस दंडक में आरंभ प्ररूपणा

८. [१] नेरइयाणं भंते ! किं आयारंभा ? परारंभा ? तदुभयारंभा ? अणारंभा ?
गोयमा ! नेरइया आयारंभा वि जाव नो अणारंभा। से केणट्ठेणं ?
गोयमा ! अविरतिं पडुच्च से तेणट्ठेणं जाव नो अणारंभा।

[८-१ प्र] भगवन् ! नैरयिक जीव क्या आत्मारम्भी है, परारम्भी हैं, उभयारम्भी हैं, या अनारम्भी हैं ?

[८-१ उ.] गौतम ! नैरयिक जीव आत्मारम्भी भी है, परारम्भी भी है, और उभयारम्भी भी है, किन्तु अनारम्भी नही है।

[प्र] भगवन् ! आप ऐसा किस कारण से कहते है ?

[उ] हे गौतम ! अविरति की अपेक्षा से, अविरति होने के कारण (ऐसा कहा जाता है कि) नरयिक जीव आत्मारम्भी, परारम्भी और उभयारम्भी है, किन्तु अनारम्भी नही हैं।

[२-२०] एव जाव असुरकुमारा वि, जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिया।

[८-२ से २०] इसी प्रकार असुरकुमार देवो के विषय मे भी जान लेना चाहिए, यावत् तिर्यञ्चपञ्चेन्द्रिय तक का भी (आलापक) इसी प्रकार कहना चाहिए।

[२१] मणुस्सा जहा जीवा। नवरं सिद्धविरहिता भाणियव्वा।
[२२-२४] वाणमंतरा जाव वेमाणिया जधा नेरतिया।

[८-२१ से २४] मनुष्यो मे भी सामान्य जीवो की तरह जान लेना। विशेष यह है कि सिद्धो का कथन छोडकर। वाणव्यन्तर देवो से वैमानिक देवो तक नैरयिको की तरह कहना चाहिए।

सलेश्य जीवों मे आरंभ प्ररूपणा

९. [१] सलेसा जहा ओहिया (सु. ७)।
[२] किण्हलेस-नीललेस-काउलेसा जहा ओहिया जीवा, नवरं पमत्तअप्पमत्ता न भाणियव्वा। तेउलेसा पम्हलेसा सुक्कलेसा जहा ओहिया जीवा (सु. ७), नवरं सिद्धा न भाणियव्वा।

[९-१-२] लेश्यावाले जीवो के विषय में सामान्य (औघिक) जीवो की तरह कहना चाहिए। कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्यावाले जीवो के सम्बन्ध मे सामान्य जीवो की भाति ही सब कथन समझना चाहिए, किन्तु इतना विशेष है कि (सामान्य जीवो के आलापक मे उक्त) प्रमत्त और अप्रमत्त यहाँ नही कहना चाहिए। तेजोलेश्या वाले, पद्मलेश्या वाले और शुक्ललेश्या वाले जीवो के विषय मे भी औघिक जीवो की तरह कहना चाहिए, किन्तु इतना विशेष है कि सामान्य जीवो मे से सिद्धो के विषय का कथन यहाँ नही करना चाहिए।

विवेचन—विविध पहलुओं से आरम्भी-अनारम्भी विचार—प्रस्तुत तीन सूत्रो (७-८-९) में सामान्य जीवो, चतुर्विंशतिदण्डकीय जीवो और सलेश्य जीवो की अपेक्षा से आत्मारम्भ, परारम्भ, तदुभयारम्भ और अनारम्भ का विचार किया गया है।

आरम्भ—यह जैन पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—ऐसा सावद्य कार्य करना, या किसी आश्रव में प्रवृत्ति करना, जिससे किसी जीव को कष्ट पहुँचे या उसके प्राणो का घात हो।

आत्मारम्भी—जो स्वय ग्राश्रवद्वार मे प्रवृत्त होता है या ग्रात्मा द्वारा स्वय ग्रारम्भ करता है।

परारम्भी—दूसरे को ग्राश्रव मे प्रवृत्त करने वाला या दूसरे से ग्रारम्भ कराने वाला।

तदुभयारम्भी (उभयारंभी)—जो ग्रातमारम्भ ग्रौर परारम्भ दोनो करता है।

अनारम्भी—जो ग्रात्मारम्भ, परारम्भ ग्रौर उभयारम्भ से रहित हो, या उपयोगपूर्वक प्रतिलेखना ग्रादि प्रवृत्ति करने वाला सयत।

शुभयोग—उपयोगपूर्वक—सावधानतापूर्वक योगो की प्रवृत्ति।

लेश्या—कृष्ण ग्रादि द्रव्यो के सम्बन्ध से ग्रात्मा मे उत्पन्न होने वाले परिणाम।[1]

सयत-असंयत—जो जीव सब प्रकार की बाह्याभ्यन्तर ग्रन्थि से तथा विषय-कषाय से निवृत्त हो चुके है, वे सयत ग्रौर जो इनसे ग्रनिवृत्त है तथा ग्रारम्भ मे प्रवृत्त हैं, वे ग्रसयत कहलाते हैं।[2]

भव को ग्रपेक्षा से ज्ञानादिक की प्ररूपणा

१०. [१] इहभविए भंते ! नाणे ? परभविए नाणे ? तदुभयभविए नाणे ?

गोयमा ! इहभविए वि नाणे, परभविए वि नाणे, तदुभयभविए वि नाणे।

[१०-१ प्र] हे भगवन् ! क्या ज्ञान इहभविक है ? परभविक है ? या तदुभयभविक है ?

[१०-१ उ] गौतम ! ज्ञान इहभविक भी है, परभविक भी है, ग्रौर तदुभयभविक भी है।

[२] दंसण पि एवमेव।

[१०-२] इसी तरह दर्शन भी जान लेना चाहिए।

[३] इहभविए भंते ! चरित्ते ? परभविए चरित्ते ? तदुभयभविए चरित्ते।

गोयमा ! इहभविए चरित्ते, नो परभविए चरित्ते, नो तदुभयभविए चरित्ते।

[१०-३ प्र.] हे भगवन् ! क्या चारित्र इहभविक है, परभविक है या तदुभयभविक है ?

[१०-३ उ] गौतम ! चारित्र इहभविक है, वह परभविक नही है ग्रौर न तदुभयभविक है।

[४] एवं तवे, सजमे।

[१०-४] इसी प्रकार तप ग्रौर सयम के विषय मे भी जान लेना चाहिए।

विवेचन—भव की अपेक्षा ज्ञानादिसम्बन्धी प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत सूत्र मे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप ग्रौर सयम के इहभव, परभव ग्रौर उभयभव मे ग्रस्तित्व के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर अंकित हैं। ज्ञान ग्रौर दर्शन दोनो यहाँ वहाँ सर्वत्र रहते है, किन्तु चारित्र, तप ग्रौर सयम इस जीवन तक ही रहते है। ये परलोक मे साथ नही रहते, क्योकि चारित्र, तप, सयम ग्रादि की जो जीवनपर्यन्त प्रतिज्ञा ली जाती है, वह इस जीवन के समाप्त होने पर पूर्ण हो जाती है, मोक्ष मे चारित्र का कुछ भी प्रयोजन नही हैं।[3] देवगति प्राप्त होने पर वहाँ सयम ग्रादि सम्भव नही हैं।

---

१. कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्परिणामो य ग्रात्मन ।
स्फटिकस्येव तत्राऽय लेश्याशब्द प्रयुज्यते ॥

२ भगवतीसूत्र ग्र वृत्ति, पत्राक ३१ से ३३ तक

३ भगवतीसूत्र ग्र वृत्ति, पत्राक ३३

उभयभविक का समावेश परभविक मे ही हो जाता है, तथापि उसे पृथक् कहने का आशय यह है कि ज्ञान और दर्शन परतरभविक अर्थात् अगले भव से भी अगले भव मे साथ जा सकते है।

असंवुड-संवुड विषयक सिद्धता की चर्चा

११. [१] असंवुडे णं भंते ! अणगारे किं सिज्झति ? बुज्झति ? मुच्चति ? परिनिव्वाति ? सव्वदुक्खाणमंतं करेति ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे ।

से केणट्ठेणं जाव नो अंतं करेइ ?

गोयमा ! असंवुडे अणगारे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ पकरेति, ह्रस्सकालट्ठितीयाओ दीहकालट्ठितीयाओ पकरेति, मंदाणुभागाओ तिव्वाणुभागाओ पकरेति, अप्पपदेसग्गाओ बहुप्पदेसग्गाओ पकरेति, आउगं च णं कम्मं सिय बंधति, सिय नो बंधति, अस्सातावेदणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो-भुज्जो उवचिणाति, अणादीयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरियट्टइ । से तेणट्ठेणं गोयमा ! असंवुडे अणगारे नो सिज्झति ५[१] ।

[११-१ प्र] भगवन् ! असंवृत अनगार क्या सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, निर्वाण प्राप्त करता है तथा समस्त दुःखो का अन्त करता है ?

[११-१ उ] हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ (शक्य या ठीक) नही है।

(प्र) भगवन् ! वह किस कारण से सिद्ध नही होता, यावत् सब दुःखो का अन्त नही करता ?

(उ) गौतम ! असंवृत अनगार आयुकर्म को छोडकर शेष शिथिलबन्धन से बद्ध सात कर्मप्रकृतियो को गाढबन्धन से बद्ध करता है, अल्पकालीन स्थिति वाली कर्म-प्रकृतियो को दीर्घकालिक स्थिति वाली करता है, मन्द अनुभाग वाली प्रकृतियो को तीव्र अनुभाग वाली करता है, अल्पप्रदेश वाली प्रकृतियो को बहुत प्रदेश वाली करता है और आयुकर्म को कदाचित् बाधता है, एव कदाचित् नही बाधता, असातावेदनीय कर्म का बार-बार उपार्जन करता है, तथा अनादि अनवदग्र-अनन्त दीर्घमार्ग वाले चतुर्गतिवाले संसाररूपी अरण्य मे बार-बार पर्यटन—परिभ्रमण करता है, हे गौतम ! इस कारण से असंवृत अनगार सिद्ध नही होता, यावत् समस्त दुःखो का अन्त नही करता।

[२] संवुडे णं भंते ! अणगारे सिज्झति ५ ? हंता, सिज्झति जाव[२] अंतं करेति । से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! संवुडे अणगारे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेति, दीहकालट्ठितीयाओ ह्रस्सकालट्ठितीयाओ पकरेति, तिव्वाणुभागाओ मंदाणुभागाओ पकरेति, बहुपएसग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेति, आउयं च णं कम्मं न बंधति, अस्सायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाति, अणाईयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं वीतीवयति । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—संवुडे अणगारे सिज्झति जाव अंतं करेति ।

---

१. जहाँ ५ का अंक है—वहाँ 'नो सिज्झति' नो बुज्झति आदि पाचो पदो की योजना करनी चाहिए।

२. 'जाव' पद से **बुज्झन्ते** से '**सव्वदुक्खाणमंतं करेति**' तक का पाठ समझ लेना चाहिए।

[११-२ प्र] भगवन् ! क्या संवृत अनगार सिद्ध होता है, यावत् सब दुःखो का अन्त करता है ?

[११-२ उ] हाँ, गौतम ! वह सिद्ध हो जाता है, यावत् सब दुःखो का अन्त करता है।

(प्र.) भगवन् ! वह किस कारण से सिद्ध हो जाता है, यावत् सब दुःखो का अन्त कर देता है ?

(उ.) गौतम ! संवृत अनगार आयुष्यकर्म को छोड़कर शेष गाढबन्धन से बद्ध सात कर्म-प्रकृतियो को शिथिलबन्धनबद्ध कर देता है, दीर्घकालिक स्थिति वाली कर्मप्रकृतियो को ह्रस्व (थोड़े) काल की स्थिति वाली कर देता है, तीव्ररस (अनुभाव) वाली प्रकृतियो को मन्द रस वाली कर देता है, बहुत प्रदेश वाली प्रकृतियो को अल्पप्रदेश वाली कर देता है, और आयुष्य कर्म को नही बाधता। वह असातावेदनीय कर्म का बार-बार उपचय नही करता, (अतएव वह) अनादि-अनन्त दीर्घमार्ग वाले चातुर्गतिकरूप ससार-अरण्य का उल्लघन कर जाता है। इस कारण से, हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि संवृत अनगार सिद्ध हो जाता है, यावत् सब दुःखो का अन्त कर देता है।

विवेचन—असंवृत और संवृत अनगार के सिद्ध होने आदि से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत सूत्र मे क्रमश असंवृत और संवृत अनगार के सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत और सर्वदु.खान्तकर होने तथा न होने के सम्बन्ध में युक्तिसहित विचार प्रस्तुत किया गया है।

असंवृत—जिस साधु ने अनगार होकर हिंसादि आश्रवद्वारो को रोका नही है।

संवृत—आश्रवद्वारो का निरोध करके संवर की साधना करने वाला मुनि संवृत अनगार है। ये छठे गुणस्थान (प्रमत्तसयत) से लेकर चौदहवे गुणस्थानवर्ती तक होते है। संवृत अनगार दो प्रकार के होते हैं—चरमशरीरी और अचरमशरीरी। जिन्हे दूसरा शरीर धारण नही करना पडेगा, वे एकभवावतारी चरमशरीरी और जिन्हें दूसरा शरीर (सात-आठ भव तक) धारण करना पडेगा, वे अचरमशरीरी होते हैं। प्रस्तुत सूत्र चरमशरीरी की अपेक्षा से है। परम्परारूप से अचरमशरीर की अपेक्षा से भी है।

दोनों में अन्तर--यद्यपि परम्परा से तो शुक्लपाक्षिक भी मोक्ष प्राप्त करेगे ही, फिर भी संवृत और असंवृत अनगार का जो भेद किया गया है, उसका रहस्य यह है कि अचरमशरीरी संवृत अनगार उसी भव में मोक्ष भले न जाएँ मगर वे ७-८ भवो मे अवश्य मोक्ष जाएँगे ही। इस प्रकार उनकी परम्परा की सीमा ७-८ भवो की ही है। अपार्धपुद्गलपरावर्त्तन की जो परम्परा अन्यत्र कही गई है, वह विराधक की अपेक्षा से समझना चाहिए। अविराधक अचरमशरीरी संवृत अनगार अवश्य सात-आठ भवो मे मोक्ष पाता है, भले ही उसकी चारित्राराधना जघन्य ही क्यो न हो।

'सिज्झइ' आदि पांच पदो का अर्थ और क्रम—चरम भव—अन्तिम जन्म प्राप्त करके जो मोक्षगमनयोग्य होता है, वही **सिद्ध** (सिद्धिप्राप्त) होता है; चरमशरीरी मानव को भावी नय की अपेक्षा से सिद्ध कह सकते हैं, बुद्ध नही। **बुद्ध** तभी कहेंगे जब **केवलज्ञानप्राप्त** होगा। जो बुद्ध हो जाता है, उसके केवल भवोपग्राही अघातिकर्म शेष रहते हैं, भवोपग्राही कर्म को जब वह प्रतिक्षण छोडता है, तब **मुक्त** कहलाता है। भवोपग्राही कर्मों को प्रतिक्षण क्षीण करने वाला वह महापुरुष

कर्मपुद्गलों को ज्यों-ज्यो क्षीण करता जाता है, त्यो-त्यो शीतल होता जाता है, इस प्रकार की शीतलता—शांति प्राप्त करना ही **निर्वाणप्राप्त** करना है। वही जीव अपने भव के अन्तसमय मे जब समस्त कर्मों का सर्वथा क्षय कर चुकता है, तब अपने **समस्त दुःखों का अन्त** करता है।

असंवृत अनगार : चारों प्रकार के बन्धों का परिवर्धक—कर्मबन्ध के चार प्रकार है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। इनमे से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योग से होते हैं, तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषाय से होते हैं। असवृत अनगार के योग अशुभ होते हैं, और कषाय तीव्र। इस कारण वह चारो ही बन्धो मे वृद्धि करता है।

अणाइयं के संस्कृत मे चार रूपान्तर वृत्तिकार ने करके उसके पृथक्-पृथक् अर्थ सूचित किये है—(१) **अनादिकं** (जिसकी आदि न हो), (२) **अज्ञातिकं** (जिसका कोई स्व-जन न हो), (३) **ऋणातीतं** (ऋण से होने वाले दुःख को भी मात करने वाले दुःख को देने वाला) और (४) **अणातीत** (अतिशय पाप को प्राप्त)।

अणवदग्गं के सस्कृत मे तीन रूपान्तर करके वृत्तिकार ने उसके अनेक अर्थ सूचित किये हैं—(१) **अनवदग्रम्** (अवदग्र अन्त से रहित=अनन्त), (२) **अनवनताग्रम्**—जिसका अग्र=अन्त, अवनत यानी आसन्न (निकट) न हो, और (३) **अनवगताग्रम्**—जिसका अग्र=परिमाण, अनवगत हो—पता न चले।

दीहमद्धं—अद्ध के दो रूप—अध्व और अद्ध; अर्थ हुए 'जिसका अध्व (मार्ग) या अद्धा=काल दीर्घ—लम्बा हो।[1]

असंयत जीव की देवगति विषयक चर्चा

१२. [२] **जीवे णं भंते ! असंजते अविरते अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे इतो चुए पेच्चा देवे सिया ?**

गोयमा ! अत्थेगइए देवे सिया, अत्थेगइए नो देवे सिया।

से केणट्ठेणं जाव इतो चुए पेच्चा अत्थेगइए देवे सिया, अत्थेगइए नो देवे सिया ?

गोयमा ! जे इमे जीवा गामाऽऽगर-नगर-निगम-रायहाणि-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-पट्टणाऽऽसम-सन्निवेसेसु अकामतण्हाए अकामछुहाए अकामबंभचेरवासेणं अकामअण्हाणगसेय-जल्ल-मल-पंकपरिदाहेणं अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं अप्पाणं परिकिलेसंति, अप्पाणं परिकिलेसइत्ता कालमासे कालं किच्चा अन्नतरेसु वाणमंतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति।

[१२-१ प्र] भगवन् ! असयत, अविरत, तथा जिसने पापकर्म का हनन एव त्याग नही किया है, वह जीव इस लोक से च्यव (मर) कर क्या परलोक में देव होता है ?

[१२-१ उ] गौतम ! कोई जीव देव होता है और कोई जीव देव नहीं होता।

[प्र] भगवन् ! यहाँ से च्यव कर परलोक मे कोई जीव देव होता है, और कोई जीव देव नही होता; इसका क्या कारण है ?

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३४-३५

[उ.] गौतम ! जो ये जीव ग्राम, आकर (खान), नगर, निगम (व्यापारिक केन्द्र), राजधानी, खेट (खेड़ा), कर्बट (खराब नगर), मडम्ब (चारो ओर ढाई-ढाई कोस तक बस्ती से रहित बस्ती), द्रोणमुख (बन्दरगाह जलपथ-स्थलपथ से युक्त बस्ती), पट्टण (पत्तन—मण्डी, जहाँ देश-देशान्तर से आया हुआ माल उतरता है), आश्रम (तापस आदि का स्थान), सन्निवेश (घोष आदि लोगों का आवासस्थान) आदि स्थानो मे अकाम तृषा (प्यास) से, अकाम क्षुधा से, अकाम ब्रह्मचर्य से, अकाम शीत, आतप, तथा डास-मच्छरो के काटने के दु:ख को सहने से अकाम अस्नान, पसीना, जल्ल (धूल लिपट जाना), मैल तथा पक से होने वाले परिदाह से, थोडे समय तक या बहुत समय तक अपने आत्मा (आप) को क्लेशित करते हैं, वे अपने आत्मा (आप) को (पूर्वोक्त प्रकार से) क्लेशित करके मृत्यु के समय पर मर कर वाणव्यन्तर देवो के किसी देवलोक मे देवरूप से उत्पन्न होते है।

वाणव्यन्तर देवलोक—स्वरूप

[२] केरिसा णं भंते ! तेसिं वाणमंतराणं देवाणं देवलोगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! से जहानामए इह असोगवणे इ वा, सत्तवण्णवणे इ वा, चंपगवणे इ वा, चूतवणे इ वा, तिलगवणे इ वा, लउयवणे ति वा, णिग्गोहवणे इ वा, छत्तोववणे इ वा, असणवणे इ वा, सणवणे इ वा, अयसिवणे इ वा, कुसुंभवणे इ वा, सिद्धत्थवणे इ वा, बंधुजीवगवणे इ वा णिच्चं कुसुमिस माइत लवइत थवइय गुलुइत गुच्छित जमलित जुवलित विणमित पणमित सुविभत्त पिंडमंजरिवडेंसगधरे सिरीए अईव अईव उवसोभेमाणे उवसोभेमाणे चिट्ठति, एवामेव तेसिं वाणमतराणं देवाण देवलोगा जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठितीएहिं उक्कोसेणं पलिओवमट्ठितीएहिं बहूहिं वाणमतरेहिं देवेहिं य देवीहि य आइण्णा वितिकिण्णा उवत्थडा संथडा फुडा अवगाढगाढा सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणा चिट्ठंति। एरिसगा ण गोतमा ! तेसिं वाणमंतराण देवाण देवलोगा पण्णत्ता। से तेणट्ठेण गोतमा ! एवं वुच्चति—जीवे णं असंजए जाव देवे सिया।

[१२-२ प्र] भगवन् ! उन वाणव्यन्तर देवो के देवलोक किस प्रकार के कहे गए है ?

[१२-२ उ] गौतम ! जैसे इस मनुष्यलोक मे नित्य कुसुमित (सदा फूला हुआ), मयूरित (मौर—पुष्पविशेष वाला), लवकित (कोंपलो वाला), फूलो के गुच्छो वाला, लतासमूह वाला, पत्तो के गुच्छो वाला, यमल (समान श्रेणी के) वृक्षो वाला, युगलवृक्षो वाला, फल-फूल के भार से नमा हुआ, फल-फूल के भार से झुकने की प्रारम्भिक अवस्था वाला, विभिन्न प्रकार की बालो और मजरियो रूपी मुकुटो को धारण करने वाला अशोकवन, सप्तवर्ण वन, चम्पकवन, आम्रवन, तिलकवृक्षो का वन, तुम्बे की लताओ का वन, वटवृक्षो का वन, छत्रौघवन, अशनवृक्षो का वन, सन (पटसन) वृक्षो का वन, अलसी के पौधो का वन, कुसुम्बवृक्षो का वन, सफेद सरसो का वन, दुपहरिया (बन्धुजीवक) वृक्षो का वन, इत्यादि वन शोभा से अतीव-अतीव उपशोभित होता है, इसी प्रकार वाणव्यन्तर देवो के देवलोक जघन्य दस हजार वर्ष की तथा उत्कृष्ट एक पल्योपम की स्थिति वाले एव बहुत-से वाणव्यन्तरदेवो से और उनकी देवियो से आकीर्ण—व्याप्त, व्याकीर्ण—विशेष व्याप्त, एक दूसरे पर आच्छादित, परस्पर मिले हुए, स्फुट प्रकाश वाले, अत्यन्त अवगाढ़ श्री—शोभा से अतीव-अतीव सुशोभित रहते है। हे गौतम ! उन वाणव्यन्तर देवो के स्थान—देवलोक इसी प्रकार

के कहे गए हैं । इस कारण से ऐसा कहा जाता है कि असंयत जीव मर कर यावत् कोई देव होता है और कोई देव नही होता ।

विवेचन—असंयत जीवों की गति एवं वाणव्यन्तर देवलोक—प्रस्तुत सूत्र मे असयत जीवो को प्राप्त होने वाली देवगति तथा देवलोको मे भी वाणव्यन्तर देवो मे जन्म और उसका कारण एव वाणव्यन्तरदेवो के आवासस्थानों का विस्तृत वर्णन किया गया है ।

कठिन शब्दों की व्याख्या—असंयत—असाधु या सयमरहित ।

अविरत—प्राणातिपात आदि पापो से विरतिरूप व्रतरहित अथवा तप आदि के विषय मे जो विशेष रत नही है । **अप्रतिहत-प्रत्याख्यातपापकर्मा**—(१) जिसने-भूतकालीन पापों को निन्दा गर्हा आदि के द्वारा नष्ट (निराकृत) नही किया है तथा जिसने भविष्यकालीन पापों का प्रत्याख्यान—त्याग नही किया है । (२) अथवा जिसने मरणकाल से पूर्व तप आदि के द्वारा पापकर्म का नाश न किया हो, मरणकाल आ जाने पर भी आश्रवनिरोध करके पापकर्म का प्रत्याख्यान न किया हो, (३) अथवा जिसने सम्यग्दर्शन अगीकार करके पूर्वपापकर्म नष्ट नही किये, और सर्वविरति आदि अगीकार करके ज्ञानावरणीयादि अशुभकर्मों का निरोध न किया हो ।

अकाम—शब्द यहाँ इच्छा के अभाव का द्योतक है । कर्मनिर्जरा की अभिलाषा के विना जो कष्टसहन आदि किया जाय, उससे होने वाली निर्जरा अकामनिर्जरा है । अर्थात् विना स्वेच्छा या विना उद्देश्य के भूख, प्यास आदि कष्ट सहना—अकामनिर्जरा है । मोक्षप्राप्ति की कामना—स्वेच्छा या उद्देश्य से ज्ञानपूर्वक जो निर्जरा की जाती है, वह सकामनिर्जरा कहलाती है ।

दोनो के देवलोक मे अन्तर—कई ज्ञानी सकाम निर्जरावाले भी देवलोक मे जाते हैं और मिथ्यात्वी अकामनिर्जरा वाले भी, फिर भी दोनो के देवलोकगमन मे अन्तर यह है कि अकामनिर्जरा वाले वाणव्यन्तरादि देव होते हैं, जबकि सकामनिर्जरा वाले साधक वैमानिक देवो की उत्तम से उत्तम स्थिति प्राप्त करके मोक्ष की भी आराधना कर सकते है ।

वाणव्यन्तर शब्द का अर्थ—वनविशेष मे उत्पन्न होने अर्थात् बसने और वही क्रीडा करने वाले देव ।[1]

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगव गोतमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति वंदित्ता नमंसित्ता सजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति ।

।। पढमे सते पढमो उद्देसो ।।

हे भगवन् ! 'यह इसी प्रकार है', 'यह इसी प्रकार है', ऐसा कह कर भगवान् गौतम श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना करते है, नमस्कार करते है, वन्दना-नमस्कार करके सयम तथा तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरण करते हैं ।

विवेचन—गौतम स्वामी द्वारा प्रदर्शित वन्दना-बहुमान—प्रथम उद्देशक के उपसहार मे श्री गौतमस्वामी के द्वारा प्रश्न पूछने से पहले की तरह उत्तर-श्रवण के पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर के प्रति कृतज्ञताप्रकाश के रूप मे विनय एव बहुमान प्रदर्शित किया गया है, जो समस्त साधको के लिए अनुकरणीय है ।

।। प्रथम शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त ।।

---

१ भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ३६-३७

बितिओ उद्देसो : दुक्खे

द्वितीय उद्देशक : दुःख

उपक्रम

१ रायगिहे नगरे समोसरणं । परिसा निग्गता जाव एवं वदासी—

१ राजगृह नगर मे (भगवान् का) समवसरण हुआ । परिषद् (उनके दर्शन-वन्दन-श्रवणार्थ) निकली । यावत् (श्री गौतमस्वामी विनयपूर्वक दोनो हाथ जोड कर पर्युपासना करते हुए) इस प्रकार बोले—

जीव के स्वकृत-दुःखवेदन सम्बन्धी चर्चा

२. जीवे णं भंते ! सयंकडं दुक्खं वेदेति ?

गोयमा ! अत्थेगइय वेदेति, अत्थेगइयं नो वेदेति ।

से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चइ—अत्थेगइयं वेदेति, अत्थेगइय नो वेदेति ?

गोयमा ! उदिण्णं वेदेति, अणुदिण्णं नो वेदेति, से तेणट्ठेण एव वुच्चति—अत्थेगइय वेदेति, अत्थेगइयं नो वेदति । एवं चउव्वीस दंडएणं जाव[1] वेमाणिए ।

[२-१ प्र] भगवन् ! क्या जीव स्वयकृत दु ख (कर्म) को भोगता है ?

[२-१ उ] गौतम ! किसी को भोगता है, किसी को नही भोगता ।

[२-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं-- कि किसी को भोगता है और किसी को नही भोगता ?

[२-२ उ] गौतम ! उदीर्ण (उदय मे आए) दु ख-दु खहेतुक कर्म को भोगता है, अनुदीर्ण दु ख-कर्म को नही भोगता, इसीलिए कहा गया है कि किसी कर्म को भोगता है और किसी कर्म को नही भोगता ।

३ जीवा ण भते सयंकड दुक्खं वेदेंति ?

गोयमा ! अत्थेगइय वेदेंति, अत्थेगइयं णो वेदेंति । से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! उदिण्णं वेदेति, नो अणुदिण्णं वेदेंति, से तेणट्ठेणं एवं जाव[2] वेमाणिया ।

[३-१ प्र] भगवन ! क्या (बहुत-से) जीव स्वयकृत दु:ख (दु खहेतुक कर्म) भोगते है ?

[३-१ उ] गौतम ! किसी कर्म (दुःख) को भोगते हैं, किसी को नही भोगते ।

[३-२ प्र] भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

---

१. 'जाव' पद से यहाँ नैरयिक से लेकर वैमानिक तक २४ दण्डक जानना चाहिए ।

२. यहाँ 'जाव' पद से दूसरे सूत्र मे उक्त '**तेणट्ठेण**' से लेकर '**वेमाणिया**' तक का पाठ समझना ।

[३-२ उ.] गौतम ! उदीर्ण (दु.ख-कर्म) को भोगते है, अनुदीर्ण को नहीं भोगते इस कारण ऐसा कहा गया है कि किसी कर्म को भोगते हैं, किसी को नही भोगते । इसी प्रकार यावत् नैरयिक से लेकर वैमानिक तक चौबीस (सभी) दण्डको के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर समझ लेना चाहिए ।

आयु-वेदन सम्बन्धी चर्चा

४. जीवे णं भंते ! सयंकडं आउयं वेदेति ?

गोयमा ! अत्थेगइयं वेदेति जहा दुक्खेणं दो दंडगा तहा आउएण वि दो दंडगा एगत्त-पोहत्तिया; एगत्तेणं जाव वेमाणिया, पुहत्तेण वि तहेव ।

[४. प्र] भगवन् ! क्या जीव स्वयंकृत आयु को भोगता है ?

[४. उ] हे गौतम ! किसी को भोगता है, किसी को नही भोगता । जैसे दु:ख-कर्म के विषय मे दो दण्डक कहे गए है, उसी प्रकार आयुष्य (-कर्म) के सम्बन्ध मे भी एकवचन और बहुवचन वाले दो दण्डक कहने चाहिए । एकवचन से यावत् वैमानिको तक कहना, इसी प्रकार बहुवचन से भी (वैमानिको तक) कहना चाहिए ।

विवेचन--स्वकृत दुःख एव आयु के वेदनसम्बन्धी प्रश्नोत्तर—द्वितीय उद्देशक के द्वितीय, तृतीय एव चतुर्थ सूत्रो मे स्वयकृत दु.ख (कर्म) एव आयुष्य कर्म के वेदन के सम्बन्ध मे एकवचन और बहुवचन की अपेक्षा से महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर अकित हैं ।

स्वकर्तृक कर्म-फलभोग सिद्धान्त—श्री गौतमस्वामी ने जो ये प्रश्न उठाए है, इनके पीछे पाच भ्रान्त मान्यताओ का निराकरण गर्भित है । उस युग मे ऐसी मिथ्या मान्यताएँ प्रचलित थी कि (१) कर्म दूसरा करता है, फल दूसरा भोग सकता है, (२) ईश्वर या किसी शक्ति की कृपा हो तो स्वकृत दु खजनक अशुभ कर्म का फल भोगना नही पडता, (३) परमाधार्मिक नरकपाल आदि 'पर' के निमित्त से नारक आदि जीवो का दु ख मिलता है, (४) अथवा वस्त्रभोजनादि पर-वस्तुओ या अन्य व्यक्तियो से मनुष्य को दु ख या सुख मिलता है, और (५) दूसरे प्राणी से आयु ली जा सकती है और दूसरे को दी जा सकती है ।

अगर दूसरे के द्वारा किये हुए कर्म (मुख्यत असातावेदनीय और आयु) का फल यदि दूसरा भोगने लगे तो किये हुए कर्म बिना फल दिये हुए नष्ट हो जाएँगे और जो कर्म नही किये हुए हैं, वे गले पड जाएँगे । इससे लोकोत्तर व्यवहार जैसे गडबड मे पड जाएँगे, वैसे लौकिक व्यवहार भी गडबड मे पड जाएँगे । जैसे—यज्ञदत्त के भोजन करने, निद्रा लेने, औषधसेवन करने आदि कर्म से यज्ञदत्त की क्षुधा, निद्रा और व्याधि का क्रमश निवारण हो जाएगा, परन्तु ऐसा होना असम्भव है । परवस्तु या परव्यक्ति तो सुख या दु ख मे मात्र निमित्त बन सकता है, किन्तु वह कर्मकर्ता के बदले मे सुख या दु ख नही भोग सकता और न ही सुख या दु ख दे सकता है, प्राणी स्वय ही स्वकृतकर्म के फलस्वरूप सुख या दु ख भोगता है । आयुष्यकर्म का फल भी एक के बदले दूसरा नही भोग सकता । इसलिए स्वकर्तृक के कर्मफल का स्वय वेदनरूप सिद्धान्त अकाट्य है ।[1] हाँ, जिस साता-असातावेदनीय आदि या आयुष्यकर्म का फल कदाचित् वर्तमान मे नही दिखाई देता, उसका कारण यह है कि वर्तमान

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्राक ३८ ।

मे वे कर्म उदय मे नही आए हुए (अनुदय-अवस्था मे) है, जब वे उदयावस्था मे आते हैं, तभी फल देते हैं। परन्तु स्वकृतकर्म का फल तो चौवीस ही दण्डक के जीवो को अनुभाग से अथवा प्रदेशोदय से भोगना पड़ता है।

चौबीस दंडक में समानत्व चर्चा [नैरयिक विषय]

५ [१] नेरइया णं भंते ? सव्वे समाहारा, सव्वे समसरीरा, सव्वे समुस्सास-नीसासा ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चति—नेरइया नो सव्वे समाहारा, नो सव्वे समसरीरा, नो सव्वे समुस्सास-निस्सासा ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता। त जहा— महासरीरा य अप्पसरीरा य। तत्थ णं जे ते महासरीरा ते बहुतराए पोग्गले आहारेंति, बहुतराए पोग्गले परिणामेति, बहुतराय पोग्गले उस्ससंति, बहुतराए पोग्गले नीससंति, अभिक्खण आहारेंति, अभिक्खणं परिणामेंति, अभिक्खणं ऊससंति, अभिक्खणं निस्ससति। तत्थ ण जे ते अप्पसरीरा ते णं अप्पतराए पुग्गले आहारेंति, अप्पतराए पुग्गले परिणामेति, अप्पतराए पोग्गले उस्ससति, अप्पतराए पोग्गले नीससति, आहच्च आहारेंति, आहच्च परिणामेंति, आहच्च उस्ससंति, आहच्च नीससंति। से तेणट्ठेण गोयमा ! एव वुच्चइ—नेरइया नो सव्वे समाहारा जाव नो सव्वे समुस्सास-निस्सासा।१।

[५-१ प्र.] भगवन् ! क्या सभी नारक समान आहार वाले, समान शरीर वाले, तथा समान उच्छ्वास-नि श्वास वाले होते है ?

[५-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य-सम्भव) नही है।

[प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहते है कि सभी नारक जीव समान आहार वाले, समान शरीर वाले, तथा समान उच्छ्वास-नि श्वास वाले नही है ?

[उ.] गौतम ! नैरयिक जीव दो प्रकार के कहे गए है, जैसे कि—महाशरीरी (महाकाय) और अल्पशरीरी (छोटे शरीर वाले)। इनमे जो बड़े शरीर वाले है, वे बहुत पुद्गलो का आहार करते है, बहुत (आहृत) पुद्गलो का परिणमन करते है, बहुत पुद्गलो को उच्छ्वास रूप मे ग्रहण करते हैं और बहुत पुद्गलो को नि श्वासरूप से छोड़ते हैं तथा वे बार बार आहार लेते हैं, बार-बार उसे परिणमाते हैं, तथा बार-बार उच्छ्वास-नि श्वास लेते हैं। तथा जो छोटे शरीर वाले नारक है, वे थोडे पुद्गलो का आहार करते हैं, थोडे-से (आहृत) पुद्गलो का परिणमन करते है, और थोडे पुद्गलो को उच्छ्वास रूप से ग्रहण करते है, तथा थोडे-से पुद्गलो को नि श्वास-रूप से छोडते है। वे कदाचित् आहार करते हैं, कदाचित् उसे परिणमाते है और कदाचित् उच्छ्वास तथा नि श्वास लेते है। इसलिए हे गौतम ! इस हेतु से ऐसा कहा जाता है कि सभी नारक जीव समान आहार वाले, समान शरीर वाले और समान उच्छ्वास-नि श्वास वाले नही है।

[२] **नेरइया णं भंते ! सव्वे समकम्मा ?**

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—पुव्वोववन्नगा य पच्छोववन्नगा य । तत्थ णं जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं अप्पकम्मतरागा । तत्थ णं जे ते पच्छोववन्नगा ते णं महाकम्मतरागा । से तेणट्ठेण गोयमा ! ० ।।२।।

[५-२ प्र.] भगवन् ! क्या सभी नारक समान कर्म वाले हैं ?

[५-२ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है ।

[प्र] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहते हैं ?

[उ] गौतम ! नारकी जीव दो प्रकार के कहे गए है, वह इस प्रकार है—पूर्वोपपन्नक (पहले उत्पन्न हुए) और पश्चादुपपन्नक (पीछे उत्पन्न हुए) । इनमे से जो पूर्वोपपन्नक है वे अल्पकर्म वाले हैं और जो उनमे पश्चादुपपन्नक हैं, वे महाकर्म वाले हैं, इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सभी नारक समान कर्म वाले नही है ।

[३] नेरइया ण भंते ! सव्वे समवण्णा ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । केणट्ठेणं तह चेव ?

गोयमा ! जे ते पुव्वोववन्नगा ते ण विसुद्धवण्णतरागा तहेव से तेणट्ठेणं ० ।।३।।

[५-३ प्र] भगवन् ! क्या सभी नारक समवर्ण वाले हैं ?

[५-३ उ] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ नही है ।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[उ] गौतम ! पूर्वोक्त कथनवत् नारक दो प्रकार के हैं—पूर्वोपपन्नक और पश्चादुपपन्नक । इनमे जो पूर्वोपपन्नक है, वे विशुद्ध वर्ण वाले हैं, तथा जो पश्चादुपपन्नक है, वे अविशुद्ध वर्ण वाले है, इसीलिए हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है ।

[४] नेरइया ण भंते ! सव्वे समलेसा ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं जाव नो सव्वे समलेसा ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—पुव्वोववन्नगा य पच्छोववन्नगा य । तत्थ णं जे ते पुव्वोववन्नगा ते णं विसुद्धलेसतरागा, तत्थ णं जे ते पच्छोववन्नगा ते णं अविसुद्धलेसतरागा । से तेणट्ठेण ० ।।४।।

[५-४ प्र] भगवन् ! क्या सब नैरयिक समानलेश्या वाले हैं ?

[५-४ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है ।

[प्र] भगवन् ! किस कारण से कहा जाता है कि सभी नैरयिक समान लेश्या वाले नही है ?

[उ] गौतम ! नैरयिक दो प्रकार के कहे गये है, जैसे कि—पूर्वोपपन्नक और पश्चादुपपन्नक । इनमे जो पूर्वोपपन्नक है, वे विशुद्ध लेश्या वाले और जो इनमे पश्चादुपपन्नक हैं, वे अविशुद्ध लेश्या वाले है, इस कारण हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सभी नारक समानलेश्या वाले नही हैं ।

[५] नेरइया णं भंते ! सव्वे समवेदणा ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेण ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—सण्णिभूया य असण्णिभूया य । तत्थ णं जे ते सण्णिभूया ते णं महावेयणा, तत्थ णं जे ते असण्णिभूया ते णं अप्पवेयणतरागा । से तेणट्ठेणं गोयमा ! ० ॥५॥

[५-५ प्र.] भगवन् ! क्या सब नारक समान वेदना वाले है ?

[५-५ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है ।

[प्र] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[उ] गौतम ! नैरयिक दो प्रकार के कहे गए है, यथा— सज्ञिभूत और असज्ञिभूत । इनमे जो सज्ञिभूत है, वे महावेदना वाले है और जो इनमे असज्ञिभूत हैं, वे (अपेक्षाकृत) अल्पवेदना वाले है । इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सब नारक समान वेदना वाले नही हैं ।

[६] नेरइया ण भंते ! सव्वे समकिरिया ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेण ?

गोयमा ! नेरइया तिविहा पण्णत्ता । त जहा—सम्मद्दिट्ठी मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छद्दिट्ठी । तत्थ णं जे ते सम्मादिट्ठी तेसि ण चत्तारि किरियाओ पण्णत्ताओ, त जहा—आरंभिया १, पारिग्गहिया २, मायावत्तिया ३, अपच्चक्खाणकिरिया ४ । तत्थ ण जे ते मिच्छादिट्ठी तेसि ण पच किरियाओ कज्जंति, त जहा—आरंभिया जाव मिच्छादसणवत्तिया । एव सम्मामिच्छादिट्ठीणं पि । से तेणट्ठेण गोयमा ! ० ॥६॥

[५-६ प्र] हे भगवन् ! क्या सभी नैरयिक समानक्रिया वाले है ?

[५-६ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है ।

[प्र] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[उ] गौतम ! नारक तीन प्रकार के कहे गए है यथा—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्-मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) । इनमे जो सम्यग्दृष्टि है, उनके चार क्रियाएँ कही गई है, जैसे कि—आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया और अप्रत्याख्यानक्रिया । इनमे जो मिथ्यादृष्टि है, उनके पाच क्रियाएँ कही गई है, वे इस प्रकार—आरम्भिकी से लेकर मिथ्यादर्शनप्रत्यया तक । इसी प्रकार सम्यग्मिथ्यादृष्टि के भी पाचो क्रियाएँ समझनी चाहिए । इस कारण हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सब नारक समानक्रिया वाले नही है ।

[७] नेरइया णं भते ! सव्वे समाउया ? सव्वे समोववन्नगा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेण ?

गोयमा ! नेरइया चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा—अत्थेगइया समाउया समोववन्नगा १, अत्थेगइया समाउया विसमोववन्नगा २, अत्थेगइया विसमाउया समोववन्नगा ३, अत्थेगइया विसमाउया विसमोववन्नगा ४ । से तेणट्ठेणं गोयमा ! ० ॥७॥

[५-७ प्र.] **भगवन् ! क्या सभी नारक समान आयुष्य वाले है और समोपपन्नक—एक साथ उत्पन्न होने वाले हैं ?**

[५-७ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है ।

[प्र] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहते हैं ?

[उ] गौतम ! नारक जीव चार प्रकार के कहे गए हैं । वह इस प्रकार—(१) समायुष्क समोपपन्नक (समान आयु वाले और एक साथ उत्पन्न हुए), (२) समायुष्क विषमोपपन्नक (समान आयु वाले और पहले-पीछे उत्पन्न हुए), (३) विषमायुष्क समोपपन्नक (विषम आयु वाले, किन्तु एक साथ उत्पन्न हुए), और (४) विषमायुष्क-विषमोपपन्नक (विषम आयु वाले और पहले-पीछे उत्पन्न हुए) । इसी कारण हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सभी नारक समान आयु वाले और एक साथ उत्पन्न होने वाले नही है ।

असुरकुमारादि समानत्व चर्चा

६. [१] असुरकुमारा णं भंते ! सव्वे समाहारा ? सव्वे समसरीरा ? जहा नेरइया तहा भाणियव्वा । नवरं कम्म-वण्ण-लेसाओ परित्थल्लेयव्वाओ—पुव्वोववन्नगा महाकम्मतरागा, अविसुद्धवण्णतरागा, अविसुद्धलेसतरागा । पच्छोववन्नगा पसत्था । सेसं तहेव ।

[६-१ प्र] भगवन् ! क्या सब असुरकुमार समान आहार वाले और समान शरीर वाले है ? (इत्यादि सब प्रश्न पूर्ववत् करने चाहिए ।)

[६-१ उ] गौतम ! असुरकुमारो के सम्बन्ध मे सब वर्णन नैरयिको के समान कहना चाहिए । विशेषता यह है कि—असुरकुमारो के कर्म, वर्ण और लेश्या नैरयिको से विपरीत कहना चाहिए, अर्थात् पूर्वोपपन्नक (पूर्वोत्पन्न) असुरकुमार महाकर्म वाले, अविशुद्ध वर्ण वाले और अशुद्ध लेश्या वाले है, जबकि पश्चादुपपन्नक (बाद मे उत्पन्न होने वाले) प्रशस्त है । शेष सब पहले के समान जानना चाहिए ।

[२] एवं जाव थणियकुमारा ।

[६-२] इसी प्रकार (नागकुमारो से लेकर) यावत् स्तनितकुमारो (तक) समझना चाहिए ।

पृथ्वीकायादि समानत्व चर्चा

७ [१] पुढविक्काइयाणं आहार-कम्म-वण्ण-लेसा जहा नेरइयाण ।

[७-१] पृथ्वीकायिक जीवो का आहार, कर्म, वर्ण और लेश्या नैरयिको के समान समझना चाहिए ।

[२] पुढविक्काइया णं भंते सव्वे समवेयणा ?

हंता, समवेयणा । से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! पुढविक्काइया सव्वे असण्णी असण्णिभूतं अणिदाए वेयणं वेदेंति । से तेणट्ठेणं ।

[७-२ प्र] भगवन् ! क्या सब पृथ्वीकायिक जीव समान वेदना वाले हैं ?

[७-२ उ.] हाँ गौतम ! वे समान वेदना वाले हैं ।

[प्र.] भगवन् ! आप ऐसा किस कारण से कहते है कि सभी पृथ्वीकायिक जीव समान वेदना वाले है ?

[उ.] हे गौतम ! समस्त पृथ्वीकायिक जीव असज्ञी है और असज्ञीभूत जीव वेदना को अनिर्धारित रूप से (अनिदा से) वेदते हैं। इस कारण, हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सभी पृथ्वीकायिक समान वेदना वाले हैं।

[३] पुढविक्काइया णं भंते ! समकिरिया ?

हंता, समकिरिया। से केणट्ठे णं ?

गोयमा ! पुढविक्काइया सव्वे माईमिच्छादिट्ठी, ताणं नेयतियाओ पंच किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरंभिया १ जाव मिच्छादंसणवत्तिया ५। से तेणट्ठेणं समकिरिया।

[७-३ प्र] भगवन् ! क्या सभी पृथ्वीकायिक जीव समान क्रिया वाले है ?

[७-३ उ.] हाँ गौतम ! वे सभी समान क्रिया वाले है।

[प्र] भगवन् ! आप ऐसा किस कारण से कहते है ?

[उ] गौतम ! सभी पृथ्वीकायिक जीव मायी और मिथ्यादृष्टि है। इसलिए उन्हे नियम से पाचो क्रियाएँ लगती हैं। वे पाच क्रियाएँ ये हैं—आरम्भिकी यावत् मिथ्यादर्शनप्रत्यया। इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि सभी पृथ्वीकायिक जीव समानक्रिया वाले हैं।

[४] समाउया, समोववन्नगा जहा नेरइया तहा भाणियव्वा।

[७-४] जैसे नारक जीवो मे समायुष्क और समोपपन्नक आदि चार भग कहे गये है, वैसे ही पृथ्वीकायिक जीवो मे भी कहने चाहिए।

८ जहा पुढविक्काइया तहा जाव चउरिंदिया।

[८-१] जिस प्रकार पृथ्वीकायिक जीवो के आहारादि के सम्बन्ध मे निरूपण किया गया है, उसी प्रकार अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तक के जीवो के सम्बन्ध मे समझ लेना चाहिए।

९. [१] पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा नेरइया। नाणत्तं किरियासु—

[९-१] पचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीवो के आहारादि के सम्बन्ध मे कथन भी नैरयिको के समान समझना चाहिए, केवल क्रियाओ मे भिन्नता है।

[२] पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णं भंते ! सव्वे समकिरिया ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! पंचिंदियतिरिक्खजोणिया तिविहा पण्णत्ता। तं जहा—सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी। तत्थ णं जे ते सम्मद्दिट्ठी ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—अस्संजता य, संजताऽसंजता य। तत्थ णं जे ते संजताऽसंजता तेसि णं तिन्नि किरियाओ कज्जंति, तं जहा—आरम्भिया १ पारिग्गहिया २ मायावत्तिया ३। असंजताणं चत्तारि। मिच्छादिट्ठीणं पंच। सम्मामिच्छादिट्ठीणं पंच।

[९-२ प्र] भगवन् ! क्या सभी पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीव समानक्रिया वाले है ?

[९-२ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है।

[प्र.] भगवन् ! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं ?

[उ.] गौतम ! पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीव तीन प्रकार के कहे गये हैं, यथा—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि)। उनमे जो सम्यग्दृष्टि है, वे दो प्रकार के हैं, जैसे कि—असयत और सयतासयत। उनमे जो सयतासयत हैं, उन्हे तीन क्रियाएँ लगती हैं। वे इस प्रकार—आरम्भिकी, पारिग्रहिकी और मायाप्रत्यया। उनमे जो असयत हैं, उन्हे अप्रत्याख्यानी क्रियासहित चार क्रियाएँ लगती हैं। जो मिथ्यादृष्टि हैं तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टि हैं, उन्हे पाचो क्रियाएँ लगती हैं।

मनुष्य-देव विषयक समानत्वचर्चा

१०. [१] मणुस्सा जहा नेरइया (सु. ५)। नाणत्त—जे महासरीरा ते बहुतराए पोग्गले आहारेंति आहच्च आहारेंति। जे अप्पसरीरा ते अभिक्खणं आहारेंति ४। सेसं जहा नेरइयाणं जाव वेयणा।

[१०-१] मनुष्यो का आहारादिसम्बन्धित निरूपण नैरयिको के समान समझना चाहिए। उनमे अन्तर इतना ही है कि जो महाशरीर वाले हैं, वे बहुतर पुद्गलो का आहार करते हैं, और वे कभी-कभी आहार करते हैं, इसके विपरीत जो अल्पशरीर वाले हैं, वे अल्पतर पुद्गलो का आहार करते है, और बार-बार करते हैं। शेष वेदनापर्यन्त सब वर्णन नारको के समान समझना चाहिए।

[२] मणुस्सा णं भंते ! सव्वे समकिरिया ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

से केणट्ठेण ?

गोयमा ! मणुस्सा तिविहा पण्णत्ता। तं जहा—सम्मद्दिट्ठी मिच्छादिट्ठी सम्मामिच्छादिट्ठी। तत्थ णं जे ते सम्मद्दिट्ठी ते तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—संजता अस्संजता संजतासंजता य। तत्थ णं जे ते संजता ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सरागसंजता य वीतरागसंजता य। तत्थ णं जे ते वीतरागसंजता ते णं अकिरिया। तत्थ णं जे ते सरागसंजता ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—पमत्तसंजता य अपमत्तसंजता य। तत्थ णं जे ते अप्पमत्तसंजता तेसि णं एगा मायावत्तिया किरिया कज्जति। तत्थ णं जे ते पमत्तसंजता तेसि णं दो किरियाओ कज्जंति, तं०—आरम्भिया य १ मायावत्तिया य २। तत्थ णं जे ते संजतासंजता तेसि णं आइल्लाओ तिन्नि किरियाओ कज्जंति। अस्संजताणं चत्तारि किरियाओ कज्जंति—आरं० ४। मिच्छादिट्ठीणं पंच। सम्मामिच्छादिट्ठीणं पंच ५।

[१०-२ प्र.] भगवन् ! क्या सब मनुष्य समान क्रिया वाले है ?

[१०-२ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है।

[प्र.] भगवन् ! यह आप किस कारण से कहते हैं ?

[उ.] गौतम ! मनुष्य तीन प्रकार के कहे गये है, वे इस प्रकार—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि। उनमे जो सम्यग्दृष्टि है, वे तीन प्रकार के कहे गये हैं, वे इस प्रकार—सयत, सयतासयत और असयत। उनमे जो सयत हैं, वे दो प्रकार के कहे गये है, यथा—सरागसयत और वीतरागसयत। उनमे जो वीतरागसयत हैं, वे क्रियारहित है, तथा जो इनमे सरागसयत है, वे भी

दो प्रकार के कहे गये हैं, वे इस प्रकार—प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत । उनमे जो अप्रमत्तसंयत हैं, उन्हे एक मायाप्रत्यया क्रिया लगती है । उनमे जो प्रमत्तसयत है, उन्हे दो क्रियाएँ लगती हैं, वे इस प्रकार—आरम्भिकी और मायाप्रत्यया । तथा उनमे जो सयतासयत हैं, उन्हे आदि की तीन क्रियाएँ लगती हैं, वे इस प्रकार—आरम्भिकी, पारिग्रहिकी और मायाप्रत्यया । असंयतो को चार क्रियाएँ लगती हैं—आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया और अप्रत्याख्यानी क्रिया । मिथ्यादृष्टियो को पाचो क्रियाएँ लगती हैं—आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया, अप्रत्याख्यानी क्रिया और मिथ्यादर्शनप्रत्यया । सम्यग्मिथ्यादृष्टियो (मिश्रदृष्टियो) को भी ये पाचो क्रियाएँ लगती हैं ।

११. वाणमंतर-जोतिस-वेमाणिया जहा असुरकुमारा (सु ६) । नवर वेयणाए नाणत्तं—मायिमिच्छाविट्ठीउववन्नगा य अप्पवेदणतरा, अमायिसम्मद्दिट्ठीउववन्नगा य महावेयणतरागा भाणियव्वा जोतिस-वेमाणिया ।

[११] वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक के आहारादि के सम्बन्ध मे सब वर्णन असुरकुमारो के समान समझना चाहिए । विशेषता यह कि इनकी वेदना मे भिन्नता है । ज्योतिष्क और वैमानिको मे जो मायी-मिथ्यादृष्टि के रूप मे उत्पन्न हुए है, वे अल्पवेदना वाले है, और जो अमायी सम्यग्दृष्टि के रूप मे उत्पन्न हुए है, वे महावेदनावाले होते है, ऐसा कहना चाहिए ।

चौबीस दंडक में लेश्या की अपेक्षा समाहारादि विचार

१२ सलेसा ण भते ! नेरइया सव्वे समाहारगा ?

ओहियाण, सलेसाण, सुक्कलेसाण, एएसि णं तिण्ह एक्को गमो । कण्हलेस-नीललेसाण पि एक्को गमो, नवरं वेदणाए- मायिमिच्छाविट्ठीउववन्नगा य, अमायिसम्मद्दिट्ठीउववण्णगा य भाणियव्वा । मणुस्सा किरियासु सराग-वीयराग—पमत्तापमत्ता ण भाणियव्वा । काउलेसाण वि एसेव गमो, नवर नेरइए जहा ओहिए वडए तहा भाणियव्वा । तेउलेसा पम्हलेसा जस्स अत्थि जहा ओहिओ वडओ तहा भाणियव्वा, नवरं मणुस्सा सरागा वीयरागा य न भाणियव्वा । गाहा—

दुक्खाऽऽउए उदिण्णे, आहारे, कम्म-वण्ण-लेसा य ।
समवेदण समकिरिया समाउए चेव बोद्धव्वा ॥१॥

[१२ प्र.] भगवन् ! क्या लेश्या वाले समस्त नैरयिक समान आहार वाले होते है ?

[१२ उ.] हे गौतम ! औधिक (सामान्य), सलेश्य, एव शुक्ललेश्या वाले इन तीनो का एक गम-पाठ कहना चाहिए । कृष्णलेश्या और नीललेश्या वालो का एक समान पाठ कहना चाहिए, किन्तु उनकी वेदना मे इस प्रकार भेद है--मायी-मिथ्यादृष्टि-उपपन्नक और अमायी-सम्यग्दृष्टि-उपपन्नक कहने चाहिये । तथा कृष्णलेश्या और नीललेश्या (के सन्दर्भ) मे मनुष्यो के सरागसयत, वीतरागसयत, प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत (भेद) नही कहना चाहिए । तथा कापोतलेश्या मे भी यही पाठ कहना चाहिए । भेद यह है कि कापोतलेश्या वाले नैरयिको को औधिक दण्डक के समान कहना चाहिए । तेजोलेश्या और पद्मलेश्या वालो को भी औधिक दण्डक के समान कहना चाहिए । विशेषता यह है कि इन मनुष्यो मे सराग और वीतराग का भेद नही कहना चाहिए, क्योकि तेजोलेश्या और पद्मलेश्या वाले मनुष्य सराग ही होते हैं ।

गाथार्थ—दु:ख (कर्म) और आयुष्य उदीर्ण हो तो वेदते हैं। आहार, कर्म, वर्ण, लेश्या, वेदना, क्रिया और आयुष्य, इन सबकी समानता के सम्बन्ध मे पहले कहे अनुसार ही समझना चाहिए।

१३. कति णं भंते ! लेसाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! छल्लेसाओ पण्णत्ताओ। तं जहा—लेसाणं बीओ उद्देसओ भाणियव्वो जाव इड्ढी।

[१३ प्र.] भगवन् ! लेश्याएँ कितनी कही गई हैं ?

[१३ उ.] गौतम ! लेश्याएँ छह कही गई है, वे इस प्रकार है—कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल। यहाँ प्रज्ञापनासूत्र के लेश्यापद (१७ वाँ पद) का द्वितीय उद्देशक कहना चाहिए। वह ऋद्धि की वक्तव्यता तक कहना चाहिए।

विवेचन—नारक आदि चौबीस दण्डकों के सम्बन्ध में समाहारादि दशद्वार-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—पाँचवे सूत्र से ११वे सूत्र तक नारकी से लेकर वैमानिक तक चौबीस दण्डको के सम्बन्ध मे निम्नोक्त दस द्वार-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर अकित किये गए है -(१) सम-आहार, (२) सम-शरीर, (३) सम-उच्छ्वास-नि श्वास, (४) समकर्म, (५) समवर्ण, (६) समलेश्या, (७) समवेदना, (८) समक्रिया, (९) समायुष्क, तथा (१०) समोपपन्नक।

छोटा-बडा शरीर आपेक्षिक—प्रस्तुत मे नैरयिको का छोटा और बडा शरीर अपेक्षा से है। छोटे की अपेक्षा कोई वस्तु बडी कहलाती है, और बडी की अपेक्षा छोटी कहलाती है। नारको का छोटे से छोटा शरीर अगुल के असख्यातवे भाग जितना है और बडे से बडा ५०० धनुष के बराबर है। ये दोनो प्रकार के शरीर भवधारणीय शरीर की अपेक्षा से कहे गए है। उत्तरवैक्रिय शरीर छोटे से छोटा अगुल के सख्यातवे भाग तक और बडा से बडा शरीर एक हजार धनुष का हो सकता है।

प्रथम प्रश्न आहार का, किन्तु उत्तर शरीर का इसलिए कहा गया है कि शरीर का परिमाण बनाए बिना आहार, श्वासोच्छ्वास आदि की बात सरलतापूर्वक समझ मे नही आ सकती।

अल्प शरीर वाले से महाशरीर वाले का आहार अधिक : यह कथन प्रायिक—प्रस्तुत कथन अधिकाश (बहुत) को दृष्टि मे रखकर कहा गया है। यद्यपि लोक मे यह देखा जाता है कि बडे शरीर वाला अधिक खाता है, और छोटे शरीर वाला कम, जैसे कि हाथी और खरगोश, तथापि कही-कही यह बात अवश्य देखी जाती है कि बडे शरीर वाला कम और छोटे शरीर वाला अधिक आहार करता है। यौगलिको का शरीर अन्य मनुष्यो की अपेक्षा बडा होता है, लेकिन उनका आहार कम होता है। दूसरे मनुष्यो का शरीर यौगलिको की अपेक्षा छोटा होता है, किन्तु उनका आहार अधिक होता है। ऐसा होने पर भी प्राय यह सत्य ही है कि बडे शरीर वाले का आहार अधिक होता है, कदाचित् नैरयिको में भी आहार और शरीर का व्यतिक्रम कही पाया जाए तो भी बहुतों की अपेक्षा यह कथन होने से निर्दोष है।

बड़े शरीर वाले की वेदना और श्वासोच्छ्वास-मात्रा अधिक—लोकव्यवहार मे भी देखा जाता है कि बड़े को जितनी ताडना होती है, उतनी छोटे को नही। हाथी के पैर के नीचे और जीव तो प्राय दब कर मर जाते हैं, परन्तु चीटी प्राय बच जाती है। इसी प्रकार महाशरीर वाले नारको

को क्षुधा की वेदना तथा ताडना और क्षेत्र आदि से उत्पन्न पीडा भी अधिक होती है, इस कारण उन्हे श्वासोच्छ्वास भी अधिक लेना होता है।

नारक : अल्पकर्मी एवं महाकर्मी—जो नारक पहले उत्पन्न हो चुके, उन्होने नरक का आयुष्य तथा अन्य कर्म बहुत-से भोग लिये है, अतएव उनके बहुत-से कर्मों की निर्जरा हो चुकी है, इस कारण वे अल्पकर्मी हैं। जो नारक बाद मे उत्पन्न हुए है, उन्हें आयु और सात कर्म बहुत भोगने बाकी हैं, इसलिए वे महाकर्मी (बहुत कर्म वाले) है। यह सूत्र समान स्थिति वाले नैरयिको की अपेक्षा से समझना चाहिए। यही बात वर्ण और लेश्या (भावलेश्या) के सम्बन्ध मे समझनी चाहिए।

संज्ञिभूत-असंज्ञिभूत—वृत्तिकार ने संज्ञिभूत के चार अर्थ बताए हैं—(१) सज्ञा का अर्थ है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्दर्शनी जीव को सज्ञी कहते है। जिस जीव को सज्ञीपन प्राप्त हुआ, उसे सज्ञिभूत (सम्यग्दृष्टि) कहते है। (२) अथवा सज्ञिभूत का अर्थ है—जो पहले असज्ञी (मिथ्यादृष्टि) था, और अब सज्ञी (सम्यग्दृष्टि) हो गया है, अर्थात्—जो नरक मे ही मिथ्यात्व को छोडकर सम्यग्दृष्टि हुआ है, वह सज्ञी सज्ञिभूत कहलाता है। असज्ञिभूत का अर्थ मिथ्यादृष्टि है। (३) एक आचार्य के मतानुसार सज्ञिभूत का अर्थ सज्ञी पचेन्द्रिय है। अर्थात्—जो जीव नरक मे जाने से पूर्व सज्ञी पचेन्द्रिय था, उसे सज्ञिभूत कहा जाता है। नरक मे जाने से पूर्व जो असज्ञी था, उसे यहाँ असज्ञिभूत कहते है। अथवा सज्ञिभूत का अर्थ पर्याप्त और असज्ञिभूत का अर्थ अपर्याप्त है। उक्त सभी अर्थों की दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि सज्ञिभूत को नरक मे तीव्र वेदना होती है और असज्ञिभूत को अल्प। सज्ञिभूत (सम्यग्दृष्टि) को नरक मे जाने पर पूर्वकृत अशुभ कर्मों का विचार करने से घोर पश्चात्ताप होता है—'अहो! मै कैसे घोर सकट मे आ फसा! अर्हन्त भगवान् के सर्वसंकट-निवारक एव परमानन्ददायक धर्म का मैने आचरण नही किया, अत्यन्त दारुण परिणामरूप कामभोगो के जाल मे फँसा रहा, इसी कारण यह अचिन्तित आपदा आ पडी है। इस प्रकार की मानसिक वेदना के कारण वह महावेदना का अनुभव करता है। असज्ञिभूत—मिथ्यादृष्टि को स्वकृत कर्मफल के भोग का कोई ज्ञान या विचार तथा पश्चात्ताप नही होता, और न ही उसे मानसिक पीडा होती है। इस कारण असज्ञिभूत नैरयिक अल्पवेदना का अनुभव करता है। इसी प्रकार सज्ञिभूत यानी सज्ञी पचेन्द्रिय जीव मे तीव्र अशुभ परिणाम हो सकते हैं, फलत वह सातवी नरक तक जा सकता है। जो जीव आगे की नरको मे जाता है, उसे अधिक वेदना होती है। असंज्ञिभूत (नरक मे जाने से पूर्व असज्ञी) जीव रत्नप्रभा के तीव्रवेदनारहित स्थानो मे उत्पन्न होता है, इसलिए उसे अल्पवेदना होती है। इसी प्रकार सज्ञिभूत अर्थात्—पर्याप्त को महावेदना और असज्ञिभूत अर्थात् अपर्याप्त को अल्पवेदना होती है।

क्रिया—यहाँ कर्मबन्धन के कारण अर्थ मे यह शब्द प्रयुक्त है। यद्यपि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाचो कर्मबन्धन के कारण है, तथापि आरम्भ और परिग्रह योग के अन्तर्गत होने से आरम्भिकी, पारिग्रहिकी क्रिया भी कर्मबन्धन का कारण बनती है।

आयु और उत्पत्ति की दृष्टि से नारकों के ४ भंग—(१) **समायुष्क समोपपन्नक**—उदाहरणार्थ—जिन जीवो ने १० हजार वर्ष की नरकायु बाँधी और वे एक साथ नरक मे उत्पन्न हुए; (२) **समायुष्क-विषमोपपन्नक**—जिन जीवो ने १० हजार वर्ष की नरकायु बाँधी, किन्तु उनमे से कोई

जीव नरक मे पहले उत्पन्न हुआ, कोई बाद में। (३) **विषमायुष्क समोपपन्नक**—जिनकी आयु समान नही है, किन्तु नरक मे एक साथ उत्पन्न हुए हो, (४) **विषमायुष्क विषमोपपन्नक**—एक जीव ने १० हजार वर्ष की नरकायु बाँधी और दूसरे ने १ सागरोपम की, किन्तु वे दोनो नरक मे भिन्न-भिन्न समय मे उत्पन्न हुए हो।

असुरकुमारों का आहार मानसिक होता है। आहार ग्रहण करने का मन होते ही इष्ट, कान्त आदि आहार के पुद्गल आहार के रूप मे परिणत हो जाते है।

असुरकुमारों का आहार और श्वासोच्छ्वास—पूर्वसूत्र मे असुरकुमारों का आहार एक अहोरात्र के अन्तर से और श्वासोच्छ्वास सात स्तोक मे लेने का बताया गया था, किन्तु इस सूत्र मे बार-बार आहार और श्वासोच्छ्वास लेने का कथन है, यह पूर्वापरविरोध नही, अपितु सापेक्ष कथन है। जैसे एक असुरकुमार एक दिन के अन्तर से आहार करता है, और दूसरा असुरकुमार देव सातिरेक (साधिक) एक हजार वर्ष मे एक बार आहार करता है। अत सातिरेक एक हजार वर्ष मे एक बार आहार करने वाले की अपेक्षा एक दिन के अन्तर से आहार करने वाला बार-बार आहार करता है, ऐसा कहा जाता है। यही बात श्वासोच्छ्वास के सम्बन्ध मे समझ लेनी चाहिए। सातिरेक एक पक्ष मे श्वासोच्छ्वास लेने वाले असुरकुमार की अपेक्षा सात स्तोक मे श्वासोच्छ्वास लेने वाला असुरकुमार बार-बार श्वासोच्छ्वास लेता है, ऐसा कहा जाता है।

असुरकुमार के कर्म, वर्ण और लेश्या का कथन : नारकों से विपरीत—इस विपरीतता का कारण यह है कि पूर्वोपपन्नक असुरकुमारो का चित्त अतिकन्दर्प और दर्प से युक्त होने से वे नारको को बहुत त्रास देते है। त्रास सहन करने से नारको के तो कर्मनिर्जरा होती है, किन्तु असुरकुमारो के नये कर्मों का बन्ध होता है। वे अपनी क्रूरभावना एव विकारादि के कारण अपनी अशुद्धता बढाते है। उनका पुण्य क्षीण होता जाता है, पापकर्म बढ़ता जाता है, इसलिए वे महाकर्मी होते है। उनका वर्ण और लेश्या अशुद्ध हो जाती है। अथवा बद्धायुष्क की अपेक्षा पूर्वोत्पन्न असुरकुमार यदि तिर्यञ्चगति का आयुष्य बाँध चुके हो तो वे महाकर्म, अशुद्ध वर्ण और अशुद्ध लेश्या वाले होते है। पश्चादुत्पन्न बद्धायुष्क न हो तो वे इसके विपरीत होते हैं।[1]

पृथ्वीकायिक जीवो का महाशरीर और अल्पशरीर—पृथ्वीकायिक जीवो का शरीर यद्यपि अगुल के असख्यातवे भाग कहा गया है, तथापि अगुल के असख्यातवे भाग वाले शरीर मे भी तरतमता से असख्य भेद होते हैं। प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार किसी का शरीर सख्यात भाग हीन है, किसी का असख्यात भाग हीन है, किसी का शरीर सख्यात भाग अधिक है और किसी का असख्यात भाग अधिक है। इस चतु स्थानपतित हानि-वृद्धि की अपेक्षा से पृथ्वीकायिक जीव अपेक्षाकृत अल्पशरीरी भी होते है और महाशरीरी भी।

पृथ्वीकायिक जीवों की समानवेदना : क्यो और कैसे ?—पृथ्वीकायिक जीव असज्ञी हैं और वे असज्ञी जीवो को होने वाली वेदना को वेदते हैं। उसकी वेदना अनिदा है अर्थात् निर्धारणरहित—अव्यक्त होती है। असज्ञी होने से वे मूर्च्छित या उन्मत्त पुरुष के समान बेसुध होकर कष्ट भोगते है। उन्हे यह पता हो नही रहता कि कौन पीडा दे रहा है ? कौन मारता-काटता है, और किस कर्म के

---

१ भगवतीसूत्र अ० वृत्ति पत्राक ४१ से ४३ तक

उदय से यह वेदना हो रही है ? यद्यपि सुमेरु पर्वत मे जो जीव हैं, उनका छेदन-भेदन नही होता, तथापि पृथ्वीकाय का जब भी छेदन-भेदन किया जाता है तब सामान्यतया वैसी ही वेदना होती है, जैसी अन्यत्र स्थित पृथ्वीकायिक जीवो को होती है ।[1]

पृथ्वीकायिक जीवो मे पाँचों क्रियाएँ कैसे ?—यद्यपि पृथ्वीकायिक जीव बिना हटाए एक स्थान से दूसरे स्थान पर हट भी नही सकते, वे सदा अव्यक्तचेतना की दशा मे रहते है, फिर भी भगवान् कहते है कि वे पाचो क्रियाएँ करते हैं । वे श्वासोच्छ्वास और आहार लेते हैं, इन क्रियाओं मे आरम्भ होता है । वास्तव मे आरम्भ का कारण केवल श्वासादि क्रिया नही, अपितु प्रमाद और कषाय से युक्त क्रिया है । यही कारण है कि तेरहवे गुणस्थान वाले भी श्वासादि क्रिया करते हैं, तथापि वे आरम्भी नही कहलाते । निष्कर्ष यह है कि चाहे कोई जीव चले-फिरे नही, तथापि जब तक प्रमाद और कषाय नही छूटते, तब तक वह आरम्भी है और कषाय एवं प्रमाद के नष्ट हो जाने पर चलने-फिरने की क्रिया विद्यमान होते हुए भी वह अनारम्भी है । सैद्धान्तिक दृष्टि से मायी-मिथ्यादृष्टि जीव प्राय पृथ्वीकाय मे उत्पन्न होते है । यद्यपि पृथ्वीकायिक मायाचार करते दिखाई नही देते, किन्तु माया के कारण ही वे पृथ्वीकाय मे आए हैं । जीव किसी भी योनि मे हो, यदि वह मिथ्यादृष्टि है तो शास्त्र उसे मायी-मिथ्यादृष्टि कहता है । । मायी का एक अर्थ अनन्तानुबन्धी कषाय है, और जहा अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होता है, वहाँ मिथ्यात्व अवश्यम्भावी है । इस दृष्टि से पृथ्वीकायिक जीवो मे आरम्भिकी आदि पाचो क्रियाएँ होती हैं ।

मनुष्यो के आहार की विशेषता—मनुष्य दो प्रकार के होते है—महाशरीरी और अल्पशरीरी । महाशरीरी मनुष्य और नारकी दोनो बहुत पुद्गलो का आहार करते हैं, किन्तु दोनो के पुद्गलो मे बहुत अन्तर है । महाशरीरी नारकी जिन पुद्गलो का आहार करते है, वे नि सार और स्थूल होते हैं, जबकि मनुष्य—विशेषत: देवकुरु-उत्तरकुरु के भोगभूमिज मनुष्य जिन पुद्गलो का आहार करते हैं, वे सारभूत और सूक्ष्म होते है । भोगभूमिज मनुष्यो का शरीर तीन गाऊ का होता है और उनका आहार अष्टभक्त—अर्थात्—तीन दिन मे एक बार होता है, इस अपेक्षा से महाशरीर मनुष्यो को कदाचित् आहार करने वाले (एक दृष्टि से अल्पाहारी) कहा गया है । जैसे एक तोला चाँदी से एक तोला सोने मे अधिक पुद्गल होते हैं, वैसे ही देवकुरु-उत्तरकुरु के मनुष्यो का आहार दीखने मे कम होते हुए भी सारभूत होने से उसमे अल्पशरीरी मनुष्य के आहार की अपेक्षा अधिक पुद्गल होते हैं । इस दृष्टि से उन्हे बहुत पुद्गलो का आहार करने वाला कहा गया है । अल्पशरीरी मनुष्यो का आहार नि सार एव थोडे पुद्गलो का होने से उन्हे बार-बार करना पडता है । जैसे कि बालक बार-बार आहार करता है ।

कुछ पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या—जो सयम का पालन करता है, किन्तु जिसका सज्वलन कषाय क्षीण या उपशान्त नही हुआ, वह **सरागसंयत** कहलाता है । जिसके कषाय का सर्वथा क्षय या उपशम हो गया है, वह **वीतरागसंयत** कहलाता है ।

---

१. (क) भगवती अ० वृत्ति प० ४४ (ख) **'पुढविक्काइयस्स ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए'**

(ग) 'अनिदा चित्तविकला सम्यग्विवेकविकला वा'—प्रज्ञापना वृत्ति पृ० ५५७ ।

'अणिदाए त्ति अविर्धारणया वेदना वेदयन्ति, वेदनामनुभवन्तोऽपि मिथ्यादृष्टित्वात् विमनस्कत्वाद् वा मत्त—मूर्च्छितादिवत् नावगच्छन्ति'—भगवती सूत्र अ० वृत्ति, प ४४ ।

सयोग केवली क्रियारहित कैसे— जो महापुरुष कषायो से सर्वथा मुक्त हो गए हैं, वे क्रिया— कर्मबन्ध की कारणभूत क्रिया से रहित है। यद्यपि सयोगी अवस्था मे योग की प्रवृत्ति से होने वाली ईर्य्यापथिक क्रिया उनमे विद्यमान है, तथापि वह क्रिया नही के बराबर है, इन क्रियाओ मे उसकी गणना नही है।

अप्रमत्तसंयत में मायाप्रत्यया क्रिया—इसलिए होती है कि उसमे अभी कषाय अवशिष्ट है। और कषाय के निमित्त से होने वाली क्रिया मायाप्रत्यया कहलाती है।

लेश्या की अपेक्षा चौबीस दण्डकों मे समाहारादि-विचार—प्रस्तुत १२ वे सूत्र मे छह लेश्याओ के छह दण्डक (आलापक) और सलेश्य का एक दण्डक, इस प्रकार ७ दण्डको से यहाँ विचार किया गया है। अगले सूत्र मे लेश्याओ के नाम गिनाकर उससे सम्बन्धित सारा तात्त्विक ज्ञान प्रज्ञापनासूत्र के लेश्यापद के द्वितीय उद्देशक से जान लेने का निर्देश किया गया है।

यद्यपि कृष्णलेश्या सामान्यरूप से एक है, तथापि उसके अवान्तर भेद अनेक हैं—कोई कृष्ण-लेश्या अपेक्षाकृत विशुद्ध होती है, कोई अविशुद्ध, एक कृष्णलेश्या से नरकगति मिलती है, एक से भवनपति देवो मे उत्पत्ति होती है, अत. कृष्णलेश्या के तरतमता के भेद से अनेक भेद है, इसलिए उनका आहारादि समान नही होता। यही बात सभी लेश्याओ वाले जीवो के सम्बन्ध मे जान लेनी चाहिए।[1]

जीवों का संसार-सस्थानकाल एवं अल्पबहुत्व

१४. जीवस्स णं भंते ! तीतद्धाए आदिट्ठस्स कइविहे संसारसंचिट्ठणकाले पण्णत्ते ?

गोयमा ! चउव्विहे ससारसचिट्ठणकाले पण्णत्ते। तं जहा—णेरइयससारसंचिट्ठणकाले, तिरिक्खजोणियसंसारसचिट्ठणकाले, मणुस्ससंसारसंचिट्ठणकाले, देवसंसारसचिट्ठणकाले य पण्णत्ते।

[१४-प्र.] भगवन्! अतीतकाल मे आदिष्ट-नारक आदि विशेषण-विशिष्ट जीव का ससार-सस्थानकाल कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१४-उ.] गौतम! ससार-सस्थान-काल चार प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है— नैरयिकससार-सस्थानकाल, तिर्यञ्चससारसस्थानकाल, मनुष्य-ससार-सस्थानकाल और देवससार-सस्थानकाल।

१५. [१] नेरइयसंसारसचिट्ठणकाले णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते। त जहा—सुन्नकाले, असुन्नकाले, मिस्सकाले।

[१५-१ प्र] भगवन्! नैरयिकससार-सस्थानकाल कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१५-१ उ.] गौतम! तीन प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—शून्यकाल, अशून्य-काल और मिश्रकाल।

---

१ (क) उम्मग्गदेसओ मग्गणासओ गूढहिययमाइल्लो। सढसीलो य ससल्लो तिरियाउ बधए जीवो॥

(ख) भगवती अ० वृत्ति पत्रांक ४४ से ४६ तक।

[२] तिरिक्खजोणियसंसारसंचिट्ठणकाले पुच्छा।

गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—असुन्नकाले य मिस्सकाले य।

[१५-२ प्र.] भगवन् ! तिर्यञ्चससारसंस्थानकाल कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१५-२ उ.] गौतम ! दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार—अशून्यकाल और मिश्रकाल।

[३] मणुस्साण य, देवाण य जहा नेरइयाणं।

[१५-३] मनुष्यो और देवो के ससारसस्थानकाल का कथन नारको के समान समझना चाहिए।

१६ [१] एयस्स ण भंते ! नेरइयसंसारसंचिट्ठणकालस्स सुन्नकालस्स असुन्नकालस्स मीसकालस्स य कयरे कयरेहिंतो अप्पे वा, बहुए वा, तुल्ले वा, विसेसाहिए वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवे असुन्नकाले, मिस्सकाले, अणतगुणे, सुन्नकाले अणतगुणे।

[१६-१ प्र] भगवन् ! नारको के ससारसस्थानकाल के जो तीन भेद हैं—शून्यकाल, अशून्य काल और मिश्रकाल, इनमे से कौन किससे कम, बहुत, तुल्य विशेषाधिक है ?

[१६-१ उ] गौतम ! सबसे कम अशून्यकाल है, उससे मिश्रकाल अनन्तगुणा है और उसकी अपेक्षा भी शून्यकाल अनन्तगुणा है।

[२] तिरिक्खजोणियाण सव्वथोवे असुन्नकाले मिस्सकाले अणतगुणे।

[१६-२] तिर्यंचससारसंस्थानकाल के दो भेदो मे से सबसे कम अशून्यकाल है और उसकी अपेक्षा मिश्रकाल अनन्तगुणा है।

[३] मणुस्स-देवाण य जहा नेरइयाण।

[१६-३] मनुष्यो और देवो के ससारसस्थानकाल को न्यूनाधिकता (अल्पबहुत्व) नारको के ससारसस्थानकाल की न्यूनाधिकता के समान ही समझनी चाहिए।

१७ एयस्स णं भंते ! नेरइयसंसारसचिट्ठणकालस्स जाव देवसंसारसंचिट्ठण जाव विसेसाधिए वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवे मणुस्ससंसारसंचिट्ठणकाले, नेरइयससारसचिट्ठणकाले असंखेज्जगुणे, देवसंसारसंचिट्ठणकाले असंखेज्जगुणे, तिरिक्खजोणियसंसारसंचिट्ठणकाले अणंतगुणे।

[१७-प्र] भगवन् ! नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, इन चारो के ससारसस्थानकालो मे कौन किससे कम, अधिक, तुल्य या विशेषाधिक है ?

[१७-उ] गौतम ! सबसे थोडा मनुष्यससारसस्थानकाल है, उसके नैरयिक ससारसस्थान-काल असखयातगुणा है, उससे देव ससारसस्थानकाल असख्यातगुणा है और उससे तिर्यञ्चससार-सस्थानकाल अनन्तगुणा है।

विवेचन— चारों गतियों के जीवों का संसारसंस्थानकाल : भेद-प्रभेद एवं अल्पबहुत्व—प्रस्तुत पाच सूत्रो (१३ से १७ तक) में नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, इन चारो प्रकार के जीवो के ससारसंस्थानकाल, उसके भेद-प्रभेद एव अल्पबहुत्व का निरूपण किया गया है।

संसारसस्थानकाल सम्बन्धी प्रश्न का उद्भव क्यो—किसी की मान्यता है कि पशु मर कर पशु ही होता है, और मनुष्य मर कर मनुष्य, वह देव या नारक नही होता। जैसे—गेहूँ से गेहूँ ही उत्पन्न होता है, चना नही। हाँ, अच्छी-बुरी भूमि के मिलने से गेहूँ अच्छा-बुरा हो सकता है, इसी प्रकार अच्छे-बुरे सस्कारो के मिलने से मनुष्य अच्छा-बुरा भले ही हो जाए; किन्तु रहता है, मनुष्य ही। इस प्रकार की मान्यतानुसार अनादिभवो मे भी जीव एक ही प्रकार से रहता है। इस भ्रान्तमत का निराकरण करने हेतु गौतम स्वामी ने यह प्रश्न उठाया है कि यह जीव अनादिकाल से एक योनि से दूसरी योनि मे भ्रमण कर रहा है, तो अतीतकाल मे जीव ने कितने प्रकार का ससार बिताया है?

संसारसस्थानकाल—ससार का अर्थ है—एक भव (जन्म) से दूसरे भव मे ससरण—गमनरूप क्रिया। उसकी सस्थान—स्थिर रहने रूप क्रिया तथा उसका काल (अवधि) सस्थानकाल है। अर्थात्—यह जीव अतीतकाल मे कहाँ-कहाँ किस-किस गति मे कितने काल तक स्थित रहा? यही गौतमस्वामी के प्रश्न का आशय है।

ससारसंस्थान न माना जाए तो—अगर भवान्तर मे जीव की गति और योनि नही बदलती, तब तो उसके द्वारा किए हुए प्रकृष्ट पुण्य और प्रकृष्ट पाप निरर्थक हो जाएँगे। शुभकर्म करने पर भी पशु, पशु ही रहे और करोडो पाप कर्म करने पर भी मनुष्य, मनुष्य ही बना रहे तो उनके पुण्य और पाप कर्म का क्या फल हुआ? ऐसा मानने पर मुक्ति कदापि प्राप्त न हो सकेगी, क्योकि जो जिस गति या योनि मे है, वह वहाँ से आगे कही न जा सकेगा, फलत मुक्ति के लिए किये जाने वाले तप-जप-ध्यान आदि अनुष्ठान निष्फल ही सिद्ध होगे। इसीलिए भगवान् ने बताया कि जीव चार प्रकार के ससार मे सस्थित रहा है, कभी नारक, कभी तिर्यञ्च, कभी देव और कभी मनुष्य योनि मे इस जीव ने समय बिताया है।

त्रिविधसंसारसंस्थानकाल—भगवान् ने ससारसंस्थानकाल तीन प्रकार का बताया है—शून्य-काल, अशून्यकाल और मिश्रकाल।

अशून्यकाल—आदिष्ट (वर्तमान मे नियत अमुक) समय वाले नारको मे से एक भी नारक जब तक मर कर नही निकलता और न कोई नया जन्म लेता है, तब तक का काल अशून्यकाल है। अर्थात्—अमुक वर्तमानकाल मे सातों नरको मे जितने भी जीव विद्यमान हैं, उनमे से न कोई जीव मरे, न ही नया उत्पन्न हो, यानी उतने के उतने ही जीव जितने समय तक रहे, उस समय को नरक की अपेक्षा अशून्यकाल कहते हैं।

मिश्रकाल—वर्तमानकाल के इन नारको मे से एक, दो, तीन इत्यादि क्रम से निकलते-निकलते जब तक एक भी नारक शेष रहे, अर्थात्—विद्यमान नारको मे से जब एक का निकलना प्रारम्भ हुआ, तब से लेकर जब तक नरक मे एक नारक शेष रहा, तब तक के समय को नरक की अपेक्षा मिश्रकाल कहते हैं।

शून्यकाल—वर्तमानकाल के समादिष्ट (नियत) नारको मे से समस्त नारक नरक से निकल जाएँ, एक भी नारक शेष न रहे, और न ही उनके स्थान पर सभी नये नारक पहुँचे तब तक का काल नरक की अपेक्षा शून्यकाल कहलाता है। तिर्यचयोनि मे शून्यकाल नही है, क्योकि तिर्यञ्चयोनि मे अकेले वनस्पति काय के ही जीव अनन्त है, वे सबके सब उसमे से निकलकर नही जाते। शेष तीनो गतियों में तीनो प्रकार के संसारसस्थानकाल हैं।

तीनों कालों का अल्पबहुत्व—अशून्यकाल अर्थात् विरहकाल की अपेक्षा मिश्रकाल को अनन्त-गुणा इसलिए कहा कि अशून्यकाल तो सिर्फ बारह मुहूर्त्त का है, जब कि मिश्रकाल वनस्पतिकाय मे गमन की अपेक्षा अनन्तगुना है। नरक के जीव जब तक नरक मे रहे, तभी तक मिश्रकाल नही, वरन् नरक के जीव नरक से निकलकर वनस्पतिकाय आदि तिर्यञ्च, तथा मनुष्य, आदि गतियो—योनियो मे जन्म लेकर फिर नरक मे आवे तब तक का काल मिश्रकाल है। और शून्यकाल मिश्रकाल से भी अनन्तगुणा इसलिए कहा गया है कि नरक के जीव नरक से निकल कर वनस्पति मे आते हैं, जिसकी स्थिति अनन्तकाल की है।

तिर्यञ्चों की अपेक्षा अशून्यकाल सबसे कम है। सज्ञी तिर्यञ्चपचेन्द्रिय का उत्कृष्ट विरहकाल १२ मुहूर्त्त का, तीन विकलेन्द्रिय और सम्मूर्च्छिम तिर्यचपचेन्द्रिय का अन्तर्मुहूर्त्त का, पचस्थावर जीवो में समय-समय मे परस्पर एक दूसरे मे असख्यजीव उत्पन्न होते हैं, अत उनमे विरहकाल नही है।[1]

अन्तक्रिया सम्बन्धी-चर्चा

१८. जीवे णं भंते ! अंतकिरियं करेज्जा ?

गोयमा ! अत्थेगतिए करेज्जा, अत्थेगतिए नो करेज्जा। अतकिरियापव नेयव्वं।

[१८ प्र.] हे भगवन् ! क्या जीव अन्तक्रिया करता है ?

[१८ उ] गौतम ! कोई जीव अन्तक्रिया करता है, कोई जीव नही करता। इस सम्बन्ध मे प्रज्ञापनासूत्र का अन्तक्रियापद (२० वाँ पद) जान लेना चाहिए।

विवेचन—अन्तक्रिया सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत सूत्र मे अन्तक्रिया के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर अकित हैं।

अन्तक्रिया—जिस क्रिया के पश्चात् फिर कभी दूसरी क्रिया न करनी पडे वह, अथवा कर्मों का सर्वथा अन्त करने वाली क्रिया अन्तक्रिया है। आशय यह है कि समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्षप्राप्ति की क्रिया ही अन्तक्रिया है। निष्कर्ष यह है कि भव्य जीव ही मनुष्यभव पाकर अन्त-क्रिया करता है।

असंयतभव्य द्रव्यदेव आदि सम्बन्धी विचार

१९. अह भंते ! असंजयभवियदव्वदेवाणं १, अविराहियसंजमाणं २, विराहियसंजमाण ३, अविराहियसंजमासजमाण ४, विराहियसजमासजमाणं ५, असण्णीणं ६, तावसाण ७, कंदप्पियाण ८,

१. भगवती अ० वृत्ति, पत्राक ४७-४८

चरगपरिव्वायगाणं ९, किब्बिसियाणं १०, तेरिच्छियाणं ११, आजीवियाणं १२, आभिओगियाणं १३, सलिंगीणं दंसणवावन्नगाणं १४, एएसि णं देवलोगेसु उववज्जमाणाणं कस्स कहिं उववाए पण्णत्ते ?

गोयमा ! अस्संजतभवियदव्वदेवाणं जहन्नेणं भवणवासीसु, उक्कोसेणं उवरिमगेविज्जएसु १। अविराहियसंजमाणं जहन्नेणं सोहम्मे कप्पे, उक्कोसेणं सव्वट्ठसिद्धे विमाणे २। विराहियसंजमाणं जहन्नेणं भवणवासीसु, उक्कोसेण सोधम्मे कप्पे ३। अविराहियसंजमाऽसंजमाणं जहन्नेणं सोहम्मे कप्पे, उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे ४। विराहियसजमासंजमाणं जहन्नेण भवणवासीसु, उक्कोसेणं जोतिसिएसु ५। असण्णीणं जहन्नेणं भवणवासीसु, उक्कोसेण वाणमंतरेसु ६। अवसेसा सव्वे जहन्नेणं भवणवासीसु, उक्कोसग वोच्छामि- तावसाण जोतिसिएसु ७। कंदप्पियाणं सोहम्मे कप्पे ८। चरग-परिव्वायगाणं बंभलोए कप्पे ९। किब्बिसियाण लंतगे कप्पे १०। तेरिच्छियाणं सहस्सारे कप्पे ११। आजीवियाणं अच्चुए कप्पे १२। आभिओगियाण अच्चुए कप्पे १३। सलिंगीण दसणवावन्नगाणं उवरिम-गेवेज्जएसु १४।

[१९ प्र] भगवन् ! (१) असयत भव्यद्रव्यदेव, (२) अखण्डित सयम वाला, (३) खण्डित सयम वाला, (४) अखण्डित सयमासयम (देशविरति) वाला, (५) खण्डित सयमासयय वाला, (६) असज्ञी, (७) तापस, (८) कान्दर्पिक, (९) चरकपरिव्राजक, (१०) किल्विषिक, (११) तिर्यञ्च (१२) आजीविक, (१३) आभियोगिक, (१४) दर्शन (श्रद्धा) भ्रष्ट वेषधारी, ये सब यदि देवलोक मे उत्पन्न हो तो, किसका कहाँ उपपात (उत्पाद) होता है ?

[१९ उ] गौतम ! असयतभव्यद्रव्यदेवो का उत्पाद जघन्यत भवनवासियो मे और उत्कृष्टत ऊपर के ग्रैवेयको मे कहा गया है। अखण्डित (अविराधित) सयम वालो का जघन्य सौधर्मकल्प मे और उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्ध विमान मे, खण्डित सयम वालो का जघन्य भवनवासियो मे और उत्कृष्ट सौधर्मकल्प मे, अखण्डित सयमासयम का जघन्य सौधर्मकल्प मे और उत्कृष्ट अच्युत-कल्प मे, खण्डित सयमासयम वालो का जघन्य भवनवासियो मे और उत्कृष्ट ज्योतिष्कदेवो मे, असज्ञी जीवो का जघन्य भवनवासियो मे और उत्कृष्ट वाण-व्यन्तरदेवो मे और शेष सबका उत्पाद जघन्य भवनवासियो मे होता है, उत्कृष्ट उत्पाद आगे बता रहे है—तापसो का ज्योतिष्को मे, कान्दर्पिको का सौधर्मकल्प मे, चरकपरिव्राजको का ब्रह्मलोक कल्प मे, किल्विषिको का लान्तक कल्प मे, तिर्यञ्चो का सहस्रारकल्प मे, आजीविको तथा आभियोगिको का अच्युतकल्प मे, और श्रद्धाभ्रष्ट वेषधारियो का ऊपर के ग्रैवेयको तक मे उत्पाद होता है।

विवेचन—असंयतभव्यद्रव्यदेव आदि के देवलोक उत्पाद के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत सूत्र मे विविध प्रकार के १४ आराधक-विराधक साधको तथा अन्य जीवो की देवलोक-उत्पत्ति के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर अंकित है। इनका अर्थ इस प्रकार है—

असंयत भव्यद्रव्यदेव—(१) जो असयत—चारित्रपरिणामशून्य हो, किन्तु भविष्य मे देव होने योग्य हो, (२) असयत भव्यद्रव्य देव का अर्थ अविरत सम्यग्दृष्टि जीव भी हो सकता है, किन्तु

यह अर्थ यहा संगत नही, क्योकि असयत भव्यद्रव्य देव का उत्कृष्ट उत्पाद ग्रैवेयक तक कहा है, जबकि अविरत सम्यग्दृष्टि तो दूर रहे, देशविरतश्रावक (सयमासयमी) भी अच्युत देवलोक से आगे नही जाते। (३) इसी प्रकार असयत भव्यद्रव्य देव का अर्थ असयत निह्नव भी ठीक नही, क्योकि इनके उत्पाद के विषय मे इसी सूत्र में पृथक् निरूपण है। (४) अत असयत भव्यद्रव्यदेव का स्पष्ट अर्थ है—जो साधु-समाचारी और साध्वाचार का पालन करता हो, किन्तु जिसमे आन्तरिक (भाव से) साधुता न हो केवल द्रव्यलिंगधारी हो, ऐसा भव्य या अभव्य मिथ्यादृष्टि। यद्यपि ऐसे असयत भव्यद्रव्यदेव मे महामिथ्यादर्शनरूप मोह की प्रबलता होती है, तथा जब वह चक्रवर्ती आदि अनेक राजा-महाराजाओ द्वारा साधुओ को वन्दन-नमन, पूजा, सत्कार-सम्मान आदि करते देखता है तो सोचता है कि मैं साधु बन जाऊँ तो मेरी भी इसी तरह वन्दना, पूजा-प्रतिष्ठा आदि होने लगेगी, फलत इस प्रकार की प्रतिष्ठामोह की भावना से वह श्रमणव्रत पालन करता है, आत्मशुद्धि के उद्देश्य से नही। उसकी श्रद्धा प्रव्रज्या तथा क्रियाकलाप पूर्ण है, वह आचरण भी पूर्णतया करता है, परन्तु चारित्र के परिणाम से शून्य होने से असयत है।

अविराधित संयमी—दीक्षाकाल से लेकर अन्त तक जिसका चारित्र कभी भग न हुआ हो, वह अखण्डित सयमी है। इसे आराधक सयमी भी कहते है।

विराधित संयमी—इसका स्वरूप अविराधित सयमी से विपरीत है। जिसने महाव्रतो का ग्रहण करके उनका भलीभाति पालन नही किया है, सयम की विराधना की है, वह विराधित सयमी, खण्डित सयमी या विराधक सयमी है।

अविराधित संयमासंयमी—जो देशविरति ग्रहण करके अन्त तक अखण्डित रूप से उसका पालन करता है उसे आराधक सयमासयमी कहते है।

विराधित संयमासंयमी—जिसने देशविरति ग्रहण करके उसका भली भाँति पालन नही किया है, उसे विराधित सयमासयमी कहते है।

असंज्ञी जीव—जिसके मनोलब्धि नही है, ऐसा असज्ञी जीव अकाम-निर्जरा करता है, इस कारण वह देवलोक मे जा सकता है।

तापस—वृक्ष से गिरे हुए पत्तो आदि को खाकर उदरनिर्वाह करने वाला बाल-तपस्वी।

कान्दर्पिक—जो साधु हसोड—हास्यशील हो। ऐसा साधु चारित्रवेश मे रहते हुए भी हास्यशील होने के कारण अनेक प्रकार की विदूषक-की-सी चेष्टाएँ करता है। अथवा कन्दर्प अर्थात् काम-सम्बन्धी वार्तालाप करने वाला साधु भी कान्दर्पिक कहलाता है।

चरकपरिव्राजक—गरूए या भगए रग के वस्त्र पहनकर धाटी (सामूहिक भिक्षा) द्वारा आजीविका करने वाले त्रिदण्डी, कुच्छोटक आदि अथवा कपिलऋषि के शिष्य।

किल्विषिक—जो ज्ञान, केवली, धर्माचार्य और सब साधुओ का अवर्णवाद करता है और पापमय भावना वाला है, वह किल्विषिक साधु है। किल्विषिक साधु व्यवहार से चारित्रवान भी होता है।

तिर्यञ्च—देशविरति श्रावकव्रत का पालन करने वाले घोडे, गाय आदि। जैसे—नन्दन-मणिहार का जीव मेढक के रूप मे श्रावकव्रती था।

आजीविक—(१) एक खास तरह के पाखण्डी, (२) नग्न रहने वाले गोशालक के शिष्य, (३) लब्धिप्रयोग करके अविवेकी लोगो द्वारा ख्याति प्राप्त करने या महिमा-पूजा के लिए तप और चारित्र का अनुष्ठान करने वाले और (४) अविवेकी लोगों मे चमत्कार दिखलाकर अपनी आजीविका उपार्जन करने वाले।

आभियोगिक—विद्या और मत्र आदि का या चूर्ण आदि के योग का प्रयोग करना और दूसरो को अपने वश मे करना अभियोग कहलाता है। जो साधु व्यवहार से तो संयम का पालन करता है, किन्तु मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र, भूतिकर्म, प्रश्नाप्रश्न, निमित्त, चूर्ण आदि के प्रयोग द्वारा दूसरे को आकर्षित करता है, वशीभूत करता है, वह आभियोगिक कहलाता है।

दर्शनभ्रष्टसलिंगी—साधु के वेष मे होते हुए भी दर्शनभ्रष्ट—निह्नव दर्शनभ्रष्टस्ववेषधारी है। ऐसा साधक आगम के अनुसार क्रिया करता हुआ भी निह्नव होता है, जिन-दर्शन से विरुद्ध प्ररूपणा करता है, जैसे जामालि।[1]

असंज्ञी आयुष्य सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

२० **कतिविहे णं भंते ; असण्णियाउए पण्णत्ते ?**

गोयमा ! चउव्विहे असण्णिआउए पण्णत्ते। तं जहा—नेरइय-असण्णिआउए १, तिरिक्ख-जोणिय-असण्णिआउए २, मणुस्सअसण्णिआउए ३, देवअसण्णिआउए ४।

[२० प्र] भगवन् ! असज्ञी का आयुष्य कितने प्रकार का कहा गया है ?

[२० उ] गौतम ! असज्ञी का आयुष्य चार प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—नैरयिक-असज्ञी आयुष्य, तिर्यञ्च-असंज्ञी आयुष्य, मनुष्य-असज्ञी आयुष्य और देव-असंज्ञी आयुष्य।

२१. **असण्णी णं भंते ! जीवे किं नेरइयाउयं पकरेति, तिरिक्ख-जोणियाउयं पकरेइ, मणुस्साउयं पकरेइ, देवाउयं पकरेइ।**

हंता, गोयमा ! नेरइयाउयं पि पकरेइ, तिरिक्खजोणियाउयं पि पकरेइ, मणुस्साउयं पि पकरेइ, देवाउयं पि पकरेइ। नेरइयाउयं पकरेमाणे जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं पलिओव-मस्स असंखेज्जइभागं पकरेति। तिरिक्खजोणियाउयं पकरेमाणे जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पकरेइ। मणुस्साउए वि एव चेव। देवउयं पकरेमाणे जहा नेरइया।

---

१ (क) भगवती सूत्र अ० वृत्ति, पत्रांक ४९-५०

(ख) जो सजओ वि एयासु अप्पसत्थासु भावण कुणइ।
सो तव्विहेसु गच्छइ सुरेसु भइओ चरणहीणो॥

(ग) णाणस्स केवलीण धम्मायरियस्स सव्व साहूण।
माई अवण्णवाई किव्विसिय भावण कुणइ॥

(घ) कोऊय-भूइकम्मे पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी।
इड्ढिरससायगरुओ अहिओग भावण कुणइ॥

[२१ प्र] भगवन् ! असज्ञी जीव क्या नरक का आयुष्य उपार्जन करता है, तिर्यञ्चयोनिक का आयुष्य उपार्जन करता है, मनुष्य का आयुष्य भी उपार्जन करता है या देव का आयुष्य उपार्जन करता है ?

[२१ उ] हाँ गौतम ! वह नरक का आयुष्य भी उपार्जन करता है, तिर्यञ्च का आयुष्य भी उपार्जन करता है, मनुष्य का आयुष्य भी उपार्जन करता है और देव का आयुष्य भी उपार्जन करता है।

नारक का आयुष्य उपार्जन करता हुआ असज्ञीजीव जघन्य दस हजार वर्ष का और उत्कृष्ट पल्योपम के असख्यातवे भाग का उपार्जन करता है। तिर्यञ्चयोनि का आयुष्य उपार्जन करता हुआ असज्ञी जीव जघन्य अन्तर्मुहूर्त का और उत्कृष्ट पल्योपम के असख्यातवे भाग का उपार्जन करता है। मनुष्य का आयुष्य भी इतना ही उपार्जन करता है और देव आयुष्य का उपार्जन भी नरक के आयुष्य के समान करता है।

२२ एयस्स ण भते ! नेरइयअसण्णिआउयस्स तिरिक्खजोणियअसण्णिआउयस्स मणुस्स-असण्णिआउयस्स देवअसण्णिआउयस्स य कयरे कयरेहितो जाव विसेसाहिए वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवे देवअसण्णिआउए, मणुस्सअसण्णिआउए असखेज्जगुणे, तिरियजोणिय-असण्णिआउए असखेज्जगुणे, नेरइयअसण्णिआउये असंखेज्जगुणे।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति ॥

॥ बितिओ उद्देसओ समत्तो ॥

[२२ प्र] हे भगवन् ! नारक-असज्ञी-आयुष्य, तिर्यञ्च-असज्ञी-आयुष्य, मनुष्य-असज्ञी-आयुष्य और देव-असज्ञी-आयुष्य, इनमे कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक है ?

[२२ उ] गौतम ! देव-असज्ञी-आयुष्य, सबसे कम है, उसकी अपेक्षा मनुष्य-असज्ञी-आयुष्य असख्यातगुणा है, उससे तिर्यञ्च असज्ञी-आयुष्य असख्यात-गुणा है और उससे भी नारक-असज्ञी-आयुष्य असख्यातगुणा है।

'हे भगवन् ! (जैसा आप फरमाते हैं,) वह इसी प्रकार है, वह इसी प्रकार है।' ऐसा कहकर गौतम स्वामी सयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करने लगे।

विवेचन—असज्ञी-आयुष्य · प्रकार, उपार्जन एव अल्पबहुत्व—प्रस्तुत तीन सूत्रो (२०-२१-२२) मे असज्ञी जीव के आयुष्य के प्रकार, उपार्जन और अल्पबहुत्व का निरूपण किया गया है।

असंज्ञी-आयुष्य-वर्तमानभव मे जो जीव विशिष्ट सज्ञा से रहित है, वह परलोक के योग्य जो आयुष्य बांधता है, उसे असज्ञी-आयुष्य कहते हैं।

असज्ञी द्वारा आयुष्य का उपार्जन या वेदन ?—श्री गौतम स्वामी ने असज्ञी जीवो के आयुष्य के सम्बन्ध मे दूसरा प्रश्न उठाया है, जिसका आशय यह है कि असज्ञी जीव मन के अभाव मे आयुष्य का उपार्जन कैसे कर सकता है ? अत नरक, तिर्यञ्च आदि का आयुष्य असज्ञी द्वारा उपार्जन किया जाता है या सिर्फ भोगा (वेदन किया) जाता है ? इसके उत्तर मे भगवान् कहते हैं—

असज्ञी का आयुष्य असज्ञी द्वारा ही उपर्जित किया हुआ है। यद्यपि असज्ञी की मनोलब्धि विकसित न होने से उसे अच्छे-बुरे का भान नही होता, मगर उसके आन्तरिक अध्यवसाय को सर्वज्ञ तीर्थंकर तो हस्तामलकवत् जानते ही हैं कि वह नरकायु का उपार्जन कर रहा है या देवायु का ? जैसे भिक्षु से सम्बन्धित पात्र को भिक्षुपात्र कहते है, वैसे ही असज्ञी से सम्बन्धित आयु को असज्ञी-आयुष्य कहते हैं।[1]

तिर्यंच और मनुष्य के आयुष्य को पल्योपम के असख्यातवे भाग युगलियो की अपेक्षा से समझना चाहिए।

॥ प्रथम शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१. भगवतीसूत्र अ० वृत्ति, पत्राक ५१

तइओ उद्देसो : कंखपओसे

तृतीय उद्देशक : कांक्षा-प्रदोष

चौबीस दण्डकों में कांक्षामोहनीयकर्मसम्बन्धी षड्द्वार-विचार

१. [१] जीवाणं भंते ! कंखामोहणिज्जे कम्मे कडे ?
हंता, कडे ।

[१-१ प्र] भगवन् ! क्या जीवो का कांक्षामोहनीय कर्म कृतक्रियानिष्पादित (किया हुआ) है ?

[१-१ उ] हाँ गौतम ! वह कृत है ।

[२] से भंते ! किं देसेण देसे १ ?, देसेण सव्वे कडे २ ?, सव्वेण देसे कडे ३ ?, सव्वेण सव्वे कडे ४ ?

गोयमा ! नो देसेणं देसे कडे १, नो देसेणं सव्वे कडे २, नो सव्वेणं देसे कडे ३, सव्वेण सव्वे कडे ४ ।

[१-२ प्र] भगवन् ! क्या वह देश से देशकृत है, देश से सर्वकृत है, सर्व से देशकृत है अथवा सर्व से सर्वकृत है ?

[१-२ उ] गौतम ! वह देश से देशकृत नही है, देश से सर्वकृत नही है, सर्व से देशकृत नही है, सर्व से सर्वकृत है ।

२ [१] नेरइयाण भंते ! कंखामोहणिज्जे कम्मे कडे ?
हंता, कडे जाव सव्वेणं कडे ४ ।
[२] एवं जाव वेमाणियाणं दंडओ भाणियव्वो ।

[२-१ प्र] भगवन् ! क्या नैरयिको का कांक्षामोहनीय कर्म कृत है ?

[२-१ उ] हा, गौतम ! कृत, यावत् 'सर्व से सर्वकृत है' इस प्रकार से यावत् चौबीस ही दण्डको मे वैमानिकपर्यन्त आलापक कहना चाहिए ।

३. [१] जीवा णं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं करिंसु ?
हंता, करिंसु ।

[३-१ प्र] भगवन् ! क्या जीवो ने कांक्षामोहनीय कर्म का उपार्जन किया है ?
[३-१ उ] हाँ गौतम ! किया है ।

[२] तं भंते ! किं देसेणं देसं करिंसु ?
एतेणं अभिलावेणं दंडओ १ जाव वेमाणियाणं ।

[३-२ प्र.] 'भगवन् ! क्या वह देश से देशकृत है ?' इत्यादि पूर्वोक्त प्रश्न वैमानिक दण्डक तक करना चाहिए।

[३-२ उ] इस प्रकार 'कहते हैं' यह आलापक भी यावत् वैमानिकपर्यन्त चौबीस ही दण्डको मे आलापक कहना चाहिए।

[३] एवं करेंति। एत्थ वि दंडओ जाव[1] वेमाणियाणं।

[३-३] इसी प्रकार 'करते है' यह आलापक भी यावत् वैमानिकपर्यन्त चौबीस ही दण्डको मे कहना चाहिए।

[४] एवं करेस्संति। एत्थ वि दंडओ जाव[1] वेमाणियाणं।

[३-४] इसी प्रकार 'करेगे' यह आलापक भी यावत् वैमानिकपर्यन्त चौबीस ही दण्डको मे कहना चाहिए।

[५] एवं चिते—चिणिंसु, चिणंति, चिणिस्संति। उवचिते—उवचिणिंसु, उवचिणंति, उवचिणिस्संति। उदीरेंसु, उदीरेंति, उदीरिस्संति। वेदिंसु, वेदेंति, वेदिस्संति। निज्जरेंसु, निज्जरेंति, निज्जरिस्संति। गाहा—

कड चित, उवचित, उदीरिया, वेदिया य, निज्जिण्णा।
आदितिए चउभेदा, तियभेदा पच्छिमा तिण्णि॥१॥

[३-५] इसी प्रकार (कृत के तोनो काल की तरह) चित किया, चय करते हैं, चय करेंगे, उपचित-उपचय किया, उपचय करते हैं, उपचय करेंगे, उदीरणा की, उदीरणा करते हैं, उदीरणा करेंगे, वेदन किया, वेदन करते है, वेदन करेंगे, निर्जीर्ण किया, निर्जीर्ण करते हैं, निर्जीर्ण करेंगे, इन सब पदो का चौबीस ही दण्डको के सम्बन्ध मे पूर्ववत् कथन करना (आलापक करना) चाहिए।

गाथार्थ—कृत, चित, उपचित, उदीर्ण, वेदित और निर्जीर्ण, इतने अभिलाप यहाँ कहने हैं। इनमे से कृत, चित और उपचित मे एक-एक के चार-चार भेद है, अर्थात्—सामान्य क्रिया, भूतकाल की क्रिया, वर्तमान काल की क्रिया और भविष्यकाल की क्रिया। पिछले तीन पदो मे सिर्फ तीन काल की क्रिया कहनी है।

कांक्षामोहनीय-वेदनकारण-विचार

४. जीवा ण भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ?

हंता, वेदेंति।

[४ प्र] भगवन् ! क्या जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते है ?

[४ उ] हाँ गौतम ! वेदन करते हैं।

५ कहं णं भंते ! जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ?

गोयमा ! तेहिं तेहिं कारणेहिं संकिया कंखिया वितिगिछिया भेदसमावन्ना, कलुससमावन्ना एवं खलु जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति।

---

१ 'जाव' शब्द से वैमानिकपर्यंत पूर्वोक्त चौबीस दण्डक समझना चाहिए।

[५ प्र.] भगवन् ! जीव कांक्षामोहनीय कर्म को किस प्रकार वेदते है ?

[५ उ] गौतम ! उन-उन (अमुक-अमुक) कारणो से शकायुक्त, कांक्षायुक्त, विचिकित्सा-युक्त, भेदसमापन्न एवं कलुषसमापन्न होकर; इस प्रकार जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं।

आराधक-स्वरूप

६. [१] से नूणं भंते ! तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेदितं ?

हंता, गोयमा ! तमेव सच्चं णीसंकं ज जिणेहि पवेदितं ।

[६-१ प्र] भगवन् ! क्या वही सत्य और नि शक है, जो जिन-भगवन्तो ने निरूपित किया है।

[६-१ उ.] हाँ, गौतम ! वही सत्य और नि.शक है, जो जिनेन्द्रो द्वारा निरूपित है।

[२] से नूणं भंते ! एवं मणं धारेमाणे, एवं पकरेमाणे एवं चिट्ठेमाणे, एवं संवरेमाणे आणाए आराहए भवति ?

हंता, गोयमा ! एवं मण धारेमाणे जाव भवति ।

[६-२ प्र] भगवन् ! (वही सत्य और नि शक है, जो जिनेन्द्रो द्वारा प्ररूपित है) इस प्रकार मन मे धारण (निश्चय) करता हुआ, उसी तरह आचरण करता हुआ, यो कहता हुआ, इसी तरह सवर करता हुआ जीव क्या आज्ञा का आराधक होता है ?

[६-२ उ.] हाँ, गौतम ! इसी प्रकार मन मे निश्चय करता हुआ यावत आज्ञा का आराधक होता है।

विवेचन—चतुर्विंशतिदण्डको मे कांक्षामोहनीय का कृत, चित आदि ६ द्वारो से त्रैकालिक विचार—प्रस्तुत तीन सूत्रो मे कांक्षामोहनीय कर्म के सम्बन्ध मे विभिन्न पहलुओ से विचार किया गया है। प्रश्नोत्तर का क्रम इस प्रकार है—(१) क्या कांक्षामोहनीय कर्म जीवो का कृत है ? (२) यदि कृत है तो देश से देशकृत, देश से सर्वकृत, सर्व से देशकृत है या सर्व से सर्वकृत है ? (३) यदि सर्व से सर्वकृत है तो नारकी से लेकर वैमानिक तथा चौबीस दण्डको के जीवो द्वारा कृत है ? कृत है तो सर्व से सर्वकृत है ? इत्यादि, (४) क्या जीवो ने कांक्षामोहनीय कर्म का उपार्जन किया है ? (५) यदि किया है तो वह चौबीस ही दण्डको मे किया है, तथा वह सर्व से सर्वकृत है ? इसी प्रकार करते हैं, करेंगे। (६) इस प्रकार कृत के त्रैकालिक आलापक की तरह चित, उपचित, उदीर्ण, वेदित और निर्जीर्ण पद के कांक्षामोहनीयसम्बन्धी त्रैकालिक आलापक कहने चाहिए।

कांक्षामोहनीय— जो कर्म जीव को मोहित करता है, मूढ बनाता है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। मोहनीयकर्म के दो भेद हैं—चारित्र-मोहनीय और दर्शनमोहनीय। यहाँ चारित्र मोहनीय कर्म के विषय मे प्रश्न नही है। इसीलिए मोहनीय शब्द के साथ 'कांक्षा' शब्द लगाया गया है। कांक्षा-मोहनीय का अर्थ है—दर्शनमोहनीय। कांक्षा का मूल अर्थ है—अन्यदर्शनो को स्वीकार करने की इच्छा करना। सशयमोहनीय, विचिकित्सामोहनीय, परपाखण्डप्रशंसामोहनीय आदि कांक्षामोहनीय के अन्तर्गत समझ लेने चाहिए।

कांक्षामोहनीय का ग्रहण ? कैसे, किस रूप मे ?—कार्य चार प्रकार से होता है–उदाहरणार्थ—एक मनुष्य अपने शरीर के एक देश –हाथ से वस्त्र का एक भाग ग्रहण करता है, यह एकदेश से एकदेश का ग्रहण करना है। इसी प्रकार हाथ से सारे वस्त्र का ग्रहण किया तो यह एकदेश से सर्व का

ग्रहण करना है; यदि समस्त शरीर से वस्त्र के एक भाग को ग्रहण किया तो सर्व से एकदेश का ग्रहण हुआ, सारे शरीर से सारे वस्त्र को ग्रहण किया तो सर्व से सर्व का ग्रहण करना हुआ। प्रस्तुत प्रकरण मे देश का अर्थ है—आत्मा का एक देश और एक समय में ग्रहण किये जाने वाले कर्म का एकदेश। अगर आत्मा के एकदेश से कर्म का एकदेश किया तो यह एकदेश से एकदेश की क्रिया की। अगर आत्मा के एकदेश से सर्व कर्म किया, तो यह देश से सर्व की क्रिया हुई। सम्पूर्ण आत्मा से कर्म का एकदेश किया, तो सर्व से देश की क्रिया हुई और सम्पूर्ण आत्मा से समग्र कर्म किया तो सर्व से सर्व की क्रिया हुई। गौतम स्वामी के इस चतुर्भंगीय प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा कि गौतम! काक्षामोहनीय कर्म सर्व से सर्वकृत है, अर्थात्—समस्त आत्मप्रदेशो से समस्त काक्षामोहनीय कर्म किया हुआ है। पूर्वोक्त चौभगी मे से यहाँ चौथा भग ही ग्रहण किया गया है।

कर्मनिष्पादन की क्रिया त्रिकाल-सम्बन्धित—कर्म क्रिया से निष्पन्न होता है और क्रिया तीनो कालो से सम्बन्धित होती है, इसलिए त्रिकाल सम्बन्धी क्रिया से कर्म लगते है। इसी कारण यहाँ काक्षामोहनीय कर्म के सम्बन्ध मे त्रिकालसम्बन्धी प्रश्नोत्तर है। आयुकर्म के सिवाय जब तक किसी कर्म के बन्ध का कारण नष्ट नही हो जाता, तब तक उस कर्म का बन्ध होता रहता है। काक्षामोहनीकर्म के विषय मे भी यही नियम समझना चाहिए।

'चित' आदि का स्वरूप : प्रस्तुत सन्दर्भ में—पूर्वोपार्जित कर्मों मे प्रदेश और अनुभाग की एक बार वृद्धि करना अर्थात्—सक्लेशमय परिणामो से उसे एक बार बढाना चित (चय किया) कहलाता है। जैसे—किसी आदमी ने भोजन किया उसमे उसे सामान्य क्रिया लगी, किन्तु बाद में वह रागभाव से प्रेरित होकर उस भोजन की प्रशसा करने लगा, यह चय करना हुआ। बार-बार तत्सम्बन्धी चय करना उपचय (उपचित) कहलाता है। किसी-किसी आचार्य के मतानुसार कर्म-पुद्गलो का ग्रहण करना 'चय' कहलाता है और अबाधाकाल समाप्त होने के पश्चात् गृहीत कर्म-पुद्गलो को वेदन करने के लिए निषेचन (कर्मदलिको का वर्गीकरण) करना, उदयावलिका मे स्थापित करना 'उपचय' कहा जाता है।

'उदीरणा' 'वेदना' और 'निर्जरा' का स्वरूप पहले बताया जा चुका है।

उदीरणा आदि मे सिर्फ तीन प्रकार का काल—उदीरणा आदि चिरकाल तक नही रहते, अतएव उनमे सामान्यकाल नही बताया गया है।

उदयप्राप्त कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन— प्रस्तुत काक्षामोहनीय कर्म के वेदन के प्रश्न को पुन. दोहराने का कारण वेदन के हेतुविशेष (विशिष्ट कारणो) को बतलाना है।[1]

शंका आदि पदों की व्याख्या—वीतराग सर्वज्ञ प्रभु ने अपने अनन्त-ज्ञानदर्शन मे जिन तत्त्वो को जान कर निरूपण किया, उन तत्त्वो पर या उनमे से किसी एक पर शका करना—'कौन जाने यह यथार्थ है या नही ?' इस प्रकार का सन्देह करना **शका** है। एकदेश से या सर्वदेश से अन्यदर्शन को ग्रहण करने की इच्छा करना **कांक्षा** है। तप, जप, ब्रह्मचर्य आदि पालन के फल के विषय मे सशय करना **विचिकित्सा** है। बुद्धि मे द्वैधीभाव (बुद्धिभेद) उत्पन्न होना **भेदसमापन्नता** है, अथवा

१ "पुव्वभणियं पि पच्छा जं भण्णइ तत्थ कारणं अत्थि।
पडिसेहो य अणुन्ना हेउविसेसोवलंभोत्ति ॥"

अनध्यवसाय (अनिश्चितता) को भी **भेदसमापन्नता** कहते हैं, या पहले शका या काक्षा उत्पन्न होने से बुद्धि मे भ्रान्ति (विभ्रम) पैदा हो जाना भी भेदसमापन्नता है। जो वस्तु जिनेन्द्र भगवान् ने जैसी प्रतिपादित की है, उसे उसी रूप में निश्चय न करके विपरीत बुद्धि रखना या विपरीत रूप से समझना **कलुष-समापन्नता** है।

कांक्षामोहनीय कर्म को हटाने का प्रबल कारण—कांक्षामोहनीय कर्म के कृत, चय आदि तथा वेदन के कारणो की स्पष्टता होने के पश्चात् इसी सन्दर्भ मे अगले सूत्र मे श्री गौतमस्वामी उस कर्म को हटाने का कारण पूछते हैं। छद्मस्थतावश जब कभी किसी तत्त्व या जिनप्ररूपित तथ्य के विषय मे शका आदि उपस्थित हो, तब इसी सूत्र—**'तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं'** को हृदयगम कर ले तो व्यक्ति कांक्षामोहनीय कर्म से बच सकता है और जिनाज्ञाराधक हो सकता है।

जिन—'जिन' किसी व्यक्ति विशेष का नाम नही है, वह एक पदवी है, गुणवाचक शब्द है। जिन्होने प्रकृष्ट साधना के द्वारा अनादिकालीन रागद्वेष, अज्ञान, कषाय आदि समस्त आत्मिक विकारो या मिथ्यावचन के कारणो पर विजय प्राप्त करली हो, वे महापुरुष **'जिन'** कहलाते हैं, भले ही वे किसी भी देश, वेष, जाति, नाम आदि से सम्बन्धित हो। ऐसे वीतराग सर्वज्ञपुरुषो के वचनो मे किसी को सन्देह करने का अवकाश नही है।[१]

अस्तित्व-नास्तित्व-परिणमन चर्चा

७ [१] से नूण भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ, नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमति ?
हंता, गोयमा ! जाव परिणमति।

[७-१ प्र.] भगवन् ! क्या अस्तित्व अस्तित्व मे परिणत होता है, तथा, नास्तित्व नास्तित्व मे परिणत होता है ?

[७-१ उ] हाँ, गौतम ! अस्तित्व अस्तित्व मे परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व मे परिणत होता है।

[२] जं तं भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमति, नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमति तं किं पयोगसा वीससा ?

गोयमा ! पयोगसा वि तं, वीससा वि तं।

[७-२ प्र] भगवन् ! वह जो अस्तित्व अस्तित्व मे परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व मे परिणत होता है, सो क्या वह प्रयोग (जीव के व्यापार) से परिणत होता है अथवा स्वभाव से (विश्रसा) ?

[७-२ उ] गौतम ! वह प्रयोग से भी परिणत होता है और स्वभाव से भी परिणत होता है।

[३] जहा ते भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ तहा ते नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमति ? जहा ते नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमति तहा ते अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमति ?

---

१ भगवतीसूत्र अ० वृत्ति, पत्रांक ५२ से ५४ तक

हंता, गोयमा ! जहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमति तहा मे नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमति, जहा मे नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमति तहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमति ।

[७-३ प्र.] भगवन् ! जैसे आपके मत से अस्तित्व, अस्तित्व में परिणत होता है, उसी प्रकार नास्तित्व, नास्तित्व मे परिणत होता है ? और जैसे आपके मत से नास्तित्व, नास्तित्व मे परिणत होता है, उसी प्रकार अस्तित्व अस्तित्व मे परिणत होता है ?

[७-३ उ.] गौतम ! जैसे मेरे मत से अस्तित्व, अस्तित्व मे परिणत होता है, उसी प्रकार नास्तित्व, नास्तित्व मे परिणत होता है और जिस प्रकार मेरे मत से नास्तित्व, नास्तित्व मे परिणत होता है, उसी प्रकार अस्तित्व, अस्तित्व मे परिणत होता है ।

[४] से णूणं भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं ?

जहा परिणमइ दो आलावगा तहा गमणिज्जेण वि दो आलावगा भाणितव्वा जाव तहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्ज ।

[७-४ प्र.] भगवन् ! क्या अस्तित्व, अस्तित्व मे गमनीय है ?

[७-४ उ.] हे गौतम ! जैसे—'परिणत होता है' इस पद के आलापक कहे है, उसी प्रकार यहाँ 'गमनीय' पद के साथ भी दो आलापक कहने चाहिए, यावत् 'मेरे मत से अस्तित्व, अस्तित्व मे गमनीय है ।'

[५] जहा ते भंते ! एत्थं गमणिज्जं तहा ते इहं गमणिज्जं ! जहा ते इहं गमणिज्जं तहा ते एत्थ गमणिज्ज ?

हंता, गोयमा ! जहा मे एत्थं गमणिज्जं जाव तहा मे एत्थं गमणिज्जं ।

[७-५ प्र.] भगवन् ! जैसे आपके मत में यहाँ (स्वात्मा) मे गमनीय है, उसी प्रकार इह (परात्मा मे भी) गमनीय है, जैसे आपके मत मे इह (परात्मा मे) गमनीय है, उसी प्रकार यहाँ (स्वात्मा मे) भी गमनीय है ?

[७-५ उ.] हाँ, गौतम ! जैसे मेरे मत मे यहा (स्वात्मा मे) गमनीय है, यावत् (परात्मा मे भी गमनीय है, और जैसे परात्मा मे गमनीय है) उसी प्रकार यहाँ (स्वात्मा मे) गमनीय है ।

विवेचन—अस्तित्व-नास्तित्व को परिणति और गमनीयता आदि का विचार—प्रस्तुत ७वें सूत्र मे विविध पहलुओ—अस्तित्व-नास्तित्व की परिणति एव गमनीयता आदि के सम्बन्ध मे चर्चा की गई है ।

अस्तित्व की अस्तित्व मे और नास्तित्व की नास्तित्व मे परिणति : व्याख्या—अस्तित्व का अर्थ है—जो पदार्थ जिस रूप मे विद्यमान है, उसका उसी रूप मे रहना । 'अस्तित्व अस्तित्व मे परिणत होता है,' इस सूत्र के दो आशय वृत्तिकार ने बताए हैं- (१) **प्रथम आशय**—द्रव्य एक पर्याय से दूसरे पर्याय के रूप मे परिणत होता है, तथापि पर्यायरूप द्रव्य को सद्रूप मानना । जैसे—अगुली की ऋजुतापर्याय वक्रतापर्यायरूप मे परिणत हो जाती है, तथापि ऋजुता आदि पर्यायो से अंगुलिरूप द्रव्य का अस्तित्व अभिन्न है, पृथक् नही । तात्पर्य यह है कि अगुली आदि का अगुली आदि के रूप में जो सत्त्व (अस्तित्व) है, वह उसी रूप मे—अगुली आदि का अगुली आदि रूप मे—सत्त्वरूप मे—वक्रतादि पर्यायरूप मे परिणमन होता है, अगुली मे अगुलित्व कायम रहता है, केवल

उसके वक्र, ऋजु आदि रूपान्तर होते हैं। निष्कर्ष यह है—किसी भी पदार्थ की सत्ता किसी भी प्रकार से हो, वही सत्ता दूसरे प्रकार से—पूर्वापेक्षा भिन्न प्रकार से हो जाती है। जैसे—मिट्टी रूप पदार्थ की सत्ता सर्वप्रथम एक पिण्डरूप मे होती है, वही सत्ता घटरूप मे हो जाती है। (२) **द्वितीय आशय**—जो अस्तित्व अर्थात्—सत् (विद्यमान-सत्तावाला) पदार्थ है, वह सत्रूप (अस्तित्वरूप) मे परिणत होता है। तात्पर्य यह है कि सत् पदार्थ सदैव सद्रूप ही रहता है विनष्ट नही होता—कदापि असत् (शून्यरूप) मे परिणत नही होता। जिसे विनाश कहा जाता है, वह मात्र रूपान्तर—पर्याय परिवर्तन है, 'असत् होना' या समूल नाश होना नही। जैसे—एक दीपक प्रकाशमान है, किन्तु तेल जल जाने या हवा का झौका लगने से वह बुझ जाता है। आप कहेगे कि दीपक का नाश हो गया, किन्तु वास्तव मे वह प्रकाश अपने मूलरूप मे नष्ट नही हुआ, केवल पर्याय-परिवर्तन हुआ है। प्रकाश-रूप पुद्गल अब अपनी पर्याय पलट कर अन्धकार के रूप मे परिणत हो गया है। प्रकाशावस्था और अन्धकारावस्था, इन दोनो अवस्थाओ मे दीपकरूप द्रव्य वही है। इसी का नाम है—सत् का सद्रूप मे ही रहना, क्योकि सत् धर्मीरूप है और सत्त्व धर्मरूप है, इन दोनो मे अभेद है, तभी सत् पदार्थ सत् रूप मे परिणत होता है।

वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व दोनो धर्मों की विद्यमानता—केवल अस्तित्व सम्बन्धी प्रश्न करने से सभी वस्तुएँ एक रूप हो जाती, इसलिए नास्तित्व सम्बन्धी प्रश्न भी किया गया है। जहाँ अस्तित्व है, वहा नास्तित्व अवश्य है। इस सत्य को प्रकट करने के लिए नास्तित्व सम्बन्धी प्रश्न भी आवश्यक था। कोई कह सकता है कि एक ही पदार्थ मे अस्तित्व और नास्तित्व, ये दो विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म कैसे रह सकते है? परन्तु जैनदर्शन का सिद्धात है कि पदार्थ मे अस्तित्व और नास्तित्व दोनो धर्म विभिन्न अपेक्षा से विद्यमान है, बल्कि अपेक्षाभेद के कारण इन दोनो मे विरोध नही रहकर, साहचर्य सम्बन्ध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि एक ही अपेक्षा से अस्तित्व और नास्तित्व—दोनो एक पदार्थ मे माने जाएँ तो विरोध आता है, किन्तु पृथक्-पृथक् अपेक्षाओ से दोनो को एक पदार्थ मे मानना विरुद्ध नही है। जैसे—वस्त्र मे अपने स्वरूप की अपेक्षा अस्तित्व है किन्तु पररूप की अपेक्षा से नास्तित्व है। ऐसा न मानने पर प्रतिनियत विभिन्न पदार्थों की व्यवस्था एव स्वानुभवसिद्ध पृथक्-पृथक् व्यवहार नही हो सकेगा। अत वस्तु केवल सत्तामय नही किन्तु सत्ता और असत्तामय है। यही मानना उचित है।

नास्तित्व की नास्तित्व-रूप मे परिणति : व्याख्या—इस सूत्र की एक व्याख्या यह है कि जिस वस्तु मे जिसकी जिस रूप मे नास्ति है, उसकी उसी रूप मे नास्ति रहती है। जैसे—अगुली का अगूठा आदि के रूप मे न होना, अगुली का (अगुली की अपेक्षा से) अगूठा आदि रूप मे नास्तित्व है। वह अगुष्ठादिरूप मे नास्तित्व अगुली के लिए अगूठा आदि के नास्तित्व मे परिणत होता है। सीधे शब्दो मे यो कहा जा सकता है—जो अगुली अगुष्ठादिरूप नही है, वह अगुष्ठादि नही होती। इसका यह अर्थ नही है कि अगूठे की अगूठे के रूप मे नास्ति है। जो है, वही है, अन्यरूप नही है। नास्तित्व नास्तित्वरूप मे परिणत होता है, इसके उदाहरण भी वे ही समझने चाहिए क्योकि स्वरूप से अस्तित्व ही परस्वरूप से नास्तित्व कहलाता है।

इस सूत्र की दूसरी व्याख्या इस प्रकार भी है—नास्तिक का अर्थ—अत्यन्त अभावरूप है। अत्यन्ताभावरूप नास्तित्व के उदाहरण—गधे के सीग या आकाशपुष्प आदि हैं। अतः जो अत्यन्ताभावरूप नास्तित्व है, वह (गर्दभ शृगादि) अत्यन्ताभावरूप नास्तित्व में ही रहता है, क्योकि जो वस्तु सर्वथा असत् होती है, उसका कदापि अस्तित्व (सत्रूपता) हो नही सकता। कहा भी है—'असत् सद्रूप नही होता और सत् असत्रूप नही होता।'

तीसरी व्याख्या इस प्रकार भी है—धर्मी के साथ धर्म का अभेद होता है, इसलिए अस्तित्व यानी सत् (जो सत् होता है, वह) सत्त्वरूप धर्म मे होता है। जैसे—पट पटत्व मे ही है। तथा नास्तित्व यानि असत् (जो असत् है, वह) असत्त्वरूप धर्म मे ही होता है। जैसे अपट अपटत्व में ही है।

पदार्थों के परिणमन के प्रकार—अस्तित्व का अस्तित्वरूप मे परिणमन दो प्रकार से होता है—प्रयोग से (जीव के व्यापार से) और स्वभाव से (विश्रसा)। **प्रयोग से** यथा—कुम्भार की क्रिया से मिट्टी के पिंड का घटरूप मे परिणमन। **स्वभाव से** यथा—सफेद बादल काले बादलों के रूप मे किसी की क्रिया के बिना, स्वभावत परिणत होते है। **नास्तित्व का नास्तित्वरूप में परिणमन** भी दो प्रकार से होता है—प्रयोग से और स्वभाव से। प्रयोग से यथा—घटादि की अपेक्षा से मिट्टी का पिण्ड नास्तित्व रूप है। स्वभाव से—यथा—पृच्छाकाल मे सफेद बालो मे कृष्णत्व का नास्तित्व।

गमनीयरूप प्रश्न का आशय—गमनीय का अर्थ है—प्ररूपणा करने योग्य। गमनीयरूप प्रश्न का आशय यह है कि पहले जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, वह केवल समझने के लिए है या प्ररूपणा करने योग्य भी है?

'एत्थं' और 'इहं' प्रश्नसम्बन्धी सूत्र का तात्पर्य—'एत्थ' और 'इह' सम्बन्धी प्रश्नात्मकसूत्र की तीन व्याख्याएँ वृत्तिकार ने की है—(१) 'एत्थ' का अर्थ यहाँ अर्थात्—स्वशिष्य और 'इह' का अर्थ—गृहस्थ या परपाषण्डी आदि। इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि वस्तु की प्ररूपणा आप अपने और पराये का भेद न रखकर स्व-परजनो के लिए समभाव से करते है?, (२) अथवा 'एत्थ' का अर्थ है—स्वात्मा और 'इह' का अर्थ है—परात्मा। इसका आशय है कि आपको अपने (स्वात्मा) में जैसे सुखप्रियता आदि धर्म गमनीय हैं, वैसे ही क्या परात्मा मे भी गमनीय—अभीष्ट हैं?, (३) अथवा 'एत्थ' और 'इह' दोनो समानार्थक शब्द है। दोनो का अर्थ है—प्रत्यक्षगम्य, प्रत्यक्षाधिकरणता। इसका आशय यह है—जैसे आपको अपनी सेवा मे रहे हुए ये श्रमणादि प्रत्यक्षगम्य हैं, वैसे ही क्या गृहस्थ आदि भी प्रत्यक्षगम्य हैं?

इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने दिया, उसका आशय यह है कि चाहे स्वशिष्य हो या गृहस्थादि, प्ररूपणा सबके लिए समान होती है—होनी चाहिए।[1]

कांक्षामोहनीय कर्मबन्ध के कारणों की परम्परा

८ जीवा णं भंते! कंखामोहणिज्जं कम्मं बंधति?

हंता, बंधति।

---

१ (क) भगवतीसूत्र अभय. वृत्ति. पत्रांक ५५-५६
(ख) भगवतीसूत्र (टीका-अनुवाद प. बेचरदासजी) खण्ड १, पृ. ११८ से १२० तक

[८ प्र] भगवन् ! क्या जीव कांक्षामोहनीय कर्म बाधते हैं ?
[८ उ] हाँ, गौतम ! बांधते हैं।

९. [१] कहं णं भंते ! जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं बंधति ?
गोयमा ! पमादपच्चया जोगनिमित्तं च।

[९-१ प्र] भगवन् ! जीव काक्षामोहनीय कर्म किस प्रकार बांधते हैं ?

[९-१ उ] गौतम ! प्रमाद के कारण और योग के निमित्त से (जीव काक्षामोहनीय कर्म बाधते हैं)।

[२] से णं भंते ! पमादे किंपवहे ?
गोयमा ! जोगप्पवहे।

[९-२ प्र] भगवन् ! प्रमाद किससे उत्पन्न होता है ?
[९-२ उ] गौतम ! प्रमाद, योग से उत्पन्न होता है।

[३] से ण भते ! जोगे किंपवहे ?
गोयमा ! वीरियप्पवहे।

[९-३ प्र] भगवन् ! योग किससे उत्पन्न होता है ?
[९-३ उ] गौतम ! योग, वीर्य से उत्पन्न होता है।

[४] से ण भंते ! वीरिए किंपवहे ?
गोयमा ! सरीरप्पवहे।

[९-४ प्र] भगवन् ! वीर्य किससे उत्पन्न होता है ?
[९-४ उ] गौतम ! वीर्य शरीर से उत्पन्न होता है।

[५] से णं भते ! सरीरे किंपवहे ?

गोयमा ! जीवप्पवहे। एव सति अत्थि उट्ठाणे ति वा, कम्मे ति वा, बले ति वा, वीरिए ति वा, पुरिसक्कार-परक्कमे ति वा।

[९-५ प्र] भगवन् ! शरीर किससे उत्पन्न होता है ?

[९-५ उ] गौतम ! शरीर जीव से उत्पन्न होता है। और ऐसा होने में जीव का उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम होता है।

विवेचन—कांक्षामोहनीय कर्मबन्ध के कारणो की परम्परा—प्रस्तुत दो सूत्रो मे काक्षामोहनीय कर्मबन्ध और उसके कारणो की परम्परा के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर अकित हैं।

बन्ध के कारण पूछने का आशय—यदि बिना निमित्त के ही कर्मबन्ध होने लगे तो सिद्धजीवो को भी कर्मबन्ध होने लगेगा, परन्तु होता नही है। इसलिए काक्षामोहनीय कर्मबन्ध के कारण के सम्बन्ध मे प्रश्न किया गया है।

कर्मबन्ध के कारण—यद्यपि कर्मबन्ध मे ५ मुख्य कारण बताए गए हैं, तथापि यहां प्रमाद और योग दो कारण बताने का आशय यह है कि मिथ्यात्व, अविरति और कषाय का अन्तर्भाव प्रमाद मे हो जाता है। यद्यपि सिद्धान्तानुसार छठे से आगे के गुणस्थानो मे प्रमाद नही होता, फिर भी जहा (दसवे गुणस्थान) तक कषाय है, वहाँ तक सूक्ष्म प्रमाद माना जाता है, स्थूल प्रमाद नही। इसलिए वहाँ तक प्राय· मोहनीयकर्म का बन्ध होता है। दसवे गुणस्थान मे कषाय अत्यल्प (सूक्ष्म) होने से मोहकर्म का बन्ध नही होता है। यो प्रमाद के शास्त्रोक्त आठ भेदो मे इन तीनो के अतिरिक्त और भी कई विकार प्रमाद के अन्तर्गत हैं।[1]

शरीर का कर्ता कौन—प्रस्तुत मे शरीर का कर्ता जीव को बताया गया है, किन्तु जीव का अर्थ यहाँ नामकर्मयुक्त जीव समझना चाहिए। इससे सिद्ध, ईश्वर या नियति आदि के कर्तृत्व का निराकरण हो जाता है।

उत्थान आदि का स्वरूप—ऊर्ध्व होना, खडा होना या उठना उत्थान है। जीव की चेष्टा-विशेष को कर्म कहते हैं। शारीरिक प्राण बल कहलाता है। जीव के उत्साह को वीर्य कहते है। पुरुष की स्वाभिमानपूर्वक इष्टफलसाधक क्रिया पुरुषकार है और शत्रु को पराजित करना पराक्रम है।

शरीर से वीर्य कि उत्पत्ति एक समाधान—वीर्यान्तिरायकर्म के क्षय या क्षयोपशम से वीर्य उत्पन्न होता है, और सिद्ध भगवान् इस कर्म का क्षय कर चुके है। किन्तु प्रस्तुत मे बताया गया है कि वीर्य की उत्पत्ति शरीर से होती है, ऐसी स्थिति मे सिद्ध या अलेश्यी भगवान् वीर्यरहित सिद्ध होते है, क्योकि सिद्धो के शरीर नही होता। इस शका का समाधान यह है कि वीर्य दो प्रकार के होते हैं—सकरणवीर्य और अकरणवीर्य। सिद्धो मे या अलेश्यी भगवान् मे अकरणवीर्य है, जो आत्मा का परिणामविशेष है, उसका शरीरोत्पन्न वीर्य (सकरणवीर्य) मे समावेश नही है। अत यहाँ सकरणवीर्य से तात्पर्य है।

कांक्षामोहनीय की उदीरणा, गर्हा आदि से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर

१०. [१] से णूणं भंते ! अप्पणा चेव उदीरेइ, अप्पणा चेव गरहइ, अप्पणा चेव संवरेइ ?
हंता, गोयमा ! अप्पणा चेव तं चेव उच्चारेयव्वं ३।

[१०-१ प्र] भगवन् ! क्या जीव अपने आपसे ही उस (काक्षामोहनीय कर्म) की उदीरणा करता है, अपने आप से ही उसकी गर्हा करता है और अपने आप से ही उसका सवर करता है ?

[१०-१ उ] हाँ, गौतम ! जीव अपने आप से ही उसकी उदीरणा, गर्हा और सवर करता है।

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ५६-५७

(ख) पमाओ य मुणिदेहिं भणिओ अट्ठभेयओ।
अण्णाण समओ चेव मिच्छानाण तहेव य ॥
रागदोसो मइब्भसो, धम्मम्मि य अणायरो।
जोगाण दुप्पणिहाण अट्ठहा वज्जियव्वओ ॥ —भगवती अ वृत्ति पत्राक ५७ मे उद्धृत।

(ग) 'मिथ्यादर्शनाऽविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतव'—तत्त्वार्थ अ. ८ सूत्र १

[२] जं तं भंते ! अप्पणा चेव उदीरेइ अप्पणा चेव गरहेइ, अप्पणा चेव संवरेइ तं उदिण्णं उदीरेइ १ अणुदिण्णं उदीरेइ २ अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ ३ उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं उदीरेइ ४ ?

गोयमा ! नो उदिण्णं उदीरेइ १, नो अणुदिण्णं उदीरेइ २, अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ ३, णो उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं उदीरेइ ४ ।

[१०-२ प्र] भगवन् ! वह जो अपने आप से ही उसकी उदीरणा करता है, गर्हा करता है और सवर करता है, तो क्या उदीर्ण (उदय मे आए हुए) की उदीरणा करता ?, अनुदीर्ण (उदय मे नही आए हुए) की उदीरणा करता है ?, या अनुदीर्ण उदीरणाभविक (उदय मे नही आये हुए, किन्तु उदीरणा के योग्य) कर्म की उदीरणा करता है ? अथवा उदयानन्तर पश्चात्कृत कर्म की उदीरणा करता है ?

[१०-२ उ] गौतम ! उदीर्ण की उदीरणा नही करता, अनुदीर्ण की भी उदीरणा नही करता, तथा उदयानन्तर पश्चात्कृत कर्म की भी उदीरणा नही करता, किन्तु अनुदीर्ण-उदीरणा-भविक (योग्य) कर्म की उदीरणा करता है ।

[३] जं तं भंते ! अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ तं किं उट्ठाणेणं कम्मेण बलेणं वीरिएणं पुरिसक्कारपरक्कमेणं अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ ? उदाहु तं अणुट्ठाणेण अकम्मेण अबलेणं अवीरिएणं अपुरिसक्कारपरक्कमेणं अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ ?

गोयमा ! तं उट्ठाणेण वि कम्मेण वि बलेण वि वीरिएण वि पुरिसक्कारपरक्कमेण वि अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ, णो तं अणुट्ठाणेणं अकम्मेणं अबलेणं अवीरिएणं अपुरिसक्कारपरक्कमेण अणुदिण्णं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ । एवं सति अत्थि उट्ठाणे इ वा कम्मे इ वा बले इ वा वीरिए इ वा पुरिसक्कारपरक्कमे इ वा ।

[१०-३ प्र] भगवन् ! यदि जीव अनुदीर्ण-उदीरणाभविक की उदीरणा करता है, तो क्या उत्थान से, कर्म से, बल से, वीर्य से और पुरुषकार-पराक्रम से उदीरणा करता है, अथवा अनुत्थान से, अकर्म से, और अबल से, अवीर्य से और अपुरुषकार-पराक्रम से उदीरणा करता है ?

[१०-३ उ] गौतम ! वह अनुदीर्ण-उदीरणा-भविक कर्म की उदीरणा उत्थान से, कर्म से, बल से, वीर्य से और पुरुषकार-पराक्रम से करता है, (किन्तु) अनुत्थान से, अकर्म से, अबल से, अवीर्य से और अपुरुषकार-पराक्रम से उदीरणा नही करता । अतएव उत्थान है, कर्म है, बल है, वीर्य है और पुरुषकार पराक्रम है ।

११ [१] से नूणं भंते ! अप्पणा चेव उवसामेइ, अप्पणा चेव गरहइ, अप्पणा चेव संवरेइ ?

हंता, गोयमा ! एत्थ वि तं चेव भाणियव्वं, नवरं अणुदिण्णं उवसामेइ, सेसा पडिसेहेयव्वा तिण्णि ।

[११-१ प्र] भगवन् ! क्या वह अपने आप से ही (कांक्षा-मोहनीय कर्म का) उपशम करता है, अपने आप से ही गर्हा करता है और अपने आप से ही सवर करता है ?

[११-१ उ.] हाँ, गौतम ! यहाँ भी उसी प्रकार 'पूर्ववत्' कहना चाहिए। विशेषता यह है कि अनुदीर्ण (उदय मे नही आए हुए) का उपशम करता है, शेष तीनो विकल्पो का निषेध करना चाहिए।

[२] जं त भंते ! अणुदिण्णं उवसामेइ तं किं उट्ठाणेण जाव पुरिसक्कारपरक्कमेण वा।

[११-२ प्र] भगवन् ! जीव यदि अनुदीर्ण कर्म का उपशम करता है, तो क्या उत्थान से यावत् पुरुषकार-पराक्रम से करता है या अनुत्थान से यावत् अपुरुषकार-पराक्रम से करता है ?

[११-२ उ] गौतम ! पूर्ववत् जानना—यावत् पुरुषकार-पराक्रम से उपशम करता है।

१२ से नूणं भंते ! अप्पणा चेव वेदेइ अप्पणा चेव गरहइ ?

एत्थ वि स च्चेव परिवाडी। नवरं उदिण्णं वेएइ, नो अणुदिण्णं वेएइ। एवं पुरिसक्कार-परक्कमे इ वा।

[१२-प्र] भगवन् ! क्या जीव अपने आप से ही वेदन करता है और गर्हा करता है ?

[१२-उ] गौतम ! यहाँ भी पूर्वोक्त समस्त परिपाटी पूर्ववत् समझनी चाहिए। विशेषता यह है कि उदीर्ण को वेदता है, अनुदीर्ण को नही वेदता। इसी प्रकार यावत् पुरुषकार पराक्रम से वेदता है, अनुत्थानादि से नही वेदता है।

१३. से नूणं भंते ! अप्पणा चेव निज्जरेति अप्पणा चेव गरहइ ?

एत्थ वि स च्चेव परिवाडी। नवरं उदयाणंतरपच्छाकडं कम्मं निज्जरेइ, एवं जाव परक्कमेइ वा।

[१३-प्र] भगवन् ! क्या जीव अपने आप से ही निर्जरा करता है और गर्हा करता है ?

[१३-उ.] गौतम ! यहाँ भी समस्त परिपाटी 'पूर्ववत्' समझनी चाहिए, किन्तु इतनी विशेषता है कि उदयानन्तर पश्चात्कृत कर्म की निर्जरा करता है। इसी प्रकार यावत् पुरुषकार-पराक्रम से निर्जरा और गर्हा करता है। इसलिए उत्थान यावत् पुरुषकार-पराक्रम हैं।

विवेचन—कांक्षामोहनीय कर्म की उदीरणा, गर्हा, संवर, उपशम, वेदन, निर्जरा आदि से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत चार सूत्रो मे कांक्षामोहनीय कर्म की उदीरणा आदि के सम्बन्ध मे तीन मुख्य प्रश्नोत्तर है—(१) उदीरणादि अपने आप से करता है, (२) उदीर्ण, अनुदीर्ण, अनुदीर्ण-उदीरणाभविक और उदयानन्तर पश्चात्कृत कर्म मे से अनुदीर्ण-उदीरणाभविक की अर्थात्—जो उदय मे नही आया है किन्तु उदीरणा के योग्य है उसकी उदीरणा करता है, (३) उत्थानादि पाँचों से कर्मोदीरणा करता है, अनुत्थानादि से नही। इसी के सन्दर्भ मे उपशम, संवर, वेदन, गर्हा एव निर्जरा के विषय मे पूर्ववत् तीन-तीन मुख्य प्रश्नोत्तर अंकित हैं।

उदीरणा : कुछ शंका-समाधान—(१) जीव काल आदि अन्य की सहायता से उदीरणा आदि करता है, फिर भी जीव को ही यहाँ कर्ता के रूप मे क्यो बताया गया है ? इसका समाधान यह है कि जैसे घड़ा बनाने मे कुम्हार के अतिरिक्त गधा, दण्ड, चक्र, चीवर, काल आदि सहायक होते हुए भी कुम्हार को ही प्रधान एवं स्वतन्त्र कारण होने के नाते घडे का कर्ता माना जाता है,

वैसे ही कर्म की उदीरणा आदि का प्रधान एव स्वतंत्र कर्ता जीव को ही समझना चाहिए। (२) उदीरणा के साथ गर्हा और सवरणा (सवर) को रखने का कारण यह है कि ये दोनो उदीरणा के साधन हैं। (३) कर्म की उदीरणा मे काल, स्वभाव, नियति, गुरु आदि भी कारण हैं, फिर भी जीव के उत्थान आदि पुरुषार्थ की प्रधानता होने से उदीरणा आदि मे आत्मा के पुरुषार्थ को कारण बताया गया है।

गर्हा आदि का स्वरूप—*अतीतकाल मे जो पापकर्म किया, उनके कारणों को ग्रहण (कर्मबन्ध से कारणो का विचार) करके आत्मनिन्दा करना* **गर्हा** *है। इससे पापकर्म के प्रति विरक्ति-भाव जागृत होता है। गर्हा प्रायश्चित्त की पूर्वभूमिका है, और उदीरणा मे सहायक है।* वर्तमान मे किये जाने वाले पापकर्म के स्वरूप को जानकर या उसके कारण को समझकर उस कर्म को रोकना या उसका त्याग-प्रत्याख्यान कर देना **संवर** है। उदीर्ण (उदय मे आए हुए) कर्म का **क्षय** होता है और जो उदय मे नही आए है, उनके विपाक और प्रदेश का अनुभव न होना—कर्म की ऐसी अवस्था को **उपशम** कहते हैं। शास्त्रानुसार उपशम अनुदीर्ण कर्मों का—विशेषत· मोहनीय कर्म का ही होता है, अन्य कर्मों का नही।

वेदना और गर्हा—वेदन का अर्थ है—उदय मे आए हुए कर्म-फल को भोगना। दूसरे की वेदना दूसरे को नही होती, न ही दूसरा दूसरे की वेदना को भोग सकता है। पुत्र की वेदना से माता दु खी होती है, परन्तु पुत्र को पुत्र की वेदना होती है, माता को अपनी वेदना—मोहममत्व सम्बन्ध के कारण पीडा—होती है। और यह भी सत्य है, अपनी वेदना को स्वय व्यक्ति से, समभाव से या गर्हा से भोगकर मिटा सकता है, दूसरा नही। वेदना और गर्हा दोनो पदो को साथ रखने का कारण यह है कि सकाम वेदना और सकाम निर्जरा बिना गर्हा के नही होती। अत सकाम वेदना और सकाम निर्जरा का कारण गर्हा है, वैसे सवर भी है।

कर्मसम्बन्धी चतुर्भंगी—मूल मे जो चार भग कहे है, उनमे से तीसरे भग मे उदीरणा, दूसरे भग मे उपशम, पहले भग मे वेदन और चौथे भग मे निर्जरा होती है। शेष सब बाते सब मे समान हैं।[1]

निष्कर्ष यह है कि उदय मे न आए हुए, किन्तु उदीरणा के योग्य कर्मों की उदीरणा होती है, अनुदीर्ण कर्मों का उपशम होता है, उदीर्ण कर्म का वेदन होता है, और उदयानन्तर पश्चात्कृत (उदय के बाद हटे हुए) कर्म की निर्जरा होती है।

---

१ (क) भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्रांक ५८-५९

(ख) "अणुमेत्तो वि, ण कस्सइ बधो, परवत्थुपच्चयो भणिओ।"

(ग) "मोहस्सेवोपसमो खओवसमो चउण्ह घाईण।

उदयक्खयपरिणामा अठण्ह वि होंति कम्माण॥"

(घ) "तइएण उदीरेंति, उवसामेंति य पुणो वि बीएण।

वेइति निज्जरति य पढमचउत्थेहिं सव्वेऽवि॥"

चौबीस दण्डकों तथा श्रमणों के कांक्षामोहनीयवेदन सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

१४ [१] नेरइया णं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं वेएंति ?

जहा ओहिया जीवा तहा नेरइया जाव थणितकुमारा ।

[१४-१ प्र] भगवन् ! क्या नैरयिक जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ?

[१४-१ उ.] हाँ, गौतम ! वेदन करते हैं। सामान्य (औधिक) जीवो के सम्बन्ध में जैसे आलापक कहे थे, वैसे ही नैरयिको के सम्बन्ध मे यावत् स्तनितकुमारो (दसवे भवनपति देवों) तक समझ लेने चाहिए ।

[२] पुढविक्काइया णं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ?

हंता, वेदेंति ।

[१४-२ प्र] भगवन् ? क्या पृथ्वीकायिक जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ?

[१४-२ उ] हाँ, गौतम ! वे वेदन करते है ।

[३] कहं णं भंते ! पुढविक्काइया कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ?

गोयमा ! तेसि णं जीवाणं णो एवं तक्का इ वा सण्णा इ वा पण्णा इ वा मणे इ वा वई ति वा 'अम्हे णं कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेमो' वेदेंति पुण ते ।

[१४-३ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव किस प्रकार कांक्षामोहनीयकर्म का वेदन करते है ?

[१४-३ उ.] गौतम ! उन जीवो को ऐसा तर्क, सज्ञा, प्रज्ञा, मन अथवा वचन नही होता कि 'हम कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते है', किन्तु वे उसका वेदन अवश्य करते हैं ।

[४] से णूणं भंते ! तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेदियं ।

सेसं तं चेव जाव पुरिसक्कार-परक्कमेण ति वा ।

[१४-४ प्र] भगवन् ! क्या वही सत्य और नि.शक है, जो जिन-भगवन्तो द्वारा प्ररूपित है ?

[१४-४ उ] हाँ, गौतम ! यह सब पहले के समान जानना चाहिए—अर्थात्—जिनेन्द्रो द्वारा जो प्ररूपित है, वही सत्य और नि शक (असदिग्ध) है, यावत्—पुरुषकार-पराक्रम से निर्जरा होती है।

[५] एवं जाव चउरिंदिया ।

[१४-५] इसी प्रकार चतुरिन्द्रियजीवो तक जानना चाहिए ।

[६] पंचिदियतिरिक्खजोणिया जाव वेमाणिया जहा ओहिया जीवा ।

[१४-६] जैसे सामान्य जीवो के विषय मे कहा है, वैसे ही पंचेन्द्रिय—तिर्यञ्चयोनिक जीवों से लेकर यावत् वैमानिक तक कहना चाहिए ।

१५. [१] अत्थि णं भंते ! समणा वि निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ?

हंता, अत्थि ।

[१५-१ प्र.] भगवन् ! क्या श्रमणनिर्ग्रन्थ भी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते है ?

[१५-१ उ.] हाँ, गौतम ! वे भी वेदन करते है।

[२] कह णं भंते ! समणा वि निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ?

गोयमा ! तेहिं तेहिं नाणंतरेहिं दंसणंतरेहिं चरित्तंतरेहिं लिंगंतरेहिं पवयणंतरेहिं पावयणंतरेहिं कप्पंतरेहिं मग्गंतरेहिं मतंतरेहिं भंगंतरेहिं नयंतरेहिं नियमंतरेहिं पमाणंतरेहिं संकिया कंखिया वितिकिंछिता भेदसमावन्ना, कलुससमावन्ना, एवं खलु समणा निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति।

[१५-२ प्र.] भगवन् ! श्रमणनिर्ग्रन्थ कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन किस प्रकार करते हैं ?

[१५-२ उ.] गौतम ! उन-उन कारणो से ज्ञानान्तर, दर्शनान्तर, चारित्रान्तर, लिंगान्तर, प्रवचनान्तर, प्रावचनिकान्तर कल्पान्तर, मार्गान्तर, मतान्तर, भंगान्तर, नयान्तर, नियमान्तर और प्रमाणान्तरो के द्वारा शंकित, कांक्षित, विचिकित्सित, भेदसमापन्न और कलुषसमापन्न होकर श्रमण-निर्ग्रन्थ भी कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन करते है।

[३] से नूणं भंते ! तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं ?

हंता, गोयमा ! तमेव सच्चं नीसंकं जाव पुरिसक्कारपरक्कमे इ वा।

सेवं भंते ! सेवं भंते !०।

॥ तइओ उद्देसओ सम्मत्तो १-३ ॥

[१५-३ प्र.] भगवन् ! क्या वही सत्य और निःशंक है, जो जिन भगवन्तो ने प्ररूपित किया है ?

[१५-३ उ.] हाँ, गौतम ! वही सत्य है, निःशंक है, जो जिन भगवन्तो द्वारा प्ररूपित है, यावत् पुरुषकार-पराक्रम से निर्जरा होती है, (तक सारे आलापक समझ लेने चाहिए।)

गौतम—हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है ! भगवन् ! यही सत्य है !

विवेचन—चौबीस दण्डकों तथा श्रमणनिर्ग्रन्थो में कांक्षामोहनीय कर्मवेदन सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत दो सूत्र मे से प्रथम सूत्र मे चौबीस दण्डक के जीवो के ६ अवान्तर प्रश्नोत्तरो द्वारा तथा श्रमणनिर्ग्रन्थो के कांक्षामोहनीय कर्म के वेदन से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर प्रस्तुत किये गए हैं।

पृथ्वीकाय कर्मवेदन कैसे करते हैं ?—जिन्हे मनोलब्धि प्राप्त नही, जो भले-बुरे की पहिचान नही कर पाते वे पृथ्वीकायिक जीव कांक्षामोहनीय कर्म का वेदन कैसे करते है ? इस आशय से श्री गौतमस्वामी द्वारा पूछा गया है।

तर्क आदि का स्वरूप—'यह इस प्रकार होगा', इस प्रकार के विचार-विमर्श या ऊहापोह को **तर्क** कहते हैं। **संज्ञा** का अर्थ है—अर्थावग्रहरूप ज्ञान। **प्रज्ञा** का अर्थ है—नई-नई स्फुरणा वाला विशिष्ट ज्ञान या बुद्धि। स्मरणादिरूप मतिज्ञान के भेद को **मन** कहते है। अपने अभिप्राय को शब्दो द्वारा व्यक्त करना **वचन** कहलाता है।

शेष दण्डकों में कांक्षामोहनीय कर्मवेदन—पृथ्वीकाय की तरह अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तक ऐसा ही वर्णन जानना चाहिए। तिर्यञ्च-पचेन्द्रिय से वैमानिक तक समुच्चयजीव के वर्णन की तरह समझना चाहिए।

श्रमण-निर्ग्रन्थ को भी कांक्षामोहनीयकर्म-वेदन—श्रमणनिर्ग्रन्थों की बुद्धि आगमो के परिशीलन से शुद्ध हो जाती है, फिर उन्हे काक्षामोहनीय कर्म का वेदन कैसे हो सकता है ? इस आशय से गौतम स्वामी का प्रश्न है।

ज्ञानान्तर—एक ज्ञान से दूसरा ज्ञान। यथा पाच ज्ञान क्यो कहे गये ? अवधि और मन पर्याय ये दो ज्ञान पृथक क्यो ? दोनो रूपी पदार्थों को जानते है, दोनो विकल एव अतीन्द्रिय हैं, क्षयोपशमिक हैं। फिर भेद का क्या कारण है ? इस प्रकार का सन्देह होना। यद्यपि विषय, क्षेत्र, स्वामी आदि अनेक अपेक्षाओ से दोनो ज्ञानो मे अन्तर है, उसे न समझ कर शका करने से और शका-निवारण न होने से काक्षा, विचिकित्सा और कलुषता आदि आती है।

दर्शनान्तर—सामान्य बोध, दर्शन है। यह इन्द्रिय और मन से होता है। फिर चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन, इस प्रकार से दो भेद न करके या तो इन्द्रियदर्शन और मनोदर्शन, यो दो भेद करने थे, या इन्द्रियजन्य और अनिन्द्रियजन्य, यो दो भेद करने थे, अथवा श्रोत्रदर्शन, रसनादर्शन, मनोदर्शन आदि ६ भेद करने चाहिए थे। किन्तु चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन, ये दो भेद करने के दो मुख्य कारण हैं—(१) चक्षुदर्शन विशेष रूप से कथन करने के लिए और अचक्षुदर्शन सामान्य रूप से कथन के लिए है। (२) चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी है, शेष चार इन्द्रियां प्राप्यकारी है। मन अप्राप्यकारी होते हुए भी सभी इन्द्रियो के साथ रहता है। इस प्रकार का समाधान न होने से शंकादि दोषो से ग्रस्त हो जाता है।

अथवा 'दर्शन' का अर्थ सम्यक्त्व है। उसके विषय मे शका पैदा होना। जैसे—औपशमिक और क्षायोपशमिक दोनो सम्यक्त्वो का लक्षण लगभग एक-सा है, फिर दोनो को पृथक्-पृथक् बताने का क्या कारण है ? ऐसी शका का समाधान न होने पर काक्षामोहनीयकर्म का वेदन करते है। इसका समाधान यह है कि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे प्रदेशानुभव की अपेक्षा उदय होता है, जबकि औपशमिक सम्यक्त्व मे प्रदेशानुभव हो नही होता। इस कारण दोनो को पृथक्-पृथक् कहा गया है।

चारित्रान्तर—चारित्र विषयक शंका होना। जैसे—सामायिक चारित्र सर्वसावद्यविरति रूप है और महाव्रतरूप होने से छेदोपस्थापनिक चारित्र भी अवद्यविरति रूप है, फिर दोनो पृथक्-पृथक् क्यो कहे गए है ? इस प्रकार की चारित्रविषयक शका भी काक्षामोहनीय कर्मवेदन का कारण बनती है। समाधान यह है कि चारित्र के ये दो प्रकार न किये जाए तो केवल सामायिक चारित्र ग्रहण करने वाले साधु के मन मे जरा-सी भूल करते ही ग्लानि पैदा होती कि मै चारित्रभ्रष्ट हो गया ! क्योकि उनकी दृष्टि से केवल सामायिक ही चारित्ररूप है। इसलिए प्रथम सामायिक चारित्र ग्रहण करने के बाद दूसरी बार महाव्रतारोपण रूप छेदोपस्थापनीय चारित्र ग्रहण करने पर सामायिक सम्बन्धी थोडी भूल हो जाए तो भी उसके महाव्रत खण्डित नही होते। इसीलिए दोनो चारित्रो के ग्रहण करने का विधान प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरो के क्रमश ऋजुजड और वक्रजड साधुओ के लिए अनिवार्य बताया गया है।

लिंगान्तर—लिंग = वेष के विषय मे शका उत्पन्न होना कि बीच के २२ तीर्थंकरो के साधुओ के लिए तो वस्त्र के रग और परिणाम का कोई नियम नही है, फिर प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के साधुओ के लिए श्वेत एव प्रमाणोपेत वस्त्र रखने का नियम क्यो ? इस प्रकार की वेश (लिंग) सम्बन्धी शका से काक्षामोहकर्म वेदन होता है।

प्रवचनान्तर—प्रवचनविषयक शका, जैसे—प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरो ने पाच महाव्रतो का और बीच के २२ तीर्थंकरो ने चार महाव्रतो का प्रतिपादन किया, तीर्थंकरो मे यह प्रवचन (वचन) भेद क्यो ? इस प्रकार की शका होना भी काक्षामोहकर्मवेदन का कारण है।

प्रावचनिकान्तर—प्रावचनिक का अर्थ है—प्रवचनो का ज्ञाता या अध्येता, बहुश्रुत साधक। दो प्रावचनिको के आचरण मे भेद देखकर शका उत्पन्न होना भी काक्षामोहवेदन का कारण है।

कल्पान्तर—जिनकल्प, स्थविरकल्प आदि कल्पो के मुनियो का आचार-भेद देखकर शका करना कि यदि जिनकल्प कर्मक्षय का कारण हो तो स्थविरकल्प का उपदेश क्यो ? यह भी काक्षामोहवेदन का कारण है।

मार्गान्तर—मार्ग का अर्थ है—परम्परागत समाचारी पद्धति। भिन्न समाचारी देखकर शका करना कि यह ठीक है या वह ? ऐसी शका भी काक्षा मोह वेदन का कारण है।

मतान्तर—भिन्न-भिन्न आचार्यों के विभिन्न मतो को देखकर शका करना।

भगान्तर—द्रव्यादि सयोग से होने वाले भगो को देखकर शका उत्पन्न होना।

नयान्तर—एक ही वस्तु मे विभिन्न नयो की अपेक्षा से दो विरुद्ध धर्मों का कथन देखकर शका होना।

नियमान्तर—साधुजीवन मे सर्वसावद्य का प्रत्याख्यान होता ही है, फिर विभिन्न नियम क्यो, इस प्रकार शकाग्रस्त होना।

प्रमाणान्तर—आगमप्रमाण के विषय मे शका होना। जैसे—सूर्य पृथ्वी मे से निकलता दीखता है परन्तु आगम मे कहा है कि पृथ्वी से ८०० योजन ऊपर सचार करता है, आदि।[1]

॥ प्रथम शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

१ भगवतीसूत्र, अ वृत्ति, पत्राक ६० से ६२ तक

चउत्थो उद्देसओ : पगई

चतुर्थ उद्देशक : (कर्म-) प्रकृति

१. कति णं भंते ! कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! अट्ठ कम्मपगडीओ पण्णत्ताओ । कम्मपगडीए पढमो उद्देसो नेतव्वो जाव अणुभागो सम्मत्तो ।

गाहा— **कति पगडी ?१ कह बंधइ ?२ कतिहि व ठाणेहि बंधती पगडी ?३ ।**
कति वेदेति व पगडी ?४ अणुभागो कतिविहो कस्स ?५ ॥ १ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! कर्म-प्रकृतियाँ कितनी कही गई हैं ?

[१ उ.] गौतम ! कर्मप्रकृतियाँ आठ कही गई है । यहाँ (प्रज्ञापनासूत्र के) 'कर्मप्रकृति' नामक तेईसवे पद का प्रथम उद्देशक (यावत्) अनुभाग तक सम्पूर्ण जान लेना चाहिए ।

गाथार्थ—कितनी कर्मप्रकृतियाँ हैं ? जीव किस प्रकार कर्म बाधता है ? कितने स्थानो से कर्मप्रकृतियो को बाधता है ? कितनी प्रकृतियो का वेदन करता है ? किस प्रकृति का कितने प्रकार का अनुभाग (रस) है ?

विवेचन- कर्मप्रकृतियों से सम्बन्धित निर्देश—प्रस्तुत सूत्र मे प्रज्ञापनासूत्र का सदर्भ देकर कर्मप्रकृति सम्बन्धी समस्त तत्त्वज्ञान का निर्देश कर दिया है ।

कर्म और आत्मा का सम्बन्ध—निम्नोक्त शकाओ के परिप्रेक्ष्य मे कर्मसम्बन्धी प्रश्न श्री गौतम स्वामी ने उठाए हैं—(१) कर्म आत्मा को किस प्रकार लगते है ? क्योकि जड कर्मों को कुछ ज्ञान नही होता, वे स्वयं आत्मा को लग नही सकते, (२) कर्म रूपी है, आत्मा अरूपी । अरूपी के साथ रूपी का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ?

यद्यपि प्रत्येक बधने वाले कर्म की आदि है, किन्तु प्रवाहरूप मे कर्मबन्ध अनादिकालीन है । अत यह कहा जा सकता है कि अनादिकाल से कर्म आत्मा के साथ लगे हुए हैं । कर्म भले जड हैं किन्तु जीव के रागादि विभावो के कारण उनका आत्मा के साथ बंध होती है । उन कर्मों के सयोग से आत्मा अनादिकाल से ही, स्वभाव से अमूर्त्तिक होते हुए भी मूर्त्तिक हो रहा है । वास्तव मे, ससारी आत्मा रूपी है उसी को कर्म लगते है । इसलिए आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अरूपी और रूपी का सम्बन्ध नही है, वरन् रूपी का रूपी के साथ सम्बन्ध है । इस दृष्टि से ससारी आत्मा कर्मों का कर्ता है, उसके किये बिना कर्म नही लगते । यद्यपि कोई भी एक कर्म अनादिकालीन नही है और न अनन्तकाल तक आत्मा के साथ रह सकता है । ८ मूल कर्मप्रकृतियो का बध प्रवाहत अनादिकाल से होता आ रहा है । राग-द्वेष दो स्थानो से कर्म-बन्ध होने के साथ-साथ वेदन आदि भी होता है, अनुभागबन्ध भी । यह सब विवरण प्रज्ञापनासूत्र से जान लेना चाहिए ।[1]

---

१. भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्रांक ६३

उदीर्ण—उपशान्तमोह जीव के सम्बन्ध में उपस्थान-उपक्रमणादि प्ररूपणा

२. [१] जीवे णं भंते ! मोहणिज्जेणं कडेणं कम्मेणं उदिण्णेणं उवट्ठाएज्जा ?

हंता, उवट्ठाएज्जा ।

[२-१ प्र.] भगवन् ! (पूर्व-) कृत मोहनीय कर्म जब उदीर्ण (उदय मे आया) हो, तब जीव उपस्थान-परलोक की क्रिया के लिए उद्यम करता है ?

[२-१ उ] हाँ गौतम ! वह उपस्थान करता है।

[२] से भंते ! किं वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ? अवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ?

गोयमा ! वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, नो अवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ।

[२-२ प्र] भगवन् ! क्या जीव वीर्यता—सवीर्य होकर उपस्थान करता है या अवीर्यता से ?

[२-२ उ] गौतम ! जीव वीर्यता से उपस्थान करता है, अवीर्यता से नही करता ।

[३] जवि वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा किं बालवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ? पंडितवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ? बाल-पंडितवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ?

गोयमा ! बालवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, णो पंडितवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, नो बाल-पंडित-वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा ।

[२-३ प्र] भगवन् ! यदि जीव वीर्यता से उपस्थान करता है, तो क्या बालवीर्य से करता है, अथवा पण्डितवीर्य से या बाल-पण्डितवीर्य से करता है ?

[२-३ उ] गौतम ! वह बालवीर्य से उपस्थान करता है, किन्तु पण्डितवीर्य से या बाल-पण्डितवीर्य से उपस्थान नही करता ।

३ [१] जीवे णं भंते ! मोहणिज्जेणं कडेणं कम्मेणं उदिण्णेणं अवक्कमेज्जा ?

हंता, अवक्कमेज्जा ।

[३-१ प्र] भगवन् ! (पूर्व-) कृत (उपार्जित) मोहनीय कर्म जब उदय मे आया हो, तब क्या जीव अपक्रमण (पतन) करता है, अर्थात्—उत्तम गुणस्थान से हीन गुणस्थान मे जाता है ?

[३-१ उ] हाँ, गौतम ! अपक्रमण करता है ।

[२] से भंते ! जाव बालपंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा ३ ?

गोयमा ! बालवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा, नो पंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा, सिय बाल-पंडियवीरियत्ताए अवक्कमेज्जा ।

[३-२ प्र] भगवन् ! वह बालवीर्य से अपक्रमण करता है, अथवा पण्डितवीर्य से या बाल-पण्डितवीर्य से ?

[३-२ उ] गौतम ! वह बालवीर्य से अपक्रमण करता है, पण्डितवीर्य से नही करता, कदा-चित् बालपण्डितवीर्य से अपक्रमण करता है ।

४ जहा उदिण्णेणं दो आलावगा तहा उवसंतेण वि दो आलावगा भाणियव्वा । नवरं उवट्ठाएज्जा पंडितवीरियत्ताए, अवक्कमेज्जा बाल-पंडितवीरियत्ताए ।

[४] जैसे उदीर्ण (उदय में आए हुए) पद के साथ दो आलापक कहे गए हैं, वैसे ही 'उपशान्त' पद के साथ दो आलापक कहने चाहिए। विशेषता यह है कि यहाँ जीव पण्डितवीर्य से उपस्थान करता है और अपक्रमण करता है—बालपण्डितवीर्य से।

५. [१] से भंते ! किं आताए अवक्कमइ ? अणाताए अवक्कमइ ?

गोयमा ! आताए अवक्कमइ, णो अणाताए अवक्कमइ।

[५-१ प्र] भगवन् ! क्या जीव आत्मा (स्व) से अपक्रमण करता है अथवा अनात्मा (पर) से करता है ?

[५-१ उ] गौतम ! आत्मा से अपक्रमण करता है, अनात्मा से नही करता।

[२] मोहणिज्जं कम्मं वेदेमाणे से कहमेयं भंते ! एवं ?

गोयमा ! पुव्विं से एतं एवं रोयति इयाणिं से एयं एवं नो रोयइ, एवं खलु एतं एवं।

[५-२ प्र] भगवन् ! मोहनीय कर्म को वेदता हुआ यह (जीव) इस प्रकार क्यो होता है अर्थात् क्यो अपक्रमण करता है ?

[५-२ उ] गौतम ! पहले उसे इस प्रकार (जिनेन्द्र द्वारा कथित तत्त्व) रुचता है और अब उसे इस प्रकार नही रुचता, इस कारण यह अपक्रमण करता है।

विवेचन—उदीर्ण-उपशान्त मोहनीय जीव के सम्बन्ध में उपस्थान-अपक्रमणादि प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रो मे विशेषरूप से मोहनीय कर्म के उदय तथा उपशम के समय जीव की परलोक साधन के लिए की जाने वाली (उपस्थान) क्रिया तथा अपक्रमण क्रिया के सम्बन्ध मे संकलित प्रश्नोत्तर हैं।

मोहनीय का प्रासंगिक अर्थ—यहाँ मोहनीय कर्म का अर्थ साधारण मोहनीय नही, अपितु 'मिथ्यात्वमोहनीय कर्म' विवक्षित है। श्री गौतमस्वामी का यह प्रश्न पूछने का आशय यह है कि कई अज्ञानी भी परलोक के लिए बहुत उग्र एवं कठोर क्रिया करते हैं अत क्या वे मिथ्यात्व का उदय होने पर भी परलोक साधन के लिए क्रिया करते हैं या मिथ्यात्व के अनुदय से ? भगवान् का उत्तर स्पष्ट है कि मिथ्यात्व मोहनीय का उदय होने पर भी जीव परलोक सम्बन्धी क्रिया करते हैं।

वीरियत्ताए—वीर्य (पराक्रम) का योग होने से प्राणी भी वीर्य कहलाता है। वीर्यता का आशय है वीर्ययुक्त होकर या वीर्यवान् होने से। और उसी वीर्यता के द्वारा वह परलोक साधन की क्रिया करता है। इससे स्पष्ट है कि उस क्रिया का कर्त्ता जीव ही है, कर्म नही। अगर जीव को क्रिया का कर्त्ता न माना जाए तो उसका फल किसे मिलेगा ?

त्रिविध वीर्य—बालवीर्य, पण्डितवीर्य और बालपण्डितवीर्य। जिस जीव को अर्थ का सम्यक् बोध न हो और सद्बोध के फलस्वरूप विरति न हो, यानी जो मिथ्यादृष्टि एव अज्ञानी हो, वह बाल है, उसका वीर्य **बालवीर्य** है। जो जीव सर्वपापो का त्यागी हो, जिसमें विरति हो, जो क्रियानिष्ठ हो, वह पण्डित है, उसका वीर्य **पण्डितवीर्य** है। जिन त्याज्य कार्यों को मोहकर्म के उदय से त्याग नही सका, किन्तु त्यागने योग्य समझता है—स्वीकार करता है, वह बालपण्डित है। जैसे—

उसका हिंसा को त्याज्य मानना पण्डितपन है, किन्तु आचरण से उसे न छोड़ना बालपन है जो आंशिक रूप से पाप से हट जाता है वह भी बालपण्डित है, उसका वीर्य बालपण्डितवीर्य कहलाता है।

उपस्थान क्रिया और अपक्रमण क्रिया—मिथ्यात्वमोहनीय का उदय होने पर जीव के द्वारा उपस्थान क्रिया बालवीर्य द्वारा ही होती है। उपस्थान की विपक्षी क्रिया—अपक्रमण है। अपक्रमण क्रिया का अर्थ है—उच्चगुणस्थान से नीचे गुणस्थान को प्राप्त करना। अपक्रमण क्रिया भी बालवीर्य द्वारा होती है। इसका तात्पर्य यह है कि जब जीव के मिथ्यात्व का उदय हो, तब वह सम्यक्त्व से, सयम (सर्वविरति) से, या देशविरति (संयम) से वापस मिथ्यादृष्टि बन जाता है। पण्डितवीर्यत्व से वह अपक्रमण नही करता, (वापस लौटता नही), कदाचित् चारित्रमोहनीय का उदय हो तो सर्वविरति (सयम) से पतित होकर बालपण्डितवीर्य द्वारा देशविरति श्रावक हो जाता है। वाचनान्तर के अनुसार प्रस्तुत मे 'न तो पण्डितवीर्य द्वारा अपक्रमण होता है, और न ही बालपण्डितवीर्य द्वारा', क्योकि जहाँ मिथ्यात्व का उदय हो, वहाँ केवल बालवीर्य द्वारा ही अपक्रमण होता है। निष्कर्ष यह है कि मिथ्यात्व मोहकर्मवश जीव अपने ही पुरुषार्थ से गिरता है।

मोहनीय की उदीर्ण अवस्था से उपशान्त अवस्था बिलकुल विपरीत है। इसके होने पर जीव पण्डितवीर्य द्वारा उपस्थान करता है। वाचनान्तर के अनुसार वृद्ध आचार्य कहते है—'मोह का उपशम होने पर जीव मिथ्यादृष्टि नही होता साधु या श्रावक होता है।' उपशान्तमोहवाला जीव जब अपक्रमण करता है, तब बालपण्डितवीर्यता मे आता है, बालवीर्यता मे नही, क्योकि मोहनीय कर्म उपशान्त होना है, तब जीव बालपण्डितवीर्यता द्वारा सयत अवस्था से पीछे हटकर देशसयत हो जाता है, परन्तु मिथ्यादृष्टि नही होता। यह अपक्रमण भी स्वय (आत्मा) द्वारा होता है, दूसरे के द्वारा नही।

मोहनीय कर्म वेदते हुए भी अपक्रमण क्यो ?—इस प्रश्न के उत्तर का आशय यह है कि अपक्रमण होने से पूर्व यह जीव, जीवादि नौ तत्त्वो पर श्रद्धा रखता था, धर्म का मूल—अहिंसा मानता था, 'जिनेन्द्र प्रभु ने जैसा कहा है, वही सत्य है' इस प्रकार धर्म के प्रति पहले उसे रुचि थी, लेकिन अब मिथ्यात्वमोहनीय के वेदनवश श्रद्धा विपरीत हो जाने से अर्हन्त प्ररूपित धर्म तथा पहले रुचिकर लगने वाली बाते अब रुचिकर नही लगती। तब सम्यग्दृष्टि था, अब मिथ्यादृष्टि है। साराश यह है कि मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का बन्ध, धर्म आदि पर अरुचि-अश्रद्धा रखने से होता है।[1]

कृतकर्म भोग बिना मोक्ष नहीं

६. से नूणं भंते ! नेरइयस्स वा, तिरिक्खजोणियस्स वा, मणूसस्स वा, देवस्स वा जे कडे पावे कम्मे, नत्थि णं तस्स अवेदइत्ता मोक्खो ?

हंता, गोयमा ! नेरइयस्स वा, तिरिक्खजोणियस्स वा, मणुसस्स वा, देवस्स वा जे कडे पाव कम्मे, नत्थि णं तस्स अवेदइत्ता मोक्खो। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति नेरइयस्स वा जाव मोक्खो ?

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ६३, ६४

एवं खलु मए गोयमा ! दुविहे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—पदेसकम्मे य, अणुभागकम्मे य। तत्थ णं जं तं पदेसकम्मं तं नियमा वेदेति, तत्थ णं जं तं अणुभागकम्मं तं अत्थेगइयं वेदेति, अत्थेगइयं नो वेएइ। णायमेतं अरहता, सुतमेतं अरहता, विण्णायमेतं अरहता—"इमं कम्मं अयं जीवे अब्भोवगमियाए वेदणाए वेइस्सइ, इमं कम्मं अयं जीवे उवक्कमियाए वेदणाए वेइस्सइ। अहाकम्मं अधानिकरणं जहा जहा तं भगवता दिट्ठं तहा तहा तं विप्परिणमिस्सतीति। से तेणट्ठेणं गोयमा ! नेरइयस्स वा ४ जाव मोक्खो।

[६ प्र] भगवन् ! नारक, तिर्यञ्चयोनिक, मनुष्य या देव ने जो पापकर्म किये हैं, उन्हे भोगे (वेदे) बिना क्या मोक्ष (छुटकारा) नही होता ?

[६ उ] हाँ गौतम ! नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ने जो पापकर्म किये हैं, उन्हे भोगे बिना मोक्ष नही होता।

[प्र] भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं कि नारक यावत् देव को कृतकर्म भोगे बिना मोक्ष नही होता ?

[उ] गौतम ! मैंने कर्म के दो भेद बताए है। वे इस प्रकार हैं—प्रदेशकर्म और अनुभागकर्म। इनमे जो प्रदेशकर्म है, वह अवश्य (नियम से) भोगना पडता है, और इनमे जो अनुभागकर्म है, वह कुछ वेदा (भोगा) जाता है, कुछ नही वेदा जाता। यह बात अर्हन्त द्वारा ज्ञात है, स्मृत (अनुचिन्तित या प्रतिपादित) है, और विज्ञात है, कि यह जीव इस कर्म को आभ्युपगमिक वेदना से वेदेगा और यह जीव इस कर्म को औपक्रमिक वेदना से वेदेगा। बाँधे हुए कर्मों के अनुसार, निकरणो के अनुसार जैसा-जैसा भगवान् ने देखा है, वैसा-वैसा वह विपरिणाम पाएगा। इसलिए गौतम ! इस कारण से मैं ऐसा कहता हूँ कि—यावत् किये हुए कर्मों को भोगे बिना नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य या देव का मोक्ष—छुटकारा नही है।

विवेचन—कृतकर्म भोगे बिना छुटकारा नहीं—प्रस्तुत सूत्र मे कृतकर्मफल को अवश्य भोगना पडता है, इसी सिद्धान्त का विशद निरूपण किया गया है।

प्रदेशकर्म—जीव के प्रदेशो मे ओतप्रोत हुए—दूध-पानी की तरह एकमेक हुए कर्मपुद्गल। प्रदेशकर्म निश्चय ही भोगे जाते है। विपाक अर्थात् अनुभव न होने पर भी प्रदेशकर्म का भोग अवश्य होता है।

अनुभागकर्म—उन प्रदेशकर्मों का अनुभव मे आने वाला रस। अनुभागकर्म कोई वेदा जाता है, और कोई नही वेदा जाता। उदाहरणार्थ—जब आत्मा मिथ्यात्व का क्षयोपशम करता है, तब प्रदेश से तो वेदता है, किन्तु अनुभाग से नही वेदता। यही बात अन्य कर्मों के विषय मे समझनी चाहिए।

चारो गति के जीव कृतकर्म को अवश्य भोगते हैं, परन्तु किसी कर्म को विपाक से भोगते है और किसी को प्रदेश से भोगते है।

आभ्युपगमिकी वेदना का अर्थ—स्वेच्छापूर्वक, ज्ञानपूर्वक, कर्मफल भोगना है। दीक्षा लेकर ब्रह्मचर्य पालन करना, भूमिशयन करना, केशलोच करना, बाईस परिषह सहना, तथा विविध प्रकार का तप करना इत्यादि वेदना जो ज्ञानपूर्वक स्वीकार की जाती है, वह भी आभ्युपगमिकी वेदना कहलाती है।

औपक्रमिकी वेदना का अर्थ है—जो कर्म अपना अबाधाकाल पूर्ण होने पर स्वय ही उदय में आए हैं, अथवा उदीरणा द्वारा उदय मे लाए गए हैं, उन कर्मों का फल अज्ञानपूर्वक या अनिच्छा से भोगना।

यथाकर्म, यथानिकरण का अर्थ—यथाकर्म यानी जो कर्म जिस रूप मे बाधा है, उसी रूप से, और यथानिकरण यानी विपरिणाम के कारणभूत देश, काल आदि करणो की मर्यादा का उल्लघन न करके।

पापकर्म का आशय—प्रस्तुत मे पापकर्म का आशय है—सभी प्रकार के कर्म। यो तो पापकर्म का अर्थ अशुभकर्म होता है, इस दृष्टि से जो मुक्ति मे व्याघात रूप हैं, वे समस्त कर्ममात्र ही अशुभ हैं, दुष्ट हैं, पाप हैं। क्योकि कर्ममात्र को भोगे बिना छुटकारा नही है।[1]

पुद्गल स्कन्ध और जीव के सम्बन्ध में त्रिकाल शाश्वत प्ररूपणा

७ एस णं भंते ! पोग्गले तीतमणंतं सासयं समयं 'भुवि' इति वत्तव्वं सिया ?

हंता, गोयमा ! एस णं पोग्गले तीतमणंतं सासयं समयं 'भुवि' इति वत्तव्वं सिया।

[७. प्र] भगवन् ! क्या यह पुद्गल—परमाणु अतीत, अनन्त (परिमाणरहित), शाश्वत (सदा रहने वाला) काल में था—ऐसा कहा जा सकता है ?

[७ उ] हाँ, गौतम ! यह पुद्गल अतीत, अनन्त, शाश्वतकाल मे था, ऐसा कहा जा सकता है।

८. एस ण भंते ! पोग्गले पडुप्पन्न सासय समय 'भवति' इति वत्तव्वं सिया ?

हता, गोयमा ! तं चेव उच्चारेतव्व।

[८ प्र] भगवन् ! क्या यह पुद्गल वर्त्तमान शाश्वत—सदा रहने वाले काल मे है, ऐसा कहा जा सकता है ?

[८ उ] हाँ, गौतम ! ऐसा कहा जा सकता है। (पहले उत्तर के समान उच्चारण करना चाहिए।)

९. एस णं भंते ! पोग्गले अणागतमणंतं सासत समयं 'भविस्सति' इति वत्तव्वं सिया ?

हंता, गोयमा ! तं चेव उच्चारेतव्वं।

[९ प्र] हे भगवन् ! क्या यह पुद्गल अनन्त और शाश्वत भविष्यकाल मे रहेगा, ऐसा कहा जा सकता है ?

[९ उ] हाँ, गौतम ! ऐसा कहा जा सकता है। (उसी पहले उत्तर के समान उच्चारण करना चाहिए)।

१०. एवं खंधेण वि तिण्णि आलावगा।

[१०] इसी प्रकार के 'स्कन्ध' के साथ भी तीन (त्रिकाल सम्बन्धी) आलापक कहने चाहिए।

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति पत्राक ६५

११. एवं जीवेण वि तिण्णि आलावगा भाणितव्वा।

[११] इसी प्रकार 'जीव' के साथ भी तीन आलापक कहने चाहिए।

विवेचन—पुद्गल, स्कन्ध और जीव के विषय मे त्रिकाल शाश्वत आदि प्ररूपणा—प्रस्तुत पाँच सूत्रो मे पुद्गल अर्थात् परमाणु, स्कन्ध और जीव के भूत, वर्तमान और भविष्य मे सदैव होने की प्ररूपणा की गई है।

वर्तमानकाल को शाश्वत कहने का कारण—वर्तमान प्रतिक्षण भूतकाल में परिणत हो रहा है और भविष्य प्रतिक्षण वर्तमान बनता जा रहा है, फिर भी सामान्य रूप से, एक समय रूप मे, वर्तमानकाल सदैव विद्यमान रहता है। इस दृष्टि से उसे शाश्वत कहा है।

पुद्गल का प्रासंगिक अर्थ—यहाँ पुद्गल का अर्थ 'परमाणु' किया गया है। यों तो पुद्गल ४ प्रकार के होते हैं—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु। किन्तु यहाँ केवल परमाणु ही विवक्षित है क्योंकि स्कन्ध के विषय मे आगे अलग से प्रश्न किया गया है।

छद्मस्थ मनुष्य की मुक्ति से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर

१२ छउमत्थे णं भंते! मणूसे तीतमणंतं सासतं समयं केवलेणं संजमेणं, केवलेणं संवरेणं, केवलेणं बंभचेरवासेणं, केवलाहिं पवयणमाताहिं सिज्झिसु बुज्झिसु जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु?

गोतमा! नो इणट्ठे समट्ठे।

से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ तं चेव जाव अंतं करेंसु?

गोतमा! जे केइ अंतकरा वा, अंतिमसरीरिया वा सव्वदुक्खाणमंतं करेंसु वा करेंति वा करिस्संति वा सव्वे ते उप्पन्ननाण-दंसणधरा अरहा जिणे केवली भवित्ता ततो पच्छा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंसु वा करेंति वा करिस्संति वा, से तेणट्ठेणं गोतमा! जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेंसु।

[१२ प्र.] भगवन्! क्या बीते हुए अनन्त शाश्वत काल मे छद्मस्थ मनुष्य केवल सयम से, केवल सवर से, केवल ब्रह्मचर्यवास से और केवल (अष्ट) प्रवचनमाता (के पालन) से सिद्ध हुआ है, बुद्ध हुआ है, यावत् समस्त दु:खों का अन्त करने वाला हुआ है?

[१२ उ.] हे गौतम! यह अर्थ समर्थ नही है।

[प्र.] भगवन्! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं कि पूर्वोक्त छद्मस्थ मनुष्य यावत् समस्त दु:खो का अन्तकर नही हुआ?

[उ.] गौतम! जो भी कोई मनुष्य कर्मों का अन्त करने वाले, चरमशरीरी हुए है, अथवा समस्त दु:खो का जिन्होने अन्त किया है, जो अन्त करते है या करेंगे, वे सब उत्पन्नज्ञानदर्शनधारी (केवलज्ञानी-केवलदर्शनी), अर्हन्त, जिन, और केवली होकर तत्पश्चात् सिद्ध हुए है, बुद्ध हुए हैं, मुक्त हुए हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त हुए है, और उन्होने समस्त दु:खो का अन्त किया है, वे ही करते है और करेंगे, इसी कारण से हे गौतम! ऐसा कहा है कि यावत् समस्त दु:खो का अन्त किया।

१३. पडुप्पन्ने वि एव चेव, नवर 'सिज्झति' भाणितव्वं ।

[१३] वर्त्तमान काल मे भी इसी प्रकार जानना । विशेष यह है कि 'सिद्ध होते है', ऐसा कहना चाहिए ।

१४. अणागते वि एवं चेव, नवर 'सिज्झिस्संति' भाणियव्वं ।

[१४] तथा भविष्यकाल मे भी इसी प्रकार जानना । विशेष यह है कि 'सिद्ध होगे', ऐसा कहना चाहिए ।

१५ जहा छउमत्थो तहा आधोहिओ वि, तहा परमाहोहिओ वि । तिण्णि तिण्णि आलावगा भाणियव्वा ।

[१५] जैसा छद्मस्थ के विषय मे कहा है, वैसा ही आधोवधिक और परमाधोवधिक के विषय मे जानना चाहिए और उसके तीन-तीन आलापक कहने चाहिए ।

केवली की मुक्ति से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर

१६. केवली णं भंते ! मणूसे तीतमणंतं सासयं समयं जाव अंतं करेंसु ?

हंता, सिज्झिसु जाव अत करेंसु । एते तिण्णि आलावगा भाणियव्वा छउमत्थस्स जहा, नवरं सिज्झिसु, सिज्झति, सिज्झिस्संति ।

[१६ प्र] भगवन् ! बीते हुए अनन्त शाश्वत काल मे केवली मनुष्य ने यावत् सर्व-दु खो का अन्त किया है ?

[१६ उ] हाँ गौतम ! वह सिद्ध हुआ, यावत् उसने समस्त दु खो का अन्त किया । यहाँ भी छद्मस्थ के समान ये तीन आलापक कहने चाहिए । विशेष यह है कि सिद्ध हुआ, सिद्ध होता है और सिद्ध होगा, इस प्रकार (त्रिकाल-सम्बन्धी) तीन आलापक कहने चाहिए ।

१७. से नूणं भंते ! तीतमणत सासय समयं, पडुप्पन्न वा सासय समय, अणागतमणंतं वा सासयं समयं जे केइ अतकरा वा अतिमसरीरिया वा सव्वदुक्खाणमंतं करेंसु वा करेंति वा, करिस्संति वा सव्वे ते उप्पन्ननाण-दंसणधरा अरहा जिणे केवली भवित्ता तओ पच्छा सिज्झति जाव अंतं करेस्सति वा ?

हंता, गोयमा ! तीतमणंतं सासतं समयं जाव अत करेस्सति वा ।

[१७ प्र] भगवन् ! बीते हुए अनन्त शाश्वत काल मे, वर्त्तमान शाश्वत काल मे और अनन्त शाश्वत भविष्यकाल मे जिन अन्तकरो ने अथवा चरमशरीरी पुरुषो ने समस्त दु खो का अन्त किया है, करते हैं या करेंगे, क्या वे सब उत्पन्नज्ञान-दर्शनधारी, अर्हन्त, जिन और केवली होकर तत्पश्चात् सिद्ध, बुद्ध आदि होते हैं, यावत् सब दु खो का अन्त करेगे ?

[१७ उ] हा, गौतम ! बीते हुए अनन्त शाश्वतकाल मे यावत् सब दु खो का अन्त करेगे ।

१८. से नूणं भते ! उप्पन्ननाण-दसणधरे अरहा जिणे केवली 'अलमत्थु' त्ति वत्तव्वं सिया ?

हता गोयमा ! उप्पन्ननाण-दंसणधरे अरहा जिणे केवली 'अलमत्थु' त्ति वत्तव्व सिया ।

सेवं भंते ! सेव भंते ! त्ति० ।

।। चउत्थो उद्देसओ सम्मत्तो ।।

[१८ प्र.] भगवन् ! वह उत्पन्न ज्ञान-दर्शनधारी, अर्हन्त, जिन और केवली 'अलमस्तु' अर्थात्—पूर्ण है, ऐसा कहा जा सकता है ?

[१८ उ.] हाँ, गौतम ! वह उत्पन्न ज्ञानदर्शनधारी, अर्हन्त, जिन और केवली पूर्ण (अलमस्तु) है, ऐसा कहा जा सकता है।

(गौ.) 'हे भगवन् ! यह ऐसा ही है, भगवन् ! ऐसा ही है।'

विवेचन—छद्मस्थ, केवली आदि की मुक्ति से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत सात सूत्रों (१२ से १८) तक मे छद्मस्थ द्विविध अवधिज्ञानी और केवली, चरम शरीरी आदि के सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वाणप्राप्त, सर्वदु खान्तर होने के विषय मे त्रिकाल-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर अकित है।

छद्मस्थ—छद्म का अर्थ है—ढका हुआ। जिसका ज्ञान किसी आवरण से आच्छादित हो रहा है—दब रहा है, वह छद्मस्थ कहलाता है। यद्यपि अवधिज्ञानी का ज्ञान भी आवरण से ढका होता है, तथापि आगे इसके लिए पृथक् सूत्र होने से यहाँ छद्मस्थ शब्द से अवधिज्ञानी को छोडकर सामान्य ज्ञानी ग्रहण करना चाहिए।

निष्कर्ष—मनुष्य चाहे कितना ही उच्च सयमी हो, ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान पर पहुँचा हुआ हो, किन्तु जब तक केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त न हो, तब तक वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त नही हो सकता, न हुआ है, न होगा। अवधिज्ञानी, जो लोकाकाश के सिवाय अलोक के एक प्रदेश को भी जान लेता हो, वह उसी भव मे मोक्ष जाता है, किन्तु जाता है, केवली होकर ही।

आधोऽवधि एव परमावधिज्ञान—परिमित क्षेत्र-काल-सम्बन्धी अवधिज्ञान आधोऽवधि कहलाता है, उससे बहुतर क्षेत्र को जानने वाला परम-उत्कृष्ट अवधिज्ञान, जो समस्त रूपी द्रव्यो को जान लेता हो, परमावधिज्ञान कहलाता है।[1]

॥ प्रथम शतक : चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति. पत्राक ६७

पंचमो उद्देसओ : पुढवी

पंचम उद्देशक : पृथ्वी

चौबीस दण्डकों की आवास संख्या का निरूपण

१. कति णं भंते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ । तं जहा— रयणप्पभा जाव तमतमा ।

[१ प्र] भगवन् ! (अधोलोक मे) कितनी पृथ्वियाँ (नरकभूमियाँ) कही गई हैं ?

[१ उ] गौतम ! सात पृथ्वियाँ कही गई हैं । वे इस प्रकार हैं—रत्नप्रभा से लेकर यावत् तमस्तम:प्रभा तक ।

२. इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए कति निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता ?

गोतमा ! तीस निरयावाससयसहस्सा पण्णत्ता । गाहा—

तीसा य पण्णवीसा पण्णरस दसेव या सयसहस्सा ।
तिण्णेगं पंचूणं पंचेव अणुत्तरा निरया ।।१।।

[२ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे कितने लाख नारकावास—नैरयिको के रहने के स्थान कहे गए हैं ?

[२ उ.] गौतम ! रत्नप्रभा पृथ्वी मे तीस लाख नारकावास कहे गए है । नारकावासो की सख्या बताने वाली गाथा इस प्रकार है—

गाथार्थ—प्रथम पृथ्वी (नरकभूमि) मे तीस लाख, दूसरी मे पच्चीस लाख, तीसरी मे पन्द्रह लाख, चौथी मे दस लाख, पांचवी मे तीन लाख, छठी मे ५ कम एक लाख और सातवी मे केवल पाच नारकावास है ।

३. केवतिया णं भंते ! असुरकुमारावाससतसहस्सा पण्णत्ता ? एवं—

चोयट्ठी असुराणं, चउरासीती य होंति नागाणं ।
बावत्तरी सुवण्णाण, वाउकुमाराण छण्णउती ।।२।।
दीव-दिसा-उदहीणं विज्जुकुमारिंद-थणिय-मग्गीण ।
छण्हं पि जुयलगाणं छावत्तरिमो सतसहस्सा ।।३।।

[३ प्र] भगवन् ! असुरकुमारो के कितने लाख आवास कहे गये है ?

[३ उ.] गौतम ! इस प्रकार हैं—असुरकुमारों के चौसठ लाख आवास कहे हैं । इसी प्रकार नागकुमारों के चौरासी लाख, सुपर्णकुमारो के ७२ लाख, वायुकुमारो के ९६ लाख, तथा द्वीपकुमार, दिक्कुमार, उदधिकुमार, विद्युत्कुमार, स्तनितकुमार और अग्निकुमार, इन छह युगलको (दक्षिण-वर्ती और उत्तरवर्त्ती दोनो के ७६-७६ लाख आवास कहे गये है ।

४. केवतिया णं भंते ! पुढविक्काइयावाससतसहस्सा पण्णत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जा पुढविक्काइयावाससयसहस्सा पण्णत्ता जाव असंखिज्जा जोतिसिय-विमाणावाससयसहस्सा पण्णत्ता।

[४ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवो के कितने लाख आवास कहे गए हैं ?

[४ उ.] गौतम ! पृथ्वीकायिक जीवो के असख्यात लाख आवास कहे गए हैं। इसी प्रकार (पृथ्वीकाय से लेकर) यावत् ज्योतिष्क देवों तक के असख्यात लाख विमानावास कहे गए हैं।

५. सोहम्मे णं भंते ! कप्पे कति विमाणावाससतसहस्सा पण्णत्ता ?

गोयमा ! बत्तीसं विमाणावाससतसहस्सा पण्णत्ता। एवं—

बत्तीसऽट्ठावीसा बारस अट्ठ चउरो सतसहस्सा।
पण्णा चत्तालीसा छच्च सहस्सा सहस्सारे ॥ ४ ॥
आणय-पाणयकप्पे चत्तारि सताऽऽरण-ऽच्चुए तिण्णि।
सत्त विमाणसताइं चउसु वि एएसु कप्पेसु ॥ ५ ॥
एक्कारसुत्तरं हेट्ठिमेसु सत्तुत्तरं च मज्झिमए।
सतमेगं उवरिमए पंचेव अणुत्तरविमाणा ॥ ६ ॥

[५ प्र.] भगवन् ! सौधर्मकल्प मे कितने विमानावास कहे गए है ?

[५ उ.] गौतम ! वहाँ बत्तीस लाख विमानावास कहे गए है। इस प्रकार क्रमशः बत्तीस लाख, अट्ठाईस लाख, बारह लाख, आठ लाख, चार लाख, पचास हजार तथा चालीस हजार, विमानावास जानना चाहिए। सहस्रार कल्प मे छह हजार विमानावास हैं। आणत और प्राणत कल्प मे चार सौ, आरण और अच्युत में तीन सौ, इस तरह चारो मे मिलकर सात सौ विमान हैं। अधस्तन (नीचले) ग्रैवेयक त्रिक मे एक सौ ग्यारह, मध्यम (बीच के) ग्रैवेयक त्रिक मे एक सौ सात और ऊपर के ग्रैवेयक त्रिक मे एक सौ विमानावास हैं। अनुत्तर विमानावास पाच ही हैं।

विवेचन—चौबीस दण्डकों की आवास संख्या का निरूपण—प्रस्तुत पाच सूत्रो मे नरक पृथ्वियो से लेकर पच अनुत्तर विमानवासो देवो तक के आवासो की सख्या के सम्बन्ध मे प्रतिपादन किया गया है।

६. पुढवि ट्ठिति १ ओगाहण २ सरीर ३ सघयणमेव ४ संठाणे ५।
लेसा ६ दिट्ठी ७ णाणे ८ जोगुवओगे ९-१० य दस ठाणा ॥ १४ ॥

अर्थाधिकार—

[सू ६] पृथ्वी (नरक भूमि) आदि जीवावासो मे १. स्थिति, २ अवगाहना, ३ शरीर, ४. सहनन, ५ सस्थान, ६ लेश्या, ७ दृष्टि, ८ ज्ञान, ९ योग और १० उपयोग इन दस स्थानो (बोलो) पर विचार करना है।

नारकों के क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक प्रथम स्थितिस्थानद्वार

७ इमीसे णं भंते ! रतणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससतसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि नेरतियाणं केवतिया ठितिठाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जा ठितिठाणा पण्णत्ता । तं जहा—जहन्निया ठिती, समयाहिया जहन्निया ठिई, दुसमयाहिया जहन्निया ठिती जाव असंखेज्जसमयाहिया जहन्निया ठिती, तप्पाउग्गुक्कोसिया ठिती ।

[७ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासो मे एक-एक नारकावास मे रहने वाले नारक जीवो के कितने स्थिति-स्थान कहे गए हैं ? अर्थात् एक-एक नारकावास के नारको की कितनी उम्र है ?

[७ उ] गौतम ! उनके असंख्य स्थान कहे गए हैं । वे इस प्रकार है—जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है, वह एक समय अधिक, दो समय अधिक—इस प्रकार यावत् जघन्य स्थिति असंख्यात समय अधिक है, तथा उसके योग्य उत्कृष्ट स्थिति भी । (ये सब मिलकर असंख्यात स्थिति-स्थान होते हैं) ।

८. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससतसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि जहन्नियाए ठितीए वट्टमाणा नेरइया किं कोधोवउत्ता, माणोवउत्ता, मायोवउत्ता, लोभोवउत्ता ?

गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा कोहोवउत्ता १, अहवा कोहोवउत्ता य माणोवउत्ते य २, अहवा कोहोवउत्ता य, माणोवउत्ता य ३, अहवा कोहोवउत्ता य मायोवउत्ते य ४, अहवा कोहोवउत्ता य मायोवउत्ता य ५, अहवा कोहोवउत्ता य लोभोवउत्ते य ६, अहवा कोहोवउत्ता य लोभोवउत्ता य ७ । अहवा कोहोवउत्ता य माणोवउत्ते य मायोवउत्ते य १, कोहोवउत्ता य माणोवउत्ते य मायोवउत्ता य २, कोहोवउत्ता य माणोवउत्ता य मायोवउत्ते य ३, कोहोवउत्ता य माणोवउत्ता य मायाउवउत्ता य ४ । एवं कोह-माण-लोभेण वि चउ ४ । एवं कोह-माया-लोभेण वि चउ ४, एवं १२ । पच्छा माणेण मायाए लोभेण य कोहो भइयव्वो, ते कोह अमुंचता ८ । एवं सत्तावीसं भंगा णेयव्वा ।

[८ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासो मे से एक-एक नारकावास मे कम से कम (जघन्य) स्थिति मे वर्तमान नारक क्या क्रोधोपयुक्त है, मानोपयुक्त है, मायोपयुक्त है अथवा लोभोपयुक्त है ?

[८ उ] गौतम ! वे सभी क्रोधोपयुक्त होते है १, अथवा बहुत से नारक क्रोधोपयुक्त और एक नारक मानोपयुक्त होता है २, अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त और बहुत-से मानोपयुक्त होते हैं ३, अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त और एक मायोपयुक्त होते है, ४, अथवा बहुत-से क्रोधोपयुक्त और बहुत-से मायोपयुक्त होते हैं ५, अथवा बहुत-से क्रोधोपयुक्त और एक लोभोपयुक्त होता है ६, अथवा बहुत-से क्रोधोपयुक्त और बहुत-से लोभोपयुक्त होते है ७ । अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त, एक मानोपयुक्त और एक मायोपयुक्त होता है १, बहुत-से क्रोधोपयुक्त, एक मानोपयुक्त और बहुत-से मायोपयुक्त होते है २, बहुत-से क्रोधोपयुक्त, बहुत-से मानोपयुक्त और एक मानोपयुक्त होता है ३, बहुत-से क्रोधोपयुक्त, बहुत मानोपयुक्त और बहुत मायोपयुक्त होते है ४, इसी तरह क्रोध, मान और लोभ, (यो त्रिक्संयोग) के चार भग क्रोध, माया और लोभ, (यों त्रिक्संयोग) के भी चार भग कहने चाहिए । फिर मान, माया और लोभ के साथ जोडने से चतुष्क-संयोगी आठ भंग

कहने चाहिए। इसी तरह क्रोध को नही छोडते हुए (चतुष्कसंयोगी ८ भग होते हैं) कुल २७ भग समझ लेने चाहिए।

९ इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि समयाधियाए जहण्णट्ठितीए वट्टमाणा नेरइया किं कोधोवउत्ता, माणोवउत्ता, मायोवउत्ता लोभोवउत्ता ?

गोयमा ! कोहोवउत्ते य माणोवउत्ते य मायोवउत्ते य लोभोवउत्ते य ४। कोहोवउत्ता य माणोवउत्ता य मायोवउत्ता य लोभोवउत्ता य ८। अथवा कोहोवउत्ते य माणोवउत्ते य १०, अथवा कोहोवउत्ते य माणोवयुत्ता य १२, एव असीति भगा नेयव्वा एवं जाव संखिज्जसमयाधिया ठिई। असंखेज्जसमयाहियाए ठिईए तप्पाउग्गुक्कोसियाए ठिईए सत्तावीस भगा भाणियव्वा।

[९ प्र] इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकवासो मे से एक-एक नारकावास मे एक समय अधिक जघन्य स्थिति मे वर्तमान नारक क्या क्रोधपयुक्त होते हैं, मानोपयुक्त होते है, मायोपयुक्त होते हैं अथवा लोभोपयुक्त होते है ?

[९ उ] गौतम ! उनमे से कोई-कोई क्रोधोपयुक्त, कोई मानोपयुक्त, कोई मायोपयुक्त और कोई लोभोपयुक्त होता है। अथवा बहुत-से क्रोधोपयुक्त, मानोपयुक्त, मायोपयुक्त और लोभोपयुक्त होते है। अथवा कोई-कोई क्रोधोपयुक्त और मानोपयुक्त होता है, या कोई-कोई क्रोधोपयुक्त और बहुत-से मानोपयुक्त होते है। [अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त और एक मानोपयुक्त या बहुत से क्रोधोपयुक्त और बहुत से मानोपयुक्त होते है।] इत्यादि प्रकार से अस्सी भग समझने चाहिए। इसी प्रकार यावत् दो समय अधिक जघन्य स्थिति से लेकर सख्येय समयाधिक जघन्य स्थिति वाले नैरयिको के लिए समझना चाहिए। असख्येय समयाधिक स्थिति वालो मे तथा उसके योग्य उत्कृष्ट स्थिति वाले नारको मे सत्ताईस भग कहने चाहिए।

विवेचन—नारको के क्रोधोपयुक्तादिनिरूपणपूर्वक प्रथम स्थितिस्थानद्वार—प्रस्तुत तीन सूत्रो मे सग्रहणी गाथा के अनुसार रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकावासो के निवासी नारको के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थिति स्थानो की अपेक्षा से क्रोधोपयुक्तादि विविध विकल्प (भग) प्रस्तुत किये गए हैं।

जघन्यादि स्थिति—प्रत्येक नारकावास मे रहने वाले नारको की स्थिति के स्थान भिन्न-भिन्न होने के कारण है—किसी की जघन्य स्थिति है, किसी की मध्यम और किसी की उत्कृष्ट। इस प्रथम रत्नप्रभा पृथ्वी के प्रथम प्रतर मे नारको की आयु कम से कम (जघन्य) १० हजार वर्ष की और अधिक से अधिक (उत्कृष्ट) ९० हजार वर्ष की है। जघन्य और उत्कृष्ट के बीच की आयु को मध्यम आयु कहते हैं। मध्यम आयु जघन्य और उत्कृष्ट के समान एक प्रकार की नही है। जघन्य आयु से एक समय अधिक की, दो, तीन, चार समय अधिक की यावत् सख्येय और असख्येय समय अधिक की आयु भी मध्यम कहलाती है। यो मध्यम आयु (स्थिति) के अनेक विकल्प है। इसलिए कोई नारक दस हजार वर्ष की स्थिति (जघन्य) वाला, कोई एक समय अधिक १० हजार वर्ष की स्थिति वाला यो क्रमश असख्यात समय अधिक (मध्यम) स्थिति वाला और कोई उत्कृष्ट स्थिति वाला होने से नारको के स्थितिस्थान असख्य हैं।

समय—काल का वह सूक्ष्मतम अश, जो निरश है, जिसका दूसरा अंश सभव नही है, वह जैनसिद्धान्तानुसार **'समय'** कहलाता है।

अस्सी भंग—एक समयाधिक जघन्यस्थिति वाले नारको के क्रोधोपयुक्त आदि ८० भंग इस प्रकार हैं—असंयोगी ८ भग (चार भंग एक-एक कषाय वालो के, चार भग बहुत कषाय वालो के), द्विक सयोगी २४ भग, त्रिकसयोगी ३२ भग, चतुष्कसंयोगी १६ भग, यो कुल ८० भग होते हैं।

नारकों के कहाँ, कितने भग ?—प्रत्येक नरक मे जघन्य स्थिति वाले नारक सदा पाये जाते हैं, उनमे क्रोधोपयुक्त नैरयिक बहुत ही होते हैं। अत. उनमे मूलपाठोक्त २७ भग क्रोधबहुवचनान्त वाले होते हैं। एक समय अधिक से लेकर संख्यात समय अधिक जघन्यस्थिति (मध्यम) वाले नारको में पूर्वोक्त ८० भग होते हैं। इनमे क्रोधादि-उपयुक्त नारको की संख्या एक और अनेक होती है। इस स्थिति वाले नारक कभी मिलते हैं, कभी नही मिलते। असख्यात समय अधिक की स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति वाले नारको मे पूर्वोक्त २७ भग पाये जाते है। इस स्थिति वाले नारक सदा काल पाये जाते है और वे बहुत होते है।[1]

द्वितीय—अवगाहनाद्वार

१०. इमीसे णं भंते ! रतणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगसि निरयावाससि नेरइयाणं केवतिया ओगाहणाठाणा पण्णत्ता ।

गोयमा ! असंखेज्जा ओगाहणाठाणा पण्णत्ता । तं जहा—जघन्निया ओगाहणा, पदेसाहिया जहन्निया ओगाहणा, दुप्पदेसाहिया जहन्निया ओगाहणा जाव असंखिज्जपदेसाहिया जहन्निया ओगाहणा, तप्पाउग्गुक्कोसिया ओगाहणा ।

[१० प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी (प्रथम नरक भूमि) के तीस लाख नारकावासो मे से एक-एक नारकावास मे रहने वाले नारको के अवगाहना स्थान कितने कहे गए है ?

[१० उ] गौतम ! उनके अवगाहना स्थान असख्यात कहे गए है। वे इस प्रकार है—जघन्य अवगाहना (अगुल के असख्यातवे भाग), (मध्यम अवगाहना) एक प्रदेशाधिक जघन्य अवगाहना, द्विप्रदेशाधिक जघन्य अवगाहना, यावत् असख्यात प्रदेशाधिक जघन्य अवगाहना, तथा उसके योग्य उत्कृष्ट अवगाहना (जिस नारकवास के योग्य जो उत्कृष्ट अवगाहना हो)।

११. इमीसे णं भंते ! रतणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावाससयसहस्सेसु एगमेगसि निरयावासंसि जहन्नियाए ओगाहणाए वट्टमाणा नेरतिया किं कोहोवउत्ता० ?

असीति भंगा भाणियव्वा जाव संखिज्जपदेसाधिया जहन्निया ओगाहणा। असंखेज्जपदेसाहियाए जहन्नियाए ओगाहणाए वट्टमाणाणं तप्पाउग्गुक्कोसियाए ओगाहणाए वट्टमाणाण नेरइयाणं दोसु वि सत्तावीसं भंगा।

[११ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासो मे से एक-एक नारकावास मे जघन्य अवगाहना वाले नैरयिक क्या क्रोधोपयुक्त हैं, मानोपयुक्त हैं, मायोपयुक्त हैं अथवा लोभोपयुक्त हैं ?

[११ उ] गौतम ! जघन्य अवगाहना वालो में अस्सी भग कहने चाहिए, यावत् सख्यात प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना वालो के भी अस्सी भग कहने चाहिए। असख्यात-प्रदेश अधिक जघन्य

---

१. भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ६९-७०

अवगाहना वाले और उसके योग्य उत्कृष्ट अवगाहना वाले, इन दोनो प्रकार के नारकों मे सत्ताईस भंग कहने चाहिए।

विवेचन—नैरयिकों के क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक द्वितीय अवगाहनास्थान द्वार—प्रस्तुत दो सूत्रो में नारकों के अवगाहनास्थान तथा क्रोधादियुक्तता का विचार किया गया है।

अवगाहनास्थान—जिसमे जीव ठहरता है, अवगाहन करके रहता है, वह अवगाहना है। अर्थात्—जिस जीव का जितना लम्बा-चौडा शरीर होता है, वह उसकी अवगाहना है। जिस क्षेत्र मे जो जीव जितने आकाश प्रदेशो को रोक कर रहता है, उतने आधारभूत परिमाण क्षेत्र को भी अवगाहना कहते हैं। उस अवगाहना के जो स्थान—प्रदेशो की वृद्धि से विभाग हो, वे अवगाहनास्थान होते हैं।

उत्कृष्ट अवगाहना—प्रथम नरक की उत्कृष्ट अवगाहना ७ धनुष, ३ हाथ, ६ अगुल होती है, इससे आगे के नरको मे अवगाहना दुगुनी-दुगुनी होती है। अर्थात् शर्करा प्रभा मे १५ धनुष, २ हाथ, १२ अगुल की; बालुकाप्रभा मे ३१ धनुष, १ हाथ की, पंकप्रभा में ६२ धनुष, २ हाथ की, धूमप्रभा मे १२५ धनुष की, तम.प्रभा मे २५० धनुष की, तमस्तम प्रभा मे ५०० धनुष की उत्कृष्ट अवगाहना होती है।

जघन्यस्थिति तथा जघन्य अवगाहना के भंगों में अन्तर क्यो—जघन्यस्थितिवाले नारक जब तक जघन्य अवगाहना वाले रहते है, तब तक उनकी अवगाहना के ८० भग ही होते हैं, क्योकि जघन्य अवगाहना उत्पत्ति के समय ही होती है। जघन्यस्थिति वाले जिन नैरयिको के २७ भग कहे है, वे जघन्य अवगाहना को उल्लघन कर चुके हैं, उनकी अवगाहना जघन्य नही होती। इसलिए उनमे २७ ही भग होते है।

जघन्य अवगाहना से लेकर सख्यातप्रदेश की अधिक अवगाहना वाले जीव नरक मे सदा नही मिलते, इसलिए उनमे ८० भग कहे गए है, किन्तु जघन्य अवगाहना से असख्यातप्रदेश अधिक की अवगाहना वाले जीव, नरक मे अधिक ही पाये जाते है, इसलिए उनमे २७ भग होते है।[1]

तृतीय—शरीरद्वार

१२. इमीसे णं भंते! रयण० जाव एगमेगंसि निरयावासंसि नेरतियाण कति सरीरया पण्णत्ता?

गोयमा! तिण्णि सरीरया पण्णत्ता। तं जहा—वेउव्विए तेयए कम्मए।

[१२ प्र] भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकवासो मे से एक-एक नारकावास मे बसने वाले नारक जीवो के शरीर कितने हैं?

[१२ उ] गौतम! उनके तीन शरीर कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—वैक्रिय, तैजस और कार्मण।

---

१ भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्राक ७१

१३. [१] इमीसे णं भंते ! जाव वेउव्वियसरीरे वट्टमाणा नेरतिया किं कोहोवउत्ता० ? सत्तावीसं भंगा।

[२] एतेणं गमेणं तिण्णि सरीरा भाणियव्वा।

[१३-१ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासो मे से प्रत्येक नारकावास में बसने वाले वैक्रियशरीरी नारक क्या क्रोधोपयुक्त हैं, (मानोपयुक्त हैं, मायोपयुक्त है अथवा लोभोपयुक्त है ?)

[१३-१ उ] गौतम ! उनके क्रोधोपयुक्त आदि २७ भग कहने चाहिए।

[१३-२] और इस प्रकार शेष दोनो शरीरो (तैजस और कार्मण) सहित तीनो के सम्बन्ध मे यही बात (आलापक) कहनी चाहिए।

विवेचन—नारकों के क्रोधोपयुक्तादिनिरूपणपूर्वक तृतीय शरीरद्वार—प्रस्तुत द्विसूत्री मे नारकीय जीवो के तीन शरीर और उनसे सम्बन्धित क्रोधोपयुक्त आदि २७ भगो का निरूपण है।

शरीर—शरीर नामकर्म के उदय से होने वाली वह रचना जिसमे आत्मा व्याप्त होकर रहती है, अथवा जिसका क्षण-क्षण नाश होता रहता है, उसे शरीर कहते है।

वैक्रियशरीर—जिस शरीर के प्रभाव से एक से अनेक शरीर, छोटा शरीर, बडा शरीर या मनचाहा रूप धारण किया जा सकता है, उसे वैक्रियशरीर कहते है। इसके दो भेद है—भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय। नारको के भवधारणीय वैक्रिय शरीर होता है।

तैजसशरीर—आहार को पचाकर खलभाग और रसभाग मे विभक्त करने और रस को शरीर के अगो मे यथास्थान पहुँचाने वाला शरीर तैजस कहलाता है।

कार्मणशरीर—रागद्वेषादि भावो से शुभाशुभ कर्मवर्गणा के पुद्गलो को सचित करने वाला कार्मण शरीर है।[१]

चौथा—सहननद्वार

१४. इमीसे णं भते ! रयणप्पभाए पुढवीए जाव नेरइयाण सरीरगा किं सघयणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! छण्हं संघयणाण असघयणी, नेवऽट्ठी, नेव छिरा, नेव ण्हारूणि। जे पोग्गला अणिट्ठा अकंता अप्पिया असुभा अमणुण्णा अमणामा ते तेसि सरीरसघातत्ताए परिणमंति।

[१४ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के तीस लाख नारकावासो मे से प्रत्येक नारकावास मे बसने वाले नैरयिको के शरीरो का कौन-सा सहनन है ?

[१४ उ] गौतम ! उनका शरीर सहननरहित है, अर्थात् उनमे छह सहननो मे से कोई भी सहनन नही होता। उनके शरीर मे हड्डी, शिरा (नस) और स्नायु नही होती। जो पुद्गल अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ और अमनोहर है, वे पुद्गल नारको के शरीर-सघातरूप मे परिणत होते हैं।

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ७२

१५. इमीसे णं भंते! जाव छण्हं संघयणाणं असंघयणे वट्टमाणा नेरतिया किं कोहोवउत्ता० ?

सत्तावीसं भंगा।

[१५ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में के प्रत्येक नारकावास मे रहने वाले और छह सहननो मे से जिनके एक भी सहनन नही है, वे नैरयिक क्या क्रोधोपयुक्त हैं, मानोपयुक्त हैं, मायोपयुक्त हैं अथवा लोभोपयुक्त हैं ?

[१५ उ.] गौतम ! इनके सत्ताईस भग कहने चाहिए।

पाँचवाँ—संस्थानद्वार

१६. इमीसे णं भंते ? रयणप्पभा जाव सरीरया किं संठिता पण्णत्ता ?

गोयमा ! दुविधा पण्णत्ता। तं जहा—भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य। तत्थ णं जे ते भवधारणिज्जा ते हुंडसंठिया पण्णत्ता। तत्थ णं उत्तरवेउव्विया ते वि हुंडसंठिया पण्णत्ता।

[१६ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी के तीस लाख नारकावासो मे के प्रत्येक नारकावास मे रहने वाले नैरयिको के शरीर किस सस्थान वाले हैं ?

[१६ उ] गौतम ! उन नारको का शरीर दो प्रकार का कहा गया है, वह इस प्रकार है—भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय। उनमे जो भवधारणीय शरीर वाले हैं, वे हुण्डक सस्थान वाले होते हैं, और जो शरीर उत्तरवैक्रियरूप हैं, वे भी हुण्डकसस्थान वाले कहे गए है।

१७. इमीसे णं जाव हुंडसंठाणे वट्टमाणा नेरतिया किं कोहोवउत्ता० ?

सत्तावीस भंगा।

[१७ प्र[भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी मे यावत् हुण्डकसस्थान मे वर्त्तमान नारक क्या क्रोधोपयुक्त इत्यादि हैं ?

[१७ उ] गौतम ! इनके भी क्रोधोपयुक्त आदि २७ भग कहने चाहिए।

विवेचन—नारको का क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक चतुर्थ एवं पंचम संहनन-संस्थानद्वार— प्रस्तुत चार सूत्रो (१४ से १७ तक) मे नारको के सहनन एव सस्थान के सम्बन्ध मे प्ररूपण करते हुए उक्त सहननहीन एव सस्थानयुक्त नारको के क्रोधोपयुक्तादि भगो की चर्चा की है।

उत्तरवैक्रिय शरीर—एक नारकी जीव दूसरे जीव को कष्ट देने के लिए जो शरीर बनाता है, वह उत्तरवैक्रिय कहलाता है। उत्तरवैक्रिय शरीर सुन्दर न बनाकर नारक हुण्डकसंस्थान वाला क्यो बनाते है ? इसका समाधान यह है कि उनमे शक्ति की मन्दता है तथा देश-काल आदि की प्रतिकूलता है, इस कारण वे शरीर का आकार सुन्दर बनाना चाहते हुए भी नही बना पाते, वह बेढगा ही बनता है। उनका शरीर सहननरहित होता है, इसलिए उन्हे छेदने पर शरीर के पुद्गल अलग हो जाते हैं और पुन: मिल जाते है।[1]

१ भगवती सूत्र अ० वृत्ति, पत्रांक ७२

अस्थियों के विशिष्ट प्रकार के ढाचे को सहनन कहते हैं। अस्थियाँ केवल औदारिक शरीर मे ही होती हैं और नारको को औदारिक शरीर होता नही है। इस कारण वे सहननरहित कहे गए हैं।

छठा–लेश्याद्वार

१८ इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयाणं कति लेसाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! एक्का काउलेस्सा पण्णत्ता।

[१८ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे बसने वाले नैरयिको मे कितनी लेश्याएँ कही गई है ?

[१८ उ] गौतम ! उनमे केवल एक कापोतलेश्या कही गई है।

१९. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए जाव काउलेस्साए वट्टमाणा० ?

सत्तावीसं भंगा।

[१९ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे बसने वाल कापोतलेश्या वाले नारक जीव क्या क्रोधोपयुक्त है, यावत् लोभोपयुक्त हैं ?

[१९ उ] गौतम ! इनके भी सत्ताईस भग कहने चाहिए।

विवेचन—नारको का क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक छठा लेश्याद्वार—प्रस्तुत दो सूत्रो मे नारको मे लेश्या का निरूपण तथा उक्त लेश्या वाले नारको के क्रोधोपयुक्त आदि २७ भग बताये गये है।

सातवाँ–दृष्टिद्वार

२० इमीसे णं जाव किं सम्मद्दिट्ठी मिच्छद्दिट्ठी सम्मामिच्छद्दिट्ठी ?

तिण्णि वि।

[२० प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे बसने वाले नारक जीव क्या सम्यग्दृष्टि है, मिथ्यादृष्टि हैं, या सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) है ?

[२० उ] हे गौतम ! वे तीनो प्रकार के (कोई सम्यग्दृष्टि, कोई मिथ्यादृष्टि और कोई मिश्रदृष्टि) होते है।

२१ [१] इमीसे णं जाव सम्मद्दसणे वट्टमाणा नेरइया० ?

सत्तावीसं भंगा।

[२] एवं मिच्छद्दंसणे वि।

[३] सम्मामिच्छद्दंसणे असीति भंगा।

[२१-१ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे बसने वाले सम्यग्दृष्टि नारक क्या क्रोधोपयुक्त यावत् लोभोपयुक्त हैं ?

[२१-१ उ] गौतम ! इनके क्रोधोपयुक्त आदि सत्ताईस भग कहने चाहिए ।

[२१-२] इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि के भी क्रोधोपयुक्त आदि १७ भग कहने चाहिए ।

[२१-३] सम्यग्मिथ्यादृष्टि के अस्सी भग (पूर्ववत्) कहने चाहिए ।

आठवाँ—ज्ञानद्वार

२२. इमीसे ण भंते ! जाव किं णाणी, अण्णाणी ?

गोयमा ? णाणी वि, अण्णाणी वि । तिण्णि नाणाणि नियमा, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए ।

[२२ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे रहने वाले नारक जीव क्या ज्ञानी हैं, या अज्ञानी हैं ?

[२२ उ] गौतम ! उनमे ज्ञानी भी है, और अज्ञानी भी है। जो ज्ञानी है, उनमे नियमपूर्वक तीन ज्ञान होते है, और जो अज्ञानी है, उनमे तीन अज्ञान भजना (विकल्प) से होते है ।

२३. (१) इमीसे णं भंते ? जाव आभिणिबोहियणाणे वट्टमाणा० ?

सत्तावीसं भंगा ।

[२] एवं तिण्णि णाणाइ, तिण्णि य अण्णाणाइ भाणियव्वाइ ।

[२३-१प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे रहने वाले आभिनिबोधिक ज्ञानी (मतिज्ञानी) नारकी जीव क्या क्रोधोपयुक्त यावत् लोभोपयुक्त होते है ?

[२३-१ उ] गौतम ! उन आभिनिबोधिक ज्ञानवाले नारको के क्रोधोपयुक्त आदि २७ भग कहने चाहिए ।

[२३-२] इसी प्रकार तीनो ज्ञान वाले तथा तीनों अज्ञान वाले नारको मे क्रोधोपयुक्त आदि २७ भग कहने चाहिए ।

विवेचन—नारको का क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक सातवाँ—आठवाँ दृष्टि-ज्ञानद्वार—प्रस्तुत चार सूत्रो में नारको मे तीनो दृष्टियो तथा तीन ज्ञान एव तीन अज्ञान की प्ररूपणा करके उनमे क्रोधोपयुक्तादि भगो का प्रतिपादन किया गया है ।

दृष्टि—जिनकी दृष्टि (दर्शन) मे समभाव है, सम्यक्त्व है, वे सम्यग्दृष्टि कहलाते है । वस्तु के वास्तविक स्वरूप को समझना सम्यग्दर्शन है, और विपरीतस्वरूप समझना मिथ्यादर्शन है। विपरीत बुद्धि दृष्टि वाला प्राणी मिथ्यादृष्टि होता है । जो न पूरी तरह मिथ्यादृष्टि वाला है और न सम्यग्दृष्टि वाला है, वह सम्यग्मिथ्यादृष्टि—मिश्रदृष्टि कहलाता है ।

तीनों दृष्टियो वाले नारकों में क्रोधोपयुक्तादि भंग—सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि मे पूर्ववत् २७ भग होते हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि मे ८० भग होते हैं, क्योकि मिश्रदृष्टि जीव अल्प है, उनका सद्भाव काल की अपेक्षा से भी अल्प है । अर्थात्—वे कभी नरक मे पाये जाते हैं, कभी नही भी पाये जाते । इसी कारण मिश्रदृष्टि नारक मे क्रोधादि के ८० भग पाये जाते हैं ।

तीन ज्ञान और तीन अज्ञान वाले नारक कौन और कैसे ?—जो जीव नरक मे सम्यक्त्व सहित उत्पन्न होते हैं, उन्हे जन्मकाल के प्रथम समय से लेकर भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है, इसलिए उनमे नियम (निश्चतरूप) से तीन ज्ञान होते है। जो मिथ्यादृष्टि जीव नरक में उत्पन्न होते हैं, वे यहाँ से सज्ञी या असज्ञी जीवो मे से गए हुए होते है। उनमे से जो जीव यहां से सज्ञी जीवो मे से जाकर नरक मे उत्पन्न होते है, उन्हे जन्मकाल से ही विभग (विपरीत अवधि) ज्ञान होता है। इसलिए उनमे नियमत तीन अज्ञान होते है। जो जीव यहाँ से असज्ञी जीवो मे से जाकर नरक में उत्पन्न होते हैं, उन्हे जन्मकाल मे दो अज्ञान (मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान) होते है, और एक अन्तर्मुहूर्त व्यतीत हो जाने पर पर्याय अवस्था प्राप्त होने पर विभगज्ञान उत्पन्न होता है, तब उन्हे तीन अज्ञान हो जाते है। इसलिए उनमे तीन अज्ञान भजना (विकल्प) से कहे गये हैं। अर्थात्—किसी समय उनमे दो अज्ञान होते है, किसी समय तीन अज्ञान। जब दो अज्ञान होते है, तब उनमे क्रोधापयुक्त आदि ८० भंग होते है, क्योंकि ये जीव थोड़े-से होते हैं।

ज्ञान और अज्ञान—ज्ञान का अर्थ यहा सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान समझना चाहिए और अज्ञान का अर्थ ज्ञानाभाव नही, अपितु मिथ्याज्ञान, जो कि मिथ्यादर्शनपूर्वक होता है, समझना चाहिए। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीन सम्यग्ज्ञान है और मत्यज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभगज्ञान ये तीन मिथ्याज्ञान है।[1]

नौवाँ—योगद्वार

२४. इमीसे णं जाव किं मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी ?

तिण्णि वि।

[२४-प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी मे रहने वाले नारक जीव क्या मनोयोगी है, वचनयोगी है अथवा काययोगी है ?

[२४-उ] गौतम ! वे प्रत्येक तीनो प्रकार के है, अर्थात् सभी नारक जीव मन, वचन और काया, इन तीनो योगो वाले है।

२५. [१] इमीसे णं जाव मणजोए वट्टमाणा किं कोहोवउत्ता० ?

सत्तावीसं भंगा।

[२] एवं वइजोए। एवं कायजोए।

[२५-१ प्र] भगवन् ! इन रत्नप्रभा पृथ्वी मे रहने वाले और यावत् मनोयोग मे रहने वाले नारक जीव क्या क्रोधोपयुक्त यावत् लोभोपयुक्त है।

[२५-१ उ] गौतम ! उनके क्रोधोपयुक्त आदि २७ भग कहने चाहिए।

[२५-२] इसी प्रकार वचनयोगी और काययोगी के भी क्रोधोपयुक्त आदि २७ भंग कहने चाहिए।

---

१. (क) भगवती सूत्र अ० वृत्ति, पत्राक ७२-७३

(ख) देखें—नन्दीसूत्र मे पाँच ज्ञान और तीन अज्ञान का वर्णन

दसवाँ—उपयोगद्वार

२६. इमीसे णं जाव नेरइया किं सागारोवउत्ता, अणागारोवउत्ता ?

गोयमा ! सागारोवउत्ता वि, अणागारोवउत्ता वि ।

[२६-प्र] भगवन् ! इन रत्नप्रभा पृथ्वी के नारक जीव क्या साकारोपयोग से युक्त हैं अथवा अनाकारोपयोग से युक्त हे ?

[२६-उ] गौतम ! वे साकारोपयोगयुक्त भी है और अनाकारोपयोगयुक्त भी है ।

२७ [१] इमीसे णं जाव सागारोवओगे वट्टमाणा किं कोहोवउत्ता० ?

सत्तावीसं भंगा ।

[२] एवं अणागारोवउत्ते वि सत्तावीसं भंगा ।

[२७-१ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के साकारोपयोगयुक्त नारक जीव क्या क्रोधोपयुक्त है, यावत् लोकोपयुक्त है ?

[२७-१ उ] गौतम ! इनमे क्रोधोपयुक्त इत्यादि २७ भग कहने चाहिए ।

[२७-१] इसी प्रकार अनाकारोपयुक्त मे भी क्रोधोपयुक्त इत्यादि सत्ताईस भग कहने चाहिए ।

विवेचन—नारकों का क्रोधोपयुक्त इत्यादि निरूपणपूर्वक नौवाँ एवं दसवाँ योग-उपयोगद्वार— प्रस्तुत चार सूत्रो (२४ मे २७ तक) मे नारको मे तीन योग और दो उपयोग बताकर उक्त दोनों प्रकार के नारको मे क्रोधोपयुक्त आदि पूर्वोक्त २७ भगो का निरूपण किया गया है ।

योग का अर्थ—यहाँ हठयोग आदि नही है, किन्तु उसका खास अर्थ है—प्रयुजन या प्रयोग । योग का तात्पर्य है—आत्मा की शक्ति को फैलाना । वह मन, वचन और काया के माध्यम से फैलाई जाती है । इसलिए इन तीनो की प्रवृत्ति, प्रसारण या प्रयोग को योग कहा जाता है । यद्यपि केवल कार्मणकाययोग मे ८० भग पाये जाते है, किन्तु यहाँ सामान्य काययोग की विवक्षा से २७ भग ही समझने चाहिए ।

उपयोग का अर्थ—जानना या देखना है । वस्तु के सामान्य (स्वरूप) को जानना अनाकार-उपयोग है और विशेष धर्म को जानना साकारोपयोग है । दूसरे शब्दो मे, दर्शन को अनाकारोपयोग और ज्ञान को साकारोपयोग कहा जा सकता है ।[1]

ग्यारहवाँ—लेश्याद्वार

२८. एवं सत्त वि पुढवीओ नेतव्वाओ । णाणत्तं लेसासु । गाहा—

काऊ य दोसु, ततियाए मीसिया, नीलिया चउत्थीए ।
पंचमियाए मीसा, कण्हा तत्तो परमकण्हा ।।७।।

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्राक ७३

(ख) 'आकारो—विशेषांशग्रहणशक्तिस्तेन सहेति साकारः, तद्विकलोऽनाकारः सामान्यग्राहीत्यर्थः ।

—भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्रांक ७३

[२८] रत्नप्रभा पृथ्वी के विषय मे दस द्वारो का वर्णन किया है, उसी प्रकार से सातो पृथ्वियो (नरकभूमियो) के विषय मे जान लेना चाहिए। किन्तु लेश्याओ मे विशेषता है। वह इस प्रकार है—

गाथार्थ—पहली और दूसरी नरकपृथ्वी मे कापोतलेश्या है, तीसरी नरकपृथ्वी मे मिश्र अर्थात्—कापोत और नील, ये दो लेश्याएँ है, चौथी मे नील लेश्या है, पाँचवी मे मिश्र अर्थात्—नील और कृष्ण, ये दो लेश्याएँ हैं, छठी मे कृष्ण लेश्या और सातवी मे परम कृष्ण लेश्या होती है।

विवेचन—लेश्या के सिवाय सातो नरकपृथ्वियो मे शेष नौ द्वारों में समानता—प्रस्तुत सूत्र मे सातो नरकपृथ्वियो मे लेश्या के अतिरिक्त शेष नौ द्वारों का तथा उनसे सम्बन्धित क्रोधोपयुक्त आदि भगो का वर्णन रत्नप्रभापृथ्वी के वर्णन के समान है।

भवनपतियों की क्रोधोपयुक्तादि वक्तव्यतापूर्वक स्थिति आदि दस द्वार

२९. चउसट्ठीए णं भंते! असुरकुमारावाससतसहस्सेसु एगमेगंसि असुरकुमारावासंसि असुरकुमाराणं केवतिया ठिइठाणा पण्णत्ता?

गोयमा! असंखेज्जा ठितिठाणा पण्णत्ता। तं जहा—जहन्निया ठिई जहा नेरतिया तहा, नवरं पडिलोमा भंगा भाणियव्वा—सव्वे वि ताव होज्ज लोभोवयुत्ता, अहवा लोभोवयुत्ता य मायोवउत्ते य, अहवा लोभोवयुत्ता य मायोवयुत्ता य। एतेणं नेतव्व जाव थणियकुमारा, नवर णाणत्तं जाणितव्वं।

[२९ प्र] भगवन्! चौसठ लाख असुरकुमारावासो मे से एक-एक असुरकुमारावास मे रहने वाले असुरकुमारो के कितने स्थिति-स्थान कहे गये हैं?

[२९ उ] गौतम! उनके स्थिति-स्थान असख्यात कहे गये है। वे इस प्रकार हैं—जघन्य स्थिति, एक समय अधिक जघन्य स्थिति, इत्यादि सब वर्णन नैरयिको के समान जानना चाहिए। विशेषता यह है कि इनमे जहाँ सत्ताईस भग आते है, वहा प्रतिलोम (विपरीत) समझना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—समस्त असुरकुमार लोभोपयुक्त होते हैं, अथवा बहुत-से लोभोपयुक्त और एक मायोपयुक्त होता है; अथवा बहुत-से लोभोपयुक्त और मायोपयुक्त होते है, इत्यादि रूप (गम) से जानना चाहिए। इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमारो तक समझना चाहिए। विशेषता यह है कि सहनन, सस्थान, लेश्या आदि मे भिन्नता जाननी चाहिए।

एकेन्द्रियों की क्रोधोपयुक्तादि प्ररूपणापूर्वक स्थिति आदि द्वार

३० असंखेज्जेसु णं भंते! पुढविकाइयावाससतसहस्सेसु एगमेगंसि पुढविकाइयावासंसि पुढविक्काइयाणं केवतिया ठितिठाणा पण्णत्ता?

गोयमा! असंखेज्जा ठितिठाणा पण्णत्ता। तं जहा—जहन्निया ठिई जाव तप्पाउग्गुक्कोसिया ठिती।

[३० प्र] भगवन्! पृथ्वीकायिक जीवो के असख्यात लाख आवासो में से एक-एक आवास में बसने वाले पृथ्वीकायिको के कितने स्थिति-स्थान कहे गये हैं?

[३० उ.] गौतम ! उनके असख्येय स्थिति-स्थान कहे गये हैं । वे इस प्रकार हैं—उनकी जघन्य स्थिति, एक समय अधिक जघन्य स्थिति, दो समय अधिक जघन्य स्थिति, इत्यादि यावत् उनके योग्य उत्कृष्ट स्थिति ।

३१ असखेज्जेसु ।णं भंते ! पुढविक्काइयावाससतसहस्सेसु एगमेगंसि पुढविक्काइयावासंसि जहन्नठितीए वट्टमाणा पुढविक्काइया कि कोधोवउत्ता, माणोवउत्ता, मायोवउत्ता, लोभोवउत्ता ?

गोयमा ! कोहोवउत्ता वि माणोवउत्ता वि मायोवउत्ता वि लोभोवउत्ता वि । एवं पुढविक्काइयाणं सव्वेसु वि ठाणेसु अभंगयं, नवरं तेउलेस्साए असीति भंगा ।

[३१. प्र] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवो के असख्यात लाख आवासो मे से एक-एक आवास मे बसने वाले और जघन्य स्थिति वाले पृथ्वीकायिक क्या क्रोधोपयुक्त है, मानोपयुक्त है, मायोपयुक्त है या लोभोपयुक्त हैं ?

[३१. उ] गौतम ! वे क्रोधोपयुक्त भी है, मानोपयुक्त भी हैं, मायोपयुक्त भी है, और लोभोपयुक्त भी है । इस प्रकार पृथ्वीकायिको के सब स्थानो मे अभगक हैं (पृथ्वीकायिको की सख्या बहुत होने से उनमे एक, बहुत आदि विकल्प नही होते । वे सभी स्थानो मे बहुत हैं ।) विशेष यह है कि तेजोलेश्या मे अस्सी भग कहने चाहिए ।

३२ [१] एवं आउक्काइया वि ।

[२] तेउक्काइय-वाउक्काइयाण सव्वेसु वि ठाणेसु अभंगयं ।

[३] वणप्फतिकाइया जहा पुढविक्काइया ।

[३२-१] इसी प्रकार अप्काय के सम्बन्ध मे भी जानना चाहिए ।

[३२-२] तेजस्काय और वायुकाय के सब स्थानो मे अभगक है ।

[३२-३] वनस्पतिकायिक जीवो के सम्बन्ध मे पृथ्वीकायिको के समान समझना चाहिए ।

विकलेन्द्रियों के क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक स्थिति आदि दसद्वार

३३ बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदियाणं जेहिं ठाणेहिं नेरतियाणं असीइ भंगा तेहिं ठाणेहिं असीइं चेव । नवरं अब्भहिया सम्मत्ते, आभिणिबोहियनाणे सुयनाणे य, एएहिं असीइ भंगा; जेहिं ठाणेहिं नेरतियाण सत्तावीसं भंगा तेसु ठाणेसु सव्वेसु अभंगय ।

[३३] जिन स्थानो मे नैरयिक जीवो के अस्सी भग कहे गये है, उन स्थानो मे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवो के भी अस्सी भग होते है । विशेषता यह है कि सम्यक्त्व (सम्यग्दृष्टि) आभिनिबोधिक ज्ञान, और श्रुतज्ञान—इन तीनो स्थानो मे भी द्वीन्द्रिय आदि जीवो के अस्सी भग होते हैं, इतनी बात नारक जीवो से अधिक है । तथा जिन स्थानो मे नारक जीवो के सत्ताईस भग कहे हैं, उन सभी स्थानो मे यहाँ अभगक है, अर्थात्—कोई विकल्प नही होते ।

तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों के क्रोधोपयुक्तादि कथनपूर्वक दसद्वारनिरूपण

३४. पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जहा नेरइया तहा भाणियव्वा, नवरं जेहिं सत्तावीसं भंगा तेहिं अभंगयं कायव्वं । जत्थ असीति तत्थ असीतिं चेव ।

[३४] जैसा नैरयिको के विषय मे कहा, वैसा ही पचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक जीवो के विषय में कहना चाहिए। विशेषता यह है कि जिन-जिन स्थानो मे नारक-जीवों के सत्ताईस भग कहे गये हैं, उन-उन स्थानों मे यहा अभगक कहना चाहिए, और जिन स्थानो में नारकों के अस्सी भग कहे हैं, उन स्थानो मे पचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीवो के भी अस्सी भग कहने चाहिए।

मनुष्यों के क्रोधोपयुक्तादि निरूपणपूर्वक दसद्वार

३५. मणुस्सा वि। जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं असीति भंगा तेहिं ठाणेहिं मणुस्साण वि असीति भंगा भाणियव्वा। जेसु ठाणेसु सत्तावीसा तेसु अभंगयं, नवरं मणुस्साणं अब्महियं—जहन्नियाए ठिईए आहारए य असीति भंगा।

[३५] नारक जीवो मे जिन-जिन स्थानो मे अस्सी भग कहे गये है, उन-उन स्थानो मे मनुष्यो के भी अस्सी भग कहने चाहिए। नारक जीवो मे जिन-जिन स्थानो में सत्ताईस भग कहे गये है उनमे मनुष्यो मे अभगक कहना चाहिए। विशेषता यह है कि मनुष्यो के जघन्य स्थिति मे और आहारक शरीर मे अस्सी भग होते हैं, और यही नैरयिको की अपेक्षा मनुष्यो मे अधिक है।

वाणव्यन्तरों के क्रोधोपयुक्तपूर्वक दसद्वार

३६ वाणमंतर-जोदिस-वेमाणिया जहा भवणवासी (सु. २९) नवर णाणत्तं जाणियव्वं जं जस्स; जाव[1] अणुत्तरा।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति०।

॥ पंचमो उद्देसो समत्तो ॥

[३६] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो का कथन भवनपति देवो के समान समझना चाहिए। विशेषता यह है कि जो जिसका नानात्व—भिन्नत्व है, वह जान लेना चाहिए, यावत् अनुत्तरविमान तक कहना चाहिए।

'भगवन्! यह इसी प्रकार है, यह इसी प्रकार है', ऐसा कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरण करते हैं।

विवेचन—भवनपति से लेकर वैमानिक देवों तक के क्रोधोपयुक्त आदि भग निरूपणपूर्वक स्थिति—अवगाहनादि दसद्वारप्ररूपण—प्रस्तुत आठ सूत्रो (सू २९ से ३६ तक) द्वारा शास्त्रकार ने स्थिति अवगाहना आदि दस द्वारो का प्ररूपण करते हुए उनसे सम्बन्धित क्रोधोपयुक्त आदि भगो का प्रतिपादन किया है।

भवनपति देवों की प्रकृति नारकों की प्रकृति से भिन्न—नरक के जीवो मे क्रोध अधिक होता है, वहाँ भवनपति आदि देवो मे लोभ की अधिकता होती है। इसलिए नारको मे जहाँ २७ भग—क्रोध, मान, माया, लोभ इस क्रम से कहे गये थे, वहाँ देवो मे इससे विपरीत क्रम से कहना चाहिए, यथा—लोभ, माया, मान, और क्रोध। देवो की प्रकृति मे लोभ की अधिकता होने से समस्त भगो मे

१. **'जाव'** पद से 'सोहम्म-ईसाण' से लेकर 'अणुत्तरा' (अनुत्तरदेवलोक के देव) तक के नामो की योजना कर लेनी चाहिए।

'लोभ' शब्द को बहुवचनान्त ही रखना चाहिए। यथा—**असंयोगी एक भंग**—१. सभी लोभी, **द्विकसंयोगी ६ भंग**—१. लोभी बहुत, मायी एक, २. लोभी बहुत, मायी बहुत, ३. लोभी बहुत, मानी एक, ४ लोभी बहुत, मानी बहुत, ५. लोभी बहुत, क्रोधी एक और ६ लोभी बहुत, क्रोधी बहुत।

त्रिकसंयोगी १२ भंग—१ लोभी बहुत, मायी एक, मानी एक, २ लोभी बहुत, मायी एक मानी बहुत, ३ लोभी बहुत, मायी बहुत, मानी एक, ४. लोभी बहुत, मायी बहुत, मानी बहुत, ५ लोभी बहुत, मायी एक, क्रोधी एक, ६. लोभी बहुत, मानी एक, क्रोधी एक, ७. लोभी बहुत, मायी एक, क्रोधी एक, ८ लोभी बहुत, मायी बहुत, क्रोधी बहुत; ९ लोभी बहुत, मानी एक, क्रोधी एक, १० लोभी बहुत, मानी एक, क्रोधी बहुत; ११ लोभी बहुत, मानी बहुत, क्रोधी एक और १२ लोभी बहुत, मानी बहुत, क्रोधी बहुत।

चतुःसंयोगी ८ भंग—१ लोभी बहुत, मायी एक, मानी एक, क्रोधी एक, २ लोभी बहुत, मायी एक, मानी एक, क्रोधी बहुत, ३ लोभी बहुत, मायी एक, मानी बहुत, क्रोधी एक, ४ लोभी बहुत, मायी एक, मानी बहुत, क्रोधी बहुत, ५ लोभी बहुत, मायी बहुत, मानी एक, क्रोधी एक, ६ लोभी बहुत, मायी बहुत, मानी एक, क्रोधी बहुत, ७ लोभी बहुत, मायी बहुत, मानी एक, क्रोधी एक और ८. लोभी बहुत, मायी बहुत, मानी बहुत, क्रोधी बहुत।

अन्य द्वारों मे अन्तर—असुरकुमारादि सहननरहित हैं, किन्तु उनके शरीरसघातरूप से जो पुद्गल परिणमते है, वे इष्ट और सुन्दर होते हैं। उनके भवधारणीय शरीर का सस्थान समचतुरस्र होता है, उत्तरवैक्रिय शरीर किसी एक सस्थान मे परिणत होता है। तथा असुरकुमारादि मे कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या होती है।

पृथ्वीकायादि के दश द्वार और क्रोधादियुक्त के भंग—इनके स्थितिस्थान आदि दशो ही द्वारो मे अभगक समझना चाहिए। केवल पृथ्वीकायसम्बन्धी लेश्याद्वार मे तेजोलेश्या की अपेक्षा ८० भग होते हैं। एक या अनेक देव देवलोक से च्यवकर पृथ्वीकाय मे उत्पन्न होते हैं तब तेजोलेश्या होती है। उनके एकत्वादि के कारण ८० भग होते हैं। पृथ्वीकायिक मे ३ शरीर—(औदारिक, तैजस्, कार्मण), शरीरसंघातरूप मे मनोज्ञ-अमनोज्ञ दोनो प्रकार के पुद्गल परिणमते हैं। इनमे भवधारणीय एव उत्तरवैक्रियशरीर भेद नही होते। क्रमश चार लेश्याएँ होती है। ये हुण्डक सस्थानी, एकान्त मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी (मति-श्रुताज्ञान), केवल काययोगी होते हैं। इसी तरह अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के दश ही द्वार समझने चाहिए। तेजस्काय और वायुकाय मे देव उत्पन्न नही होते, इसलिए तेजोलेश्या और तत्सम्बन्धी ८० भग नही होते। वायुकाय के ४ शरीर (आहारक को छोड़कर) होते हैं।

विकलेन्द्रिय जीवो से नारको मे अन्तर—चू कि विकलेन्द्रिय जीव अल्प होते हैं, इसलिए उनमे एक-एक जीव भी कदाचित् क्रोधादि—उपयुक्त हो सकता है, विकलेन्द्रियो मे मिश्रदृष्टि नही होती, आभिनिबोधिक ज्ञान और श्रुतज्ञान (अपर्याप्त दशा मे) होने से इनमे भी ८० भग होते हैं। नारको मे जिन-जिन स्थानो मे २७ भग बतलाए गए है, उन-उन स्थानो मे विकलेन्द्रिय मे अभगक (भगो का अभाव) कहना चाहिए। इनमें तेजोलेश्या नही होती। ये (विकलेन्द्रिय) सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादष्टि तथा ज्ञानी और अज्ञानी, तथा काययोगी और वचनयोगी होते है।

तिर्यंचपंचेन्द्रिय जीवों और नारकों मे अन्तर—नारको मे जहाँ २७ भग कहे गए हैं, वहाँ इनमे अभगक कहना चाहिए, क्योकि क्रोधादि—उपयुक्त पचेन्द्रियतिर्यंच एक साथ बहुत पाए जाते हैं, नारकों मे जहाँ ८० भग कहे गए हैं, वहाँ इनमें भी ८० भग होते हैं। इनमे आहारक को छोडकर चार शरीर, वज्रऋषभनाराचादि छह सहनन तथा ६ सस्थान एव कृष्णादि छहो लेश्याएँ होती है।

मनुष्यों और नारको के कथन मे अन्तर—जिन द्वारो में नारको के ८० भग कहे हैं, उनमें मनुष्यो के भी ८० भग होते हैं। एक समय अधिक जघन्य स्थिति से लेकर सख्यात समय अधिक तक की जघन्य स्थिति मे, जघन्य तथा एक प्रदेशाधिक जघन्य अवगाहना से लेकर सख्यातप्रदेशाधिक जघन्य अवगाहना मे, और मिश्रदृष्टि मे भी नारको के समान ८० भग ही होते है। जहाँ नारको के २७ भग कहे है, वहाँ मनुष्यो मे अभगक हैं, क्योकि मनुष्य सभी कषायो से उपयुक्त बहुत पाए जाते हैं। मनुष्यो मे शरीर पाच, सहनन छह, सस्थान छह, लेश्याएँ छह, दृष्टि तीन, ज्ञान पाच, अज्ञान तीन आदि होते हैं। आहारक शरीर वाले मनुष्य अत्यल्प होने से ८० भग होते है। केवलज्ञान मे कषाय नही होता।

चारों देवों सम्बन्धी कथन में अन्तर—भवनपति देवो की तरह शेष तीन देवो का वर्णन समझना। ज्योतिष्क और वैमानिको मे कुछ अन्तर है। ज्योतिष्को मे केवल एक तेजोलेश्या होती है, जबकि वैमानिको में तेजो, पद्म और शुक्ल, ये तीन शुभलेश्याएँ पाई जाती हैं। वैमानिको मे नियमत तीन ज्ञान, तीन अज्ञान पाए जाते हैं। असज्ञी जीव ज्योतिष्क देवो मे उत्पन्न नही होते, इसलिए उनमे अपर्याप्त अवस्था मे भी विभगज्ञान होता है।[1]

॥ प्रथम शतक : पंचम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक ७३ से ७७ तक

छट्ठो उद्देसओ : 'जावंते'

छठा उद्देशक : 'यावन्त'

सूर्य के उदयास्त क्षेत्र स्पर्शादि सम्बन्धी प्ररूपणा

१. जावतियातो ण भंते ! ओवसंतरातो उदयंते सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छति, अत्थमंते वि य णं सूरिए तावतियाओ चेव ओवासंतराओ चक्खुफासं हव्वमागच्छति ?

हंता, गोयमा ! जावतियाओ णं ओवासंतराओ उदयंते सूरिए चक्खुफासं हव्वमागच्छति अत्थमंते वि सूरिए जाव हव्वमागच्छति ।

[१ प्र] भगवन् ! जितने जितने अवकाशान्तर से अर्थात्—जितनी दूरी से उदय होता हुआ सूर्य आँखो से शीघ्र देखा जाता है, उतनी ही दूरी से क्या अस्त होता हुआ सूर्य भी दिखाई देता है ?

[१. उ] हाँ, गौतम ! जितनी दूर से उदय होता हुआ सूर्य आँखो से दीखता है, उतनी ही दूर से अस्त होता सूर्य भी आँखो से दिखाई देता है ।

२ जावतियं णं भंते ! खेत्तं उदयंते सूरिए आतवेणं सव्वतो समंता ओभासेति उज्जोएति तवेति पभासेति अत्थमंते वि य णं सूरिए तावइयं चेव खेत्त आतवेणं सव्वतो समंता ओभासेति उज्जोएति तवेति पभासेति ?

हंता, गोयमा ! जावतियं णं खेत्तं जाव पभासेति ।

[२ प्र] भगवन् ! उदय होता हुआ सूर्य अपने ताप द्वारा जितने क्षेत्र को सब प्रकार से, चारो ओर से सभी दिशाओं-विदिशाओ को प्रकाशित करता है, उद्योतित करता है, तपाता है और अत्यन्त तपाता है, क्या उतने ही क्षेत्र को अस्त होता हुआ सूर्य भी अपने ताप द्वारा सभी दिशाओ-विदिशाओ को प्रकाशित करता है, उद्योतित करता है, तपाता है और बहुत तपाता है ?

[२. उ] हाँ, गौतम ! उदय होता हुआ सूर्य जितने क्षेत्र को प्रकाशित करता है, यावत् अत्यन्त तपाता है, उतने ही क्षेत्र को अस्त होता हुआ सूर्य भी प्रकाशित करता है, यावत् अत्यन्त तपाता है ।

३. [१] तं भंते ! किं पुट्ठं ओभासेति अपुट्ठं ओभासेति ?

जाव[1] छद्दिसिं ओभासेति ।

---

१ यहाँ 'जाव' शब्द से निम्नोक्त पाठ समझे—

"गोयमा ! पुट्ठं ओभासेइ नो अपुट्ठं ।

त भंते ! ओगाढं ओभासेइ ? अणोगाढं ओभासेइ ? गोयमा ! ओगाढं ओभासेइ, नो अणोगाढं । एवं अणंतरोगाढं ओभासेइ, नो परंपरोगाढं । तं भंते ! किं अणुं ओभासइ ? बायरं ओभासेइ ? गोयमा ! अणुं पि ओभासेइ, बायरं पि ओभासेइ । त भंते ! उड्ढं ओभासइ, तिरियं ओभासइ, अहे ओभासइ ? गोयमा ! उड्ढं पि, तिरियं पि, अहे वि ओभासइ । त भंते ! आइं ओभासइ ,मज्झे ओभासइ अंते ओभासइ ? गोयमा ! आइं पि मज्झे वि अंते वि ओभासइ । तं भंते ! सविसए ओभासइ अविसए ओभासइ ? गोयमा ! सविसए ओभासइ, नो अविसए । त भंते ! आणुपुव्विं ओभासइ ? अणाणुपुव्विं ओभासइ ? गोयमा ! आणुपुव्विं ओभासइ, नो अणाणुपुव्विं । तं भते ! कइदिसिं ओभासइ ? गोयमा ! नियमा छद्दिसिं ति" ।

[३-१ प्र.] भगवन् ! सूर्य जिस क्षेत्र को प्रकाशित करता है, क्या वह क्षेत्र सूर्य से स्पृष्ट—स्पर्श किया हुआ होता है, या अस्पृष्ट होता है ?

[३-१ उ.] गौतम ! वह क्षेत्र सूर्य से स्पृष्ट होता है और यावत् उस क्षेत्र को छहो दिशाओं मे प्रकाशित करता है ।

[२] एवं उज्जोवेति ? तवेति ? पभासेति ?

जाव नियमा छद्दिसिं ।

[३-२] इसी प्रकार उद्योतित करता है, तपाता है और बहुत तपाता है, यावत् नियमपूर्वक छहो दिशाओ मे अत्यन्त तपाता है ।

४. [१] से नूणं भंते ! सव्वंति सव्वावंति फुसमाणकालसमयंसि जावतियं खेत्तं फुसइ तावतियं फुसमाणे पुट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया ?

हंता, गोयमा ! सव्वंति जाव वत्तव्वं सिया ।

[४-१ प्र.] भगवन् ! स्पर्श करने के काल-समय मे सूर्य के साथ सम्बन्ध रखने वाले (सर्वाय) जितने क्षेत्र को सर्व दिशाओ मे सूर्य स्पर्श कर रहा होता है, क्या वह क्षेत्र 'स्पृष्ट' कहा जा सकता है ?

[४-१ उ] हाँ, गौतम ! वह 'सर्व' यावत् स्पर्श करता हुआ स्पृष्ट, ऐसा कहा जा सकता है ।

[२] त भंते ! किं पुट्ठं फुसति अपुट्ठं फुसइ ?

जाव नियमा छद्दिसिं ।

[४-२ प्र.] भगवन् ! सूर्य स्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श करता है, या अस्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श करता है ?

[४-२ उ] गौतम ! सूर्य स्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श करता है, यावत् नियमपूर्वक छहो दिशाओ मे स्पर्श करता है ।

विवेचन—सूर्य के उदयास्तक्षेत्रस्पर्शादिसम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रो मे सूर्य के द्वारा किये जाते हुए क्षेत्रस्पर्श तथा ताप द्वारा उक्त को प्रकाशित, प्रतापित एव स्पृष्ट करने के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर अकित हैं ।

सूर्य कितनी दूर से दिखता है और क्यो ?—सूर्य के १८४ मण्डल कहे गये है । कर्कसक्रान्ति मे सूर्य सर्वाभ्यन्तर (सब के मध्य वाले) मण्डल में प्रवेश करता है । उस समय वह भरतक्षेत्रवासियो को साधिक ४७२६३ योजन दूर से दीखता है । इतनी दूर से दिखाई देने का कारण यह है कि चक्षु अप्राप्यकारी इन्द्रिय है, यह अपने विषय (रूप) को छुए बिना ही दूर से देख सकती है । अन्य सब इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं । यहाँ **चक्खुफासं** (चक्षु.स्पर्श) शब्द दिया गया है, उसका अर्थ—आँखों का

स्पर्श होना नहीं, अपितु आँखो से दिखाई देना है। स्पर्श होने पर तो आँख अपने मे रहे हुए काजल को भी नही देख पाती।

ओभासेइ आदि पदों के अर्थ—ओभासेइ—थोड़ा प्रकाशित होता है। उदयास्त समय का लालिमायुक्त प्रकाश अवभास कहलाता है। **उज्जोएइ**—उद्योतित होता है, जिससे स्थूल वस्तुएँ दिखाई देती हैं। **तवेइ**—तपता है—शीत को दूर करता है, उस ताप मे छोटे-बड़े सभी पदार्थ स्पष्ट दिखाई देते हैं। **पभासेइ**—अत्यन्त तपता है, जिस ताप मे छोटी से छोटी वस्तु भी दिखाई देती है।

सूर्य द्वारा क्षेत्र का अवभासादि—सूर्य जिस क्षेत्र को अवभासित आदि करता है, वह उस क्षेत्र का स्पर्श—अवगाहन करके अवभासित आदि करता है। अनन्तरावगाढ को अवभासितादि करता है, परम्परावगाढ को नही। वह अणु, बादर, ऊपर, नीचे, तिरछा, आदि, मध्य और अन्त सब क्षेत्र को स्वविषय मे, क्रमपूर्वक, छहो दिशाओ मे अवभासितादि करता है। इसलिए इसे स्पृष्ट-क्षेत्रस्पर्शी कहा जाता है।[1]

लोकान्त-अलोकान्तादिस्पर्श-प्ररूपणा

५. [१] लोअंते भंते ! अलोअंतं फुसति ? अलोअंते वि लोअंतं फुसति ?

हंता, गोयमा ! लोगंते अलोगंतं फुसति, अलोगंते वि लोगंतं फुसति।

[५-१ प्र] भगवन् ! क्या लोक का अन्त (किनारा) अलोक के अन्त को स्पर्श करता है ? क्या अलोक का अन्त लोक के अन्त को स्पर्श करता है ?

[५-१ उ] हाँ, गौतम ! लोक का अन्त अलोक के अन्त को स्पर्श करता है, और अलोक का अन्त लोक के अन्त को स्पर्श करता है।

[२] तं भंते ! किं पुट्ठं फुसति ?

जाव नियमा छद्दिसिं फुसति।

[५-२ प्र] भगवन् ! वह जो (लोक का अन्त अलोकान्त को और अलोकान्त लोकान्त को) स्पर्श करता है, क्या वह स्पृष्ट है या अस्पृष्ट है ?

[५-२ उ] गौतम ! यावत् नियमपूर्वक छहो दिशाओ मे स्पृष्ट होता है।

६. [१] दीवंते भंते ! सागरंतं फुसति ? सागरंते वि दीवंतं फुसति ?

हंता, जाव नियमा छद्दिसिं फुसति।

[६-१ प्र] भगवन् ! क्या द्वीप का अन्त (किनारा) समुद्र के अन्त को स्पर्श करता है ? और समुद्र का अन्त द्वीप के अन्त को स्पर्श करता है ?

[६-१ उ] हाँ गौतम ! यावत्—नियम से छहो दिशाओ मे स्पर्श करता है।

[२] एवं एतेणं अभिलावेणं उदयंते पोदंतं, छिद्दंते दूसंतं, छायंते आतवंतं ?

जाव नियमा छद्दिसिं फुसति।

---

१. भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्रांक ७८

[६-२ प्र] भगवन् ! क्या इसी प्रकार इसी अभिलाप से (इन्ही शब्दों में) पानी का किनारा, पोत (नौका-जहाज) के किनारे को और पोत का किनारा पानी के किनारे को स्पर्श करता है ? क्या छेद का किनारा वस्त्र के किनारे को और वस्त्र का किनारा छेद के किनारे को स्पर्श करता है ? और क्या छाया का अन्त आतप (धूप) के अन्त को और आतप का अन्त छाया के अन्त को स्पर्श करता है ?

[६-२ उ] हाँ, गौतम ! यावत् नियमपूर्वक छहो दिशाओ को स्पर्श करता है।

विवेचन—लोकान्त-अलोकान्तादिस्पर्श-प्ररूपणा—प्रस्तुत दो सूत्रो मे लोकान्त और अलोकान्त, द्वीपान्त और सागरान्त, जलान्त और पोतान्त छेदान्त और वस्त्रान्त तथा छायान्त और आतपान्त के (छहो दिशाओ से स्पृष्ट) स्पर्श का निरूपण किया गया है। लोकान्त अलोकान्त से और अलोकान्त लोकान्त से छहो दिशाओ मे स्पृष्ट है। उसी प्रकार सागरान्त द्वीपान्त को परस्पर स्पर्श करता है।[1]

लोक-अलोक—जहाँ धर्मास्तिकाय आदि पचास्तिकाय को पूर्णज्ञानियो ने विद्यमान देखा, उसे 'लोक' सज्ञा दी, और जहाँ केवल आकाश देखा उस भाग को अलोक सज्ञा दी।

चौबीस दण्डकों में अठारह पापस्थान-क्रिया-स्पर्श प्ररूपणा

७ [१] अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणातिवातेणं किरिया कज्जति ?

हंता, अत्थि।

[७-१ प्र] भगवन् ! क्या जीवों द्वारा प्राणातिपातक्रिया की जाती है ?

[७-१ उ] हाँ, गौतम ! की जाती है।

[२] सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जति ? अपुट्ठा कज्जति ?

जाव निव्वाघातेणं छद्दिसिं, वाघातं पडुच्च सिय तिदिसिं, सिय चउदिसिं, सिय पंचदिसिं।

[७-२ प्र] भगवन् ! की जाने वाली वह प्राणातिपातक्रिया क्या स्पृष्ट है, या अस्पृष्ट है ?

[७-२ उ] गौतम ! यावत् व्याघात न हो तो छहो दिशाओ को और व्याघात हो तो कदाचित् तीन दिशाओ को, कदाचित् चार दिशाओं को और कदाचित् पाच दिशाओ को स्पर्श करती है।

[३] सा भंते ! किं कडा कज्जति ? अकडा कज्जति ?

गोयमा ! कडा कज्जति, नो अकडा कज्जति।

[७-३ प्र] भगवन् ! की जाने वाली क्या वह (प्राणातिपात) क्रिया 'कृत' है अथवा अकृत ?

[७-३ उ] गौतम ! वह क्रिया कृत है, अकृत नही।

[४] सा भंते ! किं अत्तकडा कज्जति ? परकडा कज्जति ? तदुभयकडा कज्जति ?

गोयमा ! अत्तकडा कज्जति, णो परकडा कज्जति, णो तदुभयकडा कज्जति।

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ७८-७९

[७-४ प्र.] भगवन् ! की जाने वाली यह क्रिया क्या आत्मकृत है, परकृत है, अथवा उभयकृत है ?

[७-४ उ.] गौतम ! वह क्रिया आत्मकृत है, किन्तु परकृत या उभयकृत नहीं ।

[५] सा भंते ! किं आणुपुव्विकडा कज्जति ? अणाणुपुव्विकडा कज्जति ?

गोयमा ! आणुपुव्विकडा कज्जति नो अणाणुपुव्विकडा कज्जति । जा य कडा, जा य कज्जति, जा य कज्जिस्सति सव्वा सा आणुपुव्विकडा, नो अणाणुपुव्विकड त्ति वत्तव्वं सिया ।

[७-५ प्र.] भगवन् ! जो क्रिया की जाती है, वह क्या आनुपूर्वी—अनुक्रमपूर्वक की जाती है, या बिना अनुक्रम से (पूर्व-पश्चात् के बिना) की जाती है ?

[७-५ उ.] गौतम ! वह अनुक्रमपूर्वक की जाती है, किन्तु बिना अनुक्रम से नहीं की जाती । जो क्रिया की गई है, या जो क्रिया की जा रही है, अथवा जो क्रिया की जाएगी, वह सब अनुक्रमपूर्वक कृत है । किन्तु बिना अनुक्रमपूर्वक कृत नहीं है, ऐसा कहना चाहिए ।

८. [१] अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं पाणातिवायकिरिया कज्जति ?

हंता, अत्थि ।

[८-१ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिकों द्वारा प्राणातिपातक्रिया की जाती है ?

[८-१ उ.] हाँ, गौतम ! की जाती है ।

[२] सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जति ? अपुट्ठा कज्जति ?

जाव नियमा छद्दिसिं कज्जति ।

[८-२ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों द्वारा जो क्रिया की जाती है, वह स्पृष्ट की जाती है या अस्पृष्ट की जाती है ?

[८-२ उ.] गौतम ! वह यावत् नियम से छहों दिशाओं में की जाती है ।

[३] सा भंते ! किं कडा कज्जति ? अकडा कज्जति ?

तं चेव जाव[1] नो अणाणुपुव्विकड त्ति वत्तव्वं सिया ।

[८-३ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों द्वारा जो क्रिया की जाती है, वह क्या कृत है अथवा अकृत है ?

[८-३ उ.] गौतम ! वह पहले की तरह जानना चाहिए, यावत्—वह अनुक्रमपूर्वक कृत है, अननुपूर्वक कृत नहीं, ऐसा कहना चाहिए ।

९. जहा नेरइया (सु. ८) तहा एगिंदियवज्जा भाणितव्वा जाव[2] वेमाणिया ।

[९] नैरयिकों के समान एकेन्द्रिय को छोड़कर यावत् वैमानिकों तक सब दण्डकों में कहना चाहिए ।

१०. एगिंदिया जहा जीवा (सु ७) तहा भाणियव्वा ।

---

१ 'जाव' पद से सू ७-५ में अंकित 'आणुपुव्विकडा कज्जति' से लेकर '· · त्ति वत्तव्वं सिया' तक का पाठ समझ लेना चाहिए ।

२. 'जाव' पद से द्वीन्द्रियादि से लेकर वैमानिकपर्यन्त का पाठ समझना चाहिए ।

[१०] एकेन्द्रियो के विषय में औघिक (सामान्य) जीवो की भांति कहना चाहिए।

११. जहा पाणादिवाते (सु. ७-१०) तहा मुसावाये तहा अदिन्नादाणे मेहुणे परिग्गहे कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले एवं एते अट्ठारस, चउवीसं दंडगा भाणियव्वा।

सेवं भंते ! सेव भंते ! त्ति भगवं गोतमे समणं भगवं जाव विहरति।

[११] प्राणातिपात (क्रिया) के समान मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, यावत् मिथ्यादर्शन शल्य तक इन अठारह ही पापस्थानो के विषय में चौबीस दण्डक कहने चाहिए।

"हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है" यो कहकर भगवान् गौतम श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दना—नमस्कार करके यावत् विचरते हैं।

विवेचन—चौबीस दण्डको मे अष्टादशपापस्थान क्रिया-स्पर्शप्ररूपणा—प्रस्तुत पाच सूत्रो मे सामान्य जीवो, नैरयिको तथा शेष सभी दण्डको में प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक की क्रिया के सम्बन्ध मे विविध पहलुओ से प्रश्नोत्तरो का निरूपण है।

प्राणातिपातादि क्रिया के सम्बन्ध में निष्कर्ष—(१) जीव प्राणातिपातादि की क्रिया स्वय करते हैं, वे बिना किये नही होती। (२) ये क्रियाएँ मन, वचन या काया से स्पृष्ट होती हैं। (३) ये क्रियाएँ करने से लगती हैं, बिना किये नही लगती। फिर भले ही वह क्रिया मिथ्यात्वादि किसी कारण से की जाएँ, (४) क्रियाएँ स्वय करने से लगती हैं, दूसरे के (ईश्वर, काल आदि के) करने से नहीं लगती, (५) ये क्रियाएँ अनुक्रमपूर्वक कृत होती हैं।

कुछ शब्दों की व्याख्या—मोहनीयकर्म के उदय से चित्त मे जो उद्वेग होता है, उस **अरति** और विषयानुराग को **रति** कहते हैं। लडाई-झगडा करना **कलह** है, असद्भूत दोषो को प्रकट रूप से जाहिर करना **'अभ्याख्यान'** और गुप्तरूप से जाहिर करना या पीठ पीछे दोष प्रकट करना **पैशुन्य** है। दूसरे की निन्दा करना **पर-परिवाद** है, मायापूर्वक झूठ बोलना **मायामृषावाद** है, श्रद्धा का विपरीत होना मिथ्यादर्शन है, वही शल्यरूप होने से **मिथ्यादर्शनशल्य** है।[1]

रोह अनगार का वर्णन

१२. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतेवासी रोहे नाम अणगारे पगतिभद्दए पगतिमउए पगतिविणीते पगति उवसंते पगति पतणुकोह-माण-माय-लोभे मिउमद्दवसपन्ने अल्लीणे भद्दए विणीए समणस्स भगवतो महावीरस्स अदूरसामते उड्ढंजाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगते संजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे विहरति। तए ण से रोहे नामं अणगारे जातसड्ढे जाव[2] पज्जुवासमाणे एव वदासी—

[१२] उस काल और उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के अन्तेवासी (शिष्य) रोह नामक अनगार थे। वे प्रकृति से भद्र, प्रकृति से मृदु (कोमल), प्रकृति से विनीत, प्रकृति से

---

१. भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ८०

२ 'जाव' पद से प्रथम उद्देशक के उपोद्घात में वर्णित श्री गौतमवर्णन मे प्रयुक्त **'जायसंसाए जायकोउहल्ले'** इत्यादि समस्त विशेषणरूप पद यहां समझ लेने चाहिए।

उपशान्त, अल्प क्रोध, मान, माया और लोभ वाले, अत्यन्त निरहकारता-सम्पन्न, गुरु समाश्रित (गुरु-भक्ति मे लीन), किसी को सताप न पहुँचाने वाले, विनयमूर्ति थे। वे रोह अनगार उर्ध्वजानु (घुटने ऊपर करके) और नीचे को ओर सिर झुकाए हुए, ध्यान रूपी कोष्ठक (कोठे) मे प्रविष्ट, सयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए श्रमण भगवान् महावीर के समीप विचरते थे। तत्पश्चात् वह रोह अनगार जातश्रद्ध होकर यावत् भगवान् की पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—

विवेचन—रोह अनगार और भगवान् से प्रश्न पूछने की तैयारी—प्रकृति से भद्र एव विनीत रोह अनगार उत्कुटासन से बैठे ध्यान कोष्ठक मे लीन होकर तत्त्वविचार कर रहे थे, तभी उनके मन मे कुछ प्रश्न उद्भूत हुए, उन्हे पूछने के लिए वे विनयपूर्वक भगवान् के समक्ष उपस्थित हुए, यही वर्णन प्रस्तुत सूत्र में प्रस्तुत किया गया है।

रोह अनगार के प्रश्न और भगवान् महावीर के उत्तर

१३ पुव्विं भंते ! लोए ? पच्छा अलोए ? पुव्विं अलोए ? पच्छा लोए ?

रोहा ! लोए य अलोए य पुव्विं पेते, पच्छा पेते, दो वि ते सासता भावा, अणाणुपुव्वी एसा रोहा !

[१३ प्र] भगवन् ! पहले लोक है, और पीछे अलोक है ? अथवा पहले अलोक और पीछे लोक है ?

[१३ उ] रोह ! लोक और अलोक, पहले भी हैं और पीछे भी हैं। ये दोनो ही शाश्वत-भाव हैं। हे रोह ! इन दोनो मे 'यह पहला और यह पिछला', ऐसा क्रम नही है।

१४ पुव्विं भंते ! जीवा ? पच्छा अजीवा ? पुव्विं अजीवा ? पच्छा जीवा ?

जहेव लोए य अलोए य तहेव जीवा य अजीवा य।

[१४ प्र] भगवन् ! पहले जीव और पीछे अजीव है, या पहले अजीव और पीछे जीव है ?

[१४ उ] रोह ! जैसा लोक और अलोक के विषय मे कहा है, वैसा ही जीवों और अजीवो के विषय मे समझना चाहिए।

१५ एवं भवसिद्धिया[1] य अभवसिद्धिया य, सिद्धी असिद्धी, सिद्धा असिद्धा।

[१५] इसी प्रकार भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक, सिद्धि और असिद्धि तथा सिद्ध और ससारी के विषय मे भी जानना चाहिए।

१६ पुव्विं भंते ! अंडए ? पच्छा कुक्कुडी ? पुव्विं कुक्कुडी ? पच्छा अंडए ?

रोहा ! से णं अंडए कतो ?

भगवं ! तं कुक्कुडीतो।

---

१ **भवसिद्धिया**—भविष्यतीति भवा, भवसिद्धि निर्वृतिर्येषां ते, भव्या इत्यर्थ।
भविष्य मे जिनकी सिद्धि-मुक्ति होगी, वे भव्य भवसिद्धिक होते हैं।

सा णं कुक्कुडी कतो ?

भंते ! अंडयातो ।

एवामेव रोहा ! से य अंडए सा य कुक्कुडी, पुव्विं पेते, पच्छा पेते, दो वेते सासता भावा, अणाणुपुव्वी एसा रोहा !

[१६ प्र] भगवान् ! पहले अण्डा और फिर मुर्गी है ? या पहले मुर्गी और फिर अण्डा है ?

[१६ उ] (भगवान्—) हे रोह ! वह अण्डा कहाँ से आया ?

(रोह—) भगवन् ! वह मुर्गी से आया ।

(भगवान्—) वह मुर्गी कहाँ से आई ?

(रोह—) भगवन् ! वह अण्डे से हुई ।

(भगवान्—) इसी प्रकार हे रोह ! मुर्गी और अण्डा पहले भी है, और पीछे भी है। ये दोनो शाश्वतभाव है । हे रोह ! इन दोनो मे पहले-पीछे का क्रम नही है ।

१७. पुव्विं भंते ! लोइंते ? पच्छा अलोयंते ? पुव्वं अलोअंते ? पच्छा लोअंते ?

रोहा ! लोअंते य अलोअंते य जाव[1] अणाणुपुव्वी एसा रोहा !

[१७ प्र.] भगवन् ! पहले लोकान्त और फिर अलोकान्त है ? अथवा पहले अलोकान्त और फिर लोकान्त है ?

[१७ उ] रोह ! लोकान्त और अलोकान्त, इन दोनो मे यावत् कोई क्रम नही है ।

१८. पुव्विं भंते ! लोअंते ? पच्छा सत्तमे ओवासंतरे ? पुच्छा ।

रोहा ! लोअंते य सत्तमे य ओवासंतरे पुव्विं पेते जाव अणाणुपुव्वी एसा रोहा ।

[१८ प्र] भगवन् ! पहले लोकान्त है और फिर सातवाँ अवकाशान्तर है ? अथवा पहले सातवाँ अवकाशान्तर है और पीछे लोकान्त है ?

[१८ उ] हे रोह ! लोकान्त और सप्तम अवकाशान्तर, ये दोनो पहले भी है और पीछे भी हैं । इस प्रकार यावत्—हे रोह ! इन दोनो में पहले-पीछे का क्रम नही है ।

१९ एवं लोअंते य सत्तमे य तणुवाते । एवं घणवाते, घणोवही, सत्तमा पुढवी ।

[१९] इसी प्रकार लोकान्त और सप्तम तनुवात, इसी प्रकार घनवात, घनोदधि और सातवी पृथ्वी के लिए समझना चाहिए ।

२०. एवं लोअते एक्केक्केणं संजोएतव्वे इमेहिं ठाणेहिं, तं जहा—

ओवास वात घण उवही पुढवी दीवा य सागरा वासा ।

नेरइयादी अत्थिय समया कम्माइं लेस्साओ ।।१।।

---

१ 'जाव' पद से सू १६ मे अंकित '**पुव्विं पेते**' से लेकर '**अणाणुपुव्वी एसा रोहा**' तक का पाठ समझ लेना चाहिए ।

बिट्ठी दंसण णाणा सण्ण सरीरा य जोग उवओगे ।
दव्व पवेसा पज्जव अद्धा, किं पुव्वि लोयंते ? ।।२।।
पुव्वि भंते ! लोयंते पच्छा सव्वद्धा ? ० ।

[२०] इस प्रकार निम्नलिखित स्थानो मे मे प्रत्येक के साथ लोकान्त को जोडना चाहिए; यथा—(गाथार्थ—) अवकाशान्तर, वात, घनोदधि, पृथ्वी, द्वीप, सागर, वर्ष, (क्षेत्र), नारक आदि जीव (चौबीस दण्डक के प्राणी), अस्तिकाय, समय, कर्म, लेश्या, दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, सज्ञा, शरीर, योग, उपयोग, द्रव्य, प्रदेश, पर्याय और काल (अद्धा), क्या ये पहले हैं और लोकान्त पीछे है ? अथवा हे भगवन् ! क्या लोकान्त पहले और सर्वाद्धा (सर्व काल) पीछे है ?

२१. जहा लोयंतेणं संजोइया सव्वे ठाणा एते, एवं अलोयंतेण वि संजोएतव्वा सव्वे ।

[२१] जैसे लोकान्त के साथ (पूर्वोक्त) सभी स्थानो का सयोग किया, उसी प्रकार अलोकान्त के साथ इन सभी स्थानो को जोडना चाहिए ।

२२. पुव्वि भंते ! सत्तमे ओवासंतरे ? पच्छा सत्तमे तणुवाते ?
एवं सत्तमं ओवासंतरं सव्वेहि समं संजोएतव्व जाव[1] सव्वद्धाए ।

[२२ प्र] भगवन् ! पहले सप्तम अवकाशान्तर है और पीछे सप्तम तनुवात है ?

[२२ उ] हे रोह ! इसी प्रकार सप्तम अवकाशान्तर को पूर्वोक्त सब स्थानो के साथ जोडना चाहिए । इसी प्रकार यावत् सर्वाद्धा तक समझना चाहिए ।

२३ पुव्वि भंते ! सत्तमे तणुवाते पच्छा सत्तमे घणवाते ?
एय पि तहेव नेतव्व जाव सव्वद्धा ।

[२३ प्र] भगवन् ! पहले सप्तम तनुवात है और पीछे सप्तम घनवात है ?

[२३ उ] रोह ! यह भी उसी प्रकार यावत् सर्वाद्धा तक जानना चाहिए ।

२४. एवं उवरिल्लं एक्केक्कं सजोयतेणं जो जो हेट्ठिल्लो त तं छड्डेंतेण नेयव्वं जाव अतीत-अणागतद्धा पच्छा सव्वद्धा जाव अणाणुपुव्वी एसा रोहा !
सेव भंते ! सेवं भते त्ति ! जाव[2] विहरति ।

[२४] इस प्रकार ऊपर के एक-एक (स्थान) का सयोग करते हुए और नीचे का जो-जो स्थान हो, उसे छोडते हुए पूर्ववत् समझना चाहिए, यावत् अतीत और अनागत काल और फिर सर्वाद्धा (सर्वकाल) तक, यावत् हे रोह ! इसमे कोई पूर्वापर का क्रम नही होता ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर रोह अनगार तप सयम से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे ।

---

१. 'जाव' पद से यहाँ सू २० मे अकित गाथाद्वयगत पदो की योजना कर लेनी चाहिए ।

२ 'जाव' पद 'समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो पज्जुवासमाणे' पाठ का सूचक है ।

विवेचन—रोह अनगार के प्रश्न : भगवान् महावीर के उत्तर—प्रस्तुत बारह सूत्रों (१३ से २४ तक) मे लोक-अलोक, जीव-अजीव, भवसिद्धिक-अभवसिद्धक, सिद्धि-असिद्धि, सिद्ध-ससारी, लोकान्त-अलोकान्त, अवकाशान्तर, तनुवात, घनवात, घनोदधि, सप्त पृथ्वी, द्वीप, सागर, वर्ष, नारकी, आदि चौबीस दण्डक के जीव, अस्तिकाय, समय, कर्म, लेश्या, दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, सज्ञा, शरीर, योग, उपयोग, द्रव्य प्रदेश और पर्याय तथा काल इसमे परस्पर पूर्वापर क्रम के संबध में रोहक अनगार द्वारा पूछे गए प्रश्न और श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रदत्त उत्तर अकित है।

इन प्रश्नों के उत्थान के कारण—कई मतवादी लोक को बना हुआ, विशेषत ईश्वर द्वारा रचित मानते है, इसी तरह कई लोक आदि को शून्य मानते हैं। जीव-अजीव दोनो को ईश्वरकृत मानते है, कई मतवादी जीवो को पचमहाभूतो (जड) से उत्पन्न मानते हैं, कई लोग ससार से सिद्ध मानते हैं, इसलिए कहते है—पहले ससार हुआ, उसके बाद सिद्धि या सिद्ध हुए। इसी प्रकार कई वर्तमान या भूतकाल को पहले और भविष्य को बाद मे हुआ मानते है, इस प्रकार तीनो कालो को आदि मानते हैं। विभिन्न दार्शनिक चारो गति के जीवो की उत्पत्ति के संबध मे आगे-पीछे की कल्पना करते है। इन सब दृष्टियो के परिप्रेक्ष्य मे रोह अनगार के मन मे लोक-अलोक, जीव-अजीव आदि विभिन्न पदार्थों के विषय मे जिज्ञासा उत्पन्न हुई और भगवान् से उसके समाधानार्थ उन्होने विभिन्न प्रश्न प्रस्तुत किये।

भगवान् ने कहा—इन सब मे पहले पीछे के क्रम का प्रश्न ही नही उठता क्योकि ये सब शाश्वत और अनादिकालीन हैं। इन्हे किसी ने बनाया नही है। कर्म आदि का कर्त्ता आत्मा है किन्तु प्रवाह रूप से वे भी अनादि-सान्त हैं। तीनो ही काल द्रव्यदृष्टि से अनादि शाश्वत है, इनमे भी आगे पीछे का क्रम नही होता।[1]

अष्टविधलोकस्थिति का सदृष्टान्त-निरूपण

२५. [१] **भते त्ति भगवं गोतमे समणं जाव एवं वदासि—कतिविहा णं भंते! लोयट्ठिती पण्णत्ता?**

गोयमा! अट्ठविहा लोयट्ठिती पण्णत्ता। तं जहा—आगासपतिट्ठिते वाते १, वातपतिट्ठिते उवही २, उवहिपतिट्ठिता पुढवी ३, पुढविपतिट्ठिता तस-थावरा पाणा ४, अजीवा जीवपतिट्ठिता ५, जीवा कम्मपतिट्ठिता ६, अजीवा जीवसंगहिता ७, जीवा कम्मसंगहिता ८।

[२५-१ प्र] 'हे भगवन्'! ऐसा कह कर गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से यावत् इस प्रकार कहा—भगवन्! लोक की स्थिति कितने प्रकार की कही गई है?

[२५-१ उ] गौतम! लोक की स्थिति आठ प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार है—आकाश के आधार पर वायु (तनुवात) टिका हुआ है, वायु के आधार पर उदधि है; उदधि के आधार पर पृथ्वी है, त्रस और स्थावर जीव पृथ्वी के आधार पर है, अजीव जीवो के आधार पर टिके हैं, (सकर्मक जीव) कर्म के आधार पर हैं, अजीवो को जीवो ने सग्रह कर रखा है, जीवो को कर्मों ने सग्रह कर रखा है।[1]

---

१. भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्रांक ८१, ८२

[२] से कणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति अट्ठविहा जाव जीवा कम्मसंगहिता ?

गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे वत्थिमाडोवेति, वत्थिमाडोवित्ता उप्पिं सितं बंधति, बंधित्ता मज्झे णं गंठिं बंधति, मज्झे गंठिं बंधित्ता उवरिल्लं गंठिं मुयति, मुइत्ता उवरिल्लं देसं वामेति, उवरिल्लं देसं वामेत्ता उवरिल्लं आउयायस्स पूरेति, पूरित्ता उप्पिं सितं बंधति, बंधित्ता मज्झिल्लं गंठिं मुयति। से नूणं गोतमा ! से आउयाए तस्स वाउयायस्स उप्पिं उवरितले चिट्ठति ?

हंता, चिट्ठति।

से तेणट्ठेणं जाव जीवा कम्मसंगहिता।

[२५-२ प्र] भगवन् ! इस प्रकार कहने का क्या कारण है कि लोक की स्थिति आठ प्रकार की है और यावत् जीवो को कर्मों ने सग्रह कर रखा है ?

[२५-२ उ] गौतम ! जैसे कोई पुरुष चमडे की मशक को वायु से (हवा भर कर) फुलावे, फिर उस मशक का मुख बाध दे, तत्पश्चात् मशक के बीच के भाग मे गाठ बाधे, फिर मशक का मुँह खोल दे और उसके भीतर की हवा निकाल दे, तदनन्तर उस मशक के ऊपर के (खाली) भाग मे पानी भरे, फिर मशक का मुख बद कर दे, तत्पश्चात् उस मशक की बीच की गांठ खोल दे, तो हे गौतम ! वह भरा हुआ पानी क्या उस हवा के उपर ही ऊपर के भाग मे रहेगा ?

(गौतम) हाँ, भगवन् ! रहेगा।

(भगवान्—) हे गौतम ! इसीलिए मै कहता हू कि यावत्—कर्मों को जीवो ने सग्रह कर रखा है।

[३] से जहा वा केई पुरिसे वत्थिमाडोवेति, आडोवित्ता कडीए बंधति, बंधित्ता अत्थाहमतारमपोरुसियंसि उदगंसि आगाहेज्जा। से नूणं गोतमा ! से पुरिसे तस्स आउयायस्स उवरिमतले चिट्ठति ?

हता चिट्ठति।

एव वा अट्ठविहा लोयट्ठिती पण्णत्ता जाव जीवा कम्मसंगहिता।

[२५-३ उ] अथवा हे गौतम ! कोई पुरुष चमडे की उस मशक को हवा से फुला कर अपनी कमर पर बाध ले, फिर वह पुरुष अथाह, दुस्तर और पुरुष-परिमाण से (जिसमे पुरुष मस्तक तक डूब जाए, उससे) भी अधिक पानी मे प्रवेश करे; तो हे गौतम ! वह पुरुष पानी की ऊपरी सतह पर ही रहेगा ?

(गौतम—) हाँ, भगवन् ! रहेगा।

(भगवान्—) हे गौतम ! इसी प्रकार लोक की स्थिति आठ प्रकार की कही गई है, यावत् कर्मों ने जीवों को सगृहीत कर रखा है।

विवेचन—अष्टविध लोकस्थिति का सदृष्टान्त निरूपण—प्रस्तुत सूत्र मे लोकस्थिति के सम्बन्ध में श्री गौतम स्वामी द्वारा पूछे गए प्रश्न का भगवान् द्वारा दो दृष्टान्तों द्वारा दिया गया समाधान अंकित है।

लोकस्थिति का प्रश्न और उसका यथार्थ समाधान—कई मतावलम्बी पृथ्वी को शेषनाग पर, शेषनाग कच्छप पर अथवा शेषनाग के फन पर टिकी हुई मानते हैं। कोई पृथ्वी को गाय के सींग पर टिकी हुई मानते हैं, कई दार्शनिक पृथ्वी को सत्य पर आधारित मानते हैं, इन सब मान्यताओं से लोकस्थिति का प्रश्न हल नहीं होता, इसीलिए श्री गौतम स्वामी ने यह प्रश्न उठाया है। भगवान् ने प्रत्यक्ष सिद्ध समाधान दिया है कि सर्वप्रथम आकाश स्वप्रतिष्ठित है। उस पर तनुवात (पतली हवा) फिर घनवात (मोटी हवा), उस पर घनोदधि (जमा हुआ मोटा पानी) और उस पर यह पृथ्वी टिकी हुई है। पृथ्वी के टिकने की तथा पृथ्वी पर त्रस-स्थावर जीवों के रहने की बात प्रायिक एवं आपेक्षिक है। इस पृथ्वी के अतिरिक्त और भी मेरुपर्वत, आकाश, द्वीप, सागर, देवलोक, नरकादि क्षेत्र हैं, जहाँ जीव रहते हैं।

कर्मों के आधार पर जीव—निश्चयनय की दृष्टि से जीव अपने ही आधार पर टिके हुए हैं, किन्तु व्यवहारदृष्टि से सकर्मक जीवों की अपेक्षा से यह कथन किया गया है। जीव कर्मों से यानी नारकादि भावों से प्रतिष्ठित अवस्थित है।[1]

जीव और पुद्गलों का सम्बन्ध

२६ [१] **अत्थि णं भंते ! जीवा य पोग्गला य अन्नमन्नबद्धा अन्नमन्नपुट्ठा अन्नमन्नमोगाढा अन्नमन्नसिणेहपडिबद्धा अन्नमन्नघडत्ताए चिट्ठंति ?**

हंता, अत्थि।

[२६-१ प्र.] भगवन् ! क्या जीव और पुद्गल परस्पर सम्बद्ध हैं ?, परस्पर एक दूसरे से स्पृष्ट हैं ?, परस्पर गाढ सम्बद्ध (मिले हुए) हैं, परस्पर स्निग्धता (चिकनाई) से प्रतिबद्ध (जुड़े हुए) हैं, (अथवा) परस्पर घट्टित (गाढ) होकर रहे हुए हैं ?

[२६-१ उ.] हाँ, गौतम ! ये परस्पर इसी प्रकार रहे हुए हैं।

[२] **से केणट्ठेणं भंते ! जाव चिट्ठंति ?**

गोयमा ! से जहानामए हरदे सिया पुण्णे पुण्णप्पमाणे वोलट्टमाणे वोसट्टमाणे समभरघडत्ताए चिट्ठति, अहे णं केइ पुरिसे तंसि हरदंसि एगं महं नावं सदासवं सतछिड्डं ओगाहेज्जा। से नूणं गोतमा ! सा णावा तेहिं आसवद्दारेहिं आपूरमाणी आपूरमाणी पुण्णा पुण्णप्पमाणा वोलट्टमाणा वोसट्टमाणा समभरघडत्ताए चिट्ठति ?

हंता, चिट्ठति।

से तेणट्ठेणं गोयमा ? अत्थि णं जीवा य जाव चिट्ठंति।

[२६-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं कि—यावत् जीव और पुद्गल इस प्रकार रहे हुए हैं ?

[२६-२ उ.] गौतम ! जैसे—कोई एक तालाब हो, वह जल से पूर्ण हो, पानी से लबालब भरा हुआ हो, पानी से छलक रहा हो और पानी से बढ रहा हो, वह पानी से भरे हुए घड़े के समान है। उस तालाब में कोई पुरुष एक ऐसी बड़ी नौका, जिसमें सौ छोटे छिद्र हों (अथवा सदा छेद

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ८१-८२

वाली) और सौ बड़े छिद्र हों, डाल दे तो हे गौतम ! वह नौका, उन-उन छिद्रों द्वारा पानी से भरती हुई, अत्यन्त भरती हुई, जल से परिपूर्ण, पानी से लबालब भरी हुई, पानी से छलकती हुई, बढ़ती हुई क्या भरे हुए घड़े के समान हो जाएगी ?

(गौतम—) हाँ, भगवन् ! हो जाएगी।

(भगवान्—) इसलिए हे गौतम ! मैं कहता हूँ—यावत् जीव और पुद्गल परस्पर घट्टित हो कर रहे हुए हैं।

विवेचन—जीव और पुद्गलों का सम्बन्ध—प्रस्तुत सूत्र मे जीव और पुद्गलो के परस्पर गाढ़ सम्बन्ध को दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है।

जीव और पुद्गलों का सम्बन्ध तालाब और नौका के समान—जैसे कोई व्यक्ति जल से परिपूर्ण तालाब मे छिद्रो वाली नौका डाले तो उन छिद्रो से पानी भरते-भरते नौका जल में डूब जाती है और तालाब के तलभाग मे जा कर बैठ जाती है। फिर जिस तरह नौका और तालाब का पानी एकमेक हो कर रहते है, वैसे ही जीव और (कर्म) पुद्गल परस्पर सम्बद्ध एव एकमेक होकर रहते है।[1] इसी प्रकार ससार रूपी तालाब के पुद्गलरूपी जल मे जीव रूपी सछिद्र नौका डूब जाने पर पुद्गल और जीव एकमेक हो जाते है।

सूक्ष्मस्नेहकायपात सम्बन्धी प्ररूपणा

२७. [१] **अत्थि ण भंते ! सदा समितं सुहुमे सिणेहकाये पवडति ?**

हंता, अत्थि।

[२७-१ प्र] भगवन् ! क्या सूक्ष्म स्नेहकाय (एक प्रकार का सूक्ष्म जल), सदा परिमित (सपरिमाण) पडता है ?

[२७-१ उ] हा, गौतम ! पडता है।

[२] से भंते ! किं उड्ढे पवडति, अहे पवडति तिरिए पवडति ?

गोतमा ! उड्ढे वि पवडति, अहे वि पवडति, तिरिए वि पवडति।

[२७-२ प्र.] भगवन् ! वह सूक्ष्म स्नेहकाय ऊपर पडता है, नीचे पडता है या तिरछा पडता है ?

[२७-२ उ] गौतम ! वह ऊपर (ऊर्ध्वलोक मे वर्तुल वैताढ्यादि मे) भी पड़ता है, नीचे (अधोलोकग्रामो में) भी पड़ता है और तिरछा (तिर्यग्लोक मे) भी पडता है।

[३] जहा से बादरे आउकाए अन्नमन्नसमाउत्ते चिरं पि दीहकालं चिट्ठति तहा णं से वि ?

नो इणट्ठे समट्ठे, से णं खिप्पामेव विद्धंसमागच्छति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति ! ०।

॥ छट्ठो उद्देसो समत्तो ॥

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ८२

[२७-३ प्र.] भगवन् ! क्या वह सूक्ष्म स्नेहकाय स्थूल अप्काय की भाँति परस्पर समायुक्त होकर बहुत दीर्घकाल तक रहता है ?

[२७-३ उ] हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है, क्योंकि वह (सूक्ष्म स्नेहकाय) शीघ्र ही विध्वस्त हो जाता है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह उसी प्रकार है,' यों कहकर गौतमस्वामी तप-संयम द्वारा आत्मा को भावित करते हुए विचरण करते है।

विवेचन—सूक्ष्मस्नेहकायपात के सम्बन्ध मे प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र (२७-१/२/३) मे सूक्ष्म-स्नेह (अप्) काय के गिरने के सम्बन्ध मे तीन प्रश्नोत्तर अकित है।

'सया समिय का दूसरा अर्थ—इन पदो का एक अर्थ तो ऊपर दिया गया है। दूसरा अर्थ वृत्तिकार ने इस प्रकार किया है—सदा अर्थात्—सभी ऋतुओ मे, समित—अर्थात्—रात्रि तथा दिन के प्रथम और अन्तिम प्रहर मे। काल की विशेषता से वह स्नेहकाय कभी थोडा और कभी अपेक्षाकृत अधिक होता है।[1]

॥ प्रथम शतक : छठा उद्देशक समाप्त ॥

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्राक ८३

सत्तमो उद्देसओ : नेरइए

सप्तम उद्देशक : नैरयिक

नारकादि चौबीस दण्डकों के उत्पाद, उद्वर्तन और आहारसम्बन्धी प्ररूपणा

१. [१] नेरइए ण भते ! नेरइएसु उववज्जमाणे किं देसेणंदेसं उववज्जति १, देसेणंसव्वं उववज्जति २, सव्वेणदेसं उववज्जति ३, सव्वेणंसव्व उववज्जति ४ ?

गोयमा ! नो देसेणंदेसं उववज्जति, नो देसेणंसव्व उववज्जति, नो सव्वेणंदेस उववज्जति, सव्वेणंसव्वं उववज्जति ।

[२] जहा नेरइए एव जाव वेमाणिए । १ ।

[१-१ प्र.] भगवन् ! नारको मे उत्पन्न होता हुआ नारक जीव एक भाग से एक भाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है या एक भाग से सर्व भाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है, या सर्वभाग से एक भाग को आश्रित करके उत्पन्न होता अथवा सब भागो से सब भागो को आश्रय करके उत्पन्न होता है ?

[१-१ उ] गौतम ! नारक जीव एक भाग से एक भाग को आश्रित करके उत्पन्न नही होता, एक भाग से सर्वभाग को आश्रित करके भी उत्पन्न नही होता, और सर्वभाग से एक भाग को आश्रित करके भी उत्पन्न नही होता, किन्तु सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है ।

[१-२] नारको के समान वैमानिको तक इसी प्रकार समझना चाहिए । १ ।

२. [१] नेरइए ण भते ! नेरइएसु उववज्जमाणे किं देसेणंदेसं आहारेति १, देसेणंसव्वं आहारेति २, सव्वेणंदेस आहारेति ३, सव्वेणसव्व आहारेति ४ ?

गोयमा ! नो देसेणंदेस आहारेति, नो देसेणसव्व आहारेति, सव्वेण वा देसं आहारेति, सव्वेण वा सव्व आहारेति ।

[२] एव जाव वेमाणिए । २ ।

[२-१ प्र] नारको मे उत्पन्न होता हुआ नारक जीव क्या एक भाग से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है, एक भाग से सर्वभाग को आश्रित करके आहार करता है, सर्वभागो से एक भाग का आश्रित करके आहार करता है, अथवा सर्वभागो से सर्वभागो को आश्रित करके आहार करता है ?

[२-१ उ] गौतम ! वह एक भाग से एक भाग को आश्रित करके आहार नही करता, एक भाग से सर्वभाग को आश्रित करके आहार नही करता, किन्तु सर्वभागो से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है, अथवा सर्वभागो से सर्वभागो को आश्रित करके आहार करता है ।

[२-२] नारको के समान ही वैमानिको तक इसी प्रकार जानना ।

३. नेरइए णं भंते ! नेरइएहिंतो उव्वट्टमाणे किं देसेणंदेसं उव्वट्टति ?

जहा उववज्जमाणे (सु. १) तहेव उव्वट्टमाणे वि दंडगो भाणितव्वो । ३ ।

[३ प्र] भगवन् ! नारकों में से उद्वर्तमान—निकलता हुआ नारक जीव क्या एक भाग से एक भाग को आश्रित करके निकलता (उद्वर्तन करता) है ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न करना चाहिए।

[३ उ] गौतम ! जैसे उत्पन्न होते हुए नैरयिक आदि के विषय में कहा था, वैसे ही उद्-वर्तमान नैरयिक आदि के (चौबीस ही दण्डकों के) विषय में दण्डक कहना चाहिए।

४. [१] नेरइए णं भंते ! नेरइएहिंतो उव्वट्टमाणे किं देसेणंदेसं आहारेति ?

तहेव जाव (सु २ [१]), सव्वेण वा देस आहारेति, सव्वेण वा सव्वं आहारेति।

[२] एवं जाव वेमाणिए। ४।

[४-१ प्र] भगवन् ! नैरयिकों से उद्वर्तमान नैरयिक क्या एक भाग से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है ? इत्यादि प्रश्न पूर्ववत् करना चाहिए।

[४-१ उ] गौतम ! यह भी पूर्वसूत्र (२-१) के समान जानना चाहिए, यावत् सर्वभागों से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है, अथवा सर्वभागों से सर्वभागों को आश्रित करके आहार करता है।

[४-२] इसी प्रकार यावत् वैमानिकों तक जानना चाहिए।

५. [१] नेरइए णं भंते ! नेरइएसु उववन्ने किं देसेणदेस उववन्ने ?

एसो वि तहेव जाव सव्वेणंसव्वं उववन्ने।

[२] जहा उववज्जमाणे उव्वट्टमाणे य चत्तारि दंडगा तहा उववन्नेणं उव्वट्टेण वि चत्तारि दंडगा भाणियव्वा। सव्वेणंसव्वं उववन्ने; सव्वेण वा देस आहारेति, सव्वेण वा सव्वं आहारेति, एएण अभिलावेणं उववन्ने वि, उव्वट्टे वि नेयव्वं। ८।

[५-१ प्र] भगवन् ! नारकों में उत्पन्न हुआ नैरयिक क्या एक भाग से एक भाग को आश्रित करके उत्पन्न हुआ है ? इत्यादि प्रश्न पूर्ववत् करना चाहिए।

[५-१ उ] गौतम ! यह दण्डक भी उसी प्रकार जानना, यावत्—सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है।

[५-२] जैसे उत्पद्यमान और उद्वर्तमान के विषय में चार दण्डक कहे, वैसे ही उत्पन्न और उद्वृत्त के विषय में भी चार दण्डक कहने चाहिए। (यथा—'सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न', तथा सर्वभाग से एक भाग को आश्रित करके आहार, या सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके आहार, इन शब्दों द्वारा उत्पन्न और उद्वृत्त के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

६. नेरइए णं भंते ! नेरइएसु उववज्जमाणे किं अद्धेणंअद्धं उववज्जति १ ? अद्धेणसव्वं उववज्जति २ ? सव्वेणंअद्धं उववज्जइ ३ ? सव्वेणसव्वं उववज्जति ४ ?

जहा पढमिल्लेणं अट्ठ दंडगा तहा अद्धेण वि अट्ठ दंडगा भाणितव्वा। नवरं जहिं देसेणंदेसं उववज्जति तहिं अद्धेणंअद्धं उववज्जावेयव्वं, एयं णाणत्तं। एते सव्वे वि सोलस दंडगा भाणियव्वा।

[६ प्र] भगवन् ! नैरयिको मे उत्पन्न होता हुआ नारक जीव क्या अर्द्धभाग से अर्द्धभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है ? या अर्द्धभाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है ? अथवा सर्वभाग से अर्द्धभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है ? या सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है ?

[६ उ] गौतम ! जैसे पहले वालो के साथ आठ दण्डक कहे हैं, वैसे ही 'अर्द्ध' के साथ भी आठ दण्डक कहने चाहिए। विशेषता इतनी है कि—जहाँ 'एक भाग से एक भाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है,' ऐसा पाठ आए, वहाँ 'अर्द्धभाग से अर्द्धभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है', ऐसा पाठ बोलना चाहिए। बस यही भिन्नता है।

ये सब मिल कर कुल सोलह दण्डक होते हैं।

विवेचन—नारक आदि चौबीस दण्डकों के उत्पाद, उद्वर्तन और आहार के विषय मे प्रश्नोत्तर—नारक आदि जीवो की उत्पत्ति, उद्वर्तन एव आहार के सबध मे एकदेश-सर्वदेश, अथवा अर्द्धदेश-सर्वदेश विषयक प्रश्नोत्तर प्रस्तुत ६ सूत्रो मे अकित है।

प्रस्तुत प्रश्नोत्तरों के १६ दण्डक—देश और सर्व के द्वारा उत्पाद आदि के ८ दण्डक (विकल्प या भग) इस प्रकार बनते हैं—(१) उत्पन्न होता हुआ, (२) उत्पन्न होता हुआ आहार लेता है, (३) उद्वर्तमान (निकलता हुआ), (४) उद्वर्तमान आहार लेता है, (५) उत्पन्न हुआ, (६) उत्पन्न हुआ आहार लेता है, (७) उद्वृत्त (निकलता हुआ) और (८) उद्वृत्त हुआ आहार लेता है।

इसी प्रकार अर्द्ध और सर्व के द्वारा जीव के उत्पादादि के विषय में विचार करने पर भी पूर्वोक्तवत् आठ दण्डक (विकल्प) होते है। इस प्रकार कुल मिलाकर १६ दण्डक होते है।

देश और सर्व का तात्पर्य—जीव जब नरक आदि मे उत्पन्न होता है, तब क्या वह यहाँ (पूर्वभव) के एकदेश से नारक के एकदेश—अवयवरूप मे उत्पन्न होता है ? अर्थात्—उत्पन्न होने वाले जीव का एक भाग ही नारक के एक भाग के रूप मे उत्पन्न होता है ? या पूरा जीव पूरे नारक के रूप मे उत्पन्न होता है ? यह उत्पत्ति सबधी प्रश्न का आशय है। इसी प्रकार अन्य विकल्पो का आशय भी समझ लेना चाहिए।

नैरयिक की नैरयिको मे उत्पत्ति कैसे—यद्यपि नारक मरकर नरक मे उत्पन्न नही होता, मनुष्य और तिर्यञ्च मरकर ही नरक मे उत्पन्न हो सकते हैं, परन्तु यह प्रश्न 'चलमाणे चलिए' के सिद्धान्तानुसार है, जो जीव मनुष्य या तिर्यंच गति का आयुष्य समाप्त कर चुका है जिसके नरकायु का उदय हो चुका है, उस नरक मे उत्पन्न होने वाले जीव की अपेक्षा से यह कथन है।

आहार विषयक समाधान का आशय—जीव जिस समय उत्पन्न होता है, उस समय—जन्म के प्रथम समय—मे अपने सर्व आत्मप्रदेशो के द्वारा सर्व आहार को ग्रहण करता है।

उत्पत्ति समय के पश्चात् सर्व आत्मप्रदेशो से किन्ही आहार्य पुद्गलो को ग्रहण करता है, किन्ही को नही, अत कहा गया है कि सर्वभागो से एक भाग का आहार करता है।

देश और अर्द्ध में अन्तर—जैसे मूग मे सैकडो देश (अश या अवयव) हैं, उसका छोटे से छोटा टुकडा भी देश ही कहलाएगा, लेकिन अर्द्धभाग तभी कहलाता है, जब उसके बीचो-बीच से दो हिस्से किये जाते हैं। यही देश और अर्द्ध मे अन्तर है।[1]

---

१ भगवतीसूत्र, अ वृत्ति, पत्रांक ८३, ८४

जीवों की विग्रहगति-अविग्रहगतिसम्बन्धी प्रश्नोत्तर

७ [१] जीवे णं भंते ! किं विग्गहगतिसमावन्नए ? अविग्गहगतिसमावन्नए ?

गोयमा ! सिय विग्गहगतिसमावन्नए, सिय अविग्गहगतिसमावन्नगे ।

[२] एवं जाव[1] वेमाणिए ।

[७-१ प्र] भगवन् ! क्या जीव विग्रहगतिसमापन्न—विग्रहगति को प्राप्त होता है, अथवा विग्रहगतिसमापन्न –विग्रहगति को प्राप्त नही होता ?

[७-१ उ] गौतम ! कभी (वह) विग्रहगति को प्राप्त होता है, और कभी विग्रहगति को प्राप्त नही होता ।

[७-२] इसी प्रकार वैमानिकपर्यन्त जानना चाहिए ।

८ [१] जीवा णं भंते ! किं विग्गहगतिसमावन्नगा ? अविग्गहगतिसमावन्नगा ?

गोयमा ! विग्गहगतिसमावन्नगा वि, अविग्गहगतिसमावन्नगा वि ।

[२] नेरइया णं भंते ! किं विग्गहगतिसमावन्नगा ? अविग्गहगतिसमावन्नगा ?

गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा अविग्गहगतिसमावन्नगा १, अहवा अविग्गहगतिसमावन्नगा य विग्गहगतिसमावन्नगे य २, अहवा अविग्गहगतिसमावन्नगा य विग्गहगतिसमावन्नगा य ३, एवं जीव-एगिंदियवज्जो तियभंगो ।

[८-१ प्र.] भगवन् ! क्या बहुत से जीव विग्रहगति को प्राप्त होते है अथवा विग्रहगति को प्राप्त नही होते ?

[८-१ उ] गौतम ! बहुत से जीव विग्रहगति को प्राप्त होते है और बहुत से जीव विग्रह-गति को प्राप्त नही भी होते ।

[८-२ प्र] भगवन् ! क्या नैरयिक विग्रहगति को प्राप्त होते है या विग्रहगति को प्राप्त नही होते ?

[८-२ उ] गौतम ! (१) (कभी) वे सभी विग्रहगति को प्राप्त नही होते, अथवा (२) (कभी) बहुत से विग्रहगति को प्राप्त नही होते और कोई-कोई विग्रहगति को प्राप्त नही होता, अथवा (३) (कभी) बहुत से जीव विग्रहगति को प्राप्त नही होते और बहुत से (जीव) विग्रहगति को प्राप्त होते हैं । यो जीव सामान्य और एकेन्द्रिय को छोडकर सर्वत्र इसी प्रकार तीन-तीन भग कहने चाहिए ।

विवेचन—जीवों की विग्रहगति-अविग्रहगति-सम्बन्धित प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत दो सूत्रो द्वारा एक जीव, बहुत जीव, एव नैरयिक से लेकर वैमानिक तक चौबीस दण्डको की अपेक्षा से विग्रहगति और अविग्रहगति की प्राप्ति से सबधित प्रश्नोत्तर प्रस्तुत किये गये हैं ।

१. 'जाव' शब्द यहाँ नैरयिक से लेकर वैमानिक तक चौबीस दण्डको का सूचक है ।

विग्रहगति-अविग्रहगति की व्याख्या—सामान्यतया विग्रह का अर्थ होता है—वक्र या मुडना, मोड खाना। जीव जब एक गति का आयुष्य समाप्त होने पर शरीर छोड कर दूसरा नया शरीर धारण करने हेतु दूसरी गति में जाते समय मार्ग (बाट) मे गमन करता (बहता) है, तब उसकी गति दो प्रकार की हो सकती है—विग्रहगति और अविग्रहगति। कोई-कोई जीव जब एक, दो या तीन बार टेढा-मेढा मुडकर उत्पत्तिस्थान पर पहुँचता है, तब उसकी वह गति विग्रहगति कहलाती है और जब कोई जीव मार्ग मे बिना मुडे (मोड खाए) सीधा अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुँच जाता है तब उसकी उस गति को अविग्रहगति कहते है। यहाँ अविग्रहगति का अर्थ ऋजु—सरल गति नही लिया गया है, किन्तु 'विग्रहगति का अभाव' अर्थ ही यहाँ सगत माना गया है। इस दृष्टि से 'अविग्रहगतिसमापन्न' का अर्थ होता है—विग्रहगति को अप्राप्त (नही पाया हुआ), चाहे जैसी स्थिति वाला—गतिवाला या गतिरहित जीव। अर्थात्—जो जीव किसी भी गति मे स्थित (ठहरा हुआ) है, उस अवस्था को प्राप्त जीव अविग्रहगतिसमापन्न है, और दूसरी गति मे जाते समय जो जीव मार्ग मे गति करता है, उस अवस्था को प्राप्त जीव विग्रहगतिसमापन्न है। इस व्याख्या के अनुसार अविग्रहगतिसमापन्न मे ऋजुगति वाले तथा भवस्थित सभी जीवो का समावेश हो जाता है, तथा नारको मे जो अविग्रहगतिसमापन्न वालो की बहुलता बताई है, वह कथन भी सगत हो जाता है, मगर अविग्रहगति का अर्थ केवल ऋजुगति करने से यह कथन नही होता।

बहुत जीवों की अपेक्षा से—जीव अनन्त है। इसलिए प्रतिसमय बहुत से जीव विग्रहगति समापन्न भी होते हैं, और विग्रहगति के अभाव वाले भी होते है, जिन्हे शास्त्रीय भाषा में अविग्रहगति समापन्न कहा गया है। इस दृष्टि से एकेन्द्रिय जीव बहुत होने से उनमे सदैव बहुत से विग्रहगति वाले भी पाए जाते है और बहुत से विग्रहगति के अभाव वाले भी।[1]

देव का च्यवनानन्तर आयुष्य प्रतिसंवेदन-निर्णय

९ देवे ण भंते ! महिड्ढिए महज्जुतीए महब्बले महायसे महेसक्खे[2] महाणुभावे अविउक्कतियं चयमाणे किंचि वि कालं हिरिवत्तिय दुगुंछावत्तियं परिस्सहवत्तियं आहारं नो आहारेति; अहे णं आहारेति, आहारिज्जमाणे आहारिए, परिणामिज्जमाणे परिणामिए, पहीणे य आउए भवइ, जत्थ उववज्जति तमाउय पडिसंवेदेति, तं जहा— तिरिक्खजोणियाउयं वा मणुस्साउयं वा ?

हंता, गोयमा ! देवे ण महिड्ढीए जाव मणुस्साउगं वा।

[९ प्र] भगवन् ! महान् ऋद्धि वाला, महान् द्युति वाला, महान् बल वाला, महायशस्वी, महाप्रभावशाली, (महासामर्थ्य सम्पन्न) मरणकाल मे च्यवने वाला, महेश नामक देव (अथवा महाप्रभुत्वसम्पन्न या महासौख्यवान् देव) लज्जा के कारण, घृणा के कारण, परीषह के कारण कुछ समय तक आहार नही करता, फिर आहार करता है और ग्रहण किया हुआ आहार परिणत भी होता है। अन्त मे उस देव की वहाँ की आयु सर्वथा नष्ट हो जाती है। इसलिए वह देव जहाँ उत्पन्न होता होता है, वहाँ की आयु भोगता है, तो हे भगवन् ! उसकी वह आयु तिर्यञ्च की समझी जाए या मनुष्य की आयु समझी जाए ?

---

१. (क) 'विग्रहो वक्र तत्प्रधाना गतिर्विग्रहगति.। अविग्रहगतिसमापन्नस्तु ऋजुगतिक, स्थितो वा।
(ख) भगवतीसूत्र अ टीका, पत्राक ८५-८६ २. महासोक्खे (पाठान्तर).

[९ उ.] हां, गौतम ! उस महा ऋद्धि वाले देव का यावत् च्यवन (मृत्यु) के पश्चात् तिर्यञ्च का आयुष्य अथवा मनुष्य का आयुष्य समझना चाहिए।

विवेचन—देव का च्यवनानन्तर—आयुष्यप्रतिसंवेदन-निर्णय—प्रस्तुत सूत्र मे देवगति से च्युत होने के बाद तिर्यञ्च या मनुष्य गति के आयुष्य भोग के संबंध मे उठाये गए प्रश्न का समाधान है। चूं कि देव मर कर देवगति या नरकगति मे नही जाता, इसलिए तिर्यञ्च या मनुष्य जिस गति मे भी जाता है, वहाँ की आयु भोगता है।

गर्भगतजीव-सम्बन्धी विचार

१०. जीवे णं भंते ! गब्भं वक्कममाणे किं सइंदिए वक्कमति ? अणिंदिए वक्कमइ ?

गोयमा ! सिय सइंदिए वक्कमइ, सिय अणिंदिए वक्कमइ।

से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! दव्विंदियाइं पडुच्च अणिंदिए वक्कमति, भाविंदियाइं पडुच्च सइंदिए वक्कमति, से तेणट्ठेणं०।

[१०-१ प्र.] भगवन् ! गर्भ मे उत्पन्न होता हुआ जीव, क्या इन्द्रियसहित उत्पन्न होता है अथवा इन्द्रियरहित उत्पन्न होता ?

[१०-१ उ.] गौतम ! इन्द्रियसहित भी उत्पन्न होता है, इन्द्रियरहित भी, उत्पन्न होता है।

[१०-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं ?

[१०-२ उ.] गौतम ! द्रव्येन्द्रियो की अपेक्षा वह बिना इन्द्रियो का उत्पन्न होता है और भावेन्द्रियो की अपेक्षा इन्द्रियो सहित उत्पन्न होता है, इसलिए हे गौतम ! ऐसा कहा गया है।

११. जीवे णं भंते ! गब्भं वक्कममाणे किं ससरीरी वक्कमइ ? असरीरी वक्कमइ ?

गोयमा ! सिय ससरीरी वक्कमति, सिय असरीरी वक्कमति।

से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! ओरालिय-वेउव्विय-आहारयाइं पडुच्च असरीरी वक्कमति, तेया-कम्माइं पडुच्च ससरीरी वक्कमति; से तेणट्ठेणं गोयमा !

[११-१ प्र.] भगवन् ! गर्भ मे उत्पन्न होता हुआ जीव, क्या शरीर-सहित उत्पन्न होता है, अथवा शरीररहित उत्पन्न होता है ?

[११-१ उ.] गौतम ! शरीरसहित भी उत्पन्न होता है, शरीररहित भी उत्पन्न होता है।

[११-२ प्र.] भगवन् ! यह आप किस कारण से कहते है ?

[११-२ उ.] गौतम ! औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरो की अपेक्षा शरीररहित उत्पन्न होता है तथा तैजस, कार्मण शरीरो की अपेक्षा शरीररहित उत्पन्न होता है। इस कारण गौतम ! ऐसा कहा है।

१२. जीवे णं भंते ! गब्भं वक्कममाणे तप्पढमताए किमाहारमाहारेति ?

गोयमा ! माउओयं पिउसुक्कं तं तदुभयसंसिट्ठं कलुसं किब्बिसं तप्पढमताए आहारमाहारेति।

[१२ प्र.] भगवन् ! गर्भ मे उत्पन्न होते ही जीव सर्वप्रथम क्या क्या आहार करता है ?

[१२ उ.] गौतम ! परस्पर एक दूसरे मे मिला हुआ माता का आर्तव (रज) और पिता का शुक्र (वीर्य), जो कि कलुष और किल्विष है, जीव गर्भ मे उत्पन्न होते ही सर्वप्रथम उसका आहार करता है।

१३. जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे किमाहारमाहारेति ?

गोयमा ! जं से माता नाणाविहाओ रसविगतीओ आहारमाहारेति तदेक्कदेसेणं ओयमाहारेति।

[१३ प्र.] भगवन् ! गर्भ मे गया (रहा) हुआ जीव क्या आहार करता है ?

[१३ उ.] गौतम ! उसकी माता जो नाना प्रकार की (दुग्धादि) रसविकृतियो का आहार करती है, उसके एक भाग के साथ गर्भगत जीव माता के आर्तव का आहार करता है।

१४. जीवस्स णं भंते ! गब्भगतस्स समाणस्स अत्थि उच्चारे इ वा पासवणे इ वा खेले इ वा सिंघाणे इ वा वंते इ वा पित्ते इ वा ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! जीवे णं गब्भगए समाणे जमाहारेति त चिणाइ त सोतिंदियत्ताए जाव फासिंदियत्ताए अट्ठि-अट्ठिमिंज-केस-मंसु-रोम-नहत्ताए, से तेणट्ठेणं०।

[१४-१ प्र.] भगवन् ! क्या गर्भ मे रहे हुए जीव के मल होता है, मूत्र होता है, कफ होता है, नाक का मैल होता है, वमन होता है, पित्त होता है ?

[१४-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नही है—गर्भगत जीव के ये सब (मल-मूत्रादि) नही होते हैं।

[१४-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं ?

[१४-२ उ.] हे गौतम ! गर्भ मे जाने पर जीव जो आहार करता है, जिस आहार का चय करता है, उस आहार को श्रोत्रेन्द्रिय (कान) के रूप मे यावत् स्पर्शेन्द्रिय के रूप में तथा हड्डी, मज्जा, केश, दाढी-मूछ, रोम और नखो के रूप मे परिणत करता है। इसलिए हे गौतम ! गर्भ मे गए हुए जीव के मल-मूत्रादि नही होते।

१५. जीवे ण भंते ! गब्भगते समाणे पभू मुहेणं कावलियं आहारं आहारित्तए ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

से केणट्ठेण ?

गोयमा ! जीवे णं गब्भगते समाणे सव्वतो आहारेति, सव्वतो परिणामेति, सव्वतो उस्ससति, सव्वतो निस्ससति, अभिक्खणं आहारेति, अभिक्खण परिणामेति, अभिक्खणं उस्ससति, अभिक्खणं निस्ससति, आहच्च आहारेति, आहच्च परिणामेति, आहच्च उस्ससति आहच्च नीससति। माउजीवरसहरणी पुत्तजीवरसहरणी माउजीवपडिबद्धा पुत्तजीव फुडा तम्हा आहारेइ, तम्हा परिणामेति, अवरा वि य ण पुत्तजीवपडिबद्धा माउजीवफुडा तम्हा चिणाति, तम्हा उवचिणाति; से तेणट्ठेण० जाव नो पभू मुहेण कावलिकं आहारं आहारित्तए।

[१५-१ प्र.] भगवन् ! क्या गर्भ मे रहा हुआ जीव मुख से कवलाहार (ग्रासरूप मे आहार) करने मे समर्थ है ?

[१५-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है—ऐसा होना सम्भव नही है।

[१५-२ प्र.] भगवन् ! यह आप किस कारण से कहते हैं ?

[१५-२ उ.] गौतम ! गर्भगत जीव सब ओर से (सारे शरीर से) आहार करता है, सारे शरीर से परिणमाता है, सर्वात्मना (सब ओर से) उच्छ्वास लेता है, सर्वात्मना निःश्वास लेता है,

बार-बार आहार करता है, बार-बार (उसे) परिणमाता है, बार-बार उच्छ्वास लेता है, बार-बार नि श्वास लेता है, कदाचित् आहार करता है, कदाचित् परिणमाता है, कदाचित् उच्छ्वास लेता है, कदाचित् नि:श्वास लेता है, तथा पुत्र (-पुत्री) के जीव को रस पहुँचाने मे कारणभूत और माता के रस लेने मे कारणभूत जो मातृजीवरसहरणी नाम की नाडी है वह माता के जीव के साथ सम्बद्ध है और पुत्र (-पुत्री) के जीव के साथ स्पृष्ट—जुडी हुई है । उस नाडी द्वारा वह (गर्भगत जीव) आहार लेता है और आहार को परिणमाता है तथा एक और नाडी है, जो पुत्र (-पुत्री) के जीव के साथ सम्बद्ध है और माता के जीव के साथ स्पृष्ट—जुडी हुई होती है, उससे (गर्भगत) पुत्र (या पुत्री) का जीव आहार का चय करता है और उपचय करता है। इस कारण से हे गौतम ! गर्भगत जीव मुख द्वारा कवलरूप आहार को लेने मे समर्थ नही है ।

१६. कति ण भते ! मातिअगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तओ मातियगा पण्णत्ता । त जहा—मसे सोणिते मत्थुलु गे ।

[१६ प्र] भगवन् ! (जीव के शरीर मे) माता के अग कितने कहे गए है ?

[१६ उ] गौतम ! माता के तीन अग कहे गए है, वे इस प्रकार हैं—(१) मास, (२) शोणित (रक्त) और (३) मस्तक का भेजा (दिमाग) ।

१७ कति ण भंते ! पितियगा पण्णत्ता ?

गोयमा ! तओ पेतियंगा पण्णत्ता । त जहा—अट्ठि अट्ठिमिजा केस-मंसु-रोम-नहे ।

[१७ प्र] भगवन् ! पिता के कितने अग कहे गए है ?

[१७ उ] गौतम ! पिता के तीन अग कहे गए है। वे इस प्रकार हैं—(१) हड्डी, (२) मज्जा और (३) केश, दाढी-मूंछ, रोम तथा नख ।

१८. अम्मापेतिए ण भते ! सरीरए केवइय काल संचिट्ठति ?

गोयमा ! जावतियं से कालं भवधारणिज्जे सरीरए अव्वावन्ने भवति एवतिय काल सचिट्ठति, अहे ण समए समए वोक्कसिज्जमाणे २ चरमकालसमयसि वोच्छिन्ने भवइ ।

[१८ प्र] भगवन् ! माता और पिता के अग सन्तान के शरीर मे कितने काल तक रहते है ?

[१८ उ] गौतम ! सतान का भवधारणीय शरीर जितने समय तक रहता है, उतने समय तक वे अग रहते है, और जब भवधारणीय शरीर समय-समय पर हीन (क्षीण) होता हुआ अन्तिम समय मे नष्ट हो जाता है, तब माता-पिता के वे अग भी नष्ट हो जाते है ।

१९ [१] जीवे णं भंते ! गब्भगते समाणे नेरइएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा ।

[१९-१ प्र] भगवन् ! गर्भ मे रहा हुआ जीव क्या नारको मे उत्पन्न होता है ।

[१९-१ उ] गौतम ! कोई उत्पन्न होता है और कोई नही उत्पन्न होता ।

[२] से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! से ण सन्नी पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए पराणीयं आगयं सोच्चा निसम्म पदेसे निच्छुभति, २ वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णइ, वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णित्ता चाउरंगिणिं सेणं विउव्वइ, चाउरंगिणि सेणं विउव्वेत्ता चाउरंगिणीए सेणाए

पराणीएणं सद्धिं संगामं संगामेइ, से णं जीवे अत्थकामए रज्जकामए भोगकामए कामकामए, अत्थकंखिए रज्जकंखिए भोगकंखिए कामकंखिए, अत्थपिवासिते रज्जपिवासिते भोगपिवासिए कामपिवासिते, तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसिए तत्तिव्वज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तदप्पिकरणे तब्भावणाभाविते एतंसि णं अंतरंसि कालं करेज्ज नेरतिएसु उववज्जइ; से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा ।

[१९-२ प्र.] भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

[१९-२ उ.] गौतम ! गर्भ मे रहा हुआ सज्ञी पचेन्द्रिय और समस्त पर्याप्तियो से पर्याप्त (परिपूर्ण) जीव, वीर्यलब्धि द्वारा, वैक्रियलब्धि द्वारा शत्रुसेना का आगमन सुनकर, अवधारण (विचार) करके अपने आत्मप्रदेशो को गर्भ से बाहर निकालता है, बाहर निकाल कर वैक्रियसमुद्घात से समवहत होकर चतुरगिणी सेना की विक्रिया करता है। चतुरगिणी सेना की विक्रिया करके उस सेना से शत्रुसेना के साथ युद्ध करता है। वह अर्थ (धन) का कामी, राज्य का कामी, भोग का कामी, काम का कामी, अर्थाकाक्षी, राज्याकाक्षी, भोगाकाक्षी, कामाकाक्षी, (अर्थादि का लोलुप), तथा अर्थ का प्यासा, राज्य का प्यासा, भोग-पिपासु, एव कामपिपासु, उन्ही चित्त वाला, उन्ही मे मन वाला, उन्ही मे आत्मपरिणाम वाला, उन्ही मे अध्यवसित, उन्ही मे प्रयत्नशील, उन्ही मे सावधानता-युक्त, उन्ही के लिए क्रिया करने वाला, और उन्ही भावनाओ से भावित (उन्ही सस्कारो मे ओतप्रोत), यदि उसी (समय) के अन्तर मे (दौरान) मृत्यु को प्राप्त हो तो वह नरक मे उत्पन्न होता है। इसलिए हे गौतम ! यावत् —कोई जीव नरक मे उत्पन्न होता है और कोई नही उत्पन्न होता।

२०. जीवे णं भंते ! गब्भगते समाणे देवलोगेसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा ।

से केणट्ठेण ?

गोयमा ! से ण सन्नी पंचिदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म ततो भवति संवेगजातसड्ढे तिव्वधम्माणुरागरत्ते, से ण जीवे धम्मकामए पुण्णकामए सग्गकामए मोक्खकामए, धम्मकंखिए पुण्णकंखिए सग्गकंखिए मोक्खकंखिए, धम्मपिवासिए पुण्णपिवासिए सग्गपिवासिए मोक्खपिवासिए, तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे तदज्झवसिते तत्तिव्वज्झवसाणे तदट्ठोवउत्ते तदप्पितकरणे तब्भावणाभाविते एयंसि णं अंतरंसि कालं करेज्ज देवलोएसु उववज्जति; से तेणट्ठेणं गोयमा ! ० ।

[२०-१ प्र.] भगवन् ! गर्भस्थ जीव क्या देवलोक मे जाता है ?

[२०-१ उ.] हे गौतम ! कोई जीव जाता है, और कोई नही जाता।

[२०-२ प्र.] भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

[२०-२ उ.] गौतम ! गर्भ मे रहा हुआ सज्ञी पचेन्द्रिय और सब पर्याप्तियो से पर्याप्त जीव, तथारूप श्रमण या माहन के पास एक भी आर्य और धार्मिक सुवचन सुन कर, अवधारण करके शीघ्र ही सवेग से धर्मश्रद्धालु बनकर, धर्म में तीव्र अनुराग से रक्त होकर, वह धर्म का कामी, पुण्य का कामी, स्वर्ग का कामी, मोक्ष का कामी, धर्माकाक्षी, पुण्याकाक्षी, स्वर्ग का आकांक्षी, मोक्षाकाक्षी तथा

धर्मपिपासु, पुण्यपिपासु, स्वर्गपिपासु एव मोक्षपिपासु, उसी मे चित्त वाला, उसी मे मन वाला, उसी में आत्मपरिणाम वाला, उसी मे अध्यवसित, उसी मे तीव्र प्रयत्नशील, उसी मे सावधानतायुक्त, उसी के लिए अर्पित होकर क्रिया करने वाला, उसी की भावनाओ से भावित (उसी के सस्कारो से सस्कारित) जीव ऐसे ही अन्तर (समय) मे मृत्यु को प्राप्त हो तो देवलोक मे उत्पन्न होता है। इसलिए हे गौतम ! कोई जीव देवलोक मे उत्पन्न होता है और कोई नही उत्पन्न होता।

२१. जीवे ण भंते ! गब्भगए समाणे उत्ताणए वा पासिल्लए वा अबखुज्जए वा अच्छेज्ज वा चिट्ठेज्ज वा निसीएज्ज वा तुयट्टेज्ज वा, मातुए सुवमाणीए सुवति, जागरमाणीए जागरति, सुहियाए सुहिते भवइ, दुहिताए दुहिए भवति ?

हंता गोयमा ! जीवे णं गब्भगए समाणे जाव दुहियाए भवति।

[२१ प्र] भगवन् ! गर्भ मे रहा हुआ जीव क्या चित—लेटा हुआ (उत्तानक) होता है, या करवट वाला होता है, अथवा आम के समान कुबडा होता है, या खडा होता है, बैठा होता है या पडा हुआ (सोता हुआ) होता है, तथा माता जब सो रही हो तो सोया होता है, माता जब जागती हो तो जागता है, माता के सुखी होने पर सुखी होता है, एव माता के दु खी होने पर दु खी होता है ?

[२१ उ] हा, गौतम ! गर्भ मे रहा हुआ जीव यावत्—जब माता दु खित हो तो दु खी होता है।

२२. अहे णं पसवणकालसमयंसि सीसेण वा पाएहिं वा आगच्छति सममागच्छइ तिरियमागच्छइ विणिहायमावज्जति। वण्णवज्झाणि य से कम्माइं बद्धाइं पुट्ठाइं निहत्ताइं कडाइं पट्ठविताइं अभिनिविट्ठाइं अभिसमन्नागयाइं उदिण्णाइं, नो उवसंताइं भवंति; तओ भवइ दुरूवे दुव्वण्णे दुग्गंधे दूरसे दुप्फासे अणिट्ठे अकंते अप्पिए असुभे अमणुण्णे अमणामे हीणस्सरे दीणस्सरे अणिट्ठस्सरे अकतस्सरे अप्पियस्सरे असुभस्सरे अमणुण्णस्सरे अमणामस्सरे अणादेज्जवयणे पच्चायाए याऽवि भवति। वण्णवज्झाणि य से कम्माइं नो बद्धाइ० पसत्थं नेतव्वं जाव आदेज्जवयणे पच्चायाए याऽवि भवति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ सत्तमो उद्देसो समत्तो ॥

[२२] इसके पश्चात् प्रसवकाल में अगर वह गर्भगत जीव मस्तक द्वारा या पैरो द्वारा (गर्भ से) बाहर आए तब तो ठीक तरह आता है, यदि वह टेढा (आडा) हो कर आए तो मर जाता है। गर्भ से निकलने के पश्चात् उस जीव के कर्म यदि अशुभरूप मे बधे हो, स्पृष्ट हो, निधत्त हो, कृत हो, प्रस्थापित हो, अभिनिविष्ट हो, अभिसमन्वागत हो, उदीर्ण हो, और उपशान्त न हो, तो वह जीव कुरूप, कुवर्ण (खराब वर्ण वाला) दुर्गन्ध वाला, कुरस वाला, कुस्पर्श वाला, अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, अमनाम (जिसका स्मरण भी बुरा लगे), हीन स्वर वाला, दीन स्वर वाला, अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ एव अमनाम स्वर वाला, तथा अनादेय वचन वाला होता है, और यदि उस जीव के कर्म अशुभरूप मे न बँधे हुए हो तो, उसके उपर्युक्त सब बातें प्रशस्त होती है, यावत्--वह आदेयवचन वाला होता है।'

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है।' यो कह कर श्री गौतमस्वामी तप-सयम मे विचरण करने लगे।

विवेचन—गर्भगत जीव सम्बन्धी विचार—प्रस्तुत १३ सूत्रो (सू १० से २२ तक) मे विविध पहलुओ से गर्भगत जीव से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर अकित किए गए हैं—

द्रव्येन्द्रिय-भावेन्द्रिय—इन्द्रिय के दो भेद हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। पौद्गलिक रचना-विशेष को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। इसके दो प्रकार हैं—निर्वृत्ति और उपकरण। इन्द्रियों की आकृति को निर्वृत्ति कहते हैं, और उनके सहायक को उपकरण कहते हैं। भावेन्द्रिय के भी दो भेद हैं—लब्धि और उपयोग। लब्धि का अर्थ शक्ति है, जिसके द्वारा आत्मा शब्दादि का ज्ञान प्राप्त करने मे समर्थ होता है। उपयोग का अर्थ है—ग्रहण करने का व्यापार। जीव जब गर्भ मे आता है, तब उसमे शक्तिरूप भावेन्द्रियाँ यथायोग्य साथ ही होती हैं।

गर्भगत जीव के आहारादि—गर्भ मे पहुचने के प्रथम समय मे माता के ऋतु-सम्बन्धी रज और पिता के वीर्य के सम्मिश्रण को ग्रहण करता है। तत्पश्चात् माता द्वारा ग्रहण किये हुए रसविकारो का एक भाग ओज के साथ ग्रहण करता है। गर्भस्थ जीव के मल-मूत्रादि नही होते, क्योकि वह जो भी आहार ग्रहण करता है उसे श्रोत्रेन्द्रियादि रूप मे परिणमाता है। वह कवलाहार नही करता, सर्वात्म-रूप से आहार ग्रहण करता है। रसहरणी नाडी (नाभिका नाल) द्वारा गर्भगत जीव माता के जीव का रस ग्रहण करता है। यह नाडी माता के जीव के साथ प्रतिबद्ध और सन्तान के जीव के साथ स्पृष्ट होती है। दूसरी पुत्रजीवरसहरणी द्वारा गर्भस्थ जीव आहार का चय-उपचय करता है। इससे गर्भस्थ जीव परिपुष्टि प्राप्त करता है। यह नाडी सन्तान के जीव के साथ प्रतिबद्ध और माता के जीव के साथ स्पृष्ट होती है।

गर्भगत जीव के अंगादि—जिन अगो मे माता के आर्तव का भाग अधिक होता है। वे कोमल अग—मास, रक्त और मस्तक का भेजा (अथवा मस्तुलु ग=चर्बी या फेफडा) माता के होते हैं, तथा जिन अगो मे पिता के वीर्य का भाग अधिक होता है वे तीन कठोर अग—केश, रोम तथा नखादि पिता के होते हैं। शेष सब अग माता और पिता दोनो के पुद्गलो से बने हुए होते हैं। सन्तान के भवधारणीय शरीर का अन्त होने तक माता-पिता के ये अग उस शरीर मे रहते है।

गर्भगत जीव के नरक या देवलोक मे जाने का कारण—धन, राज्य और कामभोग की तीव्र लिप्सा और शत्रुसेना को मारने की तीव्र आकाक्षा के वश मृत्यु हो जाय तो गर्भस्थ सज्ञी पचेन्द्रिय जीव नरक मे जाता है और धर्म, पुण्य, स्वर्ग एव मोक्ष के तीव्र शुभ अध्यवसाय मे मृत्यु होने पर वह देव-लोक मे जाता है।

गर्भस्थ जीव स्थिति—गर्भस्थ जीव ऊपर की ओर मुख किये चित सोता, करवट से सोता है, या आम्रफल की तरह टेढा होकर रहता है। उसकी खडे या बैठे रहने या सोने आदि की क्रिया माता की क्रिया पर आधारित है।

बालक का भविष्य : पूर्वजन्मकृत कर्म पर निर्भर—पूर्वभव मे शुभ कर्म उपार्जित किया हुआ जीव यहा शुभवर्णादि वाला होता है, किन्तु पूर्वजन्म मे अशुभ कर्म उपार्जित किया हुआ जीव यहाँ अशुभवर्ण कुरस आदि वाला होता है।[1]

॥ प्रथम शतक : सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

---

१ भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक ८६ से ९० तक

अट्ठमो उद्देसओ : बाले

अष्टम उद्देशक : बाल

एकान्त बाल, पण्डित आदि के आयुष्यबन्ध का विचार

१. एगतबाले ण भते ! मणुस्से किं नेरइयाउय पकरेति ? तिरिक्खाउय पकरेति ? मणुस्साउयं पकरेति ? देवाउयं पकरेति ? नेरइयाउयं किच्चा नेरइएसु उववज्जति ? तिरियाउयं किच्चा तिरिएसु उववज्जइ ? मणुस्साउयं किच्चा मणुस्सेसु उववज्जइ ? देवाउय किच्चा देवलोगेसु उववज्जति ?

गोयमा ! एगंतबाले णं मणुस्से नेरइयाउयं पि पकरेइ, तिरियाउयं पि पकरेइ, मणुयाउयं पि पकरेइ, देवाउयं पि पकरेइ; णेरइयाउयं पि किच्चा नेरइएसु उववज्जति, तिरियाउय पि किच्चा तिरिएसु उववज्जति, मणुस्साउयं पि किच्चा मणुस्सेसु उववज्जति देवाउय पि किच्चा देवेसु उववज्जति ।

राजगृह नगर मे समवसरण हुआ और यावत्— श्री गौतम स्वामी इस प्रकार बोले—

[१ प्र] भगवन् ! क्या एकान्त-बाल (मिथ्यादृष्टि) मनुष्य, नारक की आयु बाधता है तिर्यञ्च की आयु बाधता है, मनुष्य की आयु बाधता है अथवा देव की आयु बाधता है ? तथा क्या वह नरक की आयु बाधकर नैरयिको मे उत्पन्न होता है, तिर्यञ्च की आयु बाधकर तिर्यञ्चो मे उत्पन्न होता है, मनुष्य की आयु बाधकर मनुष्यो मे उत्पन्न होता है अथवा देव की आयु बाधकर देवलोक मे उत्पन्न होता है ?

[१ उ] गौतम ! एकान्त-बाल मनुष्य नारक की भी आयु बाधता है, तिर्यञ्च की भी आयु बाधता है, मनुष्य की भी आयु बाधता है और देव की भी आयु बाधता है, तथा नरकायु बाधकर नैरयिको मे उत्पन्न होता है, तिर्यञ्चायु बाधकर तिर्यञ्चो मे उत्पन्न होता है, मनुष्यायु बाधकर मनुष्यो मे उत्पन्न होता है और देवायु बाधकर देवो मे उत्पन्न होता है ।

२ एगंतपडिए ण भंते ! मणुस्से किं नेरइयाउय पकरेइ ? जाव देवाउय किच्चा देवलोएसु उववज्जति ?

गोयमा ! एगंतपडिए ण मणुस्से आउय सिय पकरेति, सिय नो पकरेति । जइ पकरेइ नो नेरइयाउयं पकरेइ, नो तिरियाउयं पकरेइ, नो मणुस्साउय पकरेइ, देवाउयं पकरेति । नो नेरइयाउयं किच्चा नेरइएसु उववज्जइ, णो तिरि०, णो मणुस्सा०, देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जति ।

से केणट्ठेणं जाव देवाउय किच्चा देवेसु उववज्जति ?

गोयमा ! एगंतपंडितस्स ण मणुस्सस्स केवलमेव दो गतीओ पन्नायंति, तं जहा—अंतकिरिया चेव, कप्पोववत्तिया चेव । से तेणट्ठेणं गोतमा ! जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जति ।

[२ प्र] भगवन् ! एकान्तपण्डित मनुष्य क्या नरकायु बांधता है ? या यावत् देवायु बांधता है ? और यावत् देवायु बांध कर देवलोक मे उत्पन्न होता है ?

[२ उ] हे गौतम ! एकान्तपण्डित मनुष्य, कदाचित् आयु बाधता है और कदाचित् आयु नहीं बाधता। यदि आयु बाधता है तो देवायु बाधता है, किन्तु नरकायु, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु नही बाधता। वह नरकायु नही बांधने से नारको मे उत्पन्न नहीं होता, इसी प्रकार तिर्यञ्चायु न बाधने से तिर्यञ्चों मे उत्पन्न नही होता और मनुष्यायु न बाधने से मनुष्यों में भी उत्पन्न नही होता, किन्तु देवायु बाधकर देवो मे उत्पन्न होता है।

[प्र] भगवन् ! इसका क्या कारण है कि—यावत्—देवायु बाधकर देवो मे उत्पन्न होता है ?

[उ] गौतम ! एकान्तपण्डित मनुष्य की केवल दो गतियाँ कही गई हैं। वे इस प्रकार हैं—अन्तक्रिया और कल्पोपपत्तिका (सौधर्मादि कल्पो मे उत्पन्न होना)। इस कारण हे गौतम ! एकान्तपण्डित मनुष्य देवायु बाध कर देवो मे उत्पन्न होता है।

३ बालपंडिते ण भते ! मणुस्से किं नेरइयाउय पकरेति जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जति ?

गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेति जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जति।

से केणट्ठेणं जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जति ?

गोयमा ! बालपंडिए णं मणुस्से तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोचा निसम्म देस उवरमति, देसं नो उवरमइ, देसं पच्चक्खाति, देसं णो पच्चक्खाति; से ण तेणं देसोवरम-देसपच्चक्खाणेणं नो नेरयाउयं पकरेति जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जति। से तेणट्ठेणं जाव देवेसु उववज्जइ।

[३ प्र.] भगवन् ! क्या बालपण्डित मनुष्य नरकायु बांधता है, यावत्—देवायु बाधता है ? और यावत्—देवायु बाँधकर देवलोक मे उत्पन्न होता है ?

[३ उ] गौतम ! वह नरकायु नही बाधता और यावत् (तिर्यञ्चायु तथा मनुष्यायु नही बाधता), देवायु बाधकर देवो मे उत्पन्न होता है।

[प्र] भगवन् ! इसका क्या कारण है कि—बालपण्डित मनुष्य यावत् देवायु बांध कर देवो मे उत्पन्न होता है ?

[उ] गौतम ! बालपण्डित मनुष्य तथारूप श्रमण या माहन के पास से एक भी आर्य तथा धार्मिक सुवचन सुनकर, अवधारण करके एकदेश से विरत होता है, और एकदेश से विरत नही होता। एकदेश से प्रत्याख्यान करता है और एकदेश से प्रत्याख्यान नही करता। इसलिए हे गौतम ! देश-विरति और देश-प्रत्याख्यान के कारण वह नरकायु, तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु का बन्ध नही करता और यावत्—देवायु बाँधकर देवो मे उत्पन्न होता है। इसलिए हे गौतम ! पूर्वोक्त कथन किया गया है।

विवेचन—बाल, पण्डित आदि के आयुबन्ध का विचार—प्रस्तुत तीन सूत्रो मे क्रमश एकान्तबाल, एकान्तपण्डित और बाल-पण्डित मनुष्य के आयुष्यबन्ध का विचार किया गया है।

बाल आदि के लक्षण—मिथ्यादृष्टि और अविरत को **एकान्तबाल** कहते हैं। वस्तुतत्त्व के

यथार्थ स्वरूप को जानकर जो तदनुसार आचरण करता है, वह **'पण्डित'** कहलाता है, और जो वस्तुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है, किन्तु आंशिक (एकदेश) आचरण करता है, वह बाल-पण्डित कहलाता है। एकान्तबाल मिथ्यादृष्टि एवं अविरत होता है, एकान्त-पण्डित महाव्रती साधु होता है और बालपण्डित देशविरत श्रमणोपासक होता है।

एकान्तबाल मनुष्य के चारों गतियों का आयुष्य बन्ध क्यों—एकान्त बालत्व समान होते हुए भी एक ही गति का आयुष्यबन्ध न होकर चारों गतियों का आयुबन्ध होता है, इसका कारण एकान्त-बालजीवों का प्रकृतिवैविध्य है। कई एकान्तबालजीव महारम्भी, महापरिग्रही, असत्यमार्गोपदेशक तथा पापाचारी होते हैं, वे नरकायु या तिर्यञ्चायु का बन्ध करते है। कई एकान्तबालजीव अल्प-कषायी, अकामनिर्जरा, बालतप आदि से युक्त होते हैं। वे मनुष्यायु या देवायु का बन्ध करते है।

एकान्तपण्डित की दो गतियां—जिनके सम्यक्त्वसप्तक (अनन्तानुबन्धी चार कषाय और मोहनीयत्रिक इन सात प्रकृतियो) का क्षय हो गया है, तथा जो तद्भवमोक्षगामी है, वे आयुष्यबन्ध नही करते। यदि इन सातप्रकृतियो के क्षय से पूर्व उनके आयुष्यबन्ध हो गया हो तो सिर्फ एक वैमानिक देवायु का बन्ध करते हैं। इसी कारण एकान्त पण्डित मनुष्य की क्रमश दो ही गतियाँ कही गई हैं—अन्तक्रिया (मोक्षगति) अथवा कल्पोपपत्तिका (वैमानिक देवगति)।[1]

मृगघातकादि को लगने वाली क्रियाओं की प्ररूपणा

४ पुरिसे ण भंते ! कच्छंसि वा १ दहंसि वा २ उदगंसि वा ३ दवियंसि वा ४ वलयंसि वा ५ नूमंसि ६ गहणंसि वा ७ गहणविदुग्गंसि वा ८ पव्वतंसि वा ९ पव्वतविदुग्गंसि वा १० वणंसि वा ११ वणविदुग्गंसि वा १२ मियवित्तीए मियसंकप्पे मियपणिहाणे मियवहाए गंता 'एते मिए' त्ति काउ अन्नयरस्स मियस्स वहाए कूड-पास उद्दाइ; ततो णं भंते ! से पुरिसे कतिकिरिए ?

गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे कच्छंसि वा १२ जाव कूड-पास उद्दाइ तावं च ण से पुरिसे सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पचकिरिए ?

से केणट्ठेण भते ! एव वुच्चति 'सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए' ?

गोयमा ! जे भविए उद्दवणयाए, णो बधणयाए, णो मारणयाए, तावं च णं से पुरिसे काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए तीहिं किरियाहिं पुट्ठे। जे भविए उद्दवणयाए वि बधणयाए वि, णो मारणयाए ताव च णं से पुरिसे काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए पारियावणियाए चउहिं किरियाहिं पुट्ठे। जे भविए उद्दवणयाए वि बधणयाए वि मारणयाए वि तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पाणातिवातकिरियाए पचहिं किरियाहिं पुट्ठे। से तेणट्ठेण जाव पचकिरिए।

[४ प्र] भगवन्! मृगो से आजीविका चलाने वाला, मृगो का शिकारी, मृगो के शिकार मे तल्लीन कोई पुरुष मृगवध के लिए निकला हुआ कच्छ (नदी के पानी से घिरे हुए झाड़ियो वाले स्थान) मे, द्रह मे, जलाशय में, घास आदि मे समूह मे, वलय (गोलाकार नदी आदि के पानी से टेढे-मेढे स्थान) मे, अन्धकारयुक्त प्रदेश मे, गहन (वृक्ष, लता आदि झुड से सघन वन) मे, पर्वत के

१. भगवती सूत्र, अ वृत्ति, पत्राक ९०-९१

एक भागवर्त्ती वन में, पर्वत पर पर्वतीय दुर्गम प्रदेश मे, वन मे, बहुत-से वृक्षो से दुर्गम वन मे, 'ये मृग हैं', ऐसा सोच कर किसी मृग को मारने के लिए कूटपाश रचे (गड्ढा बना कर जाल फैलाए) तो हे भगवन् ! वह पुरुष कितनी क्रियाओ वाला कहा गया है ? अर्थात्—उसे कितनी क्रियाएँ लगती है ?

[४ उ] हे गौतम ! वह पुरुष कच्छ मे, यावत्--जाल फैलाए तो कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पांच क्रिया वाला होता है।

[प्र] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि 'वह पुरुष कदाचित् तीन क्रियाओ वाला, कदाचित् चार क्रियाओ वाला और कदाचित् पाच क्रियाओ वाला होता है ?'

[उ] गौतम ! जब तक वह पुरुष जाल को धारण करता है, और मृगो को बाधता नही है तथा मृगो को मारता नही है, तब तक वह पुरुष कायिकी, आधिकरणिकी और प्राद्वेषिकी, इन तीन क्रियाओ से स्पृष्ट (तीन क्रियाओ वाला) होता। जब तक वह जाल को धारण किये हुए है और मृगो को बाधता है किन्तु मारता नही, तब तक वह पुरुष कायिकी आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, और पारितापनिकी, इन चार क्रियाओ से स्पृष्ट होता है। जब वह पुरुष जाल को धारण किये हुए है, मृगो को बाधता है और मारता है, तब वह—कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी, इन पाचो क्रियाओ से स्पृष्ट होता है। इस कारण हे गौतम ! वह पुरुष कदाचित् तीन क्रियाओ वाला, कदाचित् चार क्रियाओ वाला और कदाचित् पाचो क्रियाओ वाला कहा जाता है।

५ पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा जाव वणविदुग्गंसि वा तणाइं ऊसविय ऊसविय अगणिकायं निसिरइ ताव च णं भंते ! से पुरिसे कतिकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए।

से केणट्ठेणं ?

गोतमा ! जे भविए उस्सवणयाए तिहिं; उस्सवणयाए वि निसिरणयाए वि, नो दहणयाए चउहिं; जे भविए उस्सवणयाए वि निसिरणयाए वि दहणयाए वि तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे। से तेणट्ठेणं गोयमा ! ०।

[५ प्र] भगवन् ! कच्छ मे यावत्—वनविदुर्ग (अनेक वृक्षों के कारण दुर्गम वन) मे कोई पुरुष घास के तिनके इकट्ठे करके उनमे अग्नि डाले तो वह पुरुष कितनी क्रिया वाला होता है ?

[५ उ] गौतम ! वह पुरुष कदाचित् तीन क्रियाओ वाला, कदाचित् चार क्रियाओ वाला और कदाचित् पाच क्रियाओ वाला होता है।

[प्र] भगवान् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[उ.] गौतम ! जब तक वह पुरुष तिनके इकट्ठे करता है, तब तक वह तीन क्रियाओ से स्पृष्ट होता है। जब वह तिनके इकट्ठे कर लेता है, और उनमे अग्नि डालता है, किन्तु जलाता नही है, तब तक वह चार क्रियाओ वाला होता है। जब वह तिनके इकट्ठे करता है, उनमें आग डालता है और जलाता है, तब वह पुरुष कायिकी आदि पाचों क्रियाओ से स्पृष्ट होता है। इसलिए हे

गौतम ! वह (पूर्वोक्त) पुरुष कदाचित् तीन क्रियाओ वाला, कदाचित् चार क्रियाओ वाला एव कदाचित् पाचो क्रियाओ वाला कहा जाता है ।

६. पुरिसे ण भंते ! कच्छंसि वा जाव वणविदुग्गंसि वा मियवित्तीए मियसंकप्पे मियपणिहाणे मियवहाए गता 'एए मिये' त्ति काउं अन्नयरस मियस्स वहाए उसु निसिरइ, ततो णं भंते ! से पुरिसे कतिकिरिए ?

गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए ।

से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! जे भविए निसिरणयाए तिहिं; जे भविए निसिरणयाए वि विद्धसणयाए वि, नो मारणयाए चउहिं; जे भविए निसिरणयाए वि विद्धसणयाए वि मारणयाए वि ताव च णं से पुरिसे जाव पचहिं किरियाहिं पुट्ठे । से तेणट्ठेणं गोयमा ! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए ।

[६ प्र.] भगवन् ! मृगो से आजीविका चलाने वाला, मृगो का शिकार करने के लिए कृत-सकल्प, मृगो के शिकार मे तन्मय, मृगवध के लिए कच्छ मे यावत् वनविदुर्ग मे जाकर 'ये मृग है' ऐसा सोचकर किसी एक मृग को मारने के लिए बाण फैकता है, तो वह पुरुष कितनी क्रिया वाला होता है (अर्थात् उसे कितनी क्रिया लगती हैं ?)

[६ उ.] हे गौतम ! वह पुरुष कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पाच क्रिया वाला होता है ।

[प्र] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[उ] गौतम ! जब तक वह पुरुष बाण फेकता है, परन्तु मृग को बेधता नही है, तथा मृग को मारता नही है, तब वह पुरुष तीन क्रिया वाला है । जब वह बाण फेकता है और मृग को बेधता है, पर मृग को मारता नही है, तब तक वह चार क्रिया वाला है, और जब वह बाण फेंकता है, मृग को बेधता है और मारता है, तब वह पुरुष पाँच क्रिया वाला कहलाता है । हे गौतम ! इस कारण ऐसा कहा जाता है कि 'कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पाँच क्रिया वाला होता है ।'

७. पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा जाव अन्नयरस्स मियस्स वहाए आयतकण्णायतं उसुं आयामेत्ता चिट्ठिज्जा, अन्ने य से पुरिसे मग्गतो आगम्म सयपाणिणा असिणा सीसं छिंदेज्जा, से य उसू ताए चेव पुव्वायामणयाए तं मियं विंधेज्जा, से णं भंते ! पुरिसे किं मियवेरेणं पुट्ठे ? पुरिसवेरेणं पुट्ठे ?

गोयमा ! जे मियं मारेति से मियवेरेणं पुट्ठे, जे पुरिसं मारेइ से पुरिसवेरेण पुट्ठे ।

से केणट्ठेणं भंते ! एव वुच्चइ जाव से पुरिसवेरेणं पुट्ठे ।

से नूण गोयमा ! कज्जमाणे कडे, संधिज्जमाणे संधिते, निव्वतिज्जमाणे निव्वत्तिए, निसिरिज्जमाणे निसट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया ?

हता, भगव ! कज्जमाणे कडे जाव निसट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया ।

से तेणट्ठेणं गोयमा ! जे मियं मारेति से मियवेरेणं पुट्ठे जे पुरिसं मारेइ से पुरिसवेरेणं पुट्ठे । अंतो छण्हं मासाणं मरइ काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, बाहिं छण्हं मासाणं मरति काइयाए जाव पारितावणियाए चउहिं किरियाहिं पुट्ठे ।

[७ प्र.] भगवन् ! कोई पुरुष, कच्छ में यावत् किसी मृग का वध करने के लिए कान तक ताने (लम्बे किये) हुए बाण को प्रयत्नपूर्वक खींच कर खड़ा हो और दूसरा कोई पुरुष पीछे से आकर उस खड़े हुए पुरुष का मस्तक अपने हाथ से तलवार द्वारा काट डाले। वह बाण पहले के खिंचाव से उछल कर उस मृग को बींध डाले, तो हे भगवन् ! वह पुरुष मृग के वैर से स्पृष्ट है या (उक्त) पुरुष के वैर से स्पृष्ट है ?

[७ उ] गौतम ! जो पुरुष मृग को मारता है, वह मृग के वैर से स्पृष्ट है और जो पुरुष, पुरुष को मारता है, वह पुरुष के वैर से स्पृष्ट है।

[प्र] भगवन् ! आप ऐसा किस कारण से कहते हैं कि यावत् वह पुरुष, पुरुष के वैर से स्पृष्ट है ?

[उ] हे गौतम ! यह तो निश्चित है न कि 'जो किया जा रहा है, वह किया हुआ' कहलाता है, 'जो मारा जा रहा है, वह मारा हुआ' 'जो जलाया जा रहा है, वह जलाया हुआ' कहलाता है और 'जो फेंका जा रहा है, वह फेंका हुआ' कहलाता है ?

(गौतम—) हाँ, भगवन् ! जो किया जा रहा है, वह किया हुआ कहलाता है, और यावत्——जो फेंका जा रहा है, वह फेंका हुआ कहलाता है।

(भगवान्—) इसलिए इसी कारण हे गौतम ! जो मृग को मारता है, वह मृग के वैर से स्पृष्ट और जो पुरुष को मारता है, वह पुरुष के वैर से स्पृष्ट कहलाता है। यदि मरने वाला छह मास के अन्दर मरे, तो मारने वाला कायिकी आदि यावत् पाचो क्रियाओ से स्पृष्ट कहलाता है और यदि मरने वाला छह मास के पश्चात् मरे तो मारने वाला पुरुष, कायिकी यावत् पारितापनिकी इन चार क्रियाओ से स्पृष्ट कहलाता है।

८. पुरिसे ण भंते ! पुरिसं सत्तीए समभिधंसेज्जा, सयपाणिणा वा से असिणा सीसं छिंदेज्जा, ततो ण भते ! से पुरिसे कतिकिरिए ?

गोयमा ! जाव च णं से पुरिसे तं पुरिसं सत्तीए समभिधसेइ सयपाणिणा वा से असिणा सीसं छिंदइ ताव च णं से पुरिसे काइयाए अहिगरणि० जाव पाणातिवायकिरियाए पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, आसन्नवहएण य अणवकंखणवत्तिएणं पुरिसवेरेणं पुट्ठे।

[८ प्र] भगवन् ! कोई पुरुष किसी पुरुष को बरछी (या भाले) से मारे अथवा अपने हाथ से तलवार द्वारा उस पुरुष का मस्तक काट डाले, तो वह पुरुष कितनी क्रिया वाला होता है ?

[८ उ] गौतम ! जब वह पुरुष उसे बरछी द्वारा मारता है, अथवा अपने हाथ से तलवार द्वारा उस पुरुष का मस्तक काटता है, तब वह पुरुषकायिकी, आधिकरणिकी यावत् प्राणातिपातकी इन पाँचो क्रियाओ से स्पृष्ट होता है और वह आसन्नवधक एव दूसरे के प्राणो की परवाह न करने वाला पुरुष, पुरुष-वैर से स्पृष्ट होता है।

विवेचन—मृगघातकादि को लगने वाली क्रियाओं के सम्बन्ध में विचार—प्रस्तुत पाँच सूत्रो (४ से ८ तक) मे मृगघातक, पुरुषघातक आदि को लगने वाली क्रियाओ के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर प्रस्तुत किये गए हैं। प्रश्नों का क्रम इस प्रकार है—

(१) मृगवध के लिए जाल फैलाने, मृगो को बाधने तथा मारने वाले को लगने वाली क्रियाएँ।

(२) तिनके इकठ्ठे करके आग डालने एव जलाने वाले को लगने वाली क्रियाएँ।

(३) मृगो को मारने हेतु बाण फेंकने, बीधने और मारने वाले को लगने वाली क्रियाएँ।

(४) बाण को खीचकर खडे हुए पुरुष का मस्तक कोई अन्य पुरुष पीछे से आकर खड्ग से काट डाले, इसी समय वह बाण उछल कर यदि मृग को बीध डाले तो मृग मारने वाला मृगवैर से स्पृष्ट और पुरुष को मारने वाला पुरुषवैर से स्पृष्ट होता है, उनको लगने वाली क्रियाएँ।

(५) बरछी या तलवार द्वारा किसी पुरुष का मस्तक काटने वाले को लगने वाली क्रियाएँ।

षट्मास की अवधि क्यों?—जिस पुरुष के प्रहार से मृगादि प्राणी छह मास के भीतर मर जाए तो उनके मरण मे वह प्रहार निमित्त माना जाता है। इसलिए मारने वाले को पाँचो क्रियाएँ लगती हैं, किन्तु वह मृगादि प्राणी छह महीने के बाद मरता है तो उसके मरण मे वह प्रहार निमित्त नही माना जाता, इसलिए उसे प्राणातिपातिकी के अतिरिक्त शेष चार क्रियाएँ ही लगती है। यह कथन व्यवहारनय की दृष्टि से है, अन्यथा उस प्रहार के निमित्त से जब कभी भी मरण हो, उसे पाँचो क्रियाएँ लगती हैं।[1]

आसन्नवधक—बरछी या खड्ग से मस्तक काटने वाला पुरुष आसन्नवधक होने के कारण तीव्र वैर से स्पृष्ट होता है। उस वैर के कारण वह उसी पुरुष द्वारा अथवा दूसरे के द्वारा उसी जन्म मे या जन्मान्तर मे मारा जाता है।

पंचक्रियाएँ—(१) **कायिकी**—काया द्वारा होने वाला सावद्य व्यापार, (२) **आधिकरणिकी**—हिसा के साधन—शस्त्रादि जुटाना, (३) **प्राद्वेषिकी**—तीव्र द्वेष भाव से लगने वाली क्रिया, (४) **पारितापनिकी**—किसी जीव को पीडा पहुँचाना, और (५) **प्राणातिपातिकी**—जिस जीव को मारने का सकल्प किया था, उसे मार डालना।

अनेक बातों में समान दो योद्धाओं में जय-पराजय का कारण

९. दो भंते! पुरिसा सरिसया सरित्तया सरिव्वया सरिसभंडमत्तोवगरणा अन्नमन्नेण सद्धि संगामं संगामेंति, तत्थ ण एगे पुरिसे पराइणइ एगे पुरिसे पराइज्जइ, से कहमेय भंते! एव?

गोतमा! सवीरिए परायिणति, अवीरिए पराइज्जति। से केणट्ठेण जाव पराइज्जति? गोयमा! जस्स णं वीरियवज्झाइं कम्माइं नो बद्धाइं नो पुट्ठाइं जाव नो अभिसमन्नागताइं, नो उदिण्णाइं, उवसंताइं भवंति से णं पुरिसे परायिणति; जस्स णं वीरियवज्झाइं कम्माइं बद्धाइं जाव उदिण्णाइं, कम्माइं नो उवसंताइं भवंति से णं पुरिसे परायिज्जति। से तेणट्ठेण गोयमा! एवं वुच्चइ सवीरिए पराजिणइ, अवीरिए पराइज्जति!

[९ प्र] भगवन्! एक सरीखे, एक सरीखी चमडी वाले, समानवयस्क, समान द्रव्य और उपकरण (शस्त्रादि साधन) वाले कोई दो पुरुष परस्पर एक दूसरे के साथ सग्राम करे, तो उनमे से एक पुरुष जीतता है और एक पुरुष हारता है, भगवन्! ऐसा क्यो होता है?

---

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति ९३, ९४

[९-उ.] हे गौतम ! जो पुरुष सवीर्य (वीर्यवान्—शक्तिशाली) होता है, वह जीतता है और जो वीर्यहीन होता है, वह हारता है।

[प्र] भगवन् ! इसका क्या कारण है यावत्—वीर्यहीन हारता है ?

[उ] गौतम ! जिसने वीर्य-विघातक कर्म नही बांधे हैं, नही स्पर्श किये हैं यावत् प्राप्त नही किये हैं, और उसके वे कर्म उदय मे नहीं आए हैं परन्तु उपशान्त हैं, वह पुरुष जीतता है। जिसने वीर्य विघातक कर्म बांधे हैं, स्पर्श किये है, यावत् उसके वे कर्म उदय मे आए हैं, परन्तु उपशान्त नही है, वह पुरुष पराजित होता है। अतएव हे गौतम ! इस कारण ऐसा कहा जाता है कि सवीर्य पुरुष विजयी होता है और वीर्यहीन पुरुष पराजित होता है।

विवेचन—दो पुरुषों की अनेक बातों मे सदृशता होते हुए भी जय-पराजय का कारण—प्रस्तुत सूत्र मे दो पुरुषो की शरीर, वय, चमडी, तथा शस्त्रादि साधनो मे सदृशता होते हुए भी एक की जय और दूसरे की पराजय होने का कारण बताया गया है।

वीर्यवान् और निर्वीर्य—वस्तुत. वीर्य से यहाँ तात्पर्य है,—आत्मिक शक्ति, मनोबल, उत्साह, साहस और प्रचण्ड पराक्रम इत्यादि। जिसमे इस प्रकार का प्रचण्ड वीर्य हो, जो वीर्य विघातक-कर्मरहित हो, वह शरीर से दुर्बल होते हुए भी युद्ध मे जीत जाता है, इसके विपरीत भीमकाय एव परिपुष्ट शरीर वाला होते हुए भी जो निर्वीर्य हो, वीर्यविघातकर्मयुक्त हो, वह हार जाता है।[1]

जीव एवं चौबीस दण्डकों में सवीर्यत्व-अवीर्यत्व की प्ररूपणा

१० जीवा ण भंते ! किं सवीरिया ? अवीरिया ? गोयमा ! सवीरिया वि, अवीरिया वि। से केणट्ठेण ?

गोयमा ! जीवा दुविहा पण्णत्ता; त जहा—संसारसमावन्नगा य, असंसारसमावन्नगा य। तत्थ ण जे ते असंसारसमावन्नगा ते णं सिद्धा, सिद्धा णं अवीरिया। तत्थ णं जे ते ससारसमावन्नगा ते दुविहा पन्नता; तं जहा—सेलेसिपडिवन्नगा य, असेलेसिपडिवन्नगा य। तत्थ णं जे ते सेलेसिपडिवन्नगा ते णं लद्धिवीरिएणं सवीरिया, करणवीरिएणं अवीरिया। तत्थ णं जे ते असेलेसिपडिवन्नगा ते णं लद्धिवीरिएण सवीरिया, करणवीरिएण सवीरिया वि अवीरिया वि। से तेणट्ठेण गोयमा ! एवं वुच्चति' जीवा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सवीरिया वि अवीरिया वि।

[१०-१ प्र] भगवन् ! क्या जीव सवीर्य हैं अथवा अवीर्य हैं ?

[१०-१ उ] गौतम ! जीव सवीर्य भी हैं अवीर्य भी हैं।

[१०-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं ?

[१०-२ उ] गौतम ! जीव दो प्रकार के है—ससारसमापन्नक (ससारी) और असंसारसमापन्नक (सिद्ध)। इनमे जो जीव असंसारसमापन्नक हैं, वे सिद्ध जीव हैं, वे अवीर्य (करण वीर्य से रहित) हैं। इनमें जो जीव ससार-समापन्नक हैं, वे दो प्रकार के कहे गये हैं, यथा—शैलेशीप्रतिपन्न और अशैलेशीप्रतिपन्न। इनमे जो शैलेशीप्रतिपन्न है, वे लब्धिवीर्य की अपेक्षा सवीर्य हैं और करणवीर्य की अपेक्षा अवीर्य हैं। जो अशैलेशीप्रतिपन्न हैं वे लब्धिवीर्य की अपेक्षा सवीर्य हैं, किन्तु करणवीर्य की

१. भगवती सूत्र अ वृत्ति पत्रांक ९४

अपेक्षा सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं। जो अशैलेशीप्रतिपन्न हैं, वे लब्धिवीर्य की अपेक्षा अवीर्य हैं, किन्तु करणवीर्य की अपेक्षा सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं। इसलिए हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि जीव सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी।

११. [१] नेरइया णं भंते ! किं सवीरिया ? अवीरिया ?

गोयमा ! नेरइया लद्धिवीरिएणं सवीरिया, करणवीरिएणं सवीरिया वि अवीरिया वि।

से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! जेसि णं नेरइयाणंअत्थि उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे ते णं नेरइया लद्धिवीरिएण वि सवीरिया, करणवीरिएण वि सवीरिया, जेसि णं नेरइयाण नत्थि उट्ठाणे जाव परक्कमे ते णं नेरइया लद्धिवीरिएणं सवीरिया, करणवीरिएणं अवीरिया। से तेणट्ठेण०।

[११-१ प्र] भगवन् ! क्या नारक जीव सवीर्य है या अवीर्य ?

[११-१ उ.] गौतम ! नारक जीव लब्धिवीर्य की अपेक्षा सवीर्य है और करणवीर्य की अपेक्षा सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं।

[प्र.] भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

[उ.] गौतम ! जिन नैरयिको मे उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकारपराक्रम है, वे नारक लब्धिवीर्य और करणवीर्य, दोनो से सवीर्य हैं, और जो नारक उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार-पराक्रम से रहित हैं, वे लब्धिवीर्य से सवीर्य हैं, किन्तु करणवीर्य से अवीर्य है। इसलिए हे गौतम ! इस कारण से पूर्वोक्त कथन किया गया है।

[२] जहा नेरइया एवं जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिया।

[११-२] जिस प्रकार नैरयिको के विषय मे कथन किया गया है, उसी प्रकार पचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक तक के जीवो के लिए समझना चाहिए।

[३] मणुस्सा जहा ओहिया जीवा। नवरं सिद्धवज्जा भाणियव्वा।

[११-३] मनुष्य के विषय मे सामान्य जीवो के समान समझना चाहिए, विशेषता यह है कि सिद्धो को छोड देना चाहिए।

[४] वाणमन्तर-जोतिस-वेमाणिया जहा नेरइया।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ पढमसमए अट्ठमो उद्देसो समत्तो ॥

[११-४] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो के विषय मे नैरयिको के समान कथन समझना चाहिए।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यह इसी प्रकार है, यो कह कर श्री गौतमस्वामी सयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।[1]

विवेचन—जीवों के सवीर्यत्व-अवीर्यत्व सम्बन्धी प्ररूपण—प्रस्तुत दो सूत्रों मे सामान्य जीवो तथा नैरयिक आदि से लेकर वैमानिक तक चौबीस दण्डकों के जीवो के सवीर्य-अवीर्य सम्बन्धी निरूपण किया गया है।

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ९५

अनन्तवीर्य सिद्ध : अवीर्य कैसे ?—सिद्धों में सकरणवीर्य के अभाव की अपेक्षा से उन्हें अवीर्य कहा गया है, क्योंकि सिद्ध कृतकृत्य हैं, उन्हे किसी प्रकार का पुरुषार्थ करना शेष नही है। अकरण-वीर्य की अपेक्षा से सिद्ध सवीर्य (अनन्तवीर्य) हैं ही।

शैलेशी शब्द की व्याख्याएँ—(१) शीलेश का अर्थ है—सर्वसंवररूपचारित्र मे समर्थ (प्रभु)। उसकी यह अवस्था (२) अथवा शैलेश—मेरुपर्वत, उसकी तरह निष्कम्प-स्थिर अवस्था (३) अथवा सेल (शैल)+इसी (ऋषि)=शैल की तरह चारित्र मे अविचल ऋषि की अवस्था, (४) सेऽलेसी=सालेश्यी=लेश्यारहित स्थिति।[1]

॥ प्रथम शतक : अष्टम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. विशेषावश्यक भाष्य गाथा ३६६३-६४, पृ. ७२८

नवमो उद्देसओ : गरुए

नवम उद्देशक : गुरुक

जीवों के गुरुत्व—लघुत्वादि की प्ररूपणा

१ कहं णं भंते ! जीवा गरुयत्तं हव्वमागच्छंति ?

गोयमा ! पाणातिवातेणं मुसावावेण अदिण्णा० मेहुण० परिग्ग० कोह० माण० माया० लोभ० पेज्ज० दोस० कलह० अब्भक्खाण० पेसुन्न० रति-अरति० परपरिवाय० मायामोस० मिच्छादंसणसल्लेणं, एव खलु गोयमा ! जीवा गरुयत्तं हव्वमागच्छंति ।

[१ प्र] भगवन् ! जीव किस प्रकार शीघ्र गुरुत्व (भारीपन) को प्राप्त होते हैं ?

[१ उ] गौतम ! प्राणातिपात से, मृषावाद से, अदत्तादान से, मैथुन से, परिग्रह से, क्रोध से, मान से, माया से, लोभ से, प्रेय (राग) से, द्वेष से, कलह से, अभ्याख्यान से, पैशुन्य से, रति-अरति से, परपरिवाद (परनिन्दा) से, मायामृषा से और मिथ्यादर्शनशल्य से, इस प्रकार हे गौतम ! (इन अठारह ही पापस्थानो का सेवन करने से) जीव शीघ्र गुरुत्व को प्राप्त होते हैं ।

२. कहं णं भंते ! जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति ?

गोयमा ! पाणातिवातवेरमणेणं जाव मिच्छादंसणसल्लवेरमणेण, एव खलु गोयमा ! जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति ।

[२ प्र] भगवन् ! जीव किस प्रकार शीघ्र लघुत्व (लघुता=हल्केपन) को प्राप्त करते है ?

[२ उ] गौतम ! प्राणातिपात से विरत होने से यावत् मिथ्यादर्शनशल्य से विरत होने से जीव शीघ्र लघुत्व को प्राप्त होते हैं ।

३ एवं आकुलीकरेंति,[१] एव परित्तीकरेंति । एवं दीहीकरेंति, एव हस्सीकरेंति । एवं अणुपरियट्टंति, एव वीतीवयंति । पसत्था चत्तारि । अप्पसत्था चत्तारि ।

[३] इस प्रकार जीव प्राणातिपात आदि पापो का सेवन करने मे ससार को (कर्मों से) बढाते (प्रचुर करते) हैं, दीर्घकालीन करते है, और बार-बार भव-भ्रमण करते हैं, तथा प्राणातिपात आदि पापो से निवृत्त होने से जीव ससार को परिमित (परित्त) करते (घटाते) है, अल्पकालीन (छोटा) करते हैं, और ससार को लाघ जाते हैं । उनमे से चार (लघुत्व, ससार का परित्तीकरण, ह्रस्वीकरण एव व्यतिक्रमण) प्रशस्त हैं, और चार (गुरुत्व, ससार का वृद्धीकरण (प्रचुरीकरण), दीर्घीकरण एव पुन पुन भव-भ्रमण) अप्रशस्त हैं ।

---

१ **आकुलीकरेंति**=प्रचुरीकुर्वन्ति कर्मभि । **परित्तीकरेंति**=स्तोककुर्वन्ति कर्मभिरेव । **दीहीकरेंति**=दीर्घं प्रचुरकाल कुर्वन्तीत्यर्थ । **हस्सीकरेंति**=अल्पकाल कुर्वन्ति । **अणुपरियट्टंति**=पौन पुन्येन भ्रमन्ति । **विइवयंति**=व्यतिव्रजन्ती—व्यतिक्रामन्ति ।

विवेचन—जीवों का गुरुत्व-लघुत्व—प्रस्तुत त्रिसूत्री मे जीवो के गुरुत्व-लघुत्व के कारण अष्टादशपापसेवन तथा अष्टादशपाप-विरमण को बताकर साथ ही लघुत्व आदि चार की प्रशस्तता एव गुरुत्व आदि चार की अप्रशस्तता भी प्रतिपादित की गई है।

चार प्रशस्त और चार अप्रशस्त क्यों?—इन आठो मे से लघुत्व, परीतत्व ह्रस्वत्व और व्यतिव्रजन, ये चार दण्डक प्रशस्त हैं, क्योकि ये मोक्षाग हैं, तथा गुरुत्व, आकुलत्व, दीर्घत्व और अनुपरिवर्तन, ये चार दण्डक अप्रशस्त हैं, क्योंकि ये अमोक्षाग (संसाराग) हैं।[1]

पदार्थों के गुरुत्व-लघुत्व आदि की प्ररूपणा

४ सत्तमे णं भंते! ओवासंतरे किं गुरुए, लहुए, गरुयलहुए, अगरुयलहुए?

गोयमा! नो गरुए, नो लहुए, नो गरुयलहुए, अगरुयलहुए।

[४ प्र.] भगवन्! क्या सातवा अवकाशान्तर गुरु है, अथवा वह लघु है, या गुरुलघु है, अथवा अगुरुलघु है?

[४ उ] गौतम! वह गुरु नही है, लघु नही है, गुरु-लघु नही है, किन्तु अगुरुलघु है।

५ [१] सत्तमे ण भंते! तणुवाते किं गरुए, लहुए गरुयलहुए, अगरुयलहुए?

गोयमा! नो गरुए, नो लहुए, गरुयलहुए, नो अगरुयलहुए।

[५-१ प्र] भगवन्! सप्तम तनुवात क्या गुरु है, लघु है या गुरुलघु है अथवा अगुरुलघु है?

[५-१ उ.] गौतम! वह गुरु नही है, लघु नही है, किन्तु गुरु-लघु है; अगुरुलघु नही है।

[२] एव सत्तमे घणवाए, सत्तमे घणोदही, सत्तमा पुढवी।

[५-२] इस प्रकार सप्तम घनवात, सप्तम घनोदधि और सप्तम पृथ्वी के विषय मे भी जानना चाहिए।

[३] ओवासंतराइं सव्वाइं जहा सत्तमे ओवासंतरे (सु ४)।

[५-३] जैसा सातवे अवकाशान्तर के विषय मे कहा है, वैसा ही सभी अवकाशान्तरो के विषय मे समझना चाहिए।

[४] [सेसा] जहा तणुवाए। एवं—ओवास वाय घणउदहि पुढवी दीवा य सागरा वासा।

[५-४] तनुवात के विषय मे जैसा कहा है, वैसा ही सभी घनवात, घनोदधि, पृथ्वी, द्वीप, समुद्र और क्षेत्रो के विषय मे भी जानना चाहिए।

६. [१] नेरइया णं भंते! किं गरुया जाव अगरुयलहुया?

गोयमा! नो गरुया, नो लहुया, गरुयलहुया वि, अगरुयलहुया वि।

[६-१ प्र.] भगवन्! नारक जीव गुरु हैं, लघु हैं, गुरु-लघु हैं या अगुरुलघु हैं?

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति पत्रांक ९६

[६-१ उ.] गौतम ! नारक जीव गुरु नहीं हैं, लघु नहीं, किन्तु गुरुलघु हैं और अगुरुलघु भी हैं।

[२] से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! वेउव्विय-तेयाइं पडुच्च नो गरुया, नो लहुया, गरुयलहुया, नो अगरुयलहुया जीवं च कम्मणं च पडुच्च नो गरुया, नो लहुया, नो गरुयलहुया, अगरुयलहुया। सेतेणट्ठेणं०।

[६-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

[६-२ उ.] गौतम ! वैक्रिय और तैजस शरीर की अपेक्षा नारक जीव गुरु नहीं हैं, लघु नहीं हैं, अगुरुलघु भी नहीं है, किन्तु गुरु-लघु हैं। किन्तु जीव और कार्मणशरीर की अपेक्षा नारक जीव गुरु नहीं हैं, लघु भी नहीं हैं, गुरु-लघु भी नहीं हैं, किन्तु अगुरुलघु हैं। इस कारण हे गौतम ! पूर्वोक्त कथन किया गया है।

[३] एवं जाव वेमाणिया। नवरं णाणत्तं जाणियव्वं सरीरेहिं।

[६-३] इसी प्रकार वैमानिकों (अन्तिम दण्डक) तक जानना चाहिए, किन्तु विशेष यह है कि शरीरों में भिन्नता कहना चाहिए।

७ धम्मत्थिकाये जाव जीवत्थिकाये चउत्थपदेणं।

[७] धर्मास्तिकाय से लेकर यावत् (अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और) जीवास्तिकाय तक चौथे पद से (अगुरुलघु) जानना चाहिए।

८. पोग्गलत्थिकाए णं भंते ! किं गरुए, लहुए, गरुयलहुए, अगरुयलहुए ?
गोयमा ! णो गरुए, नो लहुए, गरुयलहुए वि, अगरुयलहुए वि।
से केणट्ठेणं ?
गोयमा ! गरुयलहुयदव्वाइं पडुच्च नो गरुए, नो लहुए, गरुयलहुए, नो अगरुयलहुए। अगरुयलहुयदव्वाइं पडुच्च नो गरुए, नो लहुए, नो गरुयलहुए, अगरुयलहुए।

[८ प्र.] भगवन् ! पुद्गलास्तिकाय क्या गुरु है, लघु है, गुरुलघु है अथवा अगुरुलघु है ?
[८ उ.] गौतम ! पुद्गलास्तिकाय न गुरु है न लघु है किन्तु गुरुलघु है और अगुरुलघु भी है।
[प्र.] भगवन् ! इसका क्या कारण है ?

[उ.] गौतम ! गुरुलघु द्रव्यों की अपेक्षा पुद्गलास्तिकाय गुरु नहीं है, लघु नहीं है, किन्तु गुरुलघु है, अगुरुलघु नहीं है। अगुरुलघु द्रव्यों की अपेक्षा पुद्गलास्तिकाय गुरु नहीं, लघु नहीं है, न गुरु-लघु है, किन्तु अगुरुलघु है।

९. समया कम्माणि य चउत्थपदेणं।

[९] समयों और कर्मों (कार्मण शरीर) को चौथे पद से जानना चाहिए अर्थात्—समय और कार्मण शरीर अगुरुलघु हैं।

१०. [१] कण्हलेसा णं भंते ! किं गरुया, जाव अगरुयलहुया ?
गोयमा ! नो गरुया, नो लहुया, गरुयलहुया वि, अगरुयलहुया वि।

[१०-१ प्र.] भगवन्! कृष्णलेश्या क्या गुरु है, लघु है? या गुरुलघु है अथवा अगुरुलघु है?

[१०-१ उ.] गौतम! कृष्णलेश्या गुरु नहीं है, लघु नहीं है, किन्तु गुरुलघु है और अगुरुलघु भी है।

[२] से केणट्ठेणं?

गोयमा! दव्वलेसं पडुच्च ततियपदेणं, भावलेसं पडुच्च चउत्थपदेणं।

[१०-२ प्र.] भगवन्! ऐसा कहने का क्या कारण है?

[१०-२ उ.] गौतम! द्रव्यलेश्या की अपेक्षा तृतीय पद से (अर्थात्—गुरुलघु) जानना चाहिए, और भावलेश्या की अपेक्षा चौथे पद से (अर्थात् अगुरुलघु) जानना चाहिए।

[३] एवं जाव सुक्कलेसा।

[१०-३] इसी प्रकार शुक्ललेश्या तक जानना चाहिए।

११. दिट्ठी-दंसण-नाण-अण्णाण-सण्णाओ चउत्थपदेणं णेतव्वाओ।

[११] दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, अज्ञान और संज्ञा को भी चतुर्थ पद से (अगुरुलघु) जानना चाहिए।

१२ हेट्ठिल्ला चत्तारि सरीरा नेयव्वा ततियएणं पदेणं। कम्मयं चउत्थएणं पदेणं।

[१२] आदि के चारों शरीरों—औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस शरीर—को तृतीय पद से (गुरुलघु) जानना चाहिए, तथा कार्मण शरीर को चतुर्थ पद से (अगुरुलघु) जानना चाहिए।

१३. मणजोगो वइजोगो चउत्थएणं पदेणं। कायजोगो ततिएणं पदेणं।

[१३] मनोयोग और वचनयोग को चतुर्थ पद से (अगुरुलघु) और काययोग को तृतीय पद से (गुरुलघु) जानना चाहिए।

१४. सागारोवओगो अणागारोवओगो चउत्थएणं पदेणं।

[१४] साकारोपयोग और अनाकारोपयोग को चतुर्थ पद से जानना चाहिए।

१५. सव्वदव्वा सव्वपदेसा सव्वपज्जवा जहा पोग्गलत्थिकाओ (सु. ८)।

[१५] सर्वद्रव्य, सर्वप्रदेश और सर्वपर्याय पुद्गलास्तिकाय के समान समझना चाहिए।

१६ तीतद्धा अणागतद्धा सव्वद्धा चउत्थेणं पदेणं।

[१६] अतीतकाल, अनागत (भविष्य) काल और सर्वकाल चौथे पद से अर्थात् अगुरुलघु जानना चाहिए।

विवेचन—पदार्थों की गुरुता-लघुता आदि का चतुर्भंग की अपेक्षा से विचार—प्रस्तुत तेरह सूत्रों (सू ४ से १६ तक) में अवकाशान्तर, घनवात, तनुवात आदि विविध पदार्थों तथा चौबीस दण्डक के जीवों, धर्मास्तिकाय आदि पचास्तिकाय, लेश्या आदि की दृष्टि से गुरुता, लघुता, गुरुलघुता और अगुरुलघुता का विचार प्रस्तुत किया गया है।

गुरु लघु आदि की व्याख्या—गुरु का अर्थ है—भारी। भारी वस्तु होती है, जो पानी पर रखने से डूब जाती है; जैसे—पत्थर आदि। लघु का अर्थ है—हल्की। हल्की वह वस्तु है, जो पानी

पर रखने से नही डूबती बल्कि ऊर्ध्वगामी हो; जैसे—लकडी आदि। तिरछी जाने वाली वस्तु गुरु-लघु है। जैसे—वायु। सभी अरूपी द्रव्य अगुरुलघु हैं; जैसे—आकाश आदि। तथा कार्मणपुद्गल आदि कोई-कोई रूपी पुद्गल चतु स्पर्शी (चौफरसी) पुद्गल भी अगुरुलघु होते हैं। अष्टपर्शी (अठफरसी) पुद्गल गुरु-लघु होते है। यह सब व्यवहारनय की अपेक्षा से है। निश्चयनय की अपेक्षा से कोई भी द्रव्य एकान्तगुरु या एकान्तलघु नही है। व्यवहारनय की अपेक्षा से बादरस्कन्धो मे भारीपन या हल्कापन होता है, अन्य किसी स्कन्ध मे नही।

निष्कर्ष—निश्चयनय से अमूर्त और सूक्ष्म चतु स्पर्शी पुद्गल अगुरुलघु है। इनके सिवाय शेष पदार्थ गुरुलघु हैं। प्रथम और द्वितीय भग शून्य हैं। ये किसी भी पदार्थ मे नही पाये जाते। हाँ, व्यवहारनय से चारो भग पाये जाते हैं।

अवकाशान्तर—चौदह राजू परिमाण पुरुषाकार लोक मे नीचे की ओर ७ पृथ्वियाँ (नरक) हैं। प्रथम पृथ्वी के नीचे घनोदधि, उसके नीचे घनवात, उनके नीचे तनुवात है, और तनुवात के नीचे आकाश है। इसी कम से सातो नरकपृथ्वियो के नीचे ७ आकाश हैं, इन्हे ही अवकाशान्तर कहते हैं। ये अवकाशान्तर आकाशरूप होने से अगुरुलघु हैं।[1]

श्रमणनिर्ग्रन्थों के लिए प्रशस्त तथा अन्तकर

१७. से नूणं भंते ! लाघवियं अप्पिच्छा अमुच्छा अगेही अपडिबद्धता समणाण णिग्गंथाण पसत्थं ?

हंता, गोयमा ! लाघविय जाव पसत्थं।

[१७ प्र.] भगवन् ! क्या लाघव, अल्प इच्छा, अमूर्च्छा, अनासक्ति (अगृद्धि) और अप्रतिबद्धता, ये श्रमणनिर्ग्रन्थो के लिए प्रशस्त है ?

[१७ उ] हाँ गौतम ! लाघव यावत् अप्रतिबद्धता प्रशस्त हैं।

१८. से नूण भंते ! अकोहत्तं अमाणत्त अमायत्तं अलोभत्त समणाण निग्गंथाणं पसत्थं ?
हंता, गोयमा ! अकोहत्त जाव पसत्थ।

[१८ प्र.] भगवन् ! क्रोधरहितता, मानरहितता, मायारहितता और अलोभत्व, क्या ये श्रमणनिर्ग्रन्थो के लिए प्रशस्त है ?

[१८ उ] हाँ गौतम ! क्रोधरहितता यावत् अलोभत्व, ये सब श्रमणनिर्ग्रन्थो के लिए प्रशस्त हैं।

१९. से नूणं भंते ! कंखा-पदोसे खीणे समणे निग्गंथे अतकरे भवति, अंतिमसरीरिए वा, बहुमोहे वि य णं पुव्विं विहरित्ता अह पच्छा संवुडे कालं करेति तओ पच्छा सिज्झति ३ जाव अंतं करेइ ?

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ९६, ९७
(ख) णिच्छयओ सव्वगुरु, सव्वलहु वा ण विज्जए दव्व।
ववहारओ उ जुज्जइ, बायरखधेसु ण अण्णेसु ॥१॥
अगुरुलहू चउप्फासा, अरूविदव्वा य होंति णायव्वा।
सेसाओ अट्ठफासा, गुरुलहुया णिच्छयणयस्स ॥२॥

हंता गोयमा ! कंखा-पदोसे खीणे जाव अंतं करेति ।

[१९ प्र.] भगवन् ! क्या कांक्षाप्रदोष क्षीण होने पर श्रमणनिर्ग्रन्थ अन्तकर अथवा अन्तिम (चरम) शरीरी होता है ? अथवा पूर्वावस्था मे बहुत मोह वाला होकर विहरण करे और फिर सवृत (सवरयुक्त) होकर मृत्यु प्राप्त करे, तो क्या तत्पश्चात् वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है, यावत् सब दु खो का अन्त करता है ?

[१९ उ.] हाँ, गौतम ! कांक्षाप्रदोष नष्ट हो जाने पर यावत् सब दु.खों का अन्त करता है ।

विवेचन--श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए प्रशस्त तथा अन्तकर—प्रस्तुत तीन सूत्रो (१७ से १९ तक) मे से दो सूत्रो मे लाघव आदि श्रमणगुणो को श्रमणनिर्ग्रन्थो के लिए प्रशस्त बताया है, शेष तृतीय सूत्र मे कांक्षाप्रदोषक्षीणता एव सवृतता से सिद्ध, बुद्ध, मुक्त एव सर्वदु.खों का अन्तकर होने का निर्देश किया गया है ।

लाघव आदि पदो के अर्थ—**लाघव**—शास्त्रमर्यादा से भी अल्प अवधि रखना । **अल्पेच्छा**—आहारादि मे अल्प अभिलाषा रखना । **अमूर्च्छा**—अपने पास रही उपधि मे भी ममत्व (सरक्षणानुबन्ध) न रखना । **अगृद्धि**—आसक्ति का अभाव । अर्थात्—भोजनादि के परिभोगकाल मे अनासक्ति रखना । **अप्रतिबद्धता**—स्वजनादि या द्रव्य-क्षेत्रादि मे स्नेह या राग के बन्धन को काट डालना । **कांक्षाप्रदोष**—अन्यदर्शनो का आग्रह-आसक्ति, अथवा राग और प्रद्वेष । इसका दूसरा नाम कांक्षाप्रद्वेष भी है । जिसका आशय है -जिस बात को पकड़ रखा है, उससे विरुद्ध या भिन्न बात पर द्वेष होना ।[1]

आयुष्यबन्ध के सम्बन्ध में अन्यमतीय एवं भगवदीय प्ररूपणा

२०. अन्नउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति एवं भासेंति एवं पण्णवेंति एवं परूवेंति—"एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएण दो आउयाइं पकरेति, तं जहा—इहभवियाउयं च, परभवियाउगं च । जं समयं इहभवियाउगं पकरेति त समयं परभवियाउगं पकरेति, जं समयं परभवियाउगं पकरेति तं समय इहभवियाउगं पकरेइ; इहभवियाउगस्स पकरणयाए परभवियाउगं पकरेइ, परभवियाउगस्स पगरणताए इहभवियाउयं पकरेति । एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो आउयाइं पकरेति, तं०—इहभवियाउय च, परभवियाउयं च ।" से कहमेत भंते ! एवं ?

गोयमा ! जं णं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति जाव परभवियाउयं च । जे ते एवमाहंसु मिच्छं ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि—एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं आउगं पकरेति, तं जहा—इहभवियाउयं वा, परभवियाउयं वा; जं समयं इहभवियाउयं पकरेति णो तं समयं परभवियाउयं पकरेति, जं समयं परभवियाउयं पकरेइ णो तं समयं इहभवियाउयं पकरेइ; इहभवियाउयस्स पकरणताए णो परभवियाउयं पकरेति, परभवियाउयस्स पकरणताए णो इहभवियाउयं पकरेति । एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं आउयं पकरेति, तं०—इहभवियाउयं वा, परभवियाउयं वा ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं गोयमे जाव विहरति ।

---

१ भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ९७

[२० प्र.] भगवन् ! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं, इस प्रकार विशेषरूप से कहते है, इस प्रकार बताते हैं, और इस प्रकार की प्ररूपणा करते हैं कि एक जीव एक समय मे दो आयुष्य करता (बाँधता) है। वह इस प्रकार—इस भव का आयुष्य और परभव का आयुष्य। जिस समय इस भव का आयुष्य करता है, उस समय परभव का आयुष्य करता है और जिस समय परभव का आयुष्य करता है, उस समय इहभव का आयुष्य करता है। इस भव का आयुष्य करने से परभव का आयुष्य करता है और परभव का आयुष्य करने से इस भव का आयुष्य करता है। इस प्रकार एक जीव एक समय मे दो आयुष्य करता है—इस भव का आयुष्य और परभव का आयुष्य। भगवन् ! क्या यह इसी प्रकार है ?

[२० उ] गौतम ! अन्यतीर्थिक जो इस प्रकार कहते है, यावत् इस भव का आयुष्य और परभव का आयुष्य (करता है), उन्होने जो ऐसा कहा है, वह मिथ्या कहा है। हे गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूँ, यावत् प्ररूपणा करता हूँ कि—एक जीव एक समय मे एक आयुष्य करता है और वह या तो इस भव का आयुष्य करता है अथवा परभव का आयुष्य करता है। जिस समय इस भव का आयुष्य करता है, उस समय परभव का आयुष्य नही करता और जिस समय परभव का आयुष्य करता है, उस समय इस भव का आयुष्य नही करता। तथा इस भव का आयुष्य करने से परभव का आयुष्य और परभव का आयुष्य करने से इस भव का आयुष्य नही करता। इस प्रकार एक जीव एक समय में एक आयुष्य करता है—इस भव का आयुष्य अथवा परभव का आयुष्य।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' ऐसा कहकर भगवान् गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—आयुष्यबन्ध के सम्बन्ध मे अन्यमतीय एव भगवदीय प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र मे अन्य-मतमान्य आयुष्यबन्ध की प्ररूपणा प्रस्तुत करके भगवान् के द्वारा प्रतिपादित सैद्धान्तिक प्ररूपणा प्रदर्शित की गई है।

आयुष्य करने का अर्थ—यहाँ आयुष्य बाँधना है।

दो आयुष्यबन्ध क्यों नहीं ?—यद्यपि आयुष्यबन्ध के समय जीव इस भव के आयुष्य को वेदता है, और परभव के आयुष्य को बाधता है, किन्तु उत्पन्न होते हो या इसी भव मे एक साथ दो आयुष्यो का बध नही करता, अन्यथा, इस भव मे किये जाने वाले दान-धर्म आदि मब व्यर्थ हो जाएँगे।[1]

पार्श्वापत्यीय कालास्यवेषिपुत्र का स्थविरों द्वारा समाधान और हृदयपरिवर्तन

२१. [१] **तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावच्चिज्जे कालासवेसियपुत्ते णामं अणगारे जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता थेरे भगवंते एवं वयासी—थेरा सामाइय ण जाणंति, थेरा सामाइयस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा पच्चक्खाणं ण याणंति, थेरा पच्चक्खाणस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा संजमं ण याणंति, थेरा संजमस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा संवरं ण याणंति, थेरा संवरस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा विवेगं ण याणंति, थेरा विवेगस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा विउस्सग्गं ण याणंति, थेरा विउस्सग्गस्स अट्ठं ण याणंति।**

---

१. भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक ९८-९९

[२१-१] उस काल (भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण के लगभग २५० वर्ष पश्चात्) और उस समय (भगवान् महावीर के शासनकाल) में पार्श्वापत्यीय (पार्श्वनाथ की परम्परा के शिष्यानुशिष्य) कालास्यवेषिपुत्र नामक अनगार जहाँ (भगवान् महावीर के) स्थविर (श्रुतवृद्ध शिष्य) भगवान् विराजमान थे, वहाँ गए। उनके पास आकर स्थविर भगवन्तो से उन्होने इस प्रकार कहा—"हे स्थविरो ! आप सामायिक को नही जानते, सामायिक के अर्थ को नही जानते, आप प्रत्याख्यान को नही जानते और प्रत्याख्यान के अर्थ को नही जानते, आप संयम को नहीं जानते और संयम के अर्थ को नहीं जानते, आप सवर को नही जानते, सवर के अर्थ को नही जानते, हे स्थविरो ! आप विवेक को नही जानते और विवेक के अर्थ को नही जानते हैं, तथा आप व्युत्सर्ग को नही जानते और न व्युत्सर्ग के अर्थ को जानते हैं।"

[२] तए णं ते थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी— जाणामो णं अज्जो ! सामाइयं, जाणामो णं अज्जो ! सामाइयस्स अट्ठं जाव जाणामो णं अज्जो ! विउस्सग्गस्स अट्ठं।

[२१-२] तब उन स्थविर भगवन्तो ने कालास्यवेषिपुत्र अनगार से इस प्रकार कहा—"हे आर्य ! हम सामायिक को जानते है, सामायिक के अर्थ को भी जानते है, यावत् हम व्युत्सर्ग को जानते हैं और व्युत्सर्ग के अर्थ को भी जानते है।

[३] तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे ते थेरे भगवंते एवं वयासी—जति णं अज्जो ! तुब्भे जाणह सामाइयं, जाणह सामाइयस्स अट्ठं जाव जाणह विउस्सग्गस्स अट्ठं किं भे अज्जो ! सामाइए ? किं भे अज्जो ! सामाइयस्स अट्ठे ? जाव किं भे विउस्सग्गस्स अट्ठे ?

[२१-३ प्र.] उसके पश्चात् कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने उन स्थविर भगवन्तो से इस प्रकार कहा—हे आर्यो ! यदि आप सामायिक को (जानते हैं) और सामायिक के अर्थ को जानते है, यावत्-व्युत्सर्ग को एव व्युत्सर्ग के अर्थ को जानते हैं, तो बतलाइये कि (आपके मतानुसार) सामायिक क्या है और सामायिक का अर्थ क्या है ? यावत् . व्युत्सर्ग क्या है और व्युत्सर्ग का अर्थ क्या है।

[४] तए णं थेरा भगवतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी—आया णे अज्जो ! सामाइए, आया णे अज्जो ! सामाइयस्स अट्ठे जाव विउस्सग्गस्स अट्ठे।

[२१-४ उ.] तब उन स्थविर भगवन्तो ने इस प्रकार कहा कि—हे आर्य ! हमारी आत्मा सामायिक है, हमारी आत्मा सामायिक का अर्थ है; यावत् हमारी आत्मा व्युत्सर्ग है, हमारी आत्मा ही व्युत्सर्ग का अर्थ है।

[५] तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंते एवं वयासी—जति भे अज्जो ! आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे एवं जाव आया विउस्सग्गस्स अट्ठे, अवहट्टु कोह-माण-माया-लोभे किमट्ठं अज्जो ! गरहह ?

कालास० ! संजमट्ठयाए।

[२१-५ प्र.] इस पर कालास्यवेषिपुत्र, अनगार ने उन स्थविर भगवन्तों से इस प्रकार पूछा—'हे आर्यो ! यदि आत्मा ही सामायिक है, आत्मा ही सामायिक का अर्थ है, और इसी प्रकार यावत्

आत्मा ही व्युत्सर्ग है तथा आत्मा ही व्युत्सर्ग का अर्थ है, तो आप क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करके क्रोधादि की गर्हा—निन्दा क्यो करते हैं ?'

[२१-५ उ] हे कालस्यवेषिपुत्र ! हम सयम के लिए क्रोध आदि की गर्हा करते हैं।

[६] से भंते ! किं गरहा संजमे ? अगरहा संजमे ?

कालास० ! गरहा संजमे, नो अगरहा संजमे, गरहा वि य णं सव्वं दोसं पविणेति, सव्वं बालियं परिण्णाए एवं खु णे आया संजमे उवहिते भवति, एवं खु णे आया सजमे उवचिते भवति, एव खु णे आया संजमे उवट्ठिते भवति।

[२१-६ प्र.] तो 'हे भगवन् ! क्या गर्हा (करना) सयम है या अगर्हा (करना) सयम है ?'

[२१-६ उ] हे कालास्यवेषिपुत्र ! गर्हा (पापो की निन्दा) सयम है, अगर्हा सयम नही है। गर्हा सब दोषो को दूर करती है—आत्मा समस्त मिथ्यात्व को जान कर गर्हा द्वारा दोषनिवारण करता है। इस प्रकार हमारी आत्मा सयम मे पुष्ट होती है, और इसी प्रकार हमारी आत्मा संयम मे उपस्थित होती है।

२२. **[१] एत्थ णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे संबुद्धे थेरे भगवते वंदति णमंसति, २ एव वयासी—एतेसि ण भंते ! पदाणं पुव्वि अण्णाणयाए असवणयाए अबोहीए अणभिगमेणं अदिट्ठाण अस्सुताणं असुताण अविण्णायाणं अव्वोगडाणं अव्वोच्छिन्नाणं अणिज्जूढाण अणुवधारिताणं एतमट्ठे णो सद्दहिते, णो पत्तिए, णो रोइए। इयाणि भंते ! एतेसिं पदाणं जाणताए सवणताए बोहीए अभिगमेणं दिट्ठाणं सुताणं मुयाणं विण्णाताणं वोगडाणं वोच्छिन्नाणं णिज्जूढाणं उवधारिताणं एतमट्ठं सद्दहामि, पत्तियामि, रोएमि। एवमेतं से जहेयं तुब्भे वदह।**

[२२-१] (स्थविर भगवन्तों का उत्तर सुनकर) वह कालास्यवेषिपुत्र अनगार बोध को प्राप्त हुए और उन्होने स्थविर भगवन्तो की वन्दना को, नमस्कार किया, वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—'हे भगवन् ! इन (पूर्वोक्त) पदो को न जानने से, पहले सुने हुए न होने से, बोध न होने से अभिगम (ज्ञान) न होने से, दृष्ट न होने से, विचारित (सोचे हुए) न होने से, सुने हुए न होने से, विशेषरूप से न जानने से, कहे हुए न होने से, अनिर्णीत होने से, उद्धृत न होने से, और ये पद अवधारण किये हुए न होने से इस अर्थ मे श्रद्धा नही की थी, प्रतीति नही की थी, रुचि नहीं की थी, किन्तु भगवन् ! अब इन (पदो) को जान लेने से, सुन लेने से, बोध होने से, अभिगम होने से, दृष्ट होने से, चिन्तित (चिन्तन किये हुए) होने से, श्रुत (सुने हुए) होने से, विशेष जान लेने से, (आपके द्वारा) कथित होने से, निर्णीत होने से, उद्धृत होने से और इन पदो का अवधारण करने से इस अर्थ (कथन) पर मैं श्रद्धा करता हूँ, प्रतीति करता हूँ, रुचि करता हूँ, हे भगवन् ! आप जो यह कहते है, वह यथार्थ है, वह इसी प्रकार है।'

[२] तए णं ते थेरा भगवतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी—सद्दहाहि अज्जो ! पत्तियाहि अज्जो ! रोएहि अज्जो ! से जहेतं अम्हे वदामो।

[२२-२] तब उन स्थविर भगवन्तो ने कालास्यवेषिपुत्र अनगार से इस प्रकार कहा—'हे आर्य ! हम जैसा कहते हैं उस पर वैसी ही श्रद्धा करो, आर्य ! उस पर प्रतीति करो, आर्य ! उसमे रुचि रखो।'

२३. [१] तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंते वंदइ नमंसइ, २ एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह।

[२३-१] तत्पश्चात् कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने उन स्थविर भगवन्तों को वन्दना की, नमस्कार किया, और तब वह इस प्रकार बोले—'हे भगवन् ! पहले मैंने (भ० पार्श्वनाथ का) चातुर्यामधर्म स्वीकार किया है, अब मैं आपके पास प्रतिक्रमणसहित पंचमहाव्रतरूप धर्म स्वीकार करके विचरण करना चाहता हूँ।'

(स्थविर—) 'हे देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हे सुख हो, वैसे करो। परन्तु (इस शुभकार्य मे) विलम्ब (प्रतिबन्ध) न करो।'

[२] तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंते वंदइ नमंसइ, वंदित्ता, नमंसित्ता चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।

[२३-२] तदनन्तर कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने स्थविर भगवन्तो को वन्दना की, नमस्कार किया, और फिर चातुर्याम धर्म के स्थान पर प्रतिक्रमणसहित पंचमहाव्रत वाला धर्म स्वीकार किया और विचरण करने लगे।

२४. तए ण से कालासवेसियपुत्ते अणगारे बहूणि वासाणि सामण्णपरियागं पाउणइ, २ जस्सट्ठाए कीरति नग्गभावे मुण्डभावे अण्हाणय अदंतधुवणयं अच्छत्तयं अणोवाहणय भूमिसेज्जा फलगसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोओ बंभचेरवासो परघरपवेसो लद्धावलद्धी, उच्चावया गामकंटगा बावीसं परिसहोवसग्गा अहियासिज्जंति तमट्ठं आराहेइ, २ चरमेहिं उस्सास-नीसासेहिं सिद्धे बुद्धे मुक्के परिनिव्वुडे सव्वदुक्खप्पहीणे।

[२४] इसके पश्चात् कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने बहुत वर्षों तक श्रमणपर्याय (साधुत्व) का पालन किया और जिस प्रयोजन से नग्नभाव, मुण्डभाव, अस्नान, अदन्तधावन, छत्रवर्जन, पैरो मे जूते न पहनना, भूमिशयन, फलक (पट्टे) पर शय्या, काष्ठ पर शयन, केशलोच, ब्रह्मचर्यवास, भिक्षार्थ गृहस्थो के घरो मे प्रवेश, लाभ और अलाभ (सहना) (अभीष्ट भिक्षा प्राप्त होने पर हर्षित न होना और भिक्षा न मिलने पर खिन्न न होना), अनुकूल और प्रतिकूल, इन्द्रियसमूह के लिए कण्टकसम चुभने वाले कठोर शब्दादि इत्यादि २२ परीषहो को सहन करना, इन सब (साधनाओ) का स्वीकार किया, उस अभीष्ट प्रयोजन की सम्यक्रूप से आराधना की। और वह अन्तिम उच्छ्वास-निःश्वास द्वारा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए और समस्त दुःखों से रहित हुए।

विवेचन—पार्श्वापत्यीय कालास्यवेषिपुत्र का स्थविरों द्वारा समाधान और हृदय-परिवर्तन— प्रस्तुत चार सूत्रों मे पार्श्वनाथ भगवान् के शिष्यानुशिष्य कालास्यवेषिपुत्र अनगार द्वारा भगवान् महावीर के श्रुतस्थविर शिष्यो से सामायिक, प्रत्याख्यान, संयम, सवर, विवेक और व्युत्सर्ग एवं इनके अर्थों के सम्बन्ध मे की गई शकाओ का समाधान एवं अन्त मे कृतज्ञता-प्रकाशपूर्वक विनयसहित सप्रतिक्रमण पचमहाव्रत धर्म के स्वीकार का वर्णन है।

'कट्ठसेज्जा' के तीन अर्थ—काष्ठशय्या, कष्टशय्या, अथवा अमनोज्ञवसति ।

स्थविरों के उत्तर का विश्लेषण—स्थविरो का उत्तर निश्चयनय की दृष्टि से है। गुण और गुणी में तादात्म्य—अभेदसम्बन्ध होता है। इस दृष्टि से आत्मा (गुणी) और सामायिक (गुण) अभिन्न हैं। आत्मा को सामायिक आदि और सामायिक आदि का अर्थ कहना इस (निश्चय) दृष्टि से युक्तियुक्त है। व्यवहारनय की अपेक्षा से आत्मा और सामायिक आदि पृथक्-पृथक् होने से सामायिक आदि का अर्थ इस प्रकार होगा--

सामायिक—शत्रु-मित्र पर समभाव। **प्रत्याख्यान**—नवकारसी, पोरसी आदि का नियम करना। **संयम**—पृथ्वीकायादि जीवो की यतना—रक्षा करना। **संवर**—पाँच इन्द्रियो तथा मन को वश में रखना। **विवेक**—विशिष्ट बोध—ज्ञान। **व्युत्सर्ग**—शारीरिक हलन-चलन बन्द करके उस पर से ममत्व हटाना।

इनका प्रयोजन—सामायिक का अर्थ—नये कर्मों का बन्ध न करना, प्राचीन कर्मों की निर्जरा करना। **प्रत्याख्यान का प्रयोजन**— आस्रवद्वारो को रोकना। **संयम का प्रयोजन**—आस्रवरहित होना। **संवर का प्रयोजन**—इन्द्रियो और मन की प्रवृत्ति को रोक कर आस्रवरहित होना। **विवेक का प्रयोजन**—हेय का त्याग, ज्ञेय का ज्ञान और उपादेय का ग्रहण करना। **व्युत्सर्ग का प्रयोजन**—सभी प्रकार के सग से रहित हो जाना।

गर्हा संयम कैसे ?—सयम मे हेतुरूप होने तथा कर्मबन्ध मे कारणरूप न होने से गर्हा सयम है।[1]

चारों में अप्रत्याख्यानक्रिया : समानरूप से

२५. **'भंते !' त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, २ एवं वदासी—से नूणं भंते ! सेट्ठिस्स य तणुयस्स य किविणस्स य खत्तियस्स य समा चेव अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ ?**

हंता, गोयमा ! सेट्ठिस्स य जाव अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ।

से केणट्ठे भंते ! ० ?

गोयमा ! अविरतिं पडुच्च; से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ सेट्ठिस्स य तणु० जाव कज्जइ।

[२५ प्र] 'भगवन् !' ऐसा कहकर भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार किया। तत्पचात् (वन्दन-नमस्कार करके) वे इस प्रकार बोले—भगवन् ! क्या श्रेष्ठी (स्वर्णपट्टविभूषित पगडी से युक्त पौरजननायक—नगर सेठ, श्रीमन्त) और दरिद्र को, रंक को और क्षत्रिय (राजा) को अप्रत्याख्यान क्रिया (प्रत्याख्यानक्रिया का अभाव अथवा अप्रत्याख्यानजन्य कर्मबन्ध) समान होती है ?

[२५ उ] हाँ, गौतम ! श्रेष्ठी यावत् क्षत्रिय राजा (इन सब) के द्वारा अप्रत्याख्यान क्रिया (प्रत्याख्यान क्रिया का अभाव) समान की जाती है, (अर्थात्—अप्रत्याख्यानजन्य कर्मबन्ध भी समान होता है।)

---

१. भगवतीसूत्र, अ. वृत्ति, पत्रांक १००

[प्र.] भगवन् ! आप ऐसा किस हेतु से कहते हैं ?

[उ.] गौतम ! (इन चारों की) अविरति को लेकर, ऐसा कहा जाता है कि श्रेष्ठी और दरिद्र, कृपण (रंक) और राजा (क्षत्रिय) इन सबकी अप्रत्याख्यानक्रिया (प्रत्याख्यानक्रिया से विरति या तज्जन्यकर्मबन्धता) समान होती है।

विवेचन—चारों में अप्रत्याख्यानक्रिया समानरूप से—प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि चाहे कोई बड़ा नगरसेठ हो, या दरिद्र, रंक हो या राजा, इन चारों में बाह्य असमानता होते हुए भी अविरति के कारण चारों को अप्रत्याख्यानक्रिया समानरूप से लगती है। अर्थात्—सबको प्रत्याख्यानक्रिया के अभावरूप अप्रत्याख्यान (अविरति) क्रिया के कारण समान कर्मबन्ध होता है। वहाँ राजा-रंक आदि का कोई लिहाज नहीं होता।[1]

आधाकर्म एवं प्रासुक-एषणीयादि आहारसेवन का फल

२६. आहाकम्मं णं भुंजमाणे समणे निग्गंथे किं बंधति ? किं पकरेति ? किं चिणाति ? किं उवचिणाति ?

गोयमा ! आहाकम्मं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मप्पगडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ पकरेइ जाव अणुपरियट्टइ।

से केणट्ठेणं जाव अणुपरियट्टइ ?

गोयमा ! आहाकम्मं णं भुंजमाणे आयाए धम्मं अतिक्कमति, आयाए धम्मं अतिक्कममाणे पुढविक्कायं णावकंखति जाव तसकायं णावकंखति, जेसिं पि य णं जीवाणं सरीराइं आहारमाहारेइ ते वि जीवे नावकंखति। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—आहाकम्मं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ जाव[2] अणुपरियट्टति।

[२६ प्र.] भगवन् ! आधाकर्मदोषयुक्त आहारादि का उपभोग करता हुआ श्रमणनिर्ग्रन्थ क्या बाँधता है ? क्या करता है ? किसका चय (वृद्धि) करता है, और किसका उपचय करता है ?

[२६ उ.] गौतम ! आधाकर्मदोषयुक्त आहारादि का उपभोग करता हुआ श्रमणनिर्ग्रन्थ आयुकर्म को छोड़कर शिथिलबन्धन से बन्धी हुई सात कर्मप्रकृतियों को दृढबन्धन से बन्धी हुई बना लेता है, यावत्—संसार में बार-बार पर्यटन करता है।

[प्र.] भगवन् ! इसका क्या कारण है कि, यावत्—वह संसार में बार-बार पर्यटन करता है ?

[उ.] गौतम ! आधाकर्मी आहारादि का उपभोग करता हुआ श्रमणनिर्ग्रन्थ अपने आत्म-धर्म का अतिक्रमण करता है। अपने आत्मधर्म का अतिक्रमण करता हुआ (साधक) पृथ्वीकाय के

---

१ भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १०१

२ 'जाव' पद से—'**सिढिलबंधणबद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ पकरेइ, हस्सकालठितियाओ दीहकालठितियाओ पकरेइ, मंदाणुभावाओ तिव्वाणुभावाओ पकरेइ, अप्पपएसग्गाओ बहुपएसग्गाओ पकरेइ, आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ, सिय नो बंधइ, अस्सायावेयणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणइ, अणाइयं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं,**' यहाँ तक का पाठ समझना।

जीवो की अपेक्षा (परवाह) नही करता, और यावत्—त्रसकाय के जीवो की चिन्ता (परवाह) नही करता और जिन जीवों के शरीरो का वह भोग करता है, उन जीवो की भी चिन्ता नही करता। इस कारण हे गौतम ! ऐसा कहा गया है कि आधाकर्मदोषयुक्त आहार भोगता हुआ (श्रमण) आयुकर्म को छोड़कर सात कर्मों की शिथिलबद्ध प्रकृतियो को गाढ़बन्धन बद्ध कर लेता है, यावत्—ससार मे बार-बार परिभ्रमण करता है।

२७. **फासुएसणिज्जं णं भंते ! भुंजमाणे किं बंधइ जाव उवचिणाइ ?**

गोयमा ! फासुएसणिज्जं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मप्पयडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ जहा संवुडे णं (स० १ उ० १ सु. ११ [२]), नवरं आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ, सिय नो बंधइ। सेसं तहेव जाव वीतीवयति।

से केणट्ठेणं जाव वीतीवयति ?

गोयमा ! फासुएसणिज्जं णं भुंजमाणे समणे निग्गंथे आताए धम्मं णाइक्कमति, आताए धम्मं अणतिक्कममाणे पुढविक्कायं अवकंखति जाव तसकायं अवकंखति, जेसिं पि य णं जीवाणं सरीराइं आहारेति ते वि जीवे अवकंखति, से तेणट्ठेणं जाव वीतीवयति।

[२७ प्र] हे भगवन् ! प्रासुक और एषणीय आहारादि का उपभोग करने वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ क्या बांधता है ? यावत् किसका उपचय करता है ?

[२७ उ] गौतम ! प्रासुक और एषणीय आहारादि भोगने वाला श्रमणनिर्ग्रन्थ, आयुकर्म को छोड़कर सात कर्मों की दृढबन्धन से बद्ध प्रकृतियो को शिथिल करता है। उसे संवृत अनगार के समान समझना चाहिए। विशेषता यह है कि आयुकर्म को कदाचित् बांधता है और कदाचित् नही बांधता। शेष उसी प्रकार समझना चाहिए; यावत् ससार को पार कर जाता है।

[प्र] भगवन् ! इसका क्या कारण है कि—यावत्—ससार को पार कर जाता है ?

[उ.] गौतम ! प्रासुक एषणीय आहारादि भोगने वाला श्रमणनिर्ग्रन्थ, अपने आत्मधर्म का उल्लघन नही करता। अपने आत्मधर्म का उल्लघन न करता हुआ वह श्रमणनिर्ग्रन्थ पृथ्वीकाय के जीवो का जीवन चाहता है, यावत्—त्रसकाय के जीवो का जीवन चाहता है और जिन जीवो का शरीर उसके उपभोग मे आता है, उनका भी वह जीवन चाहता है। इस कारण से हे गौतम ! वह यावत्—ससार को पार कर जाता है।

विवेचन—आधाकर्मी एवं एषणीय आहारादि-सेवन का फल—प्रस्तुत दो सूत्रो मे क्रमश आधाकर्मदोषयुक्त एव प्रासुक एषणीय आहारादि के उपभोग का फल बताया गया है।

प्रासुकादिशब्दों के अर्थ—प्रासुक—अचित्त, निर्जीव। **एषणीय**—आहार आदि से सम्बन्धित दोषो से रहित। **आधाकर्म**—साधु के निमित्त सचित्त वस्तु को अचित्त की जाए अर्थात्—सजीव वस्तु को निर्जीव बनाया जाए, अचित्त वस्तु को पकाया जाए, घर मकान आदि बधवाए जाएँ, वस्त्रादि बनवाए जाएँ, इसे आधाकर्म कहते हैं।

'बंधइ' आदि पदों के भावार्थ—बंधइ—यह पद प्रकृतिबन्ध की अपेक्षा से, या स्पृष्टबन्ध की अपेक्षा से है, **पकरइ** पद स्थितिबन्ध अथवा बद्ध अवस्था की अपेक्षा से है, **'चिणइ'** पद अनुभागबन्ध

की अपेक्षा से अथवा निधत्त अवस्था की अपेक्षा से है। 'उवचिणइ' पद प्रदेशबन्ध की अपेक्षा अथवा निकाचित अवस्था की अपेक्षा से है।[1]

स्थिर-अस्थिरादि-निरूपण

२८. से नूणं भंते ! अथिरे पलोट्टति, नो थिरे पलोट्टति; अथिरे भज्जति, नो थिरे भज्जति; सासए, बालए, बालियत्तं असासयं; सासते पंडिते, पंडितत्तं असासतं ?

हंता, गोयमा ! अथिरे पलोट्टति जाव पंडितत्तं असासतं।

सेवं भंते ! सेवं भंते त्ति जाव विहरति।

॥ नवमो उद्देसो समत्तो ॥

[२८ प्र.] भगवन् ! क्या अस्थिर पदार्थ बदलता है और स्थिर पदार्थ नही बदलता है ? क्या अस्थिर पदार्थ भग होता है और स्थिर पदार्थ भग नही होता ? क्या बाल शाश्वत है तथा बालत्व अशाश्वत है ? क्या पण्डित शाश्वत है और पण्डित्व अशाश्वत है ?

[२८ उ] हाँ, गौतम ! अस्थिर पदार्थ बदलता है यावत् पण्डित्व अशाश्वत है।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है; भगवन् ! यह इसी प्रकार है !, यो कहकर यावत् गौतम स्वामी विचरण करते हैं।

विवेचन—स्थिर-अस्थिरादि निरूपण—प्रस्तुत सूत्र मे अस्थिर एव स्थिर पदार्थों के परिवर्तन होने, न होने, भग होने, न होने तथा बाल और पण्डित के शाश्वतत्व एवं बालत्व तथा पण्डितत्व के अशाश्वतत्व की चर्चा की गई है।

'अथिरे पलोट्टइ' आदि के दो अर्थ—व्यवहारपक्ष मे पलट जाने वाला अस्थिर होता है, जैसे मिट्टी का ढेला आदि अस्थिर द्रव्य अस्थिर हैं। अध्यात्मपक्ष मे कर्म अस्थिर है, वे प्रतिसमय जीवप्रदेशों से चलित—पृथक् होते है। कर्म अस्थिर होने से बन्ध, उदय और निर्जीर्ण आदि परिणामो द्वारा वे बदलते रहते हैं। व्यवहारपक्ष मे पत्थर की शिला स्थिर है, वह बदलती नही, अध्यात्मपक्ष मे आत्मा स्थिर है। व्यवहारपक्ष मे तृणादि नश्वर स्वभाव के हैं, इसलिए भग्न हो जाते हैं, अध्यात्मपक्ष के कर्म अस्थिर होने से भग्न हो जाते है। जीव का प्रकरण होने से व्यवहारपक्ष मे अबोध बच्चे को बाल कहते हैं, अध्यात्मपक्ष मे असयत अविरत को बाल कहते है। यह जीव द्रव्य रूप होने से शाश्वत है और बालत्व, पण्डितत्व आदि जीव की पर्याय होने से अशाश्वत है।[2]

॥ प्रथम शतक : नवम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्रांक १०१-१०२

२ भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १०२

दसमो उद्देसओ : चलणाओ

दशम उद्देशक : चलना

चलमान चलित आदि से सम्बन्धित अन्यतीर्थिकमत निराकरणपूर्वक स्वसिद्धान्त निरूपण

१. अन्नउत्थिया ण भंते ! एवमाइक्खंति जाव एवं परूवेंति—"एवं खलु चलमाणे अचलिते जाव निज्जरिज्जमाणे अणिज्जिण्णे। दो परमाणुपोग्गला एगयओ न साहन्नंन्ति। कम्हा दो परमाणुपोग्गला एगयतो न साहन्नंति ?

दोण्हं परमाणुपोग्गलाणं नत्थि सिणेहकाए तम्हा दो परमाणुपोग्गला एगयओ न साहन्नंति। तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नंति, कम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नति ?

तिण्हं परमाणुपोग्गलाणं अत्थि सिणेहकाए तम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नति। ते भिज्जमाणा दुहा वि तिहा वि कज्जंति, दुहा कज्जमाणा एगयओ दिवड्ढे परमाणुपोग्गले भवति, एगयओ वि दिवड्ढे परमाणुपोग्गले भवति; तिहा कज्जमाणा तिण्णि परमाणुपोग्गला भवति, एवं जाव चत्तारि, पंच परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नंति, एगयओ साहन्नित्ता दुक्खत्ताए कज्जति, दुक्खे वि य णं से सासते सया समितं चिज्जति य अवचिज्जति य। पुव्वि भासा भासा, भासिज्जमाणी भासा अभासा, भासासमयवीतिक्कंतं च णं भासिया भासा भासा; सा किं भासओ भासा ? अभासओ भासा ?

अभासओ णं सा भासा, नो खलु सा भासओ भासा।

पुव्विं किरिया दुक्खा, कज्जमाणी किरिया अदुक्खा, किरियासमयवीतिक्कत च णं कडा किरिया दुक्खा; जा सा पुव्विं किरिया दुक्खा, कज्जमाणी किरिया अदुक्खा, किरियासमयवीइक्कंतं च णं कडा किरिया दुक्खा, सा किं करणतो दुक्खा अकरणतो दुक्खा ?

अकरणओ णं सा दुक्खा, णो खलु सा करणतो दुक्खा, सेव वत्तव्वं सिया।

अकिच्चं दुक्खं, अफुसं दुक्खं, अकज्जमाणकड दुक्खं अकट्टु अकट्टु पाण-भूत-जीव-सत्ता वेदणं वेदेंतीति वत्तव्वं सिया"। से कहमेय भंते ! एवं ?

गोयमा ! जं णं ते अन्नउत्थिया एवमाइक्खंति जाव वेदणं वेदेंतीति वत्तव्वं सिया, जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु। अहं पुण गोतमा ! एवमाइक्खामि—एवं खलु चलमाणे चलिते जाव निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे। दो परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नति। कम्हा दो परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नति ? दोण्हं परमाणुपोग्गलाणं अत्थि सिणेहकाए, तम्हा दो परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नंति, ते भिज्जमाणा दुहा कज्जंति, दुहा कज्जमाणे एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ परमाणु पोग्गलेभवति।

तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नंति, कम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नंति ?

तिण्हं परमाणुपोग्गलाणं अत्थि सिणेहकाए, तम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति; ते भिज्जमाणा दुहा वि तिहा वि कज्जंति, दुहा कज्जमाणा एगयओ परमाणुपोग्गले, एगयओ दुपदेसिए खंधे भवति, तिहा कज्जमाणा तिण्णि परमाणुपोग्गला भवंति। एवं जाव चत्तारि पंच परमाणुपोग्गला एगयओ साहन्नंति, साहन्नित्ता खंधत्ताए कज्जंति, खंधे वि य णं से असासते सया समियं उवचिज्जइ य अवचिज्जइ य।

पुव्विं भासा अभासा, भासिज्जमाणी भासा भासा, भासासमयवीतिक्कंतं च णं भासिता भासा अभासा; जा सा पुव्विं भासा अभासा, भासिज्जमाणी भासा भासा, भासासमयवीतिक्कंतं च णं भासिता भासा अभासा, सा किं भासतो भासा अभासओ भासा ?

भासओ णं सा भासा, नो खलु सा अभासओ भासा। पुव्विं किरिया अदुक्खा जहा भासा तहा भाणितव्वा किरिया वि जाव करणतो णं सा दुक्खा, नो खलु सा अकरणओ दुक्खा, सेवं वत्तव्वं सिया। किच्चं दुक्खं, फुसं दुक्खं, कज्जमाणकडं दुक्खं कट्टु कट्टु पाण-भूत-जीव-सत्ता वेदणं वेदेंतीति वत्तव्वं सिया।

[१ प्र.] भगवन् ! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं, यावत् इस प्रकार प्ररूपणा करते है कि—'जो चल रहा है, वह अचलित है—चला नही कहलाता और यावत्—जो निर्जीर्ण हो रहा है, वह निर्जीर्ण नही कहलाता।'

'दो परमाणुपुद्गल एक साथ नही चिपकते।' दो परमाणुपुद्गल एक साथ क्यो नही चिपकते ? इसका कारण यह है कि दो परमाणुपुद्गलो मे चिकनापन (स्निग्धता) नही होती इसलिए 'दो परमाणुपुद्गल एक साथ नही चिपकते।'

'तीन परमाणुपुद्गल एक दूसरे से चिपक जाते है।' तीन परमाणुपुद्गल परस्पर क्यो चिपक जाते है ? इसका कारण यह है कि तीन परमाणुपुद्गलो मे स्निग्धता (चिकनाहट)होती है, इसलिए तीन परमाणु-पुद्गल आपस मे चिपक जाते है। यदि तीनो परमाणु-पुद्गलो का भेदन (भाग) किया जाए तो दो भाग भी हो सकते है, एव तीन भाग भी हो सकते हैं। अगर तीन परमाणु-पुद्गलो के दो भाग किये जाएँ तो एक तरफ डेढ परमाणु होता है और दूसरी तरफ भी डेढ़ परमाणु होता है। यदि तीन परमाणु-पुद्गलो के तीन भाग किये जाएँ तो एक-एक करके तीन परमाणु अलग-अलग हो जाते है। इसी प्रकार यावत् चार परमाणु-पुद्गलो के विषय मे समझना चाहिए।

'पाँच परमाणुपुद्गल परस्पर चिपक जाते है और वे दु खरूप (कर्मरूप) मे परिणत होते हैं। वह दु ख (कर्म) भी शाश्वत है, और सदा सम्यक् प्रकार से उपचय को प्राप्त होता है और अपचय को प्राप्त होता है।'

'बोलने से पहले की जो भाषा (भाषा के पुद्गल) है, वह भाषा है। बोलते समय की भाषा अभाषा है और बोलने का समय व्यतीत हो जाने के बाद की भाषा, भाषा है।'

[प्र.] 'यह जो बोलने से पहले की भाषा, भाषा है और बोलते समय की भाषा, अभाषा है तथा बोलने के समय के बाद की भाषा, भाषा है, सो क्या बोलते हुए पुरुष की भाषा है या न बोलते हुए पुरुष की भाषा है ?'

[उ.] 'न बोलते हुए पुरुष की वह भाषा है, बोलते हुए पुरुष की वह भाषा नहीं है।'

'करने से जो पूर्व की जो क्रिया है, वह दु.खरूप है, वर्तमान में जो क्रिया की जाती है, वह दु:खरूप नही है और करने के समय के बाद की कृतक्रिया भी दु खरूप है।'

[प्र.] वह जो पूर्व की क्रिया है, वह दुःख का कारण है, की जाती हुई क्रिया दु.ख का कारण नही है और करने के समय के बाद की क्रिया दु.ख का कारण है, तो क्या वह करने से दु ख का कारण है या न करने से दु ख का कारण है ?

[उ.] न करने से वह दु ख का कारण है, करने से दु ख का कारण नही है, ऐसा कहना चाहिए।

अकृत्य दु ख है, अस्पृश्य दु ख है, और अक्रियमाण कृत दु ख है। उसे न करके प्राण, भूत, जीव और सत्त्व वेदना भोगते है, ऐसा कहना चाहिए।

[प्र] श्री गौतमस्वामी पूछते हैं—'भगवन् ! क्या अन्यतीर्थिको का इस प्रकार का यह मत सत्य है ?'

[उ] गौतम ! यह अन्यतीर्थिक जो कहते हैं—यावत् वेदना भोगते हैं, ऐसा कहना चाहिए, उन्होने यह सब जो कहा है, वह मिथ्या कहा है। हे गौतम ! मैं ऐसा कहता हूँ कि जो चल रहा है, वह 'चला' कहलाता है और यावत् जो निर्जर रहा है, वह निर्जीर्ण कहलाता है।

दो परमाणु पुद्गल आपस मे चिपक जाते है। इसका क्या कारण है ? दो परमाणु पुद्गलो मे चिकनापन है, इसलिए दो परमाणु पुद्गल परस्पर चिपक जाते है। इन दो परमाणु पुद्गलो के दो भाग हो सकते हैं। दो परमाणु पुद्गलो के दो भाग किये जाएँ तो एक तरफ एक परमाणु और एक तरफ एक परमाणु होता है।

तीन परमाणुपुद्गल परस्पर चिपक जाते हैं। तीन परमाणुपुद्गल परस्पर क्यो चिपक जाते है। तीन परमाणुपुद्गल इस कारण चिपक जाते हैं, कि उन परमाणुपुद्गलो मे चिकनापन है। इस कारण तीन परमाणु पुद्गल परस्पर चिपक जाते हैं। उन तीन परमाणुपुद्गलो के दो भाग भी हो सकते हैं और तीन भाग भी हो सकते हैं। दो भाग करने पर एक तरफ परमाणु, और एक तरफ दो प्रदेश वाला एक द्वयणुक स्कन्ध होता है। तीन भाग करने पर एक-एक करके तीन परमाणु हो जाते हैं। इसी प्रकार यावत्—चार परमाणु पुद्गल मे भी समझना चाहिए। परन्तु तीन परमाणु के डेढ-डेढ (भाग) नहीं हो सकते।

पांच परमाणुपुद्गल परस्पर चिपक जाते है और परस्पर चिपककर एक स्कन्धरूप बन जाते है। वह स्कन्ध अशाश्वत है और सदा उपचय तथा अपचय पाता है। अर्थात्—वह बढता घटता भी है।

बोलने से पहले की भाषा अभाषा है, बोलते समय की भाषा भाषा है और बोलने के बाद की भाषा भी अभाषा है।

[प्र] वह जो पहले की भाषा अभाषा है, बोलते समय की भाषा भाषा है, और बोलने के बाद की भाषा अभाषा है, सो क्या बोलने वाले पुरुष की भाषा है, या नही बोलते हुए पुरुष की भाषा है ?

[उ] वह बोलने वाले पुरुष की भाषा है, नही बोलते हुए पुरुष की भाषा नही है।

(करने से) पहले की क्रिया दु ख का कारण नही है, उसे भाषा के समान ही समझना चाहिए।

यावत्—वह क्रिया करने से दु:ख का कारण है, न करने से दु:ख का कारण नही है, ऐसा कहना चाहिए।

कृत्य दु:ख है, स्पृश्य दु:ख है, क्रियमाण कृत दु:ख है। उसे कर-करके प्राण, भूत, जीव और वेदना भोगते हैं; ऐसा कहना चाहिए।

विवेचन—'चलमान चलित' आदि-सम्बन्धी अन्यतीर्थिकमत निराकरणपूर्वक स्वसिद्धान्त-निरूपण—प्रस्तुत सूत्र मे अन्यतीर्थिको की कतिपय विपरीत मान्यताओ का भगवान् महावीर द्वारा निराकरण करके स्वसिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है।

अन्यतीर्थिकों के मिथ्या मन्तव्यों का निराकरण—(१) चलमान कर्म प्रथम क्षण मे चलित नही होगा तो द्वितीय आदि समयो मे भी अचलित ही रहेगा, फिर तो किसी भी समय वह कर्म चलित होगा ही नही। अत चलमान चलित नही होता, यह कथन अयुक्त है। (२) दो परमाणु सूक्ष्म और स्निग्धतारहित होने से नही चिपकते, यह कथन भी अयुक्त है, क्योकि एक परमाणु मे भी स्निग्धता होती है, अन्यतीर्थिको ने जब डेढ-डेढ परमाणुओ के चिपक जाने की बात स्वीकार की है, तब उनके मत से आधे परमाणु मे भी चिकनाहट होनी चाहिए। ऐसी स्थिति मे दो परमाणु भी चिपकते है, यही मानना युक्ति-युक्त है। (३) 'डेढ-डेढ परमाणु चिपकते हैं' यह अन्यतीर्थिक-कथन भी युक्तियुक्त नही, क्योकि परमाणु के दो भाग हो ही नही सकते, दो भाग हो जाएँ तो वह परमाणु नही कहलाएगा। (४) 'चिपके हुए पांच पुद्गल कर्मरूप (दु खत्वरूप) होते हैं' यह कथन भी असगत है, क्योकि कर्म, अनन्तपरमाणुरूप होने से अनन्तस्कन्धरूप है और पांच परमाणु तो मात्र स्कन्धरूप ही हैं, तथा कर्म जीव को आवृत करने के स्वभाव वाले हैं, अगर ये पांच परमाणुरूप ही हों तो असंख्यात-प्रदेशवाले जीव को कैसे आवृत कर सकेंगे? तथा (५) कर्म (दु ख) को शाश्वत मानना भी ठीक नही क्योकि कर्म को यदि शाश्वत माना जाएगा तो कर्म का क्षयोपशम, क्षय आदि न होने से ज्ञानादि की हानि और वृद्धि नही हो सकेगी, परन्तु ज्ञानादि की हानि-वृद्धि लोक में प्रत्यक्षसिद्ध है। अत: कर्म (दु.ख) शाश्वत नही है। तथा आगे उन्होने जो कहा है कि (६) कर्म (दु.ख) चय को प्राप्त होता है, नष्ट होता है, यह कथन भी कर्म को शाश्वत मानने पर कैसे घटित होगा? (७) भाषा की कारण-भूत होने से बोलने से पूर्व की भाषा, भाषा है, कह कथन भी अयुक्त तथा औपचारिक है। बोलते समय की भाषा को अभाषा कहने का अर्थ हुआ—वर्तमानकाल व्यवहार का अग नही है, यह कथन भी मिथ्या है। क्योकि विद्यमानरूप वर्तमानकाल ही व्यवहार का अग है। भूतकाल नष्ट हो जाने के कारण अविद्यमानरूप है और भविष्य असद्रूप होने से अविद्यमानरूप है, अत. ये दोनो काल व्यवहार के अग नही हैं। (८) बोलने से पूर्व की भाषा को भाषा मानकर भी उसे न बोलते हुए पुरुष को भाषा मानना तो और भी युक्तिविरुद्ध है। क्योकि अभाषक की भाषा को ही भाषा माना जाएगा तो सिद्ध भगवान् को या जड को भाषा की प्राप्ति होगी, जो भाषक हैं, उन्हे नही। (९) की जाती हुई क्रिया को दु.खरूप न बताकर पूर्व की या क्रिया के बाद की क्रिया बताना भी अनुभवविरुद्ध है, क्योकि करने के समय ही क्रिया सुखरूप या दु:खरूप लगती है, करने से पहले या करने के बाद (नही करने से) क्रिया सुखरूप या दु.खरूप नही लगती।

इस प्रकार अन्यतीर्थिकों के मत का निराकरण करके भगवान् द्वारा प्ररूपित स्वसिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।[1]

१. भगवतीसूत्र अ० वृत्ति, पत्रांक १०२ से १०४ तक

ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी क्रियासम्बन्धी चर्चा

२. अन्नउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति जाव—एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेति, तं जहा—इरियावहियं च संपराइयं च। जं समयं इरियावहियं पकरेइ तं समयं संपराइयं पकरेइ०, परउत्थियवत्तव्वं[1] नेयव्वं।

ससमयवत्तव्वयाए नेयव्वं जाव[2] इरियावहियं वा संपराइयं वा।

[२ प्र.] भगवन् ! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं—यावत् प्ररूपणा करते हैं कि एक जीव एक समय में दो क्रियाएँ करता है। वह इस प्रकार—ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी। जिस समय (जीव) ऐर्यापथिकी क्रिया करता है, उस समय साम्परायिकी क्रिया करता है और जिस समय साम्परायिकी क्रिया करता है, उस समय ऐर्यापथिकी क्रिया करता है। ऐर्यापथिकी क्रिया करने से साम्परायिकी क्रिया करता है और साम्परायिकी क्रिया करने से ऐर्यापथिकी क्रिया करता है, इस प्रकार एक जीव, एक समय में दो क्रियाएँ करता है—एक ऐर्यापथिकी और दूसरी साम्परायिकी। हे भगवन् ! क्या यह इसी प्रकार है ?

[२ उ.] गौतम ! जो अन्यतीर्थिक ऐसा कहते हैं, यावत्—उन्होंने ऐसा जो कहा है, सो मिथ्या कहा है। हे गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूँ कि एक जीव एक समय में एक क्रिया करता है। यहाँ परतीर्थिकों का तथा स्वसिद्धान्त का वक्तव्य कहना चाहिए। यावत् ऐर्यापथिकी अथवा साम्परायिकी क्रिया करता है।

विवेचन—ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी क्रियासम्बन्धी चर्चा—प्रस्तुत (सू० २) सूत्र में ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी, दोनों क्रियाएँ एक समय में होती हैं, या नहीं, इसकी चर्चा अन्यतीर्थिकों का पूर्वपक्ष देकर प्रस्तुत की गई है।

ऐर्यापथिकी—जिस क्रिया में केवल योग का निमित्त हो, ऐसी कषायरहित-वीतरागपुरुष की क्रिया।

साम्परायिकी—जिस क्रिया में योग का निमित्त होते हुए भी कषाय की प्रधानता हो ऐसी सकषाय जीव की क्रिया। यही क्रिया संसार-परिभ्रमण का कारण है। पच्चीस क्रियाओं में से चौबीस क्रियाएँ साम्परायिकी हैं, सिर्फ एक ऐर्यापथिकी है।

---

१ परउत्थियवत्तव्व—अन्यतीर्थिकवक्तव्य का पाठ इस प्रकार है—

'जं समयं संपराइयं पकरेइ तं समयं इरियावहियं पकरेइ; इरियावहियापकरणताए संपराइयं पकरेइ, संपराइयपकरणयाए इरियावहियं पकरेइ, एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेति, तं जहा—इरियावहियं च संपराइयं च।'' —भगवती अ. वृत्ति

२ स्वसमयवक्तव्यता के सन्दर्भ में 'जाव' पदसूचक पाठ—

''से कहमेयं भंते ? एवं ?

गोयमा ? ''जं णं ते अन्नउत्थिया एवमाइक्खंति जाव संपराइयं च, जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु, अहं पुण गोयमा ? एवमाइक्खामि ४—एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं किरियं पकरेइ, तं जहा'' —भगवती अ. वृत्ति

एक जीव द्वारा एक समय में ये दो क्रियाएँ सम्भव नहीं—जीव जब कषाययुक्त होता है, तो कषायरहित नही होता और जब कषायरहित होता है, तो सकषाय नही हो सकता। दसवे गुणस्थान तक सकषायदशा है। आगे के गुणस्थानो मे अकषाय-अवस्था है। ऐर्यापथिकी अकषाय-अवस्था की क्रिया है, साम्परायिकी कषाय-अवस्था की। अतएव एक ही जीव एक ही समय मे इन दोनो क्रियाओं को नही कर सकता।[1]

नरकादि गतियों में जीवों का उत्पाद-विरहकाल

३. निरयगती णं भंते ! केवतियं कालं विरहिता उववातेणं पण्णत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं बारस मुहुत्ता। एव वक्कंतीपदं भाणितव्वं निरवसेसं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरति।

॥ दसमो उद्देसओ समत्तो ॥

॥ पढमं सतं समत्तं ॥

[३ प्र] भगवन् ! नरकगति, कितने समय तक उपपात से विरहित रहती है ?

[३ उ] गौतम ! जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त्त तक नरकगति उपपात से रहित रहती है। इसी प्रकार यहाँ (प्रज्ञापनासूत्र का सारा) 'व्युत्क्रान्तिपद' कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह ऐसा ही है, यह ऐसा ही है,' इस प्रकार कहकर यावत् गौतम स्वामी विचरते हैं।

विवेचन—नरकादि गतियो तथा चौवीसदण्डकों मे उत्पाद-विरहकाल—प्रस्तुत सूत्र मे प्रज्ञापनासूत्र के छठे व्युत्क्रान्तिपद का अतिदेश करके नरकादि गतियो में जीवो की उत्पत्ति (उपपात = उत्पाद) के विरहकाल की प्ररूपणा की गई है।

नरकादि मे उत्पादविरहकाल—प्रज्ञापनासूत्र के छठे व्युत्क्रान्तिपद के अनुसार विभिन्न गतियों मे जीवो के उत्पाद का विरहकाल सक्षेप मे इस प्रकार है—पहली नरक मे २४ मुहूर्त्त का, दूसरी में ७ अहोरात्र का, तीसरी मे १५ अहोरात्र का, चौथी मे १ मास का, पाचवी मे दो मास का, छठी में चार मास का, सातवी मे छह मास का विरहकाल होता है। इसी प्रकार तिर्यञ्चपचेन्द्रिय, मनुष्य एव देवगति मे जघन्य एक समय का, उत्कृष्ट १२ मुहूर्त्त का उत्पादविरहकाल है। पचस्थावरो मे कभी विरह नही होता, विकलेन्द्रिय मे और असज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यंच मे अन्तर्मुहूर्त्त का तथा सज्ञी-तिर्यञ्च एव संज्ञी मनुष्य मे १२ मुहूर्त्त का विरह होता है। सिद्ध अवस्था मे उत्कृष्ट ६ मास का विरह होता है। इसी प्रकार उद्वर्तना के विरहकाल के विषय में भी जानना चाहिए।[2]

॥ प्रथम शतक : दशम उद्देशक समाप्त ॥

प्रथम शतक सम्पूर्ण

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १०६

२ भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १०७-१०८

बिइयं सयं

द्वितीय शतक

परिचय

☐ भगवतीसूत्र का यह द्वितीय शतक है। इसके भी दश उद्देशक हैं। उनके नाम क्रमश: इस प्रकार हैं—(१) श्वासोच्छ्वास (और स्कन्दक अनगार), (२) समुद्घात, (३) पृथ्वी, (४) इन्द्रियाँ, (५) निर्ग्रन्थ (अथवा अन्यतीर्थिक), (६) भाषा, (७) देव, (८) (चमरेन्द्र-) सभा (या चमरचंचा राजधानी), (९) द्वीप (अथवा समयक्षेत्र), और (१०) अस्तिकाय।

☐ प्रथम उद्देशक में एकेन्द्रियों आदि के श्वासोच्छ्वास से सम्बन्धित निरूपण मृतादी अनगार के सम्बन्ध में भवभ्रमण-सिद्धिगमन सम्बन्धी प्ररूपण एवं स्कन्दक अनगार का विस्तृत वर्णन है।

☐ द्वितीय उद्देशक में सप्त समुद्घात के सम्बन्ध में निरूपण है।

☐ तृतीय उद्देशक में सात नरकपृथ्वियों के नाम, संस्थान आदि समस्त जीवों की उत्पत्ति-संभावना-सम्बन्धी वर्णन है।

☐ चतुर्थ उद्देशक में इन्द्रियों के नाम, विषय, विकार, संस्थान, बाहल्य, विस्तार, परिमाण, विषय-ग्रहण क्षमता आदि का वर्णन है।

☐ पंचम उद्देशक में देवलोक में उत्पन्न भूतपूर्व निर्ग्रन्थ किन्तु वर्तमान में देव की परिचारणा सम्बन्धी प्रश्नोत्तर, जीवों की गर्भस्थिति सम्बन्धी विचार, तुंगिका नगरी के श्रावकों द्वारा तप आदि के फलसम्बन्धी शंका-समाधान, श्रमण-माहन की पर्युपासना का फल, राजगृहस्थित उष्णजल कुण्ड आदि का निरूपण है।

☐ छठे उद्देशक में भाषा के भेद, कारण, उत्पत्ति, संस्थान, भाषापुद्गलों की गतिसीमा, भाषा रूप में गृहीत पुद्गल, उन पुद्गलों के वर्णादि, षड्दिशागत भाषा-ग्रहण, भाषा का अन्तर (व्यवधान), भाषा के माध्यम-काय—वचनयोग तथा अल्पबहुत्व आदि भाषा सम्बन्धी वर्णन है।

☐ सातवें उद्देशक में देवों के प्रकार, स्थान, उपपात, प्रतिष्ठान, बाहल्य, उच्चत्व, संस्थान इत्यादि देवसम्बन्धी वर्णन है।

☐ आठवें उद्देशक में चमरेन्द्र (असुरेन्द्र) की सभा, राजधानी, आदि का वर्णन है।

☐ नौवें उद्देशक में अढाई द्वीप, दो समुद्र के रूप में प्रसिद्ध समयक्षेत्र सम्बन्धी प्ररूपण है।

☐ दशवें उद्देशक में पंचास्तिकाय, उनके नाम, उनमें वर्णगन्धादि, उनकी शाश्वतता-अशाश्वतता, द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव : गुणरूप प्रकारों आदि का सांगोपांग निरूपण है।[1]

---

१. (क) भगवतीसूत्र मूलपाठ संग्रहणीगाथा १०९, भा १, पृ. ७३ (ख) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्रांक १०९

बिइयं सयं : द्वितीय शतक

द्वितीय शतक के दस उद्देशकों का नामनिरूपण

१. आणमति १ समुग्घाया २ पुढवी ३ इंदिय ४ णियंठ ५ भासा या ६ ।
देव ७ सभ ८ दीव ९ अत्थिय १० बीयम्मि सदे दसुद्देसा ॥ १ ॥

[१] **द्वितीय शतक के दस उद्देशकों का नाम-निरूपण—(गाथार्थ)**—द्वितीय शतक में दस उद्देशक हैं। उनमे क्रमश इस प्रकार विषय हैं—(१) श्वासोच्छ्वास (और स्कन्दक अनगार), (२) समुद्‌घात, (३) पृथ्वी, (४) इन्द्रियाँ, (५) निर्ग्रन्थ, (६) भाषा, (७) देव, (८) (चमरेन्द्र) सभा, (९) द्वीप (समयक्षेत्र का स्वरूप), (१०) अस्तिकाय (का विवेचन)।

पढमो उद्देसो : आणमति (ऊसास)

प्रथम उद्देशक : श्वासोच्छ्वास

एकेन्द्रियादि जीवों में श्वासोच्छ्वास सम्बन्धी प्ररूपणा

२. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नगरे होत्था। वण्णओ। सामी समोसढे। परिसा निग्गता। धम्मो कहितो। पडिगता परिसा।

तेणं कालेण तेणं समएणं जेट्ठे अंतेवासी जाव पज्जुवासमाणे एवं वदासी—

[२] उस काल उस समय मे राजगृह नामक नगर था। (उसका वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार जान लेना चाहिए)। (एकदा) भगवान् महावीर स्वामी (वहा) पधारे। उनका धर्मोपदेश सुनने के लिए परिषद् निकली। भगवान् ने धर्मोपदेश दिया। धर्मोपदेश सुनकर परिषद् वापिस लौट गई।

उस काल उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के ज्येष्ठ अन्तेवासी (शिष्य) श्री इन्द्र-भूति गौतम अनगार यावत्—भगवान् की पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—

३. जे इमे भंते ! बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचिन्दिया जीवा एएसि णं आणामं व पाणामं वा उस्सासं वा नीसासं वा जाणामो पासामो। जे इमे पुढविक्काइया जाव वणस्सतिकाइया एगिंदिया जीवा एएसि णं आणामं वा पाणामं वा उस्सासं वा निस्सासं वा णं याणामो ण पासामो, एए वि य णं भंते ! जीवा आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा ?

हंता, गोयमा ! एए वि य णं जीवा आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा।

[३ प्र.] भगवन् ! ये जो द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीव हैं, उनके आभ्यन्तर और बाह्य उच्छ्वास को और आभ्यन्तर एवं बाह्य नि.श्वास को हम जानते और देखते हैं, किन्तु जो ये पृथ्वीकाय से यावत् वनस्पतिकाय तक एकेन्द्रिय जीव हैं, उनके आभ्यन्तर एव बाह्य

उच्छ्वास को तथा आभ्यन्तर एव बाह्य नि श्वास को हम न जानते हैं, और न देखते है। तो हे भगवन् ! क्या ये पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय जीव आभ्यन्तर और बाह्य उच्छ्वास लेते है तथा आभ्यन्तर और बाह्य नि श्वास छोडते हैं ?

[३ उ] हाँ, गौतम ! ये पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय जीव भी आभ्यन्तर और बाह्य उच्छ्वास लेते हैं और आभ्यन्तर एव बाह्य नि श्वास छोडते है।

४ [१] किं णं भंते ! एते जीवा आणमंति वा पाणमंति वा उस्ससंति वा नीससंति वा ?

गोयमा ! दव्वतो ण अणंतपएसियाइं दव्वाइं, खेत्तओ णं असंखेज्जपएसोगाढाइं, कालओ अन्नयरद्वितीयाइं भावओ वण्णमंताइं गधमंताइं रसमंताइं फासमंताइं आणमंति वा पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा।

[४-१ प्र] भगवन् ! ये पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय जीव, किस प्रकार के द्रव्यो को बाह्य और आभ्यन्तर उच्छ्वास के रूप मे ग्रहण करते है, तथा नि श्वास के रूप मे छोडते हैं ?

[४-१ उ.] गौतम ! द्रव्य की अपेक्षा अनन्तप्रदेश वाले द्रव्यो को, क्षेत्र की अपेक्षा असख्य-प्रदेशो में रहे हुए द्रव्यो को, काल की अपेक्षा किसी भी प्रकार की स्थिति वाले (एक समय की, दो समय की स्थिति वाले इत्यादि) द्रव्यो को, तथा भाव की अपेक्षा वर्ण वाले, गन्ध वाले, रस वाले और स्पर्श वाले द्रव्यो को बाह्य और आभ्यन्तर उच्छ्वास के रूप मे ग्रहण करते है, तथा नि श्वास के रूप मे छोडते है।

[२] जाइं भावओ वण्णमंताइं आण० पाण० ऊस० नीस० ताइं किं एगवण्णाइं आणमंति वा पाणमंति ऊस० नीस० ?

आहारगमो नेयव्वो जाव ति-चउ-पचदिसिं।

[४-२ प्र] भगवन् ! वे पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय जीव भाव की अपेक्षा वर्ण वाले जिन द्रव्यो को बाह्य और आभ्यन्तर श्वासोच्छ्वास के रूप मे ग्रहण करते और छोडते है, क्या वे द्रव्य एक वर्ण वाले है ?

[४-२ उ] हे गौतम ! जैसा कि प्रज्ञापनासूत्र के अट्ठाईसवे आहारपद मे कथन किया है, वैसा ही यहाँ समझना चाहिए। यावत् वे तीन, चार, पाच दिशाओ की ओर से श्वासोच्छ्वास के पुद्गलो को ग्रहण करते है।

५. किं णं भंते ! नेरइया आ० पा० उ० नी० ?

तं चेव जाव नियमा आ० पा० उ० नी०। जीवा एगिंदिया वाघाय-निव्वाघाय भाणियव्वा।

सेसा नियमा छद्दिसिं।

[५ प्र] भगवन् ! नैरयिक किस प्रकार के पुद्गलो को बाह्य और आभ्यन्तर श्वासोच्छ्वास के रूप मे ग्रहण करते और छोडते है ?

[५ उ] गौतम ! इस विषय मे पूर्वकथनानुसार ही जानना चाहिए और यावत्—ये नियम से (निश्चितरूप से) छहो दिशा से पुद्गलो को बाह्य एव आभ्यन्तर श्वासोच्छ्वास के रूप मे ग्रहण करते और छोड़ते है।

जीवसामान्य और एकेन्द्रियो के सम्बन्ध मे इस प्रकार कहना चाहिए कि यदि व्याघात न हो तो वे सब दिशाओ से बाह्य और आभ्यन्तर श्वासोच्छ्वास के लिए पुद्गलो को ग्रहण करते हैं। यदि व्याघात हो तो कदाचित् तीन दिशा से, कदाचित् चार दिशा से, और कदाचित् पाच दिशा से श्वासोच्छ्वास के पुद्गलो को ग्रहण करते है। शेष सब जीव नियम से छह दिशा से श्वासोच्छ्वास के पुद्गलो को ग्रहण करते है।

विवेचन—एकेन्द्रियादि जीवों मे श्वासोच्छ्वास सम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रो (सू. २ से ५ तक) मे एकेन्द्रिय जीवो, नारको आदि के श्वासोच्छ्वास के सम्बन्ध मे शका-समाधान प्रस्तुत किया गया है।

आणमंति पाणमति उस्ससंति नीससंति—वृत्तिकार ने आण-प्राण और ऊस-नीस इन दोनो-दोनो को एकार्थक माना है। किन्तु आचार्य मलयगिरि ने प्रज्ञापनावृत्ति मे अन्य आचार्य का मत देकर इनमे अन्तर बताया है—**आनमति** और **प्राणमन्ति** ये दोनो अन्त स्फुरित होने वाली उच्छ्वास-नि.श्वासक्रिया के अर्थ मे, तथा **उच्छ्वसन्ति** और **निःश्वसन्ति** ये दोनो बाह्यस्फुरित उच्छ्वास-नि श्वासक्रिया के अर्थ मे ग्रहण करना चाहिए—(प्रज्ञापना-म०-वृत्ति, पत्राक २२०)।

एकेन्द्रिय जीवों के श्वासोच्छ्वाससम्बन्धी शका क्यो ?—यद्यपि आगमादि प्रमाणो से पृथ्वीकायादि एकेन्द्रियो मे चैतन्य सिद्ध है और जो जीव है, वह श्वासोच्छ्वास लेता ही है, यह प्रकृतिसिद्ध नियम है, तथापि यहाँ एकेन्द्रिय जीवो के श्वासोच्छ्वास सम्बन्धी शंका का कारण यह है कि मेढक आदि कतिपय जीवित जीवो का शरीर कई बार बहुत काल तक श्वासोच्छ्वास-रहित दिखाई देता है, इसलिए स्वभावत इस प्रकार की शका होती है कि पृथ्वीकाय आदि के जीव भी क्या इसी प्रकार के है या मनुष्यादि की तरह श्वासोच्छ्वास वाले है ? क्योकि पृथ्वीकायादि स्थावर जीवो का श्वासोच्छ्वास मनुष्य आदि की तरह दृष्टिगोचर नही होता। इसी का समाधान भगवान् ने किया है। वास्तव मे, बहुत लम्बे समय मे श्वासोच्छ्वास लेने वालो को भी किसी समय मे तो श्वासोच्छ्वास लेना ही पडता है।

श्वासोच्छ्वास-योग्य पुद्गल—प्रज्ञापनासूत्र मे बताया गया है कि वे पुद्गल दो वर्ण वाले, तीन वर्ण वाले, यावत् पाँच वर्ण वाले होते है। वे एक गुण काले यावत् अनन्तगुण काले होते है।

व्याघात-अव्याघात—एकेन्द्रिय जीव लोक के अन्त भाग मे भी होते हैं, वहाँ उन्हे अलोक द्वारा व्याघात होता है। इसलिए वे तीन, चार या पाँच दिशाओ से ही श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गल ग्रहण करते हैं, किन्तु व्याघातरहित जीव (नैरयिक आदि) त्रसनाडी के अन्दर ही होते हैं, अत. उन्हे व्याघात न होने से वे छहो दिशाओ से श्वासोच्छ्वास-पुद्गल ग्रहण कर सकते है।[1]

वायुकाय के श्वासोच्छ्वास, पुनरुत्पत्ति, मरण एवं शरीरादि सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

६ वाउयाए ण भंते ! वाउयाए चेव आणमति वा पाणमति वा ऊससंति वा नीससंति वा ?

हंता, गोयमा ! वाउयाए णं वाउयाए जाव नीससंति वा।

[६ प्र] हे भगवन् ! क्या वायुकाय, वायुकायो को ही बाह्य और आभ्यन्तर उच्छ्वास और निःश्वास के रूप मे ग्रहण करता और छोडता है ?

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्राक १०९

[६ उ.] हाँ, गौतम ! वायुकाय, वायुकायों को ही बाह्य और आभ्यन्तर उच्छ्वास और निःश्वास के रूप में ग्रहण करता और छोड़ता है।

७. [१] **वाउयाए णं भंते ! वाउयाए चेव अणेगसयसहस्सखुत्तो उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता तत्थेव भुज्जो भुज्जो पच्चायाति ?**

हंता, गोयमा ! जाव पच्चायाति।

[७-१ प्र.] भगवन् ! क्या वायुकाय, वायुकाय में ही अनेक लाख वार मर कर पुनः पुनः (वायुकाय में ही) उत्पन्न होता है ?

[७-१ उ.] हाँ, गौतम ! वायुकाय, वायुकाय में ही अनेक लाख वार मर कर पुनः पुनः वहीं उत्पन्न होता है।

[२] **से भंते किं पुट्ठे उद्दाति ? अपुट्ठे उद्दाति ?**

गोयमा ! पुट्ठे उद्दाइ, नो अपुट्ठे उद्दाइ।

[७-२ प्र.] भगवन् ! क्या वायुकाय स्वकायशस्त्र से या परकायशस्त्र से स्पृष्ट हो (छू) कर मरण पाता है, अथवा अस्पृष्ट (बिना टकराए हुए) ही मरण पाता है ?

[७-२ उ.] गौतम ! वायुकाय, (स्वकाय के अथवा परकाय के शस्त्र से) स्पृष्ट होकर मरण पाता है, किन्तु स्पृष्ट हुए बिना मरण नहीं पाता।

[३] **से भंते ! किं ससरीरी निक्खमइ, असरीरी निक्खमइ ?**

गोयमा ! सिय ससरीरी निक्खमइ, सिय असरीरी निक्खमइ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सिय ससरीरी निक्खमइ, सिय असरीरी निक्खमइ ?

गोयमा ! वाउकायस्स णं चत्तारि सरीरया पण्णत्ता, तं जहा—ओरालिए वेउव्विए तेयए कम्मए। ओरालिय-वेउव्वियाइं विप्पजहाय तेय-कम्मएहिं निक्खमति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—सिय ससरीरी सिय असरीरी निक्खमइ।

[७-३ प्र.] भगवन् ! वायुकाय मर कर (जब दूसरी पर्याय में जाता है, तब) सशरीरी (शरीरसहित) होकर जाता है, या शरीररहित (अशरीरी) होकर जाता है ?

[७-३ उ.] गौतम ! वह कथञ्चित् शरीरसहित होकर जाता (निकलता) है, कथञ्चित् शरीररहित होकर जाता है।

[प्र.] भगवन् ! ऐसा आप किस कारण से कहते हैं कि वायुकाय का जीव जब निकलता (दूसरी पर्याय में जाता) है, तब वह कथञ्चित् शरीरसहित निकलता (परलोक में जाता) है, कथञ्चित् शरीररहित होकर निकलता (जाता) है ?

[उ.] गौतम ! वायुकाय के चार शरीर कहे गए हैं, वे इस प्रकार—(१) औदारिक, (२) वैक्रिय, (३) तैजस और (४) कार्मण। इनमें से वह औदारिक और वैक्रिय शरीर को छोड़कर दूसरे भव में जाता है, इस अपेक्षा से वह शरीररहित जाता है और तैजस तथा कार्मण शरीर को साथ लेकर जाता है, इस अपेक्षा से वह शरीरसहित (सशरीरी) जाता है। इसलिए हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि वायुकाय मर कर दूसरे भव में कथञ्चित् (किसी अपेक्षा से) सशरीरी जाता है और कथञ्चित् अशरीरी जाता है।

विवेचन—वायुकाय के श्वासोच्छ्वास, पुनरुत्पत्ति, मरण, एवं शरीरादि सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत दो सूत्रों में वायुकाय के श्वासोच्छ्वास आदि से सम्बन्धित जिज्ञासाओं का समाधान अंकित है।

वायुकाय के श्वासोच्छ्वास-सम्बन्धी शंका-समाधान— सामान्यतया श्वासोच्छ्वास वायुरूप होता है, अत. वायुकाय के अतिरिक्त पृथ्वी, जल, तेज एव वनस्पति तो वायुरूप में श्वासोछ्वास ग्रहण करते हैं, किन्तु वायुकाय तो स्वय वायुरूप है तो उसे श्वासोच्छ्वास के रूप में क्या दूसरे वायु की आवश्यकता रहती है ?, यही इस शका के प्रस्तुत करने का कारण है।

दूसरी शंका—'यदि वायुकाय दूसरी वायु को श्वासोच्छ्वास के रूप मे ग्रहण करता है, तब तो दूसरी वायु को तीसरी वायु की, तीसरी को चौथी की आवश्यकता रहेगी। इस तरह अनवस्था-दोष आजाएगा।' इस शका का समाधान यह है कि वायुकाय जीव है, उसे दूसरी वायु के रूप में श्वासोच्छ्वास की आवश्यकता रहती है, लेकिन ग्रहण की जाने वाली वह दूसरी वायु सजीव नही, निर्जीव (जड) होती है, उसे किसी दूसरे सजीव वायुकाय की श्वासोच्छ्वास के रूप मे आवश्यकता नही रहती। इसलिए अनवस्थादोष नही आ सकता। इसके अतिरिक्त यह जो वायुरूप उच्छ्वास-नि श्वास है, वे वायुकाय के औदारिक और वैक्रियशरीररूप नही है, क्योंकि आन-प्राण तथा उच्छ्वास-नि श्वास के योग्य पुद्गल औदारिक शरीर और वैक्रिय शरीर के पुद्गलों की अपेक्षा अनन्तगुण-प्रदेशवाले होने से सूक्ष्म है, अतएव वे (उच्छ्वास-नि श्वास) चैतन्यवायुकाय के शरीररूप नही है। निष्कर्ष यह कि वह उच्छ्वास-नि.श्वासरूप वायु जड़ है, उसे उच्छ्वास-नि श्वास की जरूरत नही होती।

वायुकाय आदि की कायस्थिति—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय, इन चार की कायस्थिति असख्य अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी तक है तथा वनस्पतिकाय की[1] कायस्थिति अनन्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणीपर्यन्त है।

वायुकाय का मरण स्पृष्ट होकर ही—वायुकाय स्वकायशस्त्र से अथवा परकायशस्त्र से स्पृष्ट हो (टकरा) कर ही मरण पाता है, अस्पृष्ट होकर नही। यह सूत्र सोपक्रमी आयु वाले जीवो की अपेक्षा से है।[2]

मृतादीनिर्ग्रन्थों के भवभ्रमण एवं भवान्तकरण के कारण

८ [१] **मडाई णं भंते ! नियंठे नो निरुद्धभवे, नो निरुद्धभवपवंचे, नो पहीणसंसारे, णो पहीणससारवेदणिज्जे, णो वोच्छिण्णसंसारे, णो वोच्छिण्णसंसारवेदणिज्जे, नो निट्ठियट्ठे नो निट्ठिय-करणिज्जे पुणरवि इत्तत्थं हव्वमागच्छति ?**

हंता, गोयमा ! मडाई णं नियठे जाव पुणरवि इत्तत्थं हव्वमागच्छइ।

[८-१ प्र] भगवन् ! जिसने ससार का निरोध नही किया, ससार के प्रपचो का निरोध नही किया, जिसका ससार क्षीण नही हुआ, जिसका ससार-वेदनीय कर्म क्षीण नही हुआ, जिसका

---

१ **'असंखोसप्पिणी-ओस्सप्पिणी उ एंगिदियाण चउण्हं।**
ता चेव उ अणंता, वणस्सइए उ बोधव्वा ॥' —सग्रहणीगाथा

२ भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्राक ११०

संसार व्युच्छिन्न नही हुआ, जिसका संसार-वेदनीय कर्म व्युच्छिन्न नही हुआ, जो निष्ठितार्थ (सिद्धप्रयोजन—कृतार्थ) नही हुआ, जिसका कार्य (करणीय) समाप्त नहीं हुआ, ऐसा मृतादी (अचित्त, निर्दोष आहार करने वाला) अनगार पुन मनुष्यभव आदि भावो को प्राप्त होता है ?

[८-१ उ.] हाँ, गौतम ! पूर्वोक्त स्वरूप वाला मृतादीनिर्ग्रन्थ फिर मनुष्यभव आदि भावों को प्राप्त होता है ।

[२] से णं भंते ! किं ति वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! पाणे त्ति वत्तव्वं सिया, भूते त्ति वत्तव्वं सिया, जीवे त्ति वत्तव्वं सिया, सत्ते त्ति वत्तव्वं सिया, विण्णू ति वत्तव्वं सिया, वेदा ति वत्तव्व सिया—पाणे भूए जीवे सत्ते विण्णू वेदा ति वत्तव्वं सिया ।

से केणट्ठेणं भंते ! पाणे त्ति वत्तव्वं सिया जाव वेदा ति वत्तव्व सिया ?

गोयमा ! जम्हा आणमइ वा पाणमइ वा उस्ससइ वा नीससइ वा तम्हा पाणे त्ति वत्तव्वं सिया । जम्हा भूते भवति भविस्सति य तम्हा भूए ति वत्तव्वं सिया । जम्हा जीवे जीवइ जीवत्तं आउय च कम्मं उवजीवइ तम्हा जीवे ति वत्तव्वं सिया जम्हा सत्ते सुभासुभेहिं कम्मेहिं तम्हा सत्ते त्ति वत्तव्वं सिया । जम्हा तित्त-कडुय-कसायंबिल-महुरे रसे जाणइ तम्हा विण्णू ति वत्तव्व सिया । जम्हा वेदेइ य सुह-दुक्ख तम्हा वेदा ति वत्तव्व सिया । से तेणट्ठेण जाव पाणे त्ति वत्तव्व सिया जाव वेदा ति वत्तव्वं सिया ।

[८-२ प्र.] भगवन् ! पूर्वोक्त निर्ग्रन्थ के जीव को किस शब्द से कहना चाहिए ?

[८-२ उ.] गौतम ! उसे कदाचित् 'प्राण' कहना चाहिए, कदाचित् 'भूत' कहना चाहिए, कदाचित् 'जीव' कहना चाहिए, कदाचित् 'सत्व' कहना चाहिए, कदाचित् 'विज्ञ' कहना चाहिए, कदाचित् 'वेद' कहना चाहिए, और कदाचित् 'प्राण, भूत, जीव, सत्त्व, विज्ञ और वेद' कहना चाहिए ।

[प्र.] हे भगवन् ! उसे 'प्राण' कहना चाहिए, यावत्—'वेद' कहना चाहिए, इसका क्या कारण है ?

[उ.] गौतम ! पूर्वोक्त निर्ग्रन्थ का जीव, बाह्य और आभ्यन्तर उच्छ्वास तथा निःश्वास लेता और छोडता है, इसलिए उसे 'प्राण' कहना चाहिए । वह भूतकाल मे था, वर्तमान मे है और भविष्यकाल मे रहेगा (तथा वह होने के स्वभाववाला है) इसलिए उसे 'भूत' कहना चाहिए । तथा वह जीव होने से जीता है, जीवत्व एव आयुष्यकर्म का अनुभव करता है, इसलिए उसे 'जीव' कहना चाहिए । वह शुभ और अशुभ कर्मो से सम्बद्ध है, इसलिए उसे 'सत्त्व' कहना चाहिए । वह तिक्त, (तीखा) कटु, कषाय (कसैला), खट्टा और मीठा, इन रसो का वेत्ता (ज्ञाता) है, इसलिए उसे 'विज्ञ' कहना चाहिए, तथा वह सुख-दुःख का वेदन (अनुभव) करता है, इसलिए उसे 'वेद' कहना चाहिए । इस कारण हे गौतम ! पूर्वोक्त निर्ग्रन्थ के जीव को 'प्राण' यावत्—'वेद' कहा जा सकता है ।

९. [१] मडाई णं भंते ! नियंठे निरुद्धभवे निरुद्धभवपवंचे जाव निट्ठियट्ठकरणिज्जे णो पुणरवि इत्तत्थं हव्वमागच्छति ?

हंता, गोयमा ! मडाई णं नियठे जाव नो पुणरवि इत्तत्थं हव्वमागच्छति ।

[२] से णं भंते ! किं ति वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! सिद्धे त्ति वत्तव्वं सिया, बुद्धे त्ति वत्तव्वं सिया, मुत्ते त्ति वत्तव्वं० पारगए त्ति व०, परंपरगए त्ति व०, सिद्धे बुद्धे मुत्ते परिनिव्वुडे अंतकडे सव्वदुक्खप्पहीणे त्ति वत्तव्वं सिया।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, २ संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति।

[९-१ प्र] भगवन् ! जिसने ससार का निरोध किया है, जिसने ससार के प्रपच का निरोध किया है, यावत् जिसने अपना कार्य सिद्ध कर लिया है, ऐसा मृतादी (प्रासुकभोजी) अनगार क्या फिर मनुष्यभव आदि भवो को प्राप्त नही होता ?

[९-१ उ] हाँ गौतम ! पूर्वोक्त स्वरूप वाला निर्ग्रन्थ अनगार फिर मनुष्यभव आदि भवो को प्राप्त नही होता।

[९-२ प्र] हे भगवन् ! पूर्वोक्त स्वरूप वाले निर्ग्रन्थ के जीव को किस शब्द से कहना चाहिए ?

[९-२ उ] हे गौतम ! पूर्वोक्त स्वरूप वाले निर्ग्रन्थ को 'सिद्ध' कहा जा सकता है, 'बुद्ध' कहा जा सकता है, 'मुक्त' कहा जा सकता है, 'पारगत' (ससार के पार पहुँचा हुआ) कहा जा सकता है, 'परम्परागत' (अनुक्रम से ससार के पार पहुँचा हुआ) कहा जा सकता है। उसे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत, अन्तकृत् एव सर्वदु:खप्रहीण कहा जा सकता है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कहकर भगवान् गौतम स्वामी श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार करते है और फिर सयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करके विचरण करते है।

विवेचन - मृतादी निर्ग्रन्थ के भवभ्रमण एवं भवान्तकरण के कारण—प्रस्तुत दो सूत्रो (८ और ९) मे प्रासुकभोजी (मृतादी) अनगार के मनुष्यादि भवो मे भ्रमण का तथा भवभ्रमण के अन्त का, यो दो प्रकार के निर्ग्रन्थो का चित्र प्रस्तुत किया है। साथ ही भवभ्रमण करने वाले और भवभ्रमण का अन्त करने वाले दोनो प्रकार के मृतादी अनगारो के लिए पृथक्-पृथक् विविध विशेषणो का प्रयोग भी किया गया है।

मृतादी—'मडाई' शब्द की सस्कृत छाया 'मृतादी' होती है, जिसका अर्थ है—**मृत** = निर्जीव प्रासुक, **अदी** = भोजन करने वाला। अर्थात्—प्रासुक और एषणीय पदार्थ को खाने वाला निर्ग्रन्थ अनगार **'मडाई'** कहलाता है। अमरकोश के अनुसार 'मृत' शब्द **'याचित'**[1] अर्थ मे है। अतः मृतादी का अर्थ हुआ याचितभोजी।

'णिरुद्धभवे' आदि पदों के अर्थ—**णिरुद्धभवे** = जिसने आगामी जन्म को रोक दिया है, जो चरमशरीरी है। **णिरुद्धभवपवंचे** = जिसने ससार के विस्तार को रोक दिया है। **पहीणसंसारे** =

१ 'द्वे याचितायाचितयो यथासख्य मृतामृते'—अमरकोश, द्वितीयकाण्ड, वैश्यवर्ग, श्लो-३

जिसका चतुर्गतिभ्रमणरूप ससार क्षीण को चुका है। **पहीणसंसारवेयणिज्जे**—जिसका ससारवेदनीय कर्म क्षीण हो चुका है। **वोच्छिण्णसंसारे**=जिसका चतुर्गतिकससार व्यवच्छिन्न हो चुका है। **इत्यत्थं**=इस अर्थ को अर्थात्—अनेक बार तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और नारकगतिगमनरूप बात को। **'इत्थत्तं'** पाठान्तर भी है, जिसका अर्थ है—मनुष्यादित्व आदि।

'इत्थत्तं' का तात्पर्य—आचार्यों ने बताया है कि जिसके कषाय उपशान्त हो चुके हैं, ऐसा जीव भी अनन्त प्रतिपात को प्राप्त होता है। इसलिए कषाय की मात्रा थोडी-सी भी शेष रहे, वहाँ तक मोक्षाभिलाषी प्राणी को विश्वस्त नही हो जाना चाहिए।[1]

पिंगल निर्ग्रन्थ के पांच प्रश्नों से निरुत्तर स्कन्दक परिव्राजक

१०. तए ण समणे भगव महावीरे रायगिहाओ नगराओ गुणसिलाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ।

[१०] उस काल और उस समय मे (एकदा) श्रमण भगवान् महावीरस्वामी राजगृह नगर के गुणशील चैत्य (उद्यान) से निकले और बाहर जनपदो मे विहार करने लगे।

११. तेणं कालेणं तेणं समएणं कयंगला नामं नगरी होत्था। वण्णओ। तीसे ण कयंगलाए नगरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभागे छत्तपलासए नामं चेइए होत्था। वण्णओ। तए ण समणे भगव महावीरे उप्पण्णनाण-दंसणधरे जाव[2] समोसरणं। परिसा निगच्छति।

[११] उस काल उस समय मे कृतगला नाम की नगरी थी। उसका वर्णन औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए। उस कृतंगला नगरी के बाहर उत्तर-पूर्वदिशा भाग (ईशान कोण) मे छत्रपलाशक नाम का चैत्य था। उसका वर्णन भी (औपपातिक सूत्र के अनुसार) जान लेना चाहिए। वहा किसी समय उत्पन्न हुए केवलज्ञान-केवलदर्शन के धारक श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे। यावत्–भगवान् का समवसरण (धर्मसभा) हुआ (लगा)। परिषद् (जनता) धर्मोपदेश सुनने के लिए निकली।

१२ तीसे णं कयंगलाए नगरीए अदूरसामंते सावत्थी नाम नयरी होत्था। वण्णओ। तत्थ ण सावत्थीए नयरीए गद्दभालस्स अंतेवासी खंदए नामं कच्चायणसगोत्ते परिव्वायगे परिवसइ, रिउव्वेद-जजुव्वेद-सामवेद-अथव्वणवेद इतिहासपंचमाण निघंटुछट्ठाणं चउण्हं वेदाण संगोवगाणं सरहस्साण सारए वारए पारए सडंगवी सट्ठितंतविसारए संखाणे सिक्खा-कप्पे वागरणे छंदे निरुत्ते जोतिसामयणे अन्नेसु य बहूसु बंभण्णएसु पारिव्वायएसु य नयेसु सुपरिनिट्ठिए यावि होत्था।

[१२] उस कृतगला नगरी के निकट श्रावस्ती नगरी थी। उसका वर्णन (औपपातिक सूत्र) से जान लेना चाहिए। उस श्रावस्ती नगरी मे गर्दभाल नामक परिव्राजक का शिष्य कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक नाम का परिव्राजक (तापस) रहता था। वह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, इन चार

---

१ भगवतीसूत्र अभय वृत्ति पत्राक १११

२ 'जाव' शब्द **'अरहा जिणे केवली सव्वण्णू सव्वदरिसी आगासगएणं छत्तेणं'** इत्यादि समवसरणपर्यन्त पाठ का सूचक है।

वेदो, पाचवे इतिहास (पुराण), छठे निघण्टु नामक कोश का तथा सांगोपांग(अगो-उपांगो सहित) रहस्य-सहित वेदो का सारक (स्मारक=स्मरण कराने वाला—भूले हुए पाठ को याद कराने वाला, पाठक), वारक (अशुद्ध पाठ बोलने से राकने वाला), धारक (पढे हुए वेदादि को नही भूलने वाला—धारण करने वाला), पारक(वेदादि शास्त्रो का पारगामी), वेद के छह अगो (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दशास्त्र और ज्योतिषशास्त्र) का वेत्ता था। वह षष्ठितत्र (साख्यशास्त्र) मे विशारद था, वह गणितशास्त्र, शिक्षाकल्प (आचार) शास्त्र, व्याकरणशास्त्र, छन्दशास्त्र, निरुक्त (व्युत्पत्ति) शास्त्र और ज्योतिषशास्त्र, इन सब शास्त्रो मे, तथा दूसरे बहुत-से ब्राह्मण और परिव्राजक-सम्बन्धी नीति और दर्शनशास्त्रो मे भी अत्यन्त निष्णात था।

१३. तत्थ णं सावत्थीए नयरीए पिंगलए नामं नियंठे वेसालियसावए परिवसइ। तए णं से पिंगलए णाम णियंठे वेसालियसावए अण्णदा कयाइं जेणेव खंदए कच्चायणसगोत्ते तेणेव उवागच्छइ, २ खंदगं कच्चायणसगोत्तं इणमक्खेवं पुच्छे— मागहा ! किं सअंते लोके, अणंते लोके १, सअंते जीवे अणंते जीवे २, सअंता सिद्धी अणंता सिद्धी ३, सअंते सिद्धे अणंते सिद्धे ४, केण वा मरणेणं मरमाणे जीवे वड्ढति वा हायति वा ५ ? एतावं ताव आयक्खाहि। वुच्चमाणे एवं।

[१३] उसी श्रावस्ती नगरी मे वैशालिक श्रावक—(भगवान् महावीर के वचनो को सुनने मे रसिक) पिगल नामक निर्ग्रन्थ (साधु) था। एकदा वह वैशालिक श्रावक पिगल नामक निर्ग्रन्थ किसी दिन जहाँ कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक रहता था, वहाँ उसके पास आया और उसने आक्षेप-पूर्वक कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक ने पूछा—'मागध ! (मगधदेश मे जन्मे हुए), १—लोक सान्त (अन्त वाला) है या अनन्त (अन्तरहित) है ?, २-जीव सान्त है या अनन्त है ?, ३—सिद्धि सान्त है या अनन्त है ?, ४—सिद्ध सान्त है या अनन्त है ?, ५—किस मरण से मरता हुआ जीव बढता (ससार बढाता) है और किस मरण से मरता हुआ जीव घटता (ससार घटाता) है ? इतने प्रश्नो का उत्तर दो (कहो)।

१४ तए ण से खंदए कच्चायणसगोत्ते पिंगलएणं णियंठेणं वेसालीसावएणं इणमक्खेवं पुच्छिए समाणे संकिए कंखिए वितिगिंछिए भेदसमावन्ने कलुसमावन्ने णो संचाएइ पिंगलयस्स नियंठस्स वेसालियसावयस्स किंचि वि पमोक्खमक्खाइउं, तुसिणीए संचिट्ठइ।

[१४] इस प्रकार उस कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक तापस से वैशालिक श्रावक पिगल निर्ग्रन्थ ने पूर्वोक्त प्रश्न आक्षेपपूर्वक पूछे, तब स्कन्दक तापस ('इन प्रश्नो के ये ही उत्तर होगे या दूसरे?' इस प्रकार) शकाग्रस्त हुआ, (इन प्रश्नों के उत्तर कैसे दूँ ? मुझे इन प्रश्नो का उत्तर कैसे आएगा ? इस प्रकार की) काक्षा उत्पन्न हुई; उसके मन मे विचिकित्सा उत्पन्न हुई (कि अब मै जो उत्तर दूँ, उससे प्रश्नकर्ता को सन्तोष होगा या नही ?), उसकी बुद्धि मे भेद उत्पन्न हुआ (कि मैं क्या करूँ ?) उसके मन मे कालुष्य (क्षोभ) उत्पन्न हुआ (कि अब मै तो इस विषय मे कुछ भी नही जानता), इस कारण वह तापस, वैशालिक श्रावक पिंगलनिर्ग्रन्थ के प्रश्नों का कुछ भी उत्तर न दे सका। अत चुपचाप रह गया।

१५. तए णं से पिंगलए नियंठे वेसालीसावए खंदयं कच्चायणसगोत्तं दोच्चं पि तच्चं पि इणमक्खेव पुच्छे—मागहा ! किं सअते लोए जाव केण वा मरणेण मरमाणे जीवे वड्ढइ वा हायति वा ? एतावं ताव आइक्खाहि वुच्चमाणे एवं ।

[१५] इसके पश्चात् उस वैशालिक श्रावक पिगल निर्ग्रन्थ ने कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक से दो बार, तीन बार भी उन्ही प्रश्नो का साक्षेप पूछा कि मागध ! लोक सान्त है या अनन्त ? यावत्—किस मरण से मरने से जीव बढता या घटता है ?, इतने प्रश्नो का उत्तर दो।

१६. तए ण से खदए कच्चायणसगोत्ते पिंगलएण नियंठेण वेसालीसावएण दोच्चं पि तच्चं पि इणमक्खेव पुच्छिए समाणे संकिए कंखिए वितिगिंच्छिए भेदसमावण्णे कलुसमावन्ने नो संचाएइ पिंगलयस्स नियंठस्स वेसालिसावयस्स किंचि वि पमोक्खमक्खाइउं, तुसिणीए संचिट्ठइ ।

[१६] जब वैशालिक श्रावक पिगल निर्ग्रन्थ ने कात्यायन-गोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक से दो-तीन बार पुन उन्ही प्रश्नो को पूछा तो वह पुन पूर्ववत् शकित, काक्षित, विचिकित्साग्रस्त, भेद-समापन्न तथा कालुष्य (शोक) को प्राप्त हुआ, किन्तु वैशालिक श्रावक पिगल निर्ग्रन्थ के प्रश्नो का कुछ भी उत्तर न दे सका। अत चुप होकर रह गया।

विवेचन—पिंगलक निर्ग्रन्थ के पांच प्रश्नो से निरुत्तर स्कन्दक परिव्राजक—प्रस्तुत सात सूत्रो मे मुख्य प्रतिपाद्य विषय श्रावस्ती के पिंगलक निर्ग्रन्थ द्वार स्कन्दक परिव्राजक के समक्ष पाच महत्त्वपूर्ण प्रश्न प्रस्तुत करना और स्कन्दक परिव्राजक का शकित, काक्षित आदि होकर निरुत्तर हो जाना है। इसी से पूर्वापर सम्बन्ध जोडने के लिए शास्त्रकार ने निम्नोक्त प्रकार से क्रमश प्रतिपादन किया है—

१ श्रमण भगवान् महावीर का राजगृह से बाहर अन्य जनपदो मे विहार।

२ श्रमण भगवान् महावीर का कृतगला नगरी मे पदार्पण और धर्मोपदेश।

३ कृतगला की निकटवर्ती, श्रावस्ती नगरी के कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक का परिचय।

४. श्रावस्ती नगरी मे स्थित वैशालिकश्रवणरसिक पिगलक निर्ग्रन्थ का परिचय।

५ पिगलक निर्ग्रन्थ द्वारा स्कन्दक परिव्राजक के समक्ष उत्तर के लिए प्रस्तुत निम्नोक्त पाँच प्रश्न—(१-२-३-४) लोक, जीव, सिद्धि और सिद्ध सान्त है या अन्तरहित और (५) किस मरण से मरने पर जीव का ससार बढता है, किससे घटता है ?

६ पिगलक निर्ग्रन्थ के ये प्रश्न सुनकर स्कन्दक का शकित, काक्षित, विचिकित्साग्रस्त, भेद-समापन्न और कालुष्ययुक्त तथा उत्तर देने मे असमर्थ होकर मौन हो जाना।

७. पिगलक द्वारा पूर्वोक्त प्रश्नो को दो-तीन बार दोहराये जाने पर भी स्कन्दक परिव्राजक के द्वारा पूर्ववत् निरुत्तर होकर मौन धारण करना।[1]

---

१ भगवतीसूत्र मूलपाठ-टिप्पणयुक्त (प बेचरदास जी सपादित) भा १, पृ ७६ से ७८ तक

नो संचाएइ पमोक्खमक्खाइउं—प्रमोक्ष=उत्तर (जिससे प्रश्नरूपी बन्धन से मुक्त हो सके वह—उत्तर) कह (दे) न सका।[1]

वेसालियसावए=विशाला=महावीरजननी, उसका पुत्र वैशालिक भगवान्, उनके वचन-श्रवण का रसिक=श्रावक धर्म-श्रवणेच्छुक।[2]

स्कन्दक का भगवान् की सेवा में जाने का संकल्प और प्रस्थान

१७ तए णं सावत्थीए नयरीए सिंघाडग जाव महापहेसु महया जणसम्मद्दे इ वा जणवूहे इ वा परिसा[3] निग्गच्छइ।

तए णं तस्स खंदयस्स कच्चायणसगोत्तस्स बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—'एवं खलु समणे भगवं महावीरे, कयंगलाए नयरीए बहिया छत्तपलासए चेइए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तं गच्छामि णं, समणं भगवं महावीरं वंदामि नमंसामि सेयं खलु मे समणं भगवं महावीरं वंदित्ता णमंसित्ता सक्कारेत्ता सम्माणित्ता कल्लाणं मंगलं देवतं चेतियं पज्जुवासित्ता इमाइं च णं एयारूवाइं अट्ठाइं हेऊइं पसिणाइं कारणाइं वागरणाइं पुच्छित्तए' त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, २ जेणेव परिव्वायावसहे तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता तिदंडं च कुंडियं च कंचणियं च करोडियं च भिसियं च केसरियं च छन्नालयं च अंकुसयं च पवित्तयं च गणेत्तियं च छत्तयं च वाहणाओ य पाउयाओ य धाउरत्ताओ य गेण्हइ, गेण्हइत्ता परिव्वायावसहाओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमित्ता तिदंड-कुंडिय-कंचणिय-करोडिय-भिसिय-केसरिय-छन्नालय-अंकुसय-पवित्तय-गणेत्तियहत्थगए छत्तोवाहणसंजुत्ते धाउरत्तवत्थपरिहिए सावत्थीए नगरीए मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव कयंगला नगरी जेणेव छत्तपलासए चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

[१७] उस समय श्रावस्ती नगरी में जहाँ तीन मार्ग, चार मार्ग और बहुत-से मार्ग मिलते हैं, वहाँ तथा महापथों में जनता की भारी भीड़ व्यूहाकार रूप में चल रही थी, लोग इस प्रकार बातें कर रहे थे कि 'श्रमण भगवान् महावीरस्वामी कृतंगला नगरी के बाहर छत्रपलाशक नामक उद्यान में पधारे हैं।' जनता (परिषद्) भगवान् महावीर को वन्दना करने के लिए निकली।

उस समय बहुत-से लोगों के मुँह से यह (भगवान् महावीर के पदार्पण की) बात सुनकर और उसे अवधारण करके उस कात्यायन गोत्रीय स्कन्दक तापस के मन में इस प्रकार का अध्यवसाय,

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ११४

२. वही, अ. वृत्ति, पत्रांक ११४-११५

३ भगवती सूत्र, अ. वृत्ति, पत्रांक ११४-११५ में यहाँ अन्य पाठ भी उद्धृत है—

"जणवोले इ वा, जणकलकले इ वा, जणुम्मी इ वा, जणुक्कलिया इ वा, जणसन्निवाए इ वा, बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ ४—एवं खलु देवाणुप्पिया समणे ३ आइगरे जाव संपाविउकामे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे, गामाणुगामं दुइज्जमाणे कयंगलाए नगरीए छत्तपलासए चेइए अहापडिरूवं उग्गहं ... जाव विहरइ।"

चिन्तन, अभिलाषा एव सकल्प उत्पन्न हुआ कि श्रमण भगवान् महावीर कृतगला नगरी के बाहर छत्रपलाशक नामक उद्यान मे तप-सयम से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करते (विराजमान) हैं। अतः मैं उनके पास जाऊँ, उन्हे वन्दना—नमस्कार करूँ। मेरे लिये यह श्रेयस्कर है कि मैं श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना—नमस्कार करके, उनका सत्कार-सम्मान करके, उन कल्याणरूप, मगलरूप, देवरूप और चैत्यरूप भगवान् महावीर स्वामी की पर्युपासना करूँ, तथा उनसे इन और इस प्रकार के अर्थों, हेतुओ, प्रश्नो, कारणों और व्याकरणो (व्याख्याओ) आदि को पूछूँ।, यो पूर्वोक्त प्रकार से विचार कर वह स्कन्दक तापस, जहाँ परिव्राजको का मठ था, वहाँ आया। वहाँ आकर त्रिदण्ड, कुण्डी, रुद्राक्ष की माला (काचनिका), करोटिका (एक प्रकार की मिट्टी का बर्तन), आसन केसरिका (बर्तनो को साफ करने का कपड़ा), त्रिगडी (छन्नालय), अकुशक (वृक्ष के पत्तो को एकत्रित करने के अकुश जैसा साधन), पवित्री (अगूठी), गणेत्रिका (कलाई मे पहनने का एक प्रकार का आभूषण), छत्र (छाता), पगरखी, पादुका (खडाऊ), धातु (गेरिक) से रगे हुए वस्त्र (गेरुए कपडे), इन सब तापस के उपकरणो को लेकर परिव्राजको के आवसथ (मठ) से निकला। वहाँ से निकल कर त्रिदण्ड, कुण्डी, काचनिका (रुद्राक्षमाला), करोटिका (मिट्टी का बना हुआ भिक्षापात्र), भृशिका (आसनविशेष), केसरिका, त्रिगडी, अकुशक, अगूठी, और गणेत्रिका, इन्हे हाथ मे लेकर, छत्र और पगरखी से युक्त होकर, तथा गेरुए (धातुरक्त) वस्त्र पहनकर श्रावस्ती नगरी के मध्य मे से (बीचोबीच) निकलकर जहाँ कृतगला नगरी थी, जहाँ छत्रपलाशक चैत्य था, और जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, उसी ओर जाने के लिए प्रस्थान किया।

विवेचन—स्कन्दक का शंका-समाधानार्थ भगवान् की सेवा मे जाने का संकल्प और प्रस्थान— प्रस्तुत सूत्र मे शकाग्रस्त स्कन्दक परिव्राजक द्वारा भगवान् महावीर का कृतगला मे पदार्पण सुन कर अपनी पूर्वोक्त शकाओ के समाधानार्थ उनकी सेवा मे जाने के सकल्प और अपने तापस-उपकरणो—सहित उस ओर प्रस्थान का विवरण दिया गया है।

श्री गौतमस्वामी द्वारा स्कन्दक का स्वागत और परस्पर वार्तालाप

१८. [१] **'गोयमा!' इ समणे भगव महावीरे भगव गोयमं एव वयासी—दच्छिहिसि ण गोयमा! पुव्वसंगतियं।**

[२] **कं भंते! ?**

खंदयं नाम।

[३] **से काहे वा ? किह वा ? केवच्चिरेण वा ?**

एवं खलु गोयमा! तेणं कालेणं २ सावत्थी नामं नगरी होत्था। वण्णओ। तत्थ णं सावत्थीए नगरीए गद्दभालस्स अंतेवासी खंदए णामं कच्चायणसगोत्ते परिव्वायए परिवसइ, तं चेव जाव जेणेव ममं अंतिए तेणेव पहारेत्थ गमणाए। से य अदूराइते बहुसपत्ते अद्धाणपडिवन्ने अंतरापहे वट्टइ। अज्जेव णं दच्छिहिसि गोयमा।

[४] **'भंते!' त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं वंदइ नमंसइ, २ एवं वयासी—पहू णं भंते! खंदए कच्चायणसगोत्ते देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता णं अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ?**

हंता, पभू।

[१८-१] (भगवान् महावीर जहाँ विराजमान थे, वहाँ क्या हुआ ? यह शास्त्रकार बताते हैं—) 'हे गौतम !', इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने अपने ज्येष्ठ शिष्य श्री इन्द्रभूति अनगार को सम्बोधित करके कहा—"गौतम ! (आज) तू अपने पूर्व के साथी को देखेगा।"

[१८-२] (गौतम—) 'भगवन् ! मै (आज) किसको देखूंगा ?'

[भगवान्—] गौतम ! तू स्कन्दक (नामक तापस) को देखेगा।

[१८-३ प्र.] (गौतम—) 'भगवन् ! मै उसे कब, किस तरह से और कितने समय बाद देखूंगा ?'

[१८-३ उ] 'गौतम ! उस काल उस समय मे श्रावस्ती नाम की नगरी थी। जिसका वर्णन जान लेना चाहिए। उस श्रावस्ती नगरी मे गर्दभाल नामक परिव्राजक का शिष्य कात्यायन गोत्रीय स्कन्दक नामक परिव्राजक रहता था। इससे सम्बन्धित पूरा वृत्तान्त पहले के अनुसार जान लेना चाहिए। यावत्—उस स्कन्दक परिव्राजक ने जहाँ मै हूँ, वहाँ—मेरे पास आने के लिए संकल्प कर लिया है। वह अपने स्थान से प्रस्थान करके मेरे पास आ रहा है। वह बहुत-सा मार्ग पार करके (जिस स्थान मे हम हैं उससे) अत्यन्त निकट पहुँच गया है। अभी वह मार्ग मे चल रहा है। वह बीच के मार्ग पर है। हे गौतम ! तू आज ही उसे देखेगा।'

[१८-४ प्र] फिर 'हे भगवन् !' यो कहकर भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार पूछा—'भगवन् ! क्या वह कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक आप देवानुप्रिय के पास मुण्डित होकर आगार (घर) छोडकर अनगार धर्म मे प्रव्रजित होने मे समर्थ है ?'

[१८-४ उ] 'हाँ, गौतम ! वह मेरे पास अनगार धर्म मे प्रव्रजित होने मे समर्थ है।'

१९. जाव च ण समणे भगवं महावीरे भगवओ गोयमस्स एयमट्ठं परिकहेइ तावं च से खंदए कच्चायणसगोत्ते तं देस हव्वमागते।

[१९] जब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी भगवान् गौतम स्वामी से यह (पूर्वोक्त) बात कह ही रहे थे, कि इतने मे वह कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक उस स्थान (प्रदेश) मे (भगवान् महावीर के पास) शीघ्र आ पहुँचे।

२०. [१] **तए णं भगवं गोयमे खंदयं कच्चायणसगोत्तं अदूरआगयं जाणित्ता खिप्पामेव अब्भुट्ठेति, खिप्पामेव पच्चुवगच्छइ, २ जेणेव खंदए कच्चायणसगोत्ते तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता खंदयं कच्चायणसगोत्त एवं वयासी—'हे खंदया !, सागयं खंदया !, सुसागयं खंदया !, अणुरागयं खंदया !, सागयमणुरागयं खंदया !, से नूणं तुमं खंदया ! सावत्थीए नयरीए पिंगलएणं नियंठेणं वेसालियसावएणं इणमक्खेवं पुच्छिए 'मागहा ! किं सअंते लोगे अणंते लोगे ? एवं तं चेव' जेणेव इहं तेणेव हव्वमागए। से नूण खंदया ! अत्थे समत्थे ?**

हंता अत्थि।

[२] तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—से केस णं गोयमा ! तहारूवे नाणी वा तवस्सी वा जेणं तव एस अट्ठे मम ताव रहस्सकडे हव्वमक्खाए, जओ णं तुमं जाणसि ? ।

तए णं से भगवं गोयमे खंदयं कच्चायणसगोत्तं एवं वयासी—एवं खलु खंदया ! मम धम्मायरिए धम्मोवएसए समणे भगवं महावीरे उप्पन्नणाण-दसणधरे अरहा जिणे केवली तीय-पच्चुप्पन्नमणागयवियाणए सव्वण्णू सव्वदरिसी जेणं ममं एस अट्ठे तव ताव रहस्सकडे हव्वमक्खाए, जओ णं अहं जाणामि खंदया ! ।

[३] तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—गच्छामो णं गोयमा ! तव धम्मायरियं धम्मोवदेसयं समणं भगवं महावीरं वंदामो णमसामो जाव पज्जुवासामो ।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबधं करेह ।

[४] तए णं से भगवं गोयमे खंदएणं कच्चायणसगोत्तेणं सद्धिं जेणेव समणे भगवं महावीरे तणेव पहारेत्थ गमणयाए ।

[२०-१] इसके पश्चात् भगवान् गौतम कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक को पास आया हुआ जानकर शीघ्र ही अपने आसन से उठे और शीघ्र ही उसके सामने गए, और जहाँ कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक था, वहाँ आए। स्कन्दक के पास आकर उससे इस प्रकार कहा—हे स्कन्दक ! स्वागत है तुम्हारा, स्कन्दक ! तुम्हारा सुस्वागत है ! स्कन्दक ! तुम्हारा आगमन अनुरूप (ठीक समय पर—उचित—योग्य हुआ है। हे स्कन्दक ! पधारो ! आप भले पधारे ! (इस प्रकार श्री गौतमस्वामी ने स्कन्दक का सम्मान किया) फिर श्री गौतम स्वामी ने स्कन्दक से कहा—"स्कन्दक ! श्रावस्ती नगरी मे वैशालिक श्रावक पिंगल निर्ग्रन्थ ने तुम से इस प्रकार आक्षेपपूर्वक पूछा था कि हे मागध ! लोक सान्त है या अनन्त ? इत्यादि (सब पहले की तरह कहना चाहिए)। (पाच प्रश्न पूछे थे, जिनका उत्तर तुम न दे सके। तुम्हारे मन मे शका, काक्षा आदि उत्पन्न हुए। यावत्—) उनके प्रश्नो से निरुत्तर होकर उनके उत्तर पूछने के लिए यहाँ भगवान् के पास आए हो। हे स्कन्दक ! कहो, यह बात सत्य है या नही ?"

स्कन्दक ने कहा—"हाँ, गौतम ! यह बात सत्य है।

[२०-२ प्र] फिर कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक ने भगवान् गौतम से इस प्रकार पूछा—"गौतम ! (मुझे यह बतलाओ कि) कौन ऐसा ज्ञानी और तपस्वी पुरुष है, जिसने मेरे मन की गुप्त बात तुमसे शीघ्र कह दी, जिससे तुम मेरे मन की गुप्त बात को जान गए ?"

[उ] तब भगवान् गौतम ने कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक से इस प्रकार कहा—'हे स्कन्दक ! मेरे धर्मगुरु, धर्मोपदेशक, श्रमण भगवान् महावीर, उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धारक हैं, अर्हन्त हैं, जिन है, केवली है, भूत, भविष्य और वर्तमान काल के ज्ञाता है, सर्वज्ञ—सर्वदर्शी हैं, उन्होने तुम्हारे मन मे रही हुई गुप्त बात मुझे शीघ्र कह दी, जिससे हे स्कन्दक ! मै तुम्हारी उस गुप्त बात को जानता हूँ।'

[२०-३] तत्पश्चात् कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक ने भगवान् गौतम से इस प्रकार कहा—"हे गौतम ! (चलो) हम तुम्हारे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास चले, उन्हें वन्दना-नमस्कार करें, यावत्—उनकी पर्युपासना करे।"

(गौतम स्वामी—) 'हे देवानुप्रिय ! जैसा तुम्हे सुख हो वैसा करो। (इस शुभकार्य मे) विलम्ब न करो।'

[२०-४] तदनन्तर भगवान् गौतम स्वामी ने कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक के साथ जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ जाने का सकल्प किया।

विवेचन—श्री गौतमस्वामी द्वारा स्कन्दक परिव्राजक का स्वागत और दोनों का परस्पर वार्तालाप—प्रस्तुत तीन सूत्रो (१८ से २० तक) मे शास्त्रकार ने स्कन्दक परिव्राजक से पूर्वापर सम्बद्ध निम्नोक्त विषयो का क्रमश प्रतिपादन किया है—

१ श्री भगवान् महावीर द्वारा गौतमस्वामी को स्कन्दक परिव्राजक का परिचय और उसके निकट भविष्य मे शीघ्र आगमन का सकेत।

२ श्री गौतम स्वामी द्वारा स्कन्दक के निर्ग्रन्थधर्म मे प्रव्रजित होने की पृच्छा और समाधान।

३ श्री गौतमस्वामी द्वारा अपने पूर्वसाथी स्कन्दक परिव्राजक के सम्मुख जाकर सहर्ष भव्य स्वागत।

४ स्कन्दक परिव्राजक और गौतम स्वामी का मधुर वार्तालाप।

५ स्कन्दक द्वारा श्रद्धाभक्तिवश भगवान् महावीर की सेवा मे पहुँचने का सकल्प, श्री गौतम स्वामी द्वारा उसका समर्थन और प्रस्थान।

विशेषार्थ—रहस्सकडं—गुप्त किया हुआ, केवल मन मे अवधारित।[1]

भगवान् द्वारा स्कन्दक की मनोगत शंकाओं का समाधान

२१ तेणं कालेणं २ समणे भगवं महावीरे वियडभोई यावि होत्था। तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स वियडभोगिस्स सरीरयं ओरालं सिंगारं कल्लाणं सिवं धण्णं मंगल्लं सस्सिरीयं अणलंकियविभूसियं लक्खण-वंजणगुणोववेयं सिरीए अतीव २ उवसोभेमाणं चिट्ठइ।

[२१] उस काल और उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर व्यावृत्तभोजी (प्रतिदिन आहार करने वाले) थे। इसलिए व्यावृत्तभोजी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का शरीर उदार (प्रधान), शृगाररूप, अतिशयशोभासम्पन्न, कल्याणरूप, धन्यरूप, मगलरूप, बिना अलकार के ही सुशोभित, उत्तम लक्षणो, व्यजनो और गुणो से युक्त तथा शारीरिक शोभा से अत्यन्त शोभायमान था।

२२. तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स वियडभोगिस्स सरीरयं ओरालं जाव अतीव २ उवसोभेमाणं पासइ, २ त्ता हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए नंदिए पीइमणे परमसोम-

---

१ (क) भगवती गुजराती टीकानुवाद (प बेचरदास जी) खण्ड १, पृ २४९-२५०

(ख) भगवती मूलपाठ टिप्पण (प बेचरदासजी) भाग १, पृ ८०-८१

णस्सिए हरिसवसविसप्पमाणहियए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणप्पयाहिणं करेइ जाव पज्जुवासइ।

[२२] अत. व्यावृत्तभोजी श्रमण भगवान् महावीर के उदार यावत् शोभा से अतीव शोभायमान शरीर को देखकर कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक को अत्यन्त हर्ष हुआ, सन्तोष हुआ, एवं उसका चित्त आनन्दित हुआ। वह आनन्दित, मन मे प्रीतियुक्त परम सौमनस्यप्राप्त तथा हर्ष से प्रफुल्लहृदय होता हुआ जहा श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ उनके निकट आया। निकट आकर श्रमण भगवान् महावीर की दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा की, यावत् पर्युपासना करने लगा।

२३. 'खंदया!' ति समणे भगवं महावीरे खंदयं कच्चाय० एवं वयासी—से नूणं तुमं खंदया! सावत्थीए नयरीए पिंगलएणं णियंठेणं वेसालियसावएणं इणमक्खेव पुच्छिए 'मागहा! किं सअंते लोए अणंते लोए?' एवं तं चेव जाव जेणेव ममं अंतिए तेणेव हव्वमागए। से नूणं खंदया! अयमट्ठे समट्ठे।

हंता, अत्थि।

[२३] तत्पश्चात् 'स्कन्दक!' इस प्रकार सम्बोधित करके श्रमण भगवान् महावीर ने कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक से इस प्रकार कहा—हे स्कन्दक! श्रावस्ती नगरी मे वैशालिक श्रावक पिंगल निर्ग्रन्थ ने तुमसे इस प्रकार आक्षेपपूर्वक पूछा था कि—मागध! लोक सान्त है या अनन्त! आदि। (उसने पाच प्रश्न पूछे थे, तुम उनका उत्तर नही दे सके, इत्यादि सब वर्णन पूर्ववत् जान लेना) यावत्—उसके प्रश्नो से व्याकुल होकर तुम मेरे पास (उन प्रश्नो का उत्तर जानने के लिए) शीघ्र आए हो। हे स्कन्दक! क्या यह बात सत्य है।

(स्कन्दक ने कहा—) 'हाँ, भगवन्! यह बात सत्य है।'

२४. [१] जे वि य ते खंदया! अयमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—किं सअंते लोए, अणंते लोए? तस्स वि य णं अयमट्ठे—एवं खलु मए खंदया! चउव्विहे लोए पण्णत्ते, तं जहा—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ। दव्वओ णं एगे लोए सअंते। खेत्तओ णं लोए असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयाम-विक्खंभेणं, असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेणं प०, अत्थि पुण से अंते। कालओ णं लोए ण कयावि न आसी न कयावि न भवति न कयावि न भविस्सति, भुविं च भवति य भविस्सइ य, धुवे णियए सासते अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे, णत्थि पुण से अंते। भावओ णं लोए अणंता वण्णपज्जवा गंध० रस० फासपज्जवा, अणंता संठाणपज्जवा, अणंता गरुयलहुयपज्जवा, अणंता अगरुयलहुयपज्जवा, नत्थि पुण से अंते। से त्तं खंदगा! दव्वओ लोए सअंते, खेत्तओ लोए सअंते, कालतो लोए अणंते, भावओ लोए अणंते।

[२] जे वि य ते खंदया! जाव सअंते जीवे, अणंते जीवे? तस्स वि य णं अयमट्ठे—एवं खलु जाव दव्वओ णं एगे जीवे सअंते। खेत्तओ णं जीवे असंखेज्जपएसिए असंखेज्जपदेसोगाढे, अत्थि

पुण से अंते । कालओ णं जीवे न कयावि न आसि जाव निच्चे, नत्थि पुणाइ से अंते । भावओ णं जीवे अणंता णाणपज्जवा अणंता दंसणपज्जवा अणंता चरित्तपज्जवा अणंता गरुयलहुयपज्जवा अणंता अगरुयलहुयपज्जवा, नत्थि पुण से अंते । से त्तं दव्वओ जीवे सअंते, खेत्तओ जीवे सअंते, कालओ जीवे अणंते, भावओ जीवे अणंते ।

[३] जे वि य ते खंदया ! पुच्छा । दव्वओ णं एगा सिद्धी सअंता; खेत्तओ णं सिद्धी पणयालीसं जोयणसयसहस्साइं आयाम-विक्खंभेणं, एगा जोयणकोडी बायालीसं च जोयणसयसहस्साइं तीसं च जोयणसहस्साइं दोण्णि य अउणापन्ने जोयणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं प०, अत्थि पुण से अंते; कालओ णं सिद्धी न कयावि न आसि०; भावओ य जहा लोयस्स तहा भाणियव्वा । तत्थ दव्वओ सिद्धी सअंता, खेत्तओ सिद्धी सअंता, कालओ सिद्धी अणंता, भावओ सिद्धी अणंता ।

[४] जे वि य ते खंदया ! जाव किं अणंते सिद्धे ? तं चेव जाव दव्वओ णं एगे सिद्धे सअंते; खेत्तओ ण सिद्धे असंखेज्जपएसिए असंखेज्जपदेसोगाढे, अत्थि पुण से अंते; कालओ णं सिद्धे सादीए अपज्जवसिए, नत्थि पुण से अंते; भावओ सिद्धे अणंता णाणपज्जवा, अणंता दंसणपज्जवा जाव अणंता अगरुयलहुयपज्जवा, नत्थि पुण से अंते । से त्त दव्वओ सिद्धे सअंते, खेत्तओ सिद्धे सअंते, कालओ सिद्धे अणते, भावओ सिद्धे अणंते ।

[२४-१] (भगवान् ने फरमाया—) हे स्कन्दक ! तुम्हारे मन मे जो इस प्रकार का अध्यवसाय, चिन्तन, अभिलाषा एव सकल्प, समुत्पन्न हुआ था कि 'लोक सान्त है, या अनन्त ?' उस का यह अर्थ (उत्तर) है—हे स्कन्दक ! मैंने चार प्रकार का लोक बताया है, वह इस प्रकार है—द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक और भावलोक । उन चारो मे से द्रव्य से लोक एक है, और अन्त वाला है, क्षेत्र से लोक असख्य कोडाकोडो योजन तक लम्बा—चौडा है असख्य कोड़ाकोडी योजन की परिधि वाला है, तथा वह अन्तसहित है । काल से ऐसा कोई काल नही था, जिसमे लोक नही था, ऐसा कोई काल नही है, जिसमे लोक नही है, ऐसा कोई काल नही होगा, जिसमे लोक न होगा । लोक सदा था, सदा है, और सदा रहेगा । लोक ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य है । उसका अन्त नही है । भाव से लोक अनन्त वर्णपर्यायरूप, गन्धपर्यायरूप, रसपर्यायरूप और स्पर्श-पर्यायरूप है । इसी प्रकार अनन्त सस्थानपर्यायरूप, अनन्त गुरुलघुपर्यायरूप एव अनन्त अगुरुलघुपर्यायरूप है । उसका अन्त नही है । इस प्रकार हे स्कन्दक ! द्रव्य-लोक अन्तसहित है, क्षेत्र-लोक अन्तसहित है, काल-लोक अन्तरहित है और भावलोक भी अन्तरहित है । अतएव लोक अन्तसहित भी है और अन्तरहित भी है ।

[२४-२] और हे स्कन्दक ! तुम्हारे मन मे यह विकल्प उठा था, कि यावत्—'जीव सान्त है या अन्तरहित है ?' उसका भी अर्थ (स्पष्टीकरण) इस प्रकार है—'यावत् द्रव्य से एक जीव अन्तसहित है । क्षेत्र से—जीव असख्य प्रदेश वाला है और असख्य प्रदेशो का अवगाहन किये हुए है, अत: वह अन्तसहित है । काल से—ऐसा कोई काल नही था, जिसमे जीव न था, यावत्—जीव नित्य है, अन्तरहित है । भाव से—जीव अनन्त-ज्ञानपर्यायरूप है, अनन्तदर्शनपर्यायरूप है, अनन्त-चारित्रपर्यायरूप है, अनन्त गुरुलघुपर्यायरूप है, अनन्त-अगुरुलघुपर्यायरूप है और उसका अन्त नही

(अन्तरहित) है । इस प्रकार द्रव्यजीव और क्षेत्रजीव अन्तसहित है, तथा काल-जीव और भावजीव अन्तरहित है । अत. हे स्कन्दक ! जीवअन्तसहित भी है और अन्तरहित भी है ।

[२४-३] हे स्कन्दक ! तुम्हारे मन मे यावत् जो यह विकल्प उठा था कि सिद्धि (सिद्धशिला) सान्त है या अन्तरहित है ? उसका भी यह अर्थ (समाधान) है—हे स्कन्दक ! मैंने चार प्रकार की सिद्धि बताई है। वह इस प्रकार है— द्रव्यसिद्धि, क्षेत्रसिद्धि, कालसिद्धि और भावसिद्धि । १—द्रव्य से सिद्धि एक है, अत अन्तसहित है । २—क्षेत्र से—सिद्धि ४५ लाख योजन को लम्बी-चौडी है, तथा एक करोड, बयालीस लाख, तीस हजार दो सौ उनचास योजन से कुछ विशेषाधिक (झाझेरी) है, अतः अन्तसहित है । ३—काल से—ऐसा कोई काल नही था, जिसमे सिद्धि नही थी, ऐसा कोई काल नही है, जिसमे सिद्धि नही है तथा ऐसा कोई काल नही होगा, जिसमे सिद्धि नही रहेगी । अत वह नित्य है, अन्तरहित है । ४—भाव से सिद्धि—जैसे भाव लोक के सम्बन्ध मे कहा था, उसी प्रकार है । (अर्थात् वह अनन्त वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-गुरुलघु-अगुरुलघु-पर्यायरूप है तथा अन्तरहित है) इस प्रकार द्रव्यसिद्धि और क्षेत्रसिद्धि अन्तसहित है तथा कालसिद्धि और भावसिद्धि अन्तरहित है । इसलिए हे स्कन्दक ! सिद्धि अन्त-सहित भी है और अन्तरहित भी है ।

[२४-४] हे स्कन्दक ! फिर तुम्हे यह सकल्प-विकल्प उत्पन्न हुआ था कि सिद्ध अन्तसहित हैं या अन्तरहित हैं ? उसका अर्थ (सामाधान) भी इस प्रकार है-–(यहाँ सब कथन पूर्ववत् कहना चाहिए) यावत्—द्रव्य से एक सिद्ध अन्तसहित है । क्षेत्र से—सिद्ध असख्यप्रदेश वाले तथा असख्य आकाश-प्रदेशो का अवगाहन किये हुए हैं, अत अन्तसहित है । काले से—(कोई भी एक) सिद्ध आदि-सहित और अन्तरहित है । भाव से—सिद्ध अनन्तज्ञानपर्यायरूप है, अनन्तदर्शनपर्यायरूप है, यावत्—अनन्त-अगुरुलघुपर्यायरूप हैं तथा अन्तरहित हैं । अर्थात्—द्रव्य से और क्षेत्र से सिद्ध अन्तसहित है तथा काल से और भाव से सिद्ध अन्तरहित है । इसलिए हे स्कन्दक ! सिद्ध अन्तसहित भी है और अन्तरहित भी है ।

२५ जे वि य ते खंदया ! इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए जाव समुप्पज्जित्था केण वा मरणेण मरमाणे जीवे वड्ढति वा हायति वा ? तस्स वि य णं अयमट्ठे—एव खलु खंदिया ! मए दुविहे मरणे पण्णत्ते, तं जहा—बालमरणे य पंडिममरणे य ।

[२५] और हे स्कन्दक ! तुम्हे जो इस प्रकार का अध्यवसाय, चिन्तन, यावत्—सकल्प उत्पन्न हुआ था कि कौन-से मरण से मरते हुए जीव का ससार बढता है और कौन-से मरण से मरते हुए जीव का ससार घटता है ? उसका भी अर्थ (समाधान) यह है—हे स्कन्दक ! मैंने दो प्रकार के मरण बतलाये हैं । वे इस प्रकार है—बालमरण और पण्डितमरण ।

२६. से किं तं बालमरणे ?

बालमरणे दुवालसविहे प०, तं जहा—वलयमरणे १ वसट्टमरणे २ अंतोसल्लमरणे ३ तब्भव-मरणे ४ गिरिपडणे ५ तरुपडणे ६ जलप्पवेसे ७ जलणप्पवेसे ८ विसभक्खणे ९ सत्थोवाडणे १० वेहाणसे ११ गद्धपट्ठे १२ ।

इच्चेतेणं खंदया ! दुवालसविहेणं बालमरणेणं मरमाणे जीवे अणंतेहिं नेरइयभवग्गहणेहिं

अप्पाणं संजोएइ, तिरिय० मणुय० देव०, अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरियट्टइ, से त्तं मरमाणे वड्ढइ। से त्तं बालमरणे।

[२६] 'वह बालमरण क्या है?' बालमरण बारह प्रकार का कहा गया है; वह इस प्रकार है--(१) बलयमरण (बलन्मरण—तडफते हुए मरना), (२) वशार्तमरण (पराधीनतापूर्वक या विषयवश होकर रिब रिब कर मरना), (३) अन्तःशल्यमरण (हृदय में शल्य रखकर मरना, या शरीर मे कोई तीखा शस्त्रादि घुस जाने से मरना अथवा सन्मार्ग से भ्रष्ट होकर मरना), (४) तद्भव-मरण (मरकर उसी भव मे पुनः उत्पन्न होना, और मरना), (५) गिरिपतन (६) तरुपतन, (७) जल-प्रवेश (पानी मे डूबकर मरना), (८) ज्वलनप्रवेश (अग्नि मे जलकर मरना), (९) विषभक्षण (विष खाकर मरना), (१०) शस्त्रावपाटन (शस्त्राघात से मरना), (११) वैहानस मरण (गले मे फासी लगाने या वृक्ष आदि पर लटकने से होने वाला मरण) और (१२) गृध्रपृष्ठमरण (गिद्ध आदि पक्षियो द्वारा पीठ आदि शरीरावयवो का मास खाये जाने से होने वाला मरण)।

हे स्कन्दक! इन बारह प्रकार के बालमरणो से मरता हुआ जीव अनन्त बार नारक भवों को प्राप्त करता है, तथा नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, इस चातुर्गतिक अनादि-अनन्त संसाररूप कान्तार (वन) मे बार-बार परिभ्रमण करता है। अर्थात्—इस तरह बारह प्रकार के बालमरण से मरता हुआ जीव अपने ससार को बढाता है। यह है—बालमरण का स्वरूप।

२७ **से किं तं पंडियमरणे?**

पंडियमरणे दुविहे प०, तं०—पाओवगमणे य भत्तपच्चक्खाणे य।

[२७] पण्डितमरण क्या है?

पण्डितमरण दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—पादपोपगमन (वृक्ष की कटी हुई शाखा की तरह स्थिर (निश्चल) होकर मरना) और भक्त-प्रत्याख्यान (यावज्जीवन तीन या चारो आहारो का त्याग करने के बाद शरीर की सार संभाल करते हुए जो मृत्यु होती है)।

२८. **से किं तं पाओवगमणे?**

पाओवगमणे दुविहे प०, त जहा—नीहारिमे य अनीहारिमे य, नियमा अप्पडिकम्मे। से त्तं पाओवगमणे।

[२८] पादपोपगमन (मरण) क्या है?

पादपोपगमन दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—निर्हारिम और अनिर्हारिम। यह दोनो प्रकार का पादपोपगमन-मरण नियम से अप्रतिकर्म होता है। यह है—पादपोपगमन का स्वरूप।

२९. **से किं तं भत्तपच्चक्खाणे?**

भत्तपच्चक्खाणे दुविहे प०, तं जहा—नीहारिमे य अनीहारिमे य, नियमा सपडिकम्मे। से त्तं भत्तपच्चक्खाणे।

[२९] भक्तप्रत्याख्यान (मरण) क्या है?

भक्तप्रत्याख्यान मरण दो प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—निर्हारिम और

अनिर्हारिम। यह दोनो प्रकार का भक्तप्रत्याख्यान-मरण नियम से सप्रतिकर्म होता है। यह है—भक्त प्रत्याख्यान का स्वरूप।

३०. इच्चेतेणं खंदया! दुविहेण पंडियमरणेणं मरमाणे जीवे अणंतेहिं नेरइयभवग्गहणेहिं अप्पाणं विसंजोएइ जाव वीईवयति। से त्तं मरमाणे हायइ हायइ। से त्तं पंडियमरणे।

[३०] हे स्कन्दक! इन दोनो प्रकार के पण्डितमरणो से मरता हुआ जीव नारकादि अनन्त भवो को प्राप्त नही करता, यावत् ससाररूपी अटवी को उल्लघन (पार) कर जाता है। इस प्रकार इन दोनो प्रकार के पण्डितमरणो से मरते हुए जीव का ससार घटता है। यह है—पण्डितमरण का स्वरूप।

३१. इच्चेएणं खंदया! दुविहेण मरणेण मरमाणे जीवे वड्ढइ वा हायति वा।

[३१] हे स्कन्दक! इन दो प्रकार (बालमरण और पण्डितमरण) के मरणो से मरते हुए जीव का ससार (क्रमश) बढता और घटता है।

विवेचन—भगवान् द्वारा स्कन्दक की मनोगत शकाओ का समाधान—प्रस्तुत ग्यारह सूत्रो (२१ से ३१ तक) मे स्कन्दक परिव्राजक के भगवान् महावीर के पास जाने से लेकर भगवान् द्वारा उसकी मनोगत शकाओ का विश्लेषणपूर्वक यथार्थ समाधान पर्यन्त का विवरण प्रस्तुत किया गया है। उसका क्रम इस प्रकार है—

(१) प्रथम दर्शन मे ही स्कन्दक का भगवान् के अतीव तेजस्वी व्यक्तित्व से प्रभावित, चित्त मे हर्षित एव सन्तुष्ट होना तथा भगवान् के प्रति प्रीति उत्पन्न होना। उसके द्वारा भगवान् की प्रदक्षिणा, वन्दना, यावत् पर्युपासना करना। (२) भगवान् द्वारा स्कन्दक के समक्ष उसकी मनोगत बाते प्रकट करना, (३) तत्पश्चात् एक-एक करके स्कन्दक की पूर्वोक्त पाचो मनोगत शकाओ को अभिव्यक्त करते हुए भगवान् द्वारा विश्लेषणपूर्वक अनेकान्त दृष्टि से समाधान करना।

भगवान् द्वारा किये गये समाधान का निष्कर्ष—(१) लोक द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा सान्त है तथा काल और भाव की अपेक्षा अनन्त है। (२) जीव भी इसी प्रकार है। (३-४) यही समाधान सिद्धि और सिद्ध के विषय मे है। (५) मरण दो प्रकार के है—बालमरण और पण्डितमरण। विविध बालमरणो से जीव ससार बढाता है और द्विविध पण्डितमरणो से घटाता है।

नीहारिमे-अनीहारिमे—निर्हारिम और अनिर्हारिम, ये दोनो भेद पादपोपगमन और भक्त-प्रत्याख्यान इन दोनो के हैं। निर्हार शब्द का अर्थ है—बाहर निकलना। निर्हार से जो निष्पन्न हो, वह **निर्हारिम** है। अर्थात् जो साधु उपाश्रय मे ही (पूर्वोक्त दोनो पण्डितमरणो में से किसी एक से) मरण पाता है—अपना शरीर छोडता है। ऐसी स्थिति मे उस साधु के शव को उपाश्रय से बाहर निकालकर संस्कारित किया जाता है, अतएव उस साधु का उक्त पण्डितमरण 'निर्हारिम' कहलाता है। जो साधु अरण्य आदि मे ही अपने शरीर को छोडता है—पण्डितमरण पाता है। उसके शरीर (शव) को कही बाहर नही निकाला जाता, अत उक्त साधु का वैसा पण्डितमरण **'अनिर्हारिम'** कहलाता है।

इंगितमरण—यह भी पण्डितमरण है, किन्तु भक्तप्रत्याख्यानमरण का ही विशिष्ट प्रकार होने से उसका पृथक् उल्लेख नही किया गया।

अपडिक्कम्मे-सपडिक्कम्मे—अप्रतिकर्म और सप्रतिकर्म, ये क्रमश पादपोपगमन और भक्तप्रत्याख्यानमरण के ही लक्षणरूप है। पादपोपगमनमरण मे चारो प्रकार के आहार का त्याग अनिवार्य है, साथ ही वह नियमत अप्रतिकर्म-शरीरसस्काररहित होता है, जबकि भक्तप्रत्याख्यान सप्रतिकर्म—शरीर की सारसभाल करते हुए होता है।

वियडभोई-वियट्टभोई : तीन अर्थ—(१) **विकट-भोजी**=अचित्त भोजी, (२) **व्यावृत्तभोजी** सूर्य के व्यावृत्त—प्रकाशित होने पर भोजनकर्ता—प्रतिदिन दिवसभोजी और (३) **व्यावृत्तभोजी**=अनेषणीय आहार से निवृत्त अर्थात् एषणीय आहारभोक्ता।[1]

स्कन्दक द्वारा धर्मकथाश्रवण, प्रतिबोध, प्रव्रज्याग्रहण और निर्ग्रन्थधर्माचरण

३२. [१] **एत्थ णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते संबुद्धे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, २ एवं वदासी—इच्छामि णं भंते! तुब्भं अंतिए केवलिपन्नत्तं धम्मं निसामेत्तए।**

[२] **अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह।**

[३२-१] (भगवान् महावीर के इन (पूर्वोक्त) वचनो से समाधान पाकर) कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक को सम्बोध प्राप्त हुआ। उसने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार करके यो कहा— 'भगवन्! मै आपके पास केवलिप्ररूपित धर्म सुनना चाहता हूँ।'

[३२-२] हे देवानुप्रिय! जैसा तुम्हे सुख हो, वैसा करो, शुभकार्य मे विलम्ब मत करो।

३३. **तए णं समणे भगवं महावीरे खंदयस्स कच्चायणसगोत्तस्स तीसे य महतिमहालियाए परिसाए धम्मं परिकहेइ। धम्मकहा भाणियव्वा।**

[३३] इसके पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक को और उस बहुत बडी परिषद् को धर्मकथा कही। (यहाँ धर्मकथा का वर्णन (औपपातिक सूत्र के अनुसार) करना चाहिए।)

३४ **तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठे जाव हियए उट्ठाए उट्ठेइ, २ समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, २ एवं वदासी—सद्दहामि णं भंते! निग्गंथं पावयणं, पत्तियामि णं भंते!, निग्गंथं पावयणं रोएमि णं भंते! निग्गंथं पावयणं, अब्भुट्ठेमि णं भंते! निग्गंथं पावयणं, एवमेयं भंते!, तहमेयं भंते!, अवितहमेयं भंते!, असंदिद्धमेयं भंते!, इच्छियमेयं भंते!, पडिच्छियमेयं भंते!, इच्छियपडिच्छियमेयं भंते!, से जहेयं तुब्भे वदह त्ति कट्टु समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, २ उत्तरपुरत्थिमं दिसोभायं**

---

१ (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्राक ११८, (ख) भगवती. मू पा. टि भा १, पृ ८१, (ग) भगवती. प्रमेयचन्द्रिका टीका भा. २ पृ. ५५३ (घ) आचाराग श्रु १ अ ९ मे, उत्तरा. २।४, तथा समवायाग ११ मे 'वियड' शब्द का यही अर्थ है।

अवक्कमइ, २ तिदंडं च कुंडियं च जाव धातुरत्ताओ य एगंते एडेइ, २ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, २ समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता जाव नमंसित्ता एवं वदासी--

आलित्ते णं भंते ! लोए, पलित्ते णं भंते ! लोए, आलित्तपलित्ते णं भंते ! लोए जराए मरणेण य। से जहानामए केइ गाहावती अगारंसि झियायमाणंसि जे से तत्थ भंडे भवइ अप्पसारे मोल्लगरुए तं गहाय आयाए एगंतमंतं अवक्कमइ, एस मे नित्थारिए समाणे पच्छा पुरा य हियाए सुयाए खमाए निस्सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ। एवामेव देवाणुप्पिया ! मज्झ वि आया एगे भंडे इट्ठे कंते पिए मणुन्ने मणामे थेज्जे वेसासिए सम्मए बहुमए अणुमए भंडकरंडगसमाणे, मा णं सीतं, मा णं उण्हं, मा णं खुहा, मा णं पिवासा, मा णं चोरा, मा णं वाला, मा णं दंसा, मा णं मसगा, मा णं वाइय-पित्तिय-सिंभिय-सन्निवाइय विविहा रोगायंका परीसहोवसग्गा फुसंतु त्ति कट्टु, एस मे नित्थारिए समाणे परलोयस्स हियाए सुहाए खमाए नीसेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ। तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! सयमेव पव्वावियं, सयमेव मुंडावियं, सयमेव सेहावियं, सयमेव सिक्खावियं, सयमेव आयार-गोयरं विणय-वेणइय-चरण-करण-जाया-मायावत्तियं धम्ममाइक्खिअं।

[३४] तत्पश्चात् वह कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक श्रमण भगवान् महावीर के श्रीमुख से धर्मकथा सुनकर एव हृदय मे अवधारण करके अत्यन्त हर्षित हुआ, सन्तुष्ट हुआ, यावत् उसका हृदय हर्ष से विकसित हो गया। तदनन्तर खडे होकर और श्रमण भगवान् महावीर को दाहिनी ओर से तीन बार प्रदक्षिणा करके स्कन्दक परिव्राजक ने इस प्रकार कहा—"भगवन् ! निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर मैं श्रद्धा करता हूँ, निर्ग्रन्थ प्रवचन पर मै प्रतीति करता हूँ, भगवन् ! निर्ग्रन्थ-प्रवचन मे मुझे रुचि है, भगवन् ! निर्ग्रन्थ प्रवचन मे (प्रव्रजित होने के लिए) अभ्युद्यत होता हूँ (अथवा निर्ग्रन्थ प्रवचन को स्वीकार करता हूँ)। हे भगवन् ! यह (निर्ग्रन्थ प्रवचन) इसी प्रकार है, यह तथ्य है, यह सत्य है, यह असदिग्ध है, भगवन् ! यह मुझे इष्ट है, प्रतीष्ट है, इष्ट-प्रतीष्ट है। हे भगवन् ! जैसा आप फरमाते हैं, वैसा ही है।" यो कह कर स्कन्दक परिव्राजक ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। ऐसा करके उसने उत्तरपूर्व दिशा-भाग (ईशानकोण) मे जाकर त्रिदण्ड, कुण्डिका, यावत् गेरुए वस्त्र आदि परिव्राजक के उपकरण एकान्त मे छोड दिये। फिर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ आकर भगवान् महावीर को तीन बार प्रदक्षिणा करके यावत् नमस्कार करके इस प्रकार कहा—

'भगवन् ! वृद्धावस्था और मृत्यु रूपी अग्नि से यह लोक (ससार) आदीप्त-प्रदीप्त (जल रहा है, विशेष जल रहा) है, वह एकदम जल रहा है और विशेष जल रहा है। जैसे किसी गृहस्थ के घर मे आग लग गई हो और वह घर जल रहा हो, तब वह उस जलते घर मे से बहुमूल्य और अल्प भार (वजन) वाले सामान को पहले बाहर निकालता है, और उसे लेकर वह एकान्त मे जाता है। वह यह सोचता है—(अग्नि मे से बचाकर) बाहर निकाला हुआ यह सामान भविष्य मे आगे-पीछे मेरे लिए हितरूप, सुखरूप, क्षेमकुशलरूप, कल्याणरूप, एव साथ चलने वाला (अनुगामीरूप) होगा। इसी तरह हे देवानुप्रिय भगवन् ! मेरा आत्मा भी एक भाण्ड (सामान) रूप है। यह मुझे इष्ट, कान्त,

प्रिय, सुन्दर, मनोज्ञ, मनोरम, स्थिरता वाला, विश्वासपात्र, सम्मत, अनुमत, बहुमत और रत्नो (या आभूषणों) के पिटारे के समान है। इसलिए इसे ठड न लगे, गर्मी न लगे, यह भूख-प्यास से पीड़ित न हो, इसे चोर, सिंह और सर्प हानि न पहुँचाएँ, इसे डाँस और मच्छर न सताएँ, तथा वात, पित्त, कफ, सन्निपात आदि विविध रोग और आतक (प्राणघातक रोग) परीषह और उपसर्ग इसे स्पर्श न करे, इसप्रकार मैं इनसे इसकी बराबर रक्षा करता हूँ। पूर्वोक्त विघ्नो से रहित किया हुआ मेरा आत्मा मुझे परलोक मे हितरूप, सुखरूप, कुशलरूप, कल्याणरूप और अनुगामीरूप होगा। इसलिए भगवन्! मैं आपके पास स्वय प्रव्रजित होना, स्वय मुण्डित होना चाहता हूँ। मेरी इच्छा है कि आप स्वय मुझे प्रव्रजित करे, मुण्डित करे, आप स्वय मुझे प्रतिलेखनादि क्रियाएँ सिखाएँ, सूत्र और अर्थ पढाएँ। मैं चाहता हूँ कि आप मुझे ज्ञानादि आचार, गोचर (भिक्षाचरी), विनय, विनय का फल, चारित्र (व्रतादि) और पिण्ड-विशुद्ध आदि करण तथा सयम यात्रा और सयमयात्रा के निर्वाहक आहारादि की मात्रा के ग्रहणरूप धर्म को कहे।'

३५. तए ण समणे भगव महावीरे खंदय कच्चायणसगोत्तं सयमेव पव्वावेइ जाव धम्म-माइक्खइ—एव देवाणुप्पिया! गंतव्व, एव चिट्ठियव्वं, एवं निसीतियव्वं, एवं तुयट्टियव्व, एवं भु जियव्वं, एव भासियव्व एवं उट्ठाय पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमेणं संजमियव्वं, अस्सि च ण अट्ठे णो किंचि वि पमाइयव्व।

[३५] तदनन्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने स्वयमेव कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक को प्रव्रजित किया, यावत् स्वयमेव धर्म की शिक्षा दी कि हे देवानुप्रिय! इस प्रकार (यतना) से चलना चाहिए, इस तरह से खडा रहना चाहिए, इस तरह से बैठना चाहिए, इस तरह से सोना चाहिए, इस तरह से खाना चाहिए, इस तरह से बोलना चाहिए, इस प्रकार से उठकर सावधानतापूर्वक प्राण, भूत, जीव और सत्त्व के प्रति संयमपूर्वक बर्ताव करना चाहिए। इस विषय मे जरा भी प्रमाद नही करना चाहिए।

३६. तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स इमं एयारूवं धम्मियं उवएस सम्म संपडिवज्जति, तमाणाए तह गच्छइ, तह चिट्ठइ, तह निसीयति, तह तुयट्टइ, तह भुंजइ, तह भासइ, तह उट्ठाय २ पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमेणं संजमइ, अस्सि च णं अट्ठे णो पमायइ।

[३६] तब कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक मुनि ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पूर्वोक्त धार्मिक उपदेश को भलीभाति स्वीकार किया और जिस प्रकार की भगवान् महावीर की आज्ञा थी, तदनुसार श्री स्कन्दकमुनि चलने लगे, वैसे ही खडे रहने लगे, वैसे ही बैठने, सोने, खाने, बोलने आदि की क्रियाएँ करने लगे, तथा तदनुसार ही प्राणो, भूतो, जीवो और सत्त्वो के प्रति सयमपूर्वक बर्ताव करने लगे। इस विषय मे वे जरा-सा भी प्रमाद नही करते थे।

३७. तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते अणगारे जाते इरियासमिए भासासमिए एसणासमिए आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्ल-परिट्ठावणियासमिए मणसमिए

वयसमिए कायसमिए मणगुत्ते वइगुत्ते कायगुत्ते गुत्ते गुत्तिंदिए गुत्तबंभचारी चाई लज्जू धण्णे खंतिखमे जिंतिदिए सोहिए अणियाणे अप्पुस्सुए अबहिल्लेस्से सुसामण्णरए दंते इणमेव णिग्गंथं पावयणं पुरओ काउं विहरइ।

[३७] अब वह कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक अनगार हो गए। वह अब ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमिति, उच्चार-प्रस्रवण-खेल-जल्ल-सिंघाण-परिष्ठापनिका समिति, एव मन समिति, वचनसमिति और कायसमिति, इन आठ समितियों का सम्यक् रूप से सावधानतापूर्वक पालन करने लगे। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति से गुप्त रहने लगे, अर्थात्—मन, वचन और काया को वश मे रखने लगे। वे सबको वश मे रखने वाले (गुप्त) इन्द्रियो को गुप्त (सुरक्षित = वश मे) रखने वाले, गुप्तब्रह्मचारी, त्यागी, लज्जावान् (सयमी = सरल) धन्य (पुण्यवान् या धर्मधनवान्), क्षमावान्, जितेन्द्रिय व्रतो आदि के शोधक (शुद्धिपूर्वक आचरणकर्ता) निदानरहित (नियाणा न करने वाले), आकांक्षारहित, उतावल से दूर सयम से बाहर चित्त न रखने वाले, श्रेष्ठ साधुव्रतो मे लीन, दान्त स्कन्दक मुनि इसी निर्ग्रन्थ प्रवचन को सम्मुख रखकर विचरण करने लगे (अर्थात्—निर्ग्रन्थप्रवचनानुसार सब क्रियाएँ करने लगे)।

विवेचन—स्कन्दक द्वारा धर्मकथाश्रवण, प्रतिबोध, प्रव्रज्याग्रहण एव निर्ग्रन्थ धर्माचरण—प्रस्तुत छह सूत्रो (३२ से ३७ तक) में शास्त्रकार ने स्कन्दक परिव्राजक के द्वारा धर्मकथाश्रवण से लेकर प्रव्रजित होकर निर्ग्रन्थ धर्माचरण तक का विवरण प्रस्तुत किया है। यहाँ पूर्वापर सम्बद्ध विषय क्रम इस प्रकार है—स्कन्दक की धर्म-श्रवण की इच्छा, भगवान् द्वारा धर्मोपदेश, निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति श्रद्धा की अभिव्यक्ति, प्रतिबोध, ससार से विरक्ति, निर्ग्रन्थ धर्म मे प्रव्रजित करने के लिए निवेदन, भगवान् द्वारा निर्ग्रन्थधर्मदीक्षा, तत्पश्चात् निर्ग्रन्थधर्माचरण से सम्बन्धित समिति-गुप्ति आदि की शिक्षा, आज्ञानुसार शास्त्रोक्त साध्वाचारपूर्वक विचरण इत्यादि।

कठिन शब्दों की व्याख्या—आयार-गोयरं = ज्ञानादि आचार और गोचर (भिक्षाटन) **वेणइय**—विनय का आचरण या विनयोत्पन्न चारित्र। **जाया-मायावत्तिय** = सयमयात्रा, और आहारादि की मात्रादि वृत्ति, **चरण** = चारित्र, **करण** = पिण्डविशुद्धि। **अप्पुस्सुए** = उत्सुकतारहित। **लज्जू** = लज्जावान् या रज्जू (रस्सी) की तरह सरल—अवक्र।[1]

३८. तए णं समणे भगवं महावीरे कयंगलाओ नयरीओ छत्तपलासाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ, २ बहिया जणवयविहारं विहरति।

[३८] तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कृतगला नगरी के छत्रपलाशक उद्यान से निकले और बाहर (अन्य) जनपदो (देशो) मे विचरण करने लगे।

स्कन्दक द्वारा शास्त्राध्ययन भिक्षुप्रतिमाऽऽराधन और गुणरत्नादि तपश्चरण

३९. तए णं से खंदए अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ, २ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, २

१. (क) भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक १२२, (ख) भगवती टीकानुवाद (प. बेचर) खण्ड १, पृ २५३

समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, २ एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे मासियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह ।

[३९] इसके बाद स्कन्दक अनगार ने श्रमण भगवन् महावीर के तथारूप स्थविरो से सामायिक आदि ग्यारह अगो का अध्ययन किया । शास्त्र-अध्ययन करने के बाद श्रमण भगवान् महावीर के पास आकर वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार बोले—'भगवन् ! आपकी आज्ञा हो तो मैं मासिकी भिक्षुप्रतिमा अगीकार करके विचरना चाहता हूँ ।'

(भगवान्—) हे देवानुप्रिय ! जैसे तुम्हें सुख हो, वैसा करो । शुभ कार्य मे प्रतिबन्ध न करो (रुकावट न डालो) ।

४०. तए णं से खंदए अणगारे समणेणं भगवया महावीरेण अब्भणुण्णाए समाणे हट्ठ जाव नमंसित्ता मासियं भिक्खुपडिम उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ।

[४०] तत्पश्चात् स्कन्दक अनगार श्रमण भगवान् महावीर की आज्ञा प्राप्त करके अतीव हर्षित हुये और यावत् भगवान् महावीर को नमस्कार करके मासिक भिक्षुप्रतिमा अगीकार करके विचरण करने लगे ।

४१. [१] तए णं से खंदए अणगारे मासियं भिक्खुपडिमं अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्च अहासम्मं काएण फासेति पालेति सोहेति तीरेति पूरेति किट्टेति अणुपालेइ आणाए आराहेइ, काएण फासित्ता जाव आराहेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, २ समणं भगवं जाव नमंसित्ता एव वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे दोमासियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं० ।

[२] तं चेव ।

[४१] तदनन्तर स्कन्दक अनगार ने सूत्र के अनुसार, मार्ग के अनुसार, यथातत्त्व (सत्यतापूर्वक), सम्यक् प्रकार से स्वीकृत मासिक भिक्षुप्रतिमा का काया से स्पर्श किया, पालन किया, उसे शोभित (शुद्धता से आचरण = शोधित) किया, पार लगाया, पूर्ण किया, उसका कीर्तन (गुणगान) किया, अनुपालन किया, और आज्ञापूर्वक आराधन किया । उक्त प्रतिमा का काया से सम्यक् स्पर्श करके यावत् उसका आज्ञापूर्वक आराधन करके जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ आए और श्रमण भगवान् महावीर को यावत् वन्दन-नमस्कार करके यो बोले—'भगवन् ! आपकी आज्ञा हो तो मै द्विमासिकी भिक्षुप्रतिमा स्वीकार करके विचरण करना चाहता हूँ ।'

इस पर भगवान् ने कहा— 'हे देवानुप्रिय ! तुम्हे जैसा सुख हो वैसा करो, शुभकार्य में विलम्ब न करो ।'

[४१-२] तत्पश्चात् स्कन्दक अनगार ने द्विमासिकी भिक्षुप्रतिमा को स्वीकार किया । (सभी वर्णन पूर्ववत् कहना), यावत् सम्यक् प्रकार से आज्ञापूर्वक आराधन किया ।

४२ एव तेमासिय चाउम्मासियं पच-छ-सत्तमा० । पढमं सत्तराइंदियं, दोच्चं सत्तराइंदियं, तच्चं सत्तराइंदियं, राइंदियं, एगराइयं ।

[४२] इसी प्रकार त्रैमासिकी, चातुर्मासिकी, पचमासिकी, षाण्मासिकी एव सप्तमासिकी भिक्षुप्रतिमा की यथावत् आराधना की । तत्पश्चात् प्रथम सप्तरात्रि-दिवस की, द्वितीय सप्त रात्रि-दिवस की एव तृतीय सप्तरात्रि-दिवस की फिर एक अहोरात्रि की, तथा एकरात्रि की, इस तरह बारह भिक्षुप्रतिमाओ का सूत्रानुसार यावत् आज्ञापूर्वक सम्यक् आराधन किया ।

४३ तए ण से खंदए अणगारे एगराइय भिक्खुपडिम अहासुत्तं जाव आराहेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति, २ समणं भगवं महावीरं जाव नमंसित्ता एव वदासी --इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे गुणरयणसंवच्छर तवोकम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं० ।

[४३] फिर स्कन्दक अनगार अन्तिम एकरात्रि की भिक्षुप्रतिमा का यथासूत्र यावत् आज्ञा-पूर्वक सम्यक् आराधन करके जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ आकर उन्हे (श्रमण भगवान् महावीर को) वन्दना-नमस्कार करके यावत् इस प्रकार बोले—'भगवन् ! आपकी आज्ञा हो तो मैं 'गुणरत्नसवत्सर' नामक तपश्चरण अगीकार करके विचरण करना चाहता हूँ ।'

भगवान् ने फरमाया—'तुम्हे जैसा सुख हो, वैसा करो, धर्मकार्य मे विलम्ब न करो ।'

४४. तए णं से खंदए अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे जाव नमंसित्ता गुणरयणसंवच्छरं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ताण विहरति ।

त जहा—पढमं मासं चउत्थ चउत्थेण अणिक्खित्तेण तवोकम्मेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे, रत्ति वीरासणेण अवाउडेण य । दोच्चं मासं छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेण० दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे, रत्ति वीरासणेणं अवाउडेण य । एवं तच्चं मासं अट्ठमं अट्ठमेण, चउत्थं मासं दसम दसमेण, पचम मासं बारसम बारसमेण, छट्ठं मास चोद्दसम चोद्दसमेण, सत्तम मास सोलसम २, अट्ठमं मास अट्ठारसमं २, नवमं मासं वीसतीमं २, दसमं मासं बावीसतिम २, एक्कारसमं मासं चउव्वीसतिम २, बारसमं मासं छव्वीसतिम २, तेरसमं मास अट्ठावीसतिम २, चोद्दसमं मास तीसतिमं २, पन्नरसमं मासं बत्तीसतिमं २, सोलसमं मासं चोत्तीसतिमं २, अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेण दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे, रत्ति वीरासणेण अवाउडेणं ।

[४४] तत्पश्चात् स्कन्दक अनगार श्रमण भगवान् महावीर की आज्ञा प्राप्त करके यावत् उन्हे वन्दना-नमस्कार करके गुणरत्नसवत्सर नामक तपश्चरण स्वीकार करके विचरण करने लगे ।

जैसे कि—(गुणरत्न सवत्सर तप की विधि) पहले महीने मे निरन्तर (लगातार) उपवास (चतुर्थभक्त तप कर्म) करना, दिन मे सूर्य के सम्मुख (मुख) दृष्टि रखकर आतापनाभूमि मे उत्कुटुक

आसन से बैठकर सूर्य की आतापना लेना और रात्रि मे अपावृत (निर्वस्त्र) होकर वीरासन से बैठना एव शीत सहन करना। इसी तरह निरन्तर बेले-बेले (छट्ठ-छट्ठ) पारणा करना। दिन मे उत्कुटुक आसन से बैठकर सूर्य के सम्मुख मुख रखकर आतापनाभूमि मे सूर्य की आतापना लेना, रात्रि मे अपावृत होकर वीरासन से बैठकर शीत सहन करना। इसी प्रकार तीसरे मास मे उपर्युक्त विधि के अनुसार निरन्तर तेले-तेले पारणा करना। इसी विधि के अनुसार चौथे मास मे निरन्तर चौले-चौले (चार-चार उपवास से) पारणा करना। पाँचवे मास मे पचौले-पचौले (पाच-पाच उपवास से) पारणा करना। छठे मास मे निरन्तर छह-छह उपवास करना। सातवे मास मे निरन्तर सात-सात उपवास करना। आठवे मास मे निरन्तर आठ-आठ उपवास करना। नौवें मास में निरन्तर नौ-नौ उपवास करना। दसवे मास मे निरन्तर दस-दस उपवास करना। ग्यारहवे मास मे निरन्तर ग्यारह-ग्यारह उपवास करना। बारहवे मास मे निरन्तर बारह-बारह उपवास करना। तेरहवे मास मे निरन्तर तेरह-तेरह उपवास करना। चौदहवे मास मे निरन्तर चौदह-चौदह उपवास करना। पन्द्रहवे मास मे निरन्तर पन्द्रह-पन्द्रह उपवास करना और सोलहवें मास मे निरन्तर सोलह-सोलह उपवास करना। इन सभी मे दिन मे उत्कुटुक आसन से बैठकर सूर्य के सम्मुख मुख करके आतापनाभूमि मे आतापना लेना, रात्रि के समय अपावृत (वस्त्ररहित) होकर वीरासन से बैठकर शीत सहन करना।

४५. तए ण से खदए अणगारे गुणरयणसवच्छर तवोकम्म अहासुत्त अहाकप्पं जाव आराहेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, २ समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, २ बहूहिं चउत्थ-छट्ठऽट्ठम-दसम-दुवालसेहिं मासऽद्धमासखमणेहिं विचित्तेहिं तवोकम्मेहि अप्पाण भावेमाणे विहरति।

[४५] तदनन्तर स्कन्दक अनगार ने (उपर्युक्त विधि के अनुसार) गुणरत्नसवत्सर नामक तपश्चरण की सूत्रानुसार, कल्पानुसार यावत आराधना की। इसके पश्चात् जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ वे आए और उन्हे वन्दना-नमस्कार किया। और फिर अनेक उपवास, बेला, तेला, चौला, पचौला, मासखमण (मासिक उपवास), अर्द्धमासखमण इत्यादि विविध प्रकार के तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरण करने लगे।

४६ तए णं से खंदए अणगारे तेणं ओरालेणं, विपुलेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं कल्लाणेणं सिवेणं धण्णेणं मगल्लेण सस्सिरीएणं उदग्गेणं उदत्तेणं उत्तमेणं उदारेणं महाणुभागेण तवोकम्मेणं सुक्के लुक्खे निम्मंसे अट्ठिचम्मावणद्धे किडिकिडियाभूए किसे धमणिसंतए जाते यावि होत्था, जीवंजीवेण गच्छइ, जीवंजीवेणं चिट्ठइ, भासं भासित्ता वि गिलाइ, भासं भासमाणे गिलाति, भास भासिस्सामीति गिलाति; से जहा नाम ए कट्ठसगडिया इ वा पत्तसगडिया इ वा पत्ततिलभडगसगडिया इ वा एरंड-कट्ठसगडिया इ वा इंगालसगडिया इ वा उण्हे दिण्णा सुक्का समाणी ससद्दं गच्छइ, ससद्दं चिट्ठइ, एवामेव खंदए वि अणगारे ससद्दं गच्छइ, ससद्द चिट्ठइ, उवचिते तवेणं, अवचिए मंस-सोणितेणं, हुयासणे विव भासरासिपडिच्छन्ने, तवेणं तेएण तवतेयसिरीए अतीव २ उवसोभेमाणे २ चिट्ठइ।

[४६] इसके पश्चात् वे स्कन्दक अनगार उस (पूर्वोक्त प्रकार के) उदार, विपुल, प्रदत्त (या प्रयत्न), प्रगृहीत, कल्याणरूप शिवरूप, धन्यरूप, मगलरूप, श्रीयुक्त (शोभास्पद), उत्तम, उदग्र

(उत्तरोत्तर वृद्धियुक्त), उदात्त (उज्ज्वल), सुन्दर, उदार और महाप्रभावशाली तप:कर्म से शुष्क हो गए, रूक्ष हो गए, मासरहित हो गए, वह (उनका शरीर) केवल हड्डी और चमड़ी से ढका हुआ रह गया। चलते समय हड्डियाँ खड-खड करने लगी, वे कृश-दुर्बल हो गए, उनकी नाडियाँ सामने दिखाई देने लगी, अब वे केवल जीव (आत्मा) के बल से चलते थे, जीव के बल से खडे रहते थे, तथा वे इतने दुर्बल हो गए थे कि भाषा बोलने के बाद, भाषा बोलते-बोलते भी और भाषा बोलूंगा, इस विचार से भी ग्लानि (थकावट) को प्राप्त होते थे, (उन्हे बोलने मे भी कष्ट होता था) जैसे कोई सूखी लकडियो से भरी हुई गाडी हो, पत्तो से भरी हुई गाडी हो, पत्ते, तिल और अन्य सूखे सामान से भरी हुई गाडी हो, एरण्ड की लकडियो से भरी हुई गाडी हो, या कोयले से भरी हुई गाडी हो, सभी गाडियाँ (गाडियो मे भरी सामग्री) धूप मे अच्छी तरह सुखाई हुई हो और फिर चलाई जाएँ तो खड-खड आवाज करती हुई चलती हैं और आवाज करती हुई खडी रहती हैं, इसी प्रकार जब स्कन्दक अनगार चलते थे, खडे रहते थे, तब खड़-खड आवाज होती थी। यद्यपि वे शरीर से दुर्बल हो गए थे, तथापि वे तप से पुष्ट थे। उनका मास और रक्त क्षीण (अत्यन्त कम) हो गए थे, किन्तु राख के ढेर मे दबी हुई अग्नि की तरह वे तप और तेज से तथा तप-तेज की शोभा से अतीव-अतीव सुशोभित हो रहे थे।

विवेचन—स्कन्दक द्वारा शास्त्राध्ययन, भिक्षुप्रतिमाऽऽराधन और गुणरत्नादि तपश्चरण— प्रस्तुत आठ सूत्रो (३९ से ४६ तक) मे निर्ग्रन्थदीक्षा के बाद स्कन्दक अनगार द्वारा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना किस-किस प्रकार से की गई थी ?, उसका सागोपाग विवरण प्रस्तुत किया गया है। इनसे पूर्व के सूत्रो मे स्कन्दक द्वारा आचरित समिति, गुप्ति, दशविध श्रमणधर्म, सयम, ब्रह्मचर्य, महाव्रत, आदि चारित्रधर्म के पालन का विवरण प्रस्तुत किया जा चुका है। इसलिए इन सूत्रो मे मुख्यतया ज्ञान, दर्शन और तप की आराधना का विवरण दिया गया है। उसका क्रम इस प्रकार है—

१ स्कन्दक ने स्थविरो से सामायिक आदि ग्यारह अगो का अध्ययन किया।

२ तत्पश्चात् भगवान् की आज्ञा से क्रमश मासिक, द्विमासिक, त्रैमासिक, चातुर्मासिक, पंचमासिक, षण्मासिक, सप्तमासिक, फिर प्रथम सप्तरात्रिकी, द्वितीय सप्तरात्रिकी, तृतीय सप्त-रात्रिकी, एक अहोरात्रिकी, एव एकरात्रिकी, यो द्वादश भिक्षुप्रतिमा का अगीकार करके उनकी सम्यक् आराधना की।

३ तत्पश्चात् गुणरत्नसंवत्सर नामक तप का स्वीकार करके यथाविधि सम्यक् आराधना की तथा अन्य विभिन्न तपस्याओ से आत्मा भावित की।

४ इस प्रकार की आभ्यन्तर तपश्चरण पूर्वक बाह्य तपस्या से स्कन्दक अनगार का शरीर अत्यन्त कृश हो गया था, किन्तु आत्मा अत्यन्त तेजस्वी, उज्ज्वल, शुद्ध एव अत्यन्त लघुकर्मा बन गयी।

स्कन्दक का चरित किस वाचना द्वारा अंकित किया गया ?—भगवान् महावीर के शासन मे ९ वाचनाएँ थी। पूर्वकाल मे उन सभी वाचनाओ मे अन्य चरितो के द्वारा वे अर्थ प्रकट किये जाते थे, जो प्रस्तुत वाचना मे स्कन्दक के चरित द्वारा प्रकट किये गए है। जब स्कन्दक का चरित घटित हो गया, तो सुधर्मा स्वामी ने वही अर्थ स्कन्दकचरित द्वारा प्रकट किया हो, ऐसा सम्भव है।

भिक्षुप्रतिमा की आराधना—निर्ग्रन्थ मुनियो के अभिग्रह (प्रतिज्ञा) विशेष को भिक्षुप्रतिमा कहते हैं। ये प्रतिमाएँ बारह होती हैं, जिनकी अवधि का उल्लेख मूल पाठ में किया है। भिक्षुप्रतिमा-धारक मुनि अपने शरीर को संस्कारित करने का तथा शरीर के प्रति ममत्व का त्याग कर देता है। वह अदीनतापूर्वक समभाव से देव, मनुष्य और तिर्यञ्च-सम्बन्धी उपसर्गों को सहता है। जहाँ कोई जानता हो, वहाँ एक रात्रि और कोई न जानता हो, वहाँ दो रात्रि तक रहे, इससे अधिक जितने दिन तक रहे, उतने दिनो के छेद या तप का प्रायश्चित्त ग्रहण करे। प्रतिमाधारी मुनि चार प्रकार की भाषा बोल सकता है—याचनी, पृच्छनी, अनुज्ञापनी (स्थान आदि की आज्ञा लेने हेतु) और पृष्ट-व्याकरणी (प्रश्न का उत्तर देने हेतु)। उपाश्रय के अतिरिक्त मुख्यतया तीन स्थानो मे प्रतिमाधारक निवास करे—(१) अधः आरामगृह (जिसके चारो ओर बाग हो), (२) अधोविकटगृह (जो चारो ओर से खुला हो, किन्तु ऊपर से आच्छादित हो), और (३) वृक्षमूलगृह। तीन प्रकार के सस्तारक ग्रहण कर सकता है—पृथ्वीशिला, काष्ठशिला या उपाश्रय मे पहले से बिछा हुआ तृण या दर्भ का सस्तारक। उसे अधिकतर समय स्वाध्याय या ध्यान मे तल्लीन रहना चाहिए। कोई व्यक्ति आग लगाकर जलाए या वध करे, मारे-पीटे तो प्रतिमाधारी मुनि को आक्रोश या प्रतिप्रहार नही करना चाहिए। समभाव से सहना चाहिए। विहार करते समय मार्ग मे मदोन्मत्त हाथी, घोडा, साड या भैसा अथवा सिंह, व्याघ्र, सूअर आदि हिंस्र पशु सामने आ जाए तो प्रतिमाधारक मुनि भय से एक कदम भी पीछे न हटे, किन्तु मृग आदि कोई प्राणी डरता हो तो चार कदम पीछे हट जाना चाहिए।

प्रतिमाधारी मुनि को शीतकाल मे शीतनिवारणार्थ ठडे स्थान से गर्म स्थान मे तथा ग्रीष्म-काल मे गर्म स्थान से ठडे स्थान मे नही जाना चाहिए, जिस स्थान मे बैठा हो, वही बैठे रहना चाहिए। प्रतिमाधारी साधु को प्राय अज्ञात कुल से और आचाराग एव दशवैकालिक मे बताई हुई विधि के अनुसार एषणीय कल्पनीय निर्दोष भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। छह प्रकार की गोचरी उसके लिए बताई है—१ पेटा, २ अर्धपेटा, गोमूत्रिका, ४ पतगवीथिका, ५ शंखावर्ता और ६. गतप्रत्या-गता। प्रतिमाधारी साधु तीन समय में से किसी एक समय मे भिक्षा ग्रहण कर सकता है—(१) दिन के आदिभाग मे (२) दिन के मध्यभाग मे और (३) दिन के अन्तिम भाग मे। पहली प्रतिमा से सातवी प्रतिमा तक उत्तरोत्तर एक-एक मास की अवधि और एक-एक दत्ति आहार और पानी की क्रमश· बढाता जाए। आठवीं प्रतिमा सात दिनरात्रि की है, इसमे एकान्तर चौविहार उपवास करके गाँव के बाहर जाकर उत्तानासन या पार्श्वासन से लेटना या निषद्यासन से बैठकर ध्यान लगाना चाहिए। उपसर्ग के समय दृढ रहे। मल-मूत्रादि वेगो को न रोके। सप्त अहोरात्रि की नौवी प्रतिमा मे ग्रामादि के बाहर जाकर दण्डासन या उत्कुटुकासन से बैठना चाहिए। शेष विधि पूर्ववत् है। सप्त अहोरात्रि की दसवी प्रतिमा मे ग्रामादि से बाहर जाकर गोदोहासन, वीरासन या अम्बकुब्जासन से ध्यान करे। शेष विधि पूर्ववत्। एक अहोरात्रि की ग्यारहवी प्रतिमा (८ प्रहर की) मे चौविहार बेला करके ग्रामादि के बाहर जाकर दोनो पैरो को कुछ सकुचित करके हाथो को घुटने तक लम्बे करके कायोत्सर्ग करे। शेषविधि पूर्ववत्। एक रात्रि की बारहवीं प्रतिमा मे चौविहार तेला करके ग्रामादि से बाहर जाकर एक पुद्गल पर अनिमेष दृष्टि स्थिर करके पूर्ववत् कायोत्सर्ग करना होता है। यद्यपि यह प्रतिमा जघन्य नौवे पूर्व की तीसरी आचार वस्तु तक के ज्ञान वाला कर सकता है, तथापि स्कन्दक मुनि ने साक्षात् तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा से ये प्रतिमाएँ ग्रहण की थी। पंचाशक मे प्रतिमा

ग्रहण करने से पूर्व उतनी अवधि तक उसके अभ्यास करने तथा सबसे क्षमापना करके नि:शल्य, निष्कषाय होने का उल्लेख है।[1]

गुणरत्न (गुणरचन) संवत्सर तप—जिस तप मे गुणरूप रत्नो वाला सम्पूर्ण वर्ष बिताया जाए वह **गुणरत्न संवत्सर** तप कहलाता है। अथवा जिस तप को करने मे १६ मास तक एक ही प्रकार की निर्जरारूप विशेष गुण की रचना (उत्पत्ति) हो, वह गुणरचन-सवत्सर तप है। इस तप मे १६ महीने लगते हैं। जिनमे से ४०७ दिन तपस्या के और ७३ दिन पारणे के होते हैं। शेष सब विधि मूलपाठ मे है।

उदार, विपुल, प्रदत्त, प्रगृहीत : तपोविशेषणों की व्याख्या—**उदार**—लौकिक आशारहित होने से उदार, **विपुल**—दीर्घकाल तक चलने वाला होने से विपुल, **प्रदत्त**=प्रमाद छोडकर अप्रमत्ततापूर्वक आचरित होने से **प्रदत्त** तथा **प्रगृहीत**—बहुमानपूर्वक आचरित होने से प्रगृहीत कहलाता है।[2] **उत्तम**—उत्तम पुरुषसेवित, या तम-अज्ञान से ऊपर।

स्कन्दक द्वारा संलेखना-भावना, अनशन-ग्रहण, समाधि-मरण

४७. तेणं कालेणं २ रायगिहे नगरे जाव समोसरणं जाव परिसा पडिगया।

[४७] उस काल उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी राजगृह नगर मे पधारे। समवसरण की रचना हुई। यावत् जनता भगवान् का धर्मोपदेश सुनकर वापिस लौट गई।

४८. तए णं तस्स खंदयस्स अणगारस्स अण्णया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए जाव (सु १७) समुप्पज्जित्था--"एव खलु अहं इमेणं एयारूवेणं ओरालेणं जाव (सु. ४६) किसे धमणिसतए जाते जीवजीवेण गच्छामि, जीवजीवेण चिट्ठामि, जाव गिलामि, जाव (सु. ४६) एवामेव अहं पि ससद्दं गच्छामि, ससद्दं चिट्ठामि, तं अत्थि ता मे उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे त जावता मे अत्थि उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे जाव य मे धम्मायरिए धम्मोवदेसए समणे भगव महावीरे जिणे सुहत्थी विहरइ तावता मे सेय कल्ल पाउप्पभायाए रयणीए फुल्लुप्पल-कमलकोमलुम्मिलियम्मि अहपंडरे पभाए रत्तासोयप्पकासकिंसुय-सुयमुह-गुञ्जऽद्धरागसरिसे कमलागरसंडबोहए उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणयरे तेयसा जलंते समण भगव महावीर वंदित्ता नमसित्ता जाव पज्जुवासित्ता, समणेण भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे सयमेव पच महव्वयाणि आरोवेत्ता, समणा य समणीओ य खामेत्ता, तहारूवेहिं थेरेहिं कडाऽऽईहिं सद्धिं विपुल पव्वय सणिय दुरूहित्ता, मेघघणसन्निगासं देवसन्निवातं पुढवीसिलावट्टयं पडिलेहित्ता, दब्भसथारय सथरित्ता, दब्भसंथारोवगयस्सं सलेहणाझूसणाझूसियस्स भत्त-पाणपडियाइक्खियस्स पाओवगयस्स कालं अणवकंखमाणस्स विहरित्तए त्ति कट्टु एव संपेहेइ, २ त्ता कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए जाव जलते जेणेव समणे भगवं महावीरे जाव पज्जुवासति।

---

१ (क) दशाश्रुतस्कन्ध अ. ७ के अनुसार। (ख) हरिभद्रसूरि रचित पचाशक, पचा. १८, गा ५, ७

(ग) विशेषार्थ देखें—आचारदसा ७ (मुनि कन्हैयालालजी कमल)

२. भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १२४-१२५

[४८] तदनन्तर किसी एक दिन रात्रि के पिछले पहर मे धर्म-जागरण करते हुए स्कन्दक अनगार के मन मे इस प्रकार का अध्यवसाय, चिन्तन यावत् सकल्प उत्पन्न हुआ कि मैं इस (पूर्वोक्त) प्रकार के उदार यावत् महाप्रभावशाली तप कर्म द्वारा शुष्क, रूक्ष यावत् कृश हो गया हूं। यावत् मेरा शारीरिक बल क्षीण हो गया, मैं केवल आत्मबल से चलता हूँ और खडा रहता हूँ। यहां तक कि बोलने के बाद, बोलते समय और बोलने से पूर्व भी मुझे ग्लानि– खिन्नता होती है यावत् पूर्वोक्त गाड़ियो की तरह चलते और खडे रहते हुए मेरी हड्डियो से खड-खड आवाज होती है। अत' जब तक मुझ मे उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम है, जब तक मेरे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक, तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर सुहस्ती (गन्धहस्ती) की तरह (या भव्यों के लिए शुभार्थी होकर) विचरण कर रहे हैं, तब तक मेरे लिए श्रेयस्कर है कि इस रात्रि के व्यतीत हो जाने पर कल प्रात काल कोमल उत्पलकमलो को विकसित करने वाले, क्रमश पाण्डुरप्रभा से रक्त अशोक के समान प्रकाशमान, टेसू के फूल, तोते की चोच, गु जा के अर्द्धभाग जैसे लाल, कमलवनो को विकसित करने वाले, सहस्ररश्मि, तथा तेज से जाज्वल्यमान दिनकर सूर्य के उदय होने पर मैं श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार यावत् पर्युपासना करके श्रमण भगवान् महावीर की आज्ञा प्राप्त करके, स्वयमेव पचमहाव्रतो का आरोपण करके, श्रमण-श्रमणियो के साथ क्षमापना करके कृतादि (प्रतिलेखना आदि धर्म क्रियाओ मे कुशल='कृत' या 'कृतयोगी',—आदि पद से धर्मप्रिय, धर्मवृढ, सेवासमर्थ आदि) तथारूप स्थविर साधुओ के साथ विपुलगिरि पर शनै शनै चढकर, मेघसमूह के समान काले, देवों के अवतरणस्थानरूप पृथ्वीशिलापट्ट की प्रतिलेखना करके, उस पर डाभ (दर्भ) का सथारा (सस्तारक) बिछाकर, उस दर्भ सस्तारक पर बैठकर आत्मा को सलेखना तथा झोषणा से युक्त करके, आहार-पानी का सर्वथा त्याग (प्रत्याख्यान) करके पादपोपगमन (वृक्ष की कटी हुई डाली के समान स्थिर रहकर) सथारा करके, मृत्यु की आकाक्षा न करता हुआ विचरण करू ।

इस प्रकार का सम्प्रेक्षण (विचार) किया और रात्रि व्यतीत होने पर प्रात काल यावत् जाज्वल्यमान सूर्य के उदय होने पर स्कन्दक अनगार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की सेवा में आकर उन्हे वन्दना-नमस्कार करके यावत् पर्युपासना करने लगे।

४९. 'खंदया !' इ समणे भगव महावीरे खंदय अणगारं एव वयासी—से नूणं तव खंदया ! पुव्वरत्तावरत्त० जाव (सु ४८) जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव (सु. १७) समुप्पज्जित्था—'एवं खलु अहं इमेण एयारूवेण ओरालेणं विपुलेणं त चेव जाव (सु. ४८) काल अणवकंखमाणस्स विहरित्तए त्ति कट्टु' एवं संपेहेसि, २ कल्लं पाउप्पभायाए जाव जलते जेणेव मम अंतिए तेणेव हव्वमागए। से नूणं खंदया ! अट्ठे समट्ठे ?

हंता, अत्थि।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबधं करेह।

[४९] तत्पश्चात् 'हे स्कन्दक !' यो सम्बोधित करके श्रमण भगवान् महावीर ने स्कन्दक अनगार से इस प्रकार कहा—"हे स्कन्दक ! रात्रि के पिछले पहर मे धर्म जागरणा करते हुए तुम्हे इस प्रकार का अध्यवसाय यावत् सकल्प उत्पन्न हुआ कि इस उदार यावत् महाप्रभावशाली तपश्चरण से मेरा शरीर अब कृश हो गया है, यावत् अब मैं सलेखना—सथारा करके मृत्यु की आकाक्षा न करके

पादपोपगमन अनशन करूँ। ऐसा विचार करके प्रातःकाल सूर्योदय होने पर तुम मेरे पास आए हो। हे स्कन्दक! क्या यह सत्य है?"

(स्कन्दक अनगार ने कहा—) हाँ, भगवन्! यह सत्य है।

(भगवान्—) हे देवानुप्रिय! जैसा तुम्हे सुख हो, वैसा करो, इस धर्मकार्य मे विलम्ब मत करो।

५०. तए णं से खंदए अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे हट्ठतुट्ठ० जाव हयहियए उट्ठाए उट्ठेइ, २ समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ जाव[1] नमंसित्ता सयमेव पंच महव्वयाइं आरुहेइ, २ त्ता समणे य समणीओ य खामेइ, २ त्ता तहारूवेहिं थेरेहिं कडाऽऽईहिं सद्धिं विपुलं पव्वयं सणियं २ दुरूहेइ, २ मेघघणसन्निगासं देवसन्निवायं पुढविसिलावट्टयं पडिलेहेइ, २ उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहेइ, २ दब्भसंथारयं संथरेइ, २ दब्भसंथारयं दुरूहेइ, २ दब्भसंथारोवगते पुरत्थाभिमुहे संपलियंकनिसण्णे करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वदासि—नमोऽत्थु णं अरहंताणं भगवंताणं जाव[2] संपत्ताणं, नमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव संपाविउकामस्स, वंदामि णं भगवंतं तत्थगयं इहगते, पासउ मे भयवं तत्थगए इहगयं ति कट्टु वंदइ नमंसति, २ एवं वदासी—"पुव्विं पि मए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए सव्वे पाणातिवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए जाव[3] मिच्छादंसणसल्ले पच्चक्खाए जावज्जीवाए, इयाणि वि य णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि जावज्जीवाए जाव[3] मिच्छादंसणसल्लं पच्चक्खामि। एवं सव्वं असणं पाणं खाइमं साइमं चउव्विहं पि आहारं पच्चक्खामि जावज्जीवाए। जं पि य इमं सरीरं इट्ठं कंतं पियं जाव[4] फुसंतु त्ति कट्टु एयं पि णं चरिमेहिं उस्सास-नीसासेहिं वोसिरामि" त्ति कट्टु संलेहणाझूसणाझूसिए भत्त-पाणपडियाइक्खिए पाओवगए कालं अणवकंखमाणे विहरति।

[५०] तदनन्तर श्री स्कन्दक अनगार श्रमण भगवान् महावीर की आज्ञा प्राप्त हो जाने पर अत्यन्त हर्षित, सन्तुष्ट यावत् प्रफुल्लहृदय हुए। फिर खडे होकर श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा की और वन्दना-नमस्कार करके स्वयमेव पाच महाव्रतो का आरोपण किया। फिर श्रमण-श्रमणियो से क्षमायाचना की, और तथारूप योग्य कृतादि स्थविरो के साथ शनै शनै विपुलाचल पर चढे। वहाँ मेघ-समूह के समान काले, देवो के उतरने योग्य स्थानरूप एक पृथ्वी-शिलापट्ट की प्रतिलेखना की तथा उच्चार-प्रस्रवणादि परिष्ठापनभूमि की प्रतिलेखना की।

---

१ यहाँ 'जाव' पद '**वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमंसइ**' पाठ का सूचक है।

२. यहाँ जाव 'पद' '**आइगराणं**' से '**संपत्ताणं**' तक के पाठ का सूचक है।

३ यहाँ जाव शब्द '**मुसावाए**' से लेकर **मिच्छादंसणसल्ल**' तक १८ पापस्थानवाचक पदो का सूचक है।

४ 'जाव' पद '**मणुन्ने मणामे थेज्जे वेसासिए सम्मए बहुमए अणुमए भंडकरंडगसमाणे**' इत्यादि द्वितीयान्त पाठ का सूचक है।

ऐसा करके उस पृथ्वीशिलापट्ट पर डाभ का संथारा बिछाकर, पूर्वदिशा की ओर मुख करके, पर्यंकासन से बैठकर, दसों नख सहित दोनो हाथों को मिलाकर मस्तक पर रखकर, (मस्तक के साथ) दोनों हाथ जोडकर इस प्रकार बोले—'अरिहन्त भगवन्तो को, यावत् जो मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं, उन्हे नमस्कार हो। तथा अविचल शाश्वत सिद्ध स्थान को प्राप्त करने की इच्छा वाले श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को नमस्कार हो। (अर्थात् 'नमोत्थु ण' के पाठ का दो बार उच्चारण किया।) तत्पश्चात् कहा—'वहाँ रहे हुए भगवान् महावीर स्वामी को यहाँ रहा हुआ (स्थित) मैं वन्दना करता हूँ। वहाँ विराजमान श्रमण भगवान् महावीर स्वामी यहाँ पर रहे हुए मुझ को देखें।' ऐसा कहकर भगवान् को वन्दना-नमस्कार किया। वन्दना-नमस्कार करके वे इस प्रकार बोले—'मैंने पहले भी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास यावज्जीवन के लिए सर्व प्राणातिपात का त्याग किया था, यावत् मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह ही पापो का त्याग किया था। इस समय भी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के पास यावज्जीवन के लिए सर्व प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शन शल्य तक अठारह ही पापो का त्याग करता हूँ। और यावज्जीवन के लिए अशन, पान, खादिम और स्वादिम, इन चारो प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ। तथा यह मेरा शरीर, जो कि मुझे इष्ट, कान्त, प्रिय है, यावत् जिसकी मैंने बाधा—पीड़ा, रोग, आतक, परीषह और उपसर्ग आदि से रक्षा की है, ऐसे शरीर का भी अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक व्युत्सर्ग (ममत्व-विसर्जन) करता हूँ, यो कहकर सलेखना संथारा करके, भक्त-पान का सर्वथा त्याग करके पादपोपगमन (वृक्ष की कटी हुई शाखा की तरह स्थिर रहकर) अनशन करके मृत्यु की आकाक्षा न करते हुए विचरण करने लगे।

५१. तए णं से खंदए अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतीए सामाइयमाइयाइं एक्कारस्स अंगाइं अहिज्जित्ता बहुपडिपुण्णाइं दुवालसवासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते आणुपुव्वीए कालगए।

[५१] इसके पश्चात् स्कन्दक अनगार, श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के तथारूप स्थविरो के पास ग्यारह अगो का अध्ययन पूरे बारह वर्ष तक श्रमण-पर्याय का पालन करके, एक मास की सलेखना से अपनी आत्मा को सलिखित (सेवित=युक्त) करके साठ भक्त का त्यागरूप अनशन करके, आलोचना और प्रतिक्रमण करके समाधि प्राप्त करके क्रमश कालधर्म (मरण) को प्राप्त हुए।

५२. तए णं ते थेरा भगवंतो खंदयं अणगारं कालगयं जाणित्ता परिनिव्वाणवत्तियं काउस्सग्गं करेंति, २ पत्त-चीवराणि गिण्हंति, २ विपुलाओ पव्वयाओ सणियं २ पच्चोरुहंति, २ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति, २ समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति, २ एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी खंदए नामं अणगारे पगइभद्दए पगतिविणीए पगतिउवसंते पगति-पयणुकोह-माण-माया-लोभे मिउ-मद्दवसंपन्ने अल्लीणे भद्दए विणीए। से णं देवाणुप्पीएहिं अब्भणुण्णाए समाणे सयमेव पंच महव्वयाणि आरोवित्ता समणे य समणीओ य खामेत्ता, अम्हेहिं सद्धिं विपुलं पव्वयं तं चेव निरवसेसं जाव (सु ५०) अहाणुपुव्वीए कालगए। इमे य से आयारभंडए।

[५२] तत्पश्चात् उन स्थविर भगवन्तो ने स्कन्दक अनगार को कालधर्म प्राप्त हुआ जानकर

उनके परिनिर्वाण (समाधिमरण) सम्बन्धी कायोत्सर्ग किया। फिर उनके पात्र, वस्त्र (चीवर) आदि उपकरणो को लेकर वे विपुलगिरि से शनै. शनैः नीचे उतरे। उतरकर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ आए। भगवान् को वन्दना-नमस्कार करके उन स्थविर मुनियों ने इस प्रकार कहा—हे भगवन् ! आप देवानुप्रिय के शिष्य स्कन्दक अनगार, जो कि प्रकृति से भद्र, प्रकृति के विनीत, स्वभाव से उपशान्त, अल्पक्रोध-मान-माया-लोभ वाले, कोमलता और नम्रता से युक्त, इन्द्रियो को वश मे करने वाले, भद्र और विनीत थे, वे आपकी आज्ञा लेकर स्वयमेव पचमहाव्रतो का आरोपण करके, साधुसाध्वियो से क्षमापना करके, हमारे साथ विपुलगिरि पर गये थे, यावत् के पादपोपगमन सथारा करके कालधर्म को प्राप्त हो गए है। ये उनके धर्मोपकरण हैं।

विवेचन—स्कन्दकमुनि द्वारा संल्लेखनाभावना, अनशन ग्रहण और समाधिमरण—प्रस्तुत पाच सूत्रो (४७ से ५१ तक) मे स्कन्दकमुनि द्वारा सल्लेखनापूर्वक भक्तप्रत्याख्यान अनशन की भावना से लेकर उनके समाधिमरण तक का वर्णन किया गया है। सल्लेखना-सथारा (अनशन) से पूर्वापर सम्बन्धित विषयक्रम इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—(१) धर्मजागरणा करते हुए स्कन्दकमुनि के मन मे सल्लेखनापूर्वक पादपोपगमन सथारा करने की भावना, (२) भगवान् से सल्लेखना-सथारा करने की अनुज्ञा प्राप्त की, (३) समस्त साधु-साध्वियो से क्षमायाचना करके योग्य स्थविरो के साथ विपुलाचल पर आरोहण, एक पृथ्वीशिलापट्ट पर दर्भसस्तारक, विधिपूर्वक यावज्जीव सलेखनापूर्वक अनशन ग्रहण किया (४) एक मास तक सल्लेखना-सथारा की आराधना करके समाधिपूर्वक मरण को प्राप्त हुए। (५) तत्पश्चात् उनके साथी स्थविरो ने उनके अवशिष्ट धर्मोपकरण ले जाकर भगवान् को स्कन्दक अनगार की समाधिमरण प्राप्ति की सूचना दी।

कुछ विशिष्ट शब्दों के अर्थ—फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मिलियम्मि=कोमल उत्पलकमलो के विकसित हो जाने पर। **अहापंडुरे पभाए**=निर्मल प्रभात हो जाने पर। **पाउप्पभायाए**=प्रात.काल। **कडाइ**=कृत योगी आदि प्रतिलेखनादि या आलोचन—प्रतिक्रमणादि योगो (क्रियाओ) मे जो कृत=कुशल हैं, वे कृतयोगी आदि शब्द से प्रियधर्मी या दृढधर्मी। **सपलि अकनिसन्ने**=पद्मासन (पर्यंकासन) से बैठे हुए। **सलेहणाझूसणाझूसियस्स**—जिसमे कषायो तथा शरीर को कृश किया जाता है, वह है सल्लेखना तप, उसको जोषणा—सेवना से जुष्ट—सेवित अथवा जिसने सल्लेखना तप की सेवा से कर्म क्षपित (झूषित) कर दिये हैं। **सट्ठिभत्ताइं अणसणाए छेइत्ता**=अनशन से साठ भक्त (साठ बार—टक भोजन) छोडकर। **परिणिव्वाणवत्तियं**=परिनिर्वाण=मरण अथवा मृतशरीर का परिष्ठापन। वही जिसमें निमित्त है—वह परिनिर्वाणप्रत्ययिक।[1]

स्कन्दक की गति और मुक्ति के विषय में भगवत्-कथन

५३ 'भंते !' त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, २ एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी खंदए नामं अणगारे कालमासे कालं किच्चा कहिं गए, कहिं उववण्णे ?

---

१ भगवती. अ वृत्ति, पत्रांक १२६ से १२९ तक

'गोयमा !' इ समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी—एवं खलु गोयमा ! ममं अंतेवासी खंदए नामं अणगारे पगतिभद्दए जाव से णं मए अब्भणुण्णाए समाणे सयमेव पंच महव्वयाइं आरोवित्ता तं चेव सव्वं अविसेसियं नेयव्वं जाव (सु ५०-५१) आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववण्णे। तत्थ णं एगइयाणं देवाणं बावीसं सागरोवमाइं ठिती प०। तत्थ णं खंदयस्स वि देवस्स बावीसं सागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता।

[५३] इसके पश्चात् भगवान् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार पूछा—'भगवन् ! आपके शिष्य स्कन्दक अनगार काल के अवसर पर कालधर्म को प्राप्त करके कहाँ गए और कहाँ उत्पन्न हुए ?'

[उ०] गौतम आदि को सम्बोधित करके श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने फरमाया—'हे गौतम ! मेरा शिष्य स्कन्दक अनगार, प्रकृतिभद्र यावत् विनीत मेरी आज्ञा प्राप्त करके, स्वयमेव पचमहाव्रतो का आरोपण करके, यावत् सल्लेखना-सथारा करके समाधि को प्राप्त होकर काल के अवसर पर काल करके अच्युतकल्प (देवलोक) मे देवरूप मे उत्पन्न हुआ है। वहाँ कतिपय देवो की स्थिति बाईस सागरोपम की है। तदनुसार स्कन्दक देव की स्थिति भी बाईस सागरोपम की है।

५४. से णं भंते ! खंदए देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठितीखएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गच्छिहिति ? कहिं उववज्जिहिति ?

गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति बुज्झिहिति मुच्चिहिति परिनिव्वाहिति सव्वदुक्खाणमंतं करेहिति। खंदओ समत्तो॥

॥ बितीय सए पढमो उद्देसो समत्तो॥

[५४] तत्पश्चात् श्री गौतमस्वामी ने पूछा—'भगवन् ! स्कन्दकदेव वहाँ की आयु का क्षय, भव का क्षय और स्थिति का क्षय करके उस देवलोक से कहाँ जाएँगे और कहाँ उत्पन्न होगे ?'

[उ०] गौतम ! स्कन्दक देव वहाँ की आयु, भव और स्थिति का क्षय होने पर महाविदेह-वर्ष (क्षेत्र) मे जन्म लेकर सिद्ध होगे, बुद्ध होगे, मुक्त होगे, परिनिर्वाण को प्राप्त करेगे और सभी दु खो का अन्त करेगे।

श्री स्कन्दक का जीवनवृत्त पूर्ण हुआ।

विवेचन—स्कन्दक की गति और मुक्ति के विषय में भगवत्कथन—प्रस्तुत सूत्रद्वय (५३-५४ सू) मे समाधिमरण प्राप्त स्कन्दकमुनि की भावी गति के सम्बन्ध मे श्री गौतमस्वामी द्वारा पूछे गए प्रश्नो का भगवान् द्वारा प्रदत्त उत्तर अकित है। भगवान् ने समाधिमरण प्राप्त स्कन्दक मुनि की गति (उत्पत्ति) अच्युतकल्प देवलोक मे बताई है तथा वहाँ से महाविदेहक्षेत्र मे जन्म लेकर सिद्धि मुक्ति गति बताई है।

कहिं गए ? कहिं उववण्णे ? = कहां—किस गति में गए ? कहाँ—किस देवलोक मे उत्पन्न हुए ? **चयं चइत्ता** = चय = शरीर को छोडकर ।

'आउक्खएणं, भवक्खएण ठिइक्खएणं' को व्याख्या—**आउक्खएण** = आयुष्यकर्म के दलिको की निर्जरा होने से, **भवक्खएणं** = देव भव के कारणभूत गत्यादि (नाम) कर्मो को निर्जरा होने से, **ठिइक्खएणं** = आयुष्यकर्म भोग लेने से स्थिति का क्षय होने के कारण ।[1]

।। द्वितीय शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त ।।

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति

बिइओ उद्देसो : समुग्घाया

द्वितीय उद्देशक : समुद्घात

समुद्घात : प्रकार तथा तत्सम्बन्धी विश्लेषण

१—कति णं भंते ! समुग्घाया पण्णत्ता ?

गोयमा ! सत्त समुग्घाया पण्णत्ता, त जहा—छाउमत्थियसमुग्घायावज्जं समुग्घायपदं णेयव्वं।

[तं०—वेदणासमुग्घाए०। एवं समुग्घायपदं छाउमत्थियसमुग्घातवज्जं भाणियव्वं जाव वेमाणियाण कसायसमुग्घाया अप्पाबहुयं।

अणगारस्स णं भंते ! भावियप्पणो केवलीसमुग्घाय जाव सासयमणागयद्धं चिट्ठंति।[1]]

।। बितीय सए बितीयो उद्देसो समत्तो ।।

[१ प्र.] भगवन् ! कितने समुद्घात कहे गए हैं ?

[१ उ.] गौतम ! समुद्घात सात कहे गए है। वे इस प्रकार है—(१) वेदना-समुद्घात, (२) कषाय-समुद्घात, (३) मारणान्तिक-समुद्घात, (४) वैक्रियसमुद्घात, (५) तैजस-समुद्घात, (६) आहारक-समुद्घात और (७) केवलि-समुद्घात। यहाँ प्रज्ञापनासूत्र का छत्तीसवाँ समुद्घात-पद कहना चाहिए, किन्तु उसके प्रतिपादित छद्मस्थ समुद्घात का वर्णन यहाँ नही कहना चाहिए। और इस प्रकार यावत् वैमानिक तक जानना चाहिए, तथा कषाय-समुद्घात और अल्पबहुत्व कहना चाहिए।

[प्र.] हे भगवन् ! भावितात्मा अनगार के क्या केवली-समुद्घात यावत् समग्र भविष्यकाल-पर्यन्त शाश्वत रहता है ?

[उ.] हे गौतम ! यहाँ भी उपर्युक्त कथनानुसार समुद्घातपद जान लेना चाहिए। (अर्थात्- यहाँ प्रज्ञापनासूत्र के छत्तीसवे समुद्घातपद के सू २१६८ से सू २१७६ तक मे उल्लिखित **सासयमणागयद्धं कालं चिट्ठंति** तक का सारा पाठ (वर्णन) समझ लेना चाहिए।[2]

विवेचन—समुद्घात : प्रकार तथा तत्सम्बन्धी विश्लेषण—प्रस्तुत उद्देशक मे एक ही सूत्र मे समुद्घात के प्रकार, उसके अधिकारी, तथा उसके कारणभूत कर्म एव परिणाम का निरूपण है, किन्तु वह सब प्रज्ञापना सूत्र के ३६वें पद के अनुसार जानने का यहाँ निर्देश किया गया है।

---

१ यह पाठ बहुत-सी प्रतियो में है। प० बेचरदासजी सम्पादित भगवती टीकानुवाद में भी यह पाठ है।

२ पण्णवणासुत्त (मूलपाठ) भा १, पृ. २३७

समुद्घात—वेदना आदि के साथ एकाकार (लीन या समिश्रित) हुए आत्मा कालान्तर मे उदय मे आने वाले (आत्मा से सम्बद्ध) वेदनीय आदि कर्मों को उदीरणा के द्वारा उदय में लाकर प्रबलतापूर्वक घात करना—उनकी निर्जरा करना समुद्घात कहलाता है।

आत्मा समुद्घात क्यों करता है ?—जैसे किसी पक्षी की पाँखो पर बहुत धूल चढ गई हो, तब वह पक्षी अपनी पाँखे फैला (फडफडा) कर उस पर चढी हुई धूल झाड देता है, इसी प्रकार यह आत्मा, बद्ध कर्म के अणुओ को झाड़ने के लिए समुद्घात नाम की क्रिया करता है। आत्मा असख्य-प्रदेशी होकर भी नामकर्म के उदय से प्राप्त शरीर-परिमित होता है। आत्मीय प्रदेशो मे सकोच-विकासशक्ति होने से जीव के शरीर के अनुसार वे व्याप्त होकर रहते है। आत्मा अपनी विकास शक्ति के प्रभाव से सम्पूर्ण लोकाकाश मे व्याप्त हो सकता है। कितनी ही बार कुछ कारणो से आत्मा अपने प्रदेशो को शरीर से बाहर भी फैलाता है और वापिस सिकोड (समेट) लेता है। इसी क्रिया को जैन-परिभाषा मे समुद्घात कहते हैं। ये समुद्घात सात हैं।

१. वेदनासमुद्घात—वेदना को लेकर होने वाले समुद्घात को वेदनासमुद्घात कहते हैं, यह असातावेदनीय कर्मों को लेकर होता है। तात्पर्य यह है कि वेदना से जब जीव पीडित हो, तब वह अनन्तानन्त (असातावेदनीय) कर्मस्कन्धो से व्याप्त अपने आत्मप्रदेशो को शरीर से बाहर के भाग मे भी फैलाता है। वे प्रदेश मुख, उदर आदि के छिद्रो मे, तथा कर्मस्कन्धादि के अन्तरालो मे भरे रहते है। तथा लम्बाई-चौडाई (विस्तार) मे शरीरपरिमित क्षेत्र मे व्याप्त होते है। जीव एक अन्तर्मुहूर्त्त तक इस अवस्था मे ठहरता है। उस अन्तर्मुहूर्त्त मे वह असातावेदनीय कर्म के प्रचुर पुद्गलो को (उदीरणा से खीचकर उदयावलिका मे प्रविष्ट करके वेदता है, इस प्रकार) अपने पर से झाड देता (निर्जरा कर लेता) है। इसी क्रिया का नाम वेदनासमुद्घात है।

२ **कषायसमुद्घात**—क्रोधादि कषाय के कारण मोहनीयकर्म के आश्रित होने वाले समुद्घात को कषायसमुद्घात कहते हैं। अर्थात् तीव्र कषाय के उदय से ग्रस्त जीव जब क्रोधादियुक्त दशा मे होता है, तब अपने आत्मप्रदेशो को बाहर फैलाकर तथा उनसे मुख, पेट आदि के छिद्रो मे एव कान तथा कर्मस्कन्धादि के अन्तरालो मे भर कर शरीर परिमित लम्बे व विस्तृत क्षेत्र मे व्याप्त होकर जीव अन्तर्मुहूर्त तक रहता है, उतने समय मे प्रचुर कषाय-पुद्गलो को अपने पर से झाड देता है—निर्जरा कर लेता है। वही क्रिया कषायसमुद्घात है।

३ **मारणान्तिक-समुद्घात**—मरणकाल मे अन्तर्मुहूर्त अवशिष्ट आयुकर्म के आश्रित होने वाले समुद्घात को मारणान्तिक समुद्घात कहते है। आयुष्य (कर्म) भोगते-भोगते जब अन्तर्मुहूर्त्त भर आयुष्य शेष रहता है, तब अपने आत्मप्रदेशो को बाहर निकालता है। वे प्रदेश मुख और उदर के छिद्रो तथा कर्मस्कन्धादि के अन्तराल में भर कर विष्कम्भ (घेरा) और मोटाई मे शरीर की अपेक्षा कम से कम अंगुल के असंख्यात भाग जितनी मोटी और अधिक से अधिक असख्य योजन मोटी जगह मे व्याप्त होकर जीव अन्तर्मुहूर्त्त तक रहता है, उतने समय में आयुष्यकर्म के प्रभूत पुद्गलो को अपने पर से झाड कर आयुकर्म की निर्जरा कर लेता है, इसी क्रिया को मारणान्तिक-समुद्घात कहते हैं।

४ **वैक्रिय-समुद्घात**—विक्रियाशक्ति का प्रयोग प्रारम्भ करने पर वैक्रियशरीरनामकर्म के आश्रित होने वाला समुद्घात। वैक्रिय लब्धि वाला जीव अपने जीर्ण प्राय शरीर को पुष्ट एव

सुन्दर बनाने की इच्छा से अपने आत्मप्रदेशो को बाहर एक दण्ड के आकार मे निकालता है । उस दण्ड की चौडाई और मोटाई तो अपने शरीर जितनी ही होने देता है, किन्तु लम्बाई सख्येय योजन करके वह अन्तर्मुहूर्त तक टिकता है और उतने समय मे पूर्वबद्ध वैक्रियशरीर नामकर्म के स्थूल पुद्गलो को अपने पर से झाड देता है और अन्य नये तथा सूक्ष्म पुद्गलो को ग्रहण करता है । यही वैक्रिय-समुद्घात है ।

५ **तैजस्समुद्घात**—तपस्वियो को प्राप्त होने वाली तेजोलेश्या (नाम की विभूति) का जब विनिर्गम होता है, तब 'तैजस-समुद्घात' होता है, जिसके प्रभाव से तैजस् शरीर नामकर्म के पुद्गल आत्मा से अलग होकर बिखर जाते हैं । अर्थात्—तेजोलेश्या की लब्धि वाला जीव ७-८ कदम पीछे हटकर घेरे और मोटाई मे शरीरपरिमित और लम्बाई मे सख्येय योजन परिमित जीवप्रदेशो के दण्ड को शरीर से बाहर निकालकर क्रोध के वशीभूत होकर जीवादि को जलाता है और प्रभूत तैजस् शरीर नामकर्म के पुद्गलो की निर्जरा करता है ।

६ **आहारक-समुद्घात**—चतुर्दशपूर्वधर साधु का आहारक शरीर होता है । आहारक लब्धिधारी साधु आहारक शरीर की इच्छा करके विष्कम्भ और मोटाई मे शरीरपरिमित और लम्बाई मे सख्येय योजन परिमित अपने आत्मप्रदेशो के दण्ड को शरीर से बाहर निकाल कर पूर्वबद्ध एव अपने पर रहे हुए आहारक-शरीर नामकर्म के पुद्गलो को झाड़ देता (निर्जरा कर लेता) है ।

७ **केवलिसमुद्घात**—अन्तर्मुहूर्त मे मोक्ष प्राप्त करने वाले केवली भगवान् के समुद्घात को केवलिसमुद्घात कहते है । वह वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म को विषय करता है । अन्तर्मुहूर्त मे मोक्ष प्राप्त करने वाले केवलज्ञानी अपने अघाती कर्मों को सम करने के लिए, यानी वेदनीय, नाम, गोत्र, इन तीन कर्मों की स्थिति को आयुकर्म के बराबर करने के लिए यह समुद्घात करते हैं, जिसमे केवल ८ समय लगते है ।[1]

स्पष्टता के लिए पृष्ठ २०२ की टिप्पणी देखिए—

१ (क) भगवतीसूत्र—टीकानुवाद (प बेचरदास) भा. १, पृ. २६२ से २६४
(ख) प्रज्ञापना, टीका मलयगिरि. पृ ७९३-९४

समुद्घातयंत्र

क्रम	नाम	किसको होते हैं ?	कितना समय	किस कर्म के कारण से	परिणाम
१	वेदनासमुद्घात	सर्वछद्मस्थ जीवो को	अन्तर्मुहूर्त	असातावेदनीय कर्म से	असातावेदनीय कर्मपुद्गलों का नाश
२	कषायसमुद्घात	"	"	कषाय नामक चारित्र-मोहनीय कर्म के कारण	कषायमोहकर्म के पुद्गलो का नाश
३	मारणान्तिक समुद्घात	"	"	आयुष्यकर्म के कारण	आयुष्यकर्म के पुद्गलो का नाश
४	वैक्रियसमुद्घात	नारको, चारो प्रकार के देवो, तिर्यंचपचेन्द्रियो एव छद्मस्थ मनुष्यों को	"	वैक्रिय शरीर नामकर्म के कारण से	वैक्रिय शरीर नामकर्म के पुराने पुद्गलो का नाश और नये पुद्गलो का ग्रहण
५.	तैजस्समुद्घात	व्यन्तर ज्योतिष्क देवो, नारको पंचेन्द्रियतिर्यंचो एवं छद्मस्थ मनुष्यो को	"	तैजस् शरीर नामकर्म के कारण से	तैजस् शरीर नामकर्म के पुद्गलो का नाश
६.	आहारकसमुद्घात	चतुर्दशपूर्वधर मनुष्यो को	"	आहारक शरीर नाम-कर्म के कारण से	आहारक शरीर नामकर्म के पुद्गलो का नाश
७.	केवलिसमुद्घात	केवलज्ञानी मनुष्यो को	आठ समय	आयुष्य के अतिरिक्त तीन अघातीकर्मों के कारण	आयुष्य के सिवाय तीन अघाती कर्म के पुद्गलो का नाश।

॥ द्वितीय शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तइओ उद्देसो : पुढवी

तृतीय उद्देशक : पृथ्वी

सप्त नरकपृथ्वियाँ तथा उनसे सम्बन्धित वर्णन

१—कति णं भंते ! पुढवीओ पण्णत्ताओ ?

जीवाभिगमे नेरइयाणं जो बितिओ उद्देसो सो नेयव्वो।

पुढवि ओगाहित्ता निरया संठाणमेव बाहल्लं। जाव किं सव्वे पाणा उववन्नपुव्वा ?

हंता, गोयमा ! असइं अदुवा अणंतखुत्तो।

॥ बितीय सए तइओ उद्देसो समत्तो ॥

[१ प्र] भगवन् ! पृथ्वियाँ कितनी कही गई हैं ?

[१ उ] गौतम ! जीवाभिगमसूत्र मे नैरयिको का दूसरा उद्देशक कहा है, उसमे पृथ्वी-सम्बन्धी (नरकभूमि से सम्बन्धित) जो वर्णन है, वह सब यहाँ जान लेना चाहिए। वहाँ (पृथ्वियो के भेद के उपरान्त) उनके सस्थान, मोटाई आदि का तथा यावत्—अन्य जो भी वर्णन है, वह सब यहाँ कहना चाहिए।

[प्र] भगवन् ! क्या सब जीव उत्पन्नपूर्व है ? अर्थात्—सभी जीव पहले रत्नप्रभा आदि पृथ्वियो मे उत्पन्न हुए है ?

[उ] हाँ, गौतम ! सभी जीव रत्नप्रभा आदि नरकपृथ्वियो मे अनेक बार अथवा अनन्त बार पहले उत्पन्न हो चुके है। यावत्—यहाँ जीवाभिगमसूत्र का पृथ्वी-उद्देशक कहना चाहिए।[1]

विवेचन—सप्त नरक पृथ्वियाँ तथा उनसे सम्बन्धित वर्णन—प्रस्तुत उद्देशक मे एक सूत्र के द्वारा जीवाभिगम सूत्रोक्त नरकपृथ्वियोसम्बन्धी समस्त वर्णन का निर्देश कर दिया गया है।

संग्रहगाथा—जीवाभिगमसूत्र के द्वितीय उद्देशक मे पृथ्वियो के वर्णनसम्बन्धी सग्रहगाथा इस प्रकार दी गई है—

'पुढवी ओगाहित्ता निरया, सठाणमेव बाहल्लं।[2]
विक्खंभ-परिक्खेवो, वण्णो गंधो य फासो य ॥'

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १३०

२. यह आधी गाथा मूल पाठ में भी है

अर्थात्—(१) **पृथ्वियाँ** सात है, रत्नप्रभा आदि. (२) **कितनी दूर जाने पर नरकावास हैं।** रत्नप्रभा पृथ्वी की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन है, उसमें से एक हजार योजन ऊपर और नीचे छोडकर बीच के १,७८,००० योजन में ३० लाख नरकावास हैं। शर्कराप्रभा की मोटाई १,३२,००० योजन, बालुकाप्रभा की १,२८,००० योजन, पकप्रभा की १,२०,००० योजन, धूमप्रभा की १,१८,००० योजन, तम:प्रभा की १,१६,००० योजन, तमस्तम:प्रभा की १,०८,००० योजन है। (३) **संस्थान**—आवलिका प्रविष्ट नारको का संस्थान गोल, त्रिकोण और चतुष्कोण होता है। शेष नारको का नाना प्रकार का। (४) **बाहल्य** (मोटाई)—प्रत्येक नरकावास की ३ हजार योजन है। (५) **विष्कम्भ परिक्षेप**—(लम्बाई-चौडाई और परिधि) कुछ नरकावास सख्येय (योजन) विस्तृत है, कुछ असख्येय योजन विस्तृत हैं। (६) **वर्ण**—नारको का वर्ण भयकर काला, उत्कट रोमाचयुक्त (७) **गन्ध**—सर्पादि के मृत कलेवर से भी कई गुनी बुरी गन्ध। (८) **स्पर्श**—क्षुरधारा, खड्गधारा आदि से भी कई गुना तीक्ष्ण।

॥ द्वितीय शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

चउत्थो उद्देसो : इंदिय

चतुर्थ उद्देशक : इन्द्रिय

इन्द्रियाँ और उनके संस्थानादि से सम्बन्धित वर्णन

१—कति णं भंते ! इंदिया पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंच इंदिया पण्णत्ता, तं जहा—पढमिल्लो इंदियउद्देसओ नेयव्वो, संठाणं बाहल्लं पोहत्तं जाव अलोगो।

॥ बितीय सए चउत्थो उद्देसो समत्तो ॥

[१ प्र] भगवन् ! इन्द्रियाँ कितनी कही गई है ?

[१ उ] गौतम ! पांच इन्द्रियाँ कही गई हैं। वे इस प्रकार हैं—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय। यहाँ प्रज्ञापनासूत्र के पन्द्रहवें, इन्द्रियपद का प्रथम उद्देशक कहना चाहिए। उसमे कहे अनुसार इन्द्रियो का सस्थान, बाहल्य (मोटाई), चौड़ाई, यावत् अलोक (द्वार) तक के विवेचन-पर्यन्त समग्र इन्द्रिय-उद्देशक कहना चाहिए।

विवेचन—इन्द्रियाँ और उनके संस्थानादि से सम्बन्धित वर्णन—प्रस्तुत उद्देशक मे एक सूत्र मे इन्द्रियो से सम्बन्धित समग्र वर्णन के लिए प्रज्ञापनासूत्र के पन्द्रहवे इन्द्रिय-पद के प्रथम उद्देशक का निर्देश किया गया है।

इन्द्रियसम्बन्धी द्वारगाथा—प्रज्ञापनासूत्र के पन्द्रहवे इन्द्रियपद के प्रथम उद्देशक मे वर्णित ग्यारह इन्द्रियसम्बन्धित द्वारो की गाथा इस प्रकार है—

'संठाणं बाहल्लं पोहत्तं कइ-पएस ओगाढे।
अप्पाबहु पुट्ठ-पविट्ठ-विसय-अणगार-आहारे' ॥२०२॥
अद्दाय असी य मणी उडुपाणे तेल्ल फाणिय वसाय।
कंबल थूणा थिग्गल दीवोदहि लोगऽलोगे ॥२०३॥

अर्थात्—(१) **संस्थान** (आकारविशेष)—श्रोत्रेन्द्रिय का सस्थान कदम्बपुष्प के आकार का है, चक्षुरिन्द्रिय का मसूर की दाल या चन्द्रमा के आकार का है, घ्राणेन्द्रिय का सस्थान अतिमुक्तक पुष्पवत् है; रसनेन्द्रिय का सस्थान क्षुरप्र (उस्तरे) के आकार का है और स्पर्शेन्द्रिय का सस्थान नाना प्रकार का है। (२) **बाहल्य** (मोटाई)—पाँचो इन्द्रियो की मोटाई अगुल के असख्यातवे भाग है। (३) **विस्तार—लम्बाई**—आदि की तीन इन्द्रियो की लम्बाई अगुल के असख्यातवे भाग है। रसनेन्द्रिय की अगुल-पृथक्त्व (दो से नौ अंगुल तक) तथा स्पर्शेन्द्रिय की लम्बाई अपने-अपने शरीर-प्रमाण है।

(४) **कतिप्रदेश**—प्रत्येक इन्द्रिय अनन्त प्रदेशी है। (५) **अवगाढ**—प्रत्येक इन्द्रिय असंख्यात प्रदेशों में अवगाढ़ है। (६) **अल्पबहुत्व**—सबसे कम अवगाहना चक्षुरिन्द्रिय की, उससे संख्यातगुणी अवगाहना क्रमशः श्रोत्रेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय की है और उससे असंख्यातगुणी अवगाहना रसनेन्द्रिय की और उससे भी संख्यातगुणी स्पर्शेन्द्रिय की अवगाहना है। इसी प्रकार का अल्पबहुत्व प्रदेशो के विषय में समझना चाहिए। (७-८) **स्पृष्ट और प्रविष्ट**—चक्षुरिन्द्रिय को छोड़कर शेष चार इन्द्रियाँ स्पृष्ट और प्रविष्ट विषय को ग्रहण करती हैं। अर्थात्—चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी हैं, शेष चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं। (९) **विषय**—श्रोत्रेन्द्रिय के ५, चक्षुरिन्द्रिय के ५, घ्राणेन्द्रिय के २, रसनेन्द्रिय के ५ और स्पर्शेन्द्रिय के ८ विषय हैं। पाचों इन्द्रियो का विषय जघन्य अगुल का असंख्यातवाँ भाग है, उत्कृष्ट श्रोत्रेन्द्रिय का १२ योजन, चक्षुरिन्द्रिय का साधिक १ लाख योजन, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय का ९-९ योजन है। इतनी दूर से ये स्वविषय को ग्रहण कर लेती हैं। इसके पश्चात्—(१०) अनगारद्वार, (११) आहारद्वार, (१२) आदर्शद्वार, (१३) असिद्वार, (१४) मणिद्वार, (१५) उदपान (दुग्धपान) द्वार, (१६) तैलद्वार, (१७) फाणितद्वार, (१८) वसाद्वार, (१९) कम्बलद्वार, (२०) स्थूणाद्वार, (२१) थिग्गलद्वार, (२२) द्वीपोदधिद्वार, (२३) लोकद्वार और (२४) अलोकद्वार। यो अलोकद्वार पर्यन्त चौबीस द्वारो के माध्यम से इन्द्रियसम्बन्धी प्ररूपणा की गई है।

इस सम्बन्ध मे विशेष विवेचन प्रज्ञापनासूत्र के पन्द्रहवें इन्द्रियपद के प्रथम-उद्देशक से जान लेना चाहिए।[1]

॥ द्वितीय शतक : चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १३१ (ख) प्रज्ञापनासूत्र मलय वृत्ति, पत्रांक २९५ से ३०८ तक

पंचमो उद्देसो : नियंठ

पंचम उद्देशक : निर्ग्रन्थ

निर्ग्रन्थदेव-परिचारणासम्बन्धी परमतनिराकरण-स्वमतप्ररूपण

१. अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति भासंति पण्णवेंति परूवेंति—एवं खलु नियंठे कालगते समाणे देवब्भूएणं अप्पाणेणं से णं तत्थ णो अन्ने देवे, नो अन्नेसिं देवाणं देवीओ अहिजुंजिय २ परियारेइ १, णो अप्पणच्चियाओ देवीओ अभिजुंजिय २ परियारेइ २, अप्पणामेव अप्पाणं विउव्विय २ परियारेइ ३; एगे वि य णं जीवे एगेणं समएणं दो वेदे वेदेइ, तं जहा—इत्थिवेदं च पुरिसवेदं च। एवं परउत्थियवत्तव्वया नेयव्वा जाव[1] इत्थिवेदं च पुरिसवेदं च। से कहमेयं भंते ! एव ?

गोयमा ! जं णं ते अन्नउत्थिया एवमाइक्खंति जाव इत्थिवेदं च पुरिसवेदं च। जे ते एवमाहंसु मिच्छं ते एवमाहंसु, अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि भा० प० परू०—एवं खलु निअंठे कालगए समाणे अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति महिड्ढिएसु जाव[2] महाणुभागेसु दूरगतीसु चिरट्ठितीएसु। से णं तत्थ देवे भवति महिड्ढीए जाव[3] दस दिसाओ उज्जोवेमाणे पभासेमाणे जाव पडिरूवे। से णं तत्थ अन्ने देवे, अन्नेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय २ परियारेइ १, अप्पणच्चियाओ देवीओ अभिजुंजिय २ परियारेइ २, नो अप्पणामेव अप्पाणं विउव्विय २ परियारेइ ३; एगे वि य णं जीवे एगेणं समएणं एगं वेदं वेदेइ, तं जहा—इत्थिवेदं वा पुरिसवेदं वा, जं समयं इत्थिवेदं वेदेइ णो तं समयं पुरिसवेयं वेएइ, जं समयं पुरिसवेयं वेएइ णो तं समयं इत्थिवेयं वेदेइ, इत्थिवेयस्स उदएणं नो पुरिसवेदं वेएइ, पुरिसवेयस्स उदएणं नो इत्थिवेयं वेएइ। एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं वेदं वेदेइ, तं जहा—इत्थिवेयं वा पुरिसवेयं वा। इत्थी इत्थिवेएणं उदिण्णेणं पुरिसं पत्थेइ, पुरिसो पुरिसवेएणं उदिण्णेणं इत्थिं पत्थेइ। दो वि ते अन्नमन्नं पत्थेंति, तं जहा—इत्थी वा पुरिसं, पुरिसे वा इत्थिं।

---

१. 'जाव' पद निम्नोक्त पाठ का सूचक है—"जं समयं इत्थिवेयं वेएइ, तं समयं पुरिसवेयं वेएइ, जं समयं पुरिसवेयं वेएइ, तं समयं इत्थिवेयं वेएइ, इत्थिवेयस्स वेयणाए पुरिसवेयं वेएइ, पुरिसवेयस्स वेएणाए इत्थीवेयं ......।'

२. 'जाव' पद से महज्जुइएसु महाबलेसु महासोक्खेसु इत्यादि पाठ समझना चाहिए।

३. 'जाव' पद यहाँ निम्नोक्त पाठ का सूचक है—'महज्जुइए महाबले महायसे महासोक्खे महाणुभागे हारविराइयवच्छे (अथवा वत्थे) कडयतुडियथंभियभुए अंगयकुंडलमट्ठगंडकण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणे विचित्तमालामउलिमउडे' इत्यादि यावत् रिद्धीए जुईए पभाए छायाए अच्चीए तेएणं लेसाए ।

[१ प्र.] भगवन् ! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं, भाषण करते हैं, बताते हैं और प्ररूपणा करते हैं कि कोई भी निर्ग्रन्थ (मुनि) मरने पर देव होता है और वह देव, वहाँ (देवलोक में) दूसरे देवों के साथ, या दूसरे देवो की देवियो के साथ, उन्हे वश मे करके या उनका आलिंगन करके, परिचारणा (मैथुन-सेवन) नही करता, तथा अपनी देवियो को वश मे करके या आलिगन करके उनके साथ भी परिचारणा नही करता। परन्तु वह देव वैक्रिय से स्वय अपने ही दो रूप बनाता है। (जिसमे एक रूप देव का और एक रूप देवी का बनाता है।) यो दो रूप बनाकर वह, उस वैक्रिय-कृत (कृत्रिम) देवी के साथ परिचारणा करता है। इस प्रकार एक जीव एक ही समय मे दो वेदो का अनुभव (वेदन) करता है, यथा—स्त्री-वेद का और पुरुषवेद का। इस प्रकार परतीर्थिक की वक्तव्यता कहनी चाहिए, और वह—'एक जीव एक ही समय मे स्त्रीवेद और पुरुषवेद का अनुभव करता है,' यहाँ तक कहना चाहिए। भगवन् ! यह इस प्रकार कैसे हो सकता है ? अर्थात् क्या यह अन्यतीर्थिको का कथन सत्य है ?

[१ उ] हे गौतम ! वे अन्यतीर्थिक जो यह कहते यावत् प्ररूपणा करते है कि—यावत् स्त्रीवेद और पुरुषवेद, (अर्थात्—एक ही जीव एक समय मे दो वेदो का अनुभव करता है,) उनका वह कथन मिथ्या है। हे गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूँ, भाषण करता हूँ, बताता हूँ और प्ररूपणा करता हूँ कि कोई एक निर्ग्रन्थ जो मरकर, किन्ही महर्द्धिक यावत् महाप्रभावयुक्त, दूरगमन करने की शक्ति से सम्पन्न, दीर्घकाल की स्थिति (आयु) वाले देवलोको मे से किसी एक मे देवरूप मे उत्पन्न होता है, ऐसे देवलोक मे वह महती ऋद्धि से युक्त यावत् दशो दिशाओ मे उद्योत करता हुआ, विशिष्ट कान्ति से शोभायमान यावत् अतीव रूपवान् देव होता है। और वह देव वहाँ दूसरे देवो के साथ, तथा दूसरे देवो की देवियो के साथ उन्हे वश मे करके, परिचारणा करता है और अपनी देवियो को वश मे करके उनके साथ भी परिचारणा करता है, किन्तु स्वय वैक्रिय करके अपने दो रूप बनाकर परिचारणा नही करता, (क्योकि) एक जीव एक समय मे स्त्रीवेद और पुरुषवेद, इन दोनो वेदो मे से किसी एक वेद का ही अनुभव करता है। जब स्त्रीवेद को वेदता (अनुभव करता) है, तब पुरुषवेद को नही वेदता, जिस समय पुरुषवेद को वेदता है, उस समय स्त्रीवेद को नही वेदता। स्त्रीवेद के उदय होने से पुरुषवेद को नही वेदता और पुरुषवेद का उदय होने से स्त्रीवेद को नही वेदता। अत· एक जीव एक समय मे स्त्रीवेद और पुरुषवेद, इन दोनो वेदो मे से किसी एक वेद को ही वेदता है। जब स्त्रीवेद का उदय होता है, तब स्त्री, पुरुष की अभिलाषा करती है और जब पुरुष-वेद का उदय होता है, तब पुरुष, स्त्री की अभिलाषा करता है। अर्थात्—(अपने-अपने वेद के उदय से) पुरुष और स्त्री परस्पर एक दूसरे की इच्छा करते है। वह इस प्रकार—स्त्री, पुरुष की और पुरुष, स्त्री की अभिलाषा करता है।

विवेचन—देव की परिचारणा-सम्बन्धी चर्चा—प्रस्तुत सूत्र मे अन्यतीर्थिको का परिचारणा के सम्बन्ध मे असगत मत देकर, उसका निराकरण करते हुए भगवान् के मत का प्ररूपण किया गया है।

सिद्धान्त-विरुद्ध मत—भूतपूर्व निर्ग्रन्थ मरकर देव बनता है, तब वह न तो अन्य देव-देवियो के साथ परिचारणा करता है और न निजी देवियों के साथ। वह वैक्रियलब्धि से अपने दो रूप बनाकर परिचारणा करता है और इस प्रकार एक ही समय मे स्त्रीवेद और पुरुषवेद, दोनो का अनुभव करता है।

सिद्धान्तानुकूल मत—वह देव अन्य देव-देवियो तथा निजी देवियो के साथ परिचारणा करता है किन्तु वैक्रिय से अपने ही दो रूप बनाकर परिचारणा नहीं करता, क्योंकि सिद्धान्ततः एक जीव एक समय मे एक ही वेद का अनुभव कर सकता है, एक साथ दो वेदों का नहीं। जैसे परस्पर-निरपेक्ष—विरुद्ध वस्तुएँ एक ही समय मे स्थान पर नही रह सकती, यथा—अन्धकार और प्रकाश, इसी तरह स्त्रीवेद और पुरुषवेद दोनो परस्परविरुद्ध हैं, अत ये दोनो एक समय मे एक साथ नहीं वेदे जाते।[1]

उदकगर्भ आदि की कालस्थिति का विचार

२. उदगगब्भे णं भंते ! 'उदगगब्भे' त्ति कालतो केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं छम्मासा।

[२ प्र] भगवन् ! उदकगर्भ (पानी का गर्भ) उदकगर्भ के रूप मे कितने समय तक रहता है ?

[२ उ] गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह मास तक उदकगर्भ उदकगर्भरूप मे रहता है।

३. तिरिक्खजोणियगब्भे णं भंते ! 'तिरिक्खजोणियगब्भे' त्ति कालओ केवच्चिरं होति ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अट्ठ संवच्छराइं।

[३ प्र] भगवन् ! तिर्यंग्योनिकगर्भ कितने समय तक तिर्यग्योनिकगर्भरूप मे रहता है ?

[३ उ] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट आठ वर्ष तक तिर्यंग्योनिकगर्भ तिर्यंग्योनिकगर्भ-रूप मे रहता है।

४ मणुस्सीगब्भे णं भंते ! 'मणुस्सीगब्भे' त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बारस संवच्छराइं।

[४ प्र] भगवन् ! मानुषीगर्भ, कितने समय तक मानुषीगर्भरूप मे रहता है ?

[४ उ] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट बारह वर्ष तक मानुषीगर्भ मानुषीगर्भरूप मे रहता है।

५. काय-भवत्थे णं भंते ! 'काय-भवत्थे' त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं चउव्वीसं संवच्छराइं।

[५ प्र.] भगवन् ! काय-भवस्थ कितने समय तक काय-भवस्थरूप मे रहता है ?

[५ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट चौबीस वर्ष तक काय-भवस्थ काय-भवस्थ के रूप में रहता है।

---

१. भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्रांक १३२

६. मणुस्स-पंचेंदियतिरिक्खजोणियबीए णं भंते ! जोणिब्भूए केवतियं कालं संचिट्ठइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बारस मुहुत्ता।

[६ प्र] भगवन् ! मानुषी और पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्ची-सम्बन्धी योनिगत बीज (वीर्य) योनिभूतरूप मे कितने समय तक रहता है ?

[६ उ] गौतम ! वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त्त तक 'योनिभूत' रूप मे रहता है।

विवेचन—उदकगर्भ आदि की कालस्थिति का विचार—प्रस्तुत पाच सूत्रो (२ से ६ तक) मे उदकगर्भ, तिर्यग्योनिकगर्भ, मानुषीगर्भ, काय-भवस्थ एव योनिभूत बीज की कालस्थिति का निरूपण किया गया है।

उदकगर्भ : कायस्थिति और पहचान—कालान्तर मे पानी बरसने के कारणरूप पुद्गल-परिणाम को 'उदकगर्भ' कहते है। उसका अवस्थान (स्थिति) कम से कम एक समय, उत्कृष्टत छह मास तक होता है। अर्थात्—वह कम से कम एक समय बाद बरस जाता है, अधिक से अधिक छह महीने बाद बरसता है।[१] 'मार्गशीर्ष और पौष मास मे दिखाई देने वाला सन्ध्याराग, मेघ की उत्पत्ति (या कुण्डल से मुक्त मेघ) या मार्गशीर्ष मास मे ठण्ड न पडना और पौष मास मे अत्यन्त हिमपात होना, ये सब उदकगर्भ के चिह्न हैं।'[१]

काय-भवस्थ—माता के उदर मे स्थित निजदेह (गर्भ के अपने शरीर) मे जन्म (भव) को 'कायभव' कहते है, उसी निजकाय मे जो पुन जन्म ले, उसे कायभवस्थ कहते है। जैसे—कोई जीव माता के उदर मे गर्भरूप मे आकर उसी शरीर मे बारह वर्ष तक रहकर वही मर जाए, फिर अपने द्वारा निर्मित उसी शरीर मे उत्पन्न होकर पुन बारह वष तक रहे। यो एक जीव अधिक से अधिक २४ वर्ष तक **'काय-भवस्थ'** के रूप मे रह सकना है।

योनिभूतरूप में बीज की कालस्थिति—मनुष्य या तिर्यचपञ्चेन्द्रिय का मानुषी या तिर्यञ्ची की योनि मे गया हुआ वीर्य बारह मुहूर्त्त तक योनिभूत रहता है। अर्थात्—उस वीर्य मे बारह मुहूर्त्त तक सन्तानोत्पादन की शक्ति रहती है।[२]

मैथुनप्रत्ययिक सन्तानोत्पत्ति संख्या एवं मैथुनसेवन से असंयम का निरूपण

७ एगजीवे णं भते ! एगभवग्गहणेणं केवतियाण पुत्तत्ताए हव्वमागच्छति ?

गोयमा ! जहन्नेणं इक्कस्स वा दोण्ह वा तिण्हं वा, उक्कोसेण सयपुहत्तस्स जीवाणं पुत्तत्ताए हव्वमागच्छति।

[७ प्र] भगवन् ! एक जीव, एक भव की अपेक्षा कितने जीवो का पुत्र हो सकता है ?

---

१. पौषे समार्गशीर्षे, सन्ध्यारागोऽम्बुदाः सपरिवेषाः।
नात्यर्थं मार्गशिरे शीतं, पौषेऽतिहिमपातः॥

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्राक १३३

[७ उ.] गौतम ! एक जीव, एक भव मे जघन्य एक जीव का, दो जीवों का अथवा तीन जीवो का, और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) शतपृथक्त्व (दो सौ से लेकर नौ सौ तक) जीवों का पुत्र हो सकता है।

८. [१] एगजीवस्स णं भंते ! एगभवग्गहणेणं केवइया जीवा पुत्तत्ताए हव्वमागच्छंति ?

गोयमा ! जहन्नेणं इक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं सयसहस्सपुहत्तं जीवा णं पुत्तत्ताए हव्वमागच्छंति।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एव वुच्चइ—जाव हव्वमागच्छंति ?

गोयमा ! इत्थीए य पुरिसस्स य कम्मकडाए जोणीए मेहुणवत्तिए नाम संजोए समुप्पज्जइ। ते दुहओ सिणेहं संचिणंति, २ तत्थ ण जहन्नेण एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं सयसहस्सपुहत्तं जीवा णं पुत्तत्ताए हव्वमागच्छंति। से तेणट्ठेणं जाव हव्वमागच्छंति।

[८-१ प्र] भगवन् ! एक जीव के एक भव मे कितने जीव पुत्ररूप मे (उत्पन्न) हो सकते हैं ?

[८-१ उ] गौतम ! जघन्य एक, दो अथवा तीन जीव, और उत्कृष्ट लक्षपृथक्त्व (दो लाख से लेकर नौ लाख तक) जीव पुत्ररूप मे (उत्पन्न) हो सकते हैं।

[८-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि जघन्य एक यावत् दो लाख से नौ लाख तक जीव पुत्ररूप मे (उत्पन्न) हो सकते हैं ?

[८-२ उ] हे गौतम ! कर्मकृत (नामकर्म से निष्पन्न अथवा कामोत्तेजित) योनि मे स्त्री और पुरुष का जब मैथुनवृत्तिक (सम्भोग निमित्तक) सयोग निष्पन्न होता है, तब उन दोनो के स्नेह (पुरुष के वीर्य और स्त्री के रक्त=रज) का सचय (सम्बन्ध) होता है, फिर उसमे से जघन्य एक, दो अथवा तीन और उत्कृष्ट लक्षपृथक्त्व (दो लाख से लेकर नौ लाख तक) जीव पुत्ररूप मे उत्पन्न होते हैं। हे गौतम ! इसीलिए पूर्वोक्त कथन किया गया है।[1]

९ मेहुण भंते ! सेवमाणस्स केरिसिए असजमे कज्जइ ?

गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे रूयनालियं वा बूरनालियं वा तत्तेण कणएण[2] समभिधंसेज्जा। एरिसए णं गोयमा ! मेहुण सेवामाणस्स असजमे कज्जइ।

सेव भंते ! सेव भंते ! जाव विहरति।

[९ प्र] भगवन् ! मैथुनसेवन करते हुए जीव के किस प्रकार का असयम होता है ?

---

१ आधुनिक शरीर विज्ञान के अनुसार पुरुष के शुक्र मे करोडो जीवाणु होते हैं, किन्तु वे धीरे-धीरे समाप्त हो जाते है और एक या दो जीवाणु जीवित रहते हैं जो गर्भ मे आते है।

२. 'कणएण' कनक लोहमय ज्ञेय। कनक शब्द लोहमयी शलाका अर्थ में समझ लेना चाहिए। भगवती प्रमेय चन्द्रिका टीका भा २, पृ ८३१ में '**कनकस्य शलाकार्थो लभ्यते**' लिखा है। —भग मू पा टि, पृ. ९९

[९ उ] गौतम ! जैसे कोई पुरुष तपी हुई सोने की (या लोहे की) सलाई (डालकर, उस) से बास की रूई से भरी हुई नली या बूर नामक वनस्पति से भरी नली को जला (विध्वस्त कर) डालता है, हे गौतम ! ऐसा ही असयम मैथुन सेवन करते हुए जीव के होता है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', ऐसा कहकर—यावत् गौतम स्वामी विचरण करते हैं।

विवेचन—मैथुन प्रत्ययिक सन्तानोत्पत्ति संख्या एवं मैथुनसेवन से असंयम का निरूपण— प्रस्तुत तीन सूत्रो मे से प्रथम दो सूत्रो मे यह बताया गया है कि एक जीव के एक जन्म मे कितने पुत्र (सन्तान) हो सकते हैं और उसका क्या कारण है ? तीसरे सूत्र मे मैथुन-सेवन से कितना और किस प्रकार का असयम होता है ? यह सोदाहरण बताया गया है।

एक जीव शतपृथक्त्व जीवों का पुत्र कैसे ?—गाय आदि की योनि मे गया हुआ शतपृथक्त्व (दो सौ से लेकर नौ सौ तक) साडो का वीर्य, वीर्य ही गिना जाता है, क्योकि वह वीर्य बारह मुहूर्त्त तक वीर्यरूप पर्याय मे रहता है। उस वीर्य पिण्ड मे उत्पन्न हुआ एक जीव उन सबका (जिनका कि वीर्य गाय की योनि मे गया है) पुत्र (सन्तान) कहलाता है। इस प्रकार एक जीव, एक ही भव मे शतपृथक्त्व (दो सौ से लेकर नौ सौ) जीवो का पुत्र हो सकता है। अर्थात्—एक जीव के, एक ही भव मे उत्कृष्ट नौ सौ पिता हो सकते हैं।

एक जीव के, एक ही भव मे शत-सहस्रपृथक्त्व पुत्र कैसे ?—मत्स्य आदि जब मैथुनसेवन करते हैं तो एक बार के सयोग से उनके शत-सहस्रपृथक्त्व (दो लाख से लेकर नौ लाख तक) जीव पुत्र रूप से उत्पन्न होते है और जन्म लेते हैं। यह प्रमाण है—एक भव मे एक जीव के उत्कृष्ट शतसहस्र-पृथक्त्व पुत्र होने का। यद्यपि मनुष्यस्त्री की योनि मे भी बहुत-से जीव उत्पन्न होते हैं किन्तु जितने उत्पन्न होते हैं, वे सब के सब निष्पन्न नही होते (जन्म नही लेते)।

मैथुन सेवन से असंयम—मैथुनसेवन करते हुए पुरुष के मेहन (लिंग) द्वारा स्त्री की योनि मे रहे हुए पचेन्द्रिय जीवो का विनाश होता है, जिसे समझाने के लिए मूलपाठ मे उदाहरण दिया गया है।[1]

तुंगिका नगरी के श्रमणोपासकों का जीवन

१०. तए णं समणे भगवं महावीरे रायगिहाओ नगराओ गुणसिलाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ, २ बहिया जणवयविहारं विहरति।

[१०] इसके पश्चात् (एकदा) श्रमण भगवान् महावीर राजगृह नगर के गुणशील उद्यान से निकलकर बाहर जनपदो मे विहार करने लगे।

११. तेणं कालेणं २ तुंगिया[2] नाम नगरी होत्था। वण्णओ। तीसे णं तुंगियाए नगरीए

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्राक १३४

२. बनारस (वाराणसी या काशी) से ८० कोस दूर पाटलीपुत्र (पटना) नगर है, वहाँ से १० कोस दूर **'तुंगिया'** नाम की नगरी है। —**श्रीसम्मेतशिखर रास**

बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए पुप्फवतीए नामं चेतिए होत्था। वण्णओ। तत्थ णं तुंगियाए नगरीए बहवे समणोवासया परिवसंति अड्ढा दित्ता वित्थिण्णविपुलभवण-सयणाऽऽसण-जाण-वाहणाइण्णा बहुधण-बहुजायरूव-रयया आयोग-पयोगसपउत्ता विच्छड्डियविपुलभत्त-पाणा बहुदासी-दास-गो-महिस-गवेलयप्पभूता बहुजणस्स अपरिभूता अभिगतजीवाजीवा उवलद्धपुण्ण-पावा आसव-संवर-निज्जर-किरियाहिकरण-बंधमोक्खकुसला असहेज्जदेवासुर-नाग-सुवण्ण-जक्ख-रक्खस--किन्नर-किंपुरिस-गरुल-गंधव्व-महोरगादिएहिं देवगणेहिं निग्गंथातो पावयणातो अणतिक्कमणिज्जा, णिग्गंथे पावयणे निस्संकिया निक्कंखिता निव्वितिगिच्छा लद्धट्ठा गहितट्ठा पुच्छितट्ठा अभिगतट्ठा विणिच्छियट्ठा, अट्ठिमिंजपेम्माणुरागरत्ता—'अयमाउसो ! निग्गथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे,' ऊसियफलिहा अवंगुतदुवारा चियत्तंतेउर-घरप्पवेसा, बहूहिं सीलव्वत-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं चाउद्दसऽट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा, समणे निग्गंथे फासुए उणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं वत्थ-पडिग्गह-कंबल-पायपुंछणेणं पीढ-फलग-सेज्जा-संथारगेणं ओसह-भेसज्जेण य पडिलाभेमाणा,[1] अहापरिग्गहिएहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।

[११] उस काल उस समय मे तुंगिया (तुंगिका) नाम की नगरी थी। उसका वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार जानना चाहिए। उस तुंगिका नगरी के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा भाग (ईशान कोण) मे पुष्पवतिक नाम का चैत्य (उद्यान) था। उसका वर्णन समझ लेना चाहिए।

उस तुंगिकानगरी मे बहुत-से श्रमणोपासक रहते थे। वे आढ्य (विपुल धनसम्पत्ति वाले) और दीप्त (प्रसिद्ध या दृप्त—स्वाभिमानी) थे। उनके विस्तीर्ण (विशाल) विपुल (अनेक) भवन थे। तथा वे शयनो (शयन सामग्री), आसनो, यानो (रथ, गाड़ी आदि), तथा वाहनो (बैल, घोडे आदि) से सम्पन्न थे। उनके पास प्रचुर धन (रुपये आदि सिक्के), बहुत-सा सोना-चाँदी आदि था। वे आयोग (रुपया उधार देकर उसके ब्याज आदि द्वारा दुगुना तिगुना अर्थोपार्जन करने का व्यवसाय) और प्रयोग (अन्य कलाओ का व्यवसाय) करने मे कुशल थे। उनके यहाँ विपुल भात-पानी (खान-पान) तैयार होता था, और वह अनेक लोगो को वितरित किया जाता था। उनके यहाँ बहुत-सी दासियाँ (नौकरानियाँ) और दास (नौकर-चाकर) थे, तथा बहुत-सी गाये, भैसे, भेडे और बकरियाँ आदि थी। वे बहुत-से मनुष्यो द्वारा भी अपरिभूत (पराभव नही पाते—दबते नही) थे। वे जीव (चेतन) और अजीव (जड) के स्वरूप को भलीभाँति जानते थे। उन्होने पुण्य और पाप का तत्त्व उपलब्ध कर लिया था। वे आश्रव, सवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बन्ध और मोक्ष के विषय मे कुशल थे। (अर्थात्—इनमे से हेय, ज्ञेय और उपादेय को सम्यक् रूप से जानते थे।) वे (किसी भी कार्य मे दूसरो से) सहायता की अपेक्षा नही रखते थे। (वे निर्ग्रन्थ प्रवचन मे इतने दृढ थे कि) देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, गरुड, गन्धर्व, महोरग, आदि देवगणो के द्वारा निर्ग्रन्थप्रवचन से अनतिक्रमणीय (विचलित नही किये जा सकते) थे। वे निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति निःशकित थे, निष्काक्षित थे, तथा विचिकित्सारहित (फलाशकारहित) थे। उन्होने शास्त्रों के अर्थों

१ पाठान्तर—'**बहूहिं सीलव्वय-गुणव्वय-वेरमण-पच्चक्खाण पोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणा चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठ-पुण्णिमासिणीसु अधापरिग्गहितेणं पोसहोववासेणं अप्पाणं भावेमाणा विहरति।**'

को भलीभाति उपलब्ध कर लिया था, शास्त्रो के **अर्थों** को (दत्तचित्त होकर) ग्रहण कर लिया था। (शास्त्रो के अर्थों मे जहाँ सन्देह था, वहाँ) पूछकर उन्होने यथार्थ निर्णय कर लिया था। उन्होने शास्त्रों के अर्थों और उनके रहस्यो को निर्णयपूर्वक जान लिया था। उनकी हड्डियाँ और मज्जाएँ (नसे) (निर्ग्रन्थप्रवचन के प्रति) प्रेमानुराग मे रगी हुई (व्याप्त) थी। (इसीलिए वे कहते थे कि—) 'आयुष्मान् बन्धुओ ! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही अर्थ (सार्थक) है, यही परमार्थ है, शेष सब अनर्थ (निरर्थक) हैं।' वे इतने उदार थे कि उनके घरो मे दरवाजो के पीछे रहने वाली अर्गला (आगल-भोगल) सदैव ऊँची रहती थी। उनके घर के द्वार (याचको के लिए) सदा खुले रहते थे। उनका अन्त पुर तथा परगृह मे प्रवेश (अतिधार्मिक होने से) लोकप्रीतिकर (विश्वसनीय) होता था। वे शीलव्रत (शिक्षाव्रत), गुणव्रत, विरमणव्रत (अणुव्रत), प्रत्याख्यान (त्याग-नियम), पोषधोपवास आदि का सम्यक् आचरण करते थे, तथा चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा, इन पर्वतिथियो मे (प्रतिमास छह) प्रतिपूर्ण पोषध का सम्यक् अनुपालन (आचरण) करते थे। वे श्रमण निर्ग्रन्थो को (उनके कल्पानुसार) प्रासुक (अचित्त) और एषणीय (एषणा दोषो के रहित) अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, पीठ (चौकी या बाजोट) फलक (पट्टा या तख्त), शय्या, सस्तारक, औषध और भेषज आदि प्रतिलाभित करते (देते) थे, और यथाप्रतिगृहीत (अपनी शक्ति के अनुसार ग्रहण किये हुए) तपःकर्मों से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरते (जीवनयापन करते) थे।

विवेचन— तुंगिका नगरी के श्रमणोपासकों का जीवन—प्रस्तुत दो सूत्रो (१० और ११) मे से प्रथम मे श्रमण भगवान् महावीर का राजगृह से अन्यत्र विहार का सूचन है, और द्वितीय मे भगवान् महावीर के तुगिकानगरी निवासी श्रमणोपासको का जीवन आर्थिक, सामाजिक, अध्यात्मिक, धार्मिक आदि विविध पहलुओ से चित्रित किया गया है।

कठिन शब्दो के दूसरे अर्थ—'**वित्थिण्णविपुल भवण-सयणासण-जाण-वाहणाइण्णे**—जिनके घर विशाल और ऊँचे थे, तथा जिनके शयन, आसन, यान और वाहन प्रचुर थे। **विच्छड्डियविउलभत्त-पाणा**—उनके यहाँ बहुत-सा भात-पानी (याचको को देने के लिए) छोडा जाता था। अथवा जिनके यहाँ अनेक लोग भोजन करते थे, इसलिए बहुत-सा भात-पानी बचता था। अथवा जिसके यहाँ विविध प्रकार का प्रचुर खान-पान होता था। **असहेज्ज-देवासुर-नाग-सुवण्ण-जक्ख-रक्खस-किन्नर-किंपुरिस-गरुल-गंधव्व-महोरगाईएहि**—आपत्ति मे भी देवादिगणो की सहायता से निरपेक्ष थे, अर्थात्—'स्वकृत कर्म स्वय ही भोगना होगा', इस तत्त्व पर स्थित होने से वे अदीनमनोवृत्ति वाले थे। अथवा परपाषण्डियो द्वारा आक्षेपादि होने पर वे सम्यक्त्व की रक्षा के लिए दूसरो की सहायता नही लेते थे, क्योकि वे स्वय उनके आक्षेपादि निवारण मे समर्थ थे। **सुवण्ण**—अच्छे वर्ण वाले ज्योतिष्क देव। **गरुल**—गरुड—सुपर्णकुमार। **अट्ठिमिज्जपेमाणु रागरत्ता**—उनकी हड्डियाँ और उनमे रहा हुआ धातु—मिज्जा, ये सर्वज्ञप्रवचनो पर प्रतीतिरूप कसुम्बे के रग से रंगे हुए थे। **ऊसिअफलिहा**—अत्यन्त उदारता से अतिशय दान देने के कारण घर मे भिक्षुको के निराबाध प्रवेश के लिए जिन्होने दरवाजे की अर्गला हटा दी थी। **चियत्तं-तेउर-घरप्पवेसा**—जिनके अन्त पुर या घर मे कोई सत्पुरुष प्रवेश करे तो उन्हें अप्रीति नही होती थी, क्योकि उन्हे ईर्ष्या नही होती। अथवा जिन्होंने दूसरो के अन्त पुर या घर मे प्रवेश करना छोड दिया था। अथवा वे किसी के घर मे या अन्त पुर मे प्रवेश करे तो अतीव

धर्मनिष्ठ होने के कारण उसे प्रसन्नता होती थी, शका नही। उद्दिट्ठा=अमावस्या (उद्दिष्टा)। अहिकरण=क्रिया का साधन।[1]

तुंगिका में अनेक गुणसम्पन्न पार्श्वापत्यीय स्थविरों का पदार्पण

१२. तेण कालेणं २ पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो जातिसंपन्ना कुलसंपन्ना बलसंपन्ना रूवसंपन्ना विणयसंपन्ना णाणसंपन्ना दंसणसंपन्ना चरित्तसंपन्ना लज्जासंपन्ना लाघवसंपन्ना ओयंसी तेयंसी वच्चंसी जसंसी जितकोहा जियमाणा जियमाया जियलोभा जियनिद्दा जितिंदिया जितपरीसहा जीवियासा-मरणभयविप्पमुक्का जाव[2] कुत्तियावणभूता बहुस्सुया बहुपरिवारा, पंचहिं अणगारसतेहिं सद्धिं संपरिवुडा, अहाणुपुव्विं चरमाणा, गामाणुगामं दूइज्जमाणा, सुहंसुहेणं विहरमाणा जेणेव तुंगिया नगरी, जेणेव पुप्फवतीए चेतिए तेणेव उवागच्छंति, २ अहापडिरूवं उग्गहं ओगिण्हित्ताणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।

[१२] उस काल और उस समय मे पार्श्वापत्यीय (भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यानुशिष्य स्थविर भगवान् पाँच सौ अनगारो के साथ यथाक्रम से चर्या करते हुए, ग्रामानुग्राम जाते हुए, सुखपूर्वक विहार करते हुए जहाँ तुगिका नगरी थी और जहाँ (उसके बाहर ईशानकोण मे) पुष्पवतिक चैत्य (उद्यान) था, वहाँ पधारे। वहाँ पधारते ही यथानुरूप अवग्रह (अपने अनुकूल मर्यादित स्थान की याचना करके आज्ञा) लेकर सयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए वहाँ विहरण करने लगे। वे स्थविर भगवन्त जातिसम्पन्न, कुलसम्पन्न, बलसम्पन्न, रूपसम्पन्न, विनयसम्पन्न, ज्ञानसम्पन्न, दर्शनसम्पन्न, चारित्रसम्पन्न, लज्जासम्पन्न, लाघवसम्पन्न, ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी (विशिष्ट प्रभाव युक्त) और यशस्वी थे। उन्होने क्रोध, मान, माया, लोभ, निद्रा, इन्द्रियो और परीषहो को जीत लिया था। वे जीवन (जीने) की आशा और मरण के भय से विमुक्त थे, यावत् (यहाँ तक कि) वे कुत्रिकापण-भूत (जैसे कुत्रिकापण मे तीनो लोको की आवश्यक समस्त वस्तुएँ मिल जाती हैं, वैसे ही वे समस्त अभीष्ट पदार्थों की प्राप्ति मे समर्थ अथवा समस्त गुणो की उपलब्धि से युक्त) थे। वे बहुश्रुत और बहुपरिवार वाले थे।

विवेचन—तुगिका मे अनेक गुणसम्पन्न पार्श्वापत्यीय स्थविरो का पदार्पण—प्रस्तुत सूत्र मे अनेक श्रमणगुणो के धनी पार्श्वनाथ-शिष्यानुशिष्य श्रुतवृद्ध स्थविरो का वर्णन किया गया है। **कुत्रिकापण**=कु=पृथ्वी, त्रिक=तीन, आपण=दूकान। अर्थात्—जिसमे तीनो लोक की वस्तुएँ मिले, ऐसी देवाधिष्ठित दूकान को कुत्रिकापण कहते हैं। **वच्चंसी**=वर्चस्वी, वचस्वी (वाग्मी), अथवा वृत्तस्वी (वृत्त-चारित्र रूपी धन वाले)।[3]

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १३५-१३६

२. 'जाव' शब्द से यहाँ स्थविरो के ये विशेषण और समझ लेने चाहिए—"**तवप्पहाणा गुणप्पहाणा करणप्पहाणा चरणप्पहाणा निग्गहप्पहाणा निच्छयप्पहाणा मद्दवप्पहाणा अज्जवप्पहाणा लाघवप्पहाणा खंतिप्पहाणा मुत्तिप्पहाणा एवं विज्जा-मंत-वेय-बंभ-नय-नियम-सच्च-सोयप्पहाणा चारुप्पण्णा सोही अणियाणा अप्पुस्सुया अबहिल्लेसा सुसामण्णरया अच्छिद्दपसिणवागरणा कुत्तियावण०**"—भगवती. अ वृत्ति, पत्रांक १६६

३ भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १३६-१३७

तुंगिकानिवासी श्रमणोपासक पार्श्वापत्यीय स्थविरों की सेवा में

१३. तए णं तुंगियाए नगरीए सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-महापहपहेसु जाव एगदिसाभिमुहा णिज्जायंति।

[१३] तदनन्तर तुंगिकानगरी के शृंगाटक (सिंघाडे के आकार वाले त्रिकोण) मार्ग मे, त्रिक (तीन मार्ग मिलते हैं, ऐसे) रास्तो मे, चतुष्क पथो (चार मार्ग मिलते हैं, ऐसे चौराहो) में तथा अनेक मार्ग मिलते हैं, ऐसे मार्गों मे, राजमार्गों मे एवं सामान्य मार्गो मे (सर्वत्र उन स्थविर भगवन्तो के पदार्पण को) बात फैल गई। जनता एक ही दिशा मे उन्हे वन्दन करने के लिए जाने लगी है।

१४. तए णं ते समणोवासया इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणा हट्ठतुट्ठा जाव[2] सद्दावेंति, २ एवं वदासी—एवं खलु देवाणुप्पिया! पासावच्चेज्जा थेरा भगवंतो जातिसपन्ना जाव[3] अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हित्ताणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति। तं महाफलं खलु देवाणुप्पिया! तहारूवाणं थेराणं भगवंताणं णाम-गोत्तस्स वि सवणयाए किमंग पुण अभिगमण-वंदण-नमंसण-पडिपुच्छण-पज्जुवासणयाए? जाव[4] गहणयाए?, तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया! थेरे भगवंते वंदामो नमंसामो जाव[5] पज्जुवासामो, एयं णं इहभवे वा परभवे वा जाव[6] अणुगामियत्ताए भविस्सतीति कट्टु अन्नमन्नस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणेंति, २ जेणेव सयाइं सयाइं गिहाइं तेणेव उवागच्छंति, २ ण्हाया कयबलिकम्मा कतकोउयमंगलपायच्छित्ता, सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवराइं परिहिया, अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा सएहिं २ गेहेहिंतो पडिनिक्खमंति, २ त्ता एगतओ मेलायंति, २ पायविहारचारेणं तुंगियाए नगरीए मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छंति, २ जेणेव पुप्फवतीए चेतिए तेणेव उवागच्छंति, २ थेरे भगवंते पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छंति, तं जहा—सचित्ताणं दव्वाणं विओसरणताए १ अचित्ताणं दव्वाणं अविओसरणताए २ एगसाडिएणं उत्तरासंगकरणेणं ३ चक्खुप्फासे अंजलिप्पग्गहेणं ४ मणसो एगत्तीकरणेणं ५; जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छंति, २

---

१ 'जाव' शब्द यहाँ निम्नोक्त पाठ का सूचक है—'**बहुजणसद्दे इ वा जणबोले इ वा जणकलकले इ वा जणुम्मी इ वा जणसन्निवाए इ वा बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ ४ एवं खलु देवाणुप्पिया! पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो जातिसंपन्ना**' इत्यादि पाठ सू १२ के प्रारम्भ मे उक्त पाठ '**विहरंति**' तक समझना चाहिए।

२ 'जाव' पद यहाँ निम्नोक्त पाठ-सूचक है—'**चित्तमाणंदिआ णंदिआ परमाणंदिआ पीइमणा परमसोमणस्सिआ हरिसवसविसप्पमाणहिअया धाराहयनीवसुरहिकुसुमचंचुमालइयतणू ऊससियरोमकूवा।**'

३ यहाँ 'जाव' पद '**जातिसंपन्ना**' (सू १२) से लेकर '**अहापडिरूवं**' तक का बोधक है।

४ 'जाव' पद से यहाँ निम्नोक्त पाठ समझे—'**एगस्स वि आरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणताए किमंग पुण विउलस्स अत्थस्स गहणयाए।**'

५. 'जाव' पद निम्नोक्त पाठ का सूचक है—'**सक्कारेमो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामो।**'

६. 'जाव' पद यहाँ निम्नोक्त पाठ का सूचक है—'**हियाए सुहाए खमाए निस्सेयसाए।**'

तिक्खुत्तो आयाहिण-पयाहिणं करेंति, २ जाव[1] तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासेंति,[2] तं जहा—काइ० वाइ० माण०। तत्थ काइयाए-संकुचियपाणि-पाए सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएण पंजलिउडे पज्जुवासंति। वाइयाए—जं जं भगवं वागरेति 'एवमेयं भंते!, तहमेयं भं०!, अवितहमेयं भं०!, असंदिद्धमेयं भं०!, इच्छियमेयं भं०!, पडिच्छियमेयं भं०!, इच्छियपडिच्छियमेयं भं०!, वायाए अपडिकूलेमाणा विणएणं पज्जुवासंति। माणसियाए—संवेगं जणयंता तिव्वधम्माणुरागरत्ता विगह-विसोत्तियपरिवज्जियमई अन्नत्थ कत्थइ मणं अकुव्वमाणा विणएणं पज्जुवासंति।

[१४] जब यह बात तु गिकानगरी के श्रमणोपासको को ज्ञात हुई तो वे अत्यन्त हर्षित और सन्तुष्ट हुए, यावत् परस्पर एक दूसरे को बुलाकर इस प्रकार कहने लगे—हे देवानुप्रियो! (सुना है कि) भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यानुशिष्य स्थविर भगवन्त, जो कि जातिसम्पन्न आदि विशेषण-विशिष्ट हैं, यावत् (यहाँ पधारे हैं) और यथाप्रतिरूप अवग्रह ग्रहण करके सयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विहरण करते है। हे देवानुप्रियो! तथारूप स्थविर भगवन्तो के नाम-गोत्र के श्रवण से भी महाफल होता है, तब फिर उनके सामने जाना, वन्दन-नमस्कार करना, उनका कुशल-मगल (सुख-साता) पूछना और उनकी पर्युपासना (सेवा) करना, यावत् उनसे प्रश्न पूछ कर अर्थ-ग्रहण करना, इत्यादि बातो के (अवश्य कल्याण रूप) फल का तो कहना ही क्या? अत: हे देवानुप्रियो! हम सब उन स्थविर भगवन्तो के पास चलें और उन्हे वन्दन-नमस्कार करे, यावत् उनकी पर्युपासना करे। ऐसा करना अपने लिए इस भव मे तथा परभव में हित-रूप होगा, यावत् परम्परा से (परलोक मे कल्याण का) अनुगामी होगा।

इस प्रकार बातचीत करके उन्होने उस बात को एक दूसरे के सामने (परस्पर) स्वीकार किया। स्वीकार करके वे सब श्रमणोपासक अपने-अपने घर गए। घर जाकर स्नान किया, फिर बलिकर्म (कौए, कुत्ते, गाय आदि को अन्नादि दिया, अथवा स्नान से सम्बन्धित तिलक, छापा आदि कार्य) किया। (तदनन्तर दु:स्वप्न आदि के फलनाश के लिए) कौतुक और मगल-रूप प्रायश्चित्त किया। फिर शुद्ध (स्वच्छ), तथा धर्मसभा आदि मे प्रवेश करने योग्य (अथवा शुद्ध आत्माओ के पहनने योग्य) एव श्रेष्ठ वस्त्र पहने। थोडे-से, (या कम वजन वाले) किन्तु बहुमूल्य आभरणो (आभूषणो) से शरीर को विभूषित किया। फिर वे अपने-अपने घरो से निकले, और एक जगह मिले। (तत्पश्चात्) वे सम्मिलित होकर पैदल चलते हुए तु गिका नगरी के बीचोबीच होकर निकले और जहाँ पुष्पवतिक चैत्य था, वहाँ आए। (वहा) स्थविर भगवन्तो (को दूर से देखते ही, उन) के पास पाच प्रकार के

---

१ 'जाव' पद से यह पाठ समझना चाहिए—**'वदति णमसंति णच्चासन्ने णाइदूरे सुस्सूसमाणा णमसमाणा अभिमुहा विणएण पंजलिउडा!'**

२. **'तं जहा'** से लेकर **'पज्जुवासति'** तक का पाठ अन्य प्रतियो मे नही है। औपपातिकसूत्र से उद्धृत किया हुआ प्रतीत होता है।—**"त जहा—काइयाए वाइयाए माणसियाए। काइयाए ताव सकुइअग्गहत्थ-पाए सुस्सूसमाणे णमसमाणे अभिमुहे विणएण पजलिउडे पज्जुवासइ। वाइयाए ज ज भगव वागरेइ एवमेय भते! तहमेय भते! अवितहमेय भते! असदिद्धमेय भते! इच्छिअमेअ भते! पडिच्छिअमेअ भते! इच्छियपडिच्छियमेयं भते! से जहेय तुब्भे वदह अपडिकूलमाणे पज्जुवासति। माणसियाए महया सवेग जणइत्ता तिव्वधम्माणुराग-रत्तो पज्जुवासइ।"**

अभिगम करके गए। वे (पाच अभिगम) इस प्रकार है—(१) (अपने पास रहे हुए) सचित्त द्रव्यो (फूल, ताम्बूल आदि) का त्याग करना, (२) अचित्त द्रव्यों (सभाप्रवेश योग्य वस्त्रादि) का त्याग न करना—साथ में रखना (अथवा मर्यादित करना); (३) एकशाटिक उत्तरासग करना (एक पट के बिना सिले हुए वस्त्र—दुपट्टे को (यतनार्थ मुख पर रखना), (४) स्थविर-भगवन्तो को देखते ही दोनो हाथ जोडना, तथा (५) मन को एकाग्र करना।

यो पाच प्रकार का अभिगम करके वे श्रमणोपासक स्थविर भगवन्तो के निकट पहुँचे। निकट आकर उन्होंने दाहिनी ओर से तीन वार उनकी प्रदक्षिणा की, वन्दन-नमस्कार किया यावत् कायिक, वाचिक और मानसिक, इन तीनो प्रकार से उनकी पर्युपासना करने लगे। वे हाथ-पैरो को सिकोड कर शुश्रूषा करते हुए, नमस्कार करते हुए, उनके सम्मुख विनय से हाथ जोडकर काया से पर्युपासना करते हैं। जो-जो बाते स्थविर भगवान् फरमा रहे थे, उसे सुनकर—'भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह तथ्य है, यही सत्य है, भगवन्! यह असदिग्ध है, भगवन्! यह इष्ट है, यह प्रतीष्ट (अभीष्ट) है, हे भगवन्! यही इष्ट और विशेष इष्ट है,' इस प्रकार वाणी से अप्रतिकूल (अनुकूल) होकर विनयपूर्वक वाणी से पर्युपासना करते हैं तथा मन से (हृदय मे) सवेगभाव उत्पन्न करते हुए तीव्र धर्मानुराग मे रगे हुए विग्रह (कलह) और प्रतिकूलता (विरोध) से रहित बुद्धि होकर, मन को अन्यत्र कही न लगाते हुए विनयपूर्वक (मानसिक) उपासना करते है।

विवेचन—तुंगिकानिवासी श्रमणोपासक पार्श्वापत्यीय स्थविरो की सेवा में—प्रस्तुत दो सूत्रो में शास्त्रकार ने तुंगिका के श्रमणोपासको द्वारा भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यानुशिष्य स्थविर-मुनियो के दर्शन, प्रवचन-श्रवण, वन्दन-नमन, विनयभक्ति पर्युपासना आदि को महाकल्याणकारक फलदायक समझकर उनके गुणो से आकृष्ट होकर उनके दर्शन, वन्दना, पर्युपासना आदि के लिए पहुँचने का वर्णन किया है। इस वर्णन से भगवान् महावीर के श्रमणोपासको की गुणग्राहकता, उदारता, नम्रता और शिष्टता का परिचय मिलता है। पार्श्वनाथतीर्थ के साधुओ को भी उन्होने स्वतीर्थीय साधुओ की तरह ही वन्दना-नमस्कार, विनयभक्ति एव पर्युपासना की थी। साम्प्रदायिकता की गन्ध तक न आने दी।[1]

कय-कोउय-मंगल-पायच्छित्ता—दो विशेष अर्थ—(१) उन्होने दु.स्वप्न आदि के दोष निवारणार्थ कौतुक और मगलरूप प्रायश्चित्त किया, (२) उन्होने कौतुक अर्थात् मषी का तिलक[2] और मंगल अर्थात्—दही, अक्षत, दूब के अकुर आदि मागलिक पदार्थों से मगल किया और पायच्छित्त यानी पादच्छुप्त=एक प्रकार के पैरो पर लगाने के नेत्र दोष निवारणार्थ तेल का लेपन किया।

१५. तए णं ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं तीसे य महतिमहालियाए परिसाए चाउज्जामं धम्मं परिकहेंति, जहा केसिसामिस्स जाव[3] समणोवासियत्ताए आणाए आराहगे भवंति जाव धम्मो कहिओ।

---

१. भगवतीसूत्र टीकाऽनुवाद (प. बेचरदासजी) खण्ड १, पृ २८७

२. *काजल की टिकी—नजर दोष से बचने के लिए लगाई जाती है।*

३. 'जाव' पद से यहाँ निम्नोक्त राजप्रश्नीय सूत्र (पृ १२०) मे उल्लिखित केशीस्वामि-कथित धर्मोपदेशादि का वर्णन समझना चाहिए—'**तीसे महतिमहालियाए महच्चपरिसाए चाउज्जामं धम्मं परिकहेइ त जहा—सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमण सव्वाओ बहिद्धादाणाओ वेरमण** 'इत्यादि - भगवती मू पा. टि, पृ. १०३-१०४

[१५] तत्पश्चात् उन स्थविर भगवन्तों ने उन श्रमणोपासकों तथा उस महती परिषद् (धर्मसभा) को केशीश्रमण की तरह चातुर्याम-धर्म (चार याम वाले धर्म) का उपदेश दिया। यावत् वे श्रमणोपासक अपनी श्रमणोपासकता द्वारा (उन स्थविर भगवन्तो की) आज्ञा के आराधक हुए। यावत् धर्म-कथा पूर्ण हुई।

तुंगिका के श्रमणोपासकों के प्रश्न और स्थविरों के उत्तर

१६. तए णं ते समणोवासया थेराण भगवताणं अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ जाव हयहियया तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेंति, २ जाव तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासंति, २ एव वदासी—

संजमे णं भंते ! किंफले ! तवे ण भंते ! किंफले ?

तए ण ते थेरा भगवंतो ते समणोवासए एवं वदासी—संजमे णं अज्जो ! अणण्हयफले, तवे वोदाणफले।

[१६] तदनन्तर वे श्रमणोपासक स्थविर भगवन्तो से धर्मोपदेश सुनकर एव हृदयगम करके बडे हर्षित और सन्तुष्ट हुए, यावत् उनका हृदय खिल उठा और उन्होने स्थविर भगवन्तो की दाहिनी ओर से तीन बार प्रदक्षिणा की, यावत् (पूर्वोक्तानुसार) तीन प्रकार की उपासना द्वारा उनकी पर्युपासना की और फिर इस प्रकार पूछा—

[प्र] भगवन् ! सयम का क्या फल है ? भगवन् ! तप का क्या फल है ?

[उ] इस पर उन स्थविर भगवन्तो ने उन श्रमणोपासको से इस प्रकार कहा—'हे आर्यो ! सयम का फल अनाश्रवता (आश्रवरहितता—सवरसम्पन्नता) है। तप का फल व्यवदान (कर्मों को विशेषरूप से काटना या कर्मपक से मलिन आत्मा को शुद्ध करना) है।

१७ [१] तए ण ते समणोवासया थेरे भगवंते एवं वदासी—जइ णं भंते ! संजमे अणण्हय-फले, तवे वोदाणफले किंपत्तियं णं भंते ! देवा देवलोएसु उववज्जंति ?

[१७-१ प्र] (स्थविर भगवन्तो से उत्तर सुनकर) श्रमणोपासको ने उन स्थविर भगवन्तो से (पुन:) इस प्रकार पूछा—'भगवन् ! यदि सयम का फल अनाश्रवता है और तप का फल व्यवदान है तो देव देवलोको मे किस कारण से उत्पन्न होते हैं ?'

[२] तत्थ णं कालियपुत्ते नामं थेरे ते समणोवासए एवं वदासी—पुव्वतवेणं अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति।

[१७-२ उ.] (श्रमणोपासको का प्रश्न सुनकर) उन स्थविरो मे से कालिकपुत्र नामक स्थविर ने उन श्रमणोपासकों से यों कहा—'आर्यो ! पूर्वतप के कारण देव देवलोको मे उत्पन्न होते है।'

[३] तत्थ ण मेहिले नामं थेरे ते समणोवासए एव वदासी—पुव्वसंजमेणं अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति।

[१७-३ उ] उनमे से मेहिल (मेघिल) नाम के स्थविर ने उन श्रमणोपासको से इस प्रकार कहा—'आर्यो ! पूर्व-सयम के कारण देव देवलोको मे उत्पन्न होते हैं।'

[४] तत्थ णं आणंदरक्खिए णामं थेरे ते समणोवासए एवं वदासी—कम्मियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति ।

[१७-४ उ] फिर उनमें से आनन्दरक्षित नामक स्थविर ने उन श्रमणोपासकों से इस प्रकार कहा—'आर्यो ! कर्मिता (कर्मों की विद्यमानता या कर्म शेष रहने) के कारण देवता देवलोको मे उत्पन्न होते हैं ।

[५] तत्थ णं कासवे णामं थेरे ते समणोवासए एवं वदासी—संगियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति, पुव्वतवेणं पुव्वसंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति । सच्चे णं एस अट्ठे, नो चेव णं आतभाववत्तव्वयाए ।

[१७-५ उ] उनमे से काश्यप नामक स्थविर ने उन श्रमणोपासको से यों कहा—'आर्यो ! संगिता (द्रव्यादि के प्रति रागभाव=आसक्ति) के कारण देव देवलोको मे उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार हे आर्यो ! (वास्तव मे) पूर्व (रागभावयुक्त) तप से, पूर्व (सराग) सयम से, कर्मिता (कर्मक्षय न होने से या कर्मों के रहने) से, तथा सगिता (द्रव्यासक्ति) से, देवता देवलोको मे उत्पन्न होते है । यह बात (अर्थ) सत्य है । इसलिए कही है, हमने अपना आत्मभाव (अपना अहभाव या अपना अभिप्राय) बताने की दृष्टि से नही कही है ।'

१८ तए णं ते समणोवासया थेरेहिं भगवतेहिं इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं वागरिया समाणा हट्ठतुट्ठा थेरे भगवंते वंदंति नमसंति, २ पसिणाइं पुच्छंति, २ अट्ठाइं उवादियंति, २ उट्ठाए उट्ठेंति, २ थेरे भगवंते तिक्खुत्तो वंदंति णमसंति, २ थेराण भगवंताणं अंतियाओ पुप्फवतियाओ चेइयाओ पडिनिक्खमंति, २ जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया ।

[१८] तत्पश्चात् वे श्रमणोपासक, स्थविर भगवन्तो द्वारा (अपने प्रश्नो के कहे हुए इन और) ऐसे उत्तरो को सुनकर बडे हर्षित एव सन्तुष्ट हुए और स्थविर भगवन्तो को वन्दना नमस्कार करके अन्य प्रश्न भी पूछते हैं, प्रश्न पूछ कर फिर स्थविर भगवन्तो द्वारा दिये गये उत्तरो (अर्थों) को ग्रहण करते हैं । तत्पश्चात् वे वहाँ से उठते है और तीन बार वन्दना-नमस्कार करते हैं । फिर वे उन स्थविर भगवन्तो के पास से और उस पुष्पवतिक चैत्य से निकलकर जिस दिशा से आए थे, उसी दिशा मे वापस (अपने-अपने स्थान पर) लौट गए ।

१९ तए णं ते थेरा अन्नया कयाइ तुंगियाओ पुप्फवतिचेइयाओ पडिनिग्गच्छंति, २ बहिया जणवयविहारं विहरंति ।

[१९] इधर वे स्थविर भगवन्त भी किसी एक दिन तुंगिका नगरी के उस पुष्पवतिक चैत्य से निकले और बाहर (अन्य) जनपदो मे विचरण करने लगे ।

विवेचन—तुंगिका के श्रमणोपासकों के प्रश्न और स्थविरो के उत्तर—प्रस्तुत पांच सूत्रों (१५ से १९ तक) मे तुंगिका के श्रमणोपासको द्वारा स्थविरो का धर्मोपदेश सुनकर उनसे सविनय पूछे गये प्रश्नो तथा उनके द्वारा विभिन्न अपेक्षाओ से दिये गये उत्तरो का निरूपण है ।

देवत्व किसका फल ?—संयम और तप का फल श्रमणोपासकों द्वारा पूछे जाने पर स्थविरों ने क्रमशः अनाश्रवत्व एवं व्यवदान बताया। इस पर श्रमणोपासकों ने पुनः प्रश्न उठाया—संयम और तप का फल यदि संवर और व्यवदान निर्जरा है तो देवत्व की प्राप्ति कैसे होती है ? इस पर विभिन्न स्थविरों ने पूर्वतप, और पूर्वसंयम को देवत्व का कारण बताया। इसका आशय है—वीतरागदशा से पूर्व किया गया तप और संयम। ये दोनों (पूर्वतप और पूर्वसंयम) सरागदशा में सेवित होने से देवत्व के कारण हैं। जबकि पश्चिम तप और पश्चिम संयम रागरहित स्थिति में होते हैं। उनका फल अनाश्रवत्व और व्यवदान है। वास्तव में देवत्व के साक्षात्कारण कर्म और संग (रागभाव) हैं। शुभ कर्मों का पुंज बढ जाता है, वह क्षीण नहीं किया जाता, साथ ही संयम आदि से युक्त होते हुए भी व्यक्ति अगर समभाव (संग या आसक्ति) से युक्त है तो वह देवत्व का कारण बनता है।

व्यवदान—'दाप्' धातु काटने और 'दैप्' शोधन करने अर्थ है, इसलिए व्यवदान का अर्थ—कर्मों को काटना अथवा कार्यों के कचरे को साफ करना है।[1]

राजगृह में गौतम स्वामी का भिक्षाचर्यार्थ पर्यटन

२०. तेणं कालेणं २ रायगिहे नामं नगरे जाव परिसा पडिगया।

[२०] उस काल, उस समय में राजगृह नामक नगर था। वहाँ (श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे। परिषद् वन्दना करने गई) यावत् (धर्मोपदेश सुनकर) परिषद् वापस लौट गई।

२१. तेणं कालेणं २ समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूती-नामं अणगारे जाव[2] संखित्तविउलतेयलेस्से छट्ठंछट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे जाव विहरति।

[२१] उस काल, उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी (शिष्य) इन्द्रभूति नामक अनगार थे। वे यावत् वे विपुल तेजोलेश्या को अपने शरीर में संक्षिप्त (समेट) करके रखते थे। वे निरन्तर छट्ठ-छट्ठ (बेले-बेले) के तपश्चरण से तथा संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए यावत् विचरते थे।

२२. तए णं से भगवं गोतमे छट्ठक्खमणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेइ, बीयाए पोरिसीए झाणं झियायइ, ततियाए पोरिसीए अतुरियमचवलमसंभंते मुहपोत्तियं पडिलेहेति, २

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १३८-१३९

(ख) आचार्य ने कहा है—

पुव्व-तव-संजमा होंति रागिणो पच्छिमा अरागस्स।
रागो संगो वुत्तो संगा कम्मं भवो तेण ॥

(ग) तुलना—सरागसंयम-संयमासंयमाऽकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य।' —तत्त्वार्थ सूत्र अ. ६, सूत्र. २०

२ 'जाव' पदसूचक पाठ—"गोयमसगोत्ते सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए वइरोसहनारायसंघयणे कणगपुलकनिघसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे घोरतवे उराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी उच्छूढसरीरे"— —औप. पृ. ८३

भायणाइं वत्थाइं पडिलेहेइ, २ भायणाइं पमज्जति, २ भायणाइं उग्गाहेति, २ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति, २ समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, २ एवं वदासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए छट्ठक्खमणपारणगंसि रायगिहे नगरे उच्च-नीय-मज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडित्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह।

[२२] इसके पश्चात् छट्ठ (बेले) के पारणे के दिन भगवान् (इन्द्रभूति) गौतमस्वामी ने प्रथम प्रहर (पौरुषी) मे स्वाध्याय किया, द्वितीय प्रहर (पौरुषी) मे ध्यान ध्याया (किया,) और तृतीय प्रहर (पौरुषी) मे शारीरिक शीघ्रता-रहित, मानसिक चपलतारहित, आकुलता (हडबडी) से रहित होकर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना की, फिर पात्रो और वस्त्रो की प्रतिलेखना की, तदनन्तर पात्रो का प्रमार्जन किया और फिर उन पात्रो को लेकर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ आए । वहाँ आकर भगवान् को वन्दन-नमस्कार किया और फिर इस प्रकार निवेदन किया—'भगवन् ! आज मेरे छट्ठ तप (बेले) के पारणे का दिन है। अत आप से आज्ञा प्राप्त होने पर मैं राजगृह नगर मे उच्च, नीच और मध्यम कुलो के गृहसमुदाय मे भिक्षाचर्या की विधि के अनुसार, भिक्षाटन करना (भिक्षा लेने के निमित्त जाना) चाहता हूँ।'

(इस पर भगवान् ने कहा—) हे देवानुप्रिय ! जिस प्रकार तुम्हे सुख हो, वैसे करो, किन्तु विलम्ब मत करो।

२३ तए णं भगवं गोतमे समणेणं भगवया महावीरेण अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ गुणसिलाओ चेतियाओ पडिनिक्खमइ, २ अतुरितमचवलमसंभंते जुगंतरपलोयणाए दिट्ठीए पुरतो रियं सोहेमाणे २ जेणेव रायगिहे नगरे तेणेव उवागच्छइ, २ रायगिहे नगरे उच्च-नीय-मज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियं अडति।

[२३] भगवान् की आज्ञा प्राप्त हो जाने के बाद भगवान् गौतमस्वामी श्रमण भगवान् महावीर के पास से तथा गुणशील चैत्य से निकले। फिर वे त्वरा (उतावली), चपलता (चचलता) और सभ्रम (आकुलता-हडबडी) से रहित होकर युगान्तर (गाडी के जुए=धूसर-)प्रमाण दूर (अन्तर) तक की भूमि का अवलोकन करते हुए, अपनी दृष्टि से आगे-आगे के गमन मार्ग का शोधन करते (अर्थात्—ईर्यासमिति-पूर्वक चलते) हुए जहाँ राजगृह नगर था, वहाँ आए। वहाँ (राजगृहनगर मे) ऊँच, नीच और मध्यम कुलो के गृह-समुदाय मे विधिपूर्वक भिक्षाचरी करने के लिए पर्यटन करने लगे।

विवेचन—राजगृह में श्री गौतमस्वामी का भिक्षाचर्यार्थ पर्यटन—प्रस्तुत चार सूत्रो मे क्रमश भगवान् महावीर के राजगृह मे पदार्पण, श्रीगौतमस्वामी के छट्ठ-छट्ठ तपश्चरण, तप के पारणे के दिन विधिपूर्वक साधुचर्या से निवृत्त होकर भगवान् से भिक्षाटन के लिए अनुज्ञा प्राप्त करने और राजगृह मे ईर्या-शोधनपूर्वक भिक्षा प्राप्ति के लिए पर्यटन का सुन्दर वर्णन दिया गया है।

इस वर्णन पर से निर्ग्रन्थ साधुओ की अप्रमत्ततापूर्वक दैनिक चर्या की झाकी मिल जाती है।

कुछ विशिष्ट शब्दों की व्याख्या—घरसमुदाणस्स=घरो में समुदान अर्थात् भिक्षा के लिए। **भिक्खायरियाए**=भिक्षाचर्या की विधिपूर्वक। **जुगंतरपलोयणाए दिट्ठीए**=चलते समय अपने शरीर

का भाग तथा दृष्टिगोचर होने वाला (मार्ग का) भाग, इन दोनो के बीच का युग-जूआ-धूसर जितना अन्तर (फासला=व्यवधान) युगान्तर कहलाता है। युगान्तर तक देखने वाली दृष्टि—युगान्तरप्रलोकना दृष्टि, उससे, ईर्या=गमन करना।[1]

स्थविरों की उत्तरप्रदानसमर्थता आदि के विषय में गौतम की जिज्ञासा और भगवान् द्वारा समाधान

२४. तए णं से भगवं गोतमे रायगिहे नगरे जाव (सु. २३) अडमाणे बहुजणसद्दं निसामेति—"एवं खलु देवाणुप्पिया ! तुंगियाए नगरीए बहिया पुप्फवतीए चेतिए पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो समणोवासएहिं इमाइं एतारूवाइं वागरणाइं पुच्छिया—संजमे णं भंते ! किंफले, तवे णं भंते ! किंफले ? । तए णं ते थेरा भगवंतो ते समणोवासए एवं वदासी—संजमे णं अज्जो ! अणण्हयफले, तवे वोदाणफले तं चेव जाव (सु. १७) पुव्वतवेणं पुव्वसंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति, सच्चे णं एसमट्ठे, णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए" से कहमेतं मन्ने एवं ? ।

[२४] उस समय राजगृह नगर मे (पूर्वोक्त विधिपूर्वक) भिक्षाटन करते हुए भगवान् गौतम ने बहुत-से लोगो के मुख से इस प्रकार के उद्‌गार (शब्द) सुने—हे देवानुप्रिय ! तुंगिका नगरी के बाहर (स्थित) पुष्पवतिक नामक उद्यान (चैत्य) मे भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यानुशिष्य (पार्श्वापत्यीय) स्थविर भगवन्त पधारे थे, उनसे वहाँ के (श्रमण भगवान् महावीर के) श्रमणोपासको ने इस प्रकार के प्रश्न पूछे थे कि 'भगवन् ! संयम का क्या फल है, भगवन् ! तप का क्या फल है ?' तब (इनके उत्तर मे) उन स्थविर भगवन्तो ने उन श्रमणोपासको से इस प्रकार कहा था—"आर्यो ! संयम का फल अनाश्रवत्व (संवर) है, और तप का फल व्यवदान (कर्मों का क्षय) है।" यह सारा वर्णन पहले (सू १७) की तरह कहना चाहिए, यावत्—'हे आर्यो ! पूर्वतप से, पूर्वसंयम से, कर्मिता (कर्म शेष रहने से) और संगिता (रागभाव या आसक्ति) से देवता देवलोको में उत्पन्न होते हैं। यह बात सत्य है, इसलिए हमने कही है, हमने अपने अहंभाव (आत्मभाव) वश यह बात नही कही है।' तो मैं (गौतम) यह (इस जनसमूह की) बात कैसे मान लूँ ?

२५. [१] तए णं से समणे भगवं गोयमे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे जायसड्ढे जाव समुप्पन्नकोतुहल्ले अहापज्जत्तं समुदाणं गेण्हति, २ रायगिहातो नगरातो पडिनिक्खमति, २ अतुरियं जाव सोहेमाणे जेणेव गुणसिलाए चेतिए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवा०, २ सम० भ० महावीरस्स अदूरसामंते गमणागमणाए पडिक्कमति, एसणमणेसणं आलोएति, २ भत्तपाणं पडिदंसेति, २ समणं भ० महावीरं जाव एवं वदासि—"एवं खलु भंते ! अहं तुब्भेहिं अब्भणुण्णाते समाणे रायगिहे नगरे उच्च-नीय-मज्झिमाणि कुलाणि घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडमाणे बहुजणसद्दं निसामेमि 'एवं खलु देवाणुप्पिया ! तुंगियाए नगरीए बहिया पुप्फवईए चेइए पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो समणोवासएहिं इमाइं एतारूवाइं वागरणाइं पुच्छिता—'संजमे णं भंते ! किंफले ? तवे किंफले ? तं चेव जाव (सु. १७) सच्चे णं एसमट्ठे, णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए।'

---

१. भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १४०

[२५-१] इसके पश्चात् श्रमण भगवान् गौतम ने इस प्रकार की बात लोगो के मुख से सुनी तो उन्हे [उस बात की जिज्ञासा मे] श्रद्धा उत्पन्न हुई, और यावत् (उस बात के लिए) उनके मन मे कुतूहल भी जागा। अत भिक्षाविधिपूर्वक आवश्यकतानुसार भिक्षा लेकर वे राजगृहनगर (की सीमा) से बाहर निकले और अत्वरित गति से यावत् (ईर्यासमितिपूर्वक) ईर्या-शोधन करते हुए जहाँ गुणशीलक चैत्य था, और जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ उनके पास आए। फिर उनके निकट उपस्थित होकर गमनागमन सम्बन्धी प्रतिक्रमण किया, (भिक्षाचर्या मे लगे हुए) एषणादोषो की आलोचना की, फिर (लाया हुआ) आहार-पानी भगवान् को दिखाया। तत्पश्चात् श्रीगौतमस्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से यावत् इस प्रकार निवेदन किया—"भगवन्! मैं आपसे आज्ञा प्राप्त करके राजगृहनगर मे उच्च, नीच और मध्यम कुलो मे भिक्षा-चर्या की विधिपूर्वक भिक्षाटन कर रहा था, उस समय बहुत-से लोगो के मुख से इस प्रकार के उद्‌गार सुने कि तु गिका नगरी के बाहर (स्थित) पुष्पवतिक नामक उद्यान मे पार्श्वापत्यीय स्थविर भगवन्त पधारे थे, उनसे वहाँ के श्रमणोपासको ने इस प्रकार के प्रश्न पूछे थे कि 'भगवन्! सयम का क्या फल है? और तप का क्या फल है?' यह सारा वर्णन पहले (सू १७) की तरह कहना चाहिए, यावत् यह बात सत्य है, इसलिए कही है, किन्तु हमने अह (आत्म) भाव के वश होकर नही कही।

[२] **"त पभू णं भंते! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयणं इमाइं एतारूवाइं वागरणाइं वागरित्तए? उदाहु अप्पभू?, समिया णं भंते! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासगाण इमाइ एतारूवाइं वागरणाइं वागरित्तए? उदाहु असमिया?, आउज्जिया णं भंते! ते थेरा भगवंतो तेसि समणोवासयाण इमाई एयारूवाइं वागरणाइ वागरित्तए? उदाहु अणाउज्जिया?, पलिउज्जिया ण भंते! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाणं इमाइ एयारूवाइं वागरणाइं वागरित्तए? उदाहु अपलिउज्जिया?, पुव्वतवेणं अज्जो! देवा देवलोएसु उववज्जंति, पुव्वसंजमेण०, कम्मियाए०, संगियाए०, पुव्वतवेणं पुव्वसंजमेणं कम्मियाए संगियाए अज्जो! देवा देवलोएसु उववज्जंति। सच्चे णं एस मट्ठे नो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए?"।**

[२५-२ प्र] (यो कहकर श्री गौतम स्वामी ने पूछा—) हे भगवन्! क्या वे स्थविर भगवन्त उन श्रमणोपासको के प्रश्नो के ये और इस प्रकार के उत्तर देने मे समर्थ है, अथवा असमर्थ है? भगवन्! क्या वे स्थविर भगवन् उन श्रमणोपासको को ऐसा उत्तर देने मे सम्यक्‌रूप से ज्ञानप्राप्त (समित या सम्पन्न) (अथवा श्रमित=शास्त्राभ्यासी या अभ्यस्त) हैं, अथवा असम्पन्न या अनभ्यस्त हैं? (और) हे भगवन्! क्या वे स्थविर भगवन्त उन श्रमणोपासको को ऐसा उत्तर देने मे उपयोग वाले हैं या उपयोग वाले नही हैं? भगवन्! क्या वे स्थविर भगवन्त उन श्रमणोपासको को ऐसा उत्तर देने मे परिज्ञानी (विशिष्ट ज्ञानवान्) हैं, अथवा विशेष ज्ञानी नही हैं कि आर्यो, पूर्वतप से देवता देवलोको मे उत्पन्न होते हैं, तथा पूर्वसयम से, कर्मिता से और सगिता (आसक्ति) के कारण देवता देवलोको में उत्पन्न होते है। यह बात सत्य है, इसलिए हम कहते है, किन्तु अपने अहभाव वश नही कहते हैं?

[३] **पभू णं गोतमा! ते थेरा भगवंतो तेसिं समणोवासयाण इमाइं एयारूवाइं वागरणाइं**

वागरेत्तए, णो चेव णं अप्पभू, तह चेव नेयव्वं अविसेसियं जाव पभू समिया आउज्जिया पलिउज्जिया जाव सच्चे णं एस मट्ठे णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए।

[२५-३ उ] (महावीर प्रभु ने उत्तर दिया—) हे गौतम ! वे स्थविर भगवन्त उन श्रमणोपासकों को इस प्रकार के उत्तर देने में समर्थ हैं, असमर्थ नहीं, (शेष-सब पूर्ववत् जानना) यावत् वे सम्यक् रूप से सम्पन्न (समित) हैं अथवा अभ्यस्त (श्रमित) हैं, असम्पन्न या अनभ्यस्त नहीं; वे उपयोग वाले हैं, अनुपयोग वाले नहीं, वे विशिष्ट ज्ञानी हैं, सामान्य ज्ञानी नहीं। यह बात सत्य है, इसलिए उन स्थविरों ने कही है, किन्तु अपने अहंभाव के वश होकर नहीं कही।

[४] अहं पि णं गोयमा ! एवमाइक्खामि भासेमि पण्णवेमि परूवेमि—पुव्वतवेणं देवा देवलोएसु उववज्जंति, पुव्वसंजमेणं देवा देवलोएसु उववज्जंति, कम्मियाए देवा देवलोएसु उववज्जंति, संगियाए देवा देवलोएसु उववज्जंति, पुव्वतवेणं पुव्वसंजमेण कम्मियाए संगियाए अज्जो ! देवा देवलोएसु उववज्जंति; सच्चे णं एस मट्ठे, णो चेव णं आयभाववत्तव्वयाए।

[२५-४ उ.] हे गौतम ! मैं भी इसी प्रकार कहता हूँ, भाषण करता हूँ, बताता हूँ और प्ररूपणा करता हूँ कि पूर्वतप के कारण से देवता देवलोकों में उत्पन्न होते हैं, पूर्वसंयम के कारण देव देवलोकों में उत्पन्न होते हैं, कर्मिता (कर्मक्षय होने बाकी रहने) से देव देवलोकों में उत्पन्न होते हैं तथा संगिता (आसक्ति या रागभाव) के कारण देवता देवलोकों में उत्पन्न होते हैं। (निष्कर्ष यह है कि) आर्यो ! पूर्वतप से, पूर्वसंयम से, कर्मिता और संगिता से देवता देवलोकों में उत्पन्न होते हैं। यही बात सत्य है; इसलिए उन्होंने कही है, किन्तु अपनी अहंता प्रदर्शित करने के नहीं लिए कही।

विवेचन—स्थविरों की उत्तरप्रदान-समर्थता आदि के विषय में गौतम के प्रश्न और भगवान् द्वारा समाधान—प्रस्तुत दो सूत्रों (२४ और २५) में श्री गौतमस्वामी ने राजगृह में भिक्षाटन करते समय पार्श्वापत्यीय स्थविरों की ज्ञानशक्ति के सम्बन्ध में जो सुना था, भगवान् महावीर से उन्होंने विभिन्न पहलुओं से उनके सम्बन्ध में जिज्ञासावश पूछकर जो यथार्थ समाधान प्राप्त किया था उसका सांगोपांग निरूपण है।

'समिया' आदि पदों की व्याख्या—समिया=सम्यक्, अथवा समित सम्यक् प्रकार से इत अर्थात् ज्ञात, अथवा श्रमित=शास्त्रज्ञान में श्रम किये हुए=अभ्यस्त। **आउज्जिय**=आयोगिक—उपयोगवान् अर्थात्—ज्ञानी। **पलिउज्जिय**=प्रायोगिक अथवा परियोगिक- परिज्ञानी=सर्वतोमुखी ज्ञानवान्।[1] **एसणमणेसणं**=यतना (एषणा) पूर्वक की हुई भिक्षाचरी में लगे हुए दोष का।

श्रमण-माहनपर्युपासना का अनन्तर और परस्पर फल

२६. **[१] तहारूवं णं भंते ! समणं वा माहणं वा पज्जुवासमाणस्स किंफला पज्जुवासणा ? गोयमा ! सवणफला।**

[२६-१ प्र] भगवन् ! तथारूप (जैसा वेश है, तदनुरूप गुणों वाले) श्रमण या माहन की पर्युपासना करने वाले मनुष्य को उसकी पर्युपासना का क्या फल मिलता है ?

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १४०

[२६-१ उ.] गौतम ! तथारूप श्रमण या माहन के पर्युपासक को उसकी पर्युपासना का फल होता है—श्रवण (सत्-शास्त्र श्रवणरूप फल मिलता है)।

[२] से णं भंते ! सवणे किंफले ?

णाणफले।

[२६-२ प्र] भगवन् ! उस श्रवण का क्या फल होता है ?

[२६-२ उ.] गौतम ! श्रवण का फल ज्ञान है। (अर्थात्—शास्त्र-श्रवण से ज्ञानलाभ होता है)

[३] से णं भंते ! णाणे किंफले ?

विण्णाणफले।

[२६-३ प्र.] भगवन् ! उस ज्ञान का क्या फल है ?

[२६-३ उ.] गौतम ! ज्ञान का फल विज्ञान है (अर्थात्—ज्ञान से हेय और उपादेय तत्त्व के विवेक की प्राप्ति होती है।)

[४] से णं भंते ! विण्णाणे किंफले ?

पच्चक्खाणफले।

[२६-४ प्र.] भगवन् ! उस विज्ञान का क्या फल होता है ?

[२६-४ उ.] गौतम ! विज्ञान का फल प्रत्याख्यान (हेय पदार्थों का त्याग) है।

[५] से णं भंते ! पच्चक्खाणे किंफले ?

संजमफले।

[२६-५ प्र.] भगवन् ! प्रत्याख्यान का क्या फल होता है ?

[२६-५ उ] गौतम ! प्रत्याख्यान का फल संयम (सर्वसावद्यत्यागरूप संयम अथवा पृथ्वीकायादि १७ प्रकार का संयम) है।

[६] से णं भंते ! संजमे किंफले ?

अणण्हयफले।

[२६-६ प्र.] भगवन् ! संयम का क्या फल होता है ?

[२६-६ उ.] गौतम ! संयम का फल अनाश्रवत्व (संवर=नवीन कर्मों का निरोध) है।

[७] एवं अणण्हये तवफले। तवे वोदाणफले। वोदाणे अकिरियाफले।

[२६-७] इसी तरह अनाश्रवत्व का फल तप है, तप का फल व्यवदान (कर्मनाश) है और व्यवदान का फल अक्रिया है।

[८] से णं भंते ! अकिरिया किंफला ?
सिद्धिपज्जवसाणफला पण्णत्ता गोयमा ! गाहा—

सवणे णाणे य विण्णाणे पच्चक्खाणे य संजमे ।
अणण्हये तवे चेव वोदाणे अकिरिया सिद्धी ।। १ ।।

[२६-८ प्र] भगवन् ! उस अक्रिया का क्या फल है ?

[२६-८ उ.] गौतम ! अक्रिया का अन्तिम फल सिद्धि है । (अर्थात्—अक्रियता—अयोगी अवस्था प्राप्त होने पर अन्त में सिद्धि-मुक्ति प्राप्त होती है ।)

गाथा का अर्थ इस प्रकार है—

१ (पर्युपासना का प्रथम फल) श्रवण, २ (श्रवण का फल) ज्ञान, ३. (ज्ञान का फल) विज्ञान, ४ (विज्ञान का फल) प्रत्याख्यान, ५ (प्रत्याख्यान का फल) संयम, ६ (सयम का फल) अनाश्रवत्व, ७ (अनाश्रवत्व का फल) तप, ८ (तप का फल) व्यवदान, ९ (व्यवदान का फल) अक्रिया, और १०. (अक्रिया का फल) सिद्धि है ।

विवेचन—श्रमण-माहन-पर्युपासना का अनन्तर और परम्पर फल—प्रस्तुत सूत्र में विभिन्न विभागो द्वारा श्रमण और माहन की पर्युपासना का साक्षात् फल श्रवण और तदनन्तर उत्तरोत्तर ज्ञानादि फलो के सम्बन्ध मे निरूपण किया गया है ।

श्रमण—जो श्रम (आत्मगुणो के लिए स्वय श्रम या तप), सम (प्राणिमात्र को आत्मवत् मानने) और शम (विषय-कषायो के उपशमन) से युक्त हो, वह साधु ।

माहन—जो स्वय किसी जीव का हनन न करता हो, और दूसरो को **'मत मारो'** ऐसा उपदेश देता हो । उपलक्षण से मूलगुणो के पालक को **'माहन'** कहा जाता है । अथवा 'माहन' व्रतधारी श्रावक को भी कहते है ।

श्रमण-माहन-पर्युपासना से अन्त मे सिद्धि—श्रमणो की सेवा करने से शास्त्र-श्रवण, उससे श्रुतज्ञान, तदनन्तर श्रुतज्ञान से विज्ञान--(हेय-ज्ञेय-उपादेय का विवेक) प्राप्त होता है । जिसे ऐसा विशेष ज्ञान होता है, वही पापो का प्रत्याख्यान या हेय का त्याग कर सकता है । प्रत्याख्यान करने से मन, वचन, काय पर या पृथ्वीकायादि पर सयम रख सकता है । सयमी व्यक्ति नये कर्मो को रोक देता है । इस प्रकार का लघुकर्मी व्यक्ति तप करता है । तप से पुराने कर्मों की निर्जरा (व्यवदान) होती है । यो कर्मो की निर्जरा करने से व्यक्ति योगो का निरोध कर लेता है, योग निरोध होने से क्रिया बिलकुल बद हो जाती है, और अयोगी (अक्रिय) अवस्था से अन्त मे मुक्ति (सिद्धि) प्राप्त हो जाती है । यह है—श्रमणसेवा से उत्तरोत्तर १० फलो की प्राप्ति का लेखा-जोखा ।[1]

राजगृह का गर्मजल का स्रोत : वैसा है या ऐसा ?

२७. अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति भासेंति पण्णवेंति परूवेंति—एवं खलु

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १४१

रायगिहस्स नगरस्स बहिया वेभारस्स पव्वयस्स अहे एत्थ णं महं एगे हरए अप्पे (अघे)[1] पण्णत्ते, अणेगाइं जोयणाइं-आयाम-विक्खंभेणं नाणादुमसडमडिउद्देसे सस्सिरीए जाव पडिरूपे। तत्थ णं बहवे ओराला बलाहया संसेयंति सम्मुच्छंति वासंति तव्वतिरित्ते य णं सया समियं उसिणे २ आउकाए अभिनिस्सवइ। से कहमेतं भंते! एव ?

गोयमा! जं ण ते अण्णउत्थिया एयमाइक्खंति जावे जे ते एव परूवेंति मिच्छ ते एवमाइक्खंति जाव सव्वं नेयव्वं। अहं पुण गोतमा! एवमाइक्खामि भा० प० प०—एवं खलु रायगिहस्स नगरस्स बहिया वेभारस्स पव्वतस्स अदूरसामंते एत्थ ण महातवोवतीरप्पभवे नाम पासवणे पण्णत्ते पंच धणुसताणि आयाम-विक्खभेणं नाणादुमसंडमडिउद्देसे सस्सिरीए पासादीए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे। तत्थ णं बहवे उसिणजोणिया जीवा य पोग्गला य उदगत्ताए वक्कमंति विउक्कमंति चयंति उववज्जंति तव्वतिरित्ते वि य ण सया समितं उसिणे २ आउयाए अभिनिस्सवति—एस ण गोतमा! महातवोवतीरप्पभवे पासवणे, एस ण गोतमा! महातवोवतीरप्पभवस्स पासवणस्स अट्ठे पण्णत्ते।

सेवं भंते! २ त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वदति नमसति।

॥ बितीय सए पंचमो उद्देसो समत्तो ॥

[२७ प्र] भगवन्! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते है, भाषण करते है, बतलाते है और प्ररूपणा करते है कि 'राजगृह नगर के बाहर वैभारगिरि के नीचे एक महान् (बडा भारी) पानी का ह्रद (कुण्ड) है।[2] उसकी लम्बाई—चौडाई (आयाम-विष्कम्भ) अनेक योजन है। उसका अगला भाग (उद्देश) अनेक प्रकार के वृक्षसमूह से सुशोभित है, वह सुन्दर (श्रीयुक्त) है, यावत् प्रतिरूप (दर्शको की आँखो को सन्तुष्ट करने वाला) है। उस ह्रद मे अनेक उदार मेघ सस्वेदित (उत्पन्न) होते (गिरते) हैं, सम्मूर्छित होते (बरसते) है। इसके अतिरिक्त (कुण्ड भर जाने के उपरान्त) उसमे से सदा परिमित (समित) गर्म-गर्म जल (अप्काय) झरता रहता है।' भगवन्! (अन्यतीर्थिको का) इस प्रकार का कथन कैसा है? क्या यह (कथन) सत्य है?

[२७ उ] हे गौतम! अन्यतीर्थिक जो इस प्रकार कहते हैं, भाषण करते है, बतलाते हैं, और प्ररूपणा करते है कि राजगृह नगर के बाहर यावत् गर्म-गर्म जल झरता रहता है, यह सब (पूर्वोक्त वर्णन) वे मिथ्या कहते है, किन्तु हे गौतम! मैं इस प्रकार कहता हूँ, भाषण करता हूँ, बतलाता हू और प्ररूपणा करता हूँ, कि राजगृह नगर के बाहर वैभारगिरि के निकटवर्ती एक महातपोपतीर-प्रभव नामक झरना (प्रस्रवण) (बताया गया) है। वह लम्बाई-चौडाई मे पाच-सौ धनुष है। उसके आगे का भाग (उद्देश) अनेक प्रकार के वृक्ष-समूह से सुशोभित है, सुन्दर है,

---

१ 'अघे' के स्थान मे 'अप्पे' पाठ ही सगत लगता है, अर्थ होता है आप्य=पानी का।

२. वर्तमान मे भी यह गर्म पानी का कुण्ड राजगृह मे वैभारगिरि के निकट प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। वास्तव मे यह पर्वत मे से झर-झर कर झरने के रूप मे ही आकर इस कुण्ड मे गिरता है। कुण्ड स्वाभाविक नही है, यह तो सरकार द्वारा बना दिया गया है। बहुत से यात्री या पर्यटक आकर धर्मबुद्धि से इसमे नहाते हैं, कई चर्मरोगो को मिटाने के लिए इसमे स्नान करते हैं। इटली के आरमिश्रा के निकट भी एक ऐसा झरना है, जिसमें सर्दियो में गर्म पानी होता है और गर्मियो मे बर्फ जैसा ठडा पानी रहता है। (देखें—ससार के १५०० अद्भुत आश्चर्य, भाग २ पृ १५९)—स०

प्रसन्नताजनक है दर्शनीय है, रमणीय (अभिरूप) है और प्रतिरूप (दर्शकों के नेत्रों को सन्तुष्ट करने वाला) है। उस झरने में बहुत-से उष्णयोनिक जीव और पुद्गल जल के रूप में उत्पन्न होते हैं, नष्ट होते हैं, च्यवते (च्युत होते) हैं और उपचय (वृद्धि) को प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त उस झरने में से सदा परिमित गर्म-गर्म जल (अप्काय) झरता रहता है। हे गौतम ! यह महातपोपतीर-प्रभव नामक झरना है, और हे गौतम ! यही महातपोपतीरप्रभव नामक झरने का अर्थ (रहस्य) है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कहकर भगवान् गौतमस्वामी श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करते हैं।

विवेचन—राजगृह का गर्म जल का स्रोत : वैसा है या ऐसा ? प्रस्तुत सूत्र मे राजगृह मे वैभारगिरि के निकटस्थ उष्णजल के स्रोत के सम्बन्ध मे अन्यतीर्थिको के मन्तव्य को मिथ्या बताकर भगवान् का यथार्थ मन्तव्य प्ररूपित किया गया है।

॥ द्वितीय शतक : पंचम उद्देशक सम्पूर्ण ॥

छट्ठो उद्देसो : भासा

छठा उद्देशक : भाषा

भाषा का स्वरूप और उससे सम्बन्धित वर्णन

१. से नूणं भंते ! 'मन्नामी' ति ओधारिणी भासा ?

एवं भासापदं भाणियव्वं ।

।। बितीय सए छट्ठो उद्देसो समत्तो ।।

[१ प्र] भगवन् ! भाषा अवधारिणी है; क्या मैं ऐसा मान लूँ ?

[१ उ] गौतम ! उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर मे प्रज्ञापनासूत्र के ग्यारहवे भाषापद का समग्र वर्णन जान लेना चाहिए ।

विवेचन—भाषा का स्वरूप और उससे सम्बन्धित वर्णन—प्रस्तुत छठे उद्देशक मे एक ही सूत्र द्वारा प्रज्ञापनासूत्र के भाषापद मे वर्णित समग्र वर्णन का निर्देश कर दिया गया है ।

भाषासम्बन्धी विश्लेषण—प्रज्ञापनासूत्र के ११वें भाषापद मे अनेक द्वारो से भाषा का पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है । यथा—(१) **भेद**—भाषा के ४ भेद हैं—सत्या, असत्या, सत्या-मृषा (मिश्र) और असत्याऽमृषा (व्यवहारभाषा) (२) **भाषा का आदि (मूल) कारण**—जीव है । (३) **भाषा की उत्पत्ति**—(औदारिक, वैक्रिय तथा आहारक) शरीर से होती है । (४) **भाषा का संस्थान**—वज्र के आकार का है । (५) **भाषा के पुद्गल**—लोक के अन्त तक जाते हैं । (६) **भाषारूप मे ग्रहण किये जाने वाले पुद्गल**—अनन्तानन्तप्रदेशी स्कन्ध पुद्गल, असख्यात आकाशप्रदेशो को अवगाहित पुद्गल, एक समय, दो समय यावत् दस समय संख्यात और असख्यात समय की स्थिति वाले पुद्गल, पाच वर्ण, दो गध, पाच रस और ८ स्पर्शो मे से ४ स्पर्श (स्निग्ध, रूक्ष, ठडा, गर्म) वाले पुद्गल, तथा नियमत छह दिशा के पुद्गल भाषा के रूप मे गृहीत होते हैं । (७) **सान्तर-निरन्तर**—भाषावर्गणा के पुद्गल निरन्तर गृहीत होते हैं, किन्तु सान्तर त्यागे (छोडे) जाते है । सान्तर का अर्थ यह नही कि बीच मे रुक-रुक कर त्यागे जाते हैं, अपितु सान्तर का वास्तविक अर्थ यह है कि प्रथम समय मे गृहीत भाषा-पुद्गल दूसरे समय मे, तथा दूसरे समय मे गृहीत तीसरे समय मे त्यागे जाते हैं, इत्यादि । प्रथम समय में सिर्फ ग्रहण होता है, और अन्तिम समय मे सिर्फ त्याग होता है, बीच के समयो मे निरन्तर दोनो क्रियाएँ होती रहती हैं । यही सान्तर-निरन्तर का तात्पर्य है । (८) **भाषा की स्थिति**—जघन्य एक समय की, उत्कृष्ट असख्येय समय की । (९) **भाषा का अन्तर (व्यवधान)**—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का, उत्कृष्ट अनन्तकाल का है । (१०) **भाषा के पुद्गलों का ग्रहण और त्याग**—ग्रहण काययोग से और

त्याग वचनयोग से। **ग्रहणकाल**—जघन्य एक समय, उत्कृष्ट असख्येय समय, **त्यागकाल**—जघन्य दो समय, उत्कृष्ट असख्येय सामयिक अन्तर्मुहूर्त्त। (११) **किस योग से, किस निमित्त से, कौन सी भाषा**—ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से और मोहनीयकर्म के उदय से, वचनयोग से असत्या और सत्यामृषा-भाषा बोली जाती है, तथा ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय के क्षयोपशम से सत्य और असत्या मृषा-भाषा बोली जाती है, तथा ज्ञानावरणीय एव दर्शनावरणीय के क्षयोपशम से सत्या और असत्याऽमृषा (व्यवहार) भाषा वचनयोग से बोली जाती है। (१२) **भाषक-अभाषक**—अपर्याप्त-जीव, एकेन्द्रिय, सिद्ध भगवान् और शैलेशी प्रतिपन्न जीव अभाषक होते हैं। शेष सब जीव भाषक होते हैं। (१३) **अल्पबहुत्व**—सबसे थोडे सत्य भाषा बोलने वाले, उनसे असंख्यातगुने मिश्र भाषा बोलने वाले, उनसे असख्यातगुना असत्य भाषा बोलने वाले, उनसे असख्यातगुने व्यवहार भाषा बोलने वाले हैं तथा उनसे अनन्त गुने अभाषक जीव हैं।[१]

॥ द्वितीय शतक : छठा उद्देशक समाप्त ॥



१. (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १४२ (ख) पण्णवणासुत्तं मूलपाठ, पृष्ठ २१४-२१५

सत्तमो उद्देसो : देव

सप्तम उद्देशक : देव

देवों के प्रकार, स्थान, उपपात, संस्थान आदि का वर्णन

१. कइ णं भंते ! देवा पण्णत्ता ?

गोयमा ! चउव्विहा देवा पण्णत्ता, तं जहा—भवणवति-वाणमंतर-जोतिस-वेमाणिया ।

[१ प्र.] भगवन् ! देव कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[१ उ.] गौतम ! देव चार प्रकार के कहे गए है । वे इस प्रकार है—भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ।

२. कहि णं भंते ! भवणवासीणं देवाण ठाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए जहा ठाणपदे देवाण वत्तव्वया सा भाणियव्वा । उववादेणं लोयस्स असखेज्जइभागे । एव सव्व भाणियव्व जाव (पण्णवणासुत्तं सु. १७७ त : २११) सिद्धगंडिया समत्ता ।

"कप्पाण पतिट्ठाणं बाहल्लुच्चत्तमेव संठाण ।"

जीवाभिगमे जो वेमाणियुद्देसो भाणियव्वो सव्वो ।

।। बितीय सए सत्तमो उद्देसो समत्तो ।

[२ प्र.] भगवन् ! भवनवासी देवो के स्थान कहाँ पर कहे गए हैं ?

[२ उ.] गौतम ! भवनवासी देवो के स्थान इस रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे हैं, इत्यादि देवो की सारी वक्तव्यता प्रज्ञापनासूत्र के दूसरे स्थान-पद मे कहे अनुसार कहनी चाहिए । किन्तु विशेषता इतनी है कि यहाँ भवनवासियो के भवन कहने चाहिए । उनका उपपात लोक के असख्यातवे भाग मे होता है । यह समग्र वर्णन सिद्ध सिद्धगण्डिकापर्यन्त पूरा कहना चाहिए ।

कल्पो का प्रतिष्ठान (आधार) उनकी मोटाई, ऊँचाई और सस्थान आदि का सारा वर्णन जीवाभिगमसूत्र के वैमानिक उद्देशक पर्यन्त कहना चाहिए ।

विवेचन—देवों के प्रकार, स्थान, उपपात, संस्थान आदि का वर्णन—प्रस्तुत सप्तम उद्देशक के दो सूत्रो के द्वारा देवो के प्रकार, स्थान आदि के तथा आधार, सस्थान आदि के वर्णन को प्रज्ञापना सूत्र एव जीवाभिगम सूत्र द्वारा जान लेने का निर्देश किया गया है ।

देवों के स्थान आदि—प्रज्ञापना सूत्र के दूसरे स्थानपद मे भवनवासियो का स्थान इस प्रकार बताया है—रत्नप्रभा पृथ्वी की मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन है। उसमे से एक हजार योजन ऊपर और एक हजार योजन नीचे छोडकर बीच में १ लाख ७८ हजार योजन मे भवनपति देवों के भवन है। **उपपात**—भवनपतियो का उपपात लोक के असख्यातवे भाग मे होता है। मारणान्तिक समुद्घात की अपेक्षा और स्थान की अपेक्षा वे लोक के असख्येय भाग मे ही रहते हैं, क्योकि उनके ७ करोड ७२ लाख भवन लोक के असख्येय भाग मे ही है। इसी तरह असुरकुमार आदि के विषय मे तथा वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक, सभी देवो के स्थानो का कथन करना चाहिए, यावत् सिद्ध भगवान् के स्थानो का वर्णन करने वाले 'सिद्धगण्डिका' नामक प्रकरण तक कहना चाहिए।[1]

वैमानिक-प्रतिष्ठान आदि का वर्णन—जीवाभिगम सूत्र के वैमानिक उद्देशक मे कथित वर्णन सक्षेप मे इस प्रकार है—(१) **प्रतिष्ठान**—सौधर्म और ईशान कल्प मे विमान की पृथ्वी घनोदधि के आधार पर टिकी हुई है। इससे आगे के तीन घनोदधि और वात पर प्रतिष्ठित है। उससे आगे के सभी ऊपर के विमान आकाश के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। (२) **बाहल्य (मोटाई) और उच्चत्व**—सौधर्म और ईशान कल्प मे विमानो की मोटाई २७०० योजन और ऊँचाई ५०० योजन है। सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प मे मोटाई २६०० योजन और ऊँचाई ६०० योजन है। ब्रह्मलोक और लान्तक मे मोटाई २५०० योजन, ऊँचाई ७०० योजन है। महाशुक्र और सहस्रारकल्प मे मोटाई २४०० योजन, ऊँचाई ८०० योजन है। आनत, प्राणत, आरण और अच्युत देवलोको मे मोटाई २३०० योजन, ऊँचाई ९०० योजन है। नवग्रैवेयक के विमानो की मोटाई २२०० योजन और ऊँचाई १००० योजन है। पच अनुत्तर विमानो की मोटाई २१०० योजन और ऊँचाई ११०० योजन है। (३) **संस्थान**—दो प्रकार के (१) आवलिकाप्रविष्ट और (२) आवलिकाबाह्य। वैमानिक देव आवलिका-प्रविष्ट (पक्तिबद्ध) तीन सस्थानो वाले है—वृत्त (गोल), त्र्यस (त्रिकोण) और चतुरस्र (चतुष्कोण), आवलिकाबाह्य नाना प्रकार के सस्थानो वाले हैं। इसी तरह विमानो के प्रमाण, रग, कान्ति, गन्ध आदि का सब वर्णन जीवाभिगम सूत्र मे जान लेना चाहिए।[2]

॥ द्वितीय शतक : सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति पत्राक १४२-१४३

(ख) प्रज्ञापनासूत्र स्थानपद-द्वितीय पद, पृ. ९४ से १३० तक

२. जीवाभिगमसूत्र प्रतिपत्ति ४, विमान-उद्देशक २, सू २०९-१२

अट्ठमो उद्देसो : सभा

अष्टम उद्देशक : सभा

असुरकुमार राजा चमरेन्द्र की सुधर्मासभा आदि का वर्णन

१. कहि णं भंते ! चमरस्स असुररण्णो सभा सुहम्मा पण्णत्ता ?

गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं तिरियमसंखेज्जे दीव-समुद्दे वीईवइत्ता अरुणवरस्स दीवस्स बाहिरिल्लातो वेइयंतातो अरुणोदयं समुद्दं बायालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं चमरस्स असुररण्णो तिगिंछिकूडे नामं उप्पायपव्वते पण्णत्ते, सत्तरसएक्कवीसे जोयणसते उड्ढं उच्चत्तेणं, चत्तारितीसे जोयणसते कोसं च उव्वेहेणं; गोत्थुभस्स आवासपव्वयस्स पमाणेण नेयव्वं, नवर उवरिल्लं पमाणं मज्झे भाणियव्वं [मूले दसबावीसे जोयणसते विक्खंभेणं, मज्झे चत्तारि चउवीसे जोयणसते विक्खंभेणं, उवरिं सत्ततेवीसे जोयणसते विक्खंभेण, मूले तिण्णि जोयणसहस्साइं दोण्णि य बत्तीसुत्तरे जोयणसए किंचिविसेसूणे परिक्खेवेणं, मज्झे एगं जोयणसहस्सं तिण्णि य इगुयाले जोयणसए किंचिविसेसूणे परिक्खेवेणं, उवरिं दोण्णि य जोयणसहस्साइं दोण्णि य छलसीए जोयणसए किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं][1]; जाव मूले वित्थडे, मज्झे संखित्ते, उप्पिं विसाले । मज्झे वरवइरविग्गहिए महामउंदसंठाणसंठिए सव्वरयणामए अच्छे जाव पडिरूवे ।

से णं एगाए पउमवरवेइयाए एगेणं वणसंडेण य सव्वतो समंता संपरिक्खित्ते । पउमवरवेइयाए वणसंडस्स य वण्णओ ।

तस्स णं तिगिंछिकूडस्स उप्पायपव्वयस्स उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते । वण्णओ । तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभागे । एत्थ णं महं एगे पासातवडिंसए पण्णत्ते अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेण, पणवीसं जोयणसयं विक्खंभेण । पासायवण्णओ । उल्लोय-भूमिवण्णओ । अट्ठ जोयणाइं मणिपेढिया । चमरस्स सीहासणं सपरिवारं भाणियव्वं ।

तस्स णं तिगिंछिकूडस्स दाहिणेणं छक्कोडिसए पणपन्नं च कोडीओ पणतीसं च सतसहस्साइं पण्णासं च सहस्साइं अरुणोदए समुद्दे तिरियं वीइवइत्ता, अहे य रयणप्पभाए पुढवीए चत्तालीसं जोयण-सहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो चमरचंचा नाम रायहाणी पण्णत्ता, एगं जोयणसतसहस्सं आयाम-विक्खंभेणं जंबुद्दीवपमाणा ।[1] [पागारो दिवड्ढं जोयणसयं उड्ढं उच्चत्तेण, मूले पन्नासं जोयणाइं विक्खंभेणं, उवरिं अद्धतेरसजोयणा कविसीसगा अद्धजोयणआयाम कोसं विक्खंभेणं देसूण अद्धजोयण उड्ढं उच्चत्तेण एगमेगाए बाहाए पंच पंच दारसया, अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं—

---

१. यह पाठ हमारी मूल प्रति मे नही है, अन्य प्रतियो में है, अत: इसे कोष्ठक मे दिया गया है। —सम्पादक

२५०. उड्ढं उच्चत्तेणं, अद्धं—१२५ विक्खंभेणं ।] ओवारियलेणं सोलस जोयणसहस्साइं आयाम-विक्खंभेणं, पन्नासं जोयणसहस्साइं पंच य सत्ताणउए जोयणसए किंचिविसेसूणे परिक्खेवेणं, सव्वप्पमाणं वेमाणियप्पमाणस्स अद्धं नेयव्वं । सभा सुहम्मा उत्तरपुरत्थिमेणं, जिणघरं, ततो उववायसभा हरओ अभिसेय० अलंकारो जहा विजयस्स ।

उववाओ संकप्पो अभिसेय विभूसणा य ववसाओ ।
अच्चणियं सुहगमो वि य चमर परिवार इड्ढत्त ॥ १ ॥

॥ बितीय सए अट्ठमो उद्देसो समत्तो ॥

[१ प्र] भगवन् ! असुरकुमारो के इन्द्र, और उनके राजा चमर की सुधर्मा-सभा कहाँ पर है ?

[१ उ] गौतम ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मध्य मे स्थित मन्दर (मेरु) पर्वत से दक्षिण दिशा मे तिरछे असंख्य द्वीपो और समुद्रो को लाघने के बाद अरुणवर द्वीप आता है। उस द्वीप की वेदिका के बाहिरी किनारे से आगे बढने पर अरुणोदय नामक समुद्र आता है । इस अरुणोदय समुद्र में बयालीस लाख योजन जाने के बाद उस स्थान मे असुरकुमारो के इन्द्र, असुरकुमारो के राजा चमर का तिगिञ्छकूट नामक उत्पात पर्वत है । उसकी ऊँचाई १७२१ योजन है । उसका उद्वेध (जमीन मे गहराई) ४३० योजन और एक कोस है । इस पर्वत का नाप गोस्तुभ नामक आवासपर्वत के नाप की तरह जानना चाहिए । विशेष बात यह है कि गोस्तुभ पर्वत के ऊपर के भाग का जो नाप है, वह नाप यहाँ बीच के भाग का समझना चाहिए । (अर्थात्—तिगिञ्छकूट पर्वत का विष्कम्भ मूल मे १०२२ योजन है, मध्य मे ४२४ योजन है और ऊपर का विष्कम्भ ७२३ योजन है । उसका परिक्षेप मूल में ३२३२ योजन से कुछ विशेषोन है, मध्य मे १३४१ योजन तथा कुछ विशेषोन है और ऊपर का परिक्षेप २२८६ योजन तथा कुछ विशेषाधिक है ।) वह मूल मे विस्तृत है, मध्य मे सकीर्ण (सकडा) है और ऊपर फिर विस्तृत है । उसके बीच का भाग उत्तम वज्र जैसा है, बडे मुकुन्द के सस्थान का-सा आकार है । पर्वत पूरा रत्नमय है, सुन्दर है, यावत् प्रतिरूप है ।

वह पर्वत एक पद्मवरवेदिका से और एक वनखण्ड से चारो ओर से घिरा हुआ है । (यहाँ वेदिका और वनखण्ड का वर्णन करना चाहिए) ।

उस तिगिञ्छकूट नामक उत्पातपर्वत का ऊपरी भू-भाग बहुत ही सम एव रमणीय है । (उसका भी वर्णन यहाँ जान लेना चाहिए ।) उस अत्यन्त सम एवं रमणीय ऊपरी भूमिभाग के ठीक बीचोबीच एक महान् प्रासादावतसक (श्रेष्ठ महल) है । उसकी ऊंचाई २५० योजन है और उसका विष्कम्भ १२५ योजन है । (यहाँ उस प्रासाद का वर्णन करना चाहिए; तथा प्रासाद के सबसे ऊपर की भूमि (अट्टालिका) का वर्णन करना चाहिए ।) आठ योजन की मणिपीठिका है । (यहाँ चमरेन्द्र के सिंहासन का सपरिवार वर्णन करना चाहिए ।)

उस तिगिञ्छकूट के दक्षिण की ओर अरुणोदय समुद्र में छह सौ पचपन करोड, पैतिस लाख, पचास हजार योजन तिरछा जाने के बाद नीचे रत्नप्रभापृथ्वी का ४० हजार योजन भाग अवगाहन

करने के पश्चात् यहाँ असुरकुमारो के इन्द्र—राजा चमर की चमरचचा नाम की राजधानी है । उस राजधानी का आयाम और विष्कम्भ (लम्बाई-चौडाई) एक लाख योजन है। वह राजधानी जम्बूद्वीप जितनी है। उसका प्राकार (कोट) १५० योजन ऊँचा है। उसके मूल का विष्कम्भ ५० योजन है। उसके ऊपरी भाग का विष्कम्भ साढे तेरह योजन है। उसके कपिशीर्षको (कगूरो) की लम्बाई आधा योजन और विष्कम्भ एक कोस है। कपिशीर्षको की ऊँचाई आधे योजन से कुछ कम है। उसकी एक-एक भुजा मे पाच-पाच सौ दरवाजे हैं। उसकी ऊँचाई २५० योजन है। ऊपरी तल (उवारियल ? घर के पीठबन्ध जैसा भाग) का आयाम और विष्कम्भ (लम्बाई-चौडाई) सोलह हजार योजन है। उसका परिक्षेप (घेरा) ५०५९७ योजन से कुछ विशेषोन है। यहाँ समग्र प्रमाण वैमानिक के प्रमाण से आधा समझना चाहिए। उत्तर पूर्व मे सुधर्मासभा, जिनगृह, उसके पश्चात् उपपातसभा, ह्रद, अभिषेक सभा और अलकारसभा, यह सारा वर्णन विजय की तरह कहना चाहिए। (यह सब भी सौधर्म-वैमानिको से आधे-आधे प्रमाण वाले है।)

(गाथार्थ—) उपपात, (तत्काल उत्पन्न देव का) सकल्प, अभिषेक, विभूषणा, व्यवसाय, अर्चनिका और सिद्धायतन-सम्बन्धी गम, तथा चमरेन्द्र का परिवार और उसकी ऋद्धिसम्पन्नता, (आदि का वर्णन यहाँ समझ लेना चाहिए।)

विवेचन—असुरकुमार-राज चमरेन्द्र की सुधर्मासभा आदि का वर्णन—प्रस्तुत अष्टम उद्देशक मे एक सूत्र द्वारा अनेक पर्वत, द्वीप, समुद्रो के अवगाहन के पश्चात् आने वाली चमरेन्द्र की राजधानी चमरचंचा का विस्तृत वर्णन किया गया है।

उत्पातपर्वत आदि शब्दो के विशेषार्थ—तिरछालोक मे जाने के लिए इस पर्वत पर आकर चमर उत्पतन करता—उडता है, इससे इसका नाम **उत्पात पर्वत** पडा है। **मुकुन्द**=मुकुन्द एक प्रकार का वाद्य विशेष है। **अभिसेय सभा**=अभिषेक करने का स्थान।

पद्मवरवेदिका का वर्णन—श्रेष्ठ पद्मवेदिका की ऊँचाई आधा योजन, विष्कम्भ पाच सौ धनुष्य है, वह सर्वरत्नमयी है। उसका परिक्षेप तिगिच्छकूट के ऊपर के भाग के परिक्षेप जितना है।

वनखण्ड वर्णन—वनखण्ड का चक्रवाल विष्कम्भ देशोन दो योजन है। उसका परिक्षेप पद्मवरवेदिका के परिक्षेप जितना है। वह काला है, काली कान्ति वाला है, इत्यादि।

उत्पातपर्वत का ऊपरितल—अत्यन्त सम एव रमणीय है। वह भूमिभाग मुरज-मुख, मृदग-पुष्कर या सरोवरतल के समान है, अथवा आदर्श-मडल, करतल या चन्द्रमण्डल के समान है।

प्रासादावतंसक—वह प्रासादो मे शेखर अर्थात् सर्वोपरि सर्वश्रेष्ठ प्रासाद बादलो की तरह ऊँचा, और अपनी चमक-दमक के कारण हसता हुआ-सा प्रतीत होता है। वह प्रासाद कान्ति से श्वेत और प्रभासित है। मणि, स्वर्ण और रत्नो की कारीगरी से विचित्र है। उसका ऊपरी भाग भी सुन्दर है। उस पर हाथी, घोडे, बैल आदि के चित्र है।

चमरेन्द्र का सिंहासन—यह प्रासाद के बीच मे है। इस सिंहासन के पश्चिमोत्तर में, उत्तर मे तथा उत्तरपूर्व मे चमरेन्द्र के ६४ हजार सामानिक देवों के ६४ हजार भद्रासन है। पूर्व मे पाच पटरानियो के ५ भद्रासन सपरिवार हैं। दक्षिण-पूर्व मे आभ्यन्तर परिषद् के २४ हजार देवों के २४ हजार, दक्षिण मे मध्यमपरिषद् के २८ हजार देवो के २८ हजार और दक्षिण-पश्चिम मे बाह्यपरिषद्

के ३२ हजार देवो के ३२ हजार भद्रासन हैं। पश्चिम मे ७ सेनाधिपतियो के सात और चारो दिशाओ मे आत्मरक्षक देवो के ६४-६४ हजार भद्रासन है।

विजयदेवसभावत् चमरेन्द्रसभावर्णन—(१) **उपपात-सभा** मे तत्काल उत्पन्न हुए इन्द्र को यह सकल्प उत्पन्न होता है कि मुझे पहले क्या और पीछे क्या कार्य करना है ? मेरा जीताचार क्या है ?, (२) **अभिषेक**—फिर सामानिक देवो द्वारा बडी ऋद्धि से अभिषेकसभा मे अभिषेक होता है। (३) **अलंकार-सभा** मे उसे वस्त्राभूषणो से अलकृत किया जाता है। (४) **व्यवसाय-सभा** मे पुस्तक का वाचन किया जाता है, (५) **सिद्धायतन** मे सिद्ध भगवान् के गुणो का स्मरण तथा भाववन्दन-पूजन किया जाता है। फिर सामानिक देव आदि परिवार सहित सुधर्मासभा (चमरेन्द्र की) मे आते है।[1]

॥ द्वितीय शतक : अष्टम उद्देशक समाप्त ॥

---

१ (क) भगवती अ. वृत्ति. पत्रांक १४५-१४६

(ख) जीवाभिगम ५२१-६३२ क. आ.

नवमो उद्देसो दीव (समयखेत्तं)

नवम उद्देशक : द्वीप (समयक्षेत्र)

समयक्षेत्र-सम्बन्धी प्ररूपणा

१. किमिदं भंते ! 'समयखेत्ते' त्ति पवुच्चति ?

गोयमा ! अड्ढाइज्जा दीवा दो य समुद्दा—एस णं एवतिए 'समयखेत्ते' त्ति पवुच्चति । 'तत्थ णं अयं जंबुद्दीवे सव्वदीव-समुद्दाणं सव्वब्भतरए' (जीवाजीवाभि० सू. १२४ पत्र १७७) एवं जीवाभिगमवत्तव्वया नेयव्वा जाव अब्भितर पुक्खरद्धं जोइसविहूण ।

।। बितीय सए नवमो उद्देसो समत्तो ।।

[१ प्र] भगवन् ! यह समयक्षेत्र किसे कहा जाता है ?

[१ उ.] गौतम ! अढाई द्वीप और दो समुद्र इतना यह (प्रदेश) 'समयक्षेत्र' कहलाता है। इनमें जम्बूद्वीप नामक द्वीप समस्त द्वीपों और समुद्रों के बीचोबीच है। इस प्रकार जीवाभिगम सूत्र मे कहा हुआ सारा वर्णन यहाँ यावत् आभ्यन्तर पुष्करार्द्ध तक कहना चाहिए, किन्तु ज्योतिष्कों का वर्णन छोड देना चाहिए।

विवेचन--समयक्षेत्र सम्बन्धी प्ररूपणा--प्रस्तुत नौवे उद्देशक मे एक सूत्र द्वारा समयक्षेत्र के स्वरूप, परिमाण आदि का वर्णन जीवाभिगम सूत्र के निर्देशपूर्वक किया गया है।

समयक्षेत्र : स्वरूप और विश्लेषण—समय अर्थात् काल से उपलक्षित क्षेत्र 'समयक्षेत्र' कहलाता है। सूर्य की गति से पहचाना जाने वाला दिवस-मासादिरूप काल समयक्षेत्र-मनुष्यक्षेत्र मे ही है, इससे आगे नही है, क्योंकि इससे आगे के सूर्य चर (गतिमान) नही है, अचर है।

समयक्षेत्र का स्वरूप—जीवाभिगम सूत्र मे मनुष्यक्षेत्र (मनुष्यलोक) के स्वरूप को बताने वाली एक गाथा दी गई है—

"अरिहंत-समय-बायर-विज्जू-थणिया बलाहगा अगणी ।
आगर-णिहि-णई-उवराग-णिग्गमे वुड्ढिवयण च ।।"

अर्थात्—मानुषोत्तर पर्वत तक मनुष्यक्षेत्र कहलाता है। जहाँ तक अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव,

वासुदेव, प्रतिवासुदेव, साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका और मनुष्य हैं, वहाँ तक मनुष्यलोक कहलाता है। जहाँ तक समय, आवलिका आदि काल है, स्थूल विद्युत् है, मेघगर्जन है, मेघों की पंक्ति बरसती है, स्थूल अग्नि है, आकर, निधि, नदी, उपराग (चन्द्र-सूर्यग्रहण) है, चन्द्र, सूर्य, तारो का अतिगमन (उत्तरायण) और निर्गमन (दक्षिणायन) है, तथा रात्रि-दिन का बढ़ना-घटना इत्यादि है, वहाँ तक समयक्षेत्र-मनुष्यक्षेत्र है।[1]

॥ द्वितीय शतक : नवम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १४७ (ख) जीवाभिगम सूत्र, क. आ. ७९२-८०३

दसमो उद्देसो : अत्थिकाय

दशम उद्देशक : अस्तिकाय

अस्तिकाय : स्वरूप प्रकार एवं विश्लेषण

१. कति ण भंते ! अत्थिकाया पण्णत्ता ?

गोयमा ! पंच अत्थिकाया पण्णत्ता, तं जहा—धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए जीवत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए ।

[१ प्र] भगवन् ! अस्तिकाय कितने कहे गए है ?

[१ उ] गौतम ! अस्तिकाय पाच कहे गए है । वे इस प्रकार हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय ।

२ धम्मत्थिकाए णं भंते ! कतिवण्णे कतिगंधे कतिफासे ?

गोयमा ! अवण्णे अगंधे अरसे अफासे अरूवी अजीवे सासते अवट्ठिते लोगदव्वे । से समासतो पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वतो खेत्ततो कालतो भावतो गुणतो । दव्वतो ण धम्मत्थिकाए एगे दव्वे । खेत्ततो णं लोगप्पमाणमेत्ते । कालतो न कदायि न आसि, न कयाइ नत्थि, जाव निच्चे । भावतो अवण्णे अगंधे अरसे अफासे । गुणतो गमणगुणे ।

[२ प्र.] भगवन् ! धर्मास्तिकाय मे कितने वर्ण, कितने गन्ध, कितने रस और कितने स्पर्श है ?

[२ उ] गौतम ! धर्मास्तिकाय वर्णरहित, गन्धरहित, रसरहित, और स्पर्शरहित है, अर्थात्—धर्मास्तिकाय अरूपी है शाश्वत है, अवस्थित लोक (प्रमाण) द्रव्य है ।

सक्षेप मे, धर्मास्तिकाय पाच प्रकार का कहा गया है—द्रव्य से (धर्मास्तिकाय), क्षेत्र से (धर्मास्तिकाय), काल से (धर्मास्तिकाय), भाव से (धर्मास्तिकाय) और गुण से (धर्मास्तिकाय) । धर्मास्तिकाय द्रव्य से एक द्रव्य है, क्षेत्र से धर्मास्तिकाय लोकप्रमाण है, काल की अपेक्षा धर्मास्तिकाय कभी नही था, ऐसा नही, कभी नही है, ऐसा नही, और कभी नही रहेगा, ऐसा भी नही, किन्तु वह था, है और रहेगा, यावत् वह नित्य है। भाव की अपेक्षा धर्मास्तिकाय वर्णरहित, गन्धरहित, रसरहित और स्पर्शरहित है । गुण की अपेक्षा धर्मास्तिकाय गतिगुण वाला (गतिपरिणत जीवो और पुद्गलो के गमन मे सहायक-निमित्त) है ।

३. अधम्मत्थिकाए वि एव चेव । नवर गुणतो ठाणगुणे ।

[३] जिस तरह धर्मास्तिकाय का कथन किया गया है, उसी तरह अधर्मास्तिकाय के विषय

मे भी कहना चाहिए, किन्तु इतना अन्तर है कि अधर्मास्तिकाय गुण की अपेक्षा स्थिति गुण वाला (जीवो-पुद्गलो की स्थिति मे सहायक) है।

४. आगासत्थिकाए वि एवं चेव। नवरं खेत्तओ णं आगासत्थिकाए लोयालोयप्पमाणमेत्ते अणंते चेव जाव (सु. २) गुणओ अवगाहणागुणे।

[४] आकाशास्तिकाय के विषय में भी इसी प्रकार कहना चाहिए, किन्तु इतना अन्तर है कि क्षेत्र की अपेक्षा आकाशास्तिकाय लोकालोक-प्रमाण (अनन्त) है और गुण की अपेक्षा अवगाहना गुण वाला है।

५ जीवत्थिकाए णं भंते ! कतिवण्णे कतिगंधे कतिरसे कइफासे ?

गोयमा ! अवण्णे जाव (सु. २) अरूवी जीवे सासते अवट्ठिते लोगदव्वे। से समासओ पंचविहे पण्णत्ते; तं जहा—दव्वतो जाव गुणतो। दव्वतो णं जीवत्थिकाए अणंताइं जीवदव्वाइं। खत्तओ लोगप्पमाणमेत्ते। कालतो न कयाइ न आसि जाव (सु. २) निच्चे। भावतो पुण अवण्णे अगंधे अरसे अफासे। गुणतो उवयोगगुणे।

[५ प्र] भगवन् ! जीवास्तिकाय मे कितने वर्ण, कितने गन्ध, कितने रस और कितने स्पर्श है ?

[५ उ] गौतम ! जीवास्तिकाय वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शरहित है वह अरूपी है, जीव (आत्मा) है, शाश्वत है, अवस्थित (और प्रदेशो की अपेक्षा) लोकद्रव्य (—लोकाकाश के बराबर) है। सक्षेप मे, जीवास्तिकाय के पाच प्रकार कहे गए हैं। वह इस प्रकार—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की अपेक्षा जीवास्तिकाय। द्रव्य की अपेक्षा—जीवास्तिकाय अनन्त जीवद्रव्यरूप है। क्षेत्र की अपेक्षा—लोक-प्रमाण है। काल की अपेक्षा—वह कभी नही था, ऐसा नही, यावत् वह नित्य है। भाव की अपेक्षा—जीवास्तिकाय मे वर्ण नही, गन्ध नही, रस नही और स्पर्श नही है। गुण की अपेक्षा—जीवास्तिकाय उपयोगगुण वाला है।

६ पोग्गलत्थिकाए णं भंते ! कतिवण्णे कतिगंधे० रसे० फासे ?

गोयमा ! पंचवण्णे पंचरसे दुगंधे अट्ठफासे रूवी अजीवे सासते अवट्ठिते लोगदव्वे। से समासओ पंचविहे पण्णत्ते; तं जहा—दव्वतो खेत्तओ कालतो भावतो गुणतो। दव्वतो णं पोग्गलत्थिकाए अणंताइं दव्वाइं। खेत्ततो लोगप्पमाणमेत्ते। कालतो न कयाइ न आसि जाव (सु. २) निच्चे। भावतो वण्णमंते गंध० रस० फासमंते। गुणतो गहणगुणे।

[६ प्र] भगवन् ! पुद्गलास्तिकाय में कितने वर्ण, कितने गन्ध, कितने रस और कितने स्पर्श है ?

[६ उ] गौतम ! पुद्गलास्तिकाय में पाच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श है। वह रूपी है, अजीव है, शाश्वत और अवस्थित लोकद्रव्य है। सक्षेप में उसके पाच प्रकार कहे गए हैं;

यथा—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से और गुण से। द्रव्य की अपेक्षा—पुद्गलास्तिकाय अनन्त-द्रव्यरूप है, क्षेत्र की अपेक्षा—पुद्गलास्तिकाय लोक-प्रमाण है, काल की अपेक्षा—वह कभी नहीं था ऐसा नही, यावत् नित्य है। भाव की अपेक्षा—वह वर्ण वाला, गन्ध वाला, रस वाला और स्पर्श वाला है। गुण की अपेक्षा—वह ग्रहण गुण वाला है।

विवेचन—अस्तिकाय : स्वरूप, प्रकार एव विश्लेषण—प्रस्तुत ६ सूत्रो मे अस्तिकाय के पांच भेद एव उनमे से धर्मास्तिकाय आदि प्रत्येक के स्वरूप एव प्रकार का निरूपण किया गया है।

'अस्तिकाय' का निर्वचन—'अस्ति' का अर्थ है—प्रदेश और 'काय' का अर्थ है—समूह। अत. अस्तिकाय का अर्थ हुआ—'प्रदेशो का समूह' अथवा 'अस्ति' शब्द त्रिकालसूचक निपात (अव्यय) है। इस दृष्टि से अस्तिकाय का अर्थ हुआ—जो प्रदेशो का समूह भूतकाल मे था, वर्तमानकाल मे है और भविष्यकाल मे रहेगा।

पांचों का यह क्रम क्यो?—धर्म शब्द मगल सूचक होने से द्रव्यो मे सर्वप्रथम धर्मास्तिकाय बताया है। धर्मास्तिकाय से विपरीत अधर्मास्तिकाय होने से उसे धर्मास्तिकाय के बाद रखा गया। इन दोनो के लिये आकाशास्तिकाय आधाररूप होने से इन दोनो के बाद उसे रखा गया। आकाश की तरह जीव भी अनन्त और अमूर्त्त होने से इन दोनो तत्वो मे समानता की दृष्टि से आकाशास्तिकाय के बाद जीवास्तिकाय को रखा गया। पुद्गल द्रव्य जीव के उपयोग में आता है, इसलिए जीवास्तिकाय के बाद पुद्गलास्तिकाय कहा गया।

पंचास्तिकाय का स्वरूप-विश्लेषण—धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्य वर्णादि रहित होने से अरूपी-अमूर्त्त हैं, किन्तु वे धर्म (स्वभाव) रहित नही है। धर्मास्तिकायादि द्रव्य की अपेक्षा शाश्वत हैं, प्रदेशो की अपेक्षा अवस्थित है, धर्मास्तिकायादि प्रत्येक लोकद्रव्य (पचास्तिकायरूप लोक के अशरूप द्रव्य) हैं। गुण की अपेक्षा धर्मास्किाय गति-गुण वाला है, जैसे मछली आदि के गमन करने मे पानी सहायक होता है, वैसे ही धर्मास्तिकाय गतिक्रिया मे परिणत हुए जीवो और पुद्गलो को सहायता देता है। किन्तु स्वय गतिस्वभाव से रहित है—सदा स्थिर ही रहता है, फिर भी वह गति मे निमित्त होता है। अधर्मास्तिकाय स्थिति क्रिया मे परिणत हुए जीवो और पुद्गलो को सहायता देता है, जैसे विश्राम चाहने वाले थके हुए पथिक को छायादार वृक्ष सहायक होता है। अवगाहन गुण वाला आकाशास्तिकाय जीवादि द्रव्यो को अवकाश देता है, जैसे बेरो को रखने मे कुण्डा आधारभूत होता है। जीवास्तिकाय उपयोगगुण (चैतन्य या चित्-शक्ति) वाला है। पुद्गलास्तिकाय ग्रहण-गुण वाला है, क्योंकि औदारिकादि अनेक पुद्गलो के साथ जीव का ग्रहण (परस्पर सम्बन्ध) होता है। अथवा पुद्गलो का परस्पर मे ग्रहण-बन्ध होता है।[1]

धर्मास्तिकायादि के स्वरूप का निश्चय

७. [१] एगे भंते ! धम्मत्थिकायपदेसे 'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

[७-१ प्र.] भगवन् ! क्या धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को 'धर्मास्तिकाय' कहा जा सकता है ?

१. भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्रांक १४८

[७-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है। अर्थात्—धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को धर्मास्तिकाय नही कहा जा सकता।

[२] एवं दोण्णि तिण्णि चत्तारि पंच छ सत्त अट्ठ नव दस संखेज्जा असंखेज्जा भंते ! धम्मत्थिकायप्पदेसा 'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

[७-२ प्र.] भगवन् ! क्या धर्मास्तिकाय के दो प्रदेशो, तीन प्रदेशो, चार प्रदेशो, पाच प्रदेशो, छह प्रदेशो, सात प्रदेशो, आठ प्रदेशो, नौ प्रदेशो, दस प्रदेशो, सख्यात प्रदेशो तथा असंख्येय प्रदेशों को 'धर्मास्तिकाय' कहा जा सकता है ?

[७-२ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है। अर्थात्—धर्मास्तिकाय के असख्यात-प्रदेशो को भी धर्मास्तिकाय नही कहा जा सकना।

[३] एगपदेसूणे वि य णं भंते ! धम्मत्थिकाए 'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्वं सिया ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[७-३ प्र.] भगवन् ! एकप्रदेश से कम धर्मास्तिकाय को क्या 'धर्मास्तिकाय' कहा जा सकता है ?

[७-३ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही, अर्थात्—एकप्रदेश कम धर्मास्तिकाय को भी धर्मास्तिकाय नही कहा जा सकता।

[४] से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चइ 'एगे धम्मत्थिकायपदेसे नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया जाव (सु ७ [२]) एगपदेसूणे वि य णं धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया ?'

से नूणं गोयमा ! खंडे चक्के ? सगले चक्के ?

भगवं ! नो खंडे चक्के, सगले चक्के।

एवं छत्ते चम्मे दंडे दूसे आयुहे मोयए। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—'एगे धम्मत्थिकायपदेसे नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया जाव एगपदेसूणे वि य णं धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया।'

[७-४ प्र] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि धर्मास्तिकाय के एकप्रदेश को यावत् एकप्रदेश कम हो, वहाँ तक उसे धर्मास्तिकाय नही कहा जा सकता ?

[७-४ उ] गौतम ! (यह बतलाओ कि) चक्र का खण्ड (भाग या टुकडा) चक्र कहलाता है या सम्पूर्ण चक्र, चक्र कहलाता है ?

(गौतम—)भगवन् ! चक्र का खण्ड चक्र नही कहलाता, किन्तु सम्पूर्ण चक्र, चक्र कहलाता है।

(भगवान्—) इस प्रकार छत्र, चर्म, दण्ड, वस्त्र, शस्त्र और मोदक के विषय मे भी जानना चाहिए। अर्थात्—समग्र हो, तभी छत्र आदि कहे जाते है, इनके खण्ड को छत्र आदि नही कहा जाता। इसी कारण से, हे गौतम! ऐसा कहा जाता है कि धर्मास्तिकाय के एक प्रदेश को, यावत् जब तक उसमे एक प्रदेश भी कम हो, तब तक उसे, धर्मास्तिकाय नही कहा जा सकता।

८. [१] से किं खाइ णं भंते! 'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्वं सिया?

गोयमा! असंखेज्जा धम्मत्थिकायपदेसा ते सव्वे कसिणा पडिपुण्णा निरवसेसा एगग्गहण-गहिया, एस णं गोयमा! 'धम्मत्थिकाए' त्ति वत्तव्वं सिया।

[८-१ प्र.] भगवन्! तब फिर यह कहिए कि धर्मास्तिकाय किसे कहा जा सकता है?

[८-१ उ] हे गौतम! धर्मास्तिकाय मे असख्येय प्रदेश है, जब वे सब कृत्स्न (पूरे), परिपूर्ण, निरवशेष (एक भी बाकी न रहे) तथा एकग्रहणगृहीत अर्थात्—एक शब्द से कहने योग्य हो जाएँ, तब उस (असख्येयप्रदेशात्मक सम्पूर्ण द्रव्य) को 'धर्मास्तिकाय' कहा जा सकता है।

[२] एवं अहम्मत्थिकाए वि।

[८-२] इसी प्रकार 'अधर्मास्तिकाय' के विषय मे जानना चाहिए।

[३] आगासत्थिकाय-जीवत्थिकाय-पोग्गलत्थिकाया वि एवं चेव। नवरं पदेसा अणंता भाणियव्वा। सेसं तं चेव।

[८-३] इसी तरह आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय के विषय मे भी जानना चाहिए। विशेष बात यह है कि इन तीनो द्रव्यो के अनन्त प्रदेश कहना चाहिए। बाकी सारा वर्णन पूर्ववत् समझना।

विवेचन—धर्मास्तिकायादि के स्वरूप का निश्चय—प्रस्तुत दो सूत्रो मे उल्लिखित प्रश्नोत्तरो से यह स्वरूप निर्धारित कर दिया गया है कि धर्मास्तिकायादि के एक खण्ड या एक प्रदेश न्यून को धर्मास्तिकायादि नही कहा जा सकता, समग्रप्रदेशात्मक रूप को ही धर्मास्तिकायादि कहा जा सकता है।

निश्चयनय का मन्तव्य—प्रस्तुत मे जो यह बताया गया है कि जब तक एक भी प्रदेश कम हो, तब तक वे धर्मास्तिकाय आदि नही कहे जा सकते, किन्तु जब सभी प्रदेश परिपूर्ण हो, तभी वे धर्मास्तिकाय आदि कहे जा सकते है। अर्थात् जब वस्तु पूरी हो, तभी वह वस्तु कहलाती है, अधूरी वस्तु, वस्तु नही कहलाती, यह निश्चयनय का मन्तव्य है। व्यवहारनय की दृष्टि से तो थोडी-सी अधूरी या विकृत वस्तु को भी पूरी वस्तु कहा जाता है, उसी नाम से पुकारा जाता है। व्यवहारनय मोदक के टुकडे या कुछ न्यून अश को भी मोदक ही कहता है। जिस कुत्ते के कान कट गए हो, उसे भी कुत्ता ही कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु का एक भाग विकृत या न्यून हो गया हो, वह वस्तु अन्य वस्तु नही हो जाती, अपितु वह वही मूल वस्तु कहलाती है, क्योकि उसमे उत्पन्न विकृति या न्यूनता मूल वस्तु की पहचान मे बाधक नही होती। यह व्यवहारनय का मन्तव्य है। जीवास्तिकाय के अनन्तप्रदेशों का कथन समस्त जीवो की अपेक्षा से समझना चाहिए। एक जीव-

द्रव्य के प्रदेश असख्यात ही होते है। एक पुद्गल के सख्यात, असख्यात अथवा अनन्तप्रदेश होते हैं। समस्त पुद्गलास्तिकाय के मिलकर अनन्त (अनन्तानन्त) प्रदेश होते है।[1]

उत्थानादियुक्त जीव द्वारा आत्मभाव से जीवभाव का प्रकटीकरण

९. [१] जीवे णं भंते ! सउट्ठाणे सकम्मे सबले सवीरिए सपुरिसक्कारपरक्कमे आयभावेणं जीवभावं उवदंसेतीति वत्तव्वं सिया ?

हंता, गोयमा ! जीवे णं सउट्ठाणे जाव उवदंसेतीति वत्तव्वं सिया।

[९-१ प्र.] भगवन् ! उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार—पराक्रम वाला जीव आत्मभाव (अपने उत्थानादि परिणामो) से जीवभाव (चैतन्य) को प्रदर्शित—प्रकट करता है, क्या ऐसा कहा जा सकता है ?

[९-१ उ.] हाँ, गौतम ! उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार—पराक्रम से युक्त जीव आत्मभाव से जीवभाव को उपदर्शित—प्रकट करता है, ऐसा कहा जा सकता है।

[२] से केणट्ठेणं जाव वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! जीवे णं अणंताणं आभिणिबोहियनाणपज्जवाणं एवं सुतनाणपज्जवाणं ओहिनाणपज्जवाणं मणपज्जवनाणपज्जवाणं केवलनाणपज्जवाणं मतिअण्णाणपज्जवाणं सुतअण्णाणपज्जवाणं विभंगणाणपज्जवाणं चक्खुदंसणपज्जवाणं अचक्खुदंसणपज्जवाणं ओहिदंसणपज्जवाणं केवलदंसणपज्जवाणं उवओगं गच्छति, उवयोगलक्खणे णं जीवे। से तेणट्ठेणं एवं वुच्चइ—गोयमा ! जीवे णं सउट्ठाणे जाव वत्तव्वं सिया।

[९-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा है कि तथारूप जीव आत्मभाव से जीवभाव को प्रदर्शित करता है, ऐसा कहा जा सकता है ?

[९-२ उ.] गौतम ! जीव आभिनिबोधिक ज्ञान के अनन्त पर्यायो, श्रुतज्ञान के अनन्त पर्यायो, अवधिज्ञान के अनन्त पर्यायो, मन पर्यवज्ञान के अनन्त पर्यायो एव केवलज्ञान के अनन्त पर्यायो के तथा मतिअज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभग (अवधि) अज्ञान के अनन्तपर्यायो के, एव चक्षु-दर्शन, अचक्षु-दर्शन, अवधि-दर्शन और केवलदर्शन के अनन्तपर्यायो के उपयोग को प्राप्त करता है, क्योकि जीव का लक्षण उपयोग है। इसी कारण से, हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम वाला जीव, आत्मभाव से जीवभाव (चैतन्य स्वरूप) को प्रदर्शित (प्रकट) करता है।

विवेचन—जीव द्वारा आत्मभाव से जीवभाव का प्रकटीकरण—प्रस्तुत सूत्र मे उत्थानादि युक्त ससारी जीवो द्वारा किस प्रकार आत्मभाव (शयन-गमनादि रूप आत्मपरिणाम) से चैतन्य (जीवत्व-चेतनाशक्ति) प्रकट (प्रदर्शित) की जाती है ? इस शंका का युक्तियुक्त समाधान अंकित किया गया है।

---

१ भगवतीसूत्र, अ. वृत्ति, पत्रांक १४९

उत्थानादि विशेषण संसारी जीव के हैं—मूलपाठ के 'सउट्ठाणे' आदि जो जीव के विशेषण दिए गए हैं, वे ससारी जीवों की अपेक्षा से दिए गए हैं, क्योकि मुक्त जीवो मे उत्थानादि नही होते।

'आत्मभाव' का अर्थ है—उत्थान (उठना) शयन, गमन, भोजन, भाषण आदि रूप आत्मपरिणाम। इस प्रकार के आत्मपरिणाम द्वारा जीव का जीवत्व (चैतन्य—चेतनाशक्ति) प्रकाशित होता है; क्योकि जब विशिष्ट चेतनाशक्ति होती है, तभी विशिष्ट उत्थानादि होते हैं।

पर्यव-पर्याय—प्रज्ञाकृत विभाग या परिच्छेद को पर्यव या पर्याय कहते हैं, प्रत्येक ज्ञान, अज्ञान एव दर्शन के ऐसे अनन्त-अनन्तपर्याय होते हैं। उत्थान-शयनादि भावो मे प्रवर्तमान जीव आभिनिबोधिक आदि ज्ञानसम्बन्धी अनन्तपर्यायरूप एक प्रकार के चैतन्य (उपयोग) को प्राप्त करता है। यही जीवत्व (चैतन्यशक्तिमत्ता) को प्रदर्शित करता है।[1]

आकाशास्तिकाय के भेद-प्रभेद एवं स्वरूप का निरूपण

१०. कतिविहे णं भंते! आकासे पण्णत्ते?

गोयमा! दुविहे आगासे पण्णत्ते, तं जहा—लोयाकासे य अलोयागासे य।

[१० प्र.] भगवन्! आकाश कितने प्रकार का कहा गया है?

[१० उ.] गौतम! आकाश दो प्रकार का कहा गया है। यथा—लोकाकाश और अलोकाकाश।

११ लोयाकासे णं भंते! किं जीवा जीवदेसा जीवपदेसा, अजीवा अजीवदेसा अजीवपएसा?

गोयमा! जीवा वि जीवदेसा वि जीवपदेसा वि, अजीवा वि अजीवदेसा वि अजीवपदेसा वि। जे जीवा ते नियमा एगिंदिया बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचेंदिया अणिंदिया। जे जीवदेसा ते नियमा एगिंदियदेसा जाव अणिंदियदेसा। जे जीवपदेसा ते नियमा एगिंदियपदेसा जाव अणिंदियपदेसा। जे अजीवा ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—रूवी य अरूवी य। जे रूवी ते चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—खंधा खंधदेसा खंधपदेसा परमाणुपोग्गला। जे अरूवी ते पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा—धम्मत्थिकाए, नोधम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकायस्स पदेसा, अधम्मत्थिकाए, नोअधम्मत्थिकायस्स देसे, अधम्मत्थिकायस्स पदेसा, अद्धासमए।

[११ प्र.] भगवन्! क्या लोकाकाश मे जीव हैं? जीव के देश है? जीव के प्रदेश है? क्या अजीव हैं? अजीव के देश हैं? अजीव के प्रदेश हैं?

[११ उ] गौतम! लोकाकाश मे जीव भी हैं, जीव के देश भी है, जीव के प्रदेश भी हैं, अजीव भी है, अजीव के देश भी हैं और अजीव के प्रदेश भी हैं। जो जीव हैं, वे नियमत: (निश्चित रूप से) एकेन्द्रिय हैं, द्वीन्द्रिय हैं, त्रीन्द्रिय हैं, चतुरिन्द्रिय है, पचेन्द्रिय हैं और अनिन्द्रिय हैं। जो जीव के देश हैं, वे नियमत. एकेन्द्रिय के देश हैं, यावत् अनिन्द्रिय के देश हैं। जो जीव के प्रदेश हैं, वे

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्रांक १४९

नियमत एकेन्द्रिय के प्रदेश हैं, यावत् अनिन्द्रिय के प्रदेश हैं। जो अजीव हैं, वे दो प्रकार के कहे गए हैं यथा—रूपी और अरूपी। जो रूपी हैं, वे चार प्रकार के कहे गए हैं—स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्ध प्रदेश और परमाणुपुद्गल। जो अरूपी हैं, उनके पांच भेद कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं—धर्मास्तिकाय, नोधर्मास्तिकाय का देश, धर्मास्तिकाय के प्रदेश, अधर्मास्तिकाय, नोअधर्मास्तिकाय का देश, अधर्मास्तिकाय के प्रदेश और अद्धासमय।

१२ अलोगागासे णं भंते ! किं जीवा ? पुच्छा तह चेव (सु ११)।

गोयमा ! नो जीवा जाव नो अजीवप्पएसा। एगे अजीवदव्वदेसे अगुरुयलहुए अणंतेहिं अगुरुयलहुयगुणेहिं संजुत्ते सव्वागासे अणंतभागूणे।

[१२ प्र] भगवन् ! क्या अलोकाकाश मे जीव हैं, यावत् अजीवप्रदेश हैं ? इत्यादि पूर्ववत् पृच्छा।

[१२ उ] गौतम ! अलोकाकाश मे न जीव हैं, यावत् न ही अजीवप्रदेश हैं। वह एक अजीवद्रव्य देश है, अगुरुलघु है तथा अनन्त अगुरुलघु-गुणो से सयुक्त हैं, (क्योंकि लोकाकाश सर्वाकाश का अनन्तवां भाग है, अत) वह अनन्तभाग कम सर्वाकाशरूप है।

विवेचन—आकाशास्तिकाय : भेद-प्रभेद एवं स्वरूप का निरूपण—प्रस्तुत तीन सूत्रो द्वारा आकाशास्तिकाय के भेद-प्रभेद एव उनमे जीव-अजीव आदि के अस्तित्व के सम्बन्ध मे निरूपण किया गया है।

देश, प्रदेश—प्रस्तुत प्रसग मे देश का अर्थ है—जीव या अजीव के बुद्धिकल्पित दो, तीन आदि विभाग; तथा प्रदेश का अर्थ है—जीवदेश या अजीवदेश के बुद्धिकल्पित ऐसे सूक्ष्मतम विभाग, जिनके फिर दो विभाग न हो सके।

जीव-अजीव के देश-प्रदेशो का पृथक् कथन क्यों ?—यद्यपि जीव या अजीव कहने से ही क्रमश. जीव तथा अजीव के देश तथा प्रदेशो का ग्रहण हो जाता है, क्योंकि जीव या अजीव के देश व प्रदेश जीव या अजीव से भिन्न नही है, तथापि इन दोनो (देश और प्रदेश) का पृथक् कथन 'जीवादि पदार्थ प्रदेश-रहित हैं', इस मान्यता का निराकरण करने एव जीवादि पदार्थ सप्रदेश हैं, इस मान्यता को सूचित करने के लिए किया गया है।

स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश, परमाणुपुद्गल—परमाणुओं का समूह 'स्कन्ध' कहलाता है। स्कन्ध के दो, तीन आदि भागो को स्कन्ध-देश कहते हैं, तथा स्कन्ध के ऐसे सूक्ष्म अश, जिनके फिर विभाग न हो सके, उन्हे स्कन्धप्रदेश कहते है, 'परमाणु' ऐसे सूक्ष्मतम अंशो को कहते हैं, जो स्कन्धभाव को प्राप्त नही हुए—किसी से मिले हुए नही—स्वतत्र हैं।

अरूपी के दस भेद के बदले पांच भेद ही क्यों—अरूपी अजीव के अन्यत्र दस भेद (धर्म, अधर्म, आकाश, इन तीनो के देश और प्रदेश तथा अद्धासमय) कहे गए हैं, किन्तु यहां पांच ही भेद कहने का कारण यह है कि—तीन भेद वाले आकाश को यहां आधाररूप माना गया है, इस कारण उनके तीन भेद यहां नहीं गिने गए हैं। इन तीन भेदो को निकाल देने पर शेष रहे सात भेद। उनमें भी धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय के देश का ग्रहण नही किया गया है, क्योंकि सम्पूर्ण लोक की

पृच्छा होने से यहाँ धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के स्कन्ध के रूप मे पूर्ण का ही ग्रहण किया गया है। इसलिए इन दो भेदों को निकाल देने पर पाच भेद ही शेष रहते हैं।

अद्धा-समय—अद्धा अर्थात् काल, तद्रूप जो समय, वह अद्धासमय है।

अलोकाकाश—में जीवादि कोई पदार्थ नही है किन्तु उसे अजीवद्रव्य का एक भाग-रूप कहा गया है, उसका कारण है—आकाश के लोकाकाश और अलोकाकाश, ये दो भाग हैं। इस दृष्टि से अलोकाकाश, आकाश (अजीवद्रव्य) का एक भाग सिद्ध हुआ। अलोकाकाश अगुरुलघु है, गुरुलघु नही। वह स्व-पर-पर्यायरूप अगुरुलघु स्वभाव वाले अनन्तगुणो से युक्त है। अलोकाकाश से लोकाकाश अनन्तभागरूप है। दोनो आकाशो मे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नही होते।

लोकाकाश—जहाँ धर्मास्तिकायादि द्रव्यो की वृत्ति-प्रवृत्ति हो वह क्षेत्र लोकाकाश है।[1]

धर्मास्तिकाय आदि का प्रमाण

१३ [१] धम्मत्थिकाए णं भंते ! केमहालए पण्णत्ते ?

गोयमा ! लोए लोयमेत्ते लोयप्पमाणे लोयफुडे लोयं चेव फुसित्ताणं चिट्ठइ।

[१३-१ प्र] भगवन् ! धर्मास्तिकाय कितना बडा कहा गया है ?

[१३-१ उ] गौतम ! धर्मास्तिकाय लोकरूप है, लोकमात्र है, लोक-प्रमाण है, लोकस्पृष्ट है और लोक को ही स्पर्श करके रहा हुआ है।

[२] एव अधम्मत्थिकाए, लोयाकासे, जीवत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए। पच वि एक्काभिलावा।

[१३-२] इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय के सम्बन्ध मे भी समझ लेना चाहिए। इन पाचो के सम्बन्ध मे एक समान अभिलाप (पाठ) है।

विवेचन—धर्मास्तिकाय आदि का प्रमाण—प्रस्तुत सूत्र मे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय, इन पाचो को लोक-प्रमाण, लोकमात्र, लोकस्पृष्ट एव लोकरूप आदि बताया गया है। लोक के जितने प्रदेश हैं, उतने ही धर्मास्तिकाय के प्रदेश हैं। धर्मास्तिकायादि के सब प्रदेश लोकाकाश के साथ स्पृष्ट हैं और धर्मास्तिकायादि अपने समस्त प्रदेशो द्वारा लोक को स्पर्श करके रहे हुए है।[2]

धर्मास्तिकाय आदि की स्पर्शना

१४. अहोलोए णं भंते ! धम्मत्थिकायस्स केवतियं फुसति।

गोयमा ! सातिरेगं अद्धं फुसति।

[१४ प्र.] भगवन् ! धर्मास्तिकाय के कितने भाग को अधोलोक स्पर्श करता है ?

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति. पत्राक १५०-१५१

२. भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १५१

[१४ उ.] गौतम ! अधोलोक धर्मास्तिकाय के आधे से कुछ अधिक भाग को स्पर्श करता है।

१५. तिरियलोए णं भंते ! ० पुच्छा।

गोयमा ! असंखेज्जइभागं फुसइ।

[१५ प्र.] भगवन् ! धर्मास्तिकाय के कितने भाग को तिर्यग्लोक स्पर्श करता है ? पृच्छा०।

[१५ उ.] गौतम ! तिर्यग्लोक धर्मास्तिकाय के असंख्येय भाग को स्पर्श करता है।

१६. उड्ढलोए णं भंते ! ० पुच्छा।

गोयमा ! देसोणं अद्धं फुसइ।

[१६ प्र.] भगवन् ! धर्मास्तिकाय के कितने भाग को ऊर्ध्वलोक स्पर्श करता है ?

[१६ उ.] गौतम ! ऊर्ध्वलोक धर्मास्तिकाय के देशोन (कुछ कम) अर्धभार को स्पर्श करता है।

१७. इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी धम्मत्थिकायस्स किं संखेज्जइभागं फुसति ? असंखेज्जइभागं फुसइ ? संखिज्जे भागे फुसति ? असंखेज्जे भागे फुसति ? सव्वं फुसति ?

गोयमा ! णो संखेज्जइभागं फुसति, असंखेज्जइभागं फुसइ, णो संखेज्जे०, णो असंखेज्जे०, नो सव्वं फुसति।

[१७ प्र.] भगवन् ! यह रत्नप्रभा पृथ्वी, क्या धर्मास्तिकाय के संख्यात भाग को स्पर्श करती है या असंख्यात भाग को स्पर्श करती है, अथवा संख्यात भागों को स्पर्श करती है या असंख्यात भागों को स्पर्श करती है अथवा समग्र को स्पर्श करती है ?

[१७ उ.] गौतम ! यह रत्नप्रभा पृथ्वी, धर्मास्तिकाय के संख्यात भाग को स्पर्श नहीं करती, अपितु असंख्यात भाग को स्पर्श करती है, इसी प्रकार संख्यात भागों को, असंख्यात भागों को या समग्र धर्मास्तिकाय को स्पर्श नहीं करती।

१८. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणोवही धम्मत्थिकायस्स किं संखेज्जइभागं फुसति ? ०।

जहा रयणप्पभा (सु. १७) तहा घणोदहि-घणवात-तणुवाया वि।

[१८ प्र.] भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी का घनोदधि, धर्मास्तिकाय के संख्येय भाग को स्पर्श करता है; यावत् समग्र धर्मास्तिकाय को स्पर्श करता है ? इत्यादि पृच्छा।

[१८ उ.] हे गौतम ! जिस प्रकार रत्नप्रभापृथ्वी के लिए कहा गया है, उसी प्रकार रत्नप्रभा पृथ्वी के घनोदधि के विषय में कहना चाहिए और उसी तरह घनवात और तनुवात के विषय में भी कहना चाहिए।

१९. [१] इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए ओवासंतरे धम्मत्थिकायस्स किं संखेज्जइ-भागं फुसति, असंखेज्जइभागं फुसइ जाव (सु. १७) सव्वं फुसइ ।

गोयमा ! संखेज्जइभागं फुसइ, णो असंखेज्जेइभागं फुसइ, नोसंखेज्जे०, नो असंखेज्जे०, नो सव्वं फुसइ ।

[१९-१ प्र] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी का अवकाशान्तर क्या धर्मास्तिकाय के सख्येय भाग को स्पर्श करता है, अथवा असख्येय भाग को स्पर्श करता है ? यावत् सम्पूर्ण धर्मास्तिकाय को स्पर्श करता है ?

[१९-१ उ] गौतम ! इस रत्नप्रभापृथ्वी का अवकाशान्तर, धर्मास्तिकाय के सख्येय भाग को स्पर्श करता है, किन्तु असख्येय भाग को, सख्येय भागो को, असख्येय भागो को तथा सम्पूर्ण धर्मास्तिकाय को स्पर्श नही करता ।

[२] ओवासंतराइं सव्वाइं जहा रयणप्पभाए ।

[१९-२] इसी तरह समस्त अवकाशान्तरो के सम्बन्ध में कहना चाहिए ।

२०. जहा रयणप्पभाए पुढवीए वत्तव्वया भणिया एवं जाव[1] अहेसत्तमाए ।

[२०] जैसे रत्नप्रभा पृथ्वी के विषय मे कहा, वैसे ही यावत् नीचे सातवी पृथ्वी तक कहना चाहिए ।

२१. [जंबुद्दीवाइया दीवा, लवणसमुद्दाइया समुद्दा][2] एवं सोहम्मे कप्पे जाव[3] ईसिपब्भारा-पुढवीए । एते सव्वे वि असंखेज्जइभागं फुसंति, सेसा पडिसेहेतव्वा ।

[२१] [तथा जम्बूद्वीप आदि द्वीप और लवणसमुद्र आदि समुद्र,] सौधर्मकल्प से लेकर (यावत्) ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी तक, ये सभी धर्मास्तिकाय के असख्येय भाग को स्पर्श करते हैं । शेष भागो की स्पर्शना का निषेध करना चाहिए ।

२२. एवं अधम्मत्थिकाए । एवं लोयागासे वि । गाहा—

पुढवोदही घण तणू कप्पा गेवेज्जऽणुत्तरा सिद्धी ।
संखेज्जइभागं अंतरेसु सेसा असंखेज्जा ॥ १ ॥

॥ बितीय-सए दसमो उद्देसो समत्तो ॥

॥ बिइयं सयं समत्तं ॥

---

१. 'जाव' पद से शर्कराप्रभा आदि सातो नरकपृथ्वियो के नाम समझ लेने चाहिए ।

२. वृत्तिकार द्वारा ५२ सूत्रो की सूचना के अनुसार यहाँ 'जंबुद्दीवाइया ... समुद्दा' यह पाठ सगत नहीं लगता, इसलिए ब्राकेट में दिया गया है ।

३. 'जाव' पद से 'ईशान' से लेकर 'ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी' तक समझ लेना चाहिए ।

[२२] जिस तरह धर्मास्तिकाय की स्पर्शना कही, उसी तरह अधर्मास्तिकाय और लोकाकाशास्तिकाय की स्पर्शना के विषय में भी कहना चाहिए।

गाथा का अर्थ इस प्रकार है—

पृथ्वी, घनोदधि, घनवात, तनुवात, कल्प, ग्रैवेयक, अनुत्तर, सिद्धि (ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी) तथा सात अवकाशान्तर, इनमें से अवकाशान्तर तो धर्मास्तिकाय के सख्येय भाग का स्पर्श करते हैं और शेष सब धर्मास्तिकाय के असंख्येय भाग का स्पर्श करते हैं।

विवेचन—धर्मास्तिकायादि की स्पर्शना—प्रस्तुत नो सूत्रो (१४ से २२ तक) मे तीनो लोक, रत्नप्रभादि सात पृथ्वियाँ, उन सातो के घनोदधि, घनवात, तनुवात, अवकाशान्तर, सौधर्मकल्प से ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी तक धर्मास्तिकायादि के सख्येय, या असख्येय तथा समग्र आदि भाग के स्पर्श का विचार किया गया है।

तीनों लोकों द्वारा धर्मास्तिकाय का स्पर्श कितना और क्यों?—धर्मास्तिकाय चतुर्दश-रज्जुप्रमाण समग्र लोकव्यापी है और अधोलोक का परिमाण सात रज्जु से कुछ अधिक है। इसलिए अधोलोक धर्मास्तिकाय के आधे से कुछ अधिक भाग का स्पर्श करता है। तिर्यग्लोक का परिमाण १८०० योजन है और धर्मास्तिकाय का परिमाण असख्येय योजन का है। इसलिए तिर्यग्लोक धर्मास्तिकाय के असख्येय भाग का स्पर्श करता है। ऊर्ध्वलोक देशोन सात रज्जुपरिमाण है और धर्मास्तिकाय चौदह रज्जु-परिमाण है। इसलिए ऊर्ध्वलोक धर्मास्तिकाय के देशोन अर्धभाग का स्पर्श करता है।

वृत्तिकार के अनुसार ५२ सूत्र—यहाँ रत्नप्रभा आदि प्रत्येक पृथ्वी के विषय में पाँच-पाँच सूत्र होते है (यथा—रत्नप्रभा, उसका घनोदधि, घनवात, तनुवात और अवकाशान्तर)। इस दृष्टि से सातो पृथ्वियो के कुल २५ सूत्र हुए। बारह देवलोक के विषय में बारह सूत्र, ग्रैवेयकत्रिक के विषय मे तीन सूत्र, अनुत्तरविमान और ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के विषय मे दो सूत्र, इस प्रकार सब मिलाकर ३५+१२+३+२=५२ सूत्र होते है। इन सभी सूत्रो मे—'क्या धर्मास्तिकाय के सख्येय भाग को स्पर्श करता है? यावत् सम्पूर्ण धर्मास्तिकाय को स्पर्श करता है?' इस प्रकार कहना चाहिए। इस प्रश्न का उत्तर यह है—'सभी अवकाशान्तर धर्मास्तिकाय के सख्येय भाग को और शेष सभी असख्येय भाग को स्पर्श करते हैं।'

अधर्मास्तिकाय और लोकाकाशास्तिकाय के विषय मे भी इसी तरह सूत्र (आलापक) कहने चाहिए।[1]

॥ द्वितीय शतक : दशम उद्देशक समाप्त ॥

॥ द्वितीय शतक सम्पूर्ण ॥

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १५२

तृतीय शतक

प्राथमिक

☐ व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र का यह तृतीय शतक है ।

☐ इसमें मुख्यतया, तपस्या आदि क्रियाओं से होने वाली दिव्य उपलब्धियो का वर्णन है । इसके दस उद्देशक हैं ।

☐ प्रथम उद्देशक मे मोका नगरी मे भगवान् के पदार्पण का उल्लेख करके उसमे उद्देशक-प्रतिपादित विषयों के प्रश्नोत्तर का सकेत किया गया है । तदनन्तर अग्निभूत अनगार द्वारा पूछी गई चमरेन्द्र और उसके अधीनस्थ समस्त प्रमुख देव-देवियो की ऋद्धि, कान्ति, प्रभाव, बल, यश, सुख और वैक्रियशक्ति का, फिर वायुभूति अनगार द्वारा पूछी गई बलीन्द्र एव उसके अधीनस्थ समस्त प्रमुख देववर्ग की ऋद्धि आदि एवं वैक्रियशक्ति का, तत्पश्चात् पुन. अग्निभूति द्वारा पूछे गए नागकुमार-राज धरणेन्द्र तथा अन्य भवनपतिदेवो के इन्द्रो, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क के इन्द्रो, शक्रेन्द्र, तिष्यक सामानिक देव तथा ईशानेन्द्र से अच्युतेन्द्र तक के वैमानिक इन्द्रो की ऋद्धि आदि एव वैक्रियशक्ति की प्ररूपणा की गई है । तत्पश्चात् राजगृह मे इन्द्रभूति गौतम गणधर द्वारा ईशानेन्द्र की दिव्य ऋद्धि वैक्रियशक्ति आदि के सम्बन्ध मे पूछे जाने पर भगवान् द्वारा तामली बालतपस्वी का गृहस्थ जीवन तथा प्राणामा प्रवज्याग्रहण से लेकर ईशानेन्द्र बनने तक विस्तृत वर्णन किया गया है। फिर तामली तापस द्वारा बलिचचावासी असुरो द्वारा बलीन्द्र बनने के निदान का अस्वीकार करने से प्रकुपित होकर शव की विडम्बना करने पर ईशानेन्द्र के रूप मे भू पू तामली का प्रकोप, उससे भयभीत होकर असुरो द्वारा क्षमायाचना आदि वृत्तान्त प्रस्तुत किया गया है । अन्त मे, ईशानेन्द्र की स्थिति, मुक्ति तथा शक्रेन्द्र-ईशानेन्द्र की वैभवसम्बन्धी तुलना, सनत्कुमारेन्द्र की भवसिद्धिकता आदि का निरूपण किया गया है ।

☐ द्वितीय उद्देशक में असुरकुमार देवो के स्थान, उनके द्वारा ऊर्ध्व-अधो-तिर्यग्गमन-सामर्थ्य, तत्पश्चात् पूर्वभव मे पूरण तापस द्वारा दानामा प्रव्रज्या से लेकर असुरराज-चमरेन्द्रत्व की प्राप्ति तक का समग्र वर्णन है । उसके बाद भगवदाश्रय लेकर चमरेन्द्र द्वारा शक्रेन्द्र को छेड़े जाने पर शक्रेन्द्रकृत वज्रपात से मुक्ति का वृत्तान्त प्रस्तुत है । तत्पश्चात् फेंकी हुई वस्तु को पकड़ने तथा शक्रेन्द्र तथा चमरेन्द्र के ऊर्ध्व-अध., तिर्यग्गमन-सामर्थ्य-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर हैं । अन्त मे वज्रभयमुक्त चमरेन्द्र द्वारा भगवान् के प्रति कृतज्ञता, क्षमायाचना तथा नाट्यविधि-प्रदर्शन का और असुरकुमार देवों द्वारा सौधर्मकल्पगमन का कारणान्तर बताया गया है ।

☐ तृतीय उद्देशक मे पांच क्रियाओ, उनके अवान्तर भेदो, सक्रिय अक्रिय जीवो की अन्तक्रिया के नास्तित्व-अस्तित्व के कारणो का वर्णन है, तथा प्रमत्त-अप्रमत्त संयम के सर्वकाल एव लवणसमुद्रीय हानि-वृद्धि के कारण का प्ररूपण है ।

- ☐ चतुर्थ उद्देशक में भावितात्मा अनगार की जानने, देखने एवं विकुर्वणा करने की शक्ति की वायुकाय, मेघ आदि द्वारा रूपपरिणमन व गमनसम्बन्धी चर्चा है। चौबीस दण्डको की लेश्यासम्बन्धी प्ररूपणा है।

- ☐ पंचम उद्देशक में भावितात्मा अनगार द्वारा स्त्री आदि रूपो की वैक्रिय एवं अभियोगसम्बन्धी चर्चा है।

- ☐ छठे उद्देशक मे मायी मिथ्यादृष्टि एव अमायी सम्यग्दृष्टि अनगार द्वारा विकुर्वणा और दर्शन तथा चमरेन्द्रादि के आत्म-रक्षक देवो की सख्या का प्ररूपण है।

- ☐ सातवे उद्देशक मे शक्रेन्द्र के चारों लोकपालों के विमानस्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन है।

- ☐ आठवे उद्देशक मे भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो के अधिपतियो का वर्णन है।

- ☐ नौवे उद्देशक मे पंचेन्द्रिय-विषयो से सम्बन्धित अतिदेशात्मक वर्णन है।

- ☐ दसवे उद्देशक मे चमरेन्द्र से लेकर अच्युतेन्द्र तक की परिषदा-सम्बन्धी प्ररूपणा है।[1]

☐☐

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूल पाठ-टिप्पणयुक्त), भा. १, पृ. ३४ से ३६ तक।
(ख) श्रीमद्भगवतीसूत्रम् (टीकानुवाद टिप्पणयुक्त), खण्ड-२, पृ. १-२

तइयं सयं : तृतीय शतक

संग्रहणी गाथा

तृतीय शतक की संग्रहणी गाथा

१ केरिस विउव्वणा १ चमर २ किरिय ३ जाणित्थि ४-५ नगर ६ पाला य ७।
अहिवति ८ इंदिय ९ परिसा १० ततियम्मि सते दसुद्देसा ॥१॥

[१] तृतीय शतक में दस उद्देशक हैं। उनमे से प्रथम उद्देशक मे चमरेन्द्र की विकुर्वणा-शक्ति (विविध रूप करने—बनाने की शक्ति) कैसी है? इत्यादि प्रश्नोत्तर हैं, दूसरे उद्देशक मे चमरेन्द्र के उत्पात का कथन है। तृतीय उद्देशक मे क्रियाओ की प्ररूपणा है। चतुर्थ मे देव द्वारा विकुर्वित यान को साधु जानता है? इत्यादि प्रश्नो का निर्णय है। पांचवे उद्देशक मे साधु द्वारा (बाह्य पुद्गलो को ग्रहण करके) स्त्री आदि के रूपो की विकुर्वणा-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर है। छठे मे नगर-सम्बन्धी वर्णन है। सातवे मे लोकपाल-विषयक वर्णन है। आठवे मे अधिपति-सम्बन्धी वर्णन है। नौवे उद्देशक मे इन्द्रियो के सम्बन्ध मे निरूपण है और दसवे उद्देशक मे चमरेन्द्र की परिषद् (सभा) का वर्णन है।

पढमो उद्देसओ : विउव्वणा

[पढमो उद्देसो 'मोया—केरिस विउव्वणा']

प्रथम उद्देशक : विकुर्वणा

प्रथम उद्देशक का उपोद्घात

२. तेणं कालेणं तेणं समएणं मोया नामं नगरी होत्था। वण्णओ। तीसे णं मोयाए नगरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभागे णं नंदणे नामं चेतिए होत्था। वण्णओ तेणं कालेणं २ सामी समोसढे। परिसा निग्गच्छति। पडिगता परिसा।

[२] उस काल उस समय में 'मोका' नाम की नगरी थी। उसका वर्णन करना चाहिए। उस मोका नगरी के बाहर उत्तरपूर्व के दिशाभाग मे, अर्थात्—ईशानकोण मे नन्दन नाम का चैत्य (उद्यान) था। उसका वर्णन करना चाहिए। उस काल उस समय मे (एकदा) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी वहाँ पधारे। (श्रमण भगवान् महावीर का आगमन जान कर) परिषद् (जनता) (उनके दर्शनार्थ) निकली। (भगवान् का धर्मोपदेश सुनकर) परिषद् वापस चली गई।

विवेचन—प्रथम उद्देशक का उपोद्घात—प्रथम उद्देशक कब, कहाँ (किस नगरी में, किस

जगह), किसके द्वारा कहा गया है ? इसे बताने हेतु भूमिका के रूप में यह उपोद्घात[1] प्रस्तुत किया गया है।

चमरेन्द्र और उसके अधीनस्थ देववर्ग की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणा शक्ति

३ तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवतो महावीरस्स दोच्चे अंतेवासी अग्गिभूती नामं अणगारे गोतमे गोत्तेणं सत्तुस्सेहे जाव[2] पज्जुवासमाणे एवं वदासी—चमरे णं भंते ! असुरिंदे असुरराया केमहिड्ढीए ? केमहज्जुतीए ? केमहाबले ? केमहायसे ? केमहासोक्खे ? केमहाणुभागे ? केवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए ?

गोयमा ! चमरे णं असुरिंदे असुरराया महिड्ढीए जाव महाणुभागे। से णं तत्थ चोत्तीसाए भवणावाससतसहस्साणं, चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीणं, तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं जाव[3] विहरति। एमहिड्ढीए जाव एमहाणुभागे। एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए—से जहानामए जुवती जुवाणे हत्थेणं हत्थे गेण्हेज्जा, चक्कस्स वा नाभी अरगाउत्ता सिता, एवामेव गोयमा ! चमरे असुरिंदे असुरराया वेउव्वियसमुग्घातेणं समोहण्णति, २ संखेज्जाइं जोअणाइं दंडं निसिरति, तं जहा—रतणाणं जाव[4] रिट्ठाणं अहाबायरे पोग्गले परिसाडेति, २ अहासुहुमे पोग्गले परियाइयति, २ दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णति, २ पभू णं गोतमा ! चमरे असुरिंदे असुरराया केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं देवीहि य आइण्णं वितिकिण्णं उवत्थडं संथडं फुडं अवगाढावगाढं करेत्तए। अदुत्तरं च णं गोतमा ! पभू चमरे असुरिंदे असुरराया तिरियमसंखेज्जे दीव-समुद्दे बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं देवीहि य आइण्णे वितिकिण्णे उवत्थडे संथडे फुडे अवगाढावगाढे करेत्तए। एस णं गोतमा ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो अयमेतारूवे विसए विसयमेत्ते वुइए णो चेव णं संपत्तीए विकुव्विसु वा, विकुव्वति वा, विकुव्विस्सति वा।

---

१. 'चिन्तां प्रकृतसिद्धयर्थमुपोद्घातं विदुर्बुधाः'—साहित्यकारों द्वारा की गई इस परिभाषा के अनुसार प्रस्तुत (वक्ष्यमाण) अर्थ (बात) को सिद्ध-प्रमाणित करने हेतु किये गये चिन्तन या कथन को विद्वान् उपोद्घात कहते हैं।

२ 'जाव' पद से औपपातिक सूत्र के उत्तरार्द्ध में प्रथम और द्वितीय सूत्र में उक्त इन्द्रभूति गौतम स्वामी के विशेषणों से युक्त पाठ समझना चाहिए।

३ 'जाव' पद से 'चउण्ह लोगपालाण पचण्ह अग्गमहिसीण सपरिवाराण, तिण्ह परिसाण, सत्तण्ह अणियाण, सत्तण्ह अणियाहिवईण, चउण्ह चउसट्ठीण आयरक्खदेवसाहस्सीण, अन्नेसिं च बहूण चमरचचारायहाणिवत्थव्वाणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं आणाईसर-सेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे महयाऽऽहयनट्ट-गीय-वाइय-तंती-तल-ताल-तुडिय-घणमुइंगपडुप्प-वाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे,' यह पाठ समझना चाहिए।

४. 'जाव' पद से 'वइराणं वेरुलियाणं लोहियक्खाणं मसारगल्लाणं हंसगब्भाणं पुलयाणं सोगंधियाणं जोतीरसाणं अंकाणं अंजणाणं रयणाणं जायरूवाणं अंजणपुलयाणं फलिहाणं' यह पाठ समझना चाहिए।

[३ प्र.] उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के द्वितीय अन्तेवासी (शिष्य) अग्निभूति नामक अनगार (गणधर) जिनका गोत्र गौतम था, तथा जो सात हाथ ऊँचे (लम्बे) थे, यावत् (पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त) (भगवान् की) पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले (पूछने लगे)— "भगवन् ! असुरों का इन्द्र असुरराज चमरेन्द्र कितनी बडी ऋद्धि वाला है ? कितनी बड़ी द्युति-कान्ति वाला है ? कितने महान् बल से सम्पन्न है ? कितना महान् यशस्वी है ? कितने महान् सुखों से सम्पन्न है ? कितने महान् प्रभाव वाला है ? और वह कितनी विकुर्वणा करने मे समर्थ है ?"

[३ उ.] गौतम ! असुरों का इन्द्र असुरराज चमर महान् ऋद्धि वाला है यावत् महाप्रभावशाली है। वह वहाँ चौंतीस लाख भवनावासो पर, चौसठ हजार सामानिक देवो पर और तेंतीस त्रायस्त्रिंशक देवों पर आधिपत्य (सत्ताधीशत्व = स्वामित्व) करता हुआ यावत् विचरण करता है। (अर्थात्—) वह चमरेन्द्र इतनी बडी ऋद्धि वाला है, यावत् ऐसे महाप्रभाव वाला है; तथा उसकी विक्रिया करने की शक्ति इस प्रकार है—हे गौतम ! जैसे—कोई युवा पुरुष (अपने) हाथ से युवती स्त्री के हाथ को (दृढ़तापूर्वक) पकडता (पकड कर चलता) है, अथवा जैसे—गाड़ी के पहिये (चक्र) की धुरी (नाभि) आरों से अच्छी तरह जुडी हुई (आयुक्त = सलग्न) एव सुसम्बन्द्ध होती है, इसी प्रकार असुरेन्द्र असुरराज चमर, वैक्रिय-समुद्घात द्वारा समवहत होता है, समवहत होकर सख्यात योजन तक लम्बा दण्ड (बनाकर) निकलता है। तथा उसके द्वारा रत्नो के, यावत् रिष्ट रत्नो के स्थूल पुद्गलों को झाड़ (गिरा) देता है और सूक्ष्म पुद्गलो को ग्रहण करता है। फिर दूसरी बार वैक्रिय समुद्घात द्वारा समवहत होता है। (ऐसी प्रक्रिया से) हे गौतम ! वह असुरेन्द्र असुरराज चमर-बहुत-से (स्वशरीर प्रतिबद्ध) असुरकुमार देवों और (असुरकुमार-) देवियो द्वारा (इस तिर्यग्लोक मे) परिपूर्ण (केवलकल्प) जम्बुद्वीप नामक द्वीप को आकीर्ण (व्याप्त), व्यतिकीर्ण, उपस्तीर्ण, सस्तीर्ण, स्पृष्ट और गाढावगाढ करने में समर्थ है (ठसाठस भर सकता है)। हे गौतम ! इसके उपरान्त वह असुरेन्द्र असुरराज चमर, अनेक असुरकुमार-देव-देवियो द्वारा इस तिर्यग्लोक मे भी असख्यात द्वीपो और समुद्रो तक के स्थल को आकीर्ण, व्यतिकीर्ण, उपस्तीर्ण, सस्तीर्ण, स्पृष्ट और गाढावगाढ कर सकता है। अर्थात्—चमरेन्द्र अपनी वैक्रिय शक्ति से दूसरे रूप इतने अधिक विकुर्वित कर सकता है, जिनसे असख्य द्वीप-समुद्रों तक का स्थल भर जाता है।) हे गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर की (ही सिर्फ) ऐसी (पूर्वोक्त प्रकार की) शक्ति है, विषय है, विषयमात्र है, परन्तु चमरेन्द्र ने इस (शक्ति की) सम्प्राप्ति से कभी (इतने रूपो का) विकुर्वण किया नही, न ही करता है, और न ही करेगा।

४ जति णं भंते ! चमरे असुरिंदे असुरराया एमहिड्ढीए जाव एवइयं च णं पभू विकुव्वित्तए, चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुररण्णो सामाणिया देवा केमहिड्ढीया जाव केवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए ?

गोयमा ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो सामाणिया देवा महिड्ढीया जाव महाणुभागा। ते णं तत्थ साणं साणं भवणाणं, साणं साणं सामाणियाणं, साणं साणं अग्गमहिसीणं, जाव[1] दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरंति। एमहिड्ढीया जाव एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए—से जहानामए जुवति जुवाणं हत्थेणं हत्थे गेण्हेज्जा, चक्कस्स वा नाभी अरयाउत्ता सिया, एवामेव गोतमा ! चमरस्स

---

१. 'जाव' पद से यहाँ भी सू. ३ की तरह ······'अन्नेसि च बहूणं' ······'दिव्वाइं' तक का पाठ समझना।

असुरिंदस्स असुररण्णो एगमेगे सामाणिए देवे वेउव्वियसमुग्घातेणं समोहण्णइ, २ जाव दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णइ, २ पभू णं गोतमा ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो एगमेगे सामाणिए देवे केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं देवीहि य आइण्णं वितिकिण्णं उवत्थडं संथडं फुडं अवगाढावगाढं करेत्तए। अदुत्तरं च णं गोतमा ! पभू चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो एगमेगे सामाणियदेवे तिरियमसंखेज्जे दीव-समुद्दे बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं देवीहि य आइण्णे वितिकिण्णे उवत्थडे संथडे फुडे अवगाढावगाढे करेत्तए। एस णं गोतमा ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो एगमेगस्स सामाणियदेवस्स अयमेतारूवे विसए विसयमेत्ते वुइए, णो चेव णं संपत्तीए विकुव्विसु वा विकुव्वति वा विकुव्विस्सति वा।

[४ प्र] भगवन् ! असुरेन्द्र असुरराज चमर जब (इतनी) ऐसी बडी ऋद्धि वाला है, यावत् इतनी विकुर्वणा करने मे समर्थ है, तब, हे भगवन् ! उस असुरराज असुरेन्द्र चमर के सामानिक देवो की कितनी बडी ऋद्धि है, यावत् वे कितना विकुर्वण करने मे समर्थ हैं ?

[४ उ] हे गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर के सामानिक देव, महती ऋद्धि वाले है, यावत् महाप्रभावशाली हैं। वे वहाँ अपने-अपने भवनो पर, अपने-अपने सामानिक देवो पर तथा अपनी-अपनी अग्रमहिषियो (पटरानियो) पर आधिपत्य (सत्ताधीशत्व-स्वामित्व) करते हुए, यावत् दिव्य (देवलोक सम्बन्धी) भोगो का उपभोग करते हुए विचरते हैं। ये इस प्रकार की बडी ऋद्धि वाले हैं, यावत् इतना विकुर्वण करने मे समर्थ है—

'हे गौतम ! विकुर्वण करने के लिए असुरेन्द्र असुरराज चमर का एक-एक सामानिक देव, वैक्रिय समुद्घात द्वारा समवहत होता है और यावत् दूसरी बार भी वैक्रिय समुद्घात द्वारा समवहत होता है। जैसे कोई युवा पुरुष अपने हाथ से युवती स्त्री के हाथ को (कसकर) पकडता (हुआ चलता) है, तो वे दोनो दृढता से सलग्न मालूम होते है, अथवा जैसे गाड़ी के पहिये की धुरी (नाभी) आरो से सुसम्बद्ध (आयुक्त=सलग्न) होती है, इसी प्रकार असुरेन्द्र असुरराज चमर का प्रत्येक सामानिक देव इस सम्पूर्ण (या पूर्ण शक्तिमान्) जम्बूद्वीप नामक द्वीप को बहुत-से असुरकुमार देवो और देवियो द्वारा आकीर्ण, व्यतिकीर्ण, उपस्तीर्ण, सस्तीर्ण, स्पृष्ट और गाढावगाढ कर सकता है। इसके उपरान्त हे गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर का एक-एक सामानिक देव, इस तिर्यग्लोक के असख्य द्वीपों और समुद्रो तक के स्थल को बहुत-से असुरकुमार देवो और देवियो से आकीर्ण, व्यतिकीर्ण, उपस्तीर्ण, संस्तीर्ण, स्पृष्ट और गाढावगाढ कर सकता है। (अर्थात्— वह इतने रूपो की विकुर्वणा करने मे समर्थ है कि असंख्य द्वीप-समुद्रो तक का स्थल उन विकुर्वित देव-देवियो से ठसाठस भर जाए।) हे गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर के प्रत्येक सामानिक देव मे (पूर्वोक्त कथनानुसार) विकुर्वण करने की शक्ति है, वह विषयरूप है, विषयमात्र—शक्तिमात्र है, परन्तु (उक्त शक्ति का) प्रयोग करके उसने न तो कभी विकुर्वण किया है, न ही करता है और न ही करेगा।

५. [१] जइ णं भंते ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो सामाणिया देवा एमहिड्ढीया जाव एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुररण्णो तायत्तीसिया देवा केमहिड्ढीया ?

तायत्तीसिया देवा जहा सामाणिया तहा नेयव्वा।

[५-१ प्र.] भगवन् ! असुरेन्द्र असुरराज चमर के सामानिक देव यदि इस प्रकार की महती ऋद्धि से सम्पन्न हैं, यावत् इतना विकुर्वण करने मे समर्थ हैं, तो हे भगवन् ! उस असुरेन्द्र असुरराज चमर के त्रायस्त्रिशक देव कितनी बडी ऋद्धि वाले हैं ? (यावत् वे कितना विकुर्वण करने मे समर्थ हैं ?)

[५-१ उ.] (हे गौतम!) जैसा सामानिक देवो (की ऋद्धि एव विकुर्वणा शक्ति) के विषय में कहा था, वैसा ही त्रायस्त्रिशक देवो के विषय मे कहना चाहिए ।

[२] लोयपाला तहेव । नवरं संखेज्जा दीव-समुद्दा भाणियव्वा ।

[५-२] लोकपालो के विषय मे भी इसी तरह कहना चाहिए । किन्तु इतना विशेष कहना चाहिए कि लोकपाल (अपने द्वारा वैक्रिय किये हुए असुरकुमार देव-देवियो के रूपो से) सख्येय द्वीप समुद्रो को व्याप्त कर सकते है । (किन्तु यह सिर्फ उनकी विकुर्वणाशक्ति का विषय है, विषयमात्र है । उन्होने कदापि इस विकुर्वणाशक्ति का प्रयोग न तो किया है, न करते हैं और न ही करेगे ।)

६. जति ण भंते ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो लोगपाला देवा एमहिड्ढीया जाव एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए, चमरस्स ण भंते ! असुरिंदस्स असुररण्णो अग्गमहिसीओ देवीओ केमहिड्ढीयाओ जाव[1] केवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए ?

गोयमा ! चमरस्स णं असुरिंदस्स असुररण्णो अग्गमहिसीओ देवीओ महिड्ढीयाओ जाव महाणुभागाओ । ताओ णं तत्थ साणं साणं भवणाणं, साणं साण सामाणियसाहस्सीणं, साण साण महत्तरियाणं, साणं साणं परिसाणं जाव एमहिड्ढीयाओ, अन्नं जहा लोगपालाण (सु. ५ [२]) अपरिसेसं ।

[६ प्र] भगवन् ! जब असुरेन्द्र असुरराज चमर के लोकपाल ऐसी महाऋद्धि वाले है, यावत् वे इतना विकुर्वण करने मे समर्थ हैं, तब असुरेन्द्र असुरराज चमर की अग्रमहिषियाँ (पटरानी देवियाँ) कितनी बड़ी ऋद्धि वाली है, यावत् वे कितना विकुर्वण करने मे समर्थ हैं ?

[६ उ.] गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर की अग्रमहिषी-देवियाँ महाऋद्धिसम्पन्न है, यावत् महाप्रभावशालिनी हैं । वे अपने-अपने भवनो पर, अपने-अपने एक हजार सामानिक देवो (देवीगण) पर, अपनी-अपनी (सखी) महत्तरिका देवियो पर और अपनी-अपनी परिषदाओ पर आधिपत्य (स्वामित्व) करती हुई विचरती हैं, यावत् वे अग्रमहिषियाँ ऐसी महाऋद्धिवाली है । इस सम्बन्ध मे शेष सब वर्णन लोकपालों के समान कहना चाहिए ।

७. सेवं भंते ! २ त्ति भगवं दोच्चे गोतमे समणं भगवं महावीर वदइ नमंसइ, २ जेणेव तच्चे गोयमे वायुभूती अणगारे तेणेव उवागच्छति, २ तच्चं गोयमं वायुभूतिं अणगारं एवं वदासि—एवं खलु गोतमा ! चमरे असुरिंदे असुरराया एमहिड्ढीए तं चेव एवं सव्वं अपुट्ठवागरण नेयव्वं अपरिसेसियं जाव अग्गमहिसीणं वत्तव्वया समत्ता ।

---

१. यहाँ 'जाव' पद से **'केमहज्जुतीयाओ'** इत्यादि पाठ स्त्रीलिंग पद सहित समझना ।

[७] 'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है; हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है' (यों कहकर) द्वितीय गौतम (गोत्रीय) अग्निभूति अनगार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार करते हैं, वन्दन-नमस्कार करके जहाँ तृतीय गौतम (-गोत्रीय) वायुभूति अनगार थे, वहाँ आए। उनके निकट पहुँचकर वे, तृतीय गौतम वायुभूति अनगार से यों बोले—हे गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर ऐसी महाऋद्धि वाला है, इत्यादि समग्र वर्णन (चमरेन्द्र, उसके सामानिक, त्रायस्त्रिंशक लोकपाल, और अग्रमहिषी देवियों तक का सारा वर्णन) अपृष्ट व्याकरण (प्रश्न पूछे बिना ही उत्तर) के रूप में यहाँ कहना चाहिए।

८. तए णं से तच्चे गोयमे वायुभूती अणगारे दोच्चस्स गोतमस्स अग्गिभूतिस्स अणगारस्स एवमाइक्खमाणस्स भा० पं० परू० एतमट्ठं नो सद्दहति, नो पत्तियति, नो रोयति; एयमट्ठं असद्दहमाणे अपत्तियमाणे अरोएमाणे उट्ठाए उट्ठेति, २ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी—एवं खलु भंते ! मम दोच्चे गोतमे अग्गिभूती अणगारे एवमाइक्खति भासइ पण्णवेइ परूवेइ—एवं खलु गोतमा ! चमरे असुरिंदे असुरराया महिड्ढीए जाव महाणुभावे से णं तत्थ चोत्तीसाए भवणावाससयसहस्साणं एवं तं चेव सव्वं अपरिसेसं भाणियव्वं जाव (सु. ३—६) अग्गमहिसीणं वत्तव्वता समत्ता। से कहमेतं भंते ! एवं ?

'गोतमा' दि समणे भगवं महावीरे तच्चं गोतमं वायुभूतिं अणगारं एवं वदासि—जं णं गोतमा ! तव दोच्चे गोयमे अग्गिभूती अणगारे एवमाइक्खइ ४—"एवं खलु गोयमा ! चमरे ३ महिड्ढीए एवं तं चेव सव्वं जाव अग्गमहिसीणं वत्तव्वया समत्ता", सच्चे णं एस मट्ठे, अहं पि णं गोयमा ! एवमाइक्खामि भा० प० परू०। एवं खलु गोयमा ! चमरे ३ जाव महिड्ढीए सो चेव बितिओ गमो भाणियव्वो जाव अग्गमहिसीओ, सच्चे णं एस मट्ठे।

[८ प्र] तदनन्तर अग्निभूति अनगार द्वारा कथित, भाषित, प्रज्ञापित (निवेदित) और प्ररूपित उपर्युक्त बात (अर्थ) पर तृतीय गौतम वायुभूति अनगार को श्रद्धा नहीं हुई, प्रतीति न हुई, न ही उन्हें रुचिकर लगी। अत उक्त बात पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि न करते हुए वे तृतीय गौतम वायुभूति अनगार उत्थान—(शक्ति) द्वारा उठे और जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ (उनके पास) आए और यावत् उनकी पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—भगवन् ! द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार ने मुझ से इस प्रकार कहा, इस प्रकार भाषण किया, इस प्रकार बतलाया और प्ररूपित किया कि—'असुरेन्द्र असुरराज चमर ऐसी बड़ी ऋद्धिवाला है, यावत् ऐसा महान् प्रभावशाली है कि वह चौंतीस लाख भवनावासों आदि पर आधिपत्य—स्वामित्व करता हुआ विचरता है।' (यहाँ उसकी अग्रमहिषियों तक का शेष सब वर्णन पूर्ववत् कहना चाहिए); तो हे भगवन् ! यह बात कैसे है ?'

[८ उ.] 'हे गौतम !' इस प्रकार सम्बोधन करके श्रमण भगवान् महावीर ने तृतीय गौतम वायुभूति अनगार से इस प्रकार कहा—'हे गौतम ! द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार ने तुम से जो इस प्रकार कहा, भाषित किया, बतलाया और प्ररूपित किया कि 'हे गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर ऐसी महा-

ऋद्धि वाला है, इत्यादि उसकी अग्रमहिषियो तक का समग्र वर्णन (यहाँ कहना चाहिए)। हे गौतम ! यह कथन सत्य है। हे गौतम ! मै भी इसी तरह कहता हूँ, भाषण करता हूँ, बतलाता हूँ और प्ररूपित करता हूँ कि असुरेन्द्र असुरराज चमर महाऋद्धिशाली है, इत्यादि उसकी अग्रमहिषियो तक का समग्र वर्णनरूप द्वितीय गम (आलापक) यहाँ कहना चाहिए। (इसलिए हे गौतम ! द्वितीय गौतम अग्निभूति द्वारा कथित) यह बात सत्य है।'

९. सेवं भंते २ ० तच्चे गोयमे वायुभूती अणगारे समणे भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, २ जेणेव दोच्चे गोयमे अग्गिभूती अणगारे तेणेव उवागच्छइ, २ दोच्चं गोयमं अग्गिभूति अणगारं वंदइ नमंसति, २ एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो २ खामेति।

[९] 'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, (जैसा आप फरमाते है) भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कहकर तृतीय गौतम वायुभूति अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया, और फिर जहाँ द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार थे, वहाँ उनके निकट आए। वहाँ आकर द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार को वन्दन-नमस्कार किया और पूर्वोक्त बात के लिए (उनकी कही हुई बात नही मानी थी, इसके लिए) उनसे सम्यक् विनयपूर्वक बार-बार क्षमायाचना की।

१०. तए णं से दोच्चे गोयमे अग्गिभूई अण० तच्चेण गो० वायुभूइणा अण० एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो २ खामिए समाणे उट्ठाए उट्ठेइ, २ तच्चेण गो० वायुभूइणा अण० सद्धिं जेणेव समणे भगवं० महावीरे तेणेव उवागच्छइ, २ समणं भगव०, वंदइ० २ जाव पज्जुवासए।

[१०] तदनन्तर द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार उस पूर्वोक्त बात के लिए तृतीय गौतम वायुभूति के साथ सम्यक् प्रकार से विनयपूर्वक क्षमायाचना कर लेने पर अपने उत्थान से उठे और तृतीय गौतम वायुभूति अनगार के साथ वहाँ आए, जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे। वहाँ उनके निकट आकर उन्हे (श्रमण भगवान् महावीर को) वन्दन-नमस्कार किया, यावत् उनकी पर्युपासना करने लगे।

विवेचन—चमरेन्द्र और उसके अधीनस्थ देवो की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणाशक्ति—प्रस्तुत आठ सूत्रो (३ से १० तक) मे चमरेन्द्र और उसके अधीनस्थ सामानिक, त्रायस्त्रिंशक, लोकपाल एव अग्रमहिषियो की ऋद्धि, द्युति, बल, यश, सौख्य, प्रभाव एव विकुर्वणाशक्ति के विषय मे अग्निभूति गौतम की शकाओ का समाधान अकित है, साथ ही वायुभूति गौतम की इस समाधान के प्रति अश्रद्धा, अप्रतीति एव अरुचि होने पर श्रमण भगवान् महावीर द्वारा पुन समाधान और वायुभूति द्वारा क्षमायाचना का निरूपण है।

'गौतम'-सम्बोधन—यहाँ 'इन्द्रभूति गौतम' की तरह अग्निभूति और वायुभूतिगणधर को भी भगवान् महावीर ने 'गौतम' शब्द से सम्बोधित किया है, उसका कारण यह है कि भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर अन्तेवासी (पट्टशिष्य) थे, उनमे से प्रथम इन्द्रभूति, द्वितीय अग्निभूति और तृतीय वायुभूति थे। ये तीनो ही अनगार सहोदर भ्राता थे। ये गुब्बर (गोवर) ग्राम मे गौतम गोत्रीय विप्र श्रीवसुभूति और पृथिवीदेवी के पुत्र थे। तीनो ने भगवान् का शिष्यत्व स्वीकार लिया था। तीनो के गौतमगोत्रीय होने के कारण ही इन्हे 'गौतम' शब्द से सम्बोधित किया है, किन्तु

उनका पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व दिखलाने के लिए 'द्वितीय' और 'तृतीय' विशेषण उनके नाम से पूर्व लगा दिया गया है।[1]

दो दृष्टान्तों द्वारा स्पष्टीकरण—चमरेन्द्र वैक्रियकृत बहुत-से असुरकुमार देव-देवियो से इस सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को किस प्रकार ठसाठस भर देता है ? इसे स्पष्ट करने के लिए यहाँ दो दृष्टान्त दिये गये हैं—(१) युवक और युवती का परस्पर सलग्न होकर गमन, (२) गाडी के चक्र की नाभि (धुरी) का आरो से युक्त होना। वृत्तिकार ने इनकी व्याख्या यो की है—(१) जैसे कोई युवापुरुष काम के वशवर्ती होकर युवती स्त्री का हाथ दृढता से पकडता है, (२) जैसे गाडी के पहिये की धुरी चारो ओर आरो से युक्त हो, अथवा 'जिस धुरी मे आरे दृढतापूर्वक जुडे हुए हो। वृद्ध आचार्यों ने इस प्रकार व्याख्या की है—जैसे—यात्रा (मेले) आदि मे जहाँ बहुत भीड होती है, वहाँ युवती स्त्री युवापुरुष के हाथ को दृढता से पकडकर उसके साथ सलग्न होकर चलती है। जैसे वह स्त्री उस पुरुष से संलग्न होकर चलती हुई भी उस पुरुष से पृथक् दिखाई देती है, वैसे ही वैक्रियकृत अनेकरूप वैक्रियकर्ता मूलपुरुष के साथ सलग्न होते हुए भी उससे पृथक् दिखाई देते है। अथवा अनेक आरो से प्रतिबद्ध पहिये की धुरी सघन (पोलाररहित) और छिद्ररहित दिखाई देती है, इसी तरह से वह असुरेन्द्र असुरराज चमर अपने शरीर के साथ प्रतिबद्ध (सलग्न) वैक्रियकृत अनेक असुरकुमार देव-देवियो से पृथक् दिखाई देता हुआ इस सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को ठसाठस भर देता है। इसी प्रकार अन्य देवो की विकुर्वणाशक्ति के विषय मे समझ लेना चाहिए।[2]

विक्रिया-विकुर्वणा—यह जैन पारिभाषिक शब्द है। नारक, देव, वायु, विक्रियालब्धि-सम्पन्न कतिपय मनुष्य और पचेन्द्रिय तिर्यञ्च अपने शरीर को लम्बा, छोटा, पतला, मोटा, ऊँचा, नीचा, सुन्दर और विकृत अथवा एकरूप से अनेकरूप धारण करने हेतु जो क्रिया करते हैं, उसे **'विक्रिया'** या **'विकुर्वणा'** कहते हैं। उससे तैयार होने वाले शरीर को **'वैक्रिय शरीर'** कहते है। वैक्रिय-समुद्घात द्वारा यह विक्रिया होती है।[3]

वैक्रियसमुद्घात में रत्नादि औदारिक पुद्गलों का ग्रहण क्यों ? इसका समाधान यह है कि वैक्रिय-समुद्घात मे ग्रहण किये जाने वाले रत्न आदि पुद्गल औदारिक नही होते, वे रत्न-सदृश सारयुक्त होते है, इस कारण यहाँ रत्न आदि का ग्रहण किया गया है। कुछ आचार्यों के मतानुसार रत्नादि औदारिक पुद्गल भी वैक्रिय-समुद्घात द्वारा ग्रहण करते समय वैक्रिय पुद्गल बन जाते है।[4]

आइण्णे वितिकिण्णे आदि शब्दों के अर्थ—मूलपाठ मे प्रयुक्त 'आइण्णे' आदि ६ शब्द प्राय एकार्थक हैं, और अत्यन्तरूप से व्याप्त कर (भर) देता है, इस अर्थ को सूचित करने के लिए है, फिर भी इनके अर्थ मे थोडा-थोडा अन्तर इस प्रकार है—**आइण्णं**=आकीर्ण—व्याप्त, **वितिकिण्णं**=

---

१ (क) भगवतीसूत्र के थोकडे, द्वितीय भाग पृ १
(ख) भगवतीसूत्र (टीकानुवादसहित प. बेचरदासजी), खण्ड २, पृ ३
(ग) समवायाग—११वाँ समवाय।

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्राक १५४

३. भगवतीसूत्र (टीकानुवादसहित प. बेचरदासजी), खण्ड २, पृ १०

४ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्रांक १५४

विशेषरूप से व्याप्त, **उवत्थडं**=उपस्तीर्ण=आसपास फैला हुआ, **संथड**=सस्तीर्ण—सम्यक् प्रकार से फैला हुआ, **फुडं**=स्पृष्ट—एक दूसरे से सटा हुआ, **अवगाढावगाढं**=अत्यन्त ठोस—दृढ़तापूर्वक जकड़े हुए।[1]

चमरेन्द्र आदि की विकुर्वणाशक्ति प्रयोग रहित—यहाँ चमरेन्द्र आदि की जो विकुर्वणाशक्ति बताई गई है, वह केवल शक्तिमात्र है, क्रियारहित विषयमात्र है। चमरेन्द्र आदि सम्प्राप्ति (क्रियारूप) से इतने रूपो की विकुर्वणा किसी काल मे नही करते।[2]

देवनिकाय मे दस कोटि के देव—इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिश, पारिषद्य, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक, ये दस भेद प्रत्येक देवनिकाय मे होते है, किन्तु व्यन्तर और ज्योतिष्क देवो में त्रायस्त्रिश और लोकपाल नही होते। दसो मे से यहाँ पाँच का उल्लेख है, उनके अर्थ इस प्रकार हैं—**इन्द्र**=अन्य देवो से असाधारण अणिमादिगुणो से सुशोभित, तथा सामानिक आदि सभी प्रकार के देवो का स्वामी। **सामानिक**—आज्ञा और ऐश्वर्य (इन्द्रत्व) के सिवाय आयु, वीर्य, परिवार, भोग-उपभोग आदि मे इन्द्र के समान ऋद्धि वाले। **त्रायस्त्रिश**—जो देव मत्री और पुरोहित का काम करते हैं, ये सख्या मे ३३ ही होते है। **लोकपाल**=आरक्षक के समान अर्थचर, लोक (जनता) का पालन-रक्षण करने वाले। **आत्मरक्ष**=जो अगरक्षक के समान हैं।[3]

अग्रमहिषियाँ—चमरेन्द्र की अग्रमहिषी (पटरानी) देविया पाच हैं—काली, रात्रि, रत्नी, विद्युत् और मेघा।[4] **महत्तरिया**=महत्तरिका—भिन्नरूपा देवी।

वैरोचनेन्द्र बलि और उसके अधीनस्थ देववर्ग की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणाशक्ति

११. तए णं से तच्चे गो० वायुभूती अण० समण भगव० वदइ नमसइ, २ एवं वदासी[5]—जति णं भंते ! चमरे असुरिंदे असुरराया एमहिड्ढीए जाव (सु ३) एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए, बली णं भंते ! वइरोयणिंदे वइरोयणराया केमहिड्ढीए जाव (सु ३) केवइयं च णं पभू विकुव्वित्तए ?

गोयमा ! बली णं वइरोयणिंदे वइरोयणराया महिड्ढीए जाव (सु ३) महाणुभागे। से णं तत्थ तीसाए भवणावाससयसहस्साणं, सट्ठीए सामाणियसाहस्सीणं सेस जहा चमरस्स,[6] नवरं चउण्ह सट्ठीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अन्नेसिं च जाव भु जमाणे विहरति। से जहानामए एवं जहा चमरस्स; णवरं सातिरेगं केवलकप्पं जबुद्दीवे दीवं ति भाणियव्व।[7] सेसं तहेव जाव विउव्विस्सति वा (सु ३)।

---

१. (क) भगवतीसूत्र विवेचन (प घेवरचन्दजी), भा २, पृ ५३५ (ख) भगवती अ वृ, पत्र १५५

२. भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १५५

३. (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १५४ (ख) तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि टीका, पृ. १७५

४. ज्ञाताधर्मकथाग, प्रथम वर्ग, १ से ५ अध्ययन।

५ पाठान्तर—"तते ण से तच्चे गोतमे वायुभूती अणगारे दोच्चेण गोयमेण अग्गिभूतिणा अणगारेण सद्धिं जेणेव समणे भगव महावीरे जाव पज्जुवासमाणे एव वयासी"—

६. पाठान्तर—"स्स तहा बलिस्स वि नेयव्व, नवर सातिरेग केवल"।

७. पाठान्तर—"सेस त चेव णिरवसेस णेयव्वं, णवर णाणत्त जाणियव्व भवणेहिं सामाणिएहिं, सेव भते २ त्ति तच्चे गोयमे वायुभूति जाव विहरति।"

[११ प्र.] इसके पश्चात् तीसरे गौतम (-गोत्रीय) वायुभूति अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार किया, और फिर यों बोले—'भगवन् ! यदि असुरेन्द्र असुरराज चमर इतनी बड़ी ऋद्धि वाला है, यावत् इतनी विकुर्वणाशक्ति से सम्पन्न है, तब हे भगवन् ! वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि कितनी बड़ी ऋद्धि वाला है ? यावत् वह कितनी विकुर्वणा करने में समर्थ है ?'

[११ उ] गौतम ! वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि महाऋद्धिसम्पन्न है, यावत् महानुभाग (महाप्रभावशाली) है। वह वहाँ तीस लाख भवनावासों का तथा साठ हजार सामानिक देवों का अधिपति है। जैसे चमरेन्द्र के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है, वैसे बलि के विषय में भी शेष वर्णन जान लेना चाहिए। अन्तर इतना ही है कि बलि वैरोचनेन्द्र दो लाख चालीस हजार आत्मरक्ष देवों का तथा अन्य बहुत-से (उत्तरदिशावासी असुरकुमार देव-देवियों का) आधिपत्य यावत् उपभोग करता हुआ विचरता है। चमरेन्द्र की विकुर्वणाशक्ति की तरह बलीन्द्र के विषय में भी युवक युवती का हाथ दृढ़ता से पकड़ कर चलता है, तब वे जैसे संलग्न होते हैं, अथवा जैसे गाड़ी के पहिये की धुरी में आरे संलग्न होते हैं, ये दोनों दृष्टान्त जानने चाहिए। विशेषता यह है कि बलि अपनी विकुर्वणा-शक्ति से सातिरेक सम्पूर्ण जम्बूद्वीप (जम्बूद्वीप से कुछ अधिक स्थल) को भर देता है। शेष सारा वर्णन यावत् 'विकुर्वणा करेंगे भी नहीं', यहाँ तक पूर्ववत् (उसी तरह) समझ लेना चाहिए।

[1]१२. जइ णं भंते ! बली वइरोयणिंदे वैरोयणराया एमहिड्ढीए जाव (सु. ३) एवइयं च णं पभू विउव्वित्तए बलिस्स णं वइरोयणस्स सामाणियदेवा केमहिड्ढीया ?

एवं सामाणियदेवा तावत्तीसा लोकपालऽग्गमहिसीओ य जहा चमरस्स (सु ४-६), नवरं साइरेगं जंबुद्दीवं जाव एगमेगाए अग्गमहिसीए देवीए, इमे वुइए विसए जाव विउव्विस्संति वा। सेवं भंते ! २ तच्चे गो० वायुभूती अण० समणं भगवं महा० वंदइ ण०, २ नऽच्चासन्ने जाव पज्जुवासइ।

[१२ प्र] भगवन् ! यदि वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि इतनी महाऋद्धि वाला है, यावत् उसकी इतनी विकुर्वणाशक्ति है तो उस वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि के सामानिक देव कितनी बड़ी ऋद्धि वाले हैं, यावत् उनकी विकुर्वणाशक्ति कितनी है ?

[१२ उ] (गौतम !) बलि के सामानिक देव, त्रायस्त्रिंशक एवं लोकपाल तथा अग्रमहिषियों की ऋद्धि एवं विकुर्वणाशक्ति का वर्णन चमरेन्द्र के सामानिक देवों की तरह समझना चाहिए। विशेषता यह है कि इनकी विकुर्वणाशक्ति सातिरेक जम्बूद्वीप के स्थल तक को भर देने की है; यावत् प्रत्येक अग्रमहिषी की इतनी विकुर्वणाशक्ति विषयमात्र कही है; यावत् वे विकुर्वणा करेंगी भी नहीं, यहाँ तक पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

'हे भगवन् ! जैसा आप कहते हैं, वह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह उसी प्रकार है,' यों कह कर तृतीय गौतम वायुभूति अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार किया और फिर न अतिदूर, और न अतिनिकट रहकर वे यावत् पर्युपासना करने लगे।

विवेचन—वैरोचनेन्द्र बलि और उसके अधीनस्थ देववर्ग की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणा-

---

१. यह सूत्र (सू. १२) अन्य प्रतियों में नहीं मिलता।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रो (११-१२ सू) मे वैरोचनेन्द्र बलि तथा उसके अधीनस्थ देववर्ग सामानिक, त्रायस्त्रिश, लोकपाल एव अग्रमहिषियो की ऋद्धि एव विकुर्वणाशक्ति के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर का निरूपण किया गया है। ये प्रश्न वायुभूति अनगार के हैं और उत्तर श्रमण भगवान् महावीर ने दिये है।

वैरोचनेन्द्र का परिचय—दाक्षिणात्य असुरकुमारो की अपेक्षा जिनका रोचन (दीपन-कान्ति) अधिक (विशिष्ट) है, वे देव वैरोचन कहलाते है। वैरोचनो का इन्द्र वैरोचनेन्द्र है। ये उत्तरदिशावर्ती (औदीच्य) असुरकुमारो के इन्द्र है। इन देवो के निवास, उपपातपर्वत, इनके इन्द्र, तथा अधीनस्थ देववर्ग, वैरोचनेन्द्र की पाच अग्रमहिषियो आदि का सब वर्णन स्थानागसूत्र के दशम स्थान में है। बलि वैरोचनेन्द्र की पाच अग्रमहिषियाँ हैं—शुम्भा, निशुम्भा, रभा, निरभा और मदना। इन का सब वर्णन प्राय चमरेन्द्र की तरह है। इसकी विकुर्वणा शक्ति सातिरेक जम्बूद्वीप तक की है, क्योकि औदीच्य इन्द्र होने से चमरेन्द्र की अपेक्षा वैरोचनेन्द्र बलि की लब्धि विशिष्टतर होती है।[1]

नागकुमारेन्द्र धरण और उसके अधीनस्थ देववर्ग की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणाशक्ति—

१३ तए णं से दोच्चे गो० अग्गिभूती अण० समण भगव वंदइ०, २ एवं वयासि—जति ण भंते ! बली वइरोयणिदे वइरोयणराया एमहिड्ढीए जाव एवइयं च णं पभू विकुव्वित्तए धरणे ण भंते ! नागकुमारिंदे नागकुमारराया केमहिड्ढीए जाव केवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए ?

गोयमा ! धरणे णं नागकुमारिंदे नागकुमारराया एमहिड्ढीए जाव से णं तत्थ चोयालीसाए भवणावाससयसहस्साण, छण्हं सामाणियसाहस्सीणं, तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं, चउण्हं लोगपालाणं, छण्हं अग्गमहिसीण सपरिवाराण, तिण्ह परिसाण, सत्तण्ह अणियाण, सत्तण्हं अणियाहिवतीणं, चउवीसाए आयरक्खदेवसाहस्सीण, अन्नेसिं च जाव विहरइ। एवतियं च णं पभू विउव्वित्तए—से जहानामए जुवति जुवाणे जाव (सु. ३) पभू केवलकप्पं जबुद्दीवं दीव जाव तिरियमसखेज्जे दीव-समुद्दे बहूहिं नागकुमारेहिं नागकुमारीहिं जाव विउव्विस्सति वा। सामाणिय-तायत्तीस-लोगपालऽग्गमहिसीओ य तहेव जहा चमरस्स (सु. ४-६)। नवर सखिज्जे दीव-समुद्दे भाणियव्वं।

[१३ प्र.] तत्पश्चात् द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—'भगवन्! यदि वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि इस प्रकार की महाऋद्धि वाला है यावत् इतनी विकुर्वणा करने मे समर्थ है, तो भगवन्! नागकुमारेन्द्र नागकुमारराज धरण कितनी बडी ऋद्धि वाला है? यावत् कितनी विकुर्वणा करने मे समर्थ है?'

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १५७
(ख) स्थानाग, स्था १०
(ग) ज्ञातासूत्र, वर्ग २, अ १ से ५ तक
(घ) 'विशिष्ट रोचन—दीपन (कान्ति) येषामस्ति ते वैराचना औदीच्या असुरा', तेषु मध्ये इन्द्र परमेश्वरो वैरोचनेन्द्र।'
—भगवती, अ. वृत्ति १५७ प., स्था. वृत्ति

[१३ उ] गौतम ! वह नागकुमारेन्द्र नागकुमारराज धरणेन्द्र महाऋद्धि वाला है, यावत् वह चवालीस लाख भवनावासो पर, छह हजार सामानिक देवो पर, तेतीस त्रायस्त्रिंशक देवो पर, चार लोकपालों पर, परिवार सहित छह अग्रमहिषियो पर, तीन सभाओं (परिषदो) पर, सात सेनाओं पर, सात सेनाधिपतियों पर, और चौबीस हजार आत्मरक्षक देवो पर तथा अन्य अनेक दाक्षिणात्य कुमार देवों और देवियो पर आधिपत्य, नेतृत्व, स्वामित्व यावत् करता हुआ रहता है। उसकी विकुर्वणाशक्ति इतनी है कि जैसे युवापुरुष युवती स्त्री के करग्रहण के अथवा गाड़ी के पहिये की धुरी मे संलग्न आरों के दृष्टान्त से (जैसे वे दोनो सलग्न दिखाई देते हैं, उसी तरह से) यावत् वह अपने द्वारा वैक्रियकृत बहुत-से नागकुमार देवो और नागकुमारदेवियो से सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को भरने मे समर्थ है और तिर्यग्लोक के सख्येय द्वीप-समुद्रो जितने स्थल को भरने की शक्ति वाला है। परन्तु यावत् (जम्बूद्वीप को या सख्यात द्वीप-समुद्रो जितने स्थल को उक्त रूपो से भरने की उनकी शक्ति-मात्र है, क्रियारहित विषय है) किन्तु ऐसा उसने कभी किया नही, करता नही और भविष्य मे करेगा भी नही। धरणेन्द्र के सामानिक देव, त्रायस्त्रिंशक देव, लोकपाल और अग्रमहिषियो की ऋद्धि आदि तथा वैक्रिय शक्ति का वर्णन चमरेन्द्र के वर्णन की तरह कह लेना चाहिए। विशेषता इतनी ही है कि इन सबकी विकुर्वणाशक्ति सख्यात द्वीप-समुद्रो तक के स्थल को भरने की समझनी चाहिए।

विवेचन—नागकुमारेन्द्र धरण और उसके अधीनस्थ देववर्ग की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणा-शक्ति—प्रस्तुत सूत्र मे नागकुमारेन्द्र धरण और उनके अधीनस्थ देववर्ग सामानिक, त्रायस्त्रिंश, लोक-पाल और अग्रमहिषियो की ऋद्धि आदि का तथा विकुर्वणाशक्ति का वर्णन किया गया है।

नागकुमारो के इन्द्र—धरणेन्द्र का परिचय—दाक्षिणात्य नागकुमारो के ये इन्द्र है। इनके निवास, लोकपालो का उपपात पर्वत, पाँच युद्ध सैन्य, पाँच सेनापति एव छह अग्रमहिषियो का वर्णन स्थानाग एव प्रज्ञापना सूत्र मे है। नागकुमारेन्द्र धरण की छह अग्रमहिषियो के नाम इस प्रकार है—अल्ला, शक्रा, सतेरा, सौदामिनी, इन्द्रा और घनविद्युता।[1]

शेष भवनपति, वाणव्यन्तर एवं ज्योतिष्क देवों के इन्द्रों और उनके अधीनस्थ देववर्ग की ऋद्धि, विकुर्वणाशक्ति आदि का निरूपण—

१४ एव जाव थणियकुमारा, वाणमंतर-जोतिसिया वि। नवरं दाहिणिल्ले सव्वे अग्गीभूती पुच्छति, उत्तरिल्ले सव्वे वाउभूती पुच्छइ।

[१४] इसी तरह यावत् स्तनितकुमारो तक सभी भवनपतिदेवो (के इन्द्र और उनके अधीनस्थ देववर्ग की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणा-शक्ति) के सम्बन्ध मे कहना चाहिए।

इसी तरह समस्त वाणव्यन्तर और ज्योतिष्क देवो (के इन्द्र एव उनके अधीनस्थ देवों की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणाशक्ति) के विषय मे कहना चाहिए।

विशेष यह है कि दक्षिण दिशा के सभी इन्द्रो के विषय में द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार पूछते हैं और उत्तरदिशा के सभी इन्द्रो के विषय मे तृतीय गौतम वायुभूति अनगार पूछते हैं।

---

१ (क) प्रज्ञापनासूत्र क. आ., पृ. १०५-१०६

(ख) स्थानांग क. आ., पृ. ३५७, ४१८, ५५०,

विवेचन—शेष भवनपति, वाणव्यन्तर एवं ज्योतिष्क देवों के इन्द्रों और उनके अधीनस्थ देववर्ग की ऋद्धि, विकुर्वणा-शक्ति आदि—प्रस्तुत सूत्र मे असुरकुमार एव नागकुमार को छोडकर स्तनितकुमार पर्यन्त शेष समस्त भवनपति, वाणव्यन्तर एव ज्योतिष्क देवो के इन्द्रो तथा उनके अधीनस्थ सामानिक, त्रायस्त्रिंश एव लोकपाल तथा अग्रमहिषियो की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणा-शक्ति का निरूपण पूर्ववत् बताया है।

भवनपति देवों के बीस इन्द्र—भवनपतिदेवो के दो निकाय है—दक्षिण निकाय (दाक्षिणात्य) और उत्तरी निकाय (औदीच्य)। वैसे भवनपतिदेवो के दस भेद है—असुरकुमार, नागकुमार विद्युत्-कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, पवनकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार, दिशाकुमार, और स्तनित कुमार। इसी जाति के इसी नाम के दस-दस प्रकार के भवनपति दोनो निकायो मे होने से बीस भेद हुए। इन बीस प्रकार के भवनपति देवो के इन्द्रो के नाम इस प्रकार हैं—चमर, धरण, वेणुदेव, हरिकान्त, अग्निशिख, पूर्ण, जलकान्त, अमित, विलम्ब (विलंब) और घोष (सुघोष)। ये दस दक्षिण निकाय के इन्द्र है। बलि, भूतानन्द, वेणुदालि (री), हरिस्सह, अग्निमाणव, (अ) वशिष्ट, जलप्रभ, अमितवाहन, प्रभजन और महाघोष, ये दस उत्तर-निकाय के इन्द्र है।

प्रस्तुत मे चमरेन्द्र, बलीन्द्र, एव धरणेन्द्र को छोड कर अधीनस्थ देववर्ग सहित शेष, १७ इन्द्रो की ऋद्धि-विकुर्वणाशक्ति इत्यादि का वर्णन जान लेना चाहिए।

भवन-संख्या—इनके भवनो की सख्या—'**चउत्तीसा चउचत्ता**' इत्यादि पहले कही हुई दो गाथाओ मे बतला दी गई है।

सामानिकदेव-संख्या—चमरेन्द्र के ६४ हजार और बलीन्द्र के ६० हजार सामानिक है, इस प्रकार असुरकुमारेन्द्रद्वय के सिवाय शेष सब इन्द्रो के प्रत्येक के ६-६ हजार सामानिक हैं।

आत्मरक्षक देव संख्या—जिसके जितने सामानिक देव होते है, उससे चौगुने आत्मरक्षक देव होते हैं।

अग्रमहिषियों की संख्या—चमरेन्द्र और बलीन्द्र के पाँच-पाँच अग्रमहिषियाँ हैं, आगे धरणेन्द्र आदि प्रत्येक इन्द्र के छह-छह अग्रमहिषियाँ है।

त्रायस्त्रिंश और लोकपालो की सख्या नियत है।

व्यन्तरदेवो के सोलह इन्द्र—व्यन्तरदेवो के ८ प्रकार है पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गन्धर्व। इनमे से प्रत्येक प्रकार के व्यन्तरदेवो के दो-दो इन्द्र होते है—एक दक्षिण दिशा का, दूसरा उत्तरदिशा का। उनके नाम इस प्रकार है—काल और महाकाल, सुरूप (प्रतिरूप) और प्रतिरूप, पूर्णभद्र और मणिभद्र, भीम और महाभीम, किन्नर और किम्पुरुष, सत्पुरुष और महापुरुष, अतिकाय और महाकाय, गीतरति और गीतयश।

व्यन्तर इन्द्रों का परिवार—वाणव्यन्तर देवो मे प्रत्येक इन्द्र के चार-चार हजार सामानिक देव और इनसे चार गुने अर्थात् प्रत्येक के १६-१६ हजार आत्मरक्षक देव होते है। इनमे त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नही होते। प्रत्येक इन्द्र के चार-चार अग्रमहिषिया होती है।

ज्योतिष्केन्द्र परिवार—ज्योतिष्क निकाय के ५ प्रकार के देव हैं—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा। इनमें सूर्य और चन्द्र दो मुख्य एव अनेक इन्द्र हैं। इनके भी प्रत्येक इन्द्र के चार-चार हजार

सामानिक देव, १६-१६ हजार आत्मरक्षक और चार-चार अग्रमहिषियाँ होती है। ज्योतिष्क देवेन्द्रों के त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नही होते।

वैक्रियशक्ति—इनमे से दक्षिण के देव और सूर्यदेव अपने वैक्रियकृत रूपो से सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को ठसाठस भरने मे समर्थ है, और उत्तरदिशा के देव और चन्द्रदेव अपने वैक्रियकृत रूपो से सम्पूर्ण जम्बूद्वीप से कुछ अधिक स्थल को भरने मे समर्थ हैं।

दो गणधरों की पृच्छा—इन सब मे दक्षिण के इन्द्रो और सूर्य के विषय मे तृतीय गणधर श्री अग्निभूति द्वारा पृच्छा की गई है, जबकि उत्तर के इन्द्रो और चन्द्र के विषय मे तृतीय गणधर श्री वायुभूति द्वारा पृच्छा की गई है।[1]

शक्रेन्द्र, तिष्यक देव तथा शक्र के सामानिक देवों की ऋद्धि, विकुर्वणाशक्ति आदि का निरूपण

१५. 'भंते !' त्ति भगवं दोच्चे गोयमे अग्गिभूति अणगारे समणं भगवं म० वंदति नमंसति, २ एव वयासी—जति ण भंते ! जोतिसिंदे जोतिसराया एमहिड्ढीए जाव एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए सक्के णं भंते ! देविंदे देवराया केमहिड्ढीए जाव केवतियं च णं पभू विउव्वित्तए ?

गोयमा ! सक्के णं देविंदे देवराया महिड्ढीए जाव महाणुभागे। से णं तत्थ बत्तीसाए विमाणावाससयसहस्साणं चउरासीए सामाणियसाहस्सीण जाव[2] चउण्हं चउरासीण आयरक्खदेव-साहस्सीणं अन्नेसिं च जाव विहरइ। एमहिड्ढीए जाव एवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए। एवं जहेव चमरस्स तहेव भाणियव्व, नवरं दो केवलकप्पे जम्बुद्दीवे दीवे, अवसेस त चेव। एस ण गोयमा !

---

१ (क) भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्राक १५७-१५८ (ख) तत्वार्थसूत्र अ. ४, सू ६ व ११ का भाष्य, पृ. ९२

(ग) प्रज्ञापनासूत्र मे अकित गाथाएँ—

चमरे धरणे तह वेणुदेव-हरिकत-अग्गिसीहे य।
पुण्णे जलकते वि य अमिय-विलवे य घोसे य ॥६॥
बलि-भूयाणदे वेणुदालि-हरिस्सहे अग्गिमाणव-वसिट्ठे।
जलप्पभे अमियवाहणे पहजणे महाघोसे ॥७॥
चउसट्ठी सट्ठी खलु छच्च सहस्साओ असुरवज्जाण।
सामाणियाओ एए चउगुणा आयरक्खा उ ॥५॥
काले य महाकाले, सुरुव-पडिरूव-पुण्णभद्दे य।
अमरवइमाणिभद्दे भीमे य तहा महाभीमे ॥१॥
किण्णर-किंपुरिसे खलु सप्पुरिसे चेव तह महापुरिसे।
अइकाय-महाकाय, गीयरई चेव गीयजसे ॥२॥

—प्रज्ञापना, क आ पृ १०८, ९१ तथा ११२

२ यहाँ जाव शब्द से "**ताय त्तीसाए से अट्ठण्ह अग्गमहिसीणं सपरिवाराण चउण्हं लोकपालाण, तिण्ह परिसाणं, सत्तण्हं अणियाण, सत्तण्हं अणियाहिवईण**" तक का पाठ जानना चाहिए।

सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो इमेयारूवे विसए विसयमेत्ते णं वुइए, नो चेव णं संपत्तीए विकुव्विसु वा विकुव्वति वा विकुव्विस्सति वा।

[१५ प्र] 'भगवन् !' यो सबोधन करके तृतीय गणधर भगवान् गौतमगोत्रीय अग्निभूति अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा (पूछा—) 'भगवन् ! यदि ज्योतिष्केन्द्र ज्योतिष्कराज ऐसी महाऋद्धि वाला है, यावत् इतनी विकुर्वणा करने मे समर्थ है, तो हे भगवन् ! देवेन्द्र देवराज शक्र कितनी महाऋद्धि वाला है और कितनी विकुर्वणा करने मे समर्थ है ?'

[१५ उ] गौतम ! देवेन्द्र देवराज शक्र महान् ऋद्धिवाला है यावत् महाप्रभावशाली है। वह वहाँ बत्तीस लाख विमानावासो पर तथा चौरासी हजार सामानिक देवो पर यावत् (त्रायस्त्रिंशक देवो एव लोकपालो पर) तीन लाख छत्तीस हजार आत्मरक्षक देवो पर एव दूसरे बहुत-से देवो पर आधिपत्य—स्वामित्व करता हुआ विचरण करता है। (अर्थात्—) शक्रेन्द्र ऐसी बडी ऋद्धि वाला है, यावत् इतनी विक्रिया करने मे समर्थ है। उसकी वैक्रिय शक्ति के विषय मे चमरेन्द्र की तरह सब कथन करना चाहिए, विशेष यह है कि (वह अपने वैक्रियकृत रूपो से) दो सम्पूर्ण जम्बूद्वीप जितने स्थल को भरने मे समर्थ है, और शेष सब पूर्ववत् है। (अर्थात्—तिरछे असख्यात द्वीप-समुद्रो जितने स्थल को भरने मे समर्थ है।) हे गौतम ! देवेन्द्र देवराज शक्र की यह इस रूप की वैक्रियशक्ति तो केवल शक्तिरूप (क्रियारहित शक्ति) है। किन्तु सम्प्राप्ति (साक्षात् क्रिया) द्वारा उसने ऐसी विक्रिया की नही, करता नही और न भविष्य मे करेगा।

१६. जइ णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया एमहिड्ढीए जाव एवतियं च ण पभू विकुव्वित्तए एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी तीसए णाम अणगारे पगतिभद्दए जाव विणीए छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खित्तेण तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणे बहुपडिपुण्णाइं अट्ठ संवच्छराइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताण झूसेत्ता सट्ठि भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता आलोइय-पडिक्कते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे सयंसि विमाणंसि उववायसभाए देवसयणिज्जंसि देवदूसंतरिए अंगुलस्स असंखेज्जइभागमेत्तीए ओगाहणाए सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सामाणियदेवत्ताए उववन्ने। तए णं तीसए देवे अहुणोववन्नमेत्ते समाणे पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गच्छइ, तं जहा—आहार-पज्जत्तीए सरीर० इंदिय० आणापाणुपज्जत्तीए भासा-मणपज्जत्तीए। तए ण तं तीसयं देवं पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गयं समाणं सामाणियपरिसोववन्नया देवा करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेति, २ एवं वदासि—अहो ! णं देवाणुप्पिएहिं दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुती, दिव्वे देवाणुभावे लद्धे पत्ते अभिसमन्नागते, जारिसिया णं देवाणुप्पिएहिं दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवज्जुती दिव्वे देवाणुभावे लद्धे पत्ते अभिसमन्नागते, तारिसिया णं सक्केणं देविंदेणं देवरण्णा दिव्वा देविड्ढी जाव अभिसमन्नागता, जारिसिया णं सक्केणं देविंदेणं देवरण्णा दिव्वा देविड्ढी जाव अभिसमन्नागता तारिसिया ण देवाणुप्पिएहिं दिव्वा देविड्ढी जाव अभिसमन्नागता।

से णं भंते ! तीसए देवे केमहिड्ढीए जाव केवतियं च णं पभू विकुव्वित्तए ?

गोयमा ! महिड्ढीए जाव महाणुभागे, से णं तत्थ सयस्स विमाणस्स, चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं, चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं, तिण्हं परिसाणं, सत्तण्हं अणियाणं, सत्तण्हं अणियाहिवतीणं, सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अन्नेसिं च बहूणं वेमाणियाणं देवाण य देवीण य जाव विहरति। एमहिड्ढीए जाव एवइयं च णं पभू विकुव्वित्तए—से जहानामए जुवति जुवाणे हत्थेणं हत्थे गेण्हेज्जा जहेव सक्कस्स तहेव जाव एस णं गोयमा ! तीसयस्स देवस्स अयमेयारूवे विसए विसयमेत्ते वुइए, नो चेव णं संपत्तीए विउव्विसु वा ३ ।

[१६ प्र] भगवन् ! यदि देवेन्द्र देवराज शक्र ऐसी महान् ऋद्धि वाला है, यावत् इतनी विकुर्वणा करने मे समर्थ है, तो आप देवानुप्रिय का शिष्य 'तिष्यक' नामक अनगार, जो प्रकृति से भद्र, यावत् विनीत था निरन्तर छठ-छठ (बेले-बेले) की तपस्या से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ, पूरे आठ वर्ष तक श्रामण्यपर्याय (साधु-दीक्षा) का पालन करके, एक मास की सल्लेखना से अपनी आत्मा को सयुक्त (जुष्ट-सेवित) करके, तथा साठ भक्त (टक) अनशन का छेदन (पालन) कर, आलोचना और प्रतिक्रमण करके, मृत्यु (काल) के अवसर पर मृत्यु प्राप्त करके सौधर्मदेवलोक मे गया है। वह वहाँ अपने विमान मे, उपपातसभा मे, देव-शयनीय (देवो की शय्या) मे देवदूष्य (देवो के वस्त्र) से ढँके हुए अगुल के असख्यात भाग जितनी अवगाहना मे देवेन्द्र देवराज शक्र के सामानिक देव के रूप मे उत्पन्न हुआ है।

फिर तत्काल उत्पन्न हुआ वह तिष्यक देव पाच प्रकार की पर्याप्तियो (अर्थात्—आहार पर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, आनापान-पर्याप्ति (श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति) और भाषा-मन पर्याप्ति से पर्याप्तिभाव को प्राप्त हुआ। तदनन्तर जब वह तिष्यकदेव पाच प्रकार की पर्याप्तियो मे पर्याप्त हो चुका, तब सामानिक परिषद् के देवो ने दोनो हाथो को जोडकर एव दसो अगुलियो के दसो नखो को इकट्ठे करके मस्तक पर अजलि करके जय-विजय शब्दो से बधाई दी। इसके बाद वे इस प्रकार बोले—अहो ! आप देवानुप्रिय ने यह दिव्य देव-ऋद्धि, दिव्य देव-द्युति (कान्ति) उपलब्ध की है, प्राप्त की है, और दिव्य देव-प्रभाव उपलब्ध किया है, सम्मुख किया है। जैसी दिव्य देव-ऋद्धि, दिव्य देव-कान्ति और दिव्य देवप्रभाव आप देवानुप्रिय ने उपलब्ध, प्राप्त और अभिमुख किया है, वैसी ही दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवकान्ति और दिव्य देवप्रभाव देवेन्द्र देवराज शक्र ने उपलब्ध, प्राप्त और अभिमुख किया है, जैसी दिव्य ऋद्धि दिव्य देवकान्ति और दिव्यप्रभाव देवेन्द्र देवराज शक्र ने लब्ध, प्राप्त एव अभिमुख किया है, वैसी ही दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवकान्ति और दिव्य देवप्रभाव आप देवानुप्रिय ने उपलब्ध, प्राप्त और अभिमुख किया है। (अत अग्निभूति अनगार भगवान् से पूछते हैं—) भगवन् ! वह तिष्यक देव कितनी महा ऋद्धि वाला है, यावत् कितनी विकुर्वणा करने मे समर्थ है ?

[१६ उ] गौतम ! वह तिष्यक देव महाऋद्धि वाला है, यावत् महाप्रभाव वाला है। वह वहाँ अपने विमान पर, चार हजार सामानिक देवो पर, सपरिवार चार अग्रमहिषियो पर, तीन परिषदो (सभाओं) पर, सात सैन्यों पर, सात सेनाधिपतियो पर एव सोलह हजार आत्मरक्षक देवो पर, तथा अन्य बहुत-से वैमानिक देवो और देवियो पर आधिपत्य, स्वामित्व एव नेतृत्व करता हुआ विचरण करता है। यह तिष्यकदेव ऐसी महाऋद्धि वाला है, यावत् इतनी विकुर्वणा करने मे समर्थ

है, जैसे कि कोई युवती (भय अथवा भीड के समय) युवा पुरुष का हाथ दृढता से पकड कर चलती है, अथवा गाडी के पहिये की धुरी आरो से गाढ सलग्न (आयुक्त) होती है, इन्ही दो दृष्टान्तो के अनुसार वह शक्रेन्द्र जितनी विकुर्वणा करने मे समर्थ है। हे गौतम ! यह जो तिष्यकदेव की इस प्रकार की विकुर्वणाशक्ति कही है, वह उसका सिर्फ विषय है, विषयमात्र (क्रियारहित वैक्रियशक्ति) है, किन्तु सम्प्राप्ति (क्रिया) द्वारा कभी उसने इतनी विकुर्वणा की नही, करता भी नही और भविष्य मे करेगा भी नही।

१७. जति णं भंते ! तीसए देवे एमहिड्ढीए जाव एवइयं च णं पभू विकुव्वित्तए, सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो अवसेसा सामाणिया देवा केमहिड्ढीया ?

तहेव सव्वं जाव एस णं गोयमा ! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो एगमेगस्स सामाणियस्स देवस्स इमेयारूवे विसए विसयमेत्ते बुइए, नो चेव णं संपत्तीए विकुव्विसु वा विकुव्वंति वा विकुव्विस्सति वा।

[१७ प्र] भगवन् ! यदि तिष्यक देव इतनी महाऋद्धि वाला है यावत् इतनी विकुर्वणा करने की शक्ति रखता है, तो हे भगवन् ! देवेन्द्र देवराज शक्र के दूसरे सब सामानिक देव कितनी महाऋद्धि वाले है यावत् उनकी विकुर्वणाशक्ति कितनी है ?

[१७ उ] हे गौतम ! (जिस प्रकार तिष्यकदेव की ऋद्धि एव विकुर्वणाशक्ति आदि के विषय मे कहा), उसी प्रकार शक्रेन्द्र के समस्त सामानिक देवो की ऋद्धि एव विकुर्वणा शक्ति आदि के विषय मे जानना चाहिए, किन्तु हे गौतम ! यह विकुर्वणाशक्ति देवेन्द्र देवराज शक्र के प्रत्येक सामानिक देव का विषय है, विषयमात्र है, सम्प्राप्ति द्वारा उन्होने कभी इतनी विकुर्वणा की नही, करते नही, और भविष्य मे करेगे भी नही।

१८. तायत्तीसय-लोगपाल-अग्गमहिसीणं जहेव चमरस्स। नवरं दो केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे, अन्नं तं चेव। सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति दोच्चे गोयमे जाव विहरति।

[१८] शक्रेन्द्र के त्रायस्त्रिंशक, लोकपाल और अग्रमहिषियो (की ऋद्धि, विकुर्वणा शक्ति आदि) के विषय मे चमरेन्द्र (के त्रायस्त्रिंशक आदि की ऋद्धि आदि) की तरह कहना चाहिए। किन्तु इतना विशेष है कि वे अपने वैक्रियकृत रूपो से दो सम्पूर्ण जम्बूद्वीपो को भरने मे समर्थ हैं। शेष समग्र वर्णन चमरेन्द्र की तरह कहना चाहिए।

हे 'भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यो कहकर द्वितीय गौतम अग्निभूति अनगार यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—शक्रेन्द्र तथा तिष्यक देव एव शक्र के सामानिक देवो आदि की ऋद्धि, विकुर्वणा शक्ति आदि का निरूपण— प्रस्तुत चार सूत्रो (१५ से १८ सू तक) मे सौधर्मदेवलोक के इन्द्र—देवराज शक्रेन्द्र तथा सामानिक रूप मे उत्पन्न तिष्यकदेव एव शक्रेन्द्र के सामानिक आदि देववर्ग की ऋद्धि आदि और विकुर्वणाशक्ति के विषय मे निरूपण किया गया है।

शक्रेन्द्र का परिचय—देवेन्द्र देवराज शक्र प्रथम सौधर्म देवलोक के वैमानिक देवो का इन्द्र है। प्रज्ञापनासूत्र मे इसके अन्य विशेषण भी मिलते हैं, जैसे—वज्रपाणि, पुरन्दर, शतक्रतु, सहस्राक्ष (पाच सौ मत्री होने से), मघवा पाकशासन, दक्षिणार्धलोकाधिपति, बत्तीस लाख विमानो का अधिपति, ऐरावतवाहन, सुरेन्द्र आदि। शक्रेन्द्र के आवासस्थान, विमान, विमानो का आकार—वर्णगन्धादि, उसको प्राप्त शरीर, श्वासोच्छ्वास, आहार, लेश्या, ज्ञान, अज्ञान, दर्शन-कुदर्शन, उपयोग,

वेदना, कषाय, समुद्घात, सुख, समृद्धि, वैक्रियशक्ति आदि का समस्त वर्णन प्रज्ञापनासूत्र में किया गया है ।[1]

तिष्यक अनगार की सामानिक देवरूप में उत्पत्ति-प्रक्रिया—शक्रेन्द्र की ऋद्धि आदि के विषय मे प्रश्नोत्तर के पश्चात् शक्रेन्द्र के सामानिक देव के रूप मे उत्पन्न हुए अपने पूर्वपरिचित भगवत् शिष्य तिष्यक अनगार के समग्र चरितानुवादपूर्वक प्रश्न करते हैं—द्वितीय गौतम श्री अग्निभूति अनगार ! तिष्यक अनगार का मनुष्यलोक से देहावसान होने पर देवलोक मे देवशरीर की रचना की प्रक्रिया का वर्णन यहाँ शास्त्रकार करते हैं । कर्मबद्ध आत्मा (जीव) के तथारूप पुद्गलो से आहार, शरीर, इन्द्रिय आदि रूप शरीर बनता है । पर्याप्तिया छह होते हुए भी यहाँ पाच पर्याप्तियो का उल्लेख बहुश्रुत पुरुषो के द्वारा भाषापर्याप्ति और मन.पर्याप्ति को एक मान लेने से किया गया है ।[2]

'लद्धेपत्ते अभिसमन्नागते' का विशेषार्थ—**लद्धे**—दूसरे (पूर्व) जन्म मे इसका उपार्जन किया था, इस कारण लब्ध (मिला, लाभ प्राप्त) हुआ, **पत्ते**=देवभव की अपेक्षा से प्राप्त हुआ है, इसलिए 'पत्ते' शब्द प्रयुक्त है, **अभिसमन्नागते**=प्राप्त किये हुए भोगादि साधनो के उपयोग (अनुभव) की अपेक्षा से अभिमुख लाया हुआ है ।

'जहेव चमरस्स' का आशय—इस पक्ति से यह सूचित किया गया है कि लोकपाल और अग्रमहिषियों की विकुर्वणाशक्ति 'तिरछे सख्यात द्वीप-समुद्रो जितने स्थल को भरने तक की' कहनी चाहिए ।[3]

कठिन शब्दो के अर्थ—**अणिक्खित्तेणं**—निरन्तर (अनिक्षिप्त) । **झूसित्ता**=सेवन करके । **जारिसिया**=जैसी, **तारिसिया**=वैसी ।[4]

ईशानेन्द्र, कुरुदत्तपुत्रदेव तथा सनत्कुमारेन्द्र से लेकर अच्युतेन्द्र तक के इन्द्रों एव उनके सामानिकादि देववर्ग की ऋद्धि-विकुर्वणाशक्ति आदि का प्ररूपण

१९ **'भंते !' त्ति भगवं तच्चे गोयमे वाउभूती अणगारे भगव जाव एवं वयासी—जति णं भते ! सक्के देविंदे देवराया एमहिड्ढीए जाव एवइय च णं पभू विउव्वित्तए, ईसाणे णं भंते ! देविंदे देवराया केमहिड्ढीए ?**

एव तहेव, नवरं साहिए दो केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे, अवसेस तहेव ।

---

१ (क) प्रज्ञापनासूत्र (उ. ४ क आ, पृ १२०-१)—"सक्के इत्थ देविंदे देवराया परिवसइ, वज्जपाणी पुरदरे सयक्कड सहस्सक्खे मघव पागसासणे दाहिण (ड्ढ) लोगाहिवई बत्तीस विमाणावाससयसहस्साहिवई एरावणवाहणे सुरिंदे आहेवच्च पोरेवच्च कुव्वेमाणे जाव विहरई ।"
(ख) जीवाभिगसूत्र क अ पृ ९२६

२ भगवतीसूत्र अ, वृत्ति, पत्राक १५९
(ख) भगवतीसूत्र टीका—गुजराती अनुवाद (प बेचरदासजी), खण्ड २, पृ. १९

३. भगवती सूत्र अ वृत्ति, पत्रांक १५९

४ भगवती सूत्र हिन्दी विवेचनयुक्त (पं घेवरचन्दजी), भाग २, पृ ५५७

[१९ प्र.] 'भगवन् !' यो सबोधन कर तृतीय गौतम भगवान् वायुभूति अनगार ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करके यावत् इस प्रकार कहा—(पूछा—) 'भगवन् ! यदि देवेन्द्र देवराज शक्र इतनी महाऋद्धि वाला है, यावत् इतनी विकुर्वणा करने मे समर्थ है, तो हे भगवन् ! देवेन्द्र देवराज ईशान कितनी महाऋद्धि वाला है यावत् कितनी विकुर्वणा करने की शक्ति वाला है ?'

[१९ उ.] (गौतम ! जैसा शक्रेन्द्र के विषय मे कहा था,) वैसा ही सारा वर्णन ईशानेन्द्र के विषय मे जानना चाहिए। विशेषता यह है कि वह (अपने वैक्रियकृत रूपो से) सम्पूर्ण दो जम्बूद्वीप से कुछ अधिक स्थल को भर देता है। शेष सारा वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए।

२०. जति णं भंते ! ईसाणे देविंदे देवराया एमहिड्ढीए जाव एवतियं च णं पभू विउव्वित्तए, एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी कुरुदत्तपुत्ते नामं पगतिभद्दए जाव विणीए अट्ठमंअट्ठमेण अणिक्खित्तेणं, पारणए आयंबिलपरिग्गहिएणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय २ सूराभिमुहे आयावणभूमीए आतावेमाणे बहुपडिपुण्णे छम्मासे सामण्णपरियागं पाउणित्ता अद्धमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झोसित्ता तीसं भत्ताइं अणसणाए छेदित्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा ईसाणे कप्पे सयंसि विमाणंसि जा चेव तीसए वत्तव्वया स च्चेव अपरिसेसा कुरुदत्तपुत्ते वि।

नवरं सातिरेगे दो केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे, अवसेसं तं चेव।

[२० प्र.] भगवन् ! यदि देवेन्द्र देवराज ईशानेन्द्र इतनी बडी ऋद्धि से युक्त है यावत् वह इतनी विकुर्वणाशक्ति रखता है, तो प्रकृति से भद्र यावत् विनीत, तथा निरन्तर अट्ठम (तेले-तेले) की तपस्या और पारणे मे आयम्बिल, ऐसी कठोर तपश्चर्या से आत्मा को भावित करता हुआ, दोनो हाथ ऊचे रखकर सूर्य की ओर मुख करके आतापना-भूमि मे आतापना लेने वाला (सख्त धूप को सहने वाला) आप देवानुप्रिय का अन्तेवासी (शिष्य) कुरुदत्तपुत्र अनगार, पूरे छह महीने तक श्रामण्य-पर्याय का पालन करके, अर्द्धमासिक (१५ दिन की) सलेखना से अपनी आत्मा को ससेवित (सयुक्त) करके, तीस भक्त (३० टंक) अनशन (सथारे) का छेदन (पालन) करके, आलोचना एव प्रतिक्रमण करके, समाधि प्राप्त करके (समभावसमाधिपूर्वक) काल (मरण) का अवसर आने पर काल करके, ईशानकल्प मे, अपने विमान मे, ईशानेन्द्र के सामानिक देव के रूप मे उत्पन्न हुआ है, इत्यादि जो वक्तव्यता, तिष्यक देव के सम्बन्ध मे पहले कही है, वही समग्र वक्तव्यता कुरुदत्तपुत्र देव के विषय में भी कहनी चाहिए। (अत प्रश्न यह है कि वह सामानिक देवरूप मे उत्पन्न कुरुदत्तपुत्र देव कितनी महाऋद्धि वाला है, यावत् कितनी विकुर्वणा करने मे समर्थ है ?

[२० उ.] (हे गौतम ! इस सम्बन्ध मे सब वक्तव्य पूर्ववत् जानना चाहिये।) विशेषता यह है कि कुरुदत्तपुत्रदेव की (अपने वैक्रियकृत रूपो से) सम्पूर्ण दो जम्बूद्वीपो से कुछ अधिक स्थल को भरने की विकुर्वणाशक्ति है। शेष समस्त वर्णन उसी तरह ही समझना चाहिए।

२१. एवं सामाणिय-तायत्तीस-लोगपाल-अग्गमहिसीणं जाव एस णं गोयमा ! ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो एवं एगमेगाए अग्गमहिसीए देवीए अयमेयारूवे विसए विसयमेत्ते बुइए, नो चेव णं संपत्तीए विकुव्विसु वा विकुव्वंति वा विकुव्विस्संति वा।

[२१] इसी तरह (ईशानेन्द्र के अन्य) सामानिक देव, त्रायस्त्रिंशक देव एवं लोकपाल तथा अग्रमहिषियों (की ऋद्धि, विकुर्वणाशक्ति आदि) के विषय में जानना चाहिए। यावत्—हे गौतम ! देवेन्द्र देवराज ईशान की अग्रमहिषियों की इतनी यह विकुर्वणाशक्ति केवल विषय है, विषयमात्र है, परन्तु सम्प्राप्ति द्वारा कभी इतना वैक्रिय किया नहीं, करती नहीं, और भविष्य में करेगी भी नहीं, (यहाँ तक सारा आलापक कह देना चाहिए)।

२२. [१] एवं सणकुमारे वि, नवरं चत्तारि केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे, अदुत्तरं च णं तिरियम-संखेज्जे ।

[२२-१] इसी प्रकार सनत्कुमार देवलोक के देवेन्द्र (की ऋद्धि आदि तथा विकुर्वणाशक्ति) के विषय में भी समझना चाहिए। विशेषता यह है कि (सनत्कुमारेन्द्र की विकुर्वणाशक्ति) सम्पूर्ण चार जम्बूद्वीपों जितने स्थल को भरने की है और तिरछे उसकी विकुर्वणाशक्ति असंख्यात (द्वीप समुद्रों जितने स्थल को भरने की) है।

[२] एवं सामाणिय-तायत्तीस-लोगपाल-अग्गमहिसीणं असंखेज्जे दीव-समुद्दे सव्वे विउव्वंति ।

[२२-२] इसी तरह (सनत्कुमारेन्द्र के) सामानिक देव, त्रायस्त्रिंशक, लोकपाल एवं अग्रमहिषियों की विकुर्वणाशक्ति असंख्यात द्वीप समुद्रों जितने स्थल को भरने की है। (शेष सब बातें पूर्ववत् समझनी चाहिए)।

२३. सणंकुमाराओ आरद्धा उवरिल्ला लोगपाला सव्वे वि असंखेज्जे दीव-समुद्दे विउव्वंति ।

[२३] सनत्कुमार से लेकर ऊपर के (देवलोकों के) सब लोकपाल असंख्येय द्वीप-समुद्रों (जितने स्थल) को भरने की वैक्रियशक्ति वाले हैं।

२४ एवं माहिंदे वि। नवरं साइरेगे चत्तारि केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे ।

[२४] इसी तरह माहेन्द्र (नामक चतुर्थ देवलोक के इन्द्र तथा उसके सामानिक आदि देवों की ऋद्धि आदि) के विषय में भी समझ लेना चाहिए। किन्तु इतनी विशेषता है कि ये सम्पूर्ण चार जम्बूद्वीपों (जितने स्थल को भरने) की विकुर्वणाशक्ति वाले है।

२५. एवं बंभलोए वि, नवरं अट्ठ केवलकप्पे० ।

[२५] इसी प्रकार ब्रह्मलोक (नामक पंचम देवलोक के इन्द्र तथा तदधीन देववर्ग की ऋद्धि आदि) के विषय मे भी जानना चाहिए। विशेषता इतनी है कि वे सम्पूर्ण आठ जम्बूद्वीपों (को भरने) की वैक्रियशक्ति (रखते हैं) वाले हैं।

२६. एवं लंतए वि, नवरं सातिरेगे अट्ठ केवलकप्पे० ।

[२६] इसी प्रकार लान्तक नामक छठे देवलोक के इन्द्रादि की ऋद्धि आदि के विषय मे समझना चाहिए किन्तु इतना विशेष है कि वे सम्पूर्ण आठ जम्बूद्वीपों से कुछ अधिक स्थल को भरने की विकुर्वणाशक्ति रखते हैं।

२७. महासुक्के सोलस केवलकप्पे० ।

[२७] महाशुक्र (नामक सप्तम देवलोक के इन्द्रादि) के विषय मे इसी प्रकार समझना चाहिए, किन्तु विशेषता इतनी है कि वे सम्पूर्ण सोलह जम्बूद्वीपों (जितने स्थल) को भरने की वैक्रियशक्ति रखते हैं ।

२८. सहस्सारे सातिरेगे सोलस० ।

[२८] सहस्रार (नामक अष्टम देवलोक के इन्द्रादि) के विषय मे भी यही बात है । किन्तु विशेषता इतनी है कि वे सम्पूर्ण सोलह जम्बूद्वीपों से कुछ अधिक स्थल को भरने का वैक्रिय-सामर्थ्य रखते हैं ।

२९. एवं पाणए वि, नवरं बत्तीसं केवल० ।

[२९] इसी प्रकार प्राणत (देवलोक के इन्द्र तथा उसके देववर्ग की ऋद्धि आदि) के विषय मे भी जानना चाहिए, किन्तु इतनी विशेषता है कि वे सम्पूर्ण बत्तीस जम्बूद्वीपो (जितने क्षेत्र को भरने) की वैक्रियशक्ति वाले हैं ।

३०. एव अच्चुए वि, नवरं सातिरेगे बत्तीसं केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे । अन्नं तं चेव ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति तच्चे गोयमे वायुभूती अणगारे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसति जाव विहरति ।

[३०] इसी तरह अच्युत (नामक बारहवे देवलोक के इन्द्र तथा उसके देववर्ग की ऋद्धि आदि) के विषय मे भी जानना चाहिए । किन्तु विशेषता इतनी है कि वे सम्पूर्ण बत्तीस जम्बूद्वीपो से कुछ अधिक क्षेत्र को भरने का वैक्रिय-सामर्थ्य रखते हैं । शेष सब वर्णन पूर्ववत् समझना चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कहकर तृतीय गौतम वायुभूति अनगार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार कर यावत् विचरण करने लगे ।

विवेचन—ईशानेन्द्र, कुरुदत्तपुत्र देव तथा सनत्कुमारेन्द्र से लेकर अच्युतेन्द्र तक के इन्द्रों तथा उनके सामानिक आदि देववर्ग की ऋद्धि-विकुर्वणाशक्ति आदि का निरूपण—प्रस्तुत १२ सूत्रो (१९ से ३० सूत्र० तक) मे ईशानेन्द्र, ईशानदेवलोकोत्पन्न कुरुदत्तपुत्रदेव, ईशानेन्द्र के सामानिकादि तथा सनत्कुमार से अच्युत देवलोक तक के इन्द्रो तथा उनके सामानिकादि देवो की ऋद्धि आदि एव विकुर्वणाशक्ति के विषय मे प्ररूपण किया गया है ।

कुरुदत्तपुत्र अनगार के ईशान-सामानिक होने की प्रक्रिया—ईशानेन्द्र की ऋद्धि, विकुर्वणाशक्ति आदि के विषय मे प्रश्नोत्तर के पश्चात् ईशानेन्द्र के सामानिकदेव के रूप मे उत्पन्न हुए प्रश्नकर्ता के पूर्व परिचित कुरुदत्तपुत्र अनगार की ऋद्धि, विकुर्वणाशक्ति आदि के विषय में प्रश्न करना प्रसगप्राप्त ही है । प्रश्नकर्ता ने अपने परिचित कुरुदत्तपुत्र अनगार की कठोर तपश्चर्या से सामानिक देव पद तथा उससे सम्बन्धित ऋद्धि, विकुर्वणाशक्ति आदि का वर्णन करके सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक की गई तपश्चर्या का महत्त्व भी प्रकारान्तर से प्रतिपादित कर दिया है ।

ईशानेन्द्र एवं शक्रेन्द्र में समानता और विशेषता—यद्यपि शक्रेन्द्र के प्रकरण में कही हुई बहुत-सी बातो के साथ ईशानेन्द्र के प्रकरण में कही गई बहुत-सी बातों की समानता होने से ईशानेन्द्र-प्रकरण को शक्रेन्द्र-प्रकरण के समान बताया गया है, तथापि कुछ बातो मे विशेषता है। वह इस प्रकार—ईशानेन्द्र के २८ लाख विमान, ८० हजार सामानिक देव और ३ लाख २० हजार आत्मरक्षक देव हैं; तथा ईशानेन्द्र की वैक्रियशक्ति सम्पूर्ण दो जम्बूद्वीपो से कुछ अधिक स्थल को भरने की है, जो शक्रेन्द्र की वैक्रियशक्ति से अधिक है।[1]

सनत्कुमार से लेकर अच्युत तक के इन्द्रादि की वैक्रियशक्ति—सनत्कुमार देवेन्द्रादि की वैक्रियशक्ति सम्पूर्ण चार जम्बूद्वीपो तथा तिरछे असख्येय द्वीप-समुद्रो जितने स्थल को भरने की है, माहेन्द्र की सम्पूर्ण चार जम्बूद्वीपों से कुछ अधिक की, ब्रह्मलोक की सम्पूर्ण आठ जम्बूद्वीपों को भरने की, लान्तक की सम्पूर्ण आठ जम्बूद्वीपो से कुछ अधिक की, महाशुक्र की १६ पूरे जम्बूद्वीपों को भरने की, सहस्रार की १६ जम्बूद्वीपों से कुछ अधिक की, प्राणत की ३२ पूरे जम्बूद्वीपो के भरने की और अच्युत की ३२ पूरे जम्बूद्वीपो से कुछ अधिक की है।[2]

सनत्कुमार देवलोक में देवी कहाँ से ?—यद्यपि सनत्कुमार देवलोक मे देवी उत्पन्न नही होती, तथापि सौधर्म देवलोक मे जो अपरिगृहीता देवियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनकी स्थिति समयाधिक पल्योपम से लेकर दस पल्योपम तक की होती है। वे अपरिगृहीता देवियाँ सनत्कुमारदेवो की भोग्या होती हैं, इसी कारण सनत्कुमार-प्रकरण के मूलपाठ में **'अग्गमहिसीणं'** कहकर अग्रमहिषियो का उल्लेख किया गया है।[3]

देवलोकों के विमानों की संख्या—सौधर्म मे ३२ लाख, ईशान मे २८ लाख, सनत्कुमार मे १२ लाख, माहेन्द्र मे ८ लाख, ब्रह्मलोक मे ४ लाख, लान्तक मे ५० हजार, महाशुक्र मे ४० हजार, सहस्रार मे ६ हजार, आनत और प्राणत मे ४०० तथा आरण और अच्युत मे ३०० विमान है।

सामानिक देवों की संख्या—पहले देवलोक मे ८४ हजार, दूसरे मे ८० हजार, तीसरे मे ७२ हजार, चौथे मे ७० हजार, पाचवें मे ६० हजार, छठे मे ५० हजार, सातवे मे ४० हजार, आठवे में ३० हजार, नौवें और दसवे मे २० हजार तथा ग्यारहवे और बारहवे देवलोक मे १० हजार सामानिक देव हैं।[4]

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १६० (ख) भगवती० टीकानुवादसहित, ख० २, पृ २२

२ व्याख्याप्रज्ञप्ति (वियाहपण्णत्तीसुत्त) (मूलपाठ टिप्पण) भा० १, पृ० १२७-१२८

३ भगवतीसूत्र अ० वृत्ति, पत्राक १५०

४. (क) भगवतीसूत्र अ० वृत्ति, पत्राक १६०

(ख) प्रज्ञापनासूत्र (क० आ० पृ० १२८) मे निम्नोक्त गाथाओ से मिलती जुलती गाथाएँ—

बत्तीस अट्ठावीसा बारस अट्ठ चउरो सयसहस्सा।
आरणे बभलोया विमाणसखा भवे एसा ॥ १ ॥
पण्णास चत्त छच्चेव सहस्सा लतक-सुक्क-सहस्सारे।
सय चउरो आणय-पाणएसु, तिण्णि आरणऽच्चुयओ ॥ २ ॥
चउरासीई असीई बावत्तरी सत्तरी य सट्ठी य।
पण्णा चत्तालीसा तीसा वीसा दससहस्सा ॥ ३ ॥

'पगिज्झिय' आदि कठिन शब्दो के अर्थ—पगिज्झिय=ग्रहण करके—करके। आरद्धा उवरिल्ला—से लेकर ऊपर के।[1]

मोकानगरी से विहार और ईशानेन्द्र द्वारा भगवद्वन्दन

३१. तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाई मोयाओ नगरीओ नंदणाओ चेतियाओ पडिनिक्खमइ, २ बहिया जणवयविहारं विहरइ।

[३१] इसके पश्चात् किसी एक दिन श्रमण भगवान् महावीर स्वामी 'मोका' नगरी के 'नन्दन' नामक उद्यान से बाहर निकलकर (अन्य) जनपद मे विचरण करने लगे।

३२. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नगरे होत्था। वण्णओ। जाव परिसा पज्जुवासइ।

[३२] उस काल उस समय में राजगृह नामक नगर था। उसका वर्णन औपपातिकसूत्र के नगरी वर्णन के समान जानना चाहिए। (भगवान् वहाँ पधारे) यावत् परिषद् भगवान् की पर्युपासना करने लगी।

३३ तेणं कालेणं तेणं समएणं ईसाणे देविंदे देवराया सूलपाणी वसभवाहणे उत्तरड्ढलोगाहिवई अट्ठावीसविमाणावाससयसहस्साहिवई अरयंबरवत्थधरे आलइयमालमउडे नवहेमचारुचित्तचंचलकुंडलविलिहिज्जमाणगंडे जाव दस दिसाओ उज्जोवेमाणे पभासेमाणे ईसाणे कप्पे ईसाणवडिंसए विमाणे जहेव रायप्पसेणइज्जे जाव (राज० पत्र ४४-५४) दिव्वं देविड्ढि जाव जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए।

[३३] उस काल उस समय मे देवेन्द्र देवराज, शूलपाणि (हाथ मे शूल-त्रिशूल धारक) वृषभ-वाहन (बैल पर सवारी करने वाला) लोक के उत्तरार्द्ध का स्वामी, अट्ठाईस लाख विमानो का अधिपति, आकाश के समान रजरहित निर्मल वस्त्रधारक, सिर पर माला से सुशोभित मुकुटधारी, नवीनस्वर्ण निर्मित सुन्दर, विचित्र एव चंचल कुण्डलो से कपोल को जगमगाता हुआ यावत् दसो दिशाओं को उद्योतित एवं प्रभासित करता हुआ ईशानेन्द्र, ईशानकल्प मे ईशानावतंसक विमान मे (रायपसेणीय-राजप्रश्नीय उपाग मे कहे अनुसार) यावत् दिव्य देवऋद्धि का अनुभव करता हुआ (भगवान् के दर्शन-वन्दन करने आया) और यावत् जिस दिशा से आया था उसी दिशा में वापस चला गया।

विवेचन—मोका नगरी से विहार और ईशानेन्द्र द्वारा भगवद्वन्दन—प्रस्तुत तीन सूत्रो (३१ से ३३ तक) मे शास्त्रकार ने तीन बातो का सकेत किया है—

१—मोकानगरी से भगवान् का बाह्य जनपद में विहार।

२—राजगृह मे भगवान् का पदार्पण और परिषद् द्वारा पर्युपासना।

---

१ भगवतीसूत्र अ० वृत्ति, पत्रांक १६०

३—ईशानेन्द्र का भगवान् के दर्शन-वंदन के लिए आगमन।[1]

राजप्रश्नीय में सूर्याभदेव के भगवत्सेवा में आगमन-वृत्तान्त का अतिदेश—संक्षेप में ईशानेन्द्र के आगमन वृत्तान्त के मुद्दे इस प्रकार हैं—

(१) सामानिक आदि परिवार से परिवृत ईशानेन्द्र ने अवधिज्ञान द्वारा श्रमण भगवान् महावीर को राजगृह में विराजे हुए देख, वहीं से वंदन किया।

(२) आभियोगिक देवों को राजगृह में एक योजन क्षेत्र साफ करने का आदेश।

(३) सेनाधिपति द्वारा सभी देव-देवियों को ईशानेन्द्र की सेवा में उपस्थित होने की घंटारव द्वारा घोषणा।

(४) समस्त देव-देवियों से परिवृत होकर एक लाख योजन विस्तृत विमान में बैठकर ईशानेन्द्र भगवद् वंदनार्थ निकला। नन्दीश्वर द्वीप में विश्राम। विमान को छोटा बनाकर राजगृह में विमान से उतर कर भगवान् के समवसरण में प्रवेश। भगवान् को वंदन-नमस्कार कर पर्युपासना में लीन हुआ।

(५) सर्वज्ञ प्रभु की सेवा में गौतमादि महर्षियों को दिव्य नाटकादि विधि दिखाने की इच्छा प्रकट की। उत्तर की अपेक्षा न रखकर वैक्रियप्रयोग से दिव्यमण्डप, मणिपीठिका और सिंहासन बनाए। सिंहासन पर बैठ कर दाएं और बांए हाथ से १०८-१०८ देवकुमार-देवकुमारियाँ निकालीं। फिर वाद्यों और गीतों के साथ बत्तीस प्रकार का नाटक बतलाया। इसके पश्चात् अपनी दिव्य ऋद्धि-वैभव-प्रभाव-कान्ति आदि समेट कर पूर्ववत् अकेला हो गया।

(६) फिर अपने परिवार सहित ईशानेन्द्र भगवान् को वंदन-नमस्कार करके वापस अपने स्थान को लौट गया।[2]

कूटाकारशालादृष्टान्तपूर्वक ईशानेन्द्रऋद्धि की तत्शरीरानुप्रविष्ट-प्ररूपणा

३४. [१] 'भंते!' त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, २ एवं वदासी—अहो णं भंते! ईसाणे देविंदे देवराया महिड्ढीए। ईसाणस्स णं भंते! सा दिव्वा देविड्ढी कहिं गता? कहिं अणुपविट्ठा?

गोयमा! सरीरं गता, सरीरं अणुपविट्ठा।

[३४-१ प्र.] 'हे भगवन्!' इस प्रकार सम्बोधित करके भगवान् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—(पूछा—) 'अहो, भगवन्! देवेन्द्र देवराज ईशान इतनी महाऋद्धि वाला है! भगवन्! ईशानेन्द्र की वह (नाट्य-प्रदर्शनकालिक) दिव्य देवऋद्धि (अब) कहाँ चली गई? कहाँ प्रविष्ट हो गई?'

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ टिप्पणी युक्त) पृ. १२९

२. (क) रायपसेणीयसुत्त पत्र० ४४ से ५४ तक का सार।

(ख) भगवतीसूत्र अ० वृत्ति पत्रांक १६२-१६३

[३४-१ उ] गौतम ! (ईशानेन्द्र द्वारा पूर्वप्रदर्शित) वह दिव्य देवऋद्धि (उसके) शरीर में चली गई, शरीर मे प्रविष्ट हो गई है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति सरीरं गता, सरीरं अणुपविट्ठा ?

गोयमा ! से जहानामए कूडागारसाला सिया दुहओ लित्ता गुत्ता गुत्तदुवारा णिवाया णिवायगंभीरा, तीसे ण कूडागार० जाव (राज० पत्र ५६) कूडागारसालादिट्ठंतो भाणियव्वो।

[३४-२ प्र] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि वह दिव्य देवऋद्धि शरीर मे चली गई और शरीर मे प्रविष्ट हो गई ?

[३४-२ उ.] गौतम ! जैसे कोई कूटाकार (शिखर के आकार की) शाला हो, जो दोनो तरफ से लीपी हुई हो, गुप्त हो, गुप्त-द्वारवाली हो, निर्वात हो, वायुप्रवेश से रहित गम्भीर हो, यावत् ऐसी कूटाकारशाला का दृष्टान्त (यहा) कहना चाहिए।

विवेचन—कूटाकारशाला के दृष्टान्तपूर्वक ईशानेन्द्र की ऋद्धि की प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र मे ईशानेन्द्र की पुनः अदृश्य हुई ऋद्धि, प्रभाव एव दिव्यकान्ति के सम्बन्ध मे श्री गौतमस्वामी द्वारा किये गए प्रश्न का भगवान् द्वारा कूटाकारशाला के दृष्टान्तपूर्वक किया गया समाधान है।

कूटाकारशाला दृष्टान्त—जैसे (पूर्वोक्त) शिखराकार कोई शाला (घर) हो और उसके पास बहुत-से मनुष्य खडे हो, इसी बीच आकाश मे बादल उमड घुमडकर आ गए हो और बरसने की तैयारी हो, ऐसी स्थिति मे वे तमाम मनुष्य वर्षा से रक्षा के लिए उस शाला मे प्रविष्ट हो जाते है, इसी प्रकार ईशानेन्द्र की वह दिव्यऋद्धि, देव-प्रभाव एव दिव्य काति ईशानेन्द्र के शरीर मे प्रविष्ट हो गई।[1]

ईशानेन्द्र का पूर्वभव : तामली का संकल्प और प्राणामाप्रव्रज्या ग्रहण

३५. ईसाणेणं भंते ! देविंदेणं देवरण्णा सा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुती दिव्वे देवाणुभागे किण्णालद्धे ? किण्णापत्ते ? किण्णा अभिसमन्नागए ? के वा एस आसि पुव्वभवे ? किंणामए वा ? किंगोत्ते वा ? कतरंसि वा गामंसि वा नगरंसि वा जाव सन्निवेसंसि वा ? किं वा सोच्चा ? किं वा दच्चा ? किं वा भोच्चा ? किं वा किच्चा ? किं वा समायरित्ता ? कस्स वा तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म ज णं ईसाणेणं देविंदेणं देवरण्णा सा दिव्वा देविड्ढी जाव अभिसमन्नागया ?

एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे तामलित्ती नामं नगरी होत्था। वण्णओ। तत्थ णं तामलित्तीए नगरीए तामली नामं मोरियपुत्ते गाहावती होत्था। अड्ढे दित्ते जाव बहुजणस्स अपरिभूए यावि होत्था।

[३५ प्र] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज ईशान ने वह दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवद्युति (कान्ति) और दिव्य देवप्रभाव किस कारण से उपलब्ध किया, किस कारण से प्राप्त किया और किस हेतु से

---

१. भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक १६३

अभिमुख किया ? यह ईशानेन्द्र पूर्वभव में कौन था ? इसका क्या नाम था, क्या गोत्र था ? यह किस ग्राम, नगर अथवा यावत् किस सन्निवेश में रहता था ? इसने क्या सुनकर, क्या (आहार-पानी आदि) देकर, क्या (रूखा-सूखा) खाकर, क्या (तप एवं शुभ ध्यानादि) करके, क्या (शीलव्रतादि या प्रतिलेखन-प्रमार्जन आदि धर्मक्रिया का) सम्यक् आचरण करके, अथवा किस तथारूप श्रमण या माहन के पास से एक भी आर्य (तीर्थंकरोक्त) एवं धार्मिक सुवचन सुनकर तथा हृदय में धारण करके (पुण्यपुंज का उपार्जन किया,) जिस (पुण्य-प्रताप) से देवेन्द्र देवराज ईशानेन्द्र ने वह दिव्य देव ऋद्धि यावत् उपलब्ध की है, प्राप्त की है और अभिमुख की है ?

[३५ उ.] हे गौतम ! उस काल उस समय मे इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप मे भारतवर्ष मे ताम्रलिप्ती नाम की नगरी थी । उसका वर्णन समझ लेना चाहिए । उस ताम्रलिप्ती नगरी में तामली नाम का मौर्यपुत्र (मौर्यवंश में उत्पन्न) गृहपति (गृहस्थ) रहता था । वह धनाढ्य था, दीप्तिमान (तेजस्वी) था, और बहुत-से मनुष्यो द्वारा अपराभवनीय (नही दबने वाला = दबंग) था ।

३६. तए णं तस्स मोरियपुत्तस्स तामलिस्स गाहावतिस्स अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—"अत्थि ता मे पुरा पोराणाणं सुचिण्णाणं सुपरक्कंताणं सुभाणं कल्लाणाणं कडाणं कम्माणं कल्लाणे फलवित्तिविसेसे जेणाहं हिरण्णेणं वड्ढामि, सुवण्णेणं वड्ढामि, धणेणं वड्ढामि, धन्नेणं वड्ढामि, पुत्तेहिं वड्ढामि, पसूहिं वड्ढामि, विउलधण-कणग-रयण-मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवाल-रत्तरयण-संतसारसावतेज्जेणं अतीव २ अभिवड्ढामि, तं किं णं अहं पुरा पोराणाणं सुचिण्णाणं जाव कडाणं कम्माणं एगंतसोक्खयं उवेहेमाणे विहरामि ?, तं जाव च णं मे मित्त-नाति-नियग-संबंधिपरियणो आढाति परियाणइ सक्कारेइ सम्माणेइ कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं विणएणं पज्जुवासइ तावता मे सेयं कल्लं पाउप्पभाताए रयणीए जाव जलंते सयमेव दारुमयं पडिग्गहयं करेत्ता विउलं असण-पाण-खातिम-सातिमं उवक्खडावेत्ता मित्त-नाति-नियग-संबंधिपरियणं आमंतेत्ता तं मित्त-नाइ-नियग-संबंधिपरियणं विउलेणं असण-पाण-खातिम-सातिमेणं वत्थ-गंध-मल्ला-ऽलंकारेण य सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता तस्सेव मित्त-नाइ-नियग-संबंधिपरियणस्स पुरतो जेट्ठं पुत्तं कुटुंबे ठावेत्ता तं मित्त-नाति-णियग-संबंधिपरियणं जेट्ठपुत्तं च आपुच्छित्ता सयमेव दारुमयं पडिग्गहं गहाय मुंडे भवित्ता पाणामाए पव्वज्जाए पव्वइत्तए । पव्वइते वि य णं समाणे इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हिस्सामि—'कप्पइ मे जावज्जीवाए छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सूराभिमुहस्स आतावणभूमीए आयावेमाणस्स विहरित्तए, छट्ठस्स वि य णं पारणयंसि आयावणभूमीतो पच्चोरुभित्ता सममेव दारुमयं पडिग्गहयं गहाय तामलित्तीए नगरीए उच्च-नीय-मज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडित्ता सुद्धोयणं पडिग्गाहेत्ता, तं तिसत्तखुत्तो उदएणं पक्खालेत्ता, तओ पच्छा आहारं आहारित्तए' त्ति कट्टु" एवं संपेहेइ, २ कल्लं पाउप्पभायाए जाव जलंते सयमेव दारुमयं पडिग्गहयं करेइ, २ विउलं असण-पाण-खाइम-साइमं उवक्खडावेइ, २ तओ पच्छा ण्हाए कयबलिकम्मे कयकोउमंगलपायच्छित्ते सुद्धप्पावेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवर परिहिए अप्पमहग्घाऽऽभरणालंकियसरीरे भोयणवेलाए भोयण-

मज्झवंसि सुहासणवरगते। तए णं मित्त-नाइ-नियग-संबंधिपरिजणेणं सद्धि तं विउलं असण-पाण-खाइम-साइमं आसादेमाणे वीसादेमाणे परिभाएमाणे परिभुंजेमाणे विहरइ।

[३६] तत्पश्चात् किसी एक दिन पूर्वरात्रि व्यतीत होने पर अपर (पश्चिम=पिछली) रात्रि-काल के समय कुटुम्ब जागरिका जागते हुए उस मौर्यपुत्र तामली गाथापति (गृहस्थ) को इस प्रकार का यह अध्यवसाय यावत् मन मे संकल्प उत्पन्न हुआ कि—"मेरे द्वारा पूर्वकृत, पुरातन (दानादि रूप मे) सम्यक् आचरित, (तप आदि में) सुपराक्रमयुक्त, शुभ और कल्याणरूप कृतकर्मों का कल्याणफलरूप प्रभाव अभी तक तो विद्यमान है; जिसके कारण मैं हिरण्य (चादी) से बढ रहा हूँ, सुवर्ण (सोने) से बढ रहा हूँ, धन से बढ रहा हूँ, धान्य से बढ रहा हूँ, पुत्रो से बढ रहा हूँ, पशुओ से बढ रहा हूँ, तथा विपुल धन, कनक, रत्न, मणि, मोती, शख, चन्द्रकान्त वगैरह शैलज मणिरूप पत्थर, प्रवाल (मूगा) रक्तरत्न तथा माणिक्यरूप सारभूत धन से अधिकाधिक बढ रहा हूँ; (अर्थात्—मेरे घर मे पूर्वकृत पुण्यप्रभाव से पूर्वोक्तरूप मे सारभूत धनवैभव आदि बढ रहे हैं,) तो क्या मैं पूर्वकृत, पुरातन, (दानादिरूप मे) समाचरित यावत् पूर्वकृतकर्मों का (शुभकर्मों का फल भोगने से उनका) एकान्तरूप से क्षय हो रहा है, इसे अपने सामने देखता रहूँ—इस (क्षय=नाश) की उपेक्षा करता रहूँ? (अर्थात्—मुझे इतना सुख-साधनो का लाभ है, इतना ही बस मान कर क्या भविष्य-कालीन लाभ के प्रति उदासीन बना रहूँ? यह मेरे लिए ठीक नही है।) अत जब तक मैं चादी-सोने यावत् माणिक्य आदि सारभूत पदार्थों के रूप मे सुखसामग्री द्वारा दिनानुदिन अतीत-अतीव अभिवृद्धि पा रहा हूँ और जब तक मेरे मित्र, ज्ञातिजन, स्वगोत्रीय कुटुम्बीजन, मातृपक्षीय (ननिहाल के) या श्वसुरपक्षीय सम्बन्धी एव परिजन (दास-दासी आदि), मेरा आदर करते हैं, मुझे स्वामी रूप मे मानते हैं, मेरा सत्कार-सम्मान करते हैं, मुझे कल्याणरूप, मगलरूप, देवरूप, और चैत्य (सज्ञानवान्=समझदार=अनुभवी) रूप मानकर विनयपूर्वक मेरी पर्युपासना=सेवा करते है, तब तक (मुझे अपना कल्याण कर लेना चाहिए।) यही मेरे लिए श्रेयस्कर है। अत. रात्रि के व्यतीत होने पर प्रभात का प्रादुर्भाव होते ही (अर्थात् प्रात काल का प्रकाश होने पर) यावत् जाज्वल्यमान सूर्य के उदय होने पर मैं स्वयं अपने हाथ से काष्ठपात्र बनाऊँ और पर्याप्त अशन, पान, खादिम और स्वादिमरूप चारो प्रकार का आहार तैयार करा कर, अपने मित्र, ज्ञातिजन, स्वजन-सम्बन्धी तथा दास-दासी आदि परिजनो को आमन्त्रित करके उन्हे सम्मानपूर्वक अशनादि चारो प्रकार के आहार का भोजन कराऊँ, फिर वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ, माला और आभूषण आदि द्वारा उनका सत्कार-सम्मान करके उन्ही मित्र, ज्ञातिजन, स्वजन-सम्बन्धी और परिजनो के समक्ष अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब में स्थापित करके (उसे कुटुम्ब का सारा दायित्व सौप कर), उन मित्र-ज्ञातिजन-स्वजन-परिजनादि तथा अपने ज्येष्ठपुत्र से पूछकर, मै स्वयमेव काष्ठपात्र लेकर एव मुण्डित होकर 'प्राणामा' नाम की प्रव्रज्या अगीकार करू और प्रव्रजित होते ही मैं इस प्रकार का अभिग्रह (सकल्प=प्रतिज्ञा) धारण करू कि मैं जीवनभर निरन्तर छट्ठ-छट्ठ (बेले-बेले) तपश्चरण करूगा और सूर्य के सम्मुख दोनो भुजाए ऊँची करके आतापना भूमि मे आतापना लेता (कठोर ताप सहता) हुआ रहूँगा और छट्ठ (बेले) के पारणे के दिन आतापनाभूमि से नीचे उतर कर स्वय काष्ठपात्र हाथ मे लेकर ताम्र-लिप्ती नगरी के ऊँच, नीच और मध्यम कुलों के गृहसमुदाय में भिक्षाचरी के लिए पर्यटन करके भिक्षाविधि द्वारा शुद्ध ओदन (अर्थात्—केवल भात) लाऊगा और उसे २१ बार धोकर खाऊँगा।" इस प्रकार तामली गृहपति ने शुभ विचार किया।

इस प्रकार का विचार करके रात्रि व्यतीत होते ही प्रभात का प्रादुर्भाव होने पर यावत् तेज से जाज्वल्यमान सूर्य के उदय होने पर स्वयमेव लकडी का पात्र बनाया। फिर अशन, पान, खादिम, स्वादिमरूप चारों प्रकार का आहार तैयार करवाया। तत्पश्चात् उसने स्नान किया, बलिकर्म किया, कौतुक मंगल और प्रायश्चित्त किया, शुद्ध और उत्तम वस्त्र ठीक-से पहने, और अल्पभार तथा बहुमूल्य आभूषणो से अपने शरीर को अलंकृत किया। तत्पश्चात् भोजन के समय वह तामली गृहपति भोजनमण्डप मे आकर शुभासन पर सुखपूर्वक बैठा। इसके बाद (आमंत्रित) मित्र, ज्ञातिजन, स्वजन सम्बन्धी एवं परिजन आदि के साथ उस (तैयार कराए हुए) विपुल, अशन, पान, खादिम और स्वादिम रूप चतुर्विध आहार का आस्वादन करता (चखता) हुआ, विशेष स्वाद लेता हुआ, दूसरो को परोसता हुआ भोजन कराता हुआ—और स्वयं भोजन करता हुआ तामली गृहपति विहरण कर रहा था।

३७. जिमियभुत्तुत्तरागए वि य णं समाणे आयंते चोक्खे परमसुइभूए तं मित्त जाव परियणं विउलेणं असणपाण० ४ पुप्फ-वत्थ-गंध-मल्लाऽलंकारेण य सक्कारेइ, २ तस्सेव मित्त-नाइ जाव परियणस्स पुरओ जेट्ठं पुत्तं कुटुम्बे ठावेइ, २ ता तं मित्त-नाइ-णियग-संबंधिपरिजणं जेट्ठपुत्तं च आपुच्छइ, २ मुण्डे भवित्ता पाणामाए पव्वज्जाए पव्वइए। पव्वइए वि य णं समाणे इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ—'कप्पइ मे जावज्जीवाए छट्ठंछट्ठेणं जाव आहारित्तए' त्ति कट्टु इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ, २ त्ता जावज्जीवाए छट्ठंछट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय २ सूराभिमुहे आतावणभूमीए आतावेमाणे विहरइ। छट्ठस्स वि य णं पारणयंसि आतावणभूमीओ पच्चोरुभइ, २ सयमेव दारुमयं पडिग्गहं गहाय तामलित्तीए नगरीए उच्च-नीय-मज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडइ, २ सुद्धोयणं पडिग्गाहेइ, २ तिसत्तखुत्तो उदएणं पक्खालेइ, तओ पच्छा आहारं आहारेइ।

[३७] भोजन करने के बाद उसने पानी से हाथ धोये, और चुल्लू मे पानी लेकर शीघ्र आचमन (कुल्ला) किया, मुख साफ करके स्वच्छ हुआ। फिर उन सब मित्र-ज्ञाति-स्वजन-परिजनादि का विपुल अशन, पान, खादिम, स्वादिम, पुष्प, वस्त्र, सुगन्धित द्रव्य, माला, अलकार आदि से सत्कार-सम्मान किया। फिर उन्ही मित्रस्वजन आदि के समक्ष अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब मे स्थापित किया—(अर्थात्—उसे कुटुम्ब का भार सौपा)। तत्पश्चात् उन्ही मित्र-स्वजन आदि तथा अपने ज्येष्ठ पुत्र को पूछकर और मुण्डित होकर 'प्राणामा' नाम की प्रव्रज्या अंगीकार की।

प्राणामा-प्रव्रज्या मे प्रव्रजित होते ही तामली ने इस प्रकार का अभिग्रह ग्रहण किया—"आज से मेरा कल्प यह होगा कि मैं आजीवन निरन्तर छट्ठ-छट्ठ (बेले-बेले) तप करूँगा, यावत् पूर्वकथितानुसार भिक्षाविधि से केवल भात (पके हुए चावल) लाकर उन्हे २१ बार पानी से धोकर उनका आहार करूँगा।" इस प्रकार अभिग्रह धारण करके वह तामली तापस यावज्जीवन निरन्तर बेले-बेले तप करके दोनों भुजाएँ ऊँची करके आतापनाभूमि मे सूर्य के सम्मुख आतापना लेता हुआ विचरण करने लगा। बेले के पारणे के दिन आतापना भूमि से नीचे उतर कर स्वयं काष्ठपात्र लेकर ताम्रलिप्ती नगरी मे ऊँच, नीच और मध्यम कुलो के गृह-समुदाय से विधिपूर्वक भिक्षा के लिए

घूमता था। भिक्षा मे वह केवल भात लाता और उन्हें २१ बार पानी से धोता था, तत्पश्चात् आहार करता था।

विवेचन—ईशानेन्द्र का पूर्वभव : तामली का संकल्प और प्राणामा प्रव्रज्या ग्रहण—प्रस्तुत तीन सूत्रो मे तीन तथ्यात्मक वृत्तान्त प्रस्तुत किए गये हैं—

१—ईशानेन्द्र के पूर्वभव के विषय में गौतमस्वामी का प्रश्न।

२—तामली गृहपति और उसका प्राणामा प्रव्रज्याग्रहण का सकल्प।

३—सकल्पानुसार विधिपूर्वक प्राणामा प्रव्रज्याग्रहण और पालन।

तामलित्ती—ताम्रलिप्ती—भगवान् महावीर से पूर्व भी यह नगरी बगदेश की राजधानी के रूप मे प्रसिद्ध थी। तामली गृहपति के प्रकरण से भी यह बात सिद्ध होती है कि बगदेश ताम्रलिप्ती के कारण गौरवपूर्ण अवस्था मे पहुँचा हुआ था। अनेक नदियाँ होने के कारण जलमार्ग और स्थलमार्ग दोनो से माल का आयात-निर्यात होने के कारण व्यापार की दृष्टि से तथा सरसब्ज होने से उत्पादन की दृष्टि से भी यह समृद्ध था। वर्तमान **'ताम्रलिप्ती'** का नाम अपभ्रष्ट होकर **'तामलूक'** हो गया है, यह कलकत्ता के पास मिदनापुर जिले मे है।

मौर्यपुत्र-तामली—तामली गृहपति का नाम ताम्रलिप्ती नगरी के आधार पर तामली (ताम्रलिप्त) रखा गया मालूम होता है। मौर्यपुत्र उसका विशेषण है। 'मुर' नाम की कोई प्रसिद्ध जाति थी, जिसके कारण यह वश 'मौर्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ। जो भी हो, ताम्रलिप्ती के गृहपतियो मे मौर्यवश ख्यातिप्राप्त था।[1]

कठिन शब्दों के विशेष अर्थ—पुव्वरत्तावरत्तकालसमयसि=पूर्वरात्र (रत्रि का पहला भाग) और अपरर‍ात्र (रात्रि के पिछले भाग के बीच मे—मध्यरात्रिकाल के समय (शब्दश अर्थ), अथवा पूर्वरात्रि व्यतीत होने के बाद अपररात्रि (रात्रि के पश्चिम भाग) काल के समय (परम्परागत अर्थ)। **अज्झत्थिए**=आध्यात्मिक (आत्मगत अध्यवसाय)—सकल्प। **कल्लाणफलवित्तिविसेसो**=कल्याणकारी फलविशेष। **वड्ढामि**=(शब्दश) बढ रहा हूँ, (भावार्थ) घर मे बढ रहा है। **किण्णा**=किस हेतु (कारण) से। **जिमिय भुत्तुत्तरागए**=जीम (भोजन) करके, भोजनोत्तरकाल मे अपने उपवेशन—बैठने के—स्थान मे आ गया। **आयते**=शुद्ध जल से आचमन करके, तथा **चोक्खे**—भोजन के कण, लेप छींटे आदि दूर करके मुँह साफ किया, और **परमसुइब्भूए**=अत्यन्त (बिलकुल) शुचिभूत (साफ-सुथरा) हुआ।[2]

प्रव्रज्या का नाम 'प्राणामा' रखने का कारण

३८. से केणट्ठेणं भंते! एव वुच्चइ—पाणामा पव्वज्जा?

गोयमा! पाणामाए णं पव्वज्जाए पव्वइए समाणे जं जत्थ पासइ इंद वा खंदं वा रुद्दं वा

१. (क) व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) (टीकानुवाद टिप्पण सहित) (प. बेचरदासजी) खण्ड २, पृ २४

(ख) इससे लगता है चन्द्रगुप्त मौर्य से पूर्व भी मौर्यवश विद्यमान था। ——सम्पादक

२. (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति. पत्राक १६३

(ख) भगवती सूत्र विवेचन युक्त (प. घेवरचन्दजी) भा. २, पृ ५७६

(ग) व्याख्याप्रज्ञप्ति टीकानुवाद (प बेचरदासजी) खण्ड २, पृ ४१

सिवं वा वेसमणं वा अज्जं वा कोट्टकिरियं वा रायं वा जाव सत्थवाहं वा कागं वा साणं वा पाणं वा उच्चं पासइ उच्चं पणामं करेति, नीयं पासइ नीयं पणामं करेइ, जं जहा पासति तस्स तहा पणामं करेइ। से तेणट्ठेणं जाव पव्वज्जा।

[३८ प्र] भगवन् ! तामली द्वारा ग्रहण की हुई प्रव्रज्या 'प्राणामा' कहलाती है, इसका क्या कारण है ?

[३८ उ] हे गौतम ! प्राणामा प्रव्रज्या मे प्रव्रजित होने पर वह (प्रव्रजित) व्यक्ति जिसे जहाँ देखता है, (उसे वही प्रणाम करता है।) (अर्थात्-) इन्द्र को, स्कन्द (कार्तिकेय) को, रुद्र (महादेव) को, शिव (शकर या किसी व्यन्तरविशेष) को, वैश्रमण (कुबेर) को, आर्या (प्रशान्तरूपा पार्वती) को, रौद्ररूपा चण्डिका (महिषासुरमर्दिनी चण्डी) को, राजा को, यावत् सार्थवाह को, (अर्थात्—राजा, युवराज, तलवर, माडम्बिक, कौटुम्बिक, श्रेष्ठी एव सार्थवाह—बनजारे को) अथवा कौआ, कुत्ता और श्वपाक=चाण्डाल (आदि सबको प्रणाम करता है।) इनमे से उच्च व्यक्ति को देखता है, उच्च-रीति से प्रणाम करता है, नीच को देखकर नीची रीति से प्रणाम करता है। (अर्थात्—) जिसे जिस रूप मे देखता है, उसे उसी रूप मे प्रणाम करता है। इस कारण हे गौतम ! इस प्रव्रज्या का नाम 'प्राणामा' प्रव्रज्या है।

विवेचन—प्रव्रज्या का नाम 'प्राणामा' रखने का कारण—प्रस्तुत सूत्र मे तामली गृहपति द्वारा गृहीत प्रव्रज्या को प्राणामा कहने का आशय व्यक्त किया गया है।

'प्राणामा' का शब्दशः अर्थ—भी यह होता है—जिसमे प्रत्येक प्राणी को यथायोग्य प्रणाम करने की क्रिया विहित हो।[1]

कठिन शब्दो के अर्थ—वेसमणं=उत्तरदिग्पाल—कुबेरदेव । **कोट्टकिरियं**=महिषासुर को पीटने (कूटने) की क्रिया वाली चण्डिका। **उच्चं**=पूज्य को, **नीयं**=अपूज्य को, **उच्चं पणामं**= अतिशय प्रणाम, **नीयं पणामं**=अत्यधिक प्रणाम नही करता।[2]

---

१. वर्त्तमान मे भी वैदिक सम्प्रदाय मे **'प्राणामा'** प्रव्रज्या प्रचलित है। इस प्रकार की प्रव्रज्या मे दीक्षित हुए एक सज्जन के सम्बन्ध मे **'सरस्वती'** (मासिक पत्रिका भाग १३, अक १, पृष्ठ १८०) मे इस प्रकार के समाचार प्रकाशित हुए है—

"इसके बाद सब प्राणियो मे भगवान् की भावना दृढ करने और अहकार छोडने के इरादे से प्राणिमात्र को ईश्वर समझकर आपने साष्टांग प्रणाम करना शुरू किया। जिस प्राणी को आप आगे देखते, उसी के सामने अपने पैरो पर आप जमीन पर लेट जाते। इस प्रकार ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक और गौ से लेकर गधे तक को आप साष्टांग नमस्कार करने लगे।"

प्रस्तुत शास्त्र मे उल्लिखित 'प्राणामा' प्रव्रज्या और 'सरस्वती' मे प्रकाशित उपर्युक्त घटना, दोनो की प्रवृत्ति समान प्रतीत होती है। किन्तु ऐसी प्रवृत्ति सम्यग्ज्ञान के अभाव की सूचक है।

—भगवती विवेचन (प घेवरचन्दजी) भा २, पृ ५९४ से

२. भगवती. अ वृत्ति, पत्रांक १६४

बालतपस्वी तामली द्वारा पादपोपगमन-अनशन ग्रहण

३९. तए णं से तामली मोरियपुत्ते तेणं ओरालेणं विपुलेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं बालतवोकम्मेणं सुक्के लुक्खे जाव[1] धमणिसंतते जाए यावि होत्था।

[३९] तत्पश्चात् वह मौर्यपुत्र तामली तापस उस उदार, विपुल, प्रदत्त और प्रगृहीत बाल (अज्ञान) तप द्वारा (अत्यन्त) सूख (शुष्क हो) गया, रूक्ष हो गया, यावत् (इतना दुर्बल हो गया कि) उसके समस्त नाडियो का जाल बाहर दिखाई देने लगा।

४०. तए णं तस्स तामलिस्स बालतवस्सिस्स अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि अणिच्चजागरियं जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए जाव समुप्पज्जित्था—'एवं खलु अहं इमेणं ओरालेणं विपुलेणं जाव[2] उदग्गेणं उदत्तेणं उत्तमेण महाणुभागेण तवोकम्मेणं सुक्के लुक्खे जाव धमणिसंतते जाते, तं अत्थि जा मे उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे तावता मे सेयं कल्लं जाव जलते तामलित्तीए नगरीए दिट्ठाभट्ठे य पासंडत्थे य गिहत्थे य पुव्वसंगतिए य परियायसंगतिए य आपुच्छित्ता तामलित्तीए नगरीए मज्झंमज्झेणं निग्गच्छित्ता पाउग्गं कुण्डियमादीयं उवकरणं दारुमयं च पडिग्गहयं एगंते एडित्ता तामलित्तीए नगरीए उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए णियत्तणियमंडलं आलिहित्ता संलेहणाझूसणाझूसियस्स भत्त-पाणपडियाइक्खियस्स पाओवगयस्स कालं अणवकंखमाणस्स विहरित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ। एवं संपेहेत्ता कल्लं जाव जलते जाव आपुच्छइ, २ तामलित्तीए एगंते एडेइ जाव भत्त-पाणपडियाइक्खिए पाओवगमणं निवन्ने।

[४०] तदनन्तर किसी एक दिन पूर्वरात्रि व्यतीत होने के बाद अपररात्रिकाल के समय अनित्य जागरिका अर्थात् संसार, शरीर आदि की क्षणभगुरता का विचार करते हुए उस बालतपस्वी तामली को इस प्रकार का आध्यात्मिक चिन्तन यावत् मनोगत सकल्प उत्पन्न हुआ कि 'मै इस उदार, विपुल यावत् उदग्र, उदात्त, उत्तम और महाप्रभावशाली तप.कर्म करने से शुष्क और रूक्ष हो गया हूँ, यावत् मेरा शरीर इतना कृश हो गया है कि नाडियो का जाल बाहर दिखाई देने लग गया है। इसलिए जब तक मुझ मे उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम है, तब तक मेरे लिए (यही) श्रेयस्कर है कि कल प्रात काल यावत् जाज्वल्यमान सूर्योदय होने पर मैं ताम्रलिप्ती नगरी मे जाऊँ। वहाँ जो दृष्टभाषित (जिनको पहले गृहस्थावस्था मे देखा है, जिनके साथ भाषण किया है) व्यक्ति हैं, जो पाषण्ड (व्रतो में) स्थित हैं, या जो गृहस्थ है, जो पूर्वपरिचित (गृहस्थावस्था के परिचित) हैं, या जो पश्चात्परिचित (तापसजीवन मे परिचय मे आए हुए) है, तथा जो समकालीन प्रव्रज्या— (दीक्षा) पर्याय से युक्त पुरुष हैं, उनसे पूछकर (विचार-विनिमय करके), ताम्रलिप्ती नगरी के बीचोबीच से निकलकर पादुका (खडाऊ), कुण्डी आदि उपकरणो तथा काष्ठ-पात्र को एकान्त मे

१. यहाँ 'जाव' शब्द से 'भुक्खे, निम्मसे निस्सोणिए किडिकिडियाभूए अट्ठि चम्मावणद्धे किसे' यह पाठ जानना चाहिए।

२. जाव पद से 'सस्सिरीएणं पयत्तेण पग्गहिएण, कल्लाणेण सिवेण धन्नेण मगलेण' इस पाठ का ग्रहण करना चाहिए।

रखकर, ताम्रलिप्ती नगरी के उत्तर-पूर्व दिशा भाग (ईशान कोण) में निवर्तनिक (एक परिमित क्षेत्र विशेष, अथवा निजतनुप्रमाण स्थान) मण्डल का आलेखन (निरीक्षण, सम्मार्जन, या रेखा खींच कर क्षेत्रमर्यादा) करके, सल्लेखना तप से आत्मा को सेवित कर आहार-पानी का सर्वथा त्याग (यावज्जीव अनशन) करके पादपोपगमन सथारा करू और मृत्यु की आकांक्षा नहीं करता हुआ (शान्तचित्त से समभाव में) विचरण करू, मेरे लिए यही उचित है।' यों विचार करके प्रभातकाल होते ही यावत् जाज्वल्यमान सूर्योदय होने पर यावत् (पूर्वोक्त—पूर्वचिन्तित संकल्पानुसार सबसे यथायोग्य) पूछा। (विचार विनिमय करके) उस (तामली तापस) ने (ताम्रलिप्ती नगरी के बीचों-बीच से निकलकर अपने उपकरण) एकान्त स्थान में छोड़ दिये। फिर यावत् आहार-पानी का सर्वथा प्रत्याख्यान (त्याग) किया और पादपोपगमन नामक अनशन (सथारा) अगीकार किया।

विवेचन—बालतपस्वी तामली द्वारा पादपोपगमन-अनशन-ग्रहण—प्रस्तुत सूत्रद्वय मे तामली तापस के बालतपस्वी जीवन के तीन वृत्तान्त प्रतिपादित किये गए हैं—(१) उक्त घोर बालतप के कारण शरीर शुष्क, रूक्ष एव अत्यन्त कृश हो गया।

(२) एक रात्रि के पिछले पहर मे क्रमश विधिवत् सलेखना-सथारा करने का सकल्प किया।

(३) सकल्पानुसार तामली तापस अपने परिचितो से पूछकर—उनकी अनुमति लेकर ताम्र-लिप्ती के ईशानकोण मे सल्लेखनापूर्वक पादपोपगमन अनशन की आराधना में सलग्न हुआ।

सलेखना तप—चतुर्विध आहार के सर्वथा प्रत्याख्यान (यावज्जीव अनशन) करने से पूर्व साधक काय और कषाय को कृश करने वाला सल्लेखना तप स्वीकार करता है।

पादपोपगमन-अनशन—इस अनशन का धारक साधक गिरे हुए पादप (वृक्ष) की तरह निश्चेष्ट होकर आत्मध्यान मे मग्न रहता है।[1]

बलिचंचावासी देवगण द्वारा इन्द्र बनने की विनति : तामली तापस द्वारा अस्वीकार

४१. तेण कालेण तेणं समएणं बलिचंचा रायहाणी अणिंदा अपुरोहिया यावि होत्था। तए णं ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलिं बालतवस्सिं ओहिणा आभोयंति, २ अन्नमन्नं सद्दावेंति, २ एवं वयासी—"एवं खलु देवाणुप्पिया! बलिचंचा रायहाणी अणिंदा अपुरोहिया, अम्हे य णं देवाणुप्पिया! इंदाधीणा इंदाधिट्ठिया इंदाहीणकज्जा। अयं च णं देवाणुप्पिया! तामली बालतवस्सी तामलित्तीए नगरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए नियत्तणिय-मंडलं आलिहित्ता सलेहणाझूसणाझूसिए भत्त-पाणपडियाइक्खिए पाओवगमणं निवन्ने। तं सेयं खलु देवाणुप्पिया! अम्हं तामलिं बालतवस्सिं बलिचंचाए रायहाणीए ठितिपकप्पं पकरावेत्तए" त्ति कट्टु अन्नमन्नस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुर्णेति, २ बलिचंचाए रायहाणीए मज्झंमज्झेणं निग्गच्छंति, २ जेणेव रुयगिंदे उप्पायपव्वए तेणेव उवागच्छंति, २ वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णंति जाव उत्तरवेउव्वियाइं रूवाइं विकुव्वंति, २ ताए उक्किट्ठाए तुरियाए चवलाए चंडाए जइणाए छेयाए सीहाए सिग्घाए दिव्वाए उद्धुयाए देवगतीए तिरियमसंखेज्जाणं दीव-समुद्दाणं मज्झंमज्झेणं जेणेव जंबुद्दीवे दीवे जेणेव भारहे वासे

---

१. भगवतीसूत्र प्रमेयचन्द्रिका टीका भा. ३ (पू. घासीलालजी म.), पृ. २१५

जेणेव तामलित्ती नगरी जेणेव तामली मोरियपुत्ते तेणेव उवागच्छंति, २ त्ता तामलिस्स बालतवस्सिस्स उप्पि सपक्खि सपडिदिसिं ठिच्चा दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवज्जुतिं दिव्वं देवाणुभागं दिव्वं बत्तीसतिविहं नट्टविहिं उवदंसेंति, २ तामलिं बालतवस्सि तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेंति वंदंति नमंसंति, २ एवं वदासी—"एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हे बलिचंचारायहाणीवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य देवाणुप्पियं वंदामो नमसामो जाव पज्जुवासामो। अम्हं णं देवाणुप्पिया ! बलिचंचा रायहाणी अणिंदा अपुरोहिया, अम्हे य णं देवाणुप्पिया ! इंदाहीणा इंदाहिट्ठिया इंदाहीणकज्जा, तं तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! बलिचंचं रायहाणिं आढाह परियाणह सुमरह, अट्ठं बंधह, णिदाणं पकरेह, ठितिपकप्पं पकरेह। तए णं तुब्भे कालमासे कालं किच्चा बलिचंचारायहाणीए उववज्जिस्सह, तए णं तुब्भे अम्हं इंदा भविस्सह, तए णं तुब्भे अम्हेहिं सद्धिं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरिस्सह।"

[४१] उस काल उस समय मे बलिचचा (उत्तरदिशा के असुरेन्द्र असुरकुमारराज की) राजधानी इन्द्रविहीन और (इन्द्र के अभाव मे) पुरोहित से विहीन थी। उन बलिचचा राजधानी निवासी बहुत-से असुरकुमार देवो और देवियो ने तामली बालतपस्वी को अवधिज्ञान से देखा। देखकर उन्होने एक दूसरे को बुलाया, और बुलाकर इस प्रकार कहा -'देवानुप्रियो ! (आपको मालूम ही है कि) बलिचचा राजधानी (इस समय) इन्द्र से विहीन और पुरोहित से भी रहित है। हे देवानुप्रियो ! हम सब (अब तक) इन्द्राधीन और इन्द्राधिष्ठित (रहे) है, अपना सब कार्य इन्द्र की अधीनता मे होता है। हे देवानुप्रियो ! (भारतवर्ष मे ताम्रलिप्ती नगरी मे) यह तामली बाल-तपस्वी ताम्रलिप्ती नगरी के बाहर उत्तरपूर्वदिशाभाग (ईशान कोण) मे निवर्तनिक (निवर्तनपरिमित या अपने शरीरपरिमित) मडल (स्थान) का आलेखन करके, सलेखना तप की आराधना से अपनी आत्मा को सेवित करके, आहार-पानी का सर्वथा प्रत्याख्यान कर, पादपोपगमन अनशन को स्वीकार करके रहा हुआ है। अत. देवानुप्रियो ! हमारे लिए यही श्रेयस्कर है कि तामली बालतपस्वी को बलिचचा राजधानी मे (इन्द्र रूप मे) स्थिति करने (आकर रहने) का सकल्प (प्रकल्प) कराएँ।' ऐसा (विचार) करके परस्पर एक-दूसरे के पास (इस बात के लिए) वचनबद्ध हुए। फिर (वे सब अपने वचनानुसार) बलिचचा राजधानी के बीचोबीच होकर निकले और जहाँ रुचकेन्द्र उत्पातपर्वत था, वहाँ आए। वहाँ आकर उन्होने वैक्रिय समुद्घात से अपने आपको समवहत (युक्त) किया, यावत् उत्तरवैक्रिय रूपो की विकुर्वणा की। फिर उस उत्कृष्ट, त्वरित, चपल, चण्ड, जयिनी, छेक (निपुण) सिहसदृश, शीघ्र, दिव्य और उद्धृत देवगति से (वे सब) तिरछे असख्येय द्वीप-समुद्रो के मध्य मे होते हुए जहाँ जम्बूद्वीप नामक द्वीप था, जहाँ भारतवर्ष था, जहाँ ताम्रलिप्ती नगरी थी, जहाँ मौर्यपुत्र तामली तापस था, वहाँ आए, और तामली बालतपस्वी के (ठीक) ऊपर (आकाश मे) चारो दिशाओ और चारो कोनो (विदिशाओं) में सामने खडे (स्थित) होकर दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवद्युति, दिव्य देवप्रभाव और बत्तीस प्रकार की दिव्य नाटकविधि बतलाई।

इसके पश्चात् तामली बालतपस्वी की दाहिनी ओर से तीन बार प्रदक्षिणा की, उसे वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके वे इस प्रकार बोले—हे देवानुप्रिय ! हम बलिचचा राजधानी के निवासी बहुत-से असुरकुमार देव और देवीवृन्द आप देवानुप्रिय को वन्दन-नमस्कार करते हैं यावत् आपकी पर्युपासना करते हैं। हे देवानुप्रिय ! (इस समय) हमारी बलिचचा राजधानी

इन्द्र और पुरोहित से विहीन है। और हे देवानुप्रिय ! हम सब इन्द्राधीन और इन्द्राधिष्ठित रहने वाले हैं। और हमारे सब कार्य इन्द्राधीन होते हैं। इसलिए हे देवानुप्रिय ! आप बलिचचा राजधानी (के अधिपतिपद) का आदर करे (अपनावे)। उसके स्वामित्व को स्वीकार करे, उसका मन मे भलीभांति स्मरण (चिन्तन) करे, उसके लिए (मन मे) निश्चय करें, उसका (बलिचचा राजधानी के इन्द्रपद की प्राप्ति का) निदान करे, बलिचचा मे उत्पन्न होकर स्थिति (इन्द्ररूप मे निवास) करने का सकल्प (निश्चय) करें। तभी (बलिचचा राजधानी के अधिपतिपदप्राप्ति का आपका विचार स्थिर हो जाएगा, तब ही) आप काल (मृत्यु) के अवसर पर मृत्यु प्राप्त करके बलिचचा राजधानी मे उत्पन्न होगे। फिर आप हमारे इन्द्र बन जाएँगे और हमारे साथ दिव्य कामभोगो को भोगते हुए विहरण करेगे।

४२ तए णं से तामली बालतवस्सी तेहिं बलिचंचारायहाणिवत्थव्वएहिं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहि य देवीहि य एवं वुत्ते समाणे एयमट्ठं नो आढाइ नो परियाणेइ, तुसिणीए संचिट्ठइ।

[४२] जब बलिचचा राजधानी मे रहने वाले बहुत-से असुरकुमार देवो और देवियो ने उस तामली बालतपस्वी को इस (पूर्वोक्त) प्रकार से कहा तो उसने उनकी बात का आदर नही किया, स्वीकार भी नही किया, किन्तु मौन रहा।

४३ तए ण ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलिं मोरियपुत्तं दोच्चं पि तच्चं पि तिक्खुत्तो आयाहिणप्पयाहिणं करेंति, २ जाव अम्हं च णं देवाणुप्पिया ! बलिचचा रायहाणी अणिदा जाव ठितिपकप्पं पकरेह, जाव दोच्चं पि तच्चं पि एव वुत्ते समाणे जाव तुसिणीए संचिट्ठइ।

[४३] तदनन्तर बलिचचा-राजधानी-निवासी उन बहुत-से देवो और देवियो ने उस तामली बालतपस्वी की फिर दाहिनी ओर से तीन बार प्रदक्षिणा करके दूसरी बार, तीसरी बार पूर्वोक्त बात कही कि हे देवानुप्रिय ! हमारी बलिचचा राजधानी इन्द्रविहीन और पुरोहितरहित है, यावत् आप उसके स्वामी बनकर वहाँ स्थिति करने का सकल्प करिये।' उन असुरकुमार देव-देवियो द्वारा पूर्वोक्त बात दो-तीन बार यावत् दोहराई जाने पर भी तामली मौर्यपुत्र ने कुछ भी जवाब न दिया यावत् वह मौन धारण करके बैठा रहा।

४४. तए णं ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलिणा बालतवस्सिणा अणाढाइज्जमाणा अपरियाणिज्जमाणा जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया।

[४४] तत्पश्चात् अन्त मे जब तामली बालतपस्वी के द्वारा बलिचचा राजधानी-निवासी उन बहुत-से असुरकुमार देवो और देवियो का अनादर हुआ, और उनकी बात नही मानी गई, तब वे (देव-देवीवृन्द) जिस दिशा से आए थे, उसी दिशा मे वापस चले गए।

विवेचन—बलिचंचानिवासी देवगण द्वारा इन्द्र बनने की विनति और तामली तापस द्वारा

अस्वीकार—प्रस्तुत चार सूत्रों (४१ से ४४ सू. तक) में तामली तापस से सम्बन्धित चार वृत्तान्त प्रतिपादित किए गए हैं—

(१) बलिचंचा राजधानी निवासी असुरकुमार देव-देवीगण द्वारा अनशन लीन तामली तापस को वहाँ के इन्द्रपद की प्राप्ति का संकल्प एवं निदान करने के लिए विनति करने का विचार।

(२) तामली तापस की सेवा में पहुंचकर उससे बलिचंचा के इन्द्रपद प्राप्ति का संकल्प और निदान का साग्रह अनुरोध।

(३) उनके अनुरोध का तामली तापस द्वारा अनादर और अस्वीकार।

(४) तामली तापस द्वारा अनादृत होने तथा स्वकीय प्रार्थना अमान्य होने से उक्त देवगण का निराश होकर अपने स्थान को लौट जाना।

पुरोहित बनने की विनति नहीं—तामली तापस को उक्त देवगण ने पुरोहित बनने की विनति इसलिए नहीं की कि इन्द्र के अभाव में शान्तिकर्मकर्ता पुरोहित हो नहीं सकता था।

देवों की गति के विशेषण—**उक्किट्ठा**=उत्कर्षवती, **तुरिया**=त्वरावाली गति, **चवला**—शारीरिक चपलतायुक्त, **चंडा**=रौद्ररूपा, **जइणा**=दूसरों की गति को जीतने वाली, **छेया**=उपायपूर्वकप्रवृत्ति होने से निपुण, **सीहा**=सिंह की गति के समान अनायास होनी वाली, **सिग्घा**=शीघ्रगामिनी, **दिव्वा**=दिव्य-देवों की, **उद्धुया**=गमन करते समय वस्त्रादि उडा देने वाली, अथवा उद्धत-सदर्प गति। ये सब देवों की गति (चाल) के विशेषण हैं।

सपक्खि सपडिदिसिं की व्याख्या—**सपक्खि**=सपक्ष अर्थात्—जिस स्थल में उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम, के सभी पक्ष-पार्श्व (पूर्व आदि दिशाएँ विदिशाएं।) एकसरीखे हों, वह सपक्ष। **सपडिदिसिं**=जिस स्थान से सभी प्रतिदिशाएं (विदिशाएँ) एक समान हों,[1] वह सप्रतिदिक् है।

तामली बालतपस्वी की ईशानेन्द्र के रूप में उत्पत्ति

४५. तेणं कालेणं तेणं समएणं ईसाणे कप्पे अणिंदे अपुरोहिते यावि होत्था। तए णं से तामली बालतवस्सी रिसी बहुपडिपुण्णाइं सट्ठिं वाससहस्साइं परियागं पाउणित्ता दोमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता सवीसं भत्तसयं अणसणाए छेदित्ता कालमासे कालं किच्चा ईसाणे कप्पे ईसाणवडिंसए विमाणे उववातसभाए देवसयणिज्जंसि देवदूसंतरिते अंगुलस्स असंखेज्जभागमेत्तीए ओगाहणाए ईसाण-देविंदविरहकालसमयंसि ईसाणदेविंदत्ताए उववन्ने। तए णं से ईसाणे देविंदे देवराया अहुणोववन्ने पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभावं गच्छति, तं जहा—आहारपज्जत्तीए जाव भासा-मणपज्जत्तीए।

[४५] उस काल और उस समय में ईशान देवलोक (कल्प) इन्द्रविहीन और पुरोहितरहित भी था। उस समय ऋषि तामली बालतपस्वी, पूरे साठ हजार वर्ष तक तापस पर्याय का पालन करके, दो महीने की संलेखना से अपनी आत्मा को सेवित करके, एक सौ बीस भक्त (टंक) अनशन में काट कर (अर्थात्—१२० बार का भोजन छोड कर=दो मास तक अनशन का पालन कर) काल के

१ भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १६७

अवसर पर काल करके ईशान देवलोक के ईशावतसक विमान में उपपातसभा की देवदूष्य-वस्त्र से आच्छादित देवशय्या में अगुल के असख्येय भाग जितनी अवगाहना में, ईशान देवलोक के इन्द्र के विरहकाल (अनुपस्थितिकाल) में ईशानदेवेन्द्र के रूप मे उत्पन्न हुआ। तत्काल उत्पन्न वह देवेन्द्र देवराज ईशान, आहारपर्याप्ति से लेकर यावत् भाषा-मन पर्याप्ति तक, पंचविध पर्याप्तियो से पर्याप्ति भाव को प्राप्त हुआ—पर्याप्त हो गया।

विवेचन—तामली बालतपस्वी की ईशानेन्द्र के रूप में उत्पत्ति—प्रस्तुत सूत्र मे तामली तापस द्वारा स्वीकृत सलेखना एव अनशन पूर्ण होने की तथा आयुष्य पूर्ण होने की अवधि बता कर ईशान देवलोक मे ईशान-देवेन्द्र के रूप मे उत्पन्न होने का वर्णन है।

तामली तापस की कठोर बाल-तपस्या एवं संलेखनापूर्वक अनशन का सुफल—यहाँ शास्त्रकार ने तामली तापस की साधना के फलस्वरूप उपार्जित पुण्य का फल बताकर यह ध्वनित कर दिया है कि इतना कठोर तपश्चरण अज्ञानपूर्वक होने से कर्मक्षय का कारण न बनकर शुभकर्मोपार्जन का कारण बना।

देवो में पाँच ही पर्याप्तियो का उल्लेख—इसलिए किया गया है, कि देवो के भाषा और मन पर्याप्ति एक साथ सम्मिलित बधती है।[1]

बलिचंचावासी असुरों द्वारा तामली तापस के शव की विडम्बना

४६. तए ण बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तामलिं बालतवस्सिं कालगयं जाणित्ता ईसाणे य कप्पे देविंदत्ताए उववन्नं पासित्ता आसुरुत्ता कुविया चंडिक्किया मिसिमिसेमाणा बलिचंचाए रायहाणीए मज्झंमज्झेणं निग्गच्छंति, २ ताए उक्किट्ठाए जाव जेणेव भारहे वासे जेणेव तामलित्ती नयरी जेणेव तामलिस्स बालतवस्सिस्स सरीरए तेणेव उवागच्छंति, २ वामे पाए सुंबेणं बंधंति, २ तिक्खुत्तो मुहे उट्ठुहंति, २ तामलित्तीए नगरीए सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहेसु आकड्ढविकड्ढिं करेमाणा महया २ सद्देणं उग्घोसेमाणा २ एवं वदासि— 'केस णं भो ! से तामली बालतवस्सी सयंगहियलिंगे पाणामाए पव्वज्जाए पव्वइए ! केस णं से ईसाणे कप्पे ईसाणे देविंदे देवराया' इति कट्टु तामलिस्स बालतवस्सिस्स सरीरयं हीलंति निंदंति खिंसंति गरिहंति अवमन्नंति तज्जंति तालेंति परिवहेंति पव्वहेंति आकड्ढविकड्ढिं करेंति, हीलेत्ता जाव आकड्ढविकड्ढिं करेत्ता एगंते एडेंति, २ जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया।

[४६] उस समय बलिचचा-राजधानी के निवासी बहुत-से असुरकुमार देवों और देवियों ने जब यह जाना कि तामली बालतपस्वी कालधर्म को प्राप्त हो गया है और ईशानकल्प (देवलोक) मे वहाँ के देवेन्द्र के रूप में उत्पन्न हुआ है, तो यह जानकर वे एकदम क्रोध से मूढमति हो गए, अथवा शीघ्र क्रोध से भडक उठे, वे अत्यन्त कुपित हो गए, उनके चेहरे क्रोध से भयकर उग्र हो गए, वे क्रोध की आग से तिलमिला उठे और तत्काल वे सब बलिचचा राजधानी के बीचोंबीच होकर निकले, यावत् उत्कृष्ट देवगति से इस जम्बूद्वीप में स्थित भरतक्षेत्र की ताम्रलिप्ती नगरी के बाहर, जहाँ तामली

१ भगवती विवेचन (पं घेवरचन्दजी) भाग २, पृ ५८७

बालतपस्वी का शव (मृतशरीर) (पडा) था वहाँ आए। उन्होंने (तामली बालतपस्वी के मृत शरीर के) बाएँ पैर को रस्सी से बाधा, फिर तीन बार उसके मुख मे थूका। तत्पश्चात् ताम्रलिप्ती नगरी के शृंगाटकों—त्रिकोण मार्गों (तिराहो) मे, चौको मे, प्रागण मे, चतुर्मुख मार्ग मे तथा महामार्गों में; अर्थात् ताम्रलिप्ती नगरी के सभी प्रकार के मार्गों मे उसके शव (मृतशरीर) को घसीटा; अथवा इधर-उधर खीचतान की और जोर-जोर से चिल्लाकर उद्घोषणा करते हुए इस प्रकार कहने लगे—'स्वयमेव तापस का वेष पहन (ग्रहण) कर 'प्राणामा' प्रव्रज्या अगीकार करने वाला यह तामली बालतपस्वी हमारे सामने क्या है ? तथा ईशानकल्प मे उत्पन्न हुआ देवेन्द्र देवराज ईशान भी हमारे सामने कौन होता है ?' यो कहकर वे उस तामली बालतपस्वी के मृत शरीर की हीलना, (अवहेलना), निन्दा करते है उसे कोसते (खिसा करते) हैं, उसकी गर्हा करते हैं, उसकी अवमानना, तर्जना और ताडना करते हैं (उसे मारते-पीटते हैं)। उसकी कदर्थना (विडम्बना) और भर्त्सना करते है, (उसकी बहुत बुरी हालत करते हैं, उसे उठा-उठाकर खूब पटकते है।) अपनी इच्छानुसार उसे इधर-उधर घसीटते (खीचते) है। इस प्रकार उस शव की हीलना यावत् मनमानी खीचतान करके फिर उसे एकान्त स्थान मे डाल देते हैं। फिर वे जिस दिशा से आये थे, उसी दिशा मे वापस लौट गए।

विवेचन—बलिचंचावासी असुरों द्वारा तामली तापस के शव की विडम्बना—प्रस्तुत सूत्र मे बालतपस्वी तामली तापस का अनशनपूर्वक मरण हो जाने और ईशान देवलोक के इन्द्र के रूप मे उत्पन्न होने पर क्रुद्ध बलिचचावासी असुरो द्वारा उसके मृतशरीर की की गई विडम्बना का वर्णन है। क्रोध मे असुरो को कुछ भी भान न रहा कि इसकी प्रतिक्रिया क्या होगी ?

प्रकुपित ईशानेन्द्र द्वारा भस्मीभूत बलिचंचा देख, भयभीत असुरों द्वारा अपराधक्षमा-याचना—

४७. तए णं ईसाणकप्पवासी बहवे वेमाणिया देवा य देवीओ य बलिचचारायहाणिवत्थव्व-एहिं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं देवीहि य तामलिस्स बालतवस्सिस्स सरीरयं हीलिज्जमाण निंदिज्ज-माणं जाव आकड्ढविकड्ढि कीरमाणं पासंति, २ आसुरुत्ता जाव मिसिमिसेमाणा जेणेव ईसाणे देविंदे देवराया तेणेव उवागच्छंति, २ करयलपरिग्गहियं दसनह सिरसावत्त मत्थए अंजलिं कट्टु जएण विजएणं वद्धावेंति, २ एवं वदासी— एवं खलु देवाणुप्पिया ! बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुर-कुमारा देवा य देवीओ य देवाणुप्पिए कालगए जाणित्ता ईसाणे य कप्पे इंदत्ताए उववन्ने पासेत्ता आसुरुत्ता जाव एगंते एडेंति, २ जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया।

[४७] तत्पश्चात् ईशानकल्पवासी बहुत-से वैमानिक देवो और देवियो ने (इस प्रकार) देखा कि बलिचचा-राजधानी-निवासी बहुत-से असुरकुमार देवो और देवियो द्वारा तामली बालतपस्वी के मृत शरीर की हीलना, निन्दा और आक्रोशना की जा रही है, यावत् उस शव को मनचाहे ढंग से इधर-उधर घसीटा या खीचा जा रहा है। अत इस प्रकार (तामली तापस के मृत शरीर की दुर्दशा होती) देखकर वे वैमानिक देव-देवीगण शीघ्र ही क्रोध से भडक उठे यावत् क्रोधानल से तिलमिलाते (दांत पीसते) हुए, जहाँ देवेन्द्र देवराज ईशान था, वहाँ पहुँचे। ईशानेन्द्र के पास पहुँचकर दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर अजलि करके 'जय हो, विजय हो' इत्यादि शब्दों से उस (तामली के जीव

ईशानेन्द्र) को बधाया। फिर वे इस प्रकार बोले—'हे देवानुप्रिय ! बलिचंचा राजधानी निवासी बहुत से असुरकुमार देव और देवीगण आप देवानुप्रिय को कालधर्म प्राप्त हुए एवं ईशानकल्प में इन्द्ररूप मे उत्पन्न हुए देखकर अत्यन्त कोपायमान हुए यावत् आपके मृतशरीर को उन्होने मनचाहा आड़ा-टेढ़ा खींच-घसीटकर एकान्त मे डाल दिया। तत्पश्चात् वे जिस दिशा से आए थे, उसी दिशा मे वापस लौट गए।'

४८. तए णं से ईसाणे देविंदे देवराया तेसिं ईसाणकप्पवासीणं बहूणं वेमाणियाणं देवाण य देवीण य अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते जाव मिसिमिसेमाणे तत्थेव सयणिज्जवरगए तिवलियं भिउडिं निडाले साहट्टु बलिचंचं रायहाणिं अहे सपक्खि सपडिदिसिं समभिलोएइ, तए णं सा बलिचंचा रायहाणी ईसाणेणं देविंदेणं देवरण्णा अहे सपक्खि सपडिदिसिं समभिलोइया समाणी तेणं दिव्वप्पभावेण इंगालब्भूया मुम्मुरब्भूया छारिब्भूया तत्तकवेल्लकब्भूया तत्ता समजोइब्भूया जाया यावि होत्था।

[४८] उस समय देवेन्द्र देवराज ईशान ईशानकल्पवासी बहुत-से वैमानिक देवो और देवियों से यह बात सुनकर और मन मे विचार कर शीघ्र ही क्रोध से आगबबूला हो उठा, यावत् क्रोधाग्नि से तिलमिलाता (मिसमिसाहट करता) हुआ, वहीं देवशय्या स्थित ईशानेन्द्र ने ललाट पर तीन सल (रेखाएँ) डालकर एवं भ्रुकुटि तान कर बलिचचा राजधानी को, नीचे ठीक सामने, (सपक्ष—चारो दिशाओं से बराबर सम्मुख, और सप्रतिदिक् (चारो विदिशाओं से भी एकदम सम्मुख) होकर एकटक दृष्टि से देखा। इस प्रकार कुपित दृष्टि से बलिचंचा राजधानी को देखने से वह उस दिव्यप्रभाव से जलते हुए अंगारो के समान, अग्नि-कणो के समान, तपी हुई राख के समान, तपतपाती बालू जैसी या तपे हुए गर्म तवे सरीखी, और साक्षात् अग्नि की राशि जैसी हो गई—जलने लगी।

४९. तए ण ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य तं बलिचंचं रायहाणिं इंगालब्भूय जाव समजोतिब्भूय पासंति, २ भीया उत्तत्था सुसिया उव्विग्गा संजायभया सव्वओ समंता आधावेंति परिधावेंति, २ अन्नमन्नस्स कायं समतुरंगेमाणा २ चिट्ठंति।

[४९] जब बलिचचा राजधानी मे रहने वाले बहुत-से असुरकुमार देवो और देवियो ने उस बलिचंचा राजधानी को अंगारो सरीखी यावत् साक्षात् अग्नि की लपटो जैसी देखी तो वे उसे देखकर अत्यन्त भयभीत हुए, भयत्रस्त होकर कांपने लगे, उनका आनन्दरस सूख गया (अथवा उनके चेहरे सूख गए), वे उद्विग्न हो गए, और भय के मारे चारो ओर इधर-उधर भाग-दौड़ करने लगे। (इस भगदड में) वे एक दूसरे के शरीर से चिपटने लगे अथवा एक दूसरे के शरीर की ओट मे छिपने लगे।

५०. तए णं ते बलिचंचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य ईसाणं देविंदं देवरायं परिकुवियं जाणित्ता ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो तं दिव्वं देविड्ढि दिव्वं देवज्जुतिं दिव्वं देवाणुभागं दिव्वं तेयलेस्सं असहमाणा सव्वे सपक्खि सपडिदिसिं ठिच्चा करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजयेणं वद्धार्वेति, २ एवं वयासी—अहो णं देवाणुप्पिएहिं दिव्वा देविड्ढी जाव अभिसमन्नागता, तं दिट्ठा णं देवाणुप्पियाणं दिव्वा देविड्ढी जाव लद्धा पत्ता

अभिसमन्नागया। तं खामेमो ण देवाणुप्पिया !, खमंतु णं देवाणुप्पिया !, खंतुमरिहंति णं देवाणुप्पिया !, णाइ भुज्जो एवकरणयाए त्ति कट्टु एयमट्ठं सम्म विणयेणं भुज्जो २ खामेंति।

[५०] ऐसी दुःस्थिति हो गई, तब बलिचंचा-राजधानी के बहुत-से असुरकुमार देवो और देवियो ने यह जानकर कि देवेन्द्र देवराज ईशान के परिकुपित होने से (हमारी राजधानी इस प्रकार आग-सी तप्त हो गई है), वे सब असुरकुमार देवगण, ईशानेन्द्र (देवेन्द्र देवराज) की उस दिव्य देव-ऋद्धि, दिव्य देवद्युति, दिव्य देवप्रभाव, और दिव्य तेजोलेश्या को सहन न करते हुए देवेन्द्र देवराज ईशान के चारो दिशाओ मे और चारो विदिशाओ मे ठीक सामने खडे होकर (ऊपर की ओर मुख करके दसो नख इकट्ठे हो, इस तरह से दोनो हाथ जोडकर शिरसावर्तयुक्त मस्तक पर अजलि करके ईशानेन्द्र को जय-विजय-शब्दो (के उच्चारणपूर्वक) बधाने लगे—अभिनन्दन करने लगे। अभिनन्दन करके वे इस प्रकार बोले—'अहो ! (धन्य है !) आप देवानुप्रिय ने दिव्य देव-ऋद्धि यावत् उपलब्ध की है, प्राप्त की है, और अभिमुख कर ली है ! हमने आपके द्वारा उपलब्ध, प्राप्त और अभिसमन्वागत (सम्मुख की हुई) दिव्य देवऋद्धि को, यावत् देवप्रभाव को प्रत्यक्ष देख लिया है। अत हे देवानुप्रिय ! (अपने अपराध के लिए) हम आप से क्षमा मागते हैं। आप देवानुप्रिय हमे क्षमा करे। आप देवानुप्रिय हमे क्षमा करने योग्य हैं। (भविष्य मे) फिर कभी इस प्रकार नही करेगे।' इस प्रकार निवेदन करके उन्होने ईशानेन्द्र से अपने अपराध के लिए विनयपूर्वक अच्छी तरह बार-बार क्षमा मागी।

५१. तते णं ईसाणे देविंदे देवराया तेहिं बलिचंचारायहाणीवत्थव्वएहिं बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहिं देवीहि य एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो २ खामिए समाणे तं दिव्वं देविड्ढि जाव तेयलेस्सं पडिसाहरइ। तप्पभिति च ण गोयमा ! ते बलिचचारायहाणिवत्थव्वया बहवे असुरकुमारा देवा य देवीओ य ईसाणं देविंदं देवरायं आढंति जाव पज्जुवासंति, ईसाणस्स य देविंदस्स देवरण्णो आणा-उववाय-वयण-निद्देसे चिट्ठंति।

[५१] अब जबकि बलिचचा-राजधानी-निवासी उन बहुत-से असुरकुमार देवो और देवियो ने देवेन्द्र देवराज ईशान से अपने अपराध के लिए सम्यक् विनयपूर्वक बार-बार क्षमायाचना कर ली, तब ईशानेन्द्र ने उस दिव्य देव ऋद्धि यावत् छोडी हुई तेजोलेश्या को वापस खीच (समेट) ली।

हे गौतम ! तब से बलिचचा-राजधानी-निवासी वे बहुत-से असुरकुमार देव और देवीवृन्द देवेन्द्र देवराज ईशान का आदर करते है यावत् उसकी पर्युपासना (सेवा) करते है। (और तभी से वे) देवेन्द्र देवराज ईशान की आज्ञा और सेवा मे, तथा आदेश और निर्देश मे रहते है।

५२. एवं खलु गोयमा ! ईसाणेणं देविंदेणं देवरण्णा सा दिव्वा देविड्ढी जाव अभिसमन्नागया।

[५२] हे गौतम ! देवेन्द्र देवराज ईशान ने वह दिव्य देवऋद्धि यावत् इस प्रकार लब्ध, प्राप्त और अभिसमन्वागत की है।

विवेचन—ईशानेन्द्र के प्रकोप से उत्तप्त एव भयभीत असुरों द्वारा क्षमायाचना—इन छह सूत्रो (४७ से ५२ सू. तक) मे ईशानेन्द्र से सम्बन्धित सात मुख्य वृत्तान्त शास्त्रकार ने प्रस्तुत किये हैं—

१ असुरकुमार देवगण द्वारा तामली तापस (वर्तमान में ईशानेन्द्र) के शव की होती हुई दुर्दशा देख ईशानकल्पवासी वैमानिकदेवगण ने अत्यन्त कुपित होकर अपने सद्य जात ईशानेन्द्र को वस्तुस्थिति से अवगत कराया।

२ सुनकर देवशय्या स्थित कुपित ईशानेन्द्र ने बलिचचाराजधानी को तेजोलेश्यापूर्ण दृष्टि से देखा। बलिचंचा जाज्वल्यमान अग्निसम तप्त हो गई।

३ बलिचचा-निवासी असुर अपनी निवासभूमि को अत्यन्त तप्त देख भयत्रस्त होकर कापने तथा इधर-उधर भागने लगे।

४. ईशानेन्द्र की तेजोलेश्या का प्रभाव असह्य होने से वे मिलकर उससे अनुनय-विनय करने तथा अपने अपराध के लिए क्षमायाचना करने लगे।

५ इस प्रकार असुरो द्वारा की गई क्षमायाचना से ईशानेन्द्र ने करुणार्द्र होकर अपनी तेजोलेश्या वापस खीच लो। बलिचचाराजधानी मे शान्ति हो गई।

६. तब से बलिचचा के असुरगण ईशानेन्द्र का आदर-सत्कार एव विनयभक्ति करने लगे, और उनकी आज्ञा, सेवा एव आदेश मे तत्पर रहने लगे।

७ भ महावीर ने गौतम द्वारा ईशानेन्द्र की देवऋद्धि आदि से सम्बन्धित प्रश्न के उत्तर का उपसहार किया।[1]

कठिन शब्दो के विशिष्ट अर्थ—'**तिवलियं भिउडिमिडालेसाहट्टु**=ललाट मे तीन रेखाए (सल) पड जाए, इस प्रकार से भ्रुकुटि चढा कर। **तत्तकवेलगभूया**=तपे हुए कवेलू (कडाही या तवा) या रेत जैसी। **तत्तसमजोइयभूया**=अत्यन्त तपी हुई लाय, अग्नि की लपट या साक्षात् अग्निराशि या ज्योति के समान। **आकड्ढ-विकड्ढि करेंति**=मनचाहा आडा-टेढा या इधर-उधर खीचते या घसीटते हैं। **समतुरंगेमाणा**=एक दूसरे से चिपटते या एक दूसरे की ओट मे छिपते हुए। **आणा**=तुम्हे यह कार्य करना ही है, इस प्रकार का आदेश, **उववाय**=पास मे रहकर सेवा करना, **वयण**=आज्ञापूर्वक आदेश, **निद्देस**=पूछे हुए कार्य के सम्बन्ध मे नियत उत्तर।[2]

ईशानेन्द्र की स्थिति तथा परम्परा से मुक्त हो जाने की प्ररूपणा

५३ ईसाणस्स ण भंते ! देविंदस्स देवरण्णो केवतियं काल ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! सातिरेगाइं दो सागरोवमाइं ठिती पन्नत्ता।

[५३ प्र] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज ईशान की स्थिति कितने काल की कही गई है ?

[५३ उ] गौतम ! ईशानेन्द्र की स्थिति दो सागरोपम से कुछ अधिक की कही गई है।

---

१ (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) (ख) (प बेचरदासजी) भा १. पृ. १३६-१३७

२. (क) भगवती अ. वृत्ति, पत्राक १६७

(ख) भगवती विवेचन (प घेवरचन्दजी) भा. २, पृ ५८८ से ५९२ तक

(ग) श्रीमद्भगवती सूत्र (टीका-अनुवाद सहित) (प बेचरदासजी) खण्ड २, पृ. ४५

(घ) भगवती सूत्र प्रमेयचन्द्रिका टीका (पू घासीलालजी म.) भा. ३, पृ. २६५ से २७२

५४. ईसाणे णं भंते ! देविंदे देवराया ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं जाव कहिं गच्छिहिति ? कहिं उववज्जिहिति ?

गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति जाव अंतं काहिति ।

[५४ प्र.] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज ईशान देव आयुष्य का क्षय होने पर, वहाँ का स्थिति-काल पूर्ण होने पर उस देवलोक से च्युत होकर कहाँ जाएगा, कहाँ उत्पन्न होगा ?

[५४ उ.] गौतम ! वह (देवलोक से च्यव कर) महाविदेह वर्ष (क्षेत्र) मे जन्म लेकर सिद्ध होगा यावत् समस्त दु खो का अन्त करेगा ।

विवेचन—ईशानेन्द्र की स्थिति और परम्परा से मुक्त हो जाने की प्ररूपणा—प्रस्तुत दो सूत्रो मे से प्रथम मे ईशानेन्द्र की स्थिति और दूसरे मे स्थिति आयुष्य और भव पूर्ण होने पर भविष्य मे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाने की प्ररूपणा है ।

बालतपस्वी को इन्द्रपद प्राप्ति के बाद भविष्य मे मोक्ष कैसे ?—यद्यपि बालतपस्वी होने से तामली मिथ्यात्वी था, किन्तु इन्द्रपद प्राप्ति के बाद सम्यग्दृष्टि (सिद्धान्तत) हो गया । इस कारण उसका मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान हो गया । इसलिए महाविदेह मे जन्म लेकर भविष्य मे सिद्ध-बुद्ध होने में कोई सन्देह नही ।

शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र के विमानों की ऊँचाई-नीचाई में अन्तर

५५. [१] सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो विमाणेहिंतो ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो विमाणा ईसिं उच्चयरा चेव ईसिं उन्नयतरा चेव ? ईसाणस्स वा देविंदस्स देवरण्णो विमाणेहिंतो सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो विमाणा ईसिं नीययरा चेव ईसिं निण्णयरा चेव ?

हंता, गोतमा ! सक्कस्स तं चेव सव्वं नेयव्वं ।

[५५-१ प्र.] भगवन् ! क्या देवेन्द्र देवराज शक्र के विमानो से देवेन्द्र देवराज ईशान के विमान कुछ (थोडे-से) उच्चतर—ऊचे हैं, कुछ उन्नततर है ? अथवा देवेन्द्र देवराज ईशान के विमानो से देवेन्द्र देवराज शक्र के विमान कुछ नीचे है, कुछ निम्नतर हैं ?

[५५-१ उ] हाँ, गौतम ! यह इसी प्रकार है । यहाँ ऊपर का सारा सूत्रपाठ (उत्तर के रूप में) समझ लेना चाहिए । अर्थात्—देवेन्द्र देवराज शक्र के विमानो से देवेन्द्र देवराज ईशान के विमान कुछ ऊंचे हैं, कुछ उन्नततर हैं, अथवा देवेन्द्र देवराज ईशान के विमानो से देवेन्द्र देवराज शक्र के विमान कुछ नीचे हैं, कुछ निम्नतर है ।

[२] से केणट्ठेणं ?

गोयमा ! से जहानामए करतले सिया देसे उच्चे देसे उन्नये, देसे णीए देसे निण्णे, से तेणट्ठेणं० ।

[५५-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है ?

[५५-२ उ.] गौतम ! जैसे किसी हथेली का एक भाग (देश) कुछ ऊचा और उन्नततर

होता है, तथा एक भाग कुछ नीचा और निम्नतर होता है, इसी तरह शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र के विमानों के सम्बन्ध में समझना चाहिए। इसी कारण से पूर्वोक्त रूप से कहा जाता है।

विवेचन—शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र के विमानों की ऊँचाई-नीचाई में अन्तर—प्रस्तुत सूत्र में करतल के दृष्टान्त द्वारा शक्रेन्द्र से ईशानेन्द्र के विमानों को किञ्चित् उच्चतर तथा उन्नततर और ईशानेन्द्र से शक्रेन्द्र के विमानो को कुछ नीचा एव निम्नतर प्रतिपादन किया गया है।

उच्चता-नीचता या उन्नतता-निम्नता किस अपेक्षा से ?—उच्चता और उन्नतता के यहाँ दो अर्थ किये गये हैं—(१) प्रमाण की अपेक्षा से, अथवा प्रासाद की अपेक्षा से विमानो की उच्चता तथा (२) शोभाधिक आदि गुणों की अपेक्षा से अथवा प्रासाद के पीठ की अपेक्षा से उन्नतता समझना चाहिए। तथा इन दोनों के विपरीत नीचत्व और निम्नत्व समझ लेना चाहिए।[1]

यों तो शास्त्रान्तर मे दोनो इन्द्रों के विमानो की ऊंचाई ५०० योजन कही है, वह सामान्यापेक्षा से समझना चाहिए।[2]

दोनों इन्द्रों का शिष्टाचार तथा विवाद में सनत्कुमारेन्द्र की मध्यस्थता

५६ [१] पभू णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो अंतियं पाउब्भवित्तए ?

हंता, पभू।

[५६-१ प्र] भगवन् ! क्या देवेन्द्र देवराज शक्र, देवेन्द्र देवराज ईशान के पास प्रकट होने (जाने) मे समर्थ है ?

[५६-१ उ] हाँ गौतम ! शक्रेन्द्र, ईशानेन्द्र के पास जाने मे समर्थ है।

[२] से णं भंते ! किं आढायमाणे पभू, अणाढायमाणे पभू ?

गोयमा ! आढायमाणे पभू, नो अणाढायमाणे पभू।

[५६-२ प्र.] भगवन् ! (जब शक्रेन्द्र, ईशानेन्द्र के पास जाता है तो) क्या वह आदर करता हुआ जाता है, या अनादर करता हुआ जाता है ?

[५६-२ उ] हे गौतम ! वह उसका (ईशानेन्द्र का) आदर करता हुआ जाता है, किन्तु अनादर करता हुआ नही।

५७ [१] पभू ण भंते ! ईसाणे देविंदे देवराया सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो अंतियं पाउब्भवित्तए ?

हंता, पभू।

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्रांक १६७
(ख) भगवतीसूत्र, प्रमेयचन्द्रिका टीका (हिन्दीगुर्जर भाषानुवादसहित) भा. ३, पृ. २८३-२८४

२ (क) जीवाभिगमसूत्र वृत्ति (स पृ ३९७)
(ख) भगवती (टीकानुवाद) प्रथम खण्ड, पृ २९६, भगवती अ वृत्ति, पृ. १६९

[५७-१ प्र.] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज ईशान, क्या देवेन्द्र देवराज शक्र के पास प्रकट होने (जाने) मे समर्थ है ?

[५७-१ उ.] हाँ गौतम ! ईशानेन्द्र, शक्रेन्द्र के पास जाने मे समर्थ है।

[२] से भंते ! किं आढायमाणे पभू, अणाढायमाणे पभू ?

गोयमा ! आढायमाणे वि पभू, अणाढायमाणे वि पभू ।

[५७-२ प्र] भगवन् ! (जब ईशानेन्द्र, शक्रेन्द्र के पास जाता है तो), क्या वह आदर करता हुआ जाता है, या अनादर करता हुआ जाता है ?

[५७-२ उ] गौतम ! (जब ईशानेन्द्र, शक्रेन्द्र के पास जाता है, तब) वह आदर करता हुआ भी जा सकता है, और अनादर करता हुआ भी जा सकता है।

५८. पभू णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया ईसाणं देविंदं देवरायं सपक्खि सपडिदिसिं समभिलोएत्तए ?

जहा पादुब्भवणा तहा दो वि आलावगा नेयव्वा ।

[५८ प्र] भगवन् ! क्या देवेन्द्र देवराज शक्र, देवेन्द्र देवराज ईशान के समक्ष (चारो दिशाओ मे) तथा सप्रतिदिश (चारो कोनो मे = सब ओर) देखने मे समर्थ है ?

[५८ उ] गौतम ! जिस तरह से पास प्रादुर्भूत होने (जाने) (के सम्बन्ध मे दो आलापक कहे है, उसी) तरह से देखने के सम्बन्ध मे भी दो आलापक कहने चाहिए।

५९. पभू णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया ईसाणेणं देविंदेणं देवरण्णा सद्धिं आलावं वा संलावं वा करेत्तए ?

हंता, पभू । जहा पादुब्भवणा ।

[५९ प्र.] भगवन् ! क्या देवेन्द्र देवराज शक्र, देवेन्द्र देवराज ईशान के साथ आलाप या सलाप (भाषण-सभाषण या बातचीत) करने मे समर्थ है ?

[५९ उ] हाँ, गौतम ! वह आलाप-सलाप करने मे समर्थ है । जिस तरह पास जाने के सम्बन्ध में दो आलापक कहे हैं, (उसी तरह आलाप-सलाप के विषय मे भी दो आलापक कहने चाहिए ।)

६० **[१] अत्थि णं भंते ! तेसिं सक्कीसाणाणं देविंदाणं देवराईणं किच्चाइं करणिज्जाइं समुप्पज्जंति ?**

हंता, अत्थि ।

[६०-१ प्र] भगवन् ! उन देवेन्द्र देवराज शक्र और देवेन्द्र देवराज ईशान के बीच मे परस्पर कोई कृत्य (प्रयोजन) और करणीय (विधेय—करने योग्य) समुत्पन्न होते हैं ?

[६०-१ उ] हाँ, गौतम ! समुत्पन्न होते हैं।

[२] से कहमिदाणिं पकरेंति ? गोयमा ! ताहे चेव णं से सक्के देविंदे देवराया ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो अंतियं पाउब्भवति, ईसाणे ण देविंदे देवराया सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो अंतियं पाउब्भवइ—'इति भो ! सक्का ! देविंदा ! देवराया ! दाहिणड्ढलोगाहिवती !'; 'इति भो ! ईसाणा ! देविंदा ! देवराया ! उत्तरड्ढलोगाहिवती !'। 'इति भो इति भो' त्ति ते अन्नमन्नस्स किच्चाइं करणिज्जाइं पच्चणुभवमाणा विहरंति।

[६०-२ प्र] भगवन् ! जब इन दोनो के कोई कृत्य (प्रयोजन) या करणीय होते हैं, तब वे कैसे व्यवहार (कार्य) करते है ?

[६०-२ उ] गौतम ! जब देवेन्द्र देवराज शक्र को कार्य होता है, तब वह (स्वय) देवेन्द्र देवराज ईशान के समीप प्रकट होता है, और जब देवेन्द्र देवराज ईशान को कार्य होता है, तब वह (स्वय) देवेन्द्र देवराज शक्र के निकट जाता है। उनके परस्पर सम्बोधित करने का तरीका यह है—'ऐसा है, हे दक्षिणार्द्ध लोकाधिपति देवेन्द्र देवराज शक्र !' (शक्रेन्द्र पुकारता है—) 'ऐसा है, हे उत्तरार्द्धलोकाधिपति देवेन्द्र देवराज ईशान !' (यहाँ), दोनो ओर से 'इति भो-इति भो !' (इस प्रकार के शब्दो से परस्पर) सम्बोधित करके वे एक दूसरे के कृत्यो (प्रयोजनो) और करणीयो (कार्यों) को अनुभव करते हुए विचरते हैं, (अर्थात्— दोनो अपना-अपना कार्यानुभव करते रहते हैं।)

६१. [१] अत्थि णं भंते ! तेसिं सक्कीसाणाणं देविंदाणं देवराईणं विवादा समुप्पज्जंति ? हंता, अत्थि।

[६१-१ प्र] भगवन् ! क्या देवेन्द्र शक्र और देवेन्द्र देवराज ईशान, इन दोनो मे विवाद भी समुत्पन्न होता है ?

[६१-१ उ] हाँ, गौतम ! (इन दोनो इन्द्रो के बीच विवाद भी समुत्पन्न) होता है।

[२] से कहमिदाणिं पकरेंति ?

गोयमा ! ताहे चेव णं ते सक्कीसाणा देविंदा देवरायाणो सणंकुमारं देविंदं देवरायं मणसीकरेंति। तए णं से सणंकुमारे देविंदे देवराया तेहिं सक्कीसाणेहिं देविंदेहिं देवराईहिं मणसीकए समाणे खिप्पामेव सक्कीसाणाणं देविंदाणं देवराईणं अंतियं पाउब्भवति। जं से वदइ तस्स आणा-उववाय-वयण-निद्देसे चिट्ठ ति।

[६१-२ प्र] (भगवन् ! जब उन दोनो इन्द्रो मे परस्पर विवाद उत्पन्न हो जाता है,) तब वे क्या करते है ?

[६१-२ उ] गौतम ! जब शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र मे परस्पर विवाद उत्पन्न हो जाता है, तब वे दोनो, देवेन्द्र देवराज सनत्कुमारेन्द्र का मन मे स्मरण करते है। देवेन्द्र देवराज शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र द्वारा स्मरण करने पर शीघ्र ही सनत्कुमारेन्द्र देवराज, शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र के निकट प्रकट होता (आता) है। वह जो भी कहता है, (उसे ये दोनो इन्द्र मान्य करते हैं।) ये दोनों इन्द्र उसकी आज्ञा, सेवा, आदेश और निर्देश मे रहते हैं।

विवेचन—दोनों इन्द्रों का शिष्टाचार तथा विवाद में सनत्कुमारेन्द्र की मध्यस्थता—प्रस्तुत छह सूत्रो (५६ से ६१ सू० तक) मे शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र के परस्पर मिलने-जुलने, एक दूसरे को आदर देने, एक दूसरे को भलीभांति देखने (प्रेमपूर्वक साक्षात्कार करने), परस्पर वार्तालाप करने तथा पारस्परिक विवाद उत्पन्न होने पर सनत्कुमारेन्द्र को मध्यस्थ बनाकर उसकी बात मान्य करने आदि द्वारा दोनो इन्द्रो के पारस्परिक शिष्टाचार एव व्यवहार का निरूपण किया गया है ।

कठिन शब्दों के विशेषार्थ—पाउब्भवित्तए=प्रादुर्भूत—प्रकट होने-आने के लिए । **आलावं**=आलाप—एक बार सभाषण, **संलावं**—बार-बार सभाषण, **किच्चाइं**=कृत्य अर्थात्—प्रयोजन, **करणिज्जाइं**=करणीय=करने योग्य कार्य । **कहमियाणि पकरेंति**=जब कार्य करने का प्रसग हो, तब वे किस प्रकार से करते है ? **पच्चणुभवमाणा**—प्रत्यनुभव करते हुए—अपने-अपने करणीय कार्य का अनुभव करते हुए । **इति भो**! —ऐसी बात है जी ! या यह कार्य है, अजी ![1] **आढायमाणे-अणाढायमाणे**—इन दोनो शब्दो का तात्पर्य—यह भी है कि शक्रेन्द्र की अपेक्षा ईशानेन्द्र का दर्जा ऊँचा है, इसलिए शक्रेन्द्र, ईशानेन्द्र के पास तभी जा सकता है जबकि ईशानेन्द्र शक्रेन्द्र को आदरपूर्वक बुलाए । अगर आदरपूर्वक न बुलाए तो वह ईशानेन्द्र के पास नही जाता, किन्तु ईशानेन्द्र शक्रेन्द्र के पास बिना बुलाए भी जा सकता है क्योंकि उसका दर्जा ऊंचा है ।[2]

सनत्कुमारेन्द्र की भवसिद्धिकता आदि तथा स्थिति एवं सिद्धि के विषय में प्रश्नोत्तर

६२ [१] **सणंकुमारे णं भंते ! देविंदे देवराया किं भवसिद्धिए, अभवसिद्धिए ? सम्मद्दिट्ठी, मिच्छद्दिट्ठी ? परित्तसंसारए, अणंतसंसारए ? सुलभबोहिए, दुल्लभबोहिए ? आराहए, विराहए ? चरिमे अचरिमे ?**

गोयमा ! सणंकुमारे णं देविंदे देवराया भवसिद्धिए नो अभवसिद्धिए, एव सम्मद्दिट्ठी परित्तसंसारए सुलभबोहिए आराहए चरिमे, पसत्थं नेयव्वं ।

[६२-१ प्र] हे भगवन् ! देवेन्द्र देवराज सनत्कुमार क्या भवसिद्धिक है या अभवसिद्धिक है ?, सम्यग्दृष्टि है, या मिथ्यादृष्टि है ? परित्त (परिमित) ससारी है या अनन्त (अपरिमित) ससारी ?, सुलभबोधि है, या दुर्लभबोधि ?, आराधक है, अथवा विराधक ? चरम है अथवा अचरम ?

[६२-१ उ.] गौतम ! देवेन्द्र देवराज सनत्कुमार, भवसिद्धिक है, अभवसिद्धिक नही, इसी तरह वह सम्यग्दृष्टि है, (मिथ्यादृष्टि नही;) परित्तससारी है, (अनन्तससारी नही), सुलभबोधि है, (दुर्लभबोधि नही;) आराधक है, (विराधक नही,) चरम है, (अचरम नही ।) (अर्थात्—इस सम्बन्ध में सभी) प्रशस्त पद ग्रहण करने चाहिए ।

[२] **से केणट्ठेणं भंते ! ? गोयमा ! सणंकुमारे देविंदे देवराया बहूणं समणाणं बहूण**

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १६९

(ख) भगवती-विवेचन [प. घेवरचदजी], भा २, पृ. ५९८ से ६०० तक

२ भगवतीसूत्र प्रमेयचन्द्रिका टीका [हिन्दी-गुर्जर भावानुवादयुक्त] भाग ३, पृ. २८६

समणीणं बहूणं सावगाणं बहूणं साविगाणं हियकामए सुहकामए पत्थकामए आणुकंपिए निस्सेयसिए हिय-सुह-निस्सेसकामए, से तेणट्ठेणं गोयमा ! सणकुमारे ण भवसिद्धिए जाव नो अचरिमे ।

[६२-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से (ऐसा कहा जाता है) ?

[६२-२ उ] गौतम ! देवेन्द्र देवराज सनत्कुमार बहुत-से श्रमणो, बहुत-सी श्रमणियो, बहुत-से श्रावको और बहुत-सी श्राविकाओ का हितकामी (हितैषी), सुखकामी (सुखेच्छु), पथ्यकामी (पथ्याभिलाषी), अनुकम्पिक (अनुकम्पा करने वाला), निश्रेयसिक (नि श्रेयस=कल्याण या मोक्ष का इच्छुक) है। वह उनका हित, सुख और नि श्रेयस का कामी (चाहने वाला) है। इसी कारण, गौतम ! सनत्कुमारेन्द्र भवसिद्धिक है, यावत् (चरम है, किन्तु) अचरम नही।

६३. सणंकुमारस्स ण भंते ! देविंदस्स देवरण्णो केवतियं काल ठिती पण्णत्ता ?

गोयमा ! सत्त[1] सागरोवमाणि ठिती पण्णत्ता ।

[६३ प्र] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज सनत्कुमार की स्थिति (आयु) कितने काल की कही गई है ?

[६३ उ] गौतम ! सनत्कुमारेन्द्र की स्थिति (उत्कृष्ट) सात सागरोपम की कही गई है।

६४. से ण भंते ! ताओ देवलोगातो आउक्खएणं जाव कहि उववज्जिहिति ?

गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति जाव अंतं करेहिति । सेवं भंते ! सेवं भंते ! ० ॥

[६४ प्र] भगवन् ! वह (सनत्कुमारेन्द्र) उस देवलोक से आयु क्षय (पूर्ण) होने के बाद, यावत् कहाँ उत्पन्न होगा ?

[६४ उ] हे गौतम ! सनत्कुमारेन्द्र उस देवलोक से च्यवकर (आयुष्य पूर्ण कर) महाविदेह वर्ष (क्षेत्र) मे, (जन्म लेकर वही से) सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा, यावत् सर्वदु खो का अन्त करेगा।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है !' (यो कहकर गौतमस्वामी यावत् विचरण करने लगे।)

विवेचन—सनत्कुमारेन्द्र की भवसिद्धिकता आदि, तथा स्थिति एवं सिद्धि के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत तीन सूत्रो (सू. ६२ से ६४ तक) मे सनत्कुमारेन्द्र की भवसिद्धिकता-अभवसिद्धिकता, सम्यग्दृष्टित्व-मिथ्यादृष्टित्व, परित्तससारित्व-अनन्तससारित्व, सुलभबोधिता-दुर्लभ-बोधिता, विराधकता-आराधकता, एव चरमता-अचरमता आदि प्रश्न उठा कर, इनमे से उसके प्रशस्तपदभागी होने के कारण की तथा उसकी स्थिति एव भविष्य मे सिद्धि-प्राप्ति से सम्बन्धित सैद्धान्तिक दृष्टि से प्ररूपणा की गई है।

कठिन शब्दों के विशेषार्थ—'भवसिद्धिए'=जो भविष्य मे सिद्धि=मुक्ति प्राप्त कर लेगा वह भवसिद्धिक होता है। **'सम्मद्दिट्ठी'**=सम्यग्दृष्टि—जीवादि नो तत्त्वो पर निर्दोष श्रद्धावान्।

१. तुलना—'सप्त सनत्कुमारे'—तत्त्वार्थसूत्र, अ ४, सू. ३६

परित्तसंसारए—जिसका ससारपरिभ्रमण परिमित—सीमित हो गया हो, **आराहए**=ज्ञानादि का आराधक। **चरिमे**= जिसका अब अन्तिम एक ही भव शेष रहा हो, अथवा, जिसका यह चरम—अन्तिम देव भव हो, **पत्थकामए**=पथ्यकामी, पथ्य का अर्थ है—दुःख से बचना, उसका इच्छुक। **हियकामए**=हितकामी। हित का अर्थ है—सुख की कारणरूप वस्तु।[1]

तृतीय शतक के प्रथम उद्देशक की संग्रहणीगाथाएँ

६५. गाहाओ—छट्ठऽट्ठम मासो अद्धमासो वासाइं अट्ठ छम्मासा।
तीसग-कुरुदत्ताण तव भत्तपरिण्ण परियाओ ॥ १॥
उच्चत्त विमाणाणं पाउब्भव पेच्छणा य संलावे।
किच्च विवादुप्पत्ती सणंकुमारे य भवियत्तं ॥ २ ॥

मोया समत्ता[2]

॥ तइय सए : पढमो उद्देसो समत्तो ॥

गाथाओ का अर्थ—(भावार्थ—इस प्रकार है—) तिष्यक श्रमण का तप छट्ठ-छट्ठ (निरन्तर बेला-बेला) था और उसका अनशन एक मास का था। कुरुदत्तपुत्र श्रमण का तप अट्ठम-अट्ठम (निरन्तर तेले-तेले) का था और उसका अनशन था—अर्द्धमासिक (१५ दिन का)। तिष्यक श्रमण की दीक्षापर्याय आठ वर्ष की थी, और कुरुदत्तपुत्रश्रमण की थी—छह मास की। (इन दोनो से सम्बन्धित विषय इस उद्देशक में आया है।) इसके अतिरिक्त (दूसरे विषय आए है, जैसे कि) दो इन्द्रो के विमानो की ऊँचाई, एक इन्द्र का दूसरे के पास आगमन (प्रादुर्भाव) परस्पर प्रेक्षण (अवलोकन), उनका आलाप-सलाप, उनका कार्य, उनमे विवादोत्पत्ति तथा उनका निपटारा, तथा सनत्कुमारेन्द्र की भवसिद्धिकता आदि विषयो का निरूपण इस उद्देशक मे किया गया है।[3]

॥ मोका समाप्त ॥

विवेचन—तृतीय शतक के प्रथम उद्देशक की दो संग्रहणी गाथाएँ—यहाँ प्रथम उद्देशक मे प्रतिपादित विषयो का संक्षेप मे सकेत दो गाथाओ द्वारा दिया गया है।

॥ तृतीय शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवतीसूत्र प्रमेयचन्द्रिका टीका, हिन्दीगुर्जरभाषानुवादयुक्त भा ३, पृ २९९
(ख) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १६९

२ इस उद्देशक मे वर्णित विषयो का निरूपण भगवान् ने 'मोका नगरी' मे किया था, इसलिए इस उद्देशक का एक नाम 'मोका' भी रखा गया है। वर्तमान मे पटना के निकट 'मोकामा घाट' नामक स्थान है, सम्भव है, वही प्राचीन मोका नगरी हो। —स

३ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १६९

बिइओ उद्देसओ : 'चमरो'

द्वितीय उद्देशक : चमर

द्वितीय उद्देशक का उपोद्घात

१ तेणं कालेण तेणं समएणं रायगिहे नगरे होत्था जाव परिसा पज्जुवासइ।

[१] उस काल, उस समय मे राजगृह नाम का नगर था। यावत् भगवान् वहाँ पधारे और परिषद् पर्युपासना करने लगी।

२ तेणं कालेणं तेणं समएणं चमरे असुरिंदे असुरराया चमरचंचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए चमरंसि सीहासणंसि चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीहिं जाव नट्टविहिं उवदंसेत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए।

[२] उस काल, उस समय मे चौसठ हजार सामानिक देवो से परिवृत और चमरचचा नामक राजधानी मे, सुधर्मासभा मे चमरनामक सिंहासन पर बैठे असुरेन्द्र असुरराज चमर ने (राजगृह मे विराजमान भगवान् को अवधिज्ञान से देखा), यावत् नाट्यविधि दिखला कर जिस दिशा से आया था, उसी दिशा मे वापस लौट गया।

विवेचन--द्वितीय उद्देशक का उपोद्घात—द्वितीय उद्देशक की उद्देशना कहाँ से और कैसे प्रारम्भ हुई ? इसका यह उपोद्घात है। इसमे बताया गया है कि राजगृह मे भगवान् महावीर विराजमान थे। अपनी सुधर्मा सभा मे चमरसिंहासन-स्थित चमरेन्द्र ने वहीं से भगवान् को देखा और अपने समस्त देव परिवार को बुलाकर ईशानेन्द्र की तरह विविध नाट्यविधि भगवान् महावीर और गौतमादि श्रमणवर्ग को दिखलाई और वापस लौट गया। चमरेन्द्र के इस आगमन से और उसकी दिव्य ऋद्धि आदि पर से कैसे प्रश्नो और उत्तरो का सिलसिला प्रारम्भ होता है ? इसे अगले सूत्रो मे बताएँगे।

असुरकुमार देवों का स्थान

३ [१] भंते ! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, २ एवं वदासी—अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए अहे असुरकुमारा देवा परिवसंति ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे।

[३-१ प्र] 'हे भगवन् !' यो कह कर भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार पूछा—'भगवन् ! क्या असुरकुमार देव इस रत्नप्रभापृथ्वी के नीचे रहते है ?'

[३-१ उ.] हे गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नही है। (अर्थात्—असुरकुमार देव रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे निवास नही करते।)

[२] एवं जाव अहेसत्तमाए पुढवीए, सोहम्मस्स कप्पस्स अहे जाव अत्थि णं भंते ! ईसिपब्भाराए पुढवीए अहे असुरकुमारा देवा परिवसंति ? णो इणट्ठे समट्ठे।

[३-२ प्र] इसी प्रकार यावत् सप्तम (तमस्तम.प्रभा) पृथ्वी के नीचे भी वे (असुरकुमार देव) नही रहते, और न सौधर्मकल्प-देवलोक के नीचे यावत् अन्य सभी कल्पो (देवलोको) के नीचे वे रहते है। (तब फिर प्रश्न होता है—) भगवन् ! क्या वे असुरकुमार देव ईषत्प्राग्भारा (सिद्धशिला) पृथ्वी के नीचे रहते हैं ?

[३-२ उ] (हे गौतम !) यह अर्थ (बात) भी समर्थ (शक्य) नही। (अर्थात्—ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के नीचे भी असुरकुमार देव नही रहते।)

४ से कहिं खाइ णं भंते ! असुरकुमारा देवा परिवसंति ?

गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसतसहस्सबाहल्लाए, एवं [1] असुरकुमारदेववत्तव्वया जाव दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरंति।

[४ प्र] भगवन् ! तब ऐसा वह कौन-सा स्थान है, जहाँ असुरकुमार देव निवास करते है ?

[४ उ] गौतम ! एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी इस रत्नप्रभा पृथ्वी के बीच मे (असुरकुमार देव रहते है।) यहाँ असुरकुमारसम्बन्धी समस्त वक्तव्यता कहनी चाहिए, यावत् वे (वहाँ) दिव्य भोगो का उपभोग करते हुए विचरण (आनन्द से जीवनयापन) करते हैं।

विवेचन—असुरकुमार देवों का आवासस्थान—प्रस्तुत सूत्रद्वय मे असुरकुमार देवो के आवासस्थान के विषय मे पूछा गया है और अन्त मे भगवान् रत्नप्रभा पृथ्वी के अन्तराल मे उनके आवासस्थान होने का प्रतिपादन करते हैं।

असुरकुमारदेवो का यथार्थ आवासस्थान—प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार रत्नप्रभा का पृथ्वी-पिण्ड एक लाख अस्सी हजार योजन है। उसमे से ऊपर एक हजार योजन छोडकर और नीचे के एक हजार योजन छोड कर, बीच मे एक लाख अठहत्तर हजार योजन के भाग मे असुरकुमार देवो के ३४ लाख भवनावास हैं।[2]

असुरकुमार देवों के अधो-तिर्यक्-ऊर्ध्वगमन से सम्बन्धित प्ररूपणा

५ अत्थि णं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं अहे गतिविसए प० ?

हंता, अत्थि।

---

१. असुरकुमार देव सम्बन्धी वक्तव्यता इस प्रकार समझनी चाहिए—"**उवरिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहेत्ता, हेट्ठा च एगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठहत्तरं जोयणसयसहस्से, एत्थ णं असुरकुमाराणं देवाणं चोसट्ठिं भवणावाससयसहस्सा भवंतीति अक्खायं**" इसका भावार्थ विवेचन मे किया जा चुका है। —स.

२. (क) प्रज्ञापनासूत्र (म्रा स), पृ. ८९-९१
(ख) श्रीमद्भगवतीसूत्रम् (टीकानुवाद) (प बेचरदासजी) खण्ड २, पृ ४९

[५ प्र] भगवन् ! क्या असुरकुमार देवो का (अपने स्थान से) अधोगमन-विषयक (सामर्थ्य) है ?

[५ उ] हाँ, गौतम ! (उनमे अपने स्थान से नीचे जाने का सामर्थ्य) है ।

६. केवतिए च णं भंते ! पभू ते असुरकुमाराणं देवाणं अहेगतिविसए पण्णत्ते ?

गोयमा ! जाव अहेसत्तमाए पुढवीए, तच्चं पुण पुढविं गता य गमिस्संति य ।

[६ प्र.] भगवन् ! असुरकुमार देवो का (अपने स्थान से) अधोगमन-विषयक सामर्थ्य कितना (कितने भाग तक) है ?

[६ उ] गौतम ! सप्तमपृथ्वी तक नीचे जाने की शक्ति उनमे है । (किन्तु वे वहाँ तक कभी गए नही, जाते नही और जाएँगे भी नही) वे तीसरी पृथ्वी (बालुकाप्रभा) तक गये हैं, जाते हैं और जायेंगे ।

७. किंपत्तियं णं भंते ! असुरकुमारा देवा तच्चं पुढविं गता य, गमिस्संति य ? गोयमा ! पुव्ववेरियस्स वा वेदणउदीरणयाए, पुव्वसंगतियस्स वा वेदणउवसामणयाए । एवं खलु असुरकुमारा देवा तच्च पुढविं गता य, गमिस्संति य ।

[७ प्र] भगवन् ! किस प्रयोजन (निमित्त या कारण) से असुरकुमार देव तीसरी पृथ्वी तक गये है, (जाते है,) और भविष्य मे जायेंगे ?

[७ उ] हे गौतम ! अपने पूर्व शत्रु को (असाता वेदन भडकाने)—दु ख देने अथवा अपने पूर्व साथी (मित्रजन) की वेदना का उपशमन करके (दु ख-निवारण कर सुखी बनाने) के लिए असुरकुमार देव तृतीय पृथ्वी तक गये है, (जाते हैं,) और जायेंगे ।

८. अत्थि णं भंते ! असुरकुमाराणं देवाण तिरियं गतिविसए पण्णत्ते ?

हंता, अत्थि ।

[८ प्र] भगवन् ! क्या असुरकुमारदेवो मे तिर्यग् (तिरछे) गमन करने का (सामर्थ्य) कहा गया है ?

[८ उ] हाँ, गौतम ! (असुरकुमार देवों मे अपने स्थान से तिर्यग्गमन-विषयक सामर्थ्य) है ।

९. केवतियं च णं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं तिरियं गतिविसए पण्णत्ते ?

गोयमा ! जाव असंखेज्जा दीव-समुद्दा, नंदिस्सरवरं पुण दीवं गता य, गमिस्संति य ।

[९ प्र] भगवन् ! असुरकुमार देवो मे (अपने स्थान से) तिरछा जाने की कितनी (कहाँ तक) शक्ति है ?

[९ उ] गौतम ! असुरकुमार देवो मे (अपने स्थान से) यावत् असख्येय द्वीप-समुद्रों तक (तिरछा गमन करने का सिर्फ सामर्थ्य है;) किन्तु वे नन्दीश्वर द्वीप तक गए हैं, (जाते है,) और भविष्य मे जायेंगे ।

१०. किंपत्तियं णं भंते ! असुरकुमारा देवा नंदीसरवरदीवं गता य, गमिस्संति य ?

गोयमा ! जे इमे अरिहंता भगवंता एतेसि णं जम्मणमहेसु वा निक्खमणमहेसु वा णाणुप्पत्तिमहिमासु वा परिनिव्वाणमहिमासु वा एवं खलु असुरकुमारा देवा नंदीसरवरं दीवं गता य, गमिस्संति य ।

[१० प्र] भगवन् ! असुरकुमार देव, नन्दीश्वरवरद्वीप किस प्रयोजन (निमित्त या कारण) से गए हैं, (जाते है) और जाएँगे ?

[१० उ] हे गौतम ! जो ये अरिहन्त भगवान् (तीर्थंकर) है, इनके जन्म-महोत्सव में, निष्क्रमण (दीक्षा) महोत्सव मे, ज्ञानोत्पत्ति (केवलज्ञान उत्पन्न) होने पर महिमा (उत्सव) करने, तथा परिनिर्वाण (मोक्षगमन) पर महिमा (महोत्सव) करने के लिए असुरकुमार देव, नन्दीश्वरद्वीप गए है, जाते है और जाएँगे ।

११. अत्थि णं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं उड्ढं गतिविसए प० ?

हंता, अत्थि ।

[११ प्र] भगवन् ! क्या असुरकुमार देवो मे (अपने स्थान से) ऊर्ध्व (ऊपर) गमन-विषयक सामर्थ्य है ?

[११ उ] हाँ गौतम ! (उनमे अपने स्थान से ऊँचे जाने की शक्ति) है ।

१२. केवतियं च णं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं उड्ढं गतिविसए ?

गोयमा ! जाव अच्चुतो कप्पो । सोहम्मं पुण कप्पं गता य, गमिस्संति य ।

[१२ प्र] भगवन् ! असुरकुमारदेवो की ऊर्ध्वगमनविषयक शक्ति कितनी है ?

[१२ उ] गौतम ! असुरकुमारदेव अपने स्थान से यावत् अच्युतकल्प (बारहवे देवलोक) तक ऊपर जाने मे समर्थ है । (ऊर्ध्वगमन-विषयक उनकी यह शक्तिमात्र है, किन्तु वे वहाँ तक कभी गए नही, जाते नही और न जाएँगे ।) अपितु वे सौधर्मकल्प (प्रथम देवलोक) तक गए है, (जाते है) और जाएँगे ।

१३. [१] किंपत्तियं णं भंते ! असुरकुमारा देवा सोहम्मं कप्पं गता य, गमिस्संति य ?

गोयमा ! तेसि णं देवाणं भवपच्चइयवेराणुबंधे । ते णं देवा विकुव्वेमाणा परियारेमाणा वा आयरक्खे देवे वित्तासेंति । अहालहुस्सगाइं रयणाइं गहाय आयाए एगंतमंतं अवक्कमंति ।

[१३-१ प्र] भगवन् ! असुरकुमारदेव किस प्रयोजन (निमित—कारण) से सौधर्मकल्प तक गए हैं, (जाते हैं) और जाएँगे ?

[१३-१ उ] हे गौतम ! उन (असुरकुमार) देवो का वैमानिक देवो के साथ भवप्रत्ययिक (जन्मजात) वैरानुबन्ध होता है । इस कारण वे देव क्रोधवश वैक्रिय शक्ति द्वारा नानारूप बनाते

हुए तथा परकीय देवियों के साथ (परिचार) सभोग करते हुए (वैमानिक) आत्मरक्षक देवो को त्रास पहुंचाते हैं, तथा यथोचित छोटे-मोटे रत्नो को ले (चुरा) कर स्वय एकान्त भाग मे चले जाते हैं।

[२] अत्थि णं भंते ! तेसिं देवाणं अहालहुस्सगाइं रयणाइं ?

हंता, अत्थि।

[१३-२ प्र.] भगवन् ! क्या उन (वैमानिक) देवो के पास यथोचित छोटे-मोटे रत्न होते हैं ?

[१३-२ उ] हाँ गौतम !. (उन वैमानिक देवो के पास यथोचित छोटे-मोटे रत्न) होते है।

[३] से कहमियाणि पकरेंति ?

तओ से पच्छा कायं पव्वहंति।

[१३-३ प्र] भगवन् ! (जब वे (असुरकुमार देव) वैमानिक देवो के यथोचित रत्न चुरा कर, भाग जाते है, तब वैमानिक देव) उनका क्या करते हैं ?

[१३-३ उ] (गौतम ! वैमानिको के रत्नो का अपहरण करने के) पश्चात् वैमानिक देव उनके शरीर को अत्यन्त व्यथा (पीडा) पहुँचाते हैं।

[४] पभू ण भते ! ते असुरकुमारा देवा तत्थगया चेव समाणा ताहिं अच्छराहिं सद्धि दिव्वाइ भोगभोगाइ भुजमाणा विहरित्तए ?

णो इणट्ठे समट्ठे, ते ण तओ पडिनियत्तंति, तओ पडिनियत्तित्ता इहमागच्छंति, २ जति णं ताओ अच्छराओ आढायति परियाणति, पभू णं ते असुरकुमारा देवा ताहिं अच्छराहिं सद्धि दिव्वाइं भोगभोगाइ भुजमाणा विहरित्तए, अह णं ताओ अच्छराओ नो आढायंति नो परियाणति णो णं पभू ते असुरकुमारा देवा ताहिं अच्छराहि सद्धि दिव्वाइ भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरित्तए।

[१३-४ प्र] भगवन् ! क्या वहा (सौधर्मकल्प मे) गए हुए वे असुरकुमार देव उन (देवलोक की) अप्सराओ के साथ दिव्य भोगने योग्य भोगों को भोगने मे समर्थ हैं ? (अर्थात्—वे वहाँ उनके साथ भोग भोगते हुए विहरण कर सकते हैं ?)

[१३-४ उ] (हे गौतम !) यह अर्थ (—ऐसा करने मे वे) समर्थ नही। वे (असुरकुमार देव) वहाँ से वापस लौट जाते है। वहाँ से लौट कर वे यहाँ (अपने स्थान मे) आते है। यदि वे (वैमानिक) अप्सराएँ उनका (असुरकुमार देवो का) आदर करे, उन्हे स्वामीरूप मे स्वीकारें तो, वे असुरकुमार देव उन (उर्ध्वदेवलोकगत) अप्सराओ के साथ दिव्य भोग भोग सकते है,—यदि वे (ऊपर की) अप्सराएँ उनका आदर न करे, उनका स्वामी-रूप मे स्वीकार न करें तो, असुरकुमार देव उन अप्सराओ के साथ दिव्य एव भोग्य भोगो को नहीं भोग सकते, भोगते हुए विचरण नही कर सकते।

[५] एवं खलु गोयमा ! असुरकुमारा देवा सोहम्मं कप्पं गया य, गमिस्संति य।

[१३-५] हे गौतम ! इस कारण से असुरकुमार देव सौधर्मकल्प तक गए हैं, (जाते है) और जाएँगे ।

१४. केवतिकालस्स णं भंते ! असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति जाव सोहम्मं कप्प गया य, गमिस्संति य ?

गोयमा ! अणंताहिं ओसप्पिणीहिं अणंताहिं उस्सप्पिणीहिं समतिक्कंताहिं, अत्थि णं एस भावे लोयच्छेरयभूए समुप्पज्जइ—ज णं असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति जाव सोहम्मो कप्पो ।

[१४ प्र] भगवन् ! कितने काल मे (कितना समय व्यतीत होने पर) असुरकुमार देव ऊर्ध्व-गमन करते हैं, तथा सौधर्मकल्प तक ऊपर गये है, जाते है और जाएँगे ?

[१४ उ.] गौतम ! अनन्त उत्सर्पिणी-काल और अनन्त अवसर्पिणीकाल व्यतीत होने के पश्चात् लोक मे आश्चर्यभूत (आश्चर्यजनक) यह भाव समुत्पन्न होता है कि असुरकुमार देव ऊर्ध्व-उत्पतन (गमन) करते है, यावत् सौधर्मकल्प तक जाते है ।

१५. किंनिस्साए णं भंते ! असुरकुमारा देवा उड्ढ उप्पयंति जाव सोहम्मो कप्पो ?

से जहानामए इह सबरा इ वा बब्बरा इ वा टंकणा इ वा चुच्चुया इ वा पल्हया इ वा पुलिंदा इ वा एगं मह रण्ण वा, गड्ढं वा दुग्गं वा दरिं वा विसमं वा पव्वत वा णसाए सुमहल्लमवि आसबल वा हत्थिबलं वा जोहबलं वा धणुबलं वा आगलेंति, एवामेव असुरकुमारा वि देवा, णऽन्नत्थ अरहते वा, अरहंतचेइयाणि वा, अणगारे वा भावियप्पणो निस्साए उड्ढ उप्पयंति जाव सोहम्मो कप्पो ।

[१५ प्र] भगवन् ! किसका आश्रय (निश्राय) लेकर असुरकुमार देव ऊर्ध्व-गमन करते है, यावत् ऊपर सौधर्मकल्प तक जाते हैं ।

[१५ उ] हे गौतम ! जिस प्रकार यहाँ (इस मनुष्यलोक मे) शबर, बर्बर, टकण (जातीय म्लेच्छ) या चुचुंक (अथवा भुत्तुय), प्रश्नक अथवा पुलिन्द जाति के लोग किसी बडे अरण्य (जगल) का, गड्ढे का, दुर्ग (किले) का, गुफा का, किसी विषम (ऊबड-खाबड प्रदेश या बीहड या वृक्षो से सघन) स्थान का, अथवा पर्वत का आश्रय लेकर एक महान् एव व्यवस्थित अश्ववाहिनी को, गजवाहिनी को, पैदल (पदाति) सेना को, अथवा धनुर्धारियो की सेना को आकुल-व्याकुल कर देते (अर्थात्—साहसहीन करके जीत लेते) है, इसी प्रकार असुरकुमार देव भी एकमात्र अरिहन्तों का या अरिहन्तदेव के चैत्यो का, अथवा भावितात्मा अनगारो का आश्रय (निश्राय) लेकर ऊर्ध्वगमन करते (उड़ते) हैं, यावत् सौधर्मकल्प तक ऊपर जाते हैं ।

१६. सव्वे वि णं भंते ! असुरकुमारा देव उड्ढं उप्पयंति जाव सोहम्मो कप्पो ।

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, महिड्ढिया ण असुरकुमारा देवा उड्ढ उप्पयंति जाव सोहम्मो कप्पो ।

[१६ प्र] भगवन् ! क्या सभी असुरकुमार देव सौधर्मकल्प तक यावत् ऊर्ध्वगमन करते हैं ?

[१६ उ.] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नही है। अर्थात् सभी असुरकुमार देव ऊपर सौधर्मकल्प तक नही जा सकते, किन्तु महती ऋद्धिवाले असुरकुमार देव ही यावत् सौधर्म-देवलोक तक ऊपर जाते है।

१७. एस वि य णं भंते ! चमरे असुरिंदे असुरकुमारराया उड्ढं उप्पतियपुव्वे जाव सोहम्मो कप्पो ?

हंता, गोयमा ! एस वि य णं चमरे असुरिंदे असुरराया उड्ढं उप्पतियपुव्वे जाव सोहम्मो कप्पो।

[१७ प्र] हे भगवन् ! क्या असुरेन्द्र असुरराज चमर भी पहले कभी ऊपर—यावत् सौधर्मकल्प तक ऊर्ध्वगमन कर चुका है ?

[१७ उ] हाँ, गौतम ! यह असुरेन्द्र असुरराज चमर भी पहले ऊपर—यावत् सौधर्मकल्प तक ऊर्ध्वगमन कर चुका है।

विवेचन—असुरकुमार देवो के अधो-तिर्यक्-ऊर्ध्व-गमन-सामर्थ्य से सम्बन्धित प्ररूपणा— प्रस्तुत १४ सूत्रो (सू ५ से १८ तक) मे असुरकुमारदेवो के गमन-सामर्थ्य-सम्बन्धी चर्चा निम्नोक्त क्रम से की गई है—

(१) क्या असुरकुमारदेवो का अधोगमनसामर्थ्य है ? यदि है तो वे नीचे कहाँ तक जा सकते है और किस कारण से जाते है ?

(२) क्या असुरकुमार देवो का तिर्यग्गमन-सामर्थ्य है ? यदि है तो वे तिरछे कहाँ तक और किस कारण से जाते है ?

(३) क्या असुरकुमार देव ऊर्ध्वगमन कर सकते है ? कर सकते हैं तो कहाँ तक कर सकते है तथा कहाँ तक करते है ? तथा वे किन कारणो से सौधर्मकल्प तक ऊपर जाते है ? क्या वहाँ वे वहाँ की अप्सराओ के साथ दिव्यभोगो का उपभोग कर सकते है ? कितना काल बीत जाने पर वे सौधर्म-कल्प मे गए हैं, जाते है, या जाएँगे ? तथा वे किसका आश्रय लेकर सौधर्मकल्प तक जाते है ? क्या चमरेन्द्र पहले कभी सौधर्मकल्प मे गया है ?[1]

'असुर' शब्द पर भारतीय धर्मों की दृष्टि से चर्चा—असुर शब्द का प्रयोग वैदिक पुराणों मे 'दानव' अर्थ मे हुआ है। यहाँ भी उल्लिखित वर्णन पर से 'असुर' शब्द इसी अर्थ को सूचित करता है। पौराणिक साहित्य मे प्रसिद्ध 'सुराऽसुरसग्राम' (देव-दानवयुद्ध) भगवती सूत्र मे उल्लिखित असुरकुमारदेवो की चर्चा से मिलता जुलता परिलक्षित होता है। यहाँ बताया गया है कि असुर-कुमारो और सौधर्मादि सुरो मे परस्पर अहिनकुलवत् जन्मजातवैर (भवप्रत्ययिक वैरानुबन्ध) होता है। इसी कारण वे ऊपर सौधर्मदेवलोक तक जाकर उपद्रव करते हैं, चोरी करते है और वहाँ की सुर-प्रजा को त्रास देते है।[2]

---

१ वियाहपण्णत्ति सुत्त (मूलपाठ टिप्पण) (प बेचरदासजी) भा. १, पृ १४१ से १४३ तक

२. श्रीमद्भगवती सूत्र (टीकानुवादसहित) (प. बेचरदासजी) खण्ड २, पृ. ४८

कठिन शब्दों की व्याख्या—'अहेगतिविसए' = नीचे जाने का विषय = शक्ति । **'पुव्वसंगइयस्स'** = पूर्वपरिचित साथियो या मित्रो का । **'वेवणउदीरणयाए** = दु ख की उदीरणा करने के लिए । **वेवणउवसामणयाए** = दु ख का उपशमन करने के लिए । **णाणुप्पायमहिमासु** = केवलज्ञान कल्याणक की महिमा (महोत्सव) करने के लिए । **वित्तासेंति** = त्रास पहुचाते हैं। **अहालहुसगाइं** = यथोचित लघुरूप—छोटे-छोटे अथवा अलघु = वरिष्ठ महान् । **कायं पव्वहृति** = शरीर को व्यथित पीडित करते हैं । **उप्पयति** = ऊपर उडते है—जाते है । **समइक्कताहिं** = व्यतीत होने के पश्चात् । **लोयच्छेरभूए** = लोक मे आश्चर्यभूत = आश्चर्यजनक । **णिस्साए** = निश्राय = आश्रय से । **सुमहल्लमवि** = अत्यन्त विशाल । **जोहबलं** = योद्धाओ के बल = सैन्य को । **आगलेंति** = अकुलाते = थकाते है । **णण्णत्थ** = अथवा नान्यत्र = उनके निश्राय के बिना । **एगत** = एकान्त, निर्जन । **अत** = प्रदेश ।[1] **उप्पइयपुव्वि** = पहले ऊपर गया था ।

१८. अहो णं भते ! चमरे असुरिंदे असुरकुमारराया महिड्ढीए महज्जुतीए जाव कहिं पविट्ठा ?

कूडागारसालादिट्ठंतो भाणियव्वो ।

[१८ प्र] 'अहो, भगवन् ! (आश्चर्य है,) असुरेन्द्र असुरराज चमर ऐसी महाऋद्धि एव महाद्युति वाला है ! तो हे भगवन् ! (नाटघविधि दिखाने के पश्चात्) उसकी वह दिव्य देवऋद्धि यावत् दिव्य देवप्रभाव कहाँ गया, कहाँ प्रविष्ट हुआ ?'

[१८ उ.] (गौतम ! पूर्वकथितानुसार) यहाँ भी कूटाकारशाला का दृष्टान्त कहना चाहिए । (अर्थात्—कूटाकारशाला के दृष्टान्तानुसार असुरेन्द्र की वह दिव्य देवऋद्धि यावत् दिव्य देवप्रभाव, उसी के शरीर मे समा गया, शरीर मे ही प्रविष्ट हो गया ।)

चमरेन्द्र के पूर्वभव से लेकर इन्द्रत्वप्राप्ति तक का वृत्तान्त

१९. चमरेणं भंते ! असुरिंदेण असुररण्णा सा दिव्वा देविड्ढी त चेव किणा लद्धा पत्ता अभिसमन्नागया ?[2]

एवं खलु गोयमा !

तेण कालेणं तेण समएण इहेव जंबुद्दीवे २ भारहे वासे विझगिरिपायमूले बेभेले नाम सन्निवेसे होत्था । वण्णओ । तत्थ ण बेभेले सन्निवेसे पूरणे नामं गाहावती परिवसति अड्ढे दित्ते जहा तामलिस्स (उ. १ सु. ३५-३७) वत्तव्वया तहा नेतव्वा, नवर चउप्पुडय दारुमय पडिग्गह करेत्ता जाव विपुलं असण-पाण-खाइम-साइम जाव सयमेव चउप्पुडयं दारुमय पडिग्गहय गहाय मु डे भवित्ता दाणामाए पव्वज्जाए-पव्वइत्तए ।

[१९ प्र] भगवन् ! असुरेन्द्र असुरराज चमर को वह दिव्य देवऋद्धि और यावत् वह सब, किस प्रकार उपलब्ध हुई, प्राप्त हुई और अभिसमन्वागत हुई (अभिमुख आई) ?

---

१. भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १७४

२. इस प्रश्न के उत्तर की परिसमाप्ति ४४ सूत्र मे होती है ।

[१९ उ.] हे गौतम ! उस काल और उस समय मे इसी जम्बूद्वीप नामक द्वीप मे, भारतवर्ष (क्षेत्र) मे, विन्ध्याचल की तलहटी (पादमूल) मे 'बेभेल' नामक सन्निवेश था। वहाँ 'पूरण' नामक एक गृहपति रहता था। वह आढ्य और दीप्त था। यहाँ तामली की तरह 'पूरण' गृहपति की सारी वक्तव्यता जान लेनी चाहिए। (उसने भी समय आने पर किसी समय तामली की तरह विचार करके अपने ज्येष्ठपुत्र को कुटुम्ब का सारा भार सौप दिया) विशेष यह है कि चार खानो (पुटको) वाला काष्ठमय पात्र (अपने हाथ से) बना कर यावत् विपुल अशन, पान, खादिम और स्वादिम रूप चतुर्विध आहार बनवा कर ज्ञातिजनो आदि को भोजन करा कर तथा उनके समक्ष ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौपकर यावत् स्वयमेव चार खानो वाले काष्ठपात्र को लेकर मुण्डित होकर 'दानामा' नामक प्रव्रज्या अगीकार करने का (मनोगत सकल्प किया) यावत् तदनुसार प्रव्रज्या अंगीकार की।)

२० पव्वइए वि य णं समाणे त चेव, जाव आयावणभूमीओ पच्चोरुभइ पच्चोरुभित्ता सयमेव चउप्पुडयं दारुमयं पडिग्गहय गहाय बेभेले सन्निवेसे उच्च-नीय-मज्झिमाइ कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडेत्ता 'ज मे पढमे पुडए पडइ कप्पइ मे तं पथियपहियाण दलइत्तए, जं मे दोच्चे पुडए पडइ कप्पइ मे तं काक-सुणयाणं दलइत्तए, ज मे तच्चे पुडए पडइ कप्पइ मे तं मच्छ-कच्छभाण दलइत्तए, ज मे चउत्थे पुडए पडइ कप्पइ मे त अप्पणा आहारं आहारित्तए' त्ति कट्टु एव सपेहेइ, २ कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए त चेव निरवसेसं जाव जं से चउत्थे पुडए पडइ तं अप्पणा आहारं आहारेइ।

[२०] प्रव्रजित हो जाने पर उसने पूर्ववर्णित तामली तापस की तरह सब प्रकार से तपश्चर्या की, आतापना भूमि मे आतापना लेने लगा, इत्यादि सब कथन पूर्ववत् जानना; यावत् [छट्ठ (बेले के तप) के पारणे के दिन] वह (पूरण तापस) आतापना भूमि से नीचे उतरा। फिर स्वयमेव चार खानो वाला काष्ठमय पात्र लेकर 'बेभेल' सन्निवेश मे ऊँच, नीच और मध्यम कुलो के गृहसमुदाय से भिक्षा-विधि से भिक्षाचरी करने के लिए घूमा। भिक्षाटन करते हुए उसने इस प्रकार का विचार किया—मेरे भिक्षापात्र के पहले खाने मे जो कुछ भिक्षा पडेगी उसे मार्ग में मिलने वाले पथिको को दे देना है, मेरे (पात्र के) दूसरे खाने मे जो कुछ (खाद्यवस्तु) प्राप्त होगी, वह मुझे कौओ और कुत्तो को दे देनी है, जो (भोज्यपदार्थ) मेरे तीसरे खाने मे आएगा, वह मछलियो और कछुओ को दे देना है और चौथे खाने मे जो भिक्षा प्राप्त होगी, वह स्वय आहार करना है।

[इस] प्रकार भलीभाति विचार करके कल (दूसरे दिन) रात्रि व्यतीत होने पर प्रभातकालीन प्रकाश होते ही—यहाँ सब वर्णन पूर्ववत् कहना चाहिए—यावत् वह दीक्षित हो गया, काष्ठपात्र के चौथे खाने मे जो भोजन पडता है, उसका आहार स्वय करता है।

२१. तए णं से पूरणे बालतवस्सी तेणं ओरालेणं विउलेणं पयत्तेण पग्गहिएणं बालतवोकम्मेणं तं चेव जाव बेभेलस्स सन्निवेसस्स मज्झंमज्झेणं निगच्छति, २ पाउय-कुंडियमादीय उवकरणं चउप्पुडयं च दारुमयं पडिग्गहय एगंतमते एडेइ, २ बेभेलस्स सन्निवेसस्स दाहिणपुरत्थिमे दिसीभागे अद्धनियत्तणियमडल आलिहित्ता संलेहणाझूसणाझूसिए भत्त-पाणपडियाइक्खिए पाओवगमणं निवण्णे।

[२१] तदनन्तर पूरण बालतपस्वी उस उदार, विपुल, प्रदत्त और प्रगृहीत बालतपश्चरण के कारण शुष्क एव रूक्ष हो गया। यहाँ बीच का सारा वर्णन तामलीतापस की तरह (पूर्ववत्)

जानना चाहिए, यावत् वह (पूरण बालतपस्वी) भी 'बेभेल' सन्निवेश के बोचोबीच होकर निकला। निकल कर उसने पादुका (खडाऊँ) और कुण्डी आदि उपकरणो को तथा चार खानो वाले काष्ठपात्र को एकान्त प्रदेश मे छोड दिया। फिर बेभेल सन्निवेश के अग्निकोण (दक्षिणपूर्वदिशाविभाग) मे अर्द्धनिर्वर्तनिक मण्डल रेखा खीच कर बनाया अथवा प्रतिलेखित—प्रमार्जित किया। यो मण्डल बना कर उसने सलेखना की जूषणा (आराधना) से अपनी आत्मा को सेवित (युक्त) किया। फिर यावज्जीवन आहार-पानी का प्रत्याख्यान करके उस पूरण बालतपस्वो ने पादपोपगमन अनशन (सथारा) स्वीकार किया।

२२ तेण कालेण तेण समएणं अह गोयमा! छउमत्थकालियाए एक्कारसवासपरियाए छट्ठंछट्ठेण अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे पुव्वाणुपुव्वि चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव सुंसुमारपुरे नगरे जेणेव असोगवणसडे उज्जाणे जेणेव असोगवरपायवे जेणेव पुढविसिलावट्टए तेणेव उवागच्छामि, २ असोगवरपायवस्स हेट्ठा पुढविसिलावट्टयसि अट्ठमभत्त पगिण्हामि, दो वि पाए साहट्टु वग्घारियपाणी एगपोग्गलनिविट्ठदिट्ठी अणिमिसनयणे ईसिपब्भार-गएणं काएणं अहापणिहिएहिं गत्तेहिं सव्विदिएहिं गुत्तेहिं एगरातिय महापडिमं उवसपज्जित्ताणं विहरामि।

[२२] (अब श्रमण भगवान् महावीर स्वामी अपना वृत्तान्त कहते है—) हे गौतम! उस काल और उस समय मे मैं छद्मस्थ अवस्था मे था, मेरा दीक्षापर्याय ग्यारह वर्ष का था। उस समय मैं निरन्तर छट्ठ-छट्ठ (बेले-बेले) तप करता हुआ, सयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ, पूर्वानुपूर्वी (क्रम) से विचरण करता हुआ, ग्रामानुग्राम घूमता हुआ, जहाँ सुसुमारपुर नगर था, और जहाँ अशोकवनषण्ड नामक उद्यान था, वहाँ श्रेष्ठ अशोक के नीचे पृथ्वीशिलापट्टक के पास आया। मैंने उस समय अशोकतरु के नीचे स्थित पृथ्वीशिलापट्टक पर (खडे होकर) अट्ठमभक्त (तेले का) तप ग्रहण किया। (उस समय) मैने दोनो पैरो को परस्पर सटा (इकट्ठा कर) लिया। दोनो हाथो को नीचे की ओर लटकाए (लम्बे किये) हुए सिर्फ एक पुद्गल पर दृष्टि स्थिर (टिका) कर, निर्निमेषनेत्र (आँखो की पलको को न झपकाते हुए) शरीर के अग्रभाग को कुछ झुका कर, यथावस्थित गात्रो (शरीर के अगो) से एव समस्त इन्द्रियो को गुप्त (सुरक्षित) करके एकरात्रिकी महा (भिक्षु) प्रतिमा को अगीकार करके कायोत्सर्ग किया।

२३. तेणं कालेणं तेणं समएणं चमरचचा रायहाणी अणिदा अपुरोहिया याऽवि होत्था। तए णं से पूरणे बालतवस्सी बहुपडिपुण्णाइ दुवालस वासाइ परियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेत्ता सट्ठि भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता कालमासे काल किच्चा चमरचंचाए रायहाणीए उववायसभाए जाव इंदत्ताए उववन्ने।

[२३] उस काल और उस समय मे चमरचचा राजधानी इन्द्रविहीन और पुरोहितरहित थी। (इधर) पूरण नामक बालतपस्वी पूरे बारह वर्ष तक (दानामा) प्रव्रज्या पर्याय का पालन करके, एकमासिक संल्लेखना की आराधना से अपनी आत्मा को सेवित करके, साठ भक्त (साठ टंक तक)

अनशन रख कर (आहारपानी का विच्छेद करके), मृत्यु के अवसर पर मृत्यु प्राप्त करके चमरचचा राजधानी की उपपातसभा मे यावत् इन्द्र के रूप मे उत्पन्न हुआ।

२४. तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया अहुणोववन्ने पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभावं गच्छइ, तं जहा—आहारपज्जत्तीए जाव भास-मणपज्जत्तीए।

[२४] उस समय तत्काल उत्पन्न हुआ असुरेन्द्र असुरराज चमर पाच प्रकार की पर्याप्तियो से पर्याप्ति भाव को प्राप्त (पर्याप्त) हुआ। वे पाच पर्याप्तियाँ इस प्रकार हैं—आहारपर्याप्ति से यावत् भाषामन पर्याप्ति तक।

विवेचन—चमरेन्द्र के पूर्वभव से लेकर इन्द्रत्वप्राप्ति तक का वृत्तान्त—प्रस्तुत सात सूत्रो मे चमरेन्द्र को प्राप्त हुई ऋद्धि आदि के सम्बन्ध मे श्री गौतम स्वामी द्वारा पूछे गए प्रश्न का भगवान् द्वारा चमरेन्द्र के पूर्वभव से लेकर इन्द्रत्व प्राप्ति तक वृत्तान्त रूप मे कथित समाधान प्रतिपादित है। इस वृत्तान्त का क्रम इस प्रकार है—

१ श्री गौतमस्वामी की चमरेन्द्र की ऋद्धि आदि के तिरोहित हो जाने के सम्बन्ध मे जिज्ञासा।

२ श्री गौतमस्वामी द्वारा चमरेन्द्र को ऋद्धि आदि की प्राप्ति विषयक प्रश्न।

३ भगवान् द्वारा पूरण गृहपति का गृहस्थावस्था से दानामा-प्रव्रज्यावस्था तक का प्राय तमाली तापस से मिलता जुलता वर्णन।

४ पूरण बालतपस्वी द्वारा प्रव्रज्यापालन, और सलेखना की आराधना।

५ उस समय भगवान् का सुसुमारपुर मे एकरात्रिकी महाभिक्षुप्रतिमा ग्रहण करके अवस्थान।

६ इन्द्रविहीन चमरचचा राजधानी मे सल्लेखना-अनशनपूर्वक-मृत्यु-प्राप्त पूरण बालतपस्वी की इन्द्र के रूप मे उत्पत्ति और पाच पर्याप्तियो से पर्याप्तता।

दाणामा पव्वज्जा—दानामा या दानमय्या प्रव्रज्या वह कहलाती है, जिनमे दान देने की क्रिया मुख्य हो। इसका रूपान्तर दानमयी अथवा दानिमा (दान से निर्वृत्त-निष्पन्न)। पूरण तापस की प्रवृत्ति मे दान की ही वृत्ति मुख्य है।[1]

पूरण तापस और पूरण काश्यप—बौद्धग्रन्थ **'मज्झिमनिकाय'** मे **'चुल्लसारोपमसुत्त'** और **'महासच्चकसुत्त'** मे उस समय बुद्धदेव के समकालीन छह धर्मोपदेशको (तीर्थंकरो) का उल्लेख है—पूरणकाश्यप, मस्करी गोशालक, अजितकेशकम्बल, पकुद्धकात्यायन, सजय वेलट्ठिपुत्त, निर्ग्रन्थ नातपुत्त (ज्ञातपुत्र)। उनमे से 'पूरण काश्यप' सम्भवत तथागत बुद्ध और भगवान् महावीर का समसामयिक यही 'पूरण तापस' हो। **'बौद्ध पर्व'** मे भी 'पूरणकाश्यप' नामक प्रतिष्ठित गृहस्थ का

१ (क) भगवतीसूत्र अ० वृत्ति, पत्रांक १७४

(ख) श्रीमद् भगवतीसूत्र (टीकानुवाद, प बेचरदासजी), खण्ड २ पृ ६१

उल्लेख मिलता है जो अरण्य मे चोरों द्वारा वस्त्रादि लूटे जाने से नग्न होकर विरक्त रहने लगा था। उसको विरक्ति और नि स्पृहता देखकर कहते हैं, उसके ८० हजार अनुयायी हो गए थे।[1]

सुंसुमारपुर —सुंसुमारगिरि—बौद्धो के पिटक ग्रन्थो के सु सुमारपुर के बदले सु सुमारगिरि का उल्लेख मिलता है, जिसे वहाँ 'भग्ग' देशवर्ती बताया गया है। सम्भव है, सु सुमारगिरि के पास ही कोई भग्गदेशवर्ती सु सुमारपुर हो।[2]

कठिन शब्दो की व्याख्या—**'दो वि पाए साहट्टु'**—दोनो पैरो को इकट्ठे—सकुचित करके—जिनमुद्रापूर्वक स्थित होकर। **वग्घारियपाणी**—दोनो भुजाओ को नीचे की ओर लम्बी करके। **ईसिपब्भारगएणं**—ईषत् = थोडा सा, प्राग्भार = आगे मुख करके अवनत होना।[3]

चमरेन्द्र द्वारा सौधर्मकल्प में उत्पात एवं भगवदाश्रय से शक्रेन्द्रकृत वज्रपात से मुक्ति

२५. तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया पचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तीभावं गए समाणे उड्ढं वीससाए ओहिणा आभोएइ जाव सोहम्मो कप्पो। पासइ य तत्थ सक्कं देविंदं देवरायं मघवं पागसासणं सतक्कतुं सहस्सक्खं वज्जपाणिं पुरंदरं जाव[4] दस दिसाओ उज्जोवेमाणं पभासेमाणं। सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडेंसए विमाणे सभाए सुहम्माए सक्कंसि सीहासणंसि जाव दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणं पासइ, २ इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था— केस णं एस अपत्थियपत्थए दुरंतपंतलक्खणे हिरि-सिरिपरिवज्जिए हीणपुण्णचाउद्दसे जे णं मम इमाए एयारूवाए दिव्वाए देविड्ढीए जाव दिव्वे देवाणुभावे लद्धे पत्ते जाव अभिसमन्नागए उप्पिं अप्पुस्सुए दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ? एवं संपेहेइ, २ सामाणियपरिसोववन्नए देवे सद्दावेइ, २ एवं वयासी—केस णं एस देवाणुप्पिया! अपत्थियपत्थए जाव भुंजमाणे विहरइ।

[२५] जब असुरेन्द्र असुरराज चमर (उपर्युक्त) पाच पर्याप्तियो से पर्याप्त हो गया, तब उसने स्वाभाविक (विस्रसा) रूप से ऊपर सौधर्मकल्प तक अवधिज्ञान का उपयोग किया। वहाँ उसने देवेन्द्र देवराज, मघवा, पाकशासन, शतक्रतु, सहस्राक्ष, वज्रपाणि, पुरन्दर शक्र को यावत् दसो दिशाओ को उद्योतित एव प्रकाशित करते हुए देखा। (साथ ही उसने शक्रेन्द्र को) सौधर्मकल्प मे सौधर्मावतसक विमान मे शक्र नामक सिहासन पर बैठकर, यावत् दिव्य एव भोग्य भोगो का

---

१ (क) श्रीमद् भगवतीसूत्र (टीकानुवादसहित) (प बेचरदास जी) खण्ड २, पृ ५५-५६
(ख) मज्झिमनिकाय मे चुल्लसारोपमसुत्त ३०, पृ १३९, महासच्चकसुत्त ३६, पृ १७२, बौद्धपर्व प्र १०, पृ १२७

२ (क) वही, खण्ड २, पृ ५६
(ख) मज्झिमनिकाय मे अनुमानसुत्त १५, पृ. ७०, और मारतज्जनियसुत्त ५०, पृ २२४

३. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १७४

४ 'जाव' शब्द से यह पाठ ग्रहण करना चाहिए—"**दाहिणड्ढलोगाहिवइं बत्तीसविमाणसयसहस्साहिवइं एरावणवाहणं सुरिंदं अरयंबरवत्थधरं आलइयमालमउडं नवहेमचारुचित्तचंचलकुंडलविलिहिज्जमाणगंडं।**"
—भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्रांक १७४

उपभोग करते हुए देखा। इसे देखकर चमरेन्द्र के मन मे इस प्रकार का आध्यात्मिक (आन्तरिक) चिन्तित, प्रार्थित एवं मनोगत सकल्प समुत्पन्न हुआ कि—अरे! कौन यह अप्रार्थित-प्रार्थक (अनिष्ट वस्तु की प्रार्थना-अभिलाषा करने वाला, मृत्यु का इच्छुक), दूर तक निकृष्ट लक्षण वाला तथा लज्जा (ह्री) और शोभा (श्री) से रहित, हीनपुण्या (अपूर्ण) चतुर्दशी को जन्मा हुआ है, जो मुझे इस प्रकार की इस दिव्य देव-ऋद्धि यावत् दिव्य देवप्रभाव लब्ध, प्राप्त और अभिसमन्वागत (अभिमुख समानीत) होने पर भी मेरे ऊपर (सिर पर) उत्सुकता से रहित (लापरवाह) होकर दिव्य एवं भोग्य भोगो का उपभोग करता हुआ विचर रहा है? इस प्रकार का सम्प्रेक्षण (आत्मफुरण) करके चमरेन्द्र ने अपनी सामानिकपरिषद् मे उत्पन्न देवो को बुलाया और बुला कर उनसे इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रियो! यह बताओ कि यह कौन अनिष्ट—मृत्यु का इच्छुक है, यावत् दिव्य एव भोग्य भोगो का उपभोग करता हुआ विचरता है?

२६. तए णं ते सामाणियपरिसोववन्नगा देवा चमरेणं असुरिंदेणं असुररण्णा एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा० जाव हयहियया करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जयेणं विजयेण वद्धावेंति, २ एवं वयासी—एस ण देवाणुप्पिया! सक्के देविंदे देवराया जाव विहरइ।

[२६] असुरेन्द्र असुरराज चमर द्वारा सामानिक परिषद् मे उत्पन्न देवो से इस प्रकार कहे (पूछे) जाने पर (आदेश प्राप्त होने के कारण) वे चित्त मे अत्यन्त हर्षित और सन्तुष्ट हुए। यावत् हृदय से हृत-प्रभावित (आकर्षित) होकर उनका हृदय खिल उठा। दोनो हाथ जोड़कर दसो नखो को एकत्रित करके शिरसावर्त्तमहित मस्तक पर अजलि करके उन्होने चमरेन्द्र को जय-विजय शब्दो से बधाई दी। फिर वे इस प्रकार बोले—'हे देवानुप्रिय! यह तो देवेन्द्र देवराज शक्र है, जो यावत् दिव्य भोग्य भोगो का उपभोग करता हुआ विचरता है!'

२७ तए ण से चमरे असुरिंदे असुरराया तेसिं सामाणियपरिसोववन्नगाणं देवाणं अंतिए एयमट्ठ सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते रुट्ठे कुविए चंडिक्किए मिसिमिसेमाणे ते सामाणियपरिसोववन्नए देवे एव वयासी—'अन्ने खलु भो! से सक्के देविंदे देवराया, अन्ने खलु भो! से चमरे असुरिंदे असुरराया, महिड्ढीए खलु से सक्के देविंदे देवराया, अप्पिड्ढीए खलु भो! से चमरे असुरिंदे असुरराया। तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया! सक्कं देविंदे देवरायं सयमेव अच्चासादेत्तए' त्ति कट्टु उसिणे उसिणब्भूए याऽवि होत्था।

[२७] तत्पश्चात् उन सामानिक परिषद् मे उत्पन्न देवो से इस बात (उत्तर) को सुनकर मन मे अवधारण करके वह असुरेन्द्र असुरराज चमर शीघ्र ही क्रुद्ध (लालपीला), रुष्ट, कुपित एवं चण्ड—रौद्र आकृतियुक्त हुआ, और क्रोधावेश मे आकर बडबड़ाने लगा। फिर उसने सामानिकपरिषद् मे उत्पन्न देवो से इस प्रकार कहा—'अरे! वह देवेन्द्र देवराज शक्र कोई दूसरा है, और यह असुरेन्द्र असुरराज चमर कोई दूसरा है! देवेन्द्र देवराज शक्र तो महाऋद्धि वाला है, जबकि असुरेन्द्र असुरराज चमर अल्पऋद्धि वाला ही है, (यह सब मै जानता हूँ, फिर भी मैं इसे कैसे सहन कर सकता हूँ?) अत हे देवानुप्रियो! मै चाहता हूँ कि मैं स्वयमेव (अकेला ही) उस देवेन्द्र देवराज शक्र को उसके स्वरूप (पद या शोभा) से भ्रष्ट कर दूँ।' यो कह कर वह चमरेन्द्र (कोपवश) गर्म (उत्तप्त) हो गया, (अस्वाभाविक रूप से) गर्मागर्म (उत्तेजित) हो उठा।

२८. तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया ओहिं पउंजइ, २ ममं ओहिणा आभोएइ, २ इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—'एवं खलु समणे भगवं महावीरे जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे सुंसुमारपुरे नगरे असोगवणसंडे उज्जाणे असोगवरपायवस्स अहे पुढविसिलावट्टयंसि अट्ठमभत्तं पगिण्हित्ता एगराइयं महापडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरति। तं सेयं खलु मे समणं भगवं महावीरं नीसाए सक्कं देविंदं देवरायं सयमेव अच्चासादेत्तए' त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, २ सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेइ, २ त्ता देवदूसं परिहेइ, २ उववायसभाए पुरत्थिमिल्लेणं दारेणं णिग्गच्छइ, २ जेणेव सभा सुहम्मा, जेणेव चोप्पाले पहरणकोसे तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता फलिहरयणं परामुसइ, २ एगे अबिइए फलिहरयणमायाए महया अमरिसं वहमाणे चमरचंचाए रायहाणीए मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, २ जेणेव तिगिंछिकूडे उप्पायपव्वए तेणेव उवागच्छइ, २, त्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णइ, २ त्ता संखेज्जाइं जोयणाइं जाव उत्तरवेउव्वियं रूवं विकुव्वइ २ त्ता ताए उक्किट्ठाए जाव जेणेव पुढविसिलावट्टए जेणेव ममं अंतिए तेणेव उवागच्छति, २ ममं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति, २ जाव नमंसित्ता एवं वयासी—'इच्छामि णं भंते ! तुब्भं नीसाए सक्कं देविंदं देवरायं सयमेव अच्चासादित्तए' त्ति कट्टु उत्तरपुरत्थिमं दिसिभागं अवक्कमइ, २ वेउव्वियसमुग्घातेणं समोहण्णइ, २ जाव दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घातेणं समोहण्णइ, २ एगं महं घोरं घोरागारं भीमं भीमागारं भासरं भयाणीयं गंभीरं उत्तासणयं कालड्ढरत्त-मासरासिसंकासं जोयणसयसाहस्सीयं महाबोंदिं विउव्वइ, २ अप्फोडेइ, २ वग्गइ, २ गज्जइ, २ हयहेसियं करेइ, २ हत्थिगुलुगुलाइयं करेइ, २ रहघणघणाइयं करेइ, २ पायदद्दरगं करेइ, २ भूमिचवेडयं दलयइ, २ सीहणादं नदइ, २ उच्छोलेति, २ पच्छोलेति, २ तिवइं छिंदइ, २ वामं भुयं ऊसवेइ, २ दाहिणहत्थपदेसिणीए य अंगुट्ठनहेण य वितिरिच्छं मुहं विडंबेइ, २ महया महया सद्देणं कलकलरवं करेइ, एगे अबिइए फलिहरयणमायाए उड्ढं वेहासं उप्पतिए, खोभंते चेव अहेलोयं, कंपेमाणे व मेइणितलं, साकड्ढंते व तिरियलोयं, फोडेमाणे व अंबरतलं, कत्थइ गज्जंते, कत्थइ विज्जुयायंते, कत्थइ वासं वासमाणे, कत्थइ रयुग्घायं पकरेमाणे, कत्थइ तमुक्कायं पकरेमाणे, वाणमंतरे देवे वित्तासेमाणे २ जोइसिए देवे दुहा विभयमाणे २, आयरक्खे देवे विपलायमाणे २, फलिहरयणं अंबरतलंसि वियड्ढमाणे २, विउब्भावेमाणे २ ताए उक्किट्ठाए जाव तिरियमसंखेज्जाणं दीव-समुद्दाणं मज्झंमज्झेणं वीयीवयमाणे २, जेणेव सोहम्मे कप्पे, जेणेव सोहम्मवडेंसए विमाणे, जेणेव सभा सुधम्मा तेणेव उवागच्छइ, २ एगं पायं पउमवरवेइयाए करेइ, एगं पायं सभाए सुहम्माए करेइ, फलिहरयणेणं महया २ सद्देणं तिक्खुत्तो इंदकीलं आउडेति, २ एवं वयासी—'कहिं णं भो ! सक्के देविंदे देवराया ? कहिं णं ताओ चउरासीइं सामाणियसाहस्सीओ ? जाव कहिं णं ताओ चत्तारि चउरासीईओ आयरक्खदेवसाहस्सीओ ? कहिं णं ताओ अणेगाओ अच्छराकोडीओ ? अज्ज हणामि, अज्ज महेमि, अज्ज वहेमि, अज्ज ममं अवसाओ अच्छराओ वसमुवणमंतु' त्ति कट्टु तं अणिट्ठं अकंतं अप्पियं असुभं अमणुण्णं अमणामं फरुसं गिरं निसिरइ।

[२८] इसके पश्चात् उस असुरेन्द्र असुरराज चमर ने (अपने उत्कट क्रोध को सफल

करने के लिए) अवधिज्ञान का प्रयोग किया। अवधिज्ञान के प्रयोग से उसने मुझे (श्री महावीर स्वामी को) देखा। मुझे देख कर चमरेन्द्र को इस प्रकार आध्यात्मिक (आन्तरिक स्फुरणा) यावत् मनोगत सकल्प उत्पन्न हुआ कि श्रमण भगवान् महावीर जम्बूद्वीप नामक द्वीप मे, भारतवर्ष मे, सुसुमारपुर नगर मे, अशोकवनषण्ड नामक उद्यान मे, श्रेष्ठ अशोकवृक्ष के नीचे पृथ्वीशिलापट्टक पर अट्ठमभत्त (तेले का) तप स्वीकार कर एकरात्रिकी महाप्रतिमा अगीकार करके स्थित हैं। अत मेरे लिए यह श्रेयस्कर होगा कि मैं श्रमण भगवान् महावीर के निश्राय—आश्रय से देवेन्द्र देवराज शक्र को स्वयमेव (एकाकी ही) अत्याशादित (श्रीभ्रष्ट) करू।' इस प्रकार (भलीभाति योजनाबद्ध) विचार करके वह चमरेन्द्र अपनी शय्या से उठा और उठकर उसने देवदूष्य वस्त्र पहना। फिर, उपपातसभा के पूर्वीद्वार से होकर निकला। और जहाँ सुधर्मासभा थी, तथा जहाँ चतुष्पाल (चौप्पाल) नामक शस्त्रभण्डार (प्रहरणकोष) था, वहाँ आया। शस्त्रभण्डार मे से उसने एक परिघरत्न उठाया। फिर वह किसी को साथ लिये बिना अकेला ही उस परिघरत्न को लेकर अत्यन्त रोषाविष्ट होता हुआ चमरचचा राजधानी के बीचोबीच होकर निकला और तिगिच्छकूट नामक उत्पातपर्वत के निकट आया। वहाँ उसने वैक्रिय समुद्घात द्वारा समवहत होकर सख्येय योजनपर्यन्त का उत्तरवैक्रियरूप बनाया। फिर वह उस उत्कृष्ट यावत दिव्य देवगति से यावत् जहाँ पृथ्वीशिलापट्टक था, वहाँ मेरे (भगवान् श्रीमहावीर स्वामी के) पास आया। मेरे पास उसने दाहिनी ओर से मेरी तीन बार प्रदक्षिणा की, मुझे वन्दन-नमस्कार किया और तब यो बोला—"भगवन् ! मैं आपके निश्राय (आश्रय) से स्वयमेव (अकेला ही) देवेन्द्र देवराज शक्र को उसकी शोभा से भ्रष्ट करना चाहता हूँ।"

इस प्रकार कह कर (मेरे उत्तर की अपेक्षा रखे बिना ही) वह वहाँ से (सीधा) उत्तरपूर्वदिशा-विभाग (ईशानकोण) मे चला गया। फिर उसने वैक्रियसमुद्घात किया, यावत् वह दूसरी बार भी वैक्रियसमुद्घात से समवहत हुआ। (इस बार) वैक्रिय समुद्घात से समवहत होकर उसने एक महाघोर, घोराकृतियुक्त, भयकर, भयकर आकार वाला, भास्वर, भयानक, गम्भीर, त्रासदायक, कालो कृष्णपक्षीय अर्धरात्रि एव काले उडदो की राशि के समान काला, एक लाख योजन का ऊँचा, महाकाय शरीर बनाया। ऐसा करके वह (चमरेन्द्र) अपने हाथो को पछाडने लगा, पैर पछाडने लगा, (मेघ की तरह) गर्जना करने लगा, घोडे की तरह हिनहिनाने (हेषारव करने) लगा, हाथी की तरह किलकिलाहट (चीत्कार) करने लगा, रथ की तरह घनघनाहट करने लगा, पैरो को जमीन पर जोर से पटकने लगा, भूमि पर जोर से (हथेली से) थप्पड मारने लगा, सिंहनाद करने लगा, उछलने लगा, पछाड मारने लगा, (मल्ल की तरह मैदान मे) त्रिपदी को छेदने लगा, बाई भुजा ऊँची करने लगा, फिर दाहिने हाथ की तर्जनी अँगुली और अंगूठे के नख द्वारा अपने मुख को तिरछा फाड कर बिडम्बित (टेढ़ामेढ़ा) करने लगा और बडे जोर-जोर से कलकल शब्द करने लगा। यो करता हुआ वह चमरेन्द्र स्वय अकेला, किसी को साथ मे न ले कर परिघरत्न ले कर ऊपर आकाश मे उडा। (उडते समय अपनी उड़ान से) वह मानो अधोलोक क्षुब्ध करता हुआ, पृथ्वीतल को मानो कपाता हुआ, तिरछे लोक को खीचता हुआ-सा, गगनतल को मानो फोड़ता हुआ, कही गर्जना करता हुआ, कही विद्युत् की तरह चमकता हुआ, कहीं वर्षा के समान बरसता हुआ, कही धूल का ढेर उडाता (उछालता) हुआ, कहीं गाढान्धकार का दृश्य उपस्थित करता हुआ, तथा (जाते-जाते) वाणव्यन्तर देवो को त्रास पहुँचाता हुआ, ज्योतिषीदेवो को दो भागो में विभक्त करता हुआ एव आत्मरक्षक देवो

को भोगाता हुआ, परिघरत्न को आकाश मे घुमाता हुआ, उसे विशेष रूप से चमकाता हुआ, उस उत्कृष्ट दिव्य देवगति से यावत् तिरछे असख्येय द्वीपसमुद्रो के बीचोबीच हो कर निकला। यों निकल कर जिस ओर सौधर्मकल्प (देवलोक) था, सौधर्मावतसक विमान था, और जहाँ सुधर्मासभा थी, उसके निकट पहुँचा। वहाँ पहुँच कर उसने एक पैर पद्मवरवेदिका पर रखा, और दूसरा पैर सुधर्मा सभा मे रखा। फिर बडे जोर से हुकार (आवाज) करके उसने परिघरत्न से तीन बार इन्द्रकील (शक्रध्वज अथवा मुख्य द्वार के दोनो कपाटों के अर्गलास्थान) को पीटा (प्रताडित किया)। तत्पश्चात् उसने (जोर से चिल्ला कर) इस प्रकार कहा—'अरे! वह देवेन्द्र देवराज शक्र कहाँ है? कहाँ हैं उसके वे चौरासी हजार सामानिक देव? यावत् कहाँ है उसके वे तीन लाख छत्तीस हजार आत्मरक्षक देव? कहाँ गई वे अनेक करोड अप्सराएँ? आज ही मै उन सबको मार डालता हूँ, आज ही उनका मै वध कर डालता हूँ। जो अप्सराएँ मेरे अधीन नही हैं, वे अभी मेरी वशवर्तिनी हो जाएँ।' ऐसा करके चमरेन्द्र ने वे अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, अमनोहर और कठोर उद्गार निकाले।

२९ तए ण से सक्के देविंदे देवराया तं अणिट्ठं जाव अमणामं अस्सुयपुव्वं फरुसं गिरं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते जाव मिसिमिसेमाणे तिवलिय भिउडिं निडाले साहट्टु चमरं असुरिंदं असुररायं एव वदासी– 'हं भो! चमरा! असुरिंदा! असुरराया! अपत्थियपत्थया! जाव हीणपुण्णचाउद्दसा! अज्ज न भवसि, नहि ते सुहमत्थि' त्ति कट्टु तत्थेव सीहासणवरगते वज्जं परामुसइ, २ त जलतं फुडंतं तडतडंतं उक्कासहस्साइं विणिम्मुयमाणं २, जालासहस्साइं पमुंचमाणं २, इंगालसहस्साइं पविक्खिरमाणं २, फुलिंगजालामालासहस्सेहिं चक्खुविक्खेव-दिट्ठिपडिघातं पि पकरेमाण हुतवहअतिरेगतेयदिप्पंतं जइणवेगं फुल्लकिंसुयसमाणं महब्भयं भयकरं चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो वहाए वज्जं निसिरइ।

[२९] तदनन्तर (चमरेन्द्र द्वारा पूर्वोक्तरूप से उत्पात मचाये जाने पर) देवेन्द्र देवराज शक्र (चमरेन्द्र के) इस (उपर्युक्त) अनिष्ट, यावत् अमनोज्ञ और अश्रुतपूर्व (पहले कभी न सुने हुए) कर्णकटु वचन सुन-समझ करके एकदम (तत्काल) कोपायमान हो गया। यावत् क्रोध से (होठो को चबाता हुआ) बडबडाने लगा तथा ललाट पर तीन सल (रेखाएँ) पडे, इस प्रकार से भृकुटि चढा कर शक्रेन्द्र असुरेन्द्र असुरराज चमर से यो बोला—हे! भो (अरे!) अप्रार्थित (अनिष्ट-मरण) के प्रार्थक (इच्छुक)! यावत् हीनपुण्या (अपूर्ण) चतुर्दशी के जन्मे हुए असुरेन्द्र! असुरराज! चमर! आज तू नही रहेगा, (तेरा अस्तित्व समाप्त हो जाएगा) आज तेरी खैर (सुख) नही है। (यह समझ ले) यो कह कर अपने श्रेष्ठ सिहासन पर बैठे-बैठे ही शक्रेन्द्र ने अपना वज्र उठाया और उस जाज्वल्यमान, विस्फोट करते हुए, तड-तड शब्द करते हुए हजारो उल्काएँ छोडते हुए, हजारो अग्निज्वालाओ को छोडते हुए, हजारो अगारो को बिखेरते हुए, हजारो स्फुलिगो (चिनगारियो) की ज्वालाओ से उस पर दृष्टि फेंकते ही आँखो के आगे चकाचौध के कारण रुकावट डालने वाले, अग्नि से अधिक तेज से देदीप्यमान, अत्यन्त वेगवान् खिले हुए टेसू (किंशुक) के फूल के समान लाल-लाल, महाभयावह एव भयकर वज्र को असुरेन्द्र असुरराज चमरेन्द्र के वध के लिए छोड़ा।

३०. तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया तं जलत जाव भयकर वज्जमभिमुहं आवयमाणं पासइ, पासित्ता झियाति पिहाइ, पिहाइ झियाइ, झियायित्ता पिहायित्ता तहेव संभग्गमउडविडवे सालंबहत्थाभरणे उड्ढंपाए अहोसिरे कक्खागयसेयं पिव विणिम्मुयमाणे २ ताए उक्किट्ठाए जाव तिरियमसंखेज्जाणं दीव-समुद्दाणं मज्झंमज्झेणं वीतीवयमाणे २ जेणेव जंबुद्दीवे दीवे जाव जेणेव असोगवरपायवे जेणेव ममं अंतिए तेणेव उवागच्छइ, २ त्ता भीए भयगग्गरसरे 'भगवं सरणं' इति बुयमाणे ममं दोण्ह वि पायाणं अंतरंसि झत्ति वेगेणं समोवतिते ।

[३०] तत्पश्चात् उस असुरेन्द्र असुरराज चमर ने जब उस जाज्वल्यमान, यावत् भयकर वज्र को अपने सामने आता हुआ देखा, तब उसे देख कर ('यह क्या है ?' इस प्रकार मन मे) चिन्तन करने लगा, फिर (अपने स्थान पर चले जाने की) इच्छा करने लगा, अथवा (वज्र को देखते ही उसने) अपनी दोनो आँखे मूद ली और (वहाँ से चले जाने का पुन.) पुन विचार करने लगा। (कुछ क्षणो तक) चिन्तन करके वह ज्यो ही स्पृहा करने लगा (कि ऐसा अस्त्र मेरे पास होता तो कितना अच्छा होता।) त्यो ही उसके मुकुट का तुर्रा (छोगा) टूट गया, हाथो के आभूषण (भय के मारे शरीर सूख जाने से) नीचे लटक गए, तथा पैर ऊपर और सिर नीचा करके एव काखो मे पसीना-सा टपकाता हुआ, वह असुरेन्द्र चमर उस उत्कृष्ट यावत् दिव्य देवगति से तिरछे असख्य द्वीप समुद्रो के बीचोबीच होता हुआ, जहाँ जम्बूद्वीप नामक द्वीप था, जहाँ भारतवर्ष था, यावत् जहाँ श्रेष्ठ अशोकवृक्ष था, वहाँ पृथ्वीशिलापट्टक पर जहाँ मैं (श्री महावीरस्वामी) था, वहाँ आया। मेरे निकट आकर भयभीत एव भय से गद्‌गद् स्वरयुक्त चमरेन्द्र—"भगवन् ! आप ही (अब) मेरे लिए शरण है" इस प्रकार बोलता हुआ मेरे दोनो पैरों के बीच मे शीघ्रता से वेगपूर्वक (फुर्ती से) गिर पडा।

३१. तए णं तस्स सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था 'नो खलु पभू चमरे असुरिंदे असुरराया, नो खलु समत्थे चमरे असुरिंदे असुरराया, नो खलु विसए चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो अप्पणो निस्साए उड्ढं उप्पतित्ता जाव सोहम्मो कप्पो, णऽण्णत्थ अरहंते वा, अरहंतचेइयाणि वा, अणगारे वा भावियप्पाणो नीसाए उड्ढं उप्पयति जाव सोहम्मो कप्पो। तं महादुक्खं खलु तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं अणगाराण य अच्चासायणाए' त्ति कट्टु ओहिं पउंजति, २ ममं ओहिणा आभोएति, २ 'हा ! हा ! अहो ! हतो अहमंसि' त्ति कट्टु ताए उक्किट्ठाए जाव दिव्वाए देवगतीए वज्जस्स वीहिं अणुगच्छमाणे २ तिरियमसंखेज्जाणं दीव-समुद्दाणं मज्झंमज्झेणं जाव जेणेव असोगवरपायवे जेणेव ममं अंतिए तेणेव उवागच्छइ, २ ममं चउरंगुलमसंपत्तं वज्जं पडिसाहरइ। अवियाऽऽइं मे गोतमा ! मुट्ठिवातेणं केसग्गे वीइत्था।

[३१] उसी समय देवेन्द्र शक्र को इस प्रकार का आध्यात्मिक (आन्तरिक अध्यवसाय) यावत् मनोगत सकल्प उत्पन्न हुआ कि असुरेन्द्र असुरराज चमर इतनी शक्तिवाला नही है, न असुरेन्द्र असुरराज चमर इतना समर्थ है, और न ही असुरेन्द्र असुरराज चमर का इतना विषय है कि वह अरिहन्त भगवन्तो, अर्हन्त भगवान् के चैत्यो अथवा भावितात्मा अनगार का आश्रय (निश्राय) लिये बिना स्वय अपने आश्रय (निश्राय) से इतना ऊँचा (उठ) कर यावत् सौधर्मकल्प तक आ सके। अत:

वह असुरेन्द्र अवश्य अरिहन्त भगवन्तो यावत् अथवा किसी भावितात्मा अनगार के आश्रय (निश्राय) से ही इतना ऊपर यावत् सौधर्मकल्प तक आया है। यदि ऐसा है तो उन तथारूप अर्हन्त भगवन्तो एव अनगारों की (मेरे द्वारा फेंके हुए वज्र से) अत्यन्त आशातना होने से मुझे महा दुःख होगा। ऐसा विचार करके शक्रेन्द्र ने अवधिज्ञान का प्रयोग किया और उस अवधिज्ञान के प्रयोग से उसने मुझे (श्री महावीर स्वामी को) देखा ! मुझे देखते ही (उसके मुख से बरबस ये उद्गार निकल पडे—) "हा ! हा ! अरे रे ! मैं मारा गया !" इस प्रकार (पश्चात्ताप) करके (वह शक्रेन्द्र अपने वज्र को पकड लेने के लिए) उत्कृष्ट यावत् दिव्य देवगति से वज्र के पीछे-पीछे दौडा। वज्र का पीछा करता हुआ वह शक्रेन्द्र तिरछे असख्यात द्वीप-समुद्रो के बीचोबीच होता हुआ यावत् उस श्रेष्ठ अशोकवृक्ष के नीचे जहाँ मै था, वहाँ आया) और वहाँ मुझ से सिर्फ चार अगुल दूर रहे हुए (असम्प्राप्त) उस वज्र को उसने पकड लिया (वापिस ले लिया)।

हे गौतम ! (जिस समय शक्रेन्द्र ने वज्र को पकडा, उस समय उसने अपनी मुट्ठी इतनी जोर से बन्द की कि) उस मुट्ठी की हवा से मेरे केशाग्र हिलने लगे।

३२. तए णं से सक्के देविंदे देवराया वज्जं पडिसाहरति, पडिसाहरित्ता ममं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ, २ वंदइ नमंसइ, २ एवं वयासी—'एवं खलु भंते ! अहं तुब्भं नीसाए चमरेणं असुरिंदेण असुररण्णा सयमेव अच्चासाइए। तए णं मए परिकुविएणं समाणेणं चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो वहाए वज्जे निसट्ठे। तए णं मे इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—नो खलु पभू चमरे असुरिंदे असुरराया तहेव जाव ओहिं पउंजामि, देवाणुप्पिए ओहिणा आभोएमि, 'हा ! हा ! अहो ! हतो मी' ति कट्टु ताए उक्किट्ठाए जाव जेणेव देवाणुप्पिए तेणेव उवागच्छामि, देवाणुप्पियाणं चउरंगुलमसंपत्तं वज्जं पडिसाहरामि, वज्जपडिसाहरणट्ठताए णं इहमागए, इह समोसढे, इह संपत्ते, इहेव अज्ज उवसंपज्जित्ताणं विहरामि। तं खामेमि णं देवाणुप्पिया !, खमंतु णं देवाणुप्पिया !, खमितुमरहंति णं देवाणुप्पिया !, णाइ भुज्जो एवं पकरणताए" त्ति कट्टु ममं वंदइ नमंसइ, २ उत्तरपुरत्थिमं दिसीभागं अवक्कमइ, २ वामेणं पादेणं तिक्खुत्तो भूमिं दलेइ, २ चमरं असुरिंदं असुररायं एवं वदासी—'मुक्को सि णं भो ! चमरा ! असुरिंदा ! असुरराया ! समणस्स भगवओ महावीरस्स पभावेणं, नहि ते दाणिं ममाओ भयमत्थि' त्ति कट्टु जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए।

[३२] तदनन्तर देवेन्द्र देवराज शक्र ने वज्र को ले कर दाहिनी ओर से मेरी तीन बार प्रदक्षिणा की और मुझे वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके कहा—भगवन् ! आपका ही आश्रय लेकर स्वय असुरेन्द्र असुरराज चमर मुझे अपनी श्री से भ्रष्ट करने आया था। तब मैंने परिकुपित होकर उस असुरेन्द्र असुरराज चमर के वध के लिए वज्र फेंका था। इसके पश्चात् मुझे तत्काल इस प्रकार का आन्तरिक यावत् मनोगत विचार उत्पन्न हुआ कि असुरेन्द्र असुरराज चमर स्वय इतना समर्थ नही है कि अपने ही आश्रय से इतना ऊँचा-सौधर्मकल्प तक आ सके, इत्यादि पूर्वोक्त सब बाते शक्रेन्द्र ने कह सुनाई यावत् शक्रेन्द्र ने आगे कहा—भगवन् ! फिर मैंने अवधिज्ञान का प्रयोग किया। अवधिज्ञान के द्वारा आपको देखा। आपको देखते ही—'हा हा ! अरे रे ! मैं मारा

गया।' ये उद्गार मेरे मुख से निकल पड़े! फिर मैं उत्कृष्ट यावत् दिव्य देवगति से जहाँ आप देवानुप्रिय विराजमान हैं, वहाँ आया; और आप देवानुप्रिय से सिर्फ चार अगुल दूर रहे हुए वज्र को मैंने पकड़ लिया। (अन्यथा, घोर अनर्थ हो जाता!) मैं वज्र को वापस लेने के लिए ही यहाँ सुंसुमारपुर मे और इस उद्यान मे आया हूँ और अभी यहाँ हूँ। अत भगवन्! मैं (अपने अपराध के लिए) आप देवानुप्रिय से क्षमा मागता हूँ। आप देवानुप्रिय मुझे क्षमा करे। आप देवानुप्रिय क्षमा करने योग्य (क्षमाशील) हैं। मैं ऐसा (अपराध) पुन नही करूगा।' यो कह कर शक्रेन्द्र मुझे वन्दन-नमस्कार करके उत्तरपूर्वदिशाविभाग (ईशानकोण) मे चला गया। वहाँ जाकर शक्रेन्द्र ने अपने बायें पैर को तीन बार भूमि पर पछाडा (पटका)। यो करके फिर उसने असुरेन्द्र असुरराज चमर से इस प्रकार कहा—'हे असुरेन्द्र असुरराज चमर! आज तो तू श्रमण भगवान् महावीर के ही प्रभाव से बच (मुक्त हो) गया है, (जा) अब तुझे मुझ से (किंचित् भी) भय नही है, यो कह कर वह शक्रेन्द्र जिस दिशा से आया था, उसी दिशा मे वापस चला गया।

विवेचन—चमरेन्द्र द्वारा सौधर्म में उत्पात एवं भगवदाश्रय के कारण शक्रेन्द्रकृत वज्रपात से मुक्ति—प्रस्तुत आठ सूत्रो (सू २५ से ३२ तक) मे चमरेन्द्र द्वारा सौधर्मदेवलोक मे जा कर उपद्रव मचाने के विचार से लेकर, भगवान् की शरण स्वीकारने से शक्रेन्द्र द्वारा उस के वध के लिए किये गए वज्रपात से मुक्त होने तक का वृत्तान्त दिया गया है। इस वृत्तान्त का क्रम इस प्रकार है—

(१) पचपर्याप्तियुक्त होते ही चमरेन्द्र द्वारा अवधिज्ञान से सौधर्मदेवलोक के शक्रेन्द्र की ऋद्धि सम्पदा आदि देख कर जातिगत द्वेष एव ईर्ष्या के वश सामानिक देवो से पूछताछ।

(२) सामानिक देवो द्वारा करबद्ध हो कर देवेन्द्र शक्र का सामान्य परिचय प्रदान।

(३) चमरेन्द्र द्वारा कुपित एव उत्तेजित होकर स्वयमेव शक्रेन्द्र को शोभाभ्रष्ट करने का विचार।

(४) अवधिज्ञान से भगवान् का पता लगा कर परिघरत्न के साथ अकेले सुंसुमारपुर के अशोकवनखण्ड मे पहुँच कर वहाँ अशोकवृक्ष के नीचे विराजित भगवान् की शरण स्वीकार करके चमरेन्द्र ने उनके समक्ष शक्रेन्द्र को शोभाभ्रष्ट करने का दु सकल्प दोहराया।

(५) फिर उत्तरवैक्रिय से विकराल रूपवाला महाकाय शरीर बनाकर भयकर गर्जन-तर्जन, पादप्रहार आदि करते हुए सुधर्मासभा मे चमरेन्द्र का सकोप प्रवेश। वहाँ शक्रेन्द्र और उनके परिवार को धमकीभरे अनिष्ट एवं अशुभ वचन कहे।

(६) शक्रेन्द्र का चमरेन्द्र पर भयकर कोप, और उसे मारने के लिए शक्रेन्द्र द्वारा अग्नि-ज्वालातुल्य वज्र-निपेक्ष।

(७) भयकर जाज्वल्यमान वज्र को अपनी ओर आते देख भयभीत चमरेन्द्र द्वारा वज्र से रक्षा के लिए शीघ्रगति से आ कर भगवत् शरण-स्वीकार।

(८) शक्रेन्द्र द्वारा चमरेन्द्र के ऊर्ध्वगमनसामर्थ्य का विचार। भगवदाश्रय लेकर किये गए चमरेन्द्रकृत उत्पात के कारण अपने द्वारा उस पर छोड़े गए वज्र से होने वाले अनर्थ का विचार करके पश्चात्ताप सहित तीव्रगति से वज्र का अनुगमन। (भगवान्) से ४ अगुल दूर रहा, तभी वज्र को शक्रेन्द्र ने पकड़ लिया।

(९) शक्रेन्द्र द्वारा भगवान् के समक्ष अपना अपराध निवेदन, क्षमायाचना एवं चमरेन्द्र को भगवदाश्रय के कारण प्राप्त अभयदान। शक्रेन्द्र द्वारा स्वगन्तव्यप्रस्थान।[1]

शक्रेन्द्र के विभिन्न विशेषणों की व्याख्या—मघवं (मघवा) = बड़े-बड़े मेघो को वश में रखने वाला। **पागसासण** (पाकशासन) = पाक नाम बलवान् शत्रु पर शासन (दमन) करने वाला। **सयक्कउं** (शतक्रतु) = सौ क्रतुओ—अभिग्रहरूप सौ प्रतिमाओ अथवा श्रावक की पचमप्रतिमारूप सो प्रतिमाओ (क्रतुओ) का कार्तिक सेठ के भव मे धारण करने वाला। **सहस्सक्खं** (सहस्राक्ष) सौ नेत्रो वाला—इन्द्र के ५०० मत्री होते है, उनके १००० नेत्र इन्द्र के कार्य मे प्रयुक्त होते है, इस अपेक्षा से सहस्राक्ष कहते हैं। **वज्जपाणि** (वज्रपाणि) = इन्द्र के हाथ मे वज्र नामक विशिष्ट शस्त्र होता है, इसलिए वज्रपाणि। **पुरंदरं** (पुरन्दर) = असुरादि के पुरो—नगरो का विदारक = नाशक।[2]

कठिन शब्दों की व्याख्या—वीससाए = स्वाभाविक रूप से। **आभोइए** = उपयोग लगाकर देखा। **दुरंतपंतलक्खणे** = दुष्परिणाम वाले अमनोज्ञ लक्षणो वाला। **हीणपुण्णचाउद्दसे** = हीनपुण्या—अपूर्णा (टूटती-रिक्ता) चतुर्दशी का जन्मा हुआ। **अप्पुस्सुए** = उत्सुकता-चिन्ता से रहित-लापरवाह। **महाबोंदि** = महान् शरीर को। **अच्चासादेत्तए** = अत्यन्त आशातना = श्रीविहीन करने के लिए। **'पायदद्दरगं करेइ'**—भूमि पर पैर पछाडता है। **उच्छोलेति** = अगले भाग मे लात मारता है अथवा उछलता है। **पच्छोलेति** = पिछले भाग मे लात मारता है, या पछाड खाता है। **रयुग्घाय करेमाणे**—धूल को उछालता बरसाता हुआ। **वेहास** = आकाश को। **वियड्ढमाणे** = घुमाता हुआ। **विउब्भावेमाणे** = चमकाता हुआ। **परामुसइ** = स्पर्श किया—उठाया। **झत्ति वेगेण** = शीघ्रता से—झटपट, वेग से। **केसग्गे वीइत्था** = केशो के आगे का भाग हवा मे हिलने लगा।[3]

फेंके हुए पुद्गल को पकड़ने की देवशक्ति और गमन-सामर्थ्य में अन्तर

३३. भंते! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदति०, २ एवं वदासि—देवे णं भंते! महिड्ढीए महज्जुतीए जाव महाणुभागे पुव्वामेव पोग्गलं खिवित्ता पभू तमेव अणुपरियट्टित्ताणं गिण्हित्तए?

३३. [१] हंता, पभू।

[३३-१ प्र] 'हे भगवन्!' यो कह कर भगवान् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन—नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा (पूछा)—'भगवन्! महाऋद्धिसम्पन्न, महाद्युतियुक्त यावत् महाप्रभावशाली देव क्या पहले पुद्गल फेंक कर, फिर उसके पीछे जा कर उसे पकड लेने मे समर्थ है?'

[३३-१ उ] हाँ, गौतम! वह (ऐसा करने मे) समर्थ है।

---

१ वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) (प० बेचरदासजी) भा १, पृ. १४६ से १५०

२ भगवतीसूत्र अ वृत्ति. पत्रांक १७४

३. वही, पत्रांक १७४, १७५

[२] से केणट्ठेणं भंते ! जाव गिण्हित्तए ?

गोयमा ! पोग्गले णं खित्ते समाणे पुव्वामेव सिग्घगती भवित्ता ततो पच्छा मंदगती भवति, देवे णं महिड्ढीए पुव्विं पि य पच्छा वि सीहे सीहगती चेव, तुरिते तुरितगती चेव । से तेणट्ठेणं जाव पभू गेण्हित्तए ।

[३३-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से देव, पहले फेंके हुए पुद्गल को, उसका पीछा करके यावत् ग्रहण करने मे समर्थ है ?

[३३-२ उ] गौतम ! जब पुद्गल फेंका जाता है, तब पहले उसकी गति शीघ्र (तीव्र) होती है, पश्चात् उसकी गति मन्द हो जाती है, जबकि महर्द्धिक देव तो पहले भी और पीछे (बाद मे) भी शीघ्र और शीघ्रगति वाला तथा त्वरित और त्वरितगति वाला होता है । अत. इसी कारण से देव, फेंके हुए पुद्गल का पीछा करके यावत् उसे पकड सकता है ।

३४. जति णं भंते ! देवे महिड्ढीए जाव अणुपरियट्टित्ताणं गेण्हित्तए। कम्हा ण भंते ! सक्केणं देविंदेणं देवरण्णा चमरे असुरिंदे असुरराया नो संचाइए साहत्थि गेण्हित्तए ?

गोयमा ! असुरकुमाराणं देवाण अहेगतिविसए सीहे सीहे चेव, तुरिते तुरिते चेव । उड्ढंगतिविसए अप्पे अप्पे चेव, मंदे मंदे चेव । वेमाणियाण देवाणं उड्ढंगतिविसए सीहे सीहे चेव, तुरिते तुरिते चेव । अहेगतिविसए अप्पे अप्पे चेव, मंदे मंदे चेव ।

जावतियं खेत्त सक्के देविंदे देवराया उड्ढं उप्पति एक्केणं समएणं तं वज्जे दोहिं, जं वज्जे दोहिं त चमरे तीहि सव्वत्थोवे सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो उड्ढलोयकंडए, अहेलोयकंडए संखेज्जगुणे ।

जावतियं खेत्तं चमरे असुरिंदे असुरराया अहे ओवयति एक्केणं समएणं त सक्के दोहिं, जं सक्के दोहिं तं वज्जे तीहिं, सव्वत्थोवे चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो अहेलोयकंडए, उड्ढलोयकंडए संखेज्जगुणे ।

एवं खलु गोयमा ! सक्केणं देविंदेणं देवरण्णो चमरे असुरिंदे असुरराया नो संचाइए साहत्थि गेण्हित्तए ।

[३४-प्र] भगवन् ! महर्द्धिक देव यावत् पीछा करके फेंके हुए पुद्गल को पकडने मे समर्थ है, तो देवेन्द्र देवराज शक्र अपने हाथ से असुरेन्द्र असुरराज चमर को क्यो नही पकड सका ?

[३४-उ] गौतम ! असुरकुमार देवो का नीचे गमन का विषय (शक्ति-सामर्थ्य) शीघ्र-शीघ्र और त्वरित-त्वरित होता है, और उर्ध्वगमन विषय अल्प-अल्प तथा मन्द-मन्द होता है, जबकि वैमानिक देवो का ऊँचे जाने का विषय शीघ्र-शीघ्र तथा त्वरित-त्वरित होता है और नीचे जाने का विषय अल्प-अल्प तथा मन्द-मन्द होता है ।

एक समय में देवेन्द्र देवराज शक्र, जितना क्षेत्र (जितनी दूर) ऊपर जा सकता है, उतना क्षेत्र—उतनी दूर ऊपर जाने में वज्र को दो समय लगते हैं और उतना ही क्षेत्र ऊपर जाने में चमरेन्द्र

को तीन समय लगते हैं। (अर्थात्—) देवेन्द्र देवराज शक्र का ऊर्ध्व-लोककण्डक (ऊपर जाने मे लगने वाला कालमान) सबसे थोडा है, और अधोलोककण्डक उसकी अपेक्षा सख्येयगुणा है।

एक समय मे असुरेन्द्र असुरराज चमर जितना क्षेत्र नीचा जा सकता है, उतना ही क्षेत्र नीचा जाने मे शक्रेन्द्र को दो समय लगते है और उतना ही क्षेत्र नीचा जाने मे वज्र को तीन समय लगते हैं। (अर्थात्—) असुरेन्द्र असुरराज चमर का अधोलोककण्डक (नीचे गमन का कालमान) सबसे थोडा है और ऊर्ध्वलोककण्डक (ऊँचा जाने का कालमान) उससे सख्येयगुणा है।

इस कारण से हे गौतम! देवेन्द्र देवराज शक्र, अपने हाथ से असुरेन्द्र असुरराज चमर को पकडने मे समर्थ न हो सका।

विवेचन—फेंकी हुई वस्तु को पकड़ने की देवशक्ति और गमनसामर्थ्य मे अन्तर—प्रस्तुत दो सूत्रो (सू ३३-३४) मे क्रमश. दो तथ्यो का निरूपण किया गया है—(१) फेंके हुए पुद्गल को पकडने की शक्ति महर्द्धिकदेव मे है या नही? है तो कैसे है?, (२) यदि महर्द्धिक देवो मे प्रक्षिप्त पुद्गल को पकडने की शक्ति है तो शक्रेन्द्र चमरेन्द्र को क्यो नही पकड सका?

निष्कर्ष—(१) मनुष्य की शक्ति नही है कि पत्थर, गेंद आदि को फेंक कर उसका पीछा करके उसे गन्तव्य स्थल तक पहुचने से पहले ही पकड सके, किन्तु महर्द्धिक देवो मे यह शक्ति इसलिए है कि क्षिप्त पुद्गल की गति पहले तीव्र होती है, फिर मन्द हो जाती है, जबकि महर्द्धिक देवो मे पहले और बाद मे एक-सी तीव्रगति होती है। (२) असुरकुमार देवो की नीचे जाने मे तीव्र गति है, ऊपर जाने मे मन्द, जबकि वैमानिक देवो की नीचे जाने मे मन्दगति है, ऊपर जाने मे तीव्र, इस कारण से शक्रेन्द्र नीचे जाते हुए चमरेन्द्र को पकड नही सका।[1]

इन्द्रद्वय एवं वज्र की ऊर्ध्वादिगति का क्षेत्रफल की दृष्टि से अल्पबहुत्व

३५. सक्कस्स णं भंते! देविंदस्स देवरण्णो उड्ढं अहे तिरियं च गतिविसयस्स कतरे कतरेहिंतो अप्पे वा, बहुए वा, तुल्ले वा, विसेसाहिए वा?

गोयमा! सव्वत्थोवं खेत्तं सक्के देविंदे देवराया अहे ओवयइ एक्केण समएणं, तिरियं संखेज्जे भागे गच्छइ, उड्ढं संखेज्जे भागे गच्छइ।

[३५-प्र] हे भगवन्! देवेन्द्र देवराज शक्र का ऊर्ध्वगमन-विषय, अधोगमन विषय और तिर्यग्गमन विषय, इन तीनों मे कौन-सा विषय किन-किन से अल्प है, बहुत (अधिक) है और तुल्य (समान) है, अथवा विशेषाधिक है?

[३५-उ] गौतम! देवेन्द्र देवराज शक्र एक समय मे सबसे कम क्षेत्र नीचे जाता है, तिरछा उससे सख्येय भाग जाता है और ऊपर भी सख्येय भाग जाता है।

३६ चमरस्स णं भंते! असुरिंदस्स असुररण्णो उड्ढं अहे तिरियं च गतिविसयस्स कतरे कतरेहिंतो अप्पे वा, बहुए वा, तुल्ले वा, विसेसाहिए वा?

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति

गोयमा ! सव्वत्थोवं खेत्तं चमरे असुरिंदे असुरराया उड्ढं उप्पयति एक्केणं समएणं, तिरियं संखेज्जे भागे गच्छइ, अहे संखेज्जे भागे गच्छइ ।

[३६ प्र] भगवन् ! असुरेन्द्र असुरराज चमर के ऊर्ध्वगमन-विषय, अधोगमन-विषय और तिर्यग्गमनविषय में से कौन-सा विषय किन-किन से अल्प, बहुत (अधिक), तुल्य या विशेषाधिक है ?

[३६ उ] गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमर, एक समय में सबसे कम क्षेत्र ऊपर जाता है, तिरछा, उससे संख्येय भाग अधिक (क्षेत्र) और नीचे उससे भी संख्येय भाग अधिक जाता है ।

३७ वज्जं जहा सक्कस्स देविंदस्स तहेव, नवरं विसेसाहियं कायव्वं ।

[३७] वज्र-सम्बन्धी गमन का विषय (क्षेत्र), जैसे देवेन्द्र शक्र का कहा है, उसी तरह जानना चाहिए । परन्तु विशेषता यह है कि गति का विषय (क्षेत्र) विशेषाधिक कहना चाहिए ।

३८. सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो ओवयणकालस्स य उप्पयणकालस्स य कतरे कतरेहिंतो अप्पे वा, बहुए वा, तुल्ले वा, विसेसाहिए वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवे सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो उप्पयणकाले, ओवयणकाले संखेज्जगुणे ।

[३८ प्र] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज शक्र का नीचे जाने का (अवपतन-) काल और ऊपर जाने का (उत्पतन-) काल, इन दोनों कालों में कौन-सा काल, किस काल से अल्प है, बहुत है, तुल्य है अथवा विशेषाधिक है ?

[३८ उ] गौतम ! देवेन्द्र देवराज शक्र का ऊपर जाने का काल सबसे थोड़ा है, और नीचे जाने का काल उससे संख्येयगुणा अधिक है ।

३९. चमरस्स वि जहा सक्कस्स, णवरं सव्वत्थोवे ओवयणकाले, उप्पयणकाले संखेज्जगुणे ।

[३९] चमरेन्द्र का गमनविषयक कथन भी शक्रेन्द्र के समान ही जानना चाहिए, किन्तु इतनी विशेषता है कि चमरेन्द्र का नीचे जाने का काल सबसे थोड़ा है, ऊपर जाने का काल उससे संख्येयगुणा अधिक है ।

४०. वज्जस्स पुच्छा ।

गोयमा ! सव्वत्थोवे उप्पयणकाले, ओवयणकाले विसेसाहिए ।

[४०] वज्र (के गमन के विषय में) पृच्छा की (तो भगवान् ने कहा—) गौतम ! वज्र का ऊपर जाने का काल सबसे थोड़ा है, नीचे जाने का काल उससे विशेषाधिक है ।

४१. एयस्स णं भंते ! वज्जस्स, वज्जाहिवतिस्स, चमरस्स य असुरिंदस्स असुररण्णो ओवयणकालस्स य उप्पयणकालस्स य कयरे कयरेहिंतो अप्पे वा ४ ? गोयमा ! सक्कस्स य उप्पयणकाले चमरस्स य ओवयणकाले, एते णं बिण्णि वि तुल्ला सव्वत्थोवा । सक्कस्स य ओवयणकाले वज्जस्स य उप्पयणकाले, एस णं दोण्ह वि तुल्ले संखेज्जगुणे । चमरस्स य उप्पयणकाले वज्जस्स य ओवयणकाले, एस णं दोण्ण वि तुल्ले विसेसाहिए ।

[४१ प्र.] भगवन् ! यह वज्र, वज्राधिपति—इन्द्र, और असुरेन्द्र असुरराज चमर, इन सब का नीचे जाने का काल और ऊपर जाने का काल, इन दोनो कालो मे से कौन-सा काल किससे अल्प, बहुत (अधिक), तुल्य अथवा विशेषाधिक है ?

[४१ उ.] गौतम ! शक्रेन्द्र का ऊपर जाने का काल और चमरेन्द्र का नीचे जाने का काल, ये दोनो तुल्य हैं और सबसे कम हैं। शक्रेन्द्र का नीचे जाने का काल और वज्र का ऊपर जाने का काल, ये दोनो काल तुल्य है और (पूर्वोक्त काल से) सख्येयगुणा अधिक है। (इसी तरह) चमरेन्द्र का ऊपर जाने का काल और वज्र का नीचे जाने का काल, ये दोनो काल तुल्य है और (पूर्वोक्त काल से) विशेषाधिक है।

विवेचन—इन्द्रद्वय एवं वज्र की ऊर्ध्वादिगति का क्षेत्र-काल की दृष्टि से अल्प-बहुत्व—प्रस्तुत ७ सूत्रो (सू. ३५ से ४१ तक) मे से प्रथम तीन सूत्रो मे इन्द्रादि के ऊपर और नीचे गमन के क्षेत्र-विषयक अल्पत्व, बहुत्व, तुल्यत्व और विशेषाधिकत्व का, तथा इनसे आगे के तीन सूत्रो मे इन्द्रादि के ऊपर-नीचे गमन के कालविषयक अल्पत्व, बहुत्व, तुल्यत्व और विशेषाधिकत्व का पृथक्-पृथक् एव इन्द्रद्वय एव वज्र इन तीनो के नीचे और ऊपर जाने के कालो मे से एक काल से दूसरे के काल के विशेषाधिकत्व, अल्पत्व एव बहुत्व का सूक्ष्मता से निरूपण किया गया है।

संख्येय, तुल्य और विशेषाधिक का स्पष्टीकरण—शक्रेन्द्र के नीचे जाने का और ऊपर जाने का क्षेत्र-काल विषयक स्पष्टीकरण इस प्रकार है—शक्रेन्द्र जितना नीचा क्षेत्र दो समय मे जाता है, उतना ही ऊँचा क्षेत्र एक समय मे जाता है। अर्थात्—नीचे के क्षेत्र की अपेक्षा ऊपर का क्षेत्र दुगना ही चूर्णिकार ने स्पष्ट किया है कि शक्रेन्द्र एक समय मे नीचे एक योजन, तिरछा डेढ योजन और ऊपर दो योजन जाता है।

इसी प्रकार शक्रेन्द्र की ऊर्ध्वगति और चमरेन्द्र की अधोगति बराबर बतलाई गई है, उसका तात्पर्य यह है कि शक्रेन्द्र एक समय मे दो योजन ऊपर जाता है तो चमरेन्द्र भी एक समय मे दो योजन नीचे जाता है। किन्तु शक्रेन्द्र, चमरेन्द्र और वज्र के केवल ऊर्ध्वगति क्षेत्र-काल मे तारतम्य है, वह इस प्रकार समझना चाहिए—शक्रेन्द्र एक समय मे जितना क्षेत्र ऊपर जाता है उतना क्षेत्र ऊपर जाने मे वज्र को दो समय और चमरेन्द्र को तीन समय लगता है। अर्थात्—शक्रेन्द्र का जितना ऊर्ध्वगमन क्षेत्र है, उसका त्रिभाग जितना ऊर्ध्वगमन क्षेत्र चमरेन्द्र का है। इसीलिए नियत ऊर्ध्व-गमनक्षेत्र त्रिभाग न्यून तीन गाऊ बतलाया गया है।

वज्र की नीचे जाने मे गति मन्द होती है, तिरछे जाने मे शीघ्रतर और ऊपर जाने में शीघ्रतम होती है। इसलिए वज्र का अधोगमनक्षेत्र त्रिभागन्यून योजन, तिर्यग्गमन क्षेत्र विशेषाधिक दो भाग=त्रिभागसहित तीन गाऊ, और ऊर्ध्वगमनक्षेत्र विशेषाधिक दो भाग—तिर्यक्क्षेत्रकथित विशेषाधिक दो भाग—से कुछ विशेषाधिक होता है।

चमरेन्द्र एक समय मे जितना नीचे जाता है, उतना ही नीचा जाने मे शक्रेन्द्र को दो समय और वज्र को तीन समय लगते हैं। इस कथनानुसार शक्रेन्द्र के अधोगमन की अपेक्षा वज्र का अधोगमन त्रिभागन्यून है। शक्रेन्द्र का अधोगमन का समय और वज्र का ऊर्ध्वगमन का समय दोनो

समान कहे गये हैं, इसका अर्थ है—शक्रेन्द्र एक समय मे नीचे एक योजन जाता है, तथैव वज्र एक समय मे ऊपर एक योजन जाता है।[1]

वज्रभयमुक्त चिन्तित चमरेन्द्र द्वारा भगवत्सेवा में आकर कृतज्ञताप्रदर्शन, क्षमायाचन और नाट्यप्रदर्शन

४२. तए ण से चमरे असुरिंदे असुरराया वज्जभयविप्पमुक्के सक्केण देविंदेण देवरण्णा महया अवमाणेणं अवमाणिते समाणे चमरचंचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए चमरंसि सीहासणंसि ओहतमणसंकप्पे चितासोकसागरसंपविट्ठे करतलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवगते भूमिगतदिट्ठीए झियाति।

[४२] इसके पश्चात् वज्र-(प्रहार) के भय से विमुक्त बना हुआ, देवेन्द्र देवराज शक्र के द्वारा महान् अपमान से अपमानित हुआ, चिन्ता और शोक के समुद्र मे प्रविष्ट असुरेन्द्र असुरराज चमर, मानसिक सकल्प नष्ट हो जाने से मुख को हथेली पर रखे, दृष्टि को भूमि मे गडाए हुए आर्तध्यान करता हुआ, चमरचचा नामक राजधानी मे, सुधर्मासभा मे, चमर नामक सिंहासन पर (चिन्तितमुद्रा मे बैठा-बैठा) विचार करने लगा।

४३. तते णं तं चमरं असुरिंदं असुररायं सामाणियपरिसोववन्नया देवा ओहयमणसंकप्पं जाव झियायमाणं पासति, २ करतल जाव एव वयासि— किं णं देवाणुप्पिया! ओहयमणसंकप्पा जाव झियायंति? तए ण से चमरे असुरिंदे असुरराया ते सामाणियपरिसोववन्नए देवे एवं वयासी—'एवं खलु देवाणुप्पिया! मए समणं भगवं महावीरं नीसाए कट्टु सक्के देविंदे देवराया सयमेव अच्चासाविए। तए णं तेणं परिकुवितेणं समाणेणं ममं वहाए वज्जे निसिट्ठे। त भद्दं ण भवतु देवाणुप्पिया! समणस्स भगवओ महावीरस्स जस्सम्हि पभावेण अक्किट्ठे अव्वहिए अपरिताविए इहमागते, इह समोसढे, इह संपत्ते, इहेव अज्ज उवसपज्जित्ताणं विहरामि। तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया! समणं भगवं महावीरं वंदामो णमसामो जाव पज्जुवासामो' त्ति कट्टु चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीहिं जाव सव्विड्ढीए जाव जेणेव असोगवरपायवे जेणेव ममं अंतिए तेणेव उवागच्छइ, २ ममं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं जाव

---

१ (क) एगेण समएण उवयइ अहे ण जोयण, एगेणेम समएण तिरिय दिवड्ढ गच्छइ, उड्ढ दो जोयणाणि सक्को। —चूर्णिकार, भगवती अ वृत्ति, पृ १७८

(ख) भगवतीसूत्र अ वृत्ति पत्राक १७८-१७९

इन्द्रादि के गमन का यन्त्र—

गमनकर्ता	गमनकाल	ऊर्ध्व	तिर्यक्	अधः
शक्रेन्द्र	१ समय	८ कोश (दो योजन)	६ कोश = १॥ योजन	४ कोश (१ योजन)
चमरेन्द्र	१ समय	त्रिभागन्यून ३ कोश	त्रिभागन्यून ६ कोश = १॥ योजन	८ कोश (२ योजन)
वज्र	१ समय	४ कोश (१ योजन)	त्रिभागसहित ३ कोश	त्रिभागन्यून ४ कोश = १ योजन

नमंसित्ता एवं वयासि—'एवं खलु भंते ! मए तुब्भं नीसाए सक्के देविंदे देवराया सयमेव अच्चासाविए जाव तं भद्दं णं भवतु देवाणुप्पियाणं जस्स म्हि पभावेणं अकिट्ठे जाव विहरामि । त खामेमि णं देवाणुप्पिया !' जाव उत्तरपुरत्थिमं दिसीभागं अवक्कमइ, २ त्ता जाव बत्तीसइबद्धं नट्टविहिं उवदंसेइ, २ जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगते ।

[४३] उस समय नष्ट मानसिक सकल्प वाले यावत् आर्तध्यान करते हुए असुरेन्द्र असुरराज चमर को, सामानिक परिषद् मे उत्पन्न देवो ने देखा तो वे हाथ जोड कर यावत् इस प्रकार बोले—'हे देवानुप्रिय ! आज आपका मानसिक सकल्प नष्ट हो गया हो, (इस तरह) यावत् क्यो चिन्ता मे डूबे है ?' इस पर असुरेन्द्र असुरराज चमर ने, उन सामानिक परिषद् मे उत्पन्न देवो से इस प्रकार कहा—'हे देवानुप्रियो ! मैने स्वयमेव (अकेले ही) श्रमण भगवान् महावीर का आश्रय (निश्राय) लेकर, देवेन्द्र देवराज शक्र को उसकी शोभा से नष्टभ्रष्ट करने का मनोगत सकल्प किया था। (तदनुसार मैने सुधर्मा सभा मे जा कर उपद्रव किया था।) उससे अत्यन्त कुपित हो कर मुझे मारने के लिए शक्रेन्द्र ने मुझ पर वज्र फेका था। परन्तु देवानुप्रियो ! भला हो श्रमण भगवान् महावीर का, जिनके प्रभाव से मैं अक्लिष्ट (क्लेशरहित), अव्यथित (व्यथा—पीडा से रहित) तथा अपरितापित (परिताप-रहित) रहा, और असतप्त (सुखशान्ति से युक्त) हो कर यहाँ आ पाया हूँ, यहाँ समवसृत हुआ हूँ, यहाँ पहुँचा (सम्प्राप्त हुआ) हूँ और आज यहाँ मौजूद हूँ ।'

'अतः हे देवानुप्रियो ! हम सब चले और श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करे, यावत् उनकी पर्युपासना करे ।' (भगवान् महावीर स्वामी ने कहा—हे गौतम !) यो विचार करके वह चमरेन्द्र अपने चौसठ हजार सामानिक देवो के साथ, यावत् सर्व-ऋद्धि-पूर्वक यावत् उस श्रेष्ठ अशोक वृक्ष के नीचे, जहाँ मै था, वहाँ मेरे समीप आया। मेरे निकट आकर तीन वार दाहिनी ओर से मेरी प्रदक्षिणा की। यावत् वन्दना-नमस्कार करके इस प्रकार बोला—'हे भगवन् ! आपका आश्रय ले कर मै स्वयमेव (अकेला ही) देवेन्द्र देवराज शक्र को, उसकी शोभा से नष्टभ्रष्ट करने के लिए गया था, यावत् (पूर्वोक्त सारा वर्णन कहना) आप देवानुप्रिय का भला हो, कि जिनके प्रभाव से मै क्लेश-रहित होकर यावत् विचरण कर रहा हूँ। अत. हे देवानुप्रिय ! मै (इसके लिए) आपसे क्षमा मागता हूँ।' यावत् (यो कह कर वह) उत्तरपूर्वदिशाभाग (ईशानकोण) मे चला गया। फिर यावत् उसने बत्तीस-विधा से सम्बद्ध नाट्यविधि (नाटक की कला) दिखलाई। फिर वह जिस दिशा से आया था, उसी दिशा मे वापस लौट गया।

४४ एवं खलु गोयमा ! चमरेण असुरिंदेण असुररण्णा सा दिव्वा देविड्ढी लद्धा पत्ता जाव अभिसमन्नागया । ठिती सागरोवमं । महाविदेहे वासे सिज्झिहिति जाव अंतं काहिति ।

[४४] हे गौतम ! इस प्रकार से असुरेन्द्र असुरराज चमर को वह दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवद्युति एव दिव्य देवप्रभाव उपलब्ध हुआ है, प्राप्त हुआ है और अभिसमन्वागत हुआ है। चमरेन्द्र की स्थिति एक सागरोपम की है और वह वहाँ से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेकर सिद्ध होगा, यावत् समस्त दु खो का अन्त करेगा।

विवेचन—चिन्तित चमरेन्द्र द्वारा भगवान् की सेवा में आकर कृतज्ञता-प्रदर्शन, क्षमायाचन और नाट्यप्रदर्शन—प्रस्तुत सूत्रत्रय में शास्त्रकार ने चार तथ्यो का निरूपण किया है—

(१) वज्रभयमुक्त, किन्तु अपमानित हृतप्रभ चमरेन्द्र की चिन्तित दशा।

(२) चिन्ता का कारण पूछे जाने पर चमरेन्द्र द्वारा सामानिको को आपबीती कहना।

(३) भगवान् महावीर की सेवा मे सदलबल पहुँचकर चमरेन्द्र द्वारा कृतज्ञताप्रदर्शन, क्षमायाचन एव अन्त मे नाट्य-प्रदर्शन करके पुन गमन।

(४) चमरेन्द्र की दिव्यऋद्धि आदि से सम्बन्धित कथन का भगवान् द्वारा उपसहार, अन्त मे, मोक्षप्राप्तिरूप उज्ज्वल भविष्यकथन।[1]

असुरकुमारों के सौधर्मकल्प पर्यन्त गमन का कारणान्तर निरूपण

४५ किं पत्तियं णं भंते ! असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति जाव सोहम्मो कप्पो ?

गोयमा ! तेसि णं देवाण अहुणोववन्नगाण वा चरिमभवत्थाण वा इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जति—अहो ! णं अम्हेहिं दिव्वा देविड्ढी लद्धा पत्ता जाव अभिसमन्नागया। जारिसिया ण अम्हेहिं दिव्वा देविड्ढी जाव अभिसमन्नागया तारिसिया णं सक्केणं देविदेणं देवरण्णा दिव्वा देविड्ढी जाव अभिसमन्नागया, जारिसिया णं सक्केण देविदेणं देवरण्णा जाव अभिसमन्नागया तारिसिया णं अम्हेहिं वि जाव अभिसमन्नागया। त गच्छामो णं सक्कस्स देविदस्स देवरण्णो अंतियं पाउब्भवामो, पासामो ता सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो दिव्वं देविड्ढिं जाव अभिसमन्नागयं। पासतु ताव अम्ह वि सक्के देविदे देवराया दिव्वं देविड्ढिं जाव अभिसमण्णागयं, त जाणामो ताव सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो दिव्वं देविड्ढिं जाव अभिसमन्नागयं, जाणउ ताव अम्ह वि सक्के देविंदे देवराया दिव्वं देविड्ढिं जाव अभिसमण्णागयं। एवं खलु गोयमा ! असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति जाव सोहम्मो कप्पो।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ चमरो समत्तो ॥

॥ तइए सए : बिइओ उद्देसओ समत्तो ॥

[४५ प्र] भगवन् ! असुरकुमार देव यावत् सौधर्मकल्प तक ऊपर किस कारण से जाते है ?

[४५ उ] गौतम ! (देवलोक मे) अधुनोत्पन्न (तत्काल उत्पन्न) तथा चरमभवस्थ (च्यवन के लिए तैयार) उन देवों को इस प्रकार का, इस रूप का आध्यात्मिक (आन्तरिक अध्यवसाय) यावत् मनोगत सकल्प उत्पन्न होता है—अहो ! हमने दिव्य देवऋद्धि यावत् उपलब्ध की है, प्राप्त की है, अभिसमन्वागत की है। जैसी दिव्य देवऋद्धि हमने यावत् उपलब्ध की है, यावत् अभिसमन्वागत की है, वैसी ही दिव्य देव-ऋद्धि यावत् देवेन्द्र देवराज शक्र ने उपलब्ध की है यावत् अभिसमन्वागत की है, (इसी प्रकार) जैसी दिव्य देवऋद्धि यावत् देवेन्द्र देवराज शक्र ने उपलब्ध की है यावत्

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) (प बेचरदासजी) भा १, पृ १५३-१५४

अभिसमन्वागत की है, वैसी ही दिव्य देवऋद्धि यावत् हमने भी उपलब्ध यावत् अभिसमन्वागत की है। अतः हम जाएँ और देवेन्द्र देवराज शक्र के निकट (सम्मुख) प्रकट हो एव देवेन्द्र देवराज शक्र द्वारा प्राप्त यावत् अभिसमन्वागत उस दिव्य देवऋद्धि यावत् दिव्य देवप्रभाव को देखे; तथा हमारे द्वारा लब्ध, प्राप्त एव अभिसमन्वागत उस दिव्य देवऋद्धि यावत् दिव्य देवप्रभाव को देवेन्द्र देवराज शक्र देखे। देवेन्द्र देवराज शक्र द्वारा लब्ध यावत् अभिसमन्वागत दिव्य देवऋद्धि यावत् दिव्य देवप्रभाव को हम जाने, और हमारे द्वारा उपलब्ध यावत् अभिसमन्वागत उस दिव्य देवऋद्धि यावत् देवप्रभाव को देवेन्द्र देवराज शक्र जाने। हे गौतम! इस कारण (प्रयोजन) से असुरकुमार देव यावत् सौधर्मकल्प तक ऊपर जाते हैं।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है,' ऐसा कह कर यावत् गौतमस्वामी विचरण करने लगे।

चमरेन्द्र-सम्बन्धी वृत्तान्त पूर्ण हुआ।

विवेचन—असुरकुमार देवों के सौधर्मकल्पपर्यन्त गमन का प्रयोजन—प्रस्तुत सूत्र मे असुरकुमार देवो द्वारा ऊपर सौधर्म देवलोक तक जाने का कारण प्रस्तुत किया गया है। वे शक्रेन्द्र की देवऋद्धि आदि से चकित होकर उसकी देवऋद्धि आदि देखने-जानने और अपनी देवऋद्धि दिखाने-बताने हेतु सौधर्मकल्पपर्यन्त जाते है।

तब और अब के ऊर्ध्वगमन और गमनकर्त्ता में अन्तर—पूर्वप्रकरण मे असुरकुमार देवो के ऊर्ध्वगमन का कारण भव-प्रत्ययिक वैरानुबन्ध (जन्मजात शत्रुता) बताया गया था, जबकि इस प्रकरण में ऊर्ध्वगमन का कारण बताया गया है- शक्रेन्द्र की देवऋद्धि आदि को देखना-जानना तथा अपनी दिव्यऋद्धि आदि को दिखाना-बताना। इसके अतिरिक्त ऊर्ध्वगमनकर्त्ता भी यहाँ दो प्रकार के असुरकुमार देव बताये गए हैं—या तो वे अधुना (तत्काल) उत्पन्न होते हैं, या वे देवभव से च्यवन करने की तैयारी वाले होते है।[1]

।। तृतीयशतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ।।

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्रांक १८१

(ख) भगवतीसूत्र विवेचनयुक्त (प घेवरचन्दजी), भा २, पृ. ६५०

तइओ उद्देसओ : 'किरिया'

तृतीय उद्देशक : 'क्रिया'

क्रियाएँ : प्रकार और तत्सम्बन्धित चर्चा

१ तेणं कालेणं तेणं समएण रायगिहे नामं नगरे होत्था जाव परिसा पडिगया। तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव अंतेवासी मंडियपुत्ते णामं अणगारे पगतिभद्दए जाव पज्जुवासमाणे एवं वदासी—

[१] उस काल और उस समय मे 'राजगृह' नामक नगर था, यावत् परिषद् (धर्मकथा सुन) वापस चली गई।

उस काल और उस समय मे भगवान् के अन्तेवासी (शिष्य—भगवान् महावीर स्वामी के छठे गणधर) प्रकृति (स्वभाव) से भद्र मण्डितपुत्र नामक अनगार यावत् पर्युपासना करते हुए इस प्रकार बोले—

२ कति ण भते ! किरियाओ पण्णत्ताओ ?

मंडियपुत्ता ! पच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा— काइया अहिगरणिया पाओसिया परियावणिया पाणातिवातकिरिया।

[२ प्र] भगवन् ! क्रियाएँ कितनी कही गई है ?

[२ उ] हे मण्डितपुत्र ! क्रियाएँ पाच कही गई हैं। वे इस प्रकार है—कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी क्रिया।

३ काइया ण भते ! किरिया कतिविहा पण्णत्ता ?

मंडियपुत्ता ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—अणवरयकायकिरिया य दुप्पउत्तकायकिरिया य।

[३ प्र.] भगवन् ! कायिकी क्रिया कितने प्रकार की कही गई है ?

[३ उ.] मण्डितपुत्र ! कायिकी क्रिया दो प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार— अनुपरतकाय-क्रिया और दुष्प्रयुक्तकाय-क्रिया।

४. अधिगरणिया णं भंते ! किरिया कतिविहा पण्णत्ता ?

मंडियपुत्ता ! दुविहा पण्णत्ता, त जहा—संजोयणाहिगरणाकिरिया य निव्वत्तणाहिगरण-किरिया य।

[४ प्र] भगवन् ! आधिकरणिकी क्रिया कितने प्रकार की कही गई है ?

[४ उ] मण्डितपुत्र ! आधिकरणिकी क्रिया दो प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार— सयोजनाधिकरण-क्रिया और निर्वर्तनाधिकरण-क्रिया।

५. पादोसिया णं भंते ! किरिया कतिविहा पण्णत्ता ?

मंडियपुत्ता ! दुविहा पण्णत्ता, त जहा—जीवपादोसिया य अजीवपादोसिया य ।

[५ प्र] भगवन् ! प्राद्वेषिकी क्रिया कितने प्रकार की कही गई है ?

[५ उ] मण्डितपुत्र ! प्राद्वेषिकी क्रिया दो प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार—जीव-प्राद्वेषिकी क्रिया और अजीव-प्राद्वेषिकी क्रिया ।

६ पारितावणिया ण भंते ! किरिया कइविहा पण्णत्ता ?

मडियपुत्ता ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सहत्थपारितावणिगा य परहत्थपारितावणिगा य ।

[६ प्र] भगवन् ! पारितापनिकी क्रिया कितने प्रकार की कही गई है ?

[६ उ] मडितपुत्र ! पारितापनिकी क्रिया दो प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार—स्वहस्तपारितापनिकी और परहस्तपारितापनिकी ।

७ पाणातिवातकिरिया ण भंते ! ० पुच्छा ।

मडियपुत्ता ! दुविहा पण्णत्ता, त जहा—सहत्थपाणातिवातकिरिया य परहत्थपाणातिवातकिरिया य ।

[७ प्र] भगवन् ! प्राणातिपात-क्रिया कितने प्रकार की कही गई है ?

[७ उ] मण्डितपुत्र ! प्राणातिपात-क्रिया दो प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार—स्वहस्त-प्राणातिपात-क्रिया और परहस्त-प्राणातिपात-क्रिया ।

८. पुव्विं भंते ! किरिया पच्छा वेदणा ? पुव्विं वेदणा पच्छा किरिया ।

मडियपुत्ता ! पुव्विं किरिया, पच्छा वेदणा; णो पुव्विं वेदणा, पच्छा किरिया ।

[८ प्र.] भगवन् ! पहले क्रिया होती है, और पीछे वेदना होती है ? अथवा पहले वेदना होती है, पीछे क्रिया होती है ?

[८ उ] मण्डितपुत्र ! पहले क्रिया होती है, बाद मे वेदना होती है, परन्तु पहले वेदना हो और पीछे क्रिया हो, ऐसा नही होता ।

९ अत्थि णं भंते ! समणाणं निग्गंथाण किरिया कज्जइ ?

हंता, अत्थि ।

[९ प्र] भगवन् ! क्या श्रमण-निर्ग्रन्थो के (भी) क्रिया होती (लगती) है ?

[९ उ] हाँ, (मण्डितपुत्र ! उनके भी क्रिया) होती (लगती) है ।

१०. कहं णं भंते ! समणाण निग्गंथाणं किरिया कज्जइ ?

मंडियपुत्ता ! पमायपच्चया जोगनिमित्तं च, एवं खलु समणाणं निग्गंथाणं किरिया कज्जति ।

[१० प्र.] भगवन् श्रमण निर्ग्रन्थो के क्रिया कैसे (किस निमित्त से) हो (लग) जाती है ?

[१० उ] मण्डितपुत्र ! प्रमाद के कारण और योग (मन-वचन-काया के व्यापार=प्रवृत्ति) के निमित्त से (उनके क्रिया होती है) । इन्ही दो कारणो से श्रमण-निर्ग्रन्थो को क्रिया होती (लगती) है ।

विवेचन—क्रियाएँ प्रकार और तत्सम्बन्धित चर्चा—प्रस्तुत १० सूत्रो (१ से १० सूत्र तक)में भगवान् और मडितपुत्र गणधर के बीच हुआ क्रिया-विषयक सवाद प्रस्तुत किया गया ह । इसमे क्रमश निम्नोक्त तथ्यो का निरूपण किया गया है—

(१) क्रियाएँ मूलत पाच हैं ।

(२) पाचो क्रियाओ के प्रत्येक के अवान्तर भेद दो-दो हैं ।

(३) पहले क्रिया होती है और तत्पश्चात् वेदना; यह जैनसिद्धात है ।

(४) श्रमणनिर्ग्रन्थो के भी क्रिया होती है और वह दो कारणो से होती है—प्रमाद से और योग के निमित्त से ।

क्रिया—क्रिया के सम्बन्ध मे भगवती, प्रज्ञापना, और स्थानाग आदि कई शास्त्रों मे यत्र-तत्र प्रचुर चर्चाएँ है । भगवतीसूत्र के प्रथमशतक मे भी दो जगह इसके सम्बन्ध मे विविध पहलुओ से चर्चा की गई है और वहाँ प्रज्ञापनासूत्र का अतिदेश भी किया गया है[1], तथापि यहाँ क्रियासम्बन्धी मौलिक चर्चाएँ हैं । क्रिया का अर्थ जैनदृष्टि से केवल करना ही नही है, अपितु उसका अर्थ है—कर्मबन्ध होने मे कारणरूप चेष्टा, फिर वह चेष्टा चाहे कायिक हो, वाचिक हो या मानसिक हो, जब तक जीव क्रियारहित नही हो जाता, तब तक कुछ न कुछ[2] कर्मबन्धनकारिणी है ही ।

पांच क्रियाओ का अर्थ—कायिकी=काया मे या काया से होने वाली । **आधिकरणिकी**= जिससे आत्मा नरकादिदुर्गतियो मे जाने का अधिकार बनता है, ऐसा कोई अनुष्ठान-कार्य अथवा तलवार, चक्रादि शस्त्र वगैरह अधिकरण कहलाता है । ऐसे अधिकरण मे या अधिकरण से होने वाली क्रिया । **प्राद्वेषिकी**—प्रद्वेष (या मत्सर) मे या प्रद्वेष के निमित्त से हुई अथवा प्रद्वेषरूप क्रिया । **पारितापनिकी**—परिताप—पीडा पहुचाने से होने वालो क्रिया । **प्राणातिपातिकी**=प्राणियो के प्राणो के अतिपात (वियोग या नाश) से हुई क्रिया ।[3]

क्रियाओ के प्रकार को व्याख्या—अनुपरतकायक्रिया—प्राणातिपात आदि से सर्वथा अविरत—त्यागवृत्तिरहित प्राणी की शारीरिकक्रिया । यह क्रिया अविरत जीवो को लगती है । **दुष्प्रयुक्तकाय-क्रिया**—दुष्टरूप (बुरी तरह) से प्रयुक्त शरीर द्वारा अथवा दुष्टप्रयोग वाले मनुष्यशरीर द्वारा हुई क्रिया ।

---

१ (क) इसी से मिलता जुलता पाठ—प्रज्ञापनासूत्र २२ एव ३१वें क्रियापद मे देखिये ।

— प्रज्ञापना म वृत्ति आगमोदय०, पृ. ४३५-४५३

(ख) भगवतीसूत्र शतक १, उद्देशक ८

(ग) स्थानागसूत्र, स्थान ३

२ भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्राक १८१

३ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १८१

यह क्रिया प्रमत्त सयत को भी प्रमादवश शरीर दुष्प्रयुक्त होने से लगती है। **संयोजनाधिकरणक्रिया**= सयोजन का अर्थ है—जोडना। जैसे--पक्षियो और मृगादि पशुओ को पकडने के लिए पृथक्-पृथक् अवयवो को जोडकर एक यन्त्र तैयार करना, अथवा किसी भी पदार्थ मे विष मिलाकर एक मिश्रित पदार्थ तैयार करना सयोजन है। ऐसी सयोजनरूप अधिकरणक्रिया। **निर्वर्तनाधिकरणक्रिया**=तलवार, **बर्छी,** भाला आदि शस्त्रो का निर्माण निर्वर्तन है। ऐसी निर्वर्तनरूप अधिकरणक्रिया। **जीवप्राद्वेषिकी**—अपने या दूसरे के जीव पर द्वेष करना या द्वेष करने से लगने वाली क्रिया। **अजीव प्राद्वेषिकी**—अजीव (चेतनारहित) पदार्थ पर द्वेष करना अथवा द्वेष करने से होने वाली क्रिया। **स्वहस्तपारितापनिकी**= अपने हाथ से अपने को, दूसरे को अथवा दोनो को परिताप देना—पीड़ा पहुँचाना। **परहस्तपारितापनिकी**—दूसरे को प्रेरणा देकर या दूसरे के निमित्त से परिताप—पीडा पहुचाना। **स्वहस्तप्राणातिपातिकी**—अपने हाथ से—स्वय अपने प्राणो का, दूसरे के प्राणो का अथवा दोनो के प्राणो का अतिपात—विनाश करना। **परहस्तप्राणातिपातिकी**=दूसरे के द्वारा या दूसरे के प्राणो का अथवा दोनो के प्राणो का अतिपात करना।[1]

क्रिया और वेदना मे क्रिया प्रथम क्यो?—क्रिया कर्म की जननी है, क्योंकि कर्म क्रिया से ही बद्ध होते है, अथवा जन्य और जनक मे अभेद की कल्पना करने से क्रिया से ही कर्म है, या जो की जाती है, वह क्रिया—एक प्रकार का कर्म ही है। तथा वेदना का अर्थ होता है—कर्म का अनुभव करना। पहले कर्म होगा, तभी उसकी वेदना—अनुभव (कर्मफल भोग) होगा। अत· वेदन कर्म (क्रिया) पूर्वक होने से न्यायत क्रिया ही पहले होती है, वेदना उसके बाद।[2]

श्रमणनिर्ग्रन्थ की क्रिया : प्रमाद और योग से—सर्वथा विरत श्रमणो को भी प्रमाद और योग के निमित्त से क्रिया लगती है, इसका तात्पर्य यह है कि श्रमण जब उपयोगरहित (यतनारहित अथवा दूसरे शब्दो मे, मद, विषयासक्ति, कषाय, निद्रा, विकथा आदि के वश) हो कर गमनादि क्रिया करता है, तब वह क्रिया प्रमादजन्य कहलाती है। तथा जब कोई श्रमण उपयोगयुक्त हो कर गमनादि क्रिया मन-वचन-काय (योग) से करता है तब वह ऐर्यापथिकी क्रिया योगजन्य कहलाती है।[3]

सक्रिय-अक्रिय जीवों की अन्तक्रिया के नास्तित्व-अस्तित्व का दृष्टान्तपूर्वक निरूपण

११. जीवे णं भंते! सया समियं एयति वेयति चलति फंदइ घट्टइ खुब्भइ उदीरति त तं भाव परिणमति?

हंता, मंडियपुत्ता! जीवे णं सया समितं एयति जाव त तं भावं परिणमति।

[११ प्र] भगवन्! क्या जीव सदा समित (मर्यादित) रूप मे कापता है, विविध रूप मे कांपता है, चलता है(एक स्थान से दूसरे स्थान जाता है), स्पन्दन क्रिया करता (थोडा या धीमा चलता) है, घट्टित होता (सर्व दिशाओ मे जाता—घूमता) है, क्षुब्ध (चचल) होता है, उदीरित (प्रबलरूप से प्रेरित) होता या करता है, और उन-उन भावो मे परिणत होता है?

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति पत्राक १८१-१८२

२ वही अ वृत्ति, पत्राक १८२

३ (क) भगवतीसूत्र, अ. वृत्ति, पत्राक १८२

(ख) भगवतीसूत्र० विवेचन (प० घेवरचन्दजी) भा २, पृ ६५६

[११ उ] हाँ, मण्डितपुत्र ! जीव सदा समित--(परिमित) रूप से कापता है, यावत् उन-उन भावो मे परिणत होता है ।

१२ [१] जावं च णं भंते ! से जीवे सया समितं जाव परिणमति तावं च णं तस्स जीवस्स अंते अंतकिरिया भवति ?

णो इणट्ठे समट्ठे ।

[२] से केणट्ठेण भंते ! एवं वुच्चइ—जावं च णं से जीवे सदा समित जाव अते अंतकिरिया न भवति ?

मंडियपुत्ता ! जाव च णं से जीवे सया समितं जाव परिणमति तावं च णं से जीवे आरभति सारभति समारभति, आरंभे वट्टति, सारंभे वट्टति, समारंभे वट्टति, आरभमाणे सारभमाणे समारभमाणे, आरंभे वट्टमाणे, सारंभे वट्टमाणे, समारंभे वट्टमाणे बहूणं पाणाण भूताणं जीवाणं सत्ताण दुक्खावणताए सोयावणताए जूरावणताए तिप्पावणताए पिट्टावणताए परितावणताए[1] वट्टति, से तेणट्ठेणं मंडियपुत्ता ! एवं वुच्चति --जावं च ण से जीवे सया समित एयति जाव परिणमति तावं च णं तस्स जीवस्स अंते अंतकिरिया न भवति ।

[१२-१ प्र] भगवन् ! जब तक जीव समित—परिमत रूप से कापता है, यावत् उन-उन भावो मे परिणत (परिवर्तित) होता है, तब तक क्या उस जीव की अन्तिम-(मरण) समय मे अन्तक्रिया (मुक्ति) होती है ?

[१२-१ उ] मण्डितपुत्र ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नही है, (क्योकि जीव जब तक क्रियायुक्त है, तब तक अन्तक्रिया (क्रिया का अन्तरूप मुक्ति नही हो सकती ।)

[१२-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि जब तक जीव समितरूप से सदा कापता है, यावत् उन-उन भावो मे परिणत होता है, तब तक उसकी अन्तिम समय मे अन्तक्रिया नही होती ?

[१२-२ उ] हे मण्डितपुत्र ! जीव जब तक सदा समित रूप से कापता है, यावत् उन-उन भावो मे परिणत होता है, तब तक वह (जीव) आरम्भ करता है, सरम्भ मे रहता है, समारम्भ करता है, आरम्भ मे रहता (वर्तता) है, सरम्भ मे रहता (वर्तता) है, और समारम्भ मे रहता (वर्तता) है । आरम्भ, सरम्भ और समारम्भ करता हुआ तथा आरम्भ मे, सरम्भ मे, और समारम्भ मे प्रवर्त्तमान जीव, बहुत-से प्राणो, भूतो, जीवो और सत्वो को दु ख पहुँचाने मे, शोक कराने मे, झूराने (विलाप कराने मे, रुलाने अथवा आंसू गिरवाने मे, पिटवाने मे, (थकाने-हैरान करने मे, डराने-धमकाने या त्रास पहुँचाने में) और परिताप (पीडा) देने (सतप्त करने) मे प्रवृत्त होता (निमित्त बनता) है । इसलिए हे मण्डितपुत्र ! इसी कारण से ऐसा कहा जाता है कि जब तक जीव सदा

१ यहाँ '**किलामणयाए उद्दवणयाए**' इस प्रकार का अधिक पाठ मिलता है । इनका अर्थ मूलार्थ में कोष्ठक मे दे दिया है ।—स०

समितरूप से कम्पित होता है, यावत् उन-उन भावो मे परिणत होता है, तब तक वह जीव, अन्तिम समय (मरणकाल) मे अन्तक्रिया नही कर सकता ।

१३. जीवे ण भंते ! सया समियं नो एयति जाव नो तं तं भाव परिणमति ?

हता, मडियपुत्ता ! जीवे ण सया समिय जाव नो परिणमति ।

[१३ प्र.] भगवन् ! जीव सदैव (शाश्वतरूप से) समितरूप से ही कम्पित नही होता, यावत् उन-उन भावो मे परिणत नही होता ?

[१३ उ] हाँ, मण्डितपुत्र ! जीव सदा के लिए समितरूप से ही कम्पित नही होता, यावत् उन-उन भावो मे परिणत नही होता । (अर्थात्—जीव एकदिन क्रियारहित हो सकता है ।)

१४. [१] जावं च णं भंते ! से जीवे नो एयति जाव नो तं तं भाव परिणमति ताव च ण तस्स जीवस्स अते अंतकिरिया भवति ?

हता, जाव भवति ।

[१४-१ प्र] भगवन् ! जब वह जीव सदा के लिए समितरूप से कम्पित नही होता, यावत् उन-उन भावो मे परिणत नही होता; तब क्या उस जीव की अन्तिम समय मे अन्तक्रिया (मुक्ति) नही हो जाती ?

[१४-१ उ] हाँ, (मण्डितपुत्र !) ऐसे यावत् जीव की अन्तिम समय मे अन्तक्रिया (मुक्ति)हो जाती है ।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! जाव भवति ?

मडियपुत्ता ! जाव च ण से जीवे सया समिय णो एयति जाव णो परिणमइ ताव च ण से जीवे नो आरभति, नो सारभति, नो समारभति, नो आरभे वट्टइ, णो सारंभे वट्टइ, णो समारभे वट्टइ, अणारभमाणे असारभमाणे असमारभमाणे, आरंभे अवट्टमाणे, सारभे अवट्टमाणे, समारभे अवट्टमाणे बहूणं पाणाण ४ अदुक्खावणयाए जाव अपरियावणयाए वट्टइ ।

[१४-२ प्र] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा है कि ऐसे जीव की यावत् अन्तक्रिया—मुक्ति हो जाती है ?

[१४-२ उ] मण्डितपुत्र ! जब वह जीव सदा (के लिए) समितरूप से (भी) कम्पित नही होता, यावत् उन-उन भावो मे परिणत नही होता, तब वह जीव आरम्भ नही करता, सरम्भ नही करता एव समारम्भ भी नही करता, और न ही वह जीव आरम्भ मे, सरम्भ एव समारम्भ में प्रवृत्त होता है । आरम्भ, सरम्भ और समारम्भ नही करता हुआ तथा आरम्भ, सरम्भ और समारम्भ मे प्रवृत्त न होता हुआ जीव, बहुत-से प्राणो, भूतो, जीवो और सत्त्वो को दुःख पहुँचाने मे यावत् परिताप उत्पन्न करने मे प्रवृत्त (या निमित्त) नही होता ।

[३] से जहानामए केइ पुरिसे सुक्कं तणहत्थयं जाततेयंसि पक्खिवेज्जा, से नूणं मंडियपुत्ता ! से सुक्के तणहत्थए जायतेयंसि पक्खित्ते समाणे खिप्पामेव मसमसाविज्जइ ? हंता, मसमसाविज्जइ।

[१४-३] (**भगवान्—**) जैसे, (कल्पना करो,) कोई पुरुष सूखे घास के पूले (तृण के मुट्ठे) को अग्नि मे डाले तो क्या मण्डितपुत्र ! वह सूखे घास का पूला अग्नि मे डालते ही शीघ्र जल जाता है ? (**मण्डितपुत्र—**) हाँ, भगवन् ! वह शीघ्र ही जल जाता है।

[४] से जहानामए केइ पुरिसे तत्तंसि अयकवल्लंसि उदयबिंदु पक्खिवेज्जा, से नूणं मंडियपुत्ता ! से उदयबिंदू तत्तंसि अयकवल्लंसि पक्खित्ते समाणे खिप्पामेव विद्धंसमागच्छइ ? हंता, विद्धंसमागच्छइ।

[१४-४] (**भगवान्—**) (कल्पना करो) जैसे कोई पुरुष तपे हुए लोहे के कड़ाह पर पानी की बूंद डाले तो क्या मण्डितपुत्र ! तपे हुए लोहे के कडाह पर डाली हुई वह जलबिन्दु अवश्य ही शीघ्र नष्ट हो जाती है ? (**मण्डितपुत्र—**) हाँ, भगवन् ! वह जलबिन्दु शीघ्र नष्ट हो जाती है।

[५] से जहानामए हरए सिया पुण्णे पुण्णप्पमाणे वोलट्टमाणे वोसट्टमाणे समभरघडत्ताए चिट्ठति ? हंता चिट्ठति। अहे णं केइ पुरिसे तंसि हरयंसि एगं महं नावं सतासवं सयच्छिद्दं ओगाहेज्जा, से नूणं मंडियपुत्ता ! सा नावा तेहिं आसवद्दारेहिं आपूरेमाणी २ पुण्णा पुण्णप्पमाणा वोलट्टमाणा वोसट्टमाणा समभरघडत्ताए चिट्ठति ? हंता, चिट्ठति ? अहे णं केइ पुरिसे तीसे नावाए सव्वतो समंता आसवद्दाराइं पिहेइ, २ नावाउस्सिचणएणं उदयं उस्सिंचिज्जा, से नूणं मंडियपुत्ता ! सा नावा तंसि उदयंसि उस्सित्तंसि समाणंसि खिप्पामेव उड्ढं उद्दाति ? हंता, उद्दाति। एवामेव मंडियपुत्ता ! अत्तत्तासंवुडस्स अणगारस्स इरियासमियस्स जाव गुत्तबंभयारिस्स, आउत्तं गच्छमाणस्स चिट्ठमाणस्स निसीयमाणस्स तुयट्टमाणस्स, आउत्तं वत्थ-पडिग्गह-कंबल-पादपुंछणं गेण्हमाणस्स, निक्खिवमाणस्स जाव चक्खुपम्हनिवायमवि वेमाया[1] सुहुमा इरियावहिया किरिया कज्जइ। सा पढमसमयबद्धपुट्ठा बितियसमयवेतिता ततियसमयनिज्जरिया, सा बद्धा पुट्ठा उदीरिया वेदिया निज्जिण्णा सेयकाले अकम्मं चावि भवति। से तेणट्ठेणं मंडियपुत्ता ! एवं वुच्चति- जावं च णं से जीवे सया समितं नो एयति जाव अंते अंतकिरिया भवति।

[१४-५] (**भगवान्—**) (मान लो,) 'कोई एक सरोवर है, जो जल से पूर्ण हो, पूर्णमात्रा मे पानी से भरा हो, पानी से लबालब भरा हो, बढते हुए पानी के कारण उसमे से पानी छलक रहा हो, पानी से भरे हुए घडे के समान क्या उसमे पानी व्याप्त हो कर रहता है ?'

(**मण्डितपुत्र—**) हाँ, भगवन् ! उसमे पानी व्याप्त हो कर रहता है।

(**भगवान्—**) अब उस सरोवर में कोई पुरुष, सैकडो छोटे छिद्रो वाली तथा सैकडो बड़े छिद्रो वाली एक बडी नौका को उतार दे, तो क्या मण्डितपुत्र ! वह नौका उन छिद्रो (पानी आने के

१. **पाठान्तर**—वेमाया के स्थान मे कही **'सयेहाए'** पाठ है। जिसका अर्थ है—स्वेच्छा से।

द्वारों) द्वारा पानी से भरती-भरती जल से परिपूर्ण हो जाती है ? पूर्णमात्रा में उसमे पानी भर जाता है ? पानी से वह लबालब भर जाती है ? उसमें पानी बढने से छलकने लगता है ? (और अन्त में) वह (नौका) पानी से भरे घडे की तरह सर्वत्र पानी से व्याप्त हो कर रहती है ?

(मण्डितपुत्र—) हाँ, भगवन् ! वह पूर्वोक्त प्रकार से जल से व्याप्त होकर रहती है। यदि कोई पुरुष उस नौका के समस्त छिद्रो को चारो ओर से बन्द कर (ढक) दे, और वैसा करके नौका की उलीचनी (पानी उलीचने के उपकरणविशेष) से पानी को उलीच दे (जल के उदय—ऊपर उठने को रोक दे,) तो हे मण्डितपुत्र ! नौका के पानी को उलीच कर खाली करते ही क्या वह शीघ्र ही पानी के ऊपर आ जाती है ?

(मण्डितपुत्र—) हाँ भगवन् ! (वैसा करने से, वह तुरन्त) पानी के ऊपर आ जाती है।

(भगवान्—) हाँ मण्डितपुत्र ! इसी तरह अपनी आत्मा द्वारा आत्मा मे सवृत हुए, ईर्या-समिति आदि पाच समितियो से समित तथा मनोगुप्ति आदि तीन गुप्तियो से गुप्त, ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियो से गुप्त (सुरक्षित), उपयोगपूर्वक गमन करने वाले, ठहरने वाले, बैठने वाले, करवट बदलने वाले तथा वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोञ्छन रजोहरण (आदि धर्मोपकरणो को सावधानी (उपयोग) के साथ उठाने और रखने वाले अनगार को भी अक्षिनिमेष-(आँख की पलक झपकाने) मात्र समय मे विमात्रापूर्वक सूक्ष्म ईर्यापथिकी क्रिया लगती है। वह (क्रिया) प्रथम समय मे बद्ध-स्पष्ट द्वितीय समय मे वेदित और तृतीय समय मे निर्जीर्ण (क्षीण) हो जाती है। (अर्थात्-) वह बद्ध-स्पृष्ट, उदीरित, वेदित और निर्जीर्ण क्रिया भविष्यत्काल मे अकर्मरूप भी हो जाती है। इसी कारण से, हे मण्डितपुत्र ! ऐसा कहा जाता है कि जब वह जीव सदा (के लिए) समितरूप से भी कम्पित नही होता, यावत् उन-उन भावो मे परिणत नही होता, तब अन्तिम समय मे (जीवन के अन्त मे) उसकी अन्तक्रिया (मुक्ति) हो जाती है।

विवेचन—सक्रिय-अक्रिय जीवो की अन्तक्रिया के नास्तित्व-अस्तित्व का दृष्टान्तपूर्वक निरूपण--प्रस्तुत चार सूत्रो (सू ११ से १४ तक) मे प्रतिपादित किया गया है, कि जब तक जीव मे किसी न किसी प्रकार की सूक्ष्म या स्थूल क्रिया है, तब तक उसकी अन्तक्रिया नही हो सकती। सूक्ष्म-क्रिया से भी रहित होने पर जीव की अन्तिम समय मे अन्तक्रिया (मुक्ति) होती है। अन्तक्रिया के सम्बन्ध मे शास्त्रकार ने क्रमश निम्नोक्त तथ्यो का प्ररूपण किया है—(१) जब तक जीव कम्पन, चलन, स्पन्दन, भ्रमण, क्षोभन, उदीरण आदि विविध क्रियाएँ करता है, तब तक उस जीव को अन्त-क्रिया नही हो सकती, क्योकि इन क्रियाओ के कारण जीव आरम्भ, सरम्भ, समारम्भ मे प्रवर्तमान होकर नाना जीवो को दुख पहुँचाता एव पीडित करता है। अत क्रिया से कर्मबन्ध होते रहने के कारण वह अकर्मरूप (क्रियारहित) नही हो सकता।

(२) जीव सदा के लिए क्रिया न करे, ऐसी स्थिति आ सकती है, और जब ऐसी स्थिति आती है, तब वह सर्वथा क्रियारहित होकर अन्तक्रिया (मुक्ति) प्राप्त कर सकता है।

(३) जब क्रिया नही होगी तब क्रियाजनित आरभादि नही होगा, और न ही उसके फल-स्वरूप कर्मबन्ध होगा, ऐसी अकर्मस्थिति मे अन्तक्रिया होगी ही।

(४) इसे स्पष्टता से समझाने के लिए दो दृष्टान्त दिये गये है—(१) सूखे घास के पूले को अग्नि मे डालते ही वह जल कर भस्म हो जाता है (२) तपे हुए लोहे के कड़ाह पर डाली गई जल की बूद

तुरन्त सूख कर नष्ट हो जाती है, इसी प्रकार कम्पनादिक्रियारहित मनुष्य के कर्मरूप ईन्धन शुक्ल-ध्यान के चतुर्थभेदरूप अग्नि मे जल कर भस्म हो जाते हैं, सूखकर नष्ट हो जाते हैं।

(५) **तीसरा दृष्टान्त**—जैसे सैकडो छिद्रो वाली नौका छिद्रो द्वारा पानी से लबालब भर जाती है, किन्तु कोई व्यक्ति नौका के समस्त छिद्रो को बन्द करके नौका मे भरे हुए सारे पानी को उलीच कर बाहर निकाल दे तो वह नौका तुरन्त पानी के ऊपर आ जाती है, इसी प्रकार आश्रवरूप छिद्रो द्वारा कर्मरूपी पानी से भरी हुई जीवरूपी नौका को, कोई आत्म-सवृत एव उपयोग-पूर्वक समस्त क्रिया करने वाला अनगार आश्रवद्वारो (छिद्रों) को बन्द कर देता है और निर्जरा द्वारा सचित कर्मों को रिक्त कर देता है, ऐसी स्थिति मे केवल ऐर्यापथिकी क्रिया उसे लगती है, वह भी प्रथम समय मे बद्ध-स्पृष्ट होती है, द्वितीय समय मे उदीरित एव वेदित हो जाती है और तृतीय समय मे वह जीव-प्रदेशो से पृथक् होकर निर्जीर्ण हो जाती है। इस प्रकार की अक्रिय—आश्रवरहित अकर्म-रूप स्थिति मे जीवरूपी नौका ऊपर आकर तैरती है। वह क्रियारहित व्यक्ति ससारसमुद्र से तिर कर अन्तक्रियारूप मुक्ति पा लेता है।[1]

विविध क्रियाओं का अर्थ—एयति—कम्पित होता है। **वेयति**=विविध प्रकार से कापता है। **चलति**=स्थानान्तर करता है, गमनागमन करता है। **फंदइ**=थोडी-सी, धीमी-सी हल-चल करता है। **घट्टइ**=सब दिशाओ मे चलता है। **खुब्भइ**=क्षुब्ध—चचल होता है या पृथ्वी को क्षुब्ध कर देता है अथवा दूसरे पदार्थ को स्पर्श करता है, डरता है। **उदीरति**=प्रबलता से प्रेरित करता है, दूसरे पदार्थों को हिलाता है। तं त भाव **परिणमति**=उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण आदि उस-उस भाव=क्रिया-पर्याय (परिणाम) को प्राप्त होता है। एजन (कम्पन) आदि क्रियाएँ क्रमपूर्वक और सामान्य रूप से सदैव होती है।

आरम्भ, संरम्भ और समारम्भ—क्रम यो है—**संरम्भ**=पृथ्वीकायादि जीवो की हिंसा करने का सकल्प करना, **समारम्भ**=उन्हे परिताप-सताप देना, तथा **आरम्भ**=उन जीवो की हिंसा करना।

'दुक्खावणताए' आदि पदो की व्याख्या—**दुक्खावणयाए**=मरणरूप या इष्टवियोगादिरूप दु ख पहुँचाने मे। **सोयावणताए**=शोक, चिन्ता या दैन्य मे डाल देने मे। **जूरावणताए**=झूराने, अत्यन्त शोक के बढ जाने से शरीर को जीर्णता-क्षीणता मे पहुँचा देने मे। **तिप्पावणताए**=रुलाने या आँसू गिरवाने मे। **पिट्टावणताए**=पिटवाने मे। **अंतकिरिया**=समस्त कर्मध्वंसरूप स्थिति, मुक्ति। **तणहत्थयं**=घास का पूला। **मसमसाविज्जइ**=जल जाता है। **जायतेयंसि**=अग्नि मे। **तत्तंसि अयकवल्लंसि**=तपे हुए लोहे के कडाह मे। **वोलट्टमाणा**=लबालब भरी हो। **वोसट्टमाणा**=पानी छलक रहा हो। **उड्ढं उद्दाति**=ऊपर आ जाती है। **अत्तत्तासंवुडस्स**=आत्मा द्वारा आत्मा मे सवृत हुए।

आउत्तं=उपयोगयुक्त। **तुयट्टमाणस्स**=करवट बदलते हुए। **वेमाया**=विमात्रा से—थोडी-सी मात्रा से भी। **सपेहाय**=स्वेच्छा से। **सुहुमा**=सूक्ष्मबन्धादिरूप काल वाली। **ईरियावहिया**=केवल योगो से जनित ईर्यापथिकी क्रिया। उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगिकेवली गुणस्थानवर्ती

---

१. (क) विआहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) (प बेचरदासजी) भा १, पृ १५६ से १५८ तक

(ख) भगवतीसूत्र (टीकानुवादसहित) प. बेचरदासजी खण्ड २, पृ. ७६ से ८० तक

वीतरागो मे जब तक ऐसी सूक्ष्म ईर्यापथिकी क्रिया रहती है, तब तक उनके सातावेदनीय कर्मबन्ध होता है ।[1]

प्रमत्तसंयमी और अप्रमत्तसंयमी के प्रमत्तसंयम और अप्रमत्तसंयम के सर्वकाल का प्ररूपण

१५ पमत्तसजयस्स णं भंते ! पमत्तसजमे वट्टमाणस्स सव्वा वि य णं पमत्तद्धा कालतो केवच्चिरं होति ?

मंडियपुत्ता ! एगजीव पडुच्च जहन्नेण एक्क समय उक्कोसेण देसूणा पुव्वकोडी । णाणाजीवे पडुच्च सव्वद्धा ।

[१५ प्र] भगवन् ! प्रमत्त-सयम मे प्रवर्त्तमान प्रमत्तसयम का सब मिला कर प्रमत्तसयम-काल कितना होता है ?

[१५ उ] मण्डितपुत्र ! एक जीव की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि-(काल प्रमत्तसयम का काल) होता है। अनेक जीवो की अपेक्षा सर्वकाल (सर्वाद्धा) (प्रमत्तसयम का काल) होता है ।

१६ अप्पमत्तसंजयस्स ण भंते ! अप्पमत्तसंजमे वट्टमाणस्स सव्वा वि य णं अप्पमत्तद्धा कालतो केवच्चिर[2] होति ?

मंडियपुत्ता ! एगजीव पडुच्च जहन्नेणं अंतोमुहुत्त, उक्कोसेण पुव्वकोडी देसूणा । णाणाजीवे पडुच्च सव्वद्धं ।

सेव भते ! २ त्ति भगव मंडियपुत्ते अणगारे समणं भगवं महावीरं वदइ नमंसइ, २ सजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ।

[१६ प्र] भगवन् ! अप्रमत्तसयम मे प्रवर्त्तमान अप्रमत्तसयम का सब मिला कर अप्रमत्त-संयमकाल कितना होता है ?

[१६ उ] मण्डितपुत्र ! एक जीव की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि-(काल अप्रमत्तसयम का काल) होता है । अनेक जीवो की अपेक्षा सर्वकाल होता है ।

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्राक १८३ से १८५ तक
(ख) भगवती विवेचन (प घेवरचन्दजी) भा. २, पृ. ६५९ से ६६५ तक
(ग) **संकप्पो सरभो, परितावकरो भवे समारभो ।**
आरभो उद्दवओ, सव्वनयाण विसुद्धाणं ॥

२. **'कालओ'** और **'केवच्चिरं'** ये दो एकार्थक पद देने का तात्पर्य है—**कालओ**=काल की अपेक्षा, **केवच्चिरं**= कितने काल तक ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है !' यों कह कर भगवान् मण्डितपुत्र अनगार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार करते है। वन्दन-नमस्कार करके वे संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करने लगे।

विवेचन—प्रमत्तसंयमी और अप्रमत्तसंयमी के प्रमत्तसंयम एवं अप्रमत्तसंयम के सर्वकाल का प्ररूपण—प्रस्तुत दो सूत्रों मे क्रमश प्रमत्तसयमी के प्रमत्तसंयम के समग्रकाल का, तथा अप्रमत्तसयमी के अप्रमत्तसयम के समग्र काल का, एक जीव और अनेक जीवो की अपेक्षा से कथन किया गया है।[1]

प्रमत्तसंयम का काल एक समय कैसे ?—प्रमत्तसयम प्राप्त करने के पश्चात् यदि तुरन्त एक समय बीतने पर ही प्रमत्तसयमी को मृत्यु हो जाए, इस अपेक्षा से प्रमत्तसयमी का जघन्यकाल एक समय कहा है।

अप्रमत्तसंयम का काल एक अन्तर्मुहूर्त्त क्यो ?—अप्रमत्तसयम का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त्त इसलिए बताया गया है कि अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती जीव अन्तर्मुहूर्त्त के बीच मे मरता नही है। उपशम श्रेणी करता हुआ जीव बीच मे ही काल कर जाए इसके लिए जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त्त का बताया है। इसका उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि-काल केवलज्ञानी की अपेक्षा से बताया गया है।[2] क्योकि केवली भी अप्रमत्तसंयत की गणना मे आते हैं। छठे गुणस्थान से ऊपर के सभी गुणस्थान अप्रमत्त हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयतगुणस्थान का अलग-अलग काल अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण ही है, अर्थात् प्रमत्तसयत अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् अप्रमत्तदशा मे अवश्य आता है और सप्तम गुणस्थानवर्त्ती अप्रमत्तसयत प्रमत्त-अवस्था मे अवश्य आता है। किन्तु दोनो गुणस्थानो का मिलाकर देशोनपूर्व कोटि काल बतलाया गया है। इसका कारण यह है कि सयमी का उत्कृष्ट आयुष्य देशोनपूर्वकोटि का ही है।

चतुर्दशी आदि तिथियों को लवणसमुद्रीय वृद्धि-हानि के कारण का प्ररूपण

१७ **'भंते ! त्ति भगवं गोतमे समणं भगव महावीरं वंदइ नमंसइ, २ त्ता एव वदासि—कम्हा णं भते ! लवणसमुद्दे चाउद्दस-ऽट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु अतिरेयं वड्ढति वा हायति वा ?**

लवणसमुद्दवत्तव्वया नेयव्वा जाव[3] लोयट्ठिती। जाव लोयाणुभावे।

सेवं भते ! सेवं भते ! त्ति जाव विहरति।

॥ ततिए सए : तइओ उद्देसो समत्तो ॥

[१७ प्र.] 'हे भगवन् !' यो कह कर भगवान् गौतम ने श्रमण महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—(पूछा—) 'भगवन् ! लवणसमुद्र, चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी, इन चार तिथियो मे क्यो अधिक बढता या घटता है ?'

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ १५८

२ भगवतीसूत्र अ. वृ, पत्रांक १८३

३ 'जाव' शब्द सूचक पाठ—**लोयट्ठिती। जं ण लवणसमुद्दे जंबुद्दीवं दीवं णो उप्पीलेति। णो चेव णं एगोदगं करेइ। लोयाणुभावे। सेवं भंते !**

[१७ उ.] हे गौतम ! जीवाभिगमसूत्र मे लवणसमुद्र के सम्बन्ध में जैसा कहा है, वैसा यहाँ भी जान लेना चाहिए; यावत् 'लोकस्थिति' से 'लोकानुभाव' शब्द तक कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कह कर यावत् गौतमस्वामी विचरण करते हैं।

विवेचन—चतुर्दशी आदि तिथियो मे लवणसमुद्र की वृद्धि-हानि के कारण—प्रस्तुत सूत्र मे गौतमस्वामी द्वारा पूछे गए लवणसमुद्रीय वृद्धि-हानि के कारण-विषयक प्रश्नोत्तर अंकित है।

वृद्धि-हानि का कारण—जीवाभिगम सूत्रानुसार चतुर्दशी आदि तिथियो मे वायु के विक्षोभ से लवणसमुद्रीय जल मे वृद्धि-हानि होती है, क्योकि लवणसमुद्र के बीच मे चारो दिशाओ मे चार महापातालकलश हैं, जिनका प्रत्येक का परिमाण १ लाख योजन है। उसके नीचे के विभाग मे वायु है, बीच के विभाग मे जल और वायु है और ऊपर के भाग मे केवल जल है। इन चार महापातालकलशों के अतिरिक्त और भी ७८८४ छोटे-छोटे पातालकलश हैं, जिनका परिमाण एक-एक हजार योजन का है, और उनमे भी क्रमश. वायु, जल-वायु और जल है। इनमे वायु-विक्षोभ के कारण इन तिथियो में जल मे बढ-घट होती है। दश हजार योजन चौडी लवणसमुद्र की शिखा है, तथा उसकी ऊँचाई १६ हजार योजन है, उसके ऊपर आधे योजन मे जल की वृद्धि-हानि होती है। अरिहन्त आदि महापुरुषो के प्रभाव से लवणसमुद्र, जम्बूद्वीप को नही डुबा पाता। तथा लोकस्थिति या लोकप्रभाव ही ऐसा है।[1]

॥ तृतीय शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति
(ख) जीवाभिगम. सू. ३२४-३२५, पत्रांक ३०४-३०५

चउत्थो उद्देसओ : जाणं

चतुर्थ उद्देशक : यान

भावितात्मा अनगार की, वैक्रियकृत देवी-देव-यानादि-गमन तथा वृक्ष-मूलादि को जानने-देखने की शक्ति का प्ररूपण—

१ अणगारे णं भंते ! भावियप्पा देवं वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहयं जाणरूवेणं जायमाणं जाणइ पासइ ?

गोयमा ! अत्थेगइए देवं पासइ, णो जाणं पासइ १; अत्थेगइए जाणं पासइ, नो देवं पासइ २; अत्थेगइए देवं पि पासइ, जाणं पि पासइ ३; अत्थेगइए नो देवं पासइ, नो जाणं पासइ ४।

[१ प्र] भगवन् ! क्या भावितात्मा अनगार, वैक्रिय समुद्घात से समवहत हुए और यानरूप से जाते हुए देव को जानता देखता है ?

[१ उ] गौतम ! (१) कोई (भावितात्मा अनगार) देव को तो देखता है, किन्तु यान को नही देखता, (२) कोई यान को देखता है, किन्तु देव को नही देखता, (३) कोई देव को भी देखता है और यान को भी देखता है; (४) कोई न देव को देखता है और न यान को देखता है।

२ अणगारे णं भंते ! भावियप्पा देविं वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहयं जाणरूवेणं जायमाणिं जाणइ पासइ ?

गोयमा ! एवं चेव।

[२ प्र] भगवन् ! क्या भावितात्मा अनगार, वैक्रिय समुद्घात से समवहत हुई और यानरूप से जाती हुई देवी को जानता-देखता है ?

[२ उ] गौतम ! जैसा देव के विषय मे कहा, वैसा ही देवी के विषय मे भी जानना चाहिए।

३. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा देवं सदेवीयं वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहयं जाणरूवेणं जायमाणं जाणइ पासइ ?

गोयमा ! अत्थेगइए देवं सदेवीयं पासइ, नो जाणं पासइ। एएणं अभिलावेणं चत्तारि भंगा।

[३ प्र.] भगवन् ! भावितात्मा अनगार, वैक्रिय समुद्घात से समवहत तथा यानरूप से जाते हुए, देवीसहित देव को जानता-देखता है ?

[३ उ.] गौतम ! कोई (भावितात्मा अनगार) देवीसहित देव को तो देखता है, किन्तु यान को नही देखता; इत्यादि चार भग पूर्ववत् कहने चाहिए।

४. [१] अणगारे णं भंते ! भावियप्पा रुक्खस्स किं अंतो पासइ, बाहिं पासइ ?

चउभंगो।

[४-१ प्र.] भगवन् ! भावितात्मा अनगार क्या वृक्ष के आन्तरिक भाग को (भी) देखता है अथवा (केवल) बाह्य भाग को देखता है ?

[४-१ उ] (हे गौतम !) यहाँ भी पूर्वोक्त प्रकार से चार भग कहने चाहिए।

[२] एवं किं मूलं पासइ, कंद पा० ?

चउभंगो। मूलं पा० खध पा० ? चउभंगो।

[४-२ प्र] इसी तरह पृच्छा की– क्या वह (केवल) मूल को देखता है, (अथवा) कन्द को (भी) देखता है ? तथा क्या वह (केवल) मूल को देखता है, अथवा स्कन्ध को (भी) देखता है ?

[४-२ उ] हे गौतम ! (दोनो पृच्छाओ के उत्तर मे) चार-चार भग पूर्ववत् कहने चाहिए।

[३] एवं मूलेणं बीज संजोएयव्वं। एवं कंदेण वि सम संजोएयव्वं जाव बीयं। एवं जाव पुप्फेण समं बीयं सजोएयव्व।

[४-३] इसी प्रकार मूल के साथ बीज का सयोजन करके (पूर्ववत् पृच्छा करके उत्तर के रूप मे) चार भग कहने चाहिए। तथा कन्द के साथ यावत् बीज तक (के सयोगी चतुर्भंग) का सयोजन कर लेनॉ चाहिए। इसी तरह यावत् पुष्प के साथ बीज (के सयोगी-असयोगी चतुर्भंग) का सयोजन कर लेना चाहिए।

५. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा रुक्खस्स किं फलं पा० बीय पा० ?

चउभंगो।

[५ प्र] भगवन् ! क्या भावितात्मा अनगार वृक्ष के (केवल) फल को देखता है, अथवा बीज को (भी) देखता है ?

[५ उ] गौतम ! (यहाँ भी पूर्वोक्त प्रकार से) चार भग कहने चाहिए।

विवेचन—भावितात्मा अनगार की जानने-देखने की शक्ति का प्ररूपण—प्रस्तुत ५ सूत्रो (१ से ५ सू तक) में भावितात्मा अनगार की देवादि तथा वृक्षादि विविध पदार्थों को जानने-देखने की शक्ति का चतुर्भंगी के रूप मे निरूपण किया है।

प्रश्नों का क्रम—इस प्रकार है—(१) वैक्रियकृत एव यानरूप से जाते हुए देव को देखता है ? (२) वैक्रियकृत एवं यानरूप से जाती हुई देवी को देखता है ? (३) वैक्रियकृत एव यानरूप से जाते हुए देवीसहित देव को देखता है ? (४) वृक्ष के आन्तरिक भाग को देखता है या बाह्य को भी ? (५) मूल को देखता है या कन्द को भी, (६) मूल को देखता है या स्कन्ध को भी ? (७) इसी तरह क्रमश· मूल के साथ बीज तक का एव यावत् कन्द के साथ बीज तक का तथा यावत् पुष्प के

साथ बीज को देखता है ? इत्यादि प्रश्न है। सभी के उत्तर मे दो-दो पदार्थों के सयोगी चार-चार भंग का संयोजन कर लेना चाहिए।[1]

मूल आदि दस पदों के द्विकसंयोगी ४५ भंग—मूल आदि १० पद इस प्रकार हैं—मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा (छाल), शाखा, प्रवाल (अकुर), पत्र, पुष्प, फल और बीज। इन दस ही पदों के द्विकसयोगी ४५ भग इस प्रकार होते है—मूल के साथ शेष ९ का सयोजन करने से ९ भग, फिर कन्द के साथ शेष (आगे के) ८ का सयोजन करने से ८ भंग, फिर स्कन्ध के साथ आगे के त्वचा आदि ७ का सयोग करने से ७ भग, त्वचा के साथ शाखादि ६ का सयोग करने से ६ भग, शाखा के साथ प्रवाल आदि ५ का सयोग करने से ५ भग, प्रवाल के साथ पुष्पादि ४ का सयोग करने से ४ भग, पत्र के साथ पुष्पादि तीन के सयोग से ३ भग, पुष्प के साथ फलादि दो के संयोग से दो भग और फल एव बीज के सयोग से १ भग; यो ,कुल ४५ भग हुए। इन ४५ ही भगो का उत्तर चौभगी के रूप मे दिया गया है।[2]

भावितात्मा अनगार—संयम और तप से जिसकी आत्मा भावित (वासित) है, प्राय. ऐसे अनगार को अवधिज्ञान आदि लब्धियाँ प्राप्त होती है।

'जाणइ-पासइ' का रहस्य—यहाँ प्रत्येक सूत्रपाठ के प्रश्न मे दोनो क्रियाओ—(जानता है, देखता है) का प्रयोग किया गया है, जबकि उत्तर मे **'पासइ'** (देखता है) क्रिया का ही प्रयोग है, इसका रहस्य यह है कि, पासइ पद का अर्थ यहाँ सामान्य निराकार ज्ञान (दर्शन) से है, और जाणइ का अर्थ—विशेष साकार ज्ञान से है। सामान्यत 'जानना' दोनो मे उपयोग रूप से समान है अत. उत्तर मे दोनो का 'पासइ' क्रिया से ग्रहण कर लेना चाहिए।

चौभंगी क्यो ?—क्षयोपशम की विचित्रता के कारण अवधिज्ञान विचित्र प्रकार का होता है। अत —कोई अवधिज्ञानी सिर्फ विमान (यान) को और कोई सिर्फ देव को, कोई दोनो को और कोई दोनो को नही जानता-देखता। इसी कारण सर्वत्र चौभगी द्वारा प्रस्तुत प्रश्नो का समाधान किया गया है।[3]

वायुकाय द्वारा वैक्रियकृत रूप-परिणमन एवं गमन सम्बन्धी प्ररूपणा

६. पभू णं भंते ! वाउकाए एगं मह इत्थिरूवं वा पुरिसरूवं वा हत्थिरूवं वा जाणरूवं वा एवं जुग्गं[4]-गिल्लि-थिल्लि[5]-सीय-संदमाणियरूवं वा विउव्वित्तए ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। वाउक्काए णं विकुव्वमाणे एगं मह पडागासंठियं रूवं विकुव्वइ।

---

१ (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पण युक्त), भा. १, पृ १५९
(ख) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्राक १८६

२ भगवतीसूत्र (टीकानुवादसहित) (प बेचरदासजी, खण्ड २), पृ ८६

३ भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्राक १८६

४. वर्तमान में सिंहल द्वीप (सिलोन-कोलम्बो) मे 'गोल' (गोल्ल) नामक एक तालुका (तहसील) है, जहाँ इस जुग्ग (युग्य-रिक्शा गाडी) का ही विशेष प्रचलन है। —स०

५. लाट देश प्रसिद्ध अश्व के पलान को अन्य प्रदेशों में 'थिल्लि' कहते हैं। —स०

[६ प्र] भगवन् ! क्या वायुकाय एक बड़ा स्त्रीरूप या पुरुषरूप, हस्तिरूप अथवा यानरूप, तथा युग्य (रिक्शागाडी, अथा तागा जैसी सवारी), गिल्ली (हाथी की अम्बाडी), थिल्ली (घोडे का पलान), शिविका (डोली), स्यन्दमानिका (म्याना), इन सबके रूपो की विकुर्वणा कर सकता है ?

[६ उ] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नही है। (अर्थात्—वायुकाय उपर्युक्त रूपो की विकुर्वणा नही कर सकता), किन्तु वायुकाय यदि विकुर्वणा करे तो एक बडी पताका के आकार के रूप की विकुर्वणा कर सकता है।

७. [१] पभू ण भंते ! वाउकाए एगं महं पडागासंठियं रूवं विउव्वित्ता अणेगाइं जोयणाइं गमित्तए ?

हंता, पभू।

[७-१ प्र] भगवन् ! क्या वायुकाय एक बडी पताका के आकार (सस्थान) जैसे रूप की विकुर्वणा करके अनेक योजन तक गमन करने मे समर्थ है ?

[७-१ उ] हा (गौतम ! वायुकाय ऐसा करने मे) समर्थ है।

[२] से भंते ! किं आयड्ढीए गच्छइ, परिड्ढीए गच्छइ ?

गोयमा ! आतड्ढीए गच्छइ, णो परिड्ढीए गच्छइ।

[७-२ प्र] भगवन् ! क्या वह (वायुकाय) अपनी ही ऋद्धि से गति करता है अथवा पर की ऋद्धि से गति करता है ?

[७-२ उ] गौतम ! वह अपनी ऋद्धि से गति करता है, पर की ऋद्धि से गति नही करता।

[३] जहा आयड्ढीए एवं चेव आयकम्मुणा वि, आयप्पओगेण वि भाणियव्वं।

[७-३] जैसे वायुकाय आत्मऋद्धि से गति करता है, वैसे वह आत्मकर्म से एव आत्मप्रयोग से भी गति करता है, यह कहना चाहिए।

[४] से भंते ! किं ऊसिओदयं गच्छइ, पतोदयं गच्छइ ?

गोयमा ! ऊसिओदयं पि गच्छइ, पतोदयं पि गच्छइ।

[७-४ प्र.] भगवन् ! क्या वह वायुकाय उच्छ्रितपताका (ऊँची—उठी हुई ध्वजा) के आकार से गति करता है, या पतित—(पडी हुई) पताका के आकार से गति करता है ?

[७-४ उ.] गौतम ! वह उच्छ्रितपताका और पतित-पताका, इन दोनो के आकार से गति करता है।

[५] से भंते ! किं एगओपडागं गच्छइ, दुहओपडागं गच्छइ ?

गोयमा ! एगओपडागं गच्छइ, नो दुहओपडागं गच्छइ।

[७-५ प्र] भगवन् ! क्या वायुकाय एक दिशा में एक पताका के समान रूप बना कर गति करता है अथवा दो दिशाओं में (एक साथ) दो पताकाओं के समान रूप बना कर गति करता है ?

[७-५ उ.] गौतम ! वह (वायुकाय), एक पताका समान रूप बना कर गति करता है, किन्तु दो दिशाओं से (एक साथ) दो पताकाओं के समान रूप बना कर गति नहीं करता।

[६] से णं भंते ! किं वाउकाए, पडागा ?

गोयमा ! वाउकाए णं से, नो खलु सा पडागा।

[७-६ प्र] भगवन् ! उस समय क्या वह वायुकाय, पताका है ?

[७-६ उ.] गौतम ! वह वायुकाय है, किन्तु पताका नहीं है।

विवेचन—वायुकाय द्वारा वैक्रियकृतरूप—परिणमन एवं गमन सम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत दो सूत्रों (६-७) में विविध प्रश्नों द्वारा वायुकाय के वैक्रियकृत रूप तथा उस रूप में गमन करने के सम्बन्ध में निश्चय किया गया है।

निष्कर्ष—वायुकाय, एक दिशा में, उच्छ्रितपताका या पतितपताका इन दोनों में से एक बड़ी पताका की आकृति-सा रूप वैक्रिय-शक्ति से बना कर आत्मऋद्धि से, आत्मकर्म से तथा आत्म-प्रयोग से अनेक योजन तक गति करता है। वह वास्तव में वायुकाय होता है, पताका नहीं।[1]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**आयड्ढीए**=अपनी ऋद्धि—लब्धि—शक्ति से। **आयकम्मुणा**—अपने कर्म या अपनी क्रिया से। **ऊसिओदयं**=ऊँची ध्वजा के आकार की-सी गति। **पततोदयं**=नीचे गिरी (पड़ी) हुई ध्वजा के आधार की-सी गति। **एगओ पडागं**=एक दिशा में एक पताका के समान। **दुहओ पडागं**=दो दिशाओं में (एक साथ) दो पताकाओं के समान।[2]

बलाहक के रूप-परिणमन एवं गमन की प्ररूपणा

८. पभू णं भंते बलाहगे एग महं इत्थिरूव वा जाव संदमाणियरूवं वा परिणामेत्तए ?

हंता, पभू।

[८ प्र] भगवन् ! क्या बलाहक (मेघ) एक बड़ा स्त्रीरूप यावत् स्यन्दमानिका (म्याने) रूप में परिणत होने में समर्थ है ?

[८ उ] हाँ गौतम ! (बलाहक ऐसा करने में) समर्थ है।

९. [१] पभू णं भंते ! बलाहए एगं महं इत्थिरूव परिणामेत्ता अणेगाइं जोयणाइं गमित्तए ?
हंता, पभू।

[९-१ प्र.] भगवन् ! क्या बलाहक एक बड़े स्त्रीरूप में परिणत हो कर अनेक योजन तक जाने में समर्थ है ?

[९-१ उ] हाँ, गौतम ! वह वैसा करने में समर्थ है।

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठटिप्पणयुक्त) भाग १, पृ. १५९-१६०

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १८७

[२] से भंते ! किं आयड्ढीए गच्छइ, परिड्ढीए गच्छइ ?

गोयमा ! नो आतिड्ढीए गच्छति, परिड्ढीए गच्छइ ।

[९-२ प्र] भगवन् ! क्या वह बलाहक आत्मऋद्धि से गति करता है या परऋद्धि से गति करता है ?

[९-२ उ] गौतम ! वह आत्मऋद्धि से गति नही करता, परऋद्धि से गति करता है ।

[३] एवं नो आयकम्मुणा, परकम्मुणा । नो आयपयोगेणं, परप्पयोगेणं ।

[९-३] उसी तरह वह आत्मकर्म (स्वक्रिया) से और आत्मप्रयोग से गति नही करता, किन्तु परकर्म से और परप्रयोग से गति करता है ।

[४] ऊसितोदयं वा गच्छइ पतोदयं वा गच्छइ ।

[९-४] वह उच्छ्रितपताका अथवा पतित-पताका दोनो मे से किसी एक के आकार रूप से गति करता है ।

१० से भंते किं बलाहए, इत्थी ?

गोयमा ! बलाहए णं से, णो खलु सा इत्थी । एवं पुरिसे, आसे हत्थी ।

[१० प्र] भगवन् ! उस समय क्या वह बलाहक स्त्री है ?

[१० उ.] हे गौतम ! वह बलाहक (मेघ) है, वह स्त्री नही है । इसी तरह बलाहक पुरुष, अश्व या हाथी नही है, (किन्तु बलाहक है ।)

११ [१] पभू णं भंते ! बलाहए एगं महं जाणरूवं परिणामेत्ता अणेगाइं जोयणाइं गमित्तए ? जहा इत्थिरूवं तहा भाणियव्वं । णवरं एगओचक्कवालं पि, दुहओचक्कवालं पि भाणियव्वं ।

[११-१ प्र] भगवन् ! क्या वह बलाहक, एक बडे यान (शकट—गाडी) के रूप मे परिणत होकर अनेक योजन तक जा सकता है ?

[११-१ उ] हे गौतम ! जैसे स्त्री के सम्बन्ध मे कहा, उसी तरह यान के सम्बन्ध मे भी कहना चाहिए । परन्तु इतनी विशेषता है कि वह, यान के एक ओर चक्र (पहिया) वाला होकर भी चल सकता है और दोनो ओर चक्र वाला होकर भी चल सकता है ।

[२] जुग्ग-गिल्लि-थिल्लि-सीया-संदमाणियाणं तहेव ।

[११-२] इसी तरह युग्य, गिल्ली, थिल्ली, शिविका और स्यन्दमानिका के रूपो के सम्बन्ध मे भी जानना चाहिए ।

विवेचन—बलाहक के रूप-परिणमन एवं गमन की प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. ८ से ११ तक) में आकाश मे अनेक रूपो मे दृश्यमान मेघों के रूपपरिणमन तथा गमन के सम्बन्ध मे चर्चा की गई है ।

निष्कर्ष—मेघ (बलाहक) अजीव होने से उनमें विकुर्वणाशक्ति नहीं है, किन्तु स्वभावतः (विस्रसा) रूप-परिणमन मेघो मे भी होता है, इसीलिए यहाँ **'विउव्वित्तए'** शब्द के बदले **'परिणामेत्तए'** शब्द दिया है। मेघ स्त्री आदि अनेक रूपो में परिणत होकर, अचेतन होने से आत्म-ऋद्धि, आत्मकर्म और आत्मप्रयोग से गति न करके, वायु, देव आदि से प्रेरित होकर परऋद्धि, परकर्म और परप्रयोग से] अनेक योजन तक गति कर सकता है। विशेष बात यह है कि बलाहक जब यान के रूप मे परिणत होकर गति करता है, तब उसके एक ओर भी चक्र रह सकता है, दोनो ओर भी।[1]

चौबीसदण्डकवर्ती जीवों में उत्पन्न होने योग्य जीवों की लेश्या-सम्बन्धी प्ररूपणा

१२. जीवे णं भंते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! किंलेसेसु उववज्जति ?

गोयमा ! जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ, त०-कण्हलेसेसु वा नीललेसेसु वा काउलेसेसु वा।

[१२ प्र] भगवन् ! जो जीव, नैरयिको मे उत्पन्न होने वाला है, वह कौन-सी लेश्या वालो मे उत्पन्न होता है ?

[१२ उ] गौतम ! वह जीव जिस लेश्या के द्रव्यो को ग्रहण करके काल करता है, उसी लेश्या वाले नारको मे उत्पन्न होता है। यथा—कृष्णलेश्यावालो मे, नीललेश्या वालो मे, अथवा कापोतलेश्यावालो मे।

१३. एव जस्स जा लेस्सा सा तस्स भाणियव्वा जाव जीवे णं भंते ! जे भविए जोतिसिएसु उववज्जित्तए० पुच्छा।

गोयमा ! जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ, तं०-तेउलेस्सेसु।

[१३] इस प्रकार जो जिसकी लेश्या हो, उसकी वह लेश्या कहनी चाहिए। यावत् व्यन्तर-देवो तक कहना चाहिए।

[प्र.] भगवन् ! जो जीव ज्योतिष्को मे उत्पन्न होने योग्य है, वह किन लेश्याओ मे उत्पन्न होता है ?

[उ] गौतम ! जिस लेश्या के द्रव्यो को ग्रहण करके जीव काल करता है, वैसी लेश्यावालो में वह उत्पन्न होता है। जैसे कि—तेजोलेश्यावालो मे।

१४ जीवे णं भंते ! जे भविए वेमाणिएसु उववज्जित्तए से ण भंते ! किंलेस्सेसु उववज्जइ ?

गोयमा ! जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ, त०-तेउलेस्सेसु वा पम्हलेसेसु वा सुक्कलेसेसु वा।

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति पत्रांक १८६-१८७

(ख) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ १६०-१६१

[१४ प्र] भगवन् ! जो जीव वैमानिक देवों में उत्पन्न होने योग्य है, वह किस लेश्या वालो मे उत्पन्न होता है ?

[१४ उ] गौतम ! जिस लेश्या के द्रव्यो को ग्रहण करके जीव काल करता है, उसी लेश्या वालो मे वह उत्पन्न होता है । जैसे कि—तेजोलेश्या, पद्मलेश्या अथवा शुक्ललेश्या वालों में ।

विवेचन—नारकों से लेकर वैमानिक देवों तक मे उत्पन्न होने योग्य जीवों की लेश्या का प्ररूपण—प्रस्तुत सूत्र-त्रय मे नैरयिको से लेकर वैमानिक देवो तक (२४ दण्डको) मे से कही भी उत्पन्न होने वाले जीव की लेश्या के सम्बन्ध मे चर्चा की गई है ।

एक निश्चित सिद्धान्त—जैन दर्शन का एक निश्चित सिद्धान्त है कि अन्तिम समय मे जिस लेश्या मे जीव मरता है, उसी लेश्या वाले जीवो मे वह उत्पन्न होता है । इसी दृष्टिकोण को लेकर तीनो सूत्रो मे नारक, ज्योतिष्क एव वैमानिक पर्याय मे उत्पन्न होने वाले जीवो की लेश्या के सम्बन्ध मे प्रश्न किया गया तो शास्त्रकार ने उसी सिद्धान्तवाक्य को पुन पुन: दोहराया है—**"जल्लेसाइं दव्वाइं परिआइत्ता कालं करेइ, तल्लेसेसु उववज्जइ"**—जिस लेश्या से सम्बद्ध द्रव्यो को, ग्रहण करके जीव मृत्यु प्राप्त करता है, उसी लेश्या वाले जीवो मे उत्पन्न होता है ।

तीन सूत्र क्यों ?—इस दृष्टि से पूर्वोक्त सिद्धान्त सिर्फ एक (१२ वे) सूत्र मे बतलाने से ही काम चल जाता, शेष दो सूत्रो की आवश्यकता नही थी, किन्तु इतना बतलाने मात्र मे काम नही चलता, यह भी बतलाना आवश्यक था कि किन जीवो मे कौन-कौन-सी लेश्याएँ होती हैं ? यथा—नैरयिको मे कृष्ण, नील और कापोत, ये तीन अशुभ लेश्याएँ ही होती हैं, ज्योतिष्को मे एकमात्र तेजोलेश्या और वैमानिको मे तेजो, पद्म एव शुक्ल, ये तीन शुभ लेश्याएँ होती है ।[1]

अन्तिम समय की लेश्या कौन-सी ?—जो देहधारी मरणोन्मुख (म्रियमाण) है, उसका मरण बिलकुल अन्तिम उसी लेश्या मे हो सकता है, जिस लेश्या के साथ उसका सम्बन्ध कम मे कम अन्तर्मुहूर्त्त तक रहा हो । इसका अर्थ है—कोई भी मरणोन्मुख प्राणी लेश्या के साथ सम्पर्क के प्रथम पल मे ही मर नही सकता, अपितु जब इसकी कोई अमुक लेश्या निश्चित हो जाती है, तभी वह पुराने शरीर को छोडकर नया शरीर धारण करने जा सकता है । और लेश्या के निश्चित होने मे कम से कम अन्तर्मुहूर्त्त लगता है । निम्नोक्त तीन गाथाओ द्वारा आचार्य ने इस तथ्य का समर्थन किया है[2]—'समस्त लेश्याओ के परिणत होने के प्रथम समय मे किसी भी जीव का परभव मे उपपात (जन्म) नही होता,

---

१ (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा १, पृ १६१

(ख) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १८८

२ सव्वाहि लेस्साहि पढमे समयमि परिणयाहि तु ।
नो कस्स वि उववाओ, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥ १ ॥
सव्वाहि लेस्साहि चरमे समयमि परिणयाहि तु ।
नो कस्स वि उववाओ, परे भवे अत्थि जीवस्स ॥ २ ॥
अतमुहुत्तमि गए, अतमुहुत्तमि सेसए चेव ।
लेस्साहि परिणयाहि, जीवा गच्छति परलोय ॥ ३ ॥

—भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक १८८ में उद्धृत

इसी प्रकार सर्वलेश्याओं के परिणत होने के अन्तिम समय मे भी किसी भी जीव का परभव मे उपपात (जन्म) नही होता, अपितु लेश्याओं के परिणाम को अन्तर्मुहूर्त्त बीत जाने पर और अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहने पर जीव परलोक मे जाते हैं।' उपर्युक्त तथ्य मनुष्यो और तिर्यञ्चो के लिए समझना चाहिए क्योकि उनकी लेश्याएँ बदलती रहती हैं। देवो और नारको की लेश्या जीवन-पर्यन्त बदलती नही, वह एक सी रहती है। अत. कोई भी देव या नारक अपनी लेश्या का अन्त आने मे अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है, तभी वह काल करता है, उससे पहले नही।[१]

लेश्या और उसके द्रव्य—जिसके द्वारा आत्मा कर्म के साथ श्लिष्ट होती है, उसे लेश्या कहते है। प्रज्ञापना सूत्र (१७वें लेश्यापद) तथा उत्तराध्ययन सूत्र (३४वे लेश्याध्ययन) मे लेश्याओं के प्रकार, अधिकारी, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, परिणाम, स्थान, लक्षण, स्थिति, गति आदि तथ्यो का विस्तृत वर्णन मिलता है। प्रज्ञापना (मलयगिरि) वृत्ति के अनुसार लेश्या परमाणुपुद्गलसमूह—(वर्गणा) रूप हैं। ये लेश्या के परमाणु जीव मे उद्भूत हुए कषाय को उत्तेजित करते हैं। कषाय वृत्ति का समूल नाश होते ही ये लेश्या के अणु अकिंचित्कर हो जाते हैं।[२] कषाय के प्रादुर्भाव के अनुसार लेश्या प्रशस्त हो जाती है। इसीलिए लेश्या को द्रव्य कहा है।

भावितात्मा अनगार द्वारा अशक्य एवं शक्य विकुर्वणाशक्ति

१५ अणगारे ण भंते! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू वेभार पव्वयं उल्लंघेत्तए वा पलघेत्तए वा?

गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे।

[१५ प्र] भगवन्! क्या भावितात्मा अनगार, बाहर के पुद्गलो को ग्रहण किये बिना वैभारगिरि को उल्लघ (लाघ) सकता है, अथवा प्रलघ (विशेषरूप से या बार-बार लाघ) सकता है?

[१५ उ.] गौतम! यह अर्थ समर्थ (शक्य) नही है।

१६. अणगारे णं भंते! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू वेभारं पव्वयं उल्लंघेत्तए वा पलंघेत्तए वा?

हंता, पभू।

[१६ प्र.] भगवन्! भावितात्मा अनगार बाह्य पुद्गलो को ग्रहण करके क्या वैभारगिरि को उल्लंघन या प्रलघन करने मे समर्थ है।

[१६ उ.] हाँ गौतम! वह वैसा करने मे समर्थ है।

---

१. (क) भगवती (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, (प बेचरदासजी), पृ. ९२
   (ख) भगवती अ वृत्ति, पत्रांक १८८

२. (क) भगवती (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) ख. २, (पं. बेचर), पृ. ९०, (ख) भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक १८८

१७. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता जावइयाइं रायगिहे नगरे रूवाइं एवइयाइं विकुव्वित्ता वेभारं पव्वयं अंतो अणुप्पविसित्ता पभू समं वा विसमं करेत्तए, विसमं वा समं करेत्तए ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

[१७ प्र] भगवन् ! भावितात्मा अनगार, बाहर के पुद्‌गलो को ग्रहण किये बिना राजगृह नगर मे जितने भी (पशु पुरुषादि) रूप है, उतने रूपो की विकुर्वणा करके तथा वैभारपर्वत मे प्रवेश करके क्या सम पर्वत को विषम कर सकता है ? अथवा विषमपर्वत को सम कर सकता है ?

[१७ उ] हे गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नही है। (अर्थात्—बाह्य पुद्‌गलो को ग्रहण किये बिना भावितात्मा अनगार वैसा नही कर सकता।)

१८ एवं चेव बितिओ वि आलावगो; णवरं परियातित्ता पभू।

[१८] इसी तरह दूसरा (इससे विपरीत) आलापक भी कहना चाहिए। किन्तु इतनी विशेषता है कि वह (भावितात्मा अनगार) बाहर के पुद्‌गलो को ग्रहण करके पूर्वोक्त प्रकार से (रूपो की विकुर्वणा आदि) करने मे समर्थ है।

विवेचन—भावितात्मा अनगार द्वारा अशक्य एवं शक्य विकुर्वणा शक्ति—प्रस्तुत चार सूत्रो (सू १५ से १८ तक) द्वारा शास्त्रकार ने भावितात्मा अनगार की विक्रियाशक्ति के चमत्कार के सम्बन्ध मे निषेध-विधिपूर्वक दो तथ्यो का प्रतिपादन किया है। वह क्रमश इस प्रकार है—

(१) वह बाह्य पुद्‌गलो को ग्रहण किये बिना वैभारगिरि का उल्लघन-प्रलघन करने मे समर्थ नही है।

(२) वह बाह्य पुद्‌गलो (औदारिक शरीर से भिन्न वैक्रिय पुद्‌गलो) को ग्रहण करके वैभारगिरि (राजगृहस्थित क्रीडापर्वत) का (वैक्रिय प्रयोग से) उल्लघन-प्रलघन कर सकता है।

(३) वह बाह्य पुद्‌गलो (वैक्रिय-पुद्‌गलो) को ग्रहण किये बिना राजगृह स्थित जितने भी पशु-पुरुषादि रूप हैं, उनकी विकुर्वणा करके वैभारगिरि मे प्रविष्ट होकर उसे, सम को विषम या विषम को सम नही कर सकता।

(४) बाह्यपुद्‌गलो को ग्रहण करके वह वैसा करने मे समर्थ है।[1]

बाह्यपुद्‌गलों का ग्रहण आवश्यक क्यों ?—निष्कर्ष यह है कि वैक्रिय—(बाह्य) पुद्‌गलो के ग्रहण किये बिना वैक्रिय शरीर की रचना हो नही सकती और पर्वत का उल्लघन करने वाला मनुष्य ऐसे विशाल एव पर्वतातिक्रामी वैक्रियशरीर के बिना पर्वत को लाघ नही सकता। और वैक्रियशरीर बाहर के वैक्रिय पुद्‌गलो को ग्रहण किये बिना बन नही सकता। इसीलिए कहा गया है कि बाहर के पुद्‌गलों को ग्रहण करके ही वैभारपर्वतोल्लघन, विविधरूपों की विकुर्वणा, तथा वैक्रिय करके पर्वत मे प्रविष्ट होकर समपर्वत को विषम और विषम को सम करने मे वह समर्थ हो सकता है।[2]

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), भा. १, पृ. १६२

२ भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्राक १८९

विकुर्वणा से मायी की विराधना और अमायी की आराधना

१९. [१] से भंते ! किं मायी विकुव्वति, अमायी विकुव्वइ ?

गोयमा ! मायी विकुव्वइ, नो अमाई विकुव्वति ।

[१९-१ प्र] भगवन् ! क्या मायी (सकषाय प्रमत्त) मनुष्य विकुर्वणा करता है, अथवा अमायी (अप्रमत्त—कषायहीन) मनुष्य विकुर्वणा करता है ?

[१९-१ उ.] गौतम ! मायी (प्रमत्त) मनुष्य विकुर्वणा करता है, अमायी (अप्रमत्त) मनुष्य विकुर्वणा नही करता ।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव नो अमायी विकुव्वइ ?

गोयमा ! मायी णं पणीयं पाण-भोयणं भोच्चा भोच्चा वामेति, तस्स णं तेणं पणीएणं पाण-भोयणेण अट्ठि-अट्ठिमिजा बहलीभवंति, पयणुए मंस-सोणिए भवति, जे वि य से अहाबादरा पोग्गला ते वि य से परिणमंति, तं जहा—सोतिंदियत्ताए जाव फासिंदियत्ताए, अट्ठि-अट्ठिमिंज-केस-मंसु-रोम-नहत्ताए सुक्कत्ताए सोणियत्ताए । अमायी णं लूहं पाण-भोयणं भोच्चा भोच्चा णो वामेइ, तस्स णं तेणं लूहेणं पाण-भोयणेणं अट्ठि-अट्ठिमिंजा० पतणूभवति, बहले मंस-सोणिए, जे वि य से अहाबादरा पोग्गला ते वि य से परिणमंति; तं जहा—उच्चारत्ताए पासवणत्ताए जाव[1] सोणियत्ताए । से तेणट्ठे जाव नो अमायी विकुव्वइ ।

[१९-२ प्र] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि मायी अनगार विकुर्वणा करता है, अमायी विकुर्वणा नही करता ?

[१९-२ उ] गौतम ! मायी (प्रमत्त) अनगार प्रणीत (घृतादि रस से सरस-स्निग्ध) पान और भोजन करता है । इस प्रकार बार-बार प्रणीत पान-भोजन करके वह वमन करता है । उस प्रणीत पान-भोजन से उसकी हड्डियाँ और हड्डियो मे रही हुई मज्जा सघन (ठोस या गाढ) हो जाती है; उसका रक्त और मास प्रतनु (पतला—अगाढ) हो जाता है । उस भोजन के जो यथाबादर (यथोचित स्थूल) पुद्गल होते हैं, उनका उस-उस रूप मे परिणमन होता है । यथा—श्रोत्रेन्द्रिय रूप में यावत् स्पर्शेन्द्रियरूप मे (उनका परिणमन होता है ।), तथा हड्डियो, हड्डियो की मज्जा, केश, श्मश्रु (दाढी-मूछ), रोम, नख, वीर्य और रक्त के रूप मे वे परिणत होते हैं ।

अमायी (अप्रमत्त) मनुष्य तो रूक्ष (रूखा-सूखा) पान-भोजन का सेवन करता है और ऐसे रूक्ष पान-भोजन का उपभोग करके वह वमन नही करता । उस रूक्ष पान-भोजन (के सेवन) से उसकी हड्डियाँ तथा हड्डियो की मज्जा प्रतनु (पतली—अगाढ) होती है और उसका मांस और रक्त गाढा (घन) हो जाता है । उस पान-भोजन के जो यथाबादर (यथोचित स्थूल) पुद्गल होते हैं, उनका परिणमन उस-उस रूप में होता है । यथा—उच्चार (मल), प्रस्रवण (मूत्र), यावत् रक्तरूप मे (उनका परिणमन हो जाता है ।) अत इस कारण से अमायी मनुष्य, विकुर्वणा नहीं करता; (मायी मनुष्य ही करता है ।)

---

१. 'जाव' शब्द सूचक पाठ इस प्रकार है—'....खेलत्ताए, सिंघाणत्ताए, वंतत्ताए, पित्तत्ताए, पूयत्ताए' ।

[३] मायी णं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ नत्थि तस्स आराहणा।

[१९-३] मायी मनुष्य उस स्थान (अपने द्वारा किये गए वैक्रियकरणरूप प्रवृत्तिप्रयोग) की आलोचना और प्रतिक्रमण किये बिना (यदि) काल करता है, तो उसके आराधना नही होती।

[४] अमायी णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेइ अत्थि तस्स आराहणा।

"सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति"०।

॥ तइय सए : चउत्थो उद्देसो समत्तो ॥

[१९-४] (किन्तु पूर्व मायी जीवन मे अपने द्वारा किये गए वैक्रियकरणरूप) उस (विराधना-) स्थान के विषय मे पश्चात्ताप (आत्मनिन्दा) करके अमायी (बना हुआ) मनुष्य (यदि) आलोचना और प्रतिक्रमण करके काल करता है, तो उसके आराधना होती है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरण करते हैं।

विवेचन—विकुर्वणा से मायी की विराधना और अमायी की आराधना—प्रस्तुत सूत्र मे बताया गया है कि मायी अर्थात् कषाययुक्त प्रमादी विकुर्वणा करके और उक्त वैक्रियकरणरूप दोष की आलोचना-प्रतिक्रमण न करके विराधक होता है, इसके विपरीत वर्तमान मे विकुर्वणा न करके पूर्वविकुर्वित स्थान का आलोचन-प्रतिक्रमण करके आराधक हो जाता है।

मायी द्वारा विक्रिया—जो मनुष्य सरस-स्निग्ध आहार-पानी करके बार-बार वमन-विरेचन करता है, वह मायी—प्रमादी है; क्योकि वह वर्ण (रूपरग) तथा बल आदि के लिए प्रणीत भोजन-पान तथा वमन करता है। आशय यह है कि इस प्रकार इसके द्वारा वैक्रियकरण भी होता है।

अमायी विक्रिया नहीं करता—अमायी अकषायित्व के कारण विक्रिया का इच्छुक नही होता, इसलिए वह प्रथम तो रूखा सूखा आहार करता है, तथा वह वमन नही करता। यदि उसने पूर्व जीवन मे मायी होने से वैक्रियरूप किया था तो उसका आलोचन-प्रतिक्रमण करके अमायी बन गया। इसलिए वह आराधक हो जाता है।[1]

॥ तृतीय शतक : चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १८९

पंचमो उद्देसओ : 'इत्थी' अहवा 'अणगारविकुव्वणा'

पंचम उद्देशक : 'स्त्री' अथवा 'अनगार-विकुर्वणा'

१. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू एगं महं इत्थिरूवं वा जाव संदमाणियरूवं वा विकुव्वित्तए ?

णो इणट्ठे समट्ठे ।

[१ प्र.] भगवन् ! क्या भावितात्मा अनगार, बाहर के पुद्गलो को ग्रहण किये बिना एक बड़े स्त्रीरूप यावत् स्यन्दमानिका रूप की विकुर्वणा करने मे समर्थ है ?

[१ उ.] हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है। (अर्थात्—वह ऐसा नही कर सकता।)

२. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू एगं महं इत्थिरूवं वा जाव संदमाणियरूवं वा विकुव्वित्तए ?

हंता, पभू ।

[२ प्र.] भगवन् ! भावितात्मा अनगार, बाहर के पुद्गलो को ग्रहण करके क्या एक बडे स्त्रीरूप की यावत् स्यन्दमानिका (डोली) रूप की विकुर्वणा कर सकता है ?

[२ उ.] हाँ, गौतम ! (बाह्य पुद्गलो को ग्रहण करके) वह वैसा कर सकता है ?

३. [१] अणगारे णं भंते ! भावियप्पा केवतियाइं पभू इत्थिरूवाइं विकुव्वित्तए ?

गोयमा ! से जहानामए जुवई जुवाणे हत्थेण हत्थंसि गेण्हेज्जा, चक्कस्स वा नाभी अरगाउत्ता सिया एवामेव अणगारे वि भावियप्पा वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहण्णइ जाव पभू णं गोयमा ! अणगारे णं भावियप्पा केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं बहूहिं इत्थीरूवेहिं आइण्णं वितिकिण्णं जाव एस णं गोयमा ! अणगारस्स भावियप्पणो अयमेयारूवे विसए विसयमेत्ते बुइए, नो चेव णं संपत्तीए विकुव्विंसु वा ३ ।

[३-१ प्र.] भगवन् ! भावितात्मा अनगार, कितने स्त्रीरूपो की विकुर्वणा करने मे समर्थ है ?

[३-१ उ.] हे गौतम ! जैसे कोई युवक, अपने हाथ से युवती के हाथ को (भय या काम की विह्वलता के समय दृढतापूर्वक) पकड लेता है, अथवा जैसे चक्र (पहिये) की धुरी (नाभि) आरो से व्याप्त होती है, इसी प्रकार भावितात्मा अनगार भी वैक्रिय समुद्घात से समवहत होकर सम्पूर्ण जम्बूद्वीप नामक द्वीप को, बहुत-से स्त्रीरूपो से आकीर्ण (व्याप्त), व्यतिकीर्ण (विशेषरूप से परिपूर्ण) यावत् कर सकता है, (अर्थात्—ठसाठस भर सकता है।) हे गौतम ! भावितात्मा अनगार का यह विषय है, विषयमात्र कहा गया है, उसने इतनी वैक्रिय शक्ति सम्प्राप्त होने पर भी कभी इतनी विक्रिया की नही, करता नही और करेगा भी नही ।

[२] एव परिवाडीए नेयव्व जाव संदमाणिया ।

[३-२] इस प्रकार परिपाटी से (क्रमश.) यावत् स्यन्दमानिका-सम्बन्धी रूपविकुर्वणा करने तक कहना चाहिए ।

४. से जहानामए केइ पुरिसे असिचम्मपाय गहाय गच्छेज्जा एवामेव अणगारे णं भावियप्पा असिचम्मपायहत्थकिच्चगएण अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं उप्पइज्जा ? हंता, उप्पइज्जा ।

[४ प्र.] (हे भगवन् !) जैसे कोई पुरुष (किसी कार्यवश) तलवार और चर्मपात्र (ढाल अथवा म्यान) (हाथ मे) ले कर जाता है, क्या उसी प्रकार कोई भावितात्मा अनगार भी तलवार और ढाल (अथवा म्यान) हाथ मे लिये हुए किसी कार्यवश (सघ आदि के प्रयोजन से) स्वय आकाश मे ऊपर उड सकता है ?

[४ उ] हाँ, (गौतम !) वह ऊपर उड सकता है ।

५. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा केवतियाइं पभू असिचम्मपायहत्थकिच्चगयाइ रूवाइं विउव्वित्तए ?

गोयमा ! से जहानामए जुवती जुवाणे हत्थेणं हत्थे गेण्हेज्जा त चेव जाव विउव्विसु वा ३ ।

[५ प्र] भगवन् ! भावितात्मा अनगार (सघादि) कार्यवश तलवार एव ढाल हाथ मे लिये हुए पुरुष के जैसे कितने रूपो की विकुर्वणा कर सकता है ?

[५ उ] गौतम ! जैसे कोई युवक अपने हाथ से युवती के हाथ को (दृढतापूर्वक) पकड लेता है, यावत् (यहाँ सब पूर्ववत् कहना) (वैक्रियकृत रूपो से सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को ठसाठस भर सकता है,) किन्तु कभी इतने वैक्रियकृत रूप बनाये नही, बनाता नही और बनायेगा भी नही ।

६. से जहानामए केइ पुरिसे एगओपडाग काउं गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि भावियप्पा एगओपडागहत्थकिच्चगएणं अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं उप्पतेज्जा ?

हंता, गोयमा ! उप्पतेज्जा ।

[६ प्र] जैसे कोई पुरुष (हाथ मे) एक (एक ओर ध्वजा वाली) पताका लेकर गमन करता है, इसी प्रकार क्या भावितात्मा अनगार भी (सघादि) कार्यवश हाथ मे एक (एक ओर ध्वजा वाली) पताका लेकर स्वय ऊपर आकाश मे उड सकता है ?

[६ उ.] हाँ, गौतम ! वह आकाश मे उड सकता है ।

७. [१] अणगारे णं भंते ! भावियप्पा केवतियाइं पभू एगओपडागहत्थकिच्चगयाइ रूवाइ विकुव्वित्तए ?

एवं चेव जाव विकुव्विसु वा ३ ।

[७-१ प्र] भगवन् ! भावितात्मा अनगार, (संघादि) कार्यवश हाथ में एक (एक तरफ ध्वजा वाली) पताका लेकर चलने वाले पुरुष के जैसे कितने रूपों की विकुर्वणा कर सकता है ?

[७-१ उ.] गौतम ! यहाँ सब पहले की तरह कहना चाहिए, (अर्थात्—वह ऐसे वैक्रियकृत रूपों से समग्र जम्बूद्वीप को ठसाठस भर सकता है) परन्तु कदापि इतने रूपों की विकुर्वणा की नही, करता नही और करेगा भी नहीं।

[२] एवं दुहओपडागं पि।

[७-२] इसी तरह दोनो ओर पताका लिये हुए पुरुष के जैसे रूपो की विकुर्वणा के सम्बन्ध मे कहना चाहिए।

८ से जहानामए केइ पुरिसे एगओजण्णोवइतं काउं गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि भा० एगओजण्णोवइतकिच्चगएणं अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं उप्पतेज्जा ?

हंता, उप्पतेज्जा।

[८ प्र] भगवन् ! जैसे कोई पुरुष एक तरफ यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण करके चलता है, उसी तरह क्या भावितात्मा अनगार भी कार्यवश एक तरफ यज्ञोपवीत धारण किये हुए पुरुष की तरह स्वय ऊपर आकाश मे उड सकता है ?

[८ उ] हाँ, गौतम ! उड सकता है।

९ [१] अणगारे णं भंते ! भावियप्पा केवतियाइं प्रभू एगतोजण्णोवलितकिच्चगयाइं रूवाइं विकुव्वित्तए ?

त चेव जाव विकुव्विसु वा ३।

[९-१ प्र] भगवन् ! भावितात्मा अनगार कार्यवश एक तरफ यज्ञोपवीत धारण किये हुए पुरुष के जैसे कितने रूपो की विकुर्वणा कर सकता है ?

[९-१ उ] गौतम ! पहले कहे अनुसार जान लेना चाहिए। (अर्थात् ऐसे वैक्रियकृत रूपों से वह सारे जम्बूद्वीप को ठसाठस भर सकता है।) परन्तु इतने रूपो की विकुर्वणा कभी की नही, करता नही और करेगा भी नही।

[२] एव दुहओजण्णोवइयं पि।

[९-२] इसी तरह दोनो ओर यज्ञोपवीत धारण किये हुए पुरुष की तरह रूपो की विकुर्वणा करने के सम्बन्ध मे भी जान लेना चाहिए।[1]

१०. [१] से जहानामए केइ पुरिसे एगओपल्हत्थियं काउं चिट्ठेज्जा एवामेव अणगारे वि भावियप्पा ?

तं चेव जाव विकुव्विसु वा ३।

[१०-१ प्र] भगवन् ! जैसे कोई पुरुष एक तरफ पल्हथी (पालथी) मार कर बैठे, इसी तरह क्या भावितात्मा अनगार भी (पल्हथी मार कर बैठे हुए पुरुष के समान) रूप बना कर स्वय आकाश में उड़ सकता है ?

[१०-१ उ] हे गौतम ! पहले कहे अनुसार जानना चाहिए, यावत्—इतने विकुर्वितरूप कभी बनाए नही, बनाता नही और बनायेगा भी नही ।

[२] एव दुहओपल्हत्थियं पि ।

[१०-२] इसी तरह दोनो तरफ पल्हथी लगाने वाले पुरुष के समान रूपविकुर्वणा के सम्बन्ध में जान लेना चाहिए ।

११ [१] से जहानामए केइ पुरिसे एगओपलियंकं काउं चिट्ठेज्जा० ?

त चेव जाव विकुव्विंसु वा ३ ।

[११-१ प्र] भगवन् ! जैसे कोई पुरुष एक तरफ पर्यंकासन करके बैठे, उसी तरह क्या भावितात्मा अनगार भी उस पुरुष के समान रूप-विकुर्वणा करके आकाश मे उड़ सकता है ?

[११-१ उ] (गौतम !) पहले कहे अनुसार जानना चाहिए। यावत्—इतने रूप कभी विकुर्वित किये नही, करता नही, और करेगा भी नही ।

[२] एवं दुहओपलियकं पि ।

[११-२] इसी तरह दोनो तरफ पर्यंकासन करके बैठे हुए पुरुष के समान रूप-विकुर्वणा करने के सम्बन्ध मे जान लेना चाहिए ।

विवेचन—भावितात्मा अनगार के द्वारा स्त्री आदि के रूपो की विकुर्वणा—प्रस्तुत ११ सूत्रो (सू १ से ११ तक) मे विविध पहलुओ से भावितात्मा अनगार द्वारा स्त्री आदि विविधरूपो की विकुर्वणा करने के सम्बन्ध मे निरूपण किया गया है । इन ग्यारह सूत्रो मे निम्नोक्त तथ्यो का क्रमश प्रतिपादन किया गया है—

१ भावितात्मा अनगार बाह्य पुद्गलो को ग्रहण किये बिना स्त्री आदि के रूपो की विकुर्वणा नही कर सकता ।

२ वह बाह्यपुद्गलो को ग्रहण करके ऐसा कर सकता है ।

३ वह इतने स्त्रीरूपो की विकुर्वणा कर सकता है, जिनसे सारा जम्बूद्वीप ठसाठस भर जाए, किन्तु वह ऐसा कभी करता नही, किया नही, करेगा भी नही ।

४. इसी प्रकार स्त्री के अतिरिक्त स्यन्दमानिका तक के रूपो की विकुर्वणा के सम्बन्ध मे समझ लेना चाहिए ।

५. भावितात्मा अनगार (वैक्रियशक्ति से) सघादिकार्यवश तलवार एव ढाल लेकर स्वय आकाश मे ऊँचा उड़ सकता है ।

६ वह वैक्रियशक्ति से तलवार एव ढाल हाथ मे लिए पुरुष जैसे इतने रूप बना सकता है कि सारा जम्बूद्वीप उनसे ठसाठस भर जाए, किन्तु वह त्रिकाल मे ऐसा करता नही ।

७. वह एक तरफ पताका लेकर चलने वाले पुरुष की तरह एक तरफ पताका हाथ मे लेकर

स्वय आकाश मे उड सकता है, दो तरफ पताका लेकर भी इसी तरह उड सकता है, तथा एक तरफ या दो तरफ पताका लिये हुए पुरुष के जैसे इतने रूप बना सकता है, कि जिनसे सम्पूर्ण जम्बूद्वीप ठसाठस भर जाए, किन्तु वह ऐसा तीन काल मे भी करता नही।

८ एक या दोनो तरफ यज्ञोपवीत धारण किये हुए पुरुष की तरह यज्ञोपवीत धारण करके वह वैक्रियशक्ति से ऊँचे आकाश मे उड सकता है। ऐसे एक तरफ या दोनो तरफ यज्ञोपवीतधारी पुरुष के जैसे इतने रूप बना सकता है कि सारा जम्बूद्वीप ठसाठस भर जाए, किन्तु वह कदापि ऐसा करता नही, किया नही, करेगा भी नही।

९ एक ओर या दोनो ओर पल्हथी मार कर बैठे हुए पुरुष की तरह वह कार्यवश पल्हथी मार कर बैठा-बैठा वैक्रियशक्ति से ऊपर आकाश मे उड सकता है, वह ऐसे इतने रूप वैक्रियशक्ति से बना सकता है कि पूरा जम्बूद्वीप उनसे ठसाठस भर जाए।[1]

कठिन शब्दो की व्याख्या—असिचम्मपाय हत्थकिच्चगएणं=जिसके हाथ मे असि (तलवार) और चर्मपात्र (ढाल या म्यान) हो, वह असिचर्मपात्रहस्त है, तथा किच्चगय—सघ आदि के किसी कार्य=प्रयोजनवश गया हुआ—कृत्यगत है। **पलिअंक**=पर्यंकासना। **जण्णोवइय**= यज्ञोपवीत।[2]

भावितात्मा अनगार द्वारा अश्वादि रूपों के अभियोग-सम्बन्धी प्ररूपण

१२. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू एगं महं आसरूवं वा हत्थिरूवं वा सीह-वग्घ-वग-दीविय-अच्छ-तरच्छ-परासररूवं[3] वा अभिजुंजित्तए ?

णो इणट्ठे समट्ठे, अणगारे णं एवं बाहिरए पोग्गले परियादित्ता पभू।

[१२ प्र.] भगवन् ! भावितात्मा अनगार, बाहर के पुद्गलो को ग्रहण किये बिना एक बडे अश्व के रूप को, हाथी के रूप को, सिंह, बाघ, भेडिये (वृक), चीते (द्वीपिक), रीछ (भालू), छोटे व्याघ्र (तरक्ष) अथवा पराशर (शरभ=अष्टापद) के रूप का अभियोग (अश्वादि के रूप मे प्रविष्ट होकर उसके द्वारा क्रिया) करने मे समर्थ है ?

[१२ उ.] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नही है। (अर्थात्—विद्या, मन्त्र आदि के बल से ग्रहण किये हुए बाह्य पुद्गलो के बिना वह पूर्वोक्त रूपो का अभियोग नही कर सकता।) वह भावितात्मा अनगार बाहर के पुद्गलो को ग्रहण करके (पूर्वोक्त रूपो का अभियोग करने मे) समर्थ है।

---

१ वियाहपण्णत्तिसुत्त, (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), भा. १, पृ १६३-१६४

२. भगवती-सूत्र अ. वृत्ति,

३ दीविय=चीता (पाइअसद्दमहण्णवो पृ. ४६५)
अच्छ=रींछ-भालू (पाइअसद्दमहण्णवो पृ. २१)
तरच्छ=व्याघ्र विशेष (पाइअसद्दमहण्णवो पृ. ४२९)
परासर=सरभ या अष्टापद (भगवती, टीकानुवाद ख २, पृ. ९९)

१३. [१] अणगारे ण भंते ! भावियप्पा एगं महं आसरूवं वा अभिजुंजित्ता [? पभू] अणेगाइं जोयणाइं गमित्तए ?

हंता, पभू ।

[१३-१ प्र] भगवन् ! भावितात्मा अनगार, एक बडे अश्व के रूप का अभियोजन करके अनेक योजन तक जा सकता है ?

[१३-१ उ] हा, गौतम ! वह वैसा करने मे समर्थ है ।

[२] से भंते ! किं आयड्ढीए गच्छति, परिड्ढीए गच्छति ?

गोयमा ! आयड्ढीए गच्छइ, नो परिड्ढीए गच्छइ ।

[१३-२ प्र] भगवन् ! क्या वह (इतने योजन तक) आत्मऋद्धि से जाता है या पर-ऋद्धि से जाता है ?

[१३-२ उ.] गौतम ! वह आत्म-ऋद्धि से जाता है, परऋद्धि से नही जाता ।

[३] एव आयकम्मुणा, नो परकम्मुणा । आयप्पयोगेण, नो परप्पयोगेण ।

[१३-३] इसी प्रकार वह अपनी क्रिया (स्वकर्म) से जाता है, परकर्म से नही, आत्मप्रयोग से जाता है, किन्तु परप्रयोग से नही ।

[४] उस्सिओदग वा गच्छइ पतोदगं वा गच्छइ ।

[१३-४] वह उच्छ्रितोदय (सीधे खडे) रूप भी जा सकता है और पतितोदय (पडे हुए) रूप मे भी जा सकता है ।

१४. [१] से णं भते ! किं अणगारे आसे ?

गोयमा ! अणगारे णं से, नो खलु से आसे ।

[१४-१ प्र] वह अश्वरूपधारी भावितात्मा अनगार, क्या (अश्व की विक्रिया के समय) अश्व है ?

[१४-१ उ] गौतम ! (वास्तव मे) वह अनगार है, अश्व नही ।

[२] एवं जाव परासररूवं वा ।

[१४-२] इसी प्रकार पराशर (शरभ या अष्टापद) तक के रूपो के सम्बन्ध मे भी कहना चाहिए ।

विवेचन—भावितात्मा अनगार द्वारा अश्वादिरूपों के अभियोगीकरण से सम्बन्धित प्ररूपणा— प्रस्तुत तीन सूत्रो (सू. १२ से १४ तक) मे भावितात्मा अनगार द्वारा विविध रूपों के अभियोजन के सम्बन्ध मे निम्नोक्त तथ्य प्रकट किये गए हैं—

(१) भावितात्मा अनगार विद्या आदि के बल से बाह्य पुद्गलो को ग्रहण किये बिना अश्वादिरूपो का अभियोजन नही कर सकता ।

(२) अश्वादिरूपो का अभियोजन करके वह अनेको योजन जा सकता है, पर वह जाता है अपनी लब्धि, अपनी क्रिया या अपने प्रयोग से । वह सीधा खडा भी जा सकता है, पडा हुआ भी जा सकता है ।

(३) अश्वादि का रूप बनाया हुआ वह अनगार अश्व आदि नही होता, वह वास्तव मे अनगार ही होता है । क्योंकि अश्वादि के रूप मे वह साधु ही प्रविष्ट है, इसलिए वह साधु है ।

अभियोग और वैक्रिय में अन्तर—वैक्रिय रूप किया जाता है—वैक्रिय लब्धि या वैक्रियसमुद्घात द्वारा, जबकि अभियोग किया जाता है—विद्या, मन्त्र, तन्त्र आदि के बल से । अभियोग मे मन्त्रादि के जोर से अश्वादि के रूप मे प्रवेश करके उसके द्वारा क्रिया कराई जाती है । दोनो के द्वारा रूप-परिवर्तन या विविधरूप निर्माण मे समानता दिखलाई देती है, परन्तु दोनो की प्रक्रिया मे अन्तर है ।[1]

मायी द्वारा विकुर्वणा और अमायी द्वारा अविकुर्वणा का फल

१५ [१] से भंते ! किं मायी विकुव्वति ? अमायी विकुव्वति ?

गोयमा ! मायी विकुव्वति, नो अमायी विकुव्वति ।

[१५-१ प्र] भगवन् ! क्या मायी अनगार, विकुर्वणा करता है, या अमायी अनगार करता है ?

[१५-१ उ] गौतम ! मायी अनगार विकुर्वणा करता है, अमायी अनगार विकुर्वणा नही करता ।

[२] माइ णं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ अन्नयरेसु आभिओगिएसु देवलोगेसु देवत्ताए उववज्जइ ।

[१५-२ प्र] मायी अनगार उस-उस प्रकार का विकुर्वण करने के पश्चात् उस (प्रमादरूप दोष) स्थान की आलोचना एव प्रतिक्रमण किये बिना ही काल करता है, इस प्रकार वह मृत्यु पाकर आभियोगिक देवलोको मे से किसी एक देवलोक मे देवरूप में उत्पन्न होता है ।

[३] अमाई णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेइ अन्नयरेसु अणाभिओगिएसु देवलोगेसु देवत्ताए उववज्जइ । सेवं भंते २ त्ति० ।

[१५-३] किन्तु अमायी (अप्रमत्त) अनगार उस प्रकार की विकुर्वणाक्रिया करने के पश्चात् पश्चात्तापपूर्वक उक्त प्रमादरूप दोष—स्थान का आलोचन-प्रतिक्रमण करके काल करता है, और वह मर कर अनाभियोगिकदेवलोको मे से किसी देवलोक मे देवरूप से उत्पन्न होता है ।

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठटिप्पणयुक्त), भा १, पृ १६४-१६५

(ख) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्रांक १९१

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है ।

विवेचन—मायी अनगार द्वारा कृत विकुर्वणा का और अमायी द्वारा कृत अविकुर्वणा का फल—प्रस्तुत पन्द्रहवे सूत्र मे मायी अनगार द्वारा कृत विकुर्वणारूप दोष का कुफल और अमायी अनगार द्वारा विकुर्वणा न करने का सुफल प्रतिपादित किया है ।

विकुर्वणा और अभियोग दोनो के प्रयोक्ता मायी—यद्यपि इससे पूर्वसूत्रो मे **'विकुव्वइ'** के बदले **'अभिजु ंजइ'** का प्रयोग किया गया है, और इन दोनो क्रियापदो का अर्थ भिन्न है, किन्तु यहाँ मूलपाठ मे विकुर्वणा के सम्बन्ध मे प्रश्न करके उत्तर मे जो 'फल' बताया गया है, वह अभियोग क्रिया का भी समझना चाहिए, क्योकि अभियोग भी एक प्रकार की विक्रिया ही है । दोनो के कर्त्ता मायी (प्रमादी एव कषायवान्) साधु होते हैं ।[1]

आभियोगिक अनगार का लक्षण—उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार "जो साधक केवल वैषयिक सुख (साता), स्वादिष्ट भोजन (रस) एव ऋद्धि को प्राप्त करने हेतु मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र साधना या विद्या आदि की सिद्धि से उपजीविका करता है, जो औषधिसयोग (योग) करता है, तथा भूति (भस्म) डोरा, धागा, धूल आदि मंत्रित करके प्रयोग करता है, वह आभियोगिकी भावना करता है ।" ऐसी आभियोगिकी भावना वाला साधु आभियोगिक (देवलोक मे महर्द्धिक देवो की आज्ञा एव अधीनता मे रहने वाले दास या भृत्यवर्ग के समान) देवो मे उत्पन्न होता है । ये आभियोगिक देव अच्युत देवलोक तक होते है । इसलिए यहाँ **'अण्णयरेसु'** (आभियोगिक देवलोको मे से किसी एक मे) शब्द प्रयोग किया गया है ।[2]

---

१. भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १९१

२ (क) भगवतीसूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ. ९९

(ख) **मताजोगं काउ, भूइकम्म च जे पउजंति ।**
साय-रस-इड्ढिहेउ अभिओग भावण कुणइ ॥

—उत्तराध्ययन अ २६, गा २६२, क' आ, पृ ११०३

—प्रज्ञापनासूत्र पद २०, पृ ४००-४०६

(ग) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक १९१

(घ) गच्छाचारपइन्ना और बृहत्कल्प वृत्ति मे भी इसी प्रकार की गाथा मिलती है।

(ङ) "एआणि गारवट्ठा कुणमाणो आभियोगिअ बधई ।
बीअ गारवरहिओ कुव्व आराहगत्त च ॥"

इन मन्त्र, प्रायोग और कौतुक आदि का उपयोग, जो गौरव (साता-रस-ऋद्धि) के लिए करता है, वह आभियोगिक देवायुरूप कर्म बाध लेता है । दूसरा—अपवादपद भी है, कि जो निःस्पृह, अतिशय ज्ञानी गौरवहेतु से रहित सिर्फ प्रवचन-प्रभावना के लिए इन कौतुकादि का प्रयोग करता है, वह आराधकभाव को प्राप्त होता है, उच्चगोत्र कर्म बांधता है।

—अभिधानराजेन्द्रकोष, भा. १

पंचम उद्देशक की संग्रहणीगाथाएँ

१६. गाहा—इत्थी असी पडागा जण्णोवइते य होइ बोद्धव्वे ।
पल्हत्थिय पलियंके अभियोगविकुव्वणा मायी ॥१॥

॥ तइए सए : पंचमो उद्देसो समत्तो ॥

[१६] संग्रहणीगाथा का अर्थ—स्त्री, असि (तलवार), पताका, यज्ञोपवीत (जनेऊ), पल्हथी, पर्यंकासन, इन सब रूपों के अभियोग और विकुर्वणा-सम्बन्धी वर्णन इस (पंचम) उद्देशक में है । तथा ऐसा कार्य (अभियोग तथा विकुर्वणा का प्रयोग) मायी करता है, यह भी बताया गया है ।

॥ तृतीय शतक : पंचम उद्देशक समाप्त ॥

छट्ठो उद्देसओ : 'नगरं' अहवा 'अणगारवीरियलद्धी'

छठा उद्देशक : 'नगर' अथवा 'अनगारवीर्यलब्धि'

वीर्यलब्धि आदि के प्रभाव से मिथ्यादृष्टि अनगार का नगरान्तर के रूपों को जानने-देखने की प्ररूपणा

१. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा मायी मिच्छद्दिट्ठी वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए विभंगनाणलद्धीए वाणारसिं नगरिं समोहए, समोहण्णित्ता रायगिहे नगरे रूवाइं जाणति पासति ?

हंता, जाणइ पासइ ।

[१ प्र] भगवन् ! राजगृह नगर मे रहा हुआ मिथ्यादृष्टि और मायी (कषायवान्) भावितात्मा अनगार वीर्यलब्धि से, वैक्रियलब्धि से और विभगज्ञानलब्धि से वाराणसी नगरी की विकुर्वणा करके क्या तद्गत रूपो को जानता-देखता है ?

[१ उ] हाँ, गौतम ! वह (पूर्वोक्त अनगार) उन पूर्वोक्त रूपो को जानता और देखता है ।

२. [२] **से भंते ! किं तहाभावं जाणइ पासइ ? अन्नहाभावं जाणइ पासइ ?**

गोयमा ! णो तहाभावं जाणइ पासइ, अन्नहाभावं जाणइ पासइ ।

[२-१ प्र.] भगवन् ! क्या वह (उन रूपो को) तथाभाव (यथार्थरूप) से जानता-देखता है, अथवा अन्यथाभाव (अयथार्थ रूप) से जानता-देखता है ?

[२-१ उ] गौतम ! वह तथाभाव से नही जानता-देखता, किन्तु अन्यथाभाव से जानता-देखता है ।

[२] **से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ 'नो तहाभावं जाणइ पासइ, अन्नहाभावं जाणइ पासइ ?'**

गोयमा ! तस्स णं एवं भवति—एवं खलु अहं रायगिहे नगरे समोहए, समोहण्णित्ता वाणारसीए नगरीए रूवाइं जाणामि पासामि, से से दंसणे विवच्चासे भवति, से तेणट्ठेणं जाव पासति ।

[२-२ प्र] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि वह तथाभाव से नही जानता देखता, किन्तु अन्यथाभाव से जानता देखता है ?

[२-२ उ.] गौतम ! उस (तथाकथित अनगार) के मन मे इस प्रकार का विचार होता है कि वाराणसी नगरी मे रहे हुए मैंने राजगृहनगर की विकुर्वणा की है और विकुर्वणा करके मैं तद्गत (वाराणसी) के रूपो को जानता-देखता हूँ । इस प्रकार उसका दर्शन विपरीत होता है । इस कारण से ऐसा कहा जाता है कि वह तथाभाव से नहीं जानता-देखता, किन्तु अन्यथा भाव से जानता-देखता है ।

३. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा मायी मिच्छद्दिट्ठी जाव रायगिहे नगरे समोहए, समोहण्णित्ता वाणारसीए नगरीए रूवाइं जाणइ पासइ ?

हंता, जाणइ पासइ। तं चेव जाव तस्स णं एवं होइ—एवं खलु अहं वाणारसीए नगरीए समोहए, २ रायगिहे नगरे रूवाइं जाणामि पासामि, से से दंसणे विवच्चासे भवति, से तेणट्ठेणं जाव अन्नहाभाव जाणइ पासइ।

[३ प्र.] भगवन् ! वाराणसी मे रहा हुआ मायी मिथ्यादृष्टि भावितात्मा अनगार, यावत् राजगृहनगर को विकुर्वणा करके वाराणसी के रूपो को जानता और देखता है ?

[३ उ] हाँ, गौतम ! वह उन रूपो को जानता और देखता है। यावत्—उस साधु के मन मे इस प्रकार का विचार होता है कि राजगृह नगर मे रहा हुआ मैं वाराणसी नगरी की विकुर्वणा करके तद्गत (राजगृह नगर के) रूपो को जानता और देखता हूँ। इस प्रकार उसका दर्शन विपरीत होता है। इस कारण से, यावत्—वह अन्यथाभाव से जानता-देखता है।

४. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा मायी मिच्छद्दिट्ठी वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए विभंगणाणलद्धीए वाणारसिं नगरिं रायगिहं च नगरं अंतरा य एगं महं जणवयवग्गं समोहए, २ वाणारसिं नगरिं रायगिहं च नगरं त च अंतरा एगं महं जणवयवग्गं जाणति पासति ?

हंता, जाणति पासति।

[४ प्र] भगवन् ! मायी, मिथ्यादृष्टि भावितात्मा अनगार अपनी वीर्यलब्धि से, वैक्रियलब्धि से और विभगज्ञानलब्धि से वाराणसी नगरी और राजगृह नगर के बीच मे एक बडे जनपद-वर्ग (देश-समूह) की विकुर्वणा करे और वैसा करके क्या उस (वाराणसी और राजगृह के बीच विकुर्वित) बड़े जनपद वर्ग को जानता और देखता है ?

[४ उ] हाँ, गौतम ! वह (उस विकुर्वित बडे जनपद-वर्ग को) जानता और देखता है।

५. [१] से भंते ! किं तहाभावं जाणइ पासइ ? अन्नहाभावं जाणइ पासइ ?
गोयमा ! णो तहाभाव जाणति पासइ, अन्नहाभावं जाणइ पासइ ?

[५-१ प्र] भगवन् ! क्या वह उस जनपदवर्ग को तथाभाव से जानता-देखता है, अथवा अन्यथाभाव से जानता-देखता है ?

[५-१ उ] गौतम ! वह उस जनपदवर्ग को तथाभाव से नही जानता-देखता; किन्तु अन्यथाभाव से जानता-देखता है।

[२] से केणट्ठेणं जाव पासइ ?

गोयमा ! तस्स खलु एवं भवति—एस खलु वाणारसी नगरी, एस खलु रायगिहे नगरे, एस खलु अंतरा एगे महं जणवयवग्गे, नो खलु एस महं वीरियलद्धी वेउव्वियलद्धी विभंगनाणलद्धी इड्ढी जुती जसे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे लद्धे पत्ते अभिसमन्नागए, से से दंसणे विवच्चासे भवति, से तेणट्ठेणं जाव पासति।

[५-२ प्र.] भगवन् ! वह उस जनपदवर्ग को अन्यथाभाव से यावत् जानता-देखता है, इसका क्या कारण है ?

[५-२ उ.] गौतम ! उस अनगार के मन मे ऐसा विचार होता है कि यह वाराणसी नगरी है, यह राजगृह नगर है। तथा इन दोनो के बीच मे यह एक बडा जनपदवर्ग है। परन्तु यह मेरी वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि या विभगज्ञानलब्धि नही है, और न ही मेरे द्वारा उपलब्ध, प्राप्त और अभिसमन्वागत (सम्मुख लायी हुई) यह ऋद्धि, द्युति, यश, बल और पुरुषकार पराक्रम है। इस प्रकार का उक्त अनगार का दर्शन विपरीत होता है। इस कारण से, यावत् वह अन्यथाभाव से जानता-देखता है।

विवेचन—मायी मिथ्यादृष्टि अनगार द्वारा विकुर्वणा और उसका दर्शन—प्रस्तुत पाच सूत्रो (सू. १ से ५ तक) में मायी, मिथ्यादृष्टि, भावितात्मा अनगार द्वारा वीर्य आदि तीन लब्धियो से एक स्थान मे रह कर दूसरे स्थान की विकुर्वणा करने और तद्गतरूपो को जानने-देखने के सम्बन्ध मे चर्चा की गई है।

निष्कर्ष—राजगृह नगर मे स्थित मायी मिथ्यादृष्टि अनगार, वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि और विभंगज्ञानलब्धि से वाराणसी नगरी की विकुर्वणा, अथवा वाराणसीस्थित तथाकथित अनगार राजगृह नगर की विकुर्वणा या वाराणसी और राजगृह के बीच मे विशाल जनपदवर्ग की विकुर्वणा करके, तद्गतरूपो को जान-देख सकता है, किन्तु वह जानता-देखता है—अन्यथाभाव से, यथार्थभाव से नही, क्योकि उसके मन मे ऐसा विपरीत दर्शन होता है कि—(१) वाराणसी मे रहे हुए मैंने राजगृह की विकुर्वणा की है और मैं तद्गतरूपो को जान देख रहा हूँ, (२) अथवा राजगृह मे रहा हुआ मै वाराणसी की विकुर्वणा करके तद्गतरूपो को जान-देख रहा हूँ, (३) अथवा यह वाराणसी है, यह राजगृह है, इन दोनो के बीच में यह एक बडा जनपदवर्ग है, यह मेरी वीर्यादिलब्धि नही, न ऋद्धि आदि है।[1]

मायी, मिथ्यादृष्टि, भावितात्मा अनगार की व्याख्या—अनगार = गृहवासत्यागी, **भावितात्मा** = स्वसिद्धान्त (शास्त्र) मे उक्त शम, दम आदि नियमो का धारक। मायी का अर्थ यहाँ उपलक्षण से क्रोधादि कषायोवाला है। इस विशेषण वाला सम्यग्दृष्टि भी हो सकता है, इसलिए यहाँ 'मिथ्या-दृष्टि' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ है—अन्यतीर्थिक मिथ्यात्वी साधु। यही कारण है कि मिथ्यात्वी होने से उसका दर्शन विपरीत होता है, और वह अपने द्वारा विकुर्वित रूपो को विपरीत रूप मे देखता है। उसका दर्शन विपरीत यों भी है कि वह वैक्रियकृत रूपो को स्वाभाविक रूप मान लेता है, तथा जैसे दिङ्मूढ मनुष्य पूर्व दिशा को भी पश्चिम दिशा मान लेता है, उसी तरह मिथ्या-दृष्टि अनगार भी दूसरे रूपो की अन्यथा कल्पना कर लेता है। इसलिए उसका अनुभव, दर्शन और क्षेत्र सम्बन्धी विचार विपरीत होता है।[2]

लब्धित्रय का स्वरूप—यहाँ जो तीन लब्धियाँ बताई गई है, वे इस प्रकार है—वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि और विभगज्ञानलब्धि। वीर्यादि तीनो लब्धियाँ विकुर्वणा करने की मुख्य साधन हैं। इनसे

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. १६५ से १६७ तक

२. (क) भगवतीसूत्र (टीकानुवादसहित) खण्ड-२, पृ १०४

(ख) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्राक १९३

तथाकथित मिथ्यादृष्टि अनगार विकुर्वणा करता है। वीर्यलब्धि से शक्तिस्फुरण करता है, वैक्रियलब्धि से वैक्रिय समुद्घात करके विविधरूपो की विकुर्वणा करता है और विभगज्ञानलब्धि से राजगृहादिक पशु, पुरुष, प्रासाद आदि विविध रूपो को जानता-देखता है। मिथ्यादृष्टि होने के कारण इसका दर्शन और ज्ञान मिथ्या होता है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—समोहए = विकुर्वणा की। **विवच्चासे** = विपरीत। **जणवयवग्गं** = जनपद = देश का समूह। **तहाभावं**—जिस प्रकार वस्तु है, उसकी उसी रूप मे ज्ञान मे अभिसन्धि—प्रतीति होना तथाभाव है, अथवा जैसा सवेदन प्रतीत होता है, वैसे ही भाव (बाह्य अनुभव) वाला ज्ञान तथाभाव है।[1]

अमायी सम्यग्दृष्टि अनगार द्वारा विकुर्वणा और उसका दर्शन

६. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा अमायी सम्मद्दिट्ठी वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए ओहिनाणलद्धीए रायगिहे नगरे समोहए, २ वाणारसीए नगरीए रूवाइं जाणइ पासइ ?

हंता, जाणति पासति।

[६ प्र] भगवन् ! वाराणसी नगरी मे रहा हुआ अमायी सम्यग्दृष्टि भावितात्मा अनगार, अपनी वीर्यलब्धि से, वैक्रियलब्धि से और अवधिज्ञानलब्धि से राजगृह नगर की विकुर्वणा करके (तद्गत) रूपो को जानता-देखता है ?

[६] हाँ (गौतम ! वह उन रूपो को) जानता-देखता है।

७. [१] से भंते ! किं तहाभावं जाणइ पासइ ? अन्नहाभावं जाणति पासति ?

गोयमा ! तहाभावं जाणति पासति, नो अन्नहाभावं जाणति पासति।

[७-१ प्र] भगवन् ! वह उन रूपो को तथाभाव से जानता-देखता है, अथवा अन्यथाभाव से जानता-देखता है।

[७-१ उ] गौतम ! वह उन रूपो को तथाभाव से जानता-देखता है, किन्तु अन्यथाभाव से नही जानता-देखता।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?

गोयमा ! तस्स णं एवं भवति—एवं खलु अहं रायगिहे नगरे समोहए, समोहण्णित्ता वाणारसीए नगरीए रूवाइं जाणामि पासामि, से से दसणे अविवच्चासे भवति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति।

[७-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि वह तथाभाव से उन रूपों को जानता-देखता है, अन्यथाभाव से नही।

[७-२ उ] गौतम ! उस अनगार के मन मे इस प्रकार का विचार होता है कि 'वाराणसी

---

१. भगवतीसूत्र अभय वृत्ति, पत्राक १९३

नगरी मे रहा हुआ मै राजगृहनगर की विकुर्वणा करके वाराणसी के रूपो को जानता-देखता हूँ।' इस प्रकार उसका दर्शन अविपरीत (सम्यक्) होता है। हे गौतम ! इस कारण से ऐसा कहा जाता है (कि वह तथाभाव से जानता-देखता है।)

८ बीओ वि आलावगो एवं चेव, नवरं वाणारसीए नगरीए समोहणावेयव्वो, रायगिहे नगरे रूवाइं जाणइ पासइ।

[८] दूसरा आलापक भी इसी तरह कहना चाहिए। किन्तु विशेष यह है कि विकुर्वणा वाराणसी नगरी की समझनी चाहिए, और राजगृह नगर मे रहकर रूपो को जानता-देखता है, (ऐसा जानना चाहिए।)

९ अणगारे णं भंते ! भावियप्पा अमायी सम्मद्दिट्ठी वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए ओहिणाणलद्धीए रायगिहं नगरं वाणारसिं च नगरिं अंतरा य एगं महं जणवयवग्गं समोहए, २ रायगिहं नगरं वाणारसिं च नगरिं तं च अंतरा एगं महं जणवयवग्गं जाणइ पासइ ?

हंता, जाणइ पासइ।

[९ प्र] भगवन् ! अमायी सम्यग्दृष्टि भावितात्मा अनगार, अपनी वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि और अवधिज्ञानलब्धि से, राजगृहनगर और वाराणसी नगरी के बीच मे एक बडे जनपदवर्ग को जानता-देखता है ?

[९ उ] हाँ (गौतम ! वह उस जनपदवर्ग को) जानता-देखता है।

१०. [१] से भंते ! किं तहाभावं जाणइ पासइ ? अन्नहाभावं जाणइ पासइ ?

गोयमा ! तहाभावं जाणइ पासइ, णो अन्नहाभावं जाणइ पासइ।

[१०-१ प्र] भगवन् ! क्या वह उस जनपदवर्ग को तथाभाव से जानता और देखता है, अथवा अन्यथाभाव से जानता-देखता है ?

[१०-१ उ] गौतम ! वह उस जनपदवर्ग को तथाभाव से जानता और देखता है, परन्तु अन्यथाभाव से नही जानता-देखता।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोयमा ! तस्स णं एवं भवति —नो खलु एस रायगिहे णगरे, णो खलु एस वाणारसी नगरी, नो खलु एस अंतरा एगे जणवयवग्गे, एस खलु ममं वीरियलद्धी वेउव्वियलद्धी ओहिणाणलद्धी इड्ढी जुत्ती जसे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे लद्धे पत्ते अभिसमन्नागए, से से दंसणे अविवच्चासे भवति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति—तहाभावं जाणति पासति, नो अन्नहाभावं जाणति पासति।

[१०-२ प्र] भगवन् ! इसका कारण क्या है ?

[१९-२ उ.] गौतम ! उस अमायी सम्यग्दृष्टि भावितात्मा अनगार के मन मे ऐसा विचार

होता है कि न तो यह राजगृह नगर है, और न यह वाराणसी नगरी है, तथा न ही इन दोनों के बीच में यह एक बड़ा जनपदवर्ग है, किन्तु यह मेरी ही वीर्यलब्धि है, वैक्रियलब्धि है और अवधिज्ञानलब्धि है, तथा यह मेरे द्वारा उपलब्ध, प्राप्त एवं अभिमुखसमागत ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य और पुरुषकार पराक्रम है। उसका वह दर्शन अविपरीत होता है। इसी कारण से, हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि वह अमायी सम्यग्दृष्टि अनगार तथाभाव से जानता-देखता है, किन्तु अन्यथाभाव से नहीं जानता-देखता।

विवेचन—अमायी सम्यग्दृष्टि अनगार द्वारा विकुर्वणा और उसका दर्शन—प्रस्तुत पाच सूत्रो (सू. ६ से १० तक) मे मायी मिथ्यादृष्टि अनगार द्वारा कृत विकुर्वणा सम्बन्धी सूत्रो की तरह अमायी सम्यग्दृष्टि अनगार द्वारा कृत विकुर्वणा और उसके द्वारा कृत रूपो को जानने-देखने के सम्बन्ध मे प्ररूपण किया गया है।

निष्कर्ष—वाराणसी नगरी मे स्थित अमायी सम्यग्दृष्टि भावितात्मा अनगार, अपनी वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि और अवधिज्ञानलब्धि से राजगृहनगर की विकुर्वणा, अथवा राजगृहस्थित तथारूप अनगार वाराणसी नगरी की विकुर्वणा, या राजगृह और वाराणसी के बीच मे एक महान् जनपदसमूह की विकुर्वणा करके तद्गत रूपो को तथाभाव (यथार्थभाव) से जान-देख सकता है, क्योकि उसके मन मे ऐसा अविपरीत (सम्यग्) ज्ञान होता है कि—(१) वाराणसी मे रहा हुआ मैं राजगृह की विकुर्वणा करके तद्गतरूपों को जान-देख रहा हूँ, (२) राजगृह मे रहा हुआ मैं वाराणसी नगरी की विकुर्वणा करके तद्गतरूपो को देख रहा हूँ, (३) तथा न तो यह राजगृह है, और न यह वाराणसी है, और न ही इन दोनो के बीच मे यह एक बडा जनपदवर्ग है, अपितु मेरी ही वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि और अवधिज्ञानलब्धि है। और है—मेरे ही द्वारा अर्जित, प्राप्त, सम्मुखसमानीत ऋद्धि[1] आदि।

भावितात्मा अनगार द्वारा ग्रामादि के रूपों का विकुर्वण-सामर्थ्य

११. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू एगं महं गामरूवं वा नगररूवं वा जाव[2] सन्निवेसरूवं वा विकुव्वित्तए ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[११ प्र] भगवन् ! भावितात्मा अनगार बाहर के पुद्गलो को ग्रहण किये बिना, एक बडे ग्रामरूप की, नगररूप की, यावत्-सन्निवेश के रूप की विकुर्वणा कर सकता है।

[११ उ] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नही है।

१२. एवं बितिओ वि आलावगो, णवरं बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू।

[१२] इसी प्रकार दूसरा आलापक भी कहना चाहिए, किन्तु इसमे विशेष यह है कि बाहर के (वैक्रियक) पुद्गलो को ग्रहण करके वह अनगार, उस प्रकार के रूपो की विकुर्वणा कर सकता है।

१ (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा १, पृ १६७-१६८
(ख) भगवतीसूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणसहित) खण्ड-२, पृ १०३ से १०६ तक

२ 'जाव' शब्द यहाँ निम्नोक्त पाठ का सूचक है—
"निगमरूवं वा, रायहाणिरूवं वा, खेडरूवं वा, कब्बडरूवं वा, मडंबरूवं वा, दोणमुहरूवं वा पट्टणरूवं वा, आगररूवं वा, आसमरूवं वा, संबाहरूवं वा" —भगवती अ वृत्ति, पत्राक १९३।

१३. अणगारे णं भंते ! भावियप्पा केवतियाइं पभू गामरूवाइं विकुव्वित्तए ?

गोयमा ! से जहानामए जुवीत जुवाणे हत्थेणं हत्थे गेण्हेज्जा तं चेव जाव विकुव्विंसु वा ३। एवं जाव सन्निवेसरूवं वा।

[१३ प्र.] भगवन् ! भावितात्मा अनगार, कितने ग्रामरूपों की विकुर्वणा करने में समर्थ है ?

[१३ उ.] गौतम ! जैसे युवक युवती का हाथ अपने हाथ से दृढतापूर्वक पकड कर चलता है, इस पूर्वोक्त दृष्टान्तपूर्वक समग्र वर्णन को कहना चाहिए, (अर्थात्—वह इस प्रकार के रूपों से सारे जम्बूद्वीप को ठसाठस भर सकता है) यावत्—यह उसका केवल विकुर्वण-सामर्थ्य है, मात्र विषय-सामर्थ्य है, किन्तु इतने रूपों की विकुर्वणा कभी की नहीं, (करता नहीं और करेगा भी नहीं।) इसी तरह से यावत् सन्निवेशरूपों (की विकुर्वणा) पर्यन्त कहना चाहिए।

विवेचन—भावितात्मा अनगार द्वारा ग्रामादि के रूपों का विकुर्वणसामर्थ्य—प्रस्तुत तीनों सूत्रों मे भावितात्मा अनगार द्वारा ग्राम, नगर आदि से लेकर सन्निवेश तक के रूपों की विकुर्वणा करने के सामर्थ्य के सम्बन्ध मे प्ररूपणा है।

चमरेन्द्र आदि इन्द्रों के आत्मरक्षक देवों की संख्या का निरूपण

१४. चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुररण्णो कति आयरक्खदेवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! चत्तारि चउसट्ठीओ आयरक्खदेवसाहस्सीओ पण्णत्ताओ। ते ण आयरक्खा० वण्णओ[1] जहा रायप्पसेणइज्जे।

[१४ प्र.] भगवन् ! असुरेन्द्र असुरराज चमरेन्द्र के कितने हजार आत्मरक्षक देव हैं ?

[१४ उ.] गौतम ! असुरेन्द्र असुरराज चमरेन्द्र के चौसठ हजार के चार गुने अर्थात्—दो लाख छप्पन हजार आत्मरक्षक देव हैं। यहाँ आत्मरक्षक देवों का वर्णन राजप्रश्नीय सूत्र के अनुसार समझ लेना चाहिए।

१५. एवं सव्वेसिं इंदाणं जस्स जत्तिया आयरक्खा ते भाणियव्वा। सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ तइयसए छट्ठो उद्देसो समत्तो ॥

---

१. चमरेन्द्र आदि इन्द्रों के आत्मरक्षक देवों का वर्णन इस प्रकार है—"सन्नद्धबद्धवम्मियकवया उप्पीलियसरासणपट्टिया पिणद्धगेवेज्जा बद्धआविद्धविमलवरचिंधपट्टा गहियाउहपहरणा तिणयाइं तिसंधियाइं वयरामयकोडीणि धणूइं अभिगिज्झ पयओ परिमाइयकंडकलावा नीलपाणिणो पीयपाणिणो रत्तपाणिणो एवं चारुचाव-चम्म-दंड-खग्ग-पासपाणिणो नील-पीय-रत्त-चारुचाव-चम्म-दंड-खग्ग-पासवरधरा आयरक्खा रक्खोवगया गुत्ता गुत्तपालिया जुत्ता जुत्तपालिया पत्तेयं पत्तेयं समयओ विणयओ किंकरभूया इव चिट्ठंति।"

—भगवती सूत्र अ. वृत्ति—पत्रांक १९३ में समुद्धृत।

[१५] सभी इन्द्रो मे से जिस इन्द्र के जितने आत्मरक्षक देव हैं, उन सबका वर्णन यहाँ करना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कह कर यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—चमरेन्द्र आदि इन्द्रो के आत्मरक्षक देवों की संख्या का निरूपण—प्रस्तुत सूत्र मे चमरेन्द्र एव अन्य सभी इन्द्रो के आत्मरक्षक देवो का निरूपण किया गया है।

आत्मरक्षक और उनकी संख्या—स्वामी की रक्षा के लिए सेवक की तरह, इन्द्र की रक्षा मे, उसके पीछे, जो शस्त्रादि से सुसज्ज होकर तत्पर रहते हैं, वे 'आत्मरक्षक देव' कहलाते हैं। प्रत्येक इन्द्र के सामानिक देवो से आत्मरक्षक देवों की सख्या चौगुनी होती है। सामानिक देवो की सख्या इस प्रकार है—चमरेन्द्र के ६४ हजार, बलीन्द्र के ६० हजार तथा शेष नागकुमार आदि भवनपति-देवो के प्रत्येक इन्द्र के ६-६ हजार सामानिकदेव, शक्रेन्द्र के ८४ हजार, ईशानेन्द्र के ८० हजार सनत्कुमारेन्द्र के ७२ हजार, माहेन्द्र के ७० हजार, ब्रह्मेन्द्र के ६० हजार, लान्तकेन्द्र के ५० हजार, शक्रेन्द्र के ४० हजार, सहस्रारेन्द्र के ३० हजार, प्राणतेन्द्र के २० हजार और अच्युतेन्द्र के १० हजार सामानिक देव होते हैं।[1]

॥ तृतीय शतक : छठा उद्देशक समाप्त ॥

---

१. चउसट्ठी सट्ठी खलु छच्च सहस्साओ असुरवज्जाण।
सामाणिया उ एए चउग्गुणा आयरक्खाओ ॥ १ ॥
चउरासीई असीई बावत्तरि सत्तरि य सट्ठी य।
पण्णा चत्तालीसा तीसा वीसा दस सहस्सेत्ति ॥ २ ॥ —भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक १९४

सत्तमो उद्देसओ : 'लोगपाला'

सप्तम उद्देशक : लोकपाल

शक्रेन्द्र के लोकपाल और उनके विमानों के नाम

१. रायगिहे नगरे जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी—

[१] राजगृह नगर मे यावत् पर्युपासना करते हुए गौतम स्वामी ने इस प्रकार कहा (पूछा—)

२. सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो कति लोगपाला पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि लोगपाला पण्णत्ता, तं जहा—सोमे जमे वरुणे वेसमणे।

[२ प्र] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज शक्र के कितने लोकपाल कहे गए है ?

[२ उ] गौतम ! चार लोकपाल कहे गए है, वे इस प्रकार है—सोम, यम, वरुण और वैश्रमण।

३. एतेसि णं भंते ! चउण्हं लोगपालाणं कति विमाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि विमाणा पण्णत्ता, त जहा—संझप्पभे वरसिट्ठे सतंजले वग्गू।

[३ प्र.] भगवन् ! इन चारो लोकपालो के कितने विमान कहे गए है ?

[३ उ] गौतम ! इन चार लोकपालो के चार विमान कहे गए हैं; जैसे कि—सन्ध्याप्रभ, वरशिष्ट, स्वयज्वल और वल्गु।

विवेचन—शक्रेन्द्र के लोकपाल एव उसके विमानों के नाम—प्रस्तुत तीन सूत्रो मे से प्रथम सूत्र मे राजगृह नगर मे गौतम स्वामी द्वारा पूछा गया प्रश्न है। उसके उत्तर मे शक्रेन्द्र के चार लोकपालो तथा उनके चार विमानो का नामोल्लेख किया गया है।

सोम-लोकपाल के विमानस्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन

४. [१] कहि णं भते ! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो संझप्पभे णामं महाविमाणे पण्णत्ते ?

गोयमा ! जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढं चंदिम-सूरिय-गहगण-नक्खत्त-तारारूवाणं बहूइं जोयणाइं जाव पंच वडिंसया पण्णत्ता, तं जहा—असोयवडेंसए सत्तवण्णवडिंसए चंपयवडिंसए चूयवडिंसए मज्झे सोहम्मवडिंसए। तस्स णं सोहम्मवडेंसयस्स महाविमाणस्स पुरत्थिमेणं सोहम्मे कप्पे असंखेज्जाइं जोयणाइं वीतीवइत्ता एत्थ णं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो संझप्पभे नामं महाविमाणे पण्णत्ते

अद्धतेरस जोयणसयसहस्साइं आयाम-विक्खंभेणं, ऊयालीसं जोयणसयसहस्साइं बावण्णं च सहस्साइं अट्ठ य अडयाले जोयणसए किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं प०। जा सूरियाभविमाणस्स वत्तव्वया सा अपरिसेसा भाणियव्वा जाव अभिसेयो नवरं सोमे देवे।

[४-१ प्र] भगवन्! देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल सोम नामक महाराज का सन्ध्याप्रभ नामक महाविमान कहाँ है?

[४-१ उ] गौतम! जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मन्दर (मेरु) पर्वत से दक्षिण दिशा में इस रत्नप्रभा पृथ्वी के बहु सम भूमि भाग से ऊपर चन्द्र, सूर्य, ग्रहगण, नक्षत्र और तारारूप (तारे) आते हैं। उनसे बहुत योजन ऊपर यावत् पाच अवतसक कहे गए हैं, वे इस प्रकार हैं—अशोकावतंसक, सप्तपर्णावतंसक, चम्पकावतसक चूतावतसक और मध्य मे सौधर्मावतसक है। उस सौधर्मावतसक महाविमान से पूर्व मे, सौधर्मकल्प से असंख्य योजन दूर जाने के बाद, वहाँ पर देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—सोम नामक महाराज का सन्ध्याप्रभ नामक महाविमान आता है, जिसकी लम्बाई-चौडाई साढ़े बारह लाख योजन है। उसका परिक्षेप (परिधि) उनचालीस लाख बावन हजार आठ सौ अडतालीस (३९५२८४८) योजन के कुछ अधिक है। इस विषय में सूर्याभदेव के विमान की जो वक्तव्यता है, वह सारी वक्तव्यता (राजप्रश्नीयसूत्र मे वर्णित) 'अभिषेक' तक कह लेनी चाहिए। इतना विशेष है कि यहाँ सूर्याभदेव के स्थान मे 'सोमदेव' कहना चाहिए।

[२] **संझप्पभस्स णं महाविमाणस्स अहे सपक्खिं सपडिदिसिं असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सोमा नामं रायहाणी पण्णत्ता, एगं जोयणसयसहस्सं आयाम-विक्खंभेणं जंबुद्दीवपमाणा।**

[४-२] सन्ध्याप्रभ महाविमान के सपक्ष-सप्रतिदेश, अर्थात्—ठीक नीचे, असख्य लाख योजन आगे (दूर) जाने पर देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल सोम महाराज की सोमा नाम की राजधानी है, जो एक लाख योजन लम्बी-चौड़ी है, और जम्बूद्वीप जितनी है।

[३] **वेमाणियाणं पमाणस्स अद्धं नेयव्वं जाव उवरियलेणं सोलस जोयणसहस्साइं आयाम-विक्खंभेणं, पण्णासं जोयणसहस्साइं पंच य सत्ताणउए जोयणसते किंचिविसेसूणे परिक्खेवेणं पण्णत्ते। पासायाणं चत्तारि परिवाडीओ नेयव्वाओ सेसा नत्थि।**

[४-३] इस राजधानी मे जो किले आदि हैं, उनका परिमाण वैमानिक देवों के किले आदि के परिमाण से आधा कहना चाहिए। इस तरह यावत् घर में ऊपर के पीठबन्ध तक कहना चाहिए। घर के पीठबन्ध का आयाम (लम्बाई) और विष्कम्भ (चौडाई) सोलह हजार योजन है। उसका परिक्षेप (परिधि) पचास हजार पाच सौ सत्तानवे योजन से कुछ अधिक कहा गया है। प्रासादो की चार परिपाटियाँ कहनी चाहिए, शेष नहीं।

[४] **सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो इमे देवा आणा-उववाय-वयण-निद्देसे चिट्ठंति, तं जहा—सोमकाइया ति वा, सोमदेवयकाइया ति वा, विज्जुकुमारा विज्जुकुमारीओ, अग्गिकुमारा अग्गिकुमारीओ, वाउकुमारा वाउकुमारीओ, चंदा सूरा गहा नक्खत्ता ताराख्वा, जे**

यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते तब्भत्तिया तप्पक्खिया तब्भारिया सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो आणा-उववाय-वयण-निद्देसे चिट्ठंति।

[४-४] देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—सोम महाराज की आज्ञा मे, सेवा (उपपात = समीप) मे, वचन-पालन मे, और निर्देश मे ये देव रहते हैं यथा—सोमकायिक, अथवा सोमदेवकायिक, विद्युत्कुमार-विद्युत्कुमारियाँ, अग्निकुमार-अग्निकुमारियाँ, वायुकुमार-वायुकुमारियाँ, चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारारूप, ये तथा इसी प्रकार के दूसरे सब उसकी भक्ति वाले, उसके पक्ष वाले, उससे भरण-पोषण पाने वाले (भृत्य या उसकी अधीनता मे रहने वाले) देव उसकी आज्ञा, सेवा, वचनपालन और निर्देश मे रहते हैं।

[५] जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं जाइं इमाइं समुप्पज्जंति, तं जहा—गहदंडा ति वा, गहमुसला ति वा, गहगज्जिया ति वा, एव गहजुद्धा ति वा, गहसिंघाडगा ति वा, गहावसव्वा इ वा, अब्भा ति वा, अब्भरुक्खा ति वा, संझा इ वा, गंधव्वनगरा ति वा, उक्कापाया ति वा, दिसीदाहा ति वा, गज्जिया ति वा, विज्जुया ति वा, पंसुवुट्ठी ति वा, जूवेति वा, जक्खालित्ते त्ति वा, धूमिया इ वा, महिया इ वा, रयुग्घाया इ वा, चंदोवरागा ति वा, सूरोवरागा ति वा, चंदपरिवेसा ति वा, सूरपरिवेसा ति वा, पडिचंदा इ वा, पडिसूरा ति वा, इंदधणू ति वा, उदगमच्छ-कपिहसिय-अमोह-पाईणवाया ति वा, पडीणवाता ति वा, जाव संवट्टयवाता ति वा, गामदाहा इ वा, जाव सन्निवेसदाहा ति वा पाणक्खया जणक्खया धणक्खया कुलक्खया वसणब्भूया अणारिया जे यावन्ने तहप्पगारा ण ते सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो अण्णाया अदिट्ठा असुया अमुया अविण्णाया, तेसिं वा सोमकाइयाणं देवाणं।

[४-५] इस जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मेरुपर्वत के दक्षिण मे जो कार्य होते हैं तथा—ग्रहदण्ड, ग्रहमूसल, ग्रहगर्जित, ग्रहयुद्ध, ग्रह-शृंगाटक, ग्रहापसव्य, अभ्र, अभ्रवृक्ष, सन्ध्या, गन्धर्वनगर, उल्कापात, दिग्दाह, गर्जित, विद्युत् (बिजली चमकाना), धूल की वृष्टि, यूप, यक्षादीप्त, धूमिका, महिका, रज, उद्घात, चन्द्रग्रहण (चन्द्रोपराग), सूर्योपराग (सूर्यग्रहण), चन्द्रपरिवेष, सूर्यपरिवेष, (सूर्य मण्डल), प्रतिचन्द्र, प्रतिसूर्य, इन्द्रधनुष, अथवा उदकमत्स्य, कपिहसित, अमोघ, पूर्वदिशा का वात और पश्चिम-दिशा का वात, यावत् सवर्त्तक वात, ग्रामदाह यावत् सन्निवेशदाह, प्राणक्षय, जनक्षय, धनक्षय, कुलक्षय यावत् व्यसनभूत अनार्य (पापरूप) तथा उस प्रकार के दूसरे सभी कार्य देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—सोम महाराज से (अनुमान की अपेक्षा) अज्ञात (न जाने हुए), अदृष्ट (न देखे हुए), अश्रुत (न सुने हुए), अस्मृत (स्मरण न किये हुए) तथा अविज्ञात (विशेषरूप से न जाने हुए) नहीं होते। अथवा ये सब कार्य सोमकायिक देवो से भी अज्ञात नही होते। अर्थात् उनकी जानकारी मे ही होते हैं।

[६] सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो इमे अहावच्चा अभिण्णाया होत्था, तं जहा—इंगालए वियालए लोहियक्खे सणिच्छरे चंदे सूरे सुक्के बुहे बहस्सती राहू।

[४-६] देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—सोम महाराज के ये देव अपत्यरूप से अभिज्ञात

(जाने-माने) होते हैं जैसे—अगारक (मगल), विकालिक, लोहिताक्ष, शनैश्चर, चन्द्र, सूर्य, शुक्र, बुध, बृहस्पति और राहु।

[७] **सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सत्तिभागं पलिओवमं ठिती पण्णत्ता। अहावच्चाभिण्णायाणं देवाणं एगं पलिओवमं ठिई पण्णत्ता। एमहिड्ढीए जाव एमहाणुभागे सोमे महाराया।**

[४-७] देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—सोम महाराज की स्थिति तीन भाग सहित एक पल्योपम की होती है, और उसके द्वारा अपत्यरूप से अभिमत देवो की स्थिति एक पल्योपम की होती है।

इस प्रकार सोम महाराज, महाऋद्धि और यावत् महाप्रभाव वाला है।

विवेचन—सोम लोकपाल के विमानस्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन—प्रस्तुत चतुर्थ सूत्र मे शक्रेन्द्र के लोकपाल सोम महाराज के विमान का स्थान, उसके आयाम, विष्कम्भ, परिक्षेप तथा उसकी राजधानी, दुर्ग, पीठबन्ध, प्रासाद आदि का वर्णन किया गया है। साथ ही उसके आज्ञानुवर्ती देववर्ग, जम्बूद्वीपवर्ती मेरुगिरि के दक्षिण मे होने वाले कार्यों से सुपरिचित, एव उसके अपत्य रूप से अभिमत अंगारक आदि देवों, तथा सोम महाराज की स्थिति, ऋद्धि आदि का निरूपण भी अकित है।

कठिन शब्दों के अर्थ—वडेंसिया=अवतंसक—श्रेष्ठ। **वेमाणियाणं पमाणस्स०**=वैमानिको के सौधर्म विमान मे रहे हुए किले, महल और द्वार आदि के प्रमाण (माप) से सोम लोकपाल की नगरी के किलो आदि का प्रमाण आधा जानना। **सोमकाइया**=सोम लोकपाल के निकाय के परिवार-रूप देव। **ताराख्वा**=तारकरूप देव। **तब्भत्तिय**=सोम की भक्ति—बहुमान करने वाले। **तपक्खिय**=कार्य आ पडने पर सोम के पक्ष में सहायक। **तब्भारिय**=सोम से भरण-पोषण पाने वाले अथवा सोमदेव का कार्यभार वहन करने वाले तद्भारिक देव। **गहदंडा**=दण्ड की तरह सीधी पंक्ति-बद्ध ग्रहमाला। **गह मुसला**=मूसल की तरह आकृति मे बद्ध ग्रह। **गहगज्जिया**—ग्रह के गति (गमन) करते समय होने वाली गर्जना। **गहयुद्धा**=ग्रहो का आमने-सामने (उत्तर-दक्षिण मे) पक्तिबद्ध रहना। **गहसिंघाडगा**=सिघाडे के आकार मे ग्रहो का रहना। **गहावसव्वा**=ग्रहो की बाईं=प्रतिकूल वक्र चाल। **अब्भ**=बादल। **अब्भरुक्खा**=आकाश मे बादलो की वृक्ष रूप बनी आकृतियाँ। **धूमिका**=धुम्मस। **महिका**=ओस। **चंदोवरागा**=चन्द्रग्रहण। **सूरोवरागा**=सूर्यग्रहण। **उदगमच्छा**=उदक-मत्स्य—इन्द्रधनुष के खण्ड-भाग। **कपिहसिय**=बिना बादलो के सहसा बिजली चमकना अथवा वानर जैसी विकृत मुखाकृति का हास्य। **अमोह**=सूर्य के उदयास्त के समय आकाश मे खिच जाने वाली लाल-काली लकीरे अथवा ऊँचे किये हुए गाडे के आकार जैसी आकाशस्थ सूर्य किरण के विकार से हुई बडी-बडी लकीरे। **पाइणवाया**=पूर्वदिशा की हवाएँ, **पडीण-वायाइ**=पश्चिमादि अन्य दिशाओ की हवाएँ। **पाणक्खया**=बल का क्षय। **जणक्खया**—लोक-मरण। **वसणब्भूया**=आपदारूप; (व्यसनभूत) आफते। **अणारिया**=पापमय। **अहावच्चा अभिण्णाया**=पुत्र के जैसे देव, जो अभिमत वस्तु करने वाले होने से अभिज्ञात होते हैं। अथवा पुत्र की तरह माने हुए

सोमदेव=सोम लोकपाल के सामानिक देव। **सोमदेवकायिक**=सोमदेवों के परिवाररूप देव।[1]

सूर्य और चन्द्र की स्थिति—यद्यपि अपत्यरूप से अभिमत सूर्य की स्थिति एक हजार वर्ष अधिक एक पल्योपम और चन्द्र की स्थिति एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम है, तथापि यहाँ ऊपर की बढ़ी हुई स्थिति की विवक्षा न करके एक पल्योपम कही गई है।[2]

यम लोकपाल के विमानस्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन

५. [१] कहि णं भंते! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो वरसिट्ठे णामं महाविमाणे पण्णत्ते।

गोयमा! सोहम्मवडिंसयस्स महाविमाणस्स दाहिणेणं सोहम्मे कप्पे असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं वीईवइत्ता एत्थ णं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो वरसिट्ठे णामं महाविमाणे पण्णत्ते अद्धतेरस जोयणसयसहस्साइं जहा सोमस्स विमाणं तहा जाव अभिसेओ। रायहाणी तहेव जाव पासायपंतीओ।

[५-१ प्र.] भगवन्! देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—यम महाराज का वरशिष्ट नामक महाविमान कहाँ है?

[५-१ उ.] गौतम! सौधर्मावतंसक नाम के महाविमान से दक्षिण में, सौधर्मकल्प से असंख्य हजार योजन आगे चलने पर, देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल यम महाराज का वरशिष्ट नामक महाविमान बताया गया है, जो साढ़े बारह लाख योजन लम्बा-चौड़ा है, इत्यादि सारा वर्णन सोम महाराज के (सन्ध्याप्रभ) विमान की तरह, यावत् (रायपसेणिय में वर्णित) 'अभिषेक' तक कहना चाहिए। इसी प्रकार राजधानी और यावत् प्रासादों की पंक्तियों के विषय में कहना चाहिए।

[२] सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो इमे देवा आणा० जाव चिट्ठंति, तं जहा—जमकाइया ति वा, जमदेवयकाइया इ वा, पेयकाइया इ वा, पेयदेवयकाइया ति वा, असुरकुमारा असुरकुमारीओ, कंदप्पा निरयवाला आभिओगा जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते तब्भत्तिगा, तप्पक्खिता तब्भारिया सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो आणा जाव चिट्ठंति।

[५-२] देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल यम महाराज की आज्ञा, सेवा (उपपात), वचन-पालन और निर्देश में रहते हैं, यथा—यमकायिक, यमदेवकायिक, प्रेतकायिक प्रेतदेवकायिक, असुरकुमार-असुरकुमारियाँ, कन्दर्प, निरयपाल (नरकपाल), आभियोग, ये और इसी प्रकार के वे सब देव, जो उस (यम) की भक्ति में तत्पर हैं, उसके पक्ष के तथा उससे भरण-पोषण पाने वाले तदधीन भृत्य (भार्य) या उसके कार्यभारवाहक (भारिक) हैं। ये सब यम महाराज की आज्ञा में यावत् रहते हैं।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक १९६-१९७

२. (क) भगवतीसूत्र (विवेचनयुक्त) भा. २ (पं. घेवरचन्दजी), पृ. ७१४

(ख) भगवती, अ. वृत्ति, पत्रांक १९७

[३] जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं जाइं इमाइं समुप्पज्जंति, तं जहा—डिंबा ति वा, डमरा ति वा, कलहा ति वा, बोला ति वा, खारा ति वा, महाजुद्धा ति वा, महासंगामा ति वा, महासत्थनिवडणा ति वा, एवं महापुरिसनिवडणा ति वा, महारुधिरनिवडणा इ वा, दुब्भूया ति वा, कुलरोगा ति वा, गामरोगा ति वा, मंडलरोगा ति वा, नगररोगा ति वा, सीसवेयणा इ वा, अच्छिवेयणा इ वा, कण्ण-नह-दंतवेयणा इ वा, इंदग्गहा इ वा, खंदग्गहा इ वा, कुमारग्गहा०, जक्खग्ग०, भूयग्ग०, एगाहिया ति वा, बेहिया ति वा, तेहिया ति वा, चाउत्थया ति वा, उव्वेयगा ति वा, कासा०, खासा इ वा, सासा ति वा, सोसा ति वा, जरा इ वा, दाहा० कच्छकोहा ति वा, अजीरया, पंडुरोया, अरिसा इ वा, भगंदला इ वा, हितयसूला ति वा, मत्थयसू०, जोणिसू०, पाससू०, कुच्छिसू०, गाममारीति वा, नगर०, खेड०, कब्बड०, दोणमुह०, मडंब०, पट्टण०, आसम०, संवाह० सन्निवेसमारीति वा, पाणक्खया, धणक्खया, जणक्खया, कुलक्खया, वसणब्भूया अणारिया जे यावन्ने तहप्पगारा न ते सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो अण्णाया० ५, तेसिं वा जमकाइयाणं देवाणं।

[५-३] जम्बूद्वीप नामक द्वीप मे मेरुपर्वत से दक्षिण मे जो ये कार्य समुत्पन्न होते हैं। यथा—डिम्ब (विघ्न), डमर (राज्य में राजकुमारादि द्वारा कृत उपद्रव), कलह (जोर से चिल्ला-चिल्लाकर झगडा करना), बोल (अव्यक्त अक्षरो की ध्वनियाँ), खार (परस्पर मत्सर), महायुद्ध, (अव्यवस्थित महारण), महासग्राम (चक्रव्यूहादि से युक्त व्यवस्थित युद्ध), महाशस्त्रनिपात अथवा इसी प्रकार महापुरुषो की मृत्यु, महारक्तपात, दुर्भूत (मनुष्यों और अनाज आदि को हानि पहुँचाने वाले दुष्ट जीव), कुलरोग (वश-परम्परागत पैतृक रोग), ग्राम-रोग, मण्डलरोग (एक मण्डल मे फैलने वाली बीमारी), नगररोग, शिरोवेदना (सिरदर्द), नेत्रपीडा, कान, नख और दात की पीडा, इन्द्रग्रह स्कन्दग्रह, कुमारग्रह, यक्षग्रह, भूतग्रह, एकान्तर ज्वर (एकाहिक), द्वि-अन्तर (दूसरे दिन आने वाला बुखार), तिजारा (तीसरे दिन आने वाला ज्वर), चौथिया (चौथे दिन आने वाला ज्वर), उद्वेजक (इष्टवियोगादिजन्य उद्वेग दिलाने वाले काण्ड, अथवा लोकोद्वेगकारी चोरी आदि काण्ड), कास (खासी), श्वास, दमा, बलनाशक ज्वर, (शोष), जरा (बुढ़ापा), दाहज्वर, कच्छ-कोह (शरीर के कक्षादि भागों में सडाँध), अजीर्ण, पाण्डुरोग (पीलिया), अर्शरोग (मस्सा-बवासीर), भगदर, हृदयशूल (हृदय-गति-अवरोधक पीडा), मस्तकपीडा, योनिशूल, पार्श्वशूल (काख या बगल की पीडा), कुक्षि (उदर) शूल, ग्राममारी, नगरमारी, खेट, कर्बट, द्रोणमुख, मडम्ब, पट्टण, आश्रम, सम्बाध और सन्निवेश, इन सबको मारी (मृगीरोग-महामारी), प्राणक्षय, धनक्षय, जनक्षय, कुलक्षय, व्यसनभूत (विपत्तिरूप) अनार्य (पापरूप), ये और इसी प्रकार के दूसरे सब कार्य देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—यम महाराज से अथवा उसके यमकायिक देवो से अज्ञात (अनुमान से अज्ञात), अदृष्ट, अश्रुत, अविस्मृत, (या अचिन्त्य) और अविज्ञात (अवधि आदि की अपेक्षा) नही हैं।

[४] सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो इमे देवा अहावच्चा अभिण्णाया होत्था, तं जहा—

अंबे १ अंबरिसे चेव २ सामे ३ सबले त्ति यावरे ४ ।
रुद्दोवरुद्दे ५-६ काले य ७ महाकाले त्ति यावरे ८ ॥ १ ॥
असी य ९ असिपत्ते १० कुंभे ११ वालू १२ वेतरणी ति य १३ ।
खरस्सरे १४ महाघोसे १५ एए पन्नरसाऽऽहिया ॥ २ ॥

[५-४] देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—यम महाराज के देव अपत्यरूप से अभिमत (पुत्रस्थानीय) हैं—अम्ब, अम्बरिष, श्याम, शबल, रुद्र, उपरुद्र, काल, महाकाल, असिपत्र, धनुष, कुम्भ, बालू, वैतरणी, खरस्वर, और महाघोष, ये पन्द्रह विख्यात हैं।

[५] सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो सतिभागं पलिओवमं ठिती पण्णत्ता । अहावच्चाभिण्णायाणं देवाण एगं पलिओवमं ठिती पण्णत्ता । एमहिड्डिए जाव जमे महाराया ।

[५-५] देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल—यम महाराज की स्थिति तीन भाग सहित एक पल्योपम की है और उसके अपत्यरूप से अभिमत देवो की स्थिति एक पल्योपम की है। ऐसी महाऋद्धि वाला यावत् यममहाराज है।

विवेचन—यम लोकपाल के विमानस्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन—प्रस्तुत पाँचवे सूत्र द्वारा शक्रेन्द्र के द्वितीय लोकपाल यम महाराज के विमान-स्थान, उसका परिमाण, आज्ञानुवर्ती देव, उसके द्वारा ज्ञात, श्रुत आदि कार्य, उसके अपत्य रूप से अभिमत देव तथा यम महाराज एव उसके अपत्य रूप से अभिमत देवो की स्थिति का निरूपण किया गया है।

यमकायिक आदि की व्याख्या—यमलोकपाल के परिवाररूप देव **'यमकायिक'**, यमलोकपाल के सामानिक देव **'यमदेव'** तथा यमदेवो के परिवाररूप देव **'यमदेवकायिक'** कहलाते हैं। **प्रेतकायिक**=व्यन्तरविशेष। **प्रेतदेवकायिक**=प्रेतदेवो के सम्बन्धी देव। **कंदप्प**=प्रतिक्रीडाशील देव (कन्दर्प) **आभियोगा**=अभियोग—आदेशवर्ती अथवा आभियोगिक भावनाओ के कारण आभियोगिक देवो मे उत्पन्न।[1]

अपत्यरूप से अभिमत पन्द्रह देवों को व्याख्या—पूर्वजन्म मे क्रूर क्रिया करने वाले, क्रूर परिणामो वाले, सतत पापरत कुछ जीव पचाग्नि तप आदि अज्ञानतप से किये गए निरर्थक देहदमन से आसुरीगति को प्राप्त, ये पन्द्रह परमाधार्मिक असुर कहलाते हैं। ये तीसरी नरकभूमि तक जा कर नारकी जीवों को कष्ट देकर प्रसन्न होते हैं, यातना पाते हुए नारको को देखकर ये आनन्द मानते है। (१) **अम्ब**=जो नारको को ऊपर आकाश मे ले जा कर छोडते हैं, (२) **अम्बरीष**=जो छुरी आदि से नारको के छोटे-छोटे, भाड में पकने योग्य टुकडे करते हैं, (३) **श्याम**=ये काले रग के व भयकर स्थानों मे नारको को पटकते एवं पीटते हैं; (४) **शबल**=जो चितकबरे रग के व नारको की आतें-नसें एव कलेजे को बाहर खीच लेते हैं। (५) **रुद्र**=नारको को भाला, बर्छी आदि शस्त्रों मे पिरो देने वाले रौद्र—भयकर असुर (६) **उपरुद्र**=नारकों के अगोपागों को फाड़ने वाले अतिभयकर असुर। (७) **काल**=नारकों को कडाही मे पकाने वाले, काले रग के असुर, (८) **महाकाल**=

१. (क) भगवती, (टीकानुवाद प बेचरदासजी) खण्ड-२, पृ ११६-११७
(ख) भगवती अ. वृत्ति, पत्राक १९८

नारकों के चिकने मांस के टुकड़-टुकड़े करके उन्हे खिलाने वाले अत्यन्त काले रंग के असुर; (९) असिपत्र=जो तलवार के आकार के पत्ते वैक्रिय से बना कर नारकों पर गिराते हैं, (१०) धनुष= जो धनुष द्वारा अर्धचन्द्रादि बाण फेंक कर नारकों के नाक कान आदि बींध डालते हैं, (११) कुम्भ= जो नारकों को कुम्भ या कुम्भी मे पकाते है, (१२) बालू= वैक्रिय द्वारा निर्मित वज्राकार या कदम्ब पुष्पाकार रेत मे नारकों को डालकर चने की तरह भूनते है। (१३) वैतरणी=जो रक्त, मांस, मवाद, ताम्बा, शीशा आदि गर्म पदार्थों से उबलती हुई नदी मे नारकों को फेंक कर तैरने के लिए बाध्य करते है, (१४) खरस्वर=जो वज्रकण्टकों के भरे शाल्मलि वृक्ष पर नारकों को चढ़ाकर, करुणक्रन्दन करते हुए नारकों को कठोरस्वरपूर्वक खींचते हैं, (१५) महाघोष=डर से भागते हुए नारकों को पकड़ कर बाडे मे बन्द कर देते है, जोर से चिल्लाते है।[1]

वरुणलोकपाल के विमान-स्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन

६. [१] कहि णं भंते ! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो वरुणस्स महारण्णो सयंजले नामं महाविमाणे पण्णत्ते ?

गोयमा ! तस्स णं सोहम्मवडिंसयस्स महाविमाणस्स पच्चत्थिमेणं सोहम्मे कप्पे असंखेज्जाइं जहा सोमस्स तहा विमाण-रायहाणीओ भाणियव्वा जाव पासायवडिंसया नवरं नामनाणत्तं ।

[६-१ प्र] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल-वरुण महाराज का स्वयज्वल नामक महाविमान कहाँ है ?

[६-१ उ] गौतम ! उस सौधर्मावतंसक महाविमान से पश्चिम मे सौधर्मकल्प से असंख्येय हजार योजन पार करने के बाद, वही वरुणमहाराज का स्वयज्वल नाम का महाविमान आता है; इससे सम्बन्धित सारा वर्णन सोममहाराज के महाविमान की तरह जान लेना चाहिए, राजधानी यावत् प्रासादावतसकों के सम्बन्ध मे भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए। केवल नामों मे अन्तर है।

[२] सक्कस्स णं० वरुणस्स महारण्णो इमे देवा आणा० जाव चिट्ठंति, तं०—वरुणकाइया ति वा, वरुणदेवयकाइया इ वा, नागकुमारा नागकुमारीओ, उदहिकुमारा उदहिकुमारीओ, थणियकुमारा थणियकुमारीओ, जे यावण्णे तहप्पगारा सव्वे ते तब्भत्तिया जाव चिट्ठंति ।

[६-२] देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल वरुण महाराज के ये देव आज्ञा मे यावत् रहते है— वरुणकायिक, वरुणदेवकायिक, नागकुमार-नागकुमारियाँ, उदधिकुमार-उदधिकुमारियाँ स्तनित-कुमार-स्तनितकुमारियाँ, ये और दूसरे सब इस प्रकार के देव, उनकी भक्तिवाले यावत् रहते हैं।

[३] जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं जाइं इमाइं समुप्पज्जंति, तं जहा—अतिवासा ति वा, मंदवासा ति वा, सुवुट्ठी ति वा, दुव्वुट्ठी ति वा, उदब्भेया ति वा, उदप्पीला इ वा, उदवाहा ति वा, पवाहा ति वा, गामवाहा ति वा, जाव सन्निवेसवाहा ति वा, पाणक्खया जाव तेसिं वा वरुणका-इयाणं देवाणं ।

---

१. (क) भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक १९८ (ख) भगवती, (विवेचनयुक्त) (पं. घेवरचन्दजी) भा. २, पृ. ७२०

[६-३] जम्बूद्वीप नामक द्वीप में मन्दरपर्वत से दक्षिण दिशा मे जो कार्य समुत्पन्न होते है, वे इस प्रकार हैं—अतिवर्षा, मन्दवर्षा, सुवृष्टि, दुर्वृष्टि, उदकोद्भेद (पर्वत आदि से निकलने वाला झरना), उदकोत्पील (सरोवर आदि मे जमा हुई जलराशि), उदवाह (पानी का अल्प प्रवाह), प्रवाह, ग्रामवाह (ग्राम का बह जाना) यावत् सन्निवेशवाह, प्राणक्षय यावत् इसी प्रकार के दूसरे सभी कार्य वरुणमहाराज से अथवा वरुणकायिक देवो से अज्ञात आदि नही हैं।

[४] सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो वरुणस्स महारण्णो जाव अहावच्चाभिण्णाया होत्था, तं जहा—कक्कोडए कद्दमए अंजणे संखवालए पुंडे पलासे मोएज्जए दहिमुहे अयंपुले कायरिए।

[६-४] देवेन्द्र देवराज शक्र के (तृतीय) लोकपाल—वरुण महाराज के ये देव अपत्यरूप से अभिमत हैं। यथा—कर्कोटक (कर्कोटक नामक पर्वत निवासी नागराज), कर्दमक (अग्निकोण मे विद्युत्प्रभ नामक पर्वतवासी नागराज), अजन (वेलम्ब नामक वायुकुमारेन्द्र का लोकपाल), शंखपाल (धरणेन्द्र नामक नागराज का लोकपाल), पुण्ड्र, पलाश, मोद, जय, दधि-मुख अयपुल और कातरिक।

[५] सक्कस्स ण देविंदस्स देवरण्णो वरुणस्स महारण्णो देसूणाइ दो पलिओवमाइ ठिती पण्णत्ता। अहावच्चाभिण्णायाणं देवाणं एग पलिओवम ठिती पण्णत्ता। एमहिड्ढीए जाव वरुणे महाराया।

[६-५] देवेन्द्र देवराज शक्र के तृतीय लोकपाल वरुण महाराज की स्थिति देशोन दो पल्योपम की कही गई है और वरुण महाराज के अपत्यरूप से अभिमत देवों की स्थिति एक पल्योपम की कही गई है।

वरुण महाराज ऐसी महाऋद्धि यावत् महाप्रभाव वाला है।

विवेचन—वरुण लोकपाल के विमान-स्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन प्रस्तुत छठे सूत्र मे वरुणलोकपाल के विमान के स्थान, उसके परिमाण, राजधानी, प्रासादावतसक, वरुण के आज्ञानुवर्ती देव अपत्यरूप से अभिमत देव, उसके द्वारा ज्ञात आदि कार्यकलाप एव उसकी स्थिति आदि का वर्णन किया गया है।

वैश्रमण लोकपाल के विमानस्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन

७. [१] कहि ण भंते ! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो वेसमणस्स महारण्णो वग्गू णामं महाविमाणे पण्णत्ते।

गोयमा ! तस्स णं सोहम्मवडिंसयस्स महाविमाणस्स उत्तरेणं जहा सोमस्स विमाण-रायहाणि-वत्तव्वया तहा नेयव्वा जाव पासायवडिंसया।

[७-१ प्र.] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज शक्र के (चतुर्थ) लोकपाल—वैश्रमण महाराज का वल्गु नामक महाविमान कहाँ है ?

[७-१ उ] गौतम ! वैश्रमण महाराज का विमान, सौधर्मावतंसक नामक महाविमान के

उत्तर मे है। इस सम्बन्ध में सारा वर्णन सोम महाराज के महाविमान की तरह जानना चाहिए; और वह यावत् राजधानी यावत् प्रासादावतंसक तक का वर्णन भी उसी तरह जान लेना चाहिए।

[२] सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो वेसमणस्स महारण्णो इमे देवा आणा-उववाय, वयण-निद्देसे चिट्ठंति, तं जहा—वेसमणकाइया ति वा, वेसमण-देवयकाइया ति वा, सुवण्णकुमारा सुवण्ण-कुमारीओ, दीवकुमारा दीवकुमारीओ, दिसाकुमारा दिसाकुमारीओ, वाणमंतरा वाणमंतरीओ, जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते तब्भत्तिया जाव चिट्ठंति।

[७-२] देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल वैश्रमण महाराज की आज्ञा, सेवा (उपपात-निकट) वचन और निर्देश मे ये देव रहते है। यथा—वैश्रमणकायिक, वैश्रमणदेवकायिक, सुवर्णकुमार-सुवर्ण-कुमारिया, द्वीपकुमार-द्वीपकुमारियाँ, दिक्कुमार-दिक्कुमारियाँ, वाणव्यन्तर देव-वाणव्यन्तर देवियाँ, ये और इसी प्रकार के अन्य सभी देव, जो उसकी भक्ति, पक्ष और भृत्यता (या भारवहन) करते हैं, उसकी आज्ञा आदि मे रहते हैं।

[३] जंबुद्दीवे २ मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं जाइं इमाइं समुप्पज्जंति, तं जहा—अयागरा इ वा, तउयागरा इ वा, तंबयागरा इ वा, एवं सीसागरा इ वा, हिरण्ण०, सुवण्ण०, रयण०, वयरागरा इ वा, वसुधारा ति वा, हिरण्णवासा ति वा, सुवण्णवासा ति वा, रयण०, वइर०, आभरण० पत्त०, पुप्फ०, फल०, बीय०, मल्ल०, वण्ण०, चुण्ण०, गंध०, वत्थवासा इ वा, हिरण्णवुट्ठी इ वा, सु०, र०, व०, आ०, प०, पु०, फ०, बी०, म०, व०, चुण्ण०, गंधवुट्ठी०, वत्थवुट्ठी ति वा, भायणवुट्ठी ति वा, खीरवुट्ठी ति वा, सुकाला ति वा, दुक्काला ति वा, अप्पग्घा ति वा, महग्घा ति वा, सुभिक्खा ति वा, दुभिक्खा ति वा, कयविक्कया ति वा, सन्निहि त्ति वा, सन्निचया ति वा, निही ति वा, णिहाणा ति वा चिरपोराणाइ वा, पहीणसामियाति वा, पहीणसेतुयाति वा, पहीणमग्गाणि वा, पहीणगोत्तागाराइ वा, उच्छन्नसामियाति वा उच्छन्नसेतुयाति वा, उच्छन्नगोत्तागाराति ता सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहेसु नगर-निद्धमणेसु सुसाण-गिरि-कंदर-संति-सेलोवट्ठाण-भवणगिहेसु सन्निक्खित्ताइं चिट्ठंति, ण ताइं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो वेसमणस्स महारण्णो अण्णायाइं अदिट्ठाइं असुयाइं अविन्नायाइं, तेसिं वा वेसमणकाइयाणं देवाणं।

[७-३] जम्बूद्वीप नामक द्वीप मे मंदरपर्वत से दक्षिण मे जो ये कार्य उत्पन्न होते हैं, जैसे कि—लोहे की खाने, रागे की खाने, ताम्बे की खाने, तथा शीशे की खाने, हिरण्य (चादी) की, सुवर्ण की, रत्न की और वज्र की खाने, वसुधारा, हिरण्य की, सुवर्ण की, रत्न की, आभरण की, पत्र की, पुष्प की, फल की, बीज की, माला की, वर्ण की, चूर्ण की, गन्ध की और वस्त्र की वर्षा, भाजन (बर्तन) और क्षीर की वृष्टि, सुकाल, दुष्काल, अल्पमूल्य (सस्ता), महामूल्य (महगा), सुभिक्ष (भिक्षा की सुलभता), दुर्भिक्ष (भिक्षा की दुर्लभता), क्रय-विक्रय (खरीदना-बेचना) सन्निधि (घी, गुड आदि का सचय), सन्निचय (अन्न आदि का सचय), निधियाँ (खजाने—कोष), निधान (जमीन मे गडा हुआ धन), चिर-पुरातन (बहुत पुराने), जिनके स्वामी समाप्त हो गए, जिनकी सारसम्भाल करने वाले नही रहे, जिनकी कोई खोजखबर (मार्ग) नही है, जिनके स्वामियों के गोत्र और आगार (घर) नष्ट

हो गए, जिनके स्वामी उच्छिन्न (छिन्नभिन्न) हो गए, जिनकी सारसभाल करने वाले छिन्न-भिन्न हो गए, जिनके स्वामियो के गोत्र, और घर तक छिन्नभिन्न हो गए, ऐसे खजाने शृङ्गाटक (सिगाडे के आकार वाले) मार्गो मे, त्रिक (तिकोने मार्ग), चतुष्क (चौक), चत्वर, चतुर्मुख एव महापथो, सामान्य मार्गों, नगर के गन्दे नालो मे श्मशान, पर्वतगृह गुफा (कन्दरा), शान्तिगृह, शैलोपस्थान (पर्वत को खोद कर बनाए गए सभा-स्थान), भवनगृह (निवासगृह) इत्यादि स्थानो मे गाड कर रखा हुआ धन; ये सब पदार्थ देवेन्द्र देवराज शक्र के लोकपाल वैश्रमण महाराज से अथवा उसके वैश्रमणकायिक देवो से अज्ञात, अदृष्ट (परोक्ष), अश्रुत, अविस्मृत और अविज्ञात नही है ।

[४] सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो वेसमणस्स महारण्णो इमे देवा अहावच्चाभिण्णाया होत्था, तं जहा—पुण्णभद्दे माणिभद्दे सालिभद्दे सुमणभद्दे चक्करक्खे पुण्णरक्खे सव्वाणे सव्वजसे सव्वकामसमिद्धे अमोहे असंगे ।

[७-४] देवेन्द्र देवराज शक्र के (चतुर्थ) लोकपाल वैश्रमण महाराज के ये देव अपत्यरूप से अभीष्ट हैं, वे इस प्रकार है—पूर्णभद्र, मणिभद्र, शालिभद्र, सुमनोभद्र, चक्ररक्ष, पूर्णरक्ष, सद्वान, सर्वयश, सर्वकामसमृद्ध, अमोघ और असग ।

[५] सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो वेसमणस्स महारण्णो दो पलिओवमाणि ठिती पण्णत्ता । अहावच्चाभिण्णायाणं देवाणं एगं पलिओवमं ठिती पण्णत्ता । एमहिड्ढीए जाव वेसमणे महाराया ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। तइयसते : सत्तमो उद्देसओ समत्तो ।।

[७-५] देवेन्द्र देवराज शक्र के (चतुर्थ) लोकपाल—वैश्रमण महाराज की स्थिति दो पल्योपम की है, और उनके अपत्यरूप से अभिमत देवो की स्थिति एक पल्योपम की है ।

इस प्रकार वैश्रमण महाराज बडी ऋद्धि वाला यावत् महाप्रभाव वाला है ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कहकर यावत् गौतम स्वामी विचरण करने लगे ।

विवेचन—वैश्रमण लोकपाल के विमानस्थान आदि से सम्बन्धित वर्णन—प्रस्तुत ७वे सूत्र मे शास्त्रकार ने वैश्रमण लोकपालदेव के विमानो की अवस्थिति, उसकी लम्बाई-चौडाई-ऊँचाई आदि परिमाण, वैश्रमण लोकपाल की राजधानी, प्रासाद आदि का, तथा वैश्रमण महाराज के आज्ञानुवर्ती भक्ति-सेवा-कार्यभारवहनादि कर्ता देवो का, मेरु पर्वत के दक्षिण मे होने वाले धनादि से सम्बन्धित कार्यों की समस्त जानकारी का एव वैश्रमण महाराज के अपत्यरूप से माने हुए देवो का तथा उसकी तथा उसके अपत्यदेवो की स्थिति आदि का समस्त निरूपण किया गया है ।

वैश्रमणदेव को लोक मे कुबेर, धनद एव धन का देवता कहते है । धन, धान्य, निधि, भण्डार आदि सब इसी लोकपाल के अधीन रहते हैं ।

कठिन शब्दों की व्याख्या—**हिरण्णवासा**=झरमर झरमर बरसती हुई घड़े हुए सोने की या चाँदी की वर्षा तथा **हिरण्णवुट्ठी**—तेजी से बरसती हुई घडे हुए सोने या चादी की वर्षा वृष्टि कहलाती है। यही वर्षा और वृष्टि मे अन्तर है। **सुभिक्खा-दुभिक्खा**=सुकाल हो या दुष्काल। **'निहीति वा निहाणाति वा'**=लाख रुपये अथवा उस से भी अधिक धन का एक जगह सग्रह करना निधि है, और जमीन मे गाडे हुए लाखो रुपयो के भण्डार या खजाने निधान कहलाते हैं। **पहीणसेउयाइं**=जिसमे धन को सीचने (या बढाने) वाला मौजूद नही रहा। **पहीणमग्गाणि**=इतने पुराने हो गए हैं कि जिनकी तरफ जाने-आने का मार्ग भी नष्ट हो गया है, अथवा उस मार्ग की ओर कोई जाता-आता नही। **पहीणगोत्तागाराइ**=जिस व्यक्ति ने ये धन-भण्डार भरे हैं, उसका कोई गोत्रीय सम्बन्धी तथा उसके सम्बन्धी का घर तक अब रहा नही।[1]

॥ तृतीय शतक : सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवती. अ वृत्ति, पत्रांक २००
(ख) भगवती. टीकानुवादयुक्त, खण्ड २, पृ. १२०

अट्ठमो उद्देसओ : 'अहिवइ'

अष्टम उद्देशक : अधिपति

भवनपति देवों के अधिपति के विषय में प्ररूपण

१. रायगिहे नगरे जाव पज्जुवासमाणे एवं वदासी—असुरकुमाराणं भंते ! देवाणं कति देवा आहेवच्चं जाव विहरंति ?

गोयमा ! दस देवा आहेवच्चं जाव विहरंति, तं जहा—चमरे असुरिंदे असुरराया, सोमे, जमे, वरुणे, वेसमणे, बली वइरोयणिंदे वइरोयणराया, सोमे, जमे, वरुणे, वेसमणे।

[१ प्र.] राजगृह नगर में, यावत् पर्युपासना करते हुए गौतम स्वामी ने इस प्रकार पूछा—'भगवन् ! असुरकुमार देवों पर कितने देव आधिपत्य करते रहते हैं ?'

[१ उ.] गौतम ! असुरकुमार देवों पर दस देव आधिपत्य करते हुए यावत् रहते हैं। वे इस प्रकार हैं—असुरेन्द्र असुरराज चमर, सोम, यम, वरुण, वैश्रमण तथा वैरोचनेन्द्र वैरोचनराज बलि, सोम, यम, वरुण और वैश्रमण।

२. नागकुमाराणं भंते ! पुच्छा।

गोयमा ! दस देवा आहेवच्चं जाव विहरंति, तं जहा—धरणे नागकुमारिंदे नागकुमारराया कालवाले, कोलवाले, सेलवाले, संखवाले, भूयाणंदे नागकुमारिंदे नागकुमारराया, कालवाले, कोलवाले, संखवाले, सेलवाले।

[२ प्र.] भगवन् ! नागकुमार देवों पर कितने देव आधिपत्य करते हुए, यावत् विचरते हैं ?

[२ उ.] हे गौतम ! नागकुमार देवों पर दस देव आधिपत्य करते हुए, यावत् विचरते हैं। वे इस प्रकार हैं—नागकुमारेन्द्र नागकुमारराज धरण, कालपाल, कोलपाल, शंखपाल और शैलपाल। तथा नागकुमारेन्द्र नागकुमारराज भूतानन्द, कालपाल, कोलपाल, शंखपाल और शैलपाल।

३. जहा नागकुमारिंदाणं एताए वत्तव्वताए णीयं एवं इमाणं नेयव्वं—सुवण्णकुमाराणं वेणुदेवे, वेणुदाली, चित्ते, विचित्ते, चित्तपक्खे, विचित्तपक्खे। विज्जुकुमाराणं हरिक्कंत, हरिस्सह, पभ, सुप्पभ, पभकंत, सुप्पभकंत। अग्गिकुमाराणं अग्गिसीहे, अग्गिमाणव, तेउ, तेउसीहे, तेउकंते, तेउप्पभे। दीवकुमाराणं पुण्ण, विसिट्ठ, रूय, सुरूय, रूयकंत, रूयप्पभ। उदहिकुमाराणं जलकंते, जलप्पभ, जल, जलरूय, जलकंत, जलप्पभ। दिसाकुमाराणं अमियगति, अमियवाहण, तुरियगति, खिप्पगति, सीहगति, सीहविक्कमगति। वाउकुमाराणं वेलंब, पभंजण, काल महाकाला अंजण रिट्ठा। थणियकुमाराणं घोस,

महाघोस, आवत्त, वियावत्त, नंदियावत्त महानंदियावत्त। एवं भाणियव्वं जहा असुरकुमारा। सो० १ का० २ चि० ३ प० ४ ते० ५ रू० ६ ज० ७ तु० ८ का० ९ आ० १०।

[३] जिस प्रकार नागकुमारो के इन्द्रो के विषय मे यह (पूर्वोक्त) वक्तव्यता कही गई है, उसी प्रकार इन (देवो) के विषय मे भी समझ लेना चाहिए। सुवर्णकुमार देवो पर—वेणुदेव, वेणुदालि, चित्र, विचित्र, चित्रपक्ष और विचित्रपक्ष (का आधिपत्य रहता है।), विद्युतकुमार देवो पर—हरिकान्त, हरिसिंह, प्रभ, सुप्रभ, प्रभाकान्त और सुप्रभाकान्त (का आधिपत्य रहता है।); अग्निकुमार देवों पर—अग्निसिंह, अग्निमाणव, तेजस्, तेजःसिंह तेजस्कान्त और तेजःप्रभ (आधिपत्य करते हैं।); 'द्वीपकुमार'-देवो पर—पूर्ण, विशिष्ट, रूप, रूपांश, रूपकान्त और रूपप्रभ (आधिपत्य करते हैं।); उदधिकुमार देवो पर—जलकान्त (इन्द्र), जलप्रभ (इन्द्र), जल, जलरूप, जलकान्त और जलप्रभ (का आधिपत्य है।); दिक्कुमार देवो पर—अमितगति, अमितवाहन, तूर्यगति, क्षिप्रगति, सिंहगति और सिंहविक्रमगति (आधिपत्य करते है।), वायुकुमारदेवो पर—वेलम्ब, प्रभञ्जन, काल, महाकाल, अंजन और रिष्ट (का आधिपत्य रहता है।), तथा स्तनितकुमार देवो पर—घोष, महाघोष, आवर्त, व्यावर्त, नन्दिकावर्त और महानन्दिकावर्त (का आधिपत्य रहता है)। इन सबका कथन असुरकुमारो की तरह कहना चाहिए। दक्षिण भवनपति देवो के अधिपति इन्द्रो के प्रथम लोकपालो के नाम इस प्रकार है—सोम, कालपाल, चित्र, प्रभ, तेजस् रूप, जल, त्वरितगति, काल और आयुक्त।

विवेचन—भवनपतिदेवों के अधिपति के विषय में प्ररूपण—प्रस्तुत तीन सूत्रो मे भवनपतिदेवो के असुरकुमार से लेकर स्तनितकुमार तक के भेदो तथा दक्षिण भवनपति देवो के अधिपतियो के विषय मे निरूपण किया गया है।

आधिपत्य में तारतम्य—जिस प्रकार मनुष्यो मे भी पदो और अधिकारो के सम्बन्ध मे तारतम्य होता है, वैसे ही यहाँ दशविध भवनपतिदेवो के आधिपत्य मे तारतम्य समझना चाहिए। जैसे कि असुरकुमार आदि दसो प्रकार के भवनपतियो मे प्रत्येक के दो-दो इन्द्र होते हैं, यथा—असुरकुमार देवो के दो इन्द्र है—(१) चमरेन्द्र और (२) बलीन्द्र, नागकुमार देवो के दो इन्द्र हैं—(१) धरणेन्द्र और (२) भूतानन्देन्द्र। इसी प्रकार प्रत्येक के दो-दो इन्द्रो का आधिपत्य अपने अधीनस्थ लोकपालो तथा अन्य देवो पर होता है, और लोकपालो का अपने अधीनस्थ देवो पर आधिपत्य होता है। इस प्रकार आधिपत्य, अधिकार, ऋद्धि, वर्चस्व एव प्रभाव आदि मे तारतम्य समझ लेना चाहिए।[1]

दक्षिण भवनपति देवों के इन्द्र और उनके प्रथम लोकपाल—मूल मे भवनपति देव दो प्रकार के है—उत्तर दिशावर्ती और दाक्षिणात्य। उत्तरदिशा के दशविध भवनपति देवो के जो जो अधीनस्थ देव होते हैं, इन्द्र से लेकर लोकपाल आदि तक, उनका उल्लेख इससे पूर्व किया जा चुका है। इसके पश्चात् दाक्षिणात्य भवनपति देवो के सर्वोपरि अधिपति इन्द्रो के प्रथम लोकपालो के नाम सूचित किये हैं। इस सम्बन्ध मे एक गाथा भी मिलती है—

'सोमे य कालवाले य चित्तप्पभ-तेउ तह रुए चेव।
जल तह तुरियगई य काले आउत्त पढमा उ॥'

इसका अर्थ पहले आ चुका है।

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २००
(ख) तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय ४, सू ६—'पूर्वयोर्द्वीन्द्राः' का भाष्य देखिये।

दूसरे ग्रन्थ मे यह बताया गया है कि दक्षिण दिशावर्ती लोकपालो के प्रत्येक सूत्र मे जो तीसरा और चौथा कहा गया है, वही उत्तरदिशावर्ती लोकपालों मे चौथा और तीसरा कहना चाहिए ।[1]

सोमादि लोकपाल : वैदिक ग्रन्थों में—यहाँ जैसे सोम, यम, वरुण और वैश्रमण, एक प्रकार के लोकपाल देव कहे गए हैं, वैसे ही यास्क-रचित वैदिकधर्म के प्राचीन ग्रन्थ निरुक्त मे भी इनकी व्याख्या प्राकृतिक देवो के रूप में मिलती है। सोम की व्याख्या की गई है—सोम एक प्रकार की औषधि है। यथा—'हे सोम ! अभिषव (रस) युक्त बना हुआ तू स्वादिष्ट और मदिष्टधारा से इन्द्र के पीने के लिए टपक पड ।' इस सोम का उपभोग कोई अदेव नही कर सकता ।' 'सर्प और ज्वरादिरूप होकर जो प्राणिमात्र का नाश करता है, वह **'यम'** है। 'अग्नि को भी यम कहा गया है।' जो आवृत करता—ढकता है, (मेघसमूह द्वारा आकाश को), वह **'वरुण'** कहलाता है ।[2]

वाणव्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिक देवों पर आधिपत्य की प्ररूपणा

४. पिसायकुमाराणं पुच्छा ।

गोयमा ! दो देवा आहेवच्चं जाव विहरंति, तं जहा—

काले य महाकाले सुरूवं पडिरूव पुन्नभद्दे य ।
अमरवइ माणिभद्दे भीमे य तहा महाभीमे ।।१।।
किन्नर किंपुरिसे खलु सप्पुरिसे खलु तहा महापुरिसे ।
अतिकाय महाकाए गीतरती चेव गीयजसे ।।२।।

एते वाणमंतराणं देवाणं ।

[४ प्र.] भगवन् ! पिशाचकुमारो (वाणव्यन्तर देवो) पर कितने देव आधिपत्य करते हुए विचरण करते हैं ?

[४ उ.] गौतम ! उन पर दो-दो देव (इन्द्र) आधिपत्य करते हुए यावत् विचरते है। वे इस प्रकार हैं—(१) काल और महाकाल, (२) सुरूप और प्रतिरूप, (३) पूर्णभद्र और मणिभद्र, (४) भीम और महाभीम, (५) किन्नर और किम्पुरुष, (६) सत्पुरुष और महापुरुष, (७) अतिकाय और महाकाय, तथा (८) गीतरति और गीतयश। ये सब वाणव्यन्तर देवो के अधिपति-इन्द्र है।

५. जोतिसियाणं देवाण दो देवा आहेवच्चं जाव विहरंति, तं जहा—चंदे य सूरे य ।

[५] ज्योतिष्क देवो पर आधिपत्य करते हुए दो देव यावत् विचरण करते है। यथा—चन्द्र और सूर्य ।

---

१. भगवतीसूत्र अ० वृत्ति, पत्रांक २०१

२ (क) **'औषधिः सोमः सुनोतेः यद् एनमभिषुण्वन्ति ।' 'स्वादिष्टया मदिष्ठया पवस्व सोम ! धारया इन्द्राय पातवे सुतः' 'न तस्य अश्नाति कश्चिददेव ।'** —यास्क निरुक्त, पृ ७६९-७७१

(ख) **'यमो यच्छतीति सतः' 'यच्छति—उपरमयति जीवितात्'** (तस्कर, इ० सर्पज्वरादिरूपो भूत्वा) **'सर्व भूतग्रामम्—यम ।' 'अग्निरपि यम उच्यते'** —यास्क निरुक्त, पृ. ७३२-७३३

(ग) **'वरुणः—वृणोति इति, स हि वियद् वृणोति मेघजालेन ।'** —यास्क निरुक्त, पृ. ७१२-७१३

६. सोहम्मीसाणेसु णं भंते ! कप्पेसु कति देवा आहेवच्चं जाव विहरंति ?

गोयमा ! दस देवा जाव विहरंति, तं जहा—सक्के देविंदे देवराया, सोमे, जमे, वरुणे, वेसमणे। ईसाणे देविंदे देवराया, सोमे, जमे, वरुणे, वेसमणे। एसा वत्तव्वया सव्वेसु वि कप्पेसु, एते चेव भाणियव्वा। जे य इंदा ते य भाणियव्वा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ तइयसते : अट्ठमो उद्देसओ समत्तो ॥

[६ प्र] भगवन् ! सौधर्म और ईशानकल्प मे आधिपत्य करते हुए कितने देव विचरण करते हैं ?

[६ उ] गौतम ! उन पर आधिपत्य करते हुए यावत् दस देव विचरण करते हैं। यथा—देवेन्द्र, देवराज शक्र, सोम, यम, वरुण और वैश्रमण, देवेन्द्र देवराज ईशान, सोम, यम, वरुण, और वैश्रमण।

यह सारी वक्तव्यता सभी कल्पो (देवलोको) के विषय मे कहनी चाहिए और जिस देवलोक का जो इन्द्र है, वह कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कह कर यावत् गौतम स्वामी विचरण करने लगे।

विवेचन—वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो पर आधिपत्य की प्ररूपणा—प्रस्तुत तीन सूत्रो मे क्रमश वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो पर आधिपत्य की प्ररूपणा की गई है।

वाणव्यन्तर देव और उनके अधिपति दो-दो इन्द्र—चतुर्थ सूत्र मे प्रश्न पूछा गया है पिशाचकुमारो के सम्बन्ध मे, किन्तु उत्तर दिया गया है—वाणव्यन्तर देवो के सम्बन्ध मे। इसलिए यहाँ पिशाचकुमार का अर्थ वाणव्यन्तर देव ही समझना चाहिए। वाणव्यन्तर देवो के ८ भेद है—किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच। इन प्रत्येक पर दो-दो अधिपति—इन्द्र इस प्रकार हैं—किन्नर देवो के दो इन्द्र—किन्नरेन्द्र, किम्पुरुषेन्द्र, किम्पुरुष देवो के दो इन्द्र—सत्पुरुषेन्द्र और महापुरुषेन्द्र, महोरगदेवो के दो इन्द्र—अतिकायेन्द्र और महाकायेन्द्र, गन्धर्वदेवो के दो इन्द्र—गीतरतीन्द्र और गीतयशेन्द्र, यक्षो के दो इन्द्र—पूर्णभद्रेन्द्र और मणिभद्रेन्द्र, राक्षसो के दो इन्द्र—भीमेन्द्र और महाभीमेन्द्र, भूतो के दो इन्द्र—सुरूपेन्द्र (प्रतिरूपेन्द्र) और प्रतिरूपेन्द्र, पिशाचो के दो इन्द्र—कालेन्द्र महाकालेन्द्र।[१]

---

१ (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) भा १, पृ १७७

(ख) 'व्यन्तरा किन्नर-किम्पुरुष-महोरग-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचा।' —तत्त्वार्थसूत्र भाष्य अ ४, सू. १२, पृ. ९७ से ९९

(ग) 'पूर्वयोर्द्वीन्द्रा.'—तत्त्वार्थसूत्र-भाष्य, अ ४, सू ६, पृ ९२

ज्योतिष्क देवों के अधिपति इन्द्र—ज्योतिष्क देवो मे अनेक सूर्य एव चन्द्रमा इन्द्र हैं। वाणव्यन्तर और ज्योतिष्क देवो मे लोकपाल नही होते।[1]

वैमानिक देवों के अधिपति—इन्द्र एव लोकपाल—वैमानिक देवो मे सौधर्म से लेकर अच्युत-कल्प तक प्रत्येक अपने-अपने कल्प के नाम का एक-एक इन्द्र है। यथा—सौधर्मेन्द्र=शक्रेन्द्र, ईशानेन्द्र, सनत्कुमारेन्द्र आदि। किन्तु ऊपर के चार देवलोको मे दो-दो देवलोको का एक-एक इन्द्र है, यथा—नौवे और दसवे देवलोक—(आणत और प्राणत) का एक ही प्राणतेन्द्र है। इसी प्रकार ग्यारहवे और बारहवें देवलोक—(आरण और अच्युत) का भी एक ही अच्युतेन्द्र है। इस प्रकार बारह देवलोको मे कुल १० इन्द्र हैं। नौ ग्रैवेयेको और पाच अनुत्तर विमानो मे कोई इन्द्र नही होते। वहाँ सभी 'अहमिन्द्र' (सर्वतन्त्रस्वतत्र) होते हैं। सौधर्म आदि कल्पो के प्रत्येक इन्द्र के आधिपत्य मे सोम, यम आदि चार-चार लोकपाल होते हैं, जिनके आधिपत्य मे अन्य देव होते है।[2]

॥ तृतीय शतक : अष्टम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) तत्त्वार्थसूत्र अ. ४ सू ६ का भाष्य, पृ. ९२

(ख) 'त्रायस्त्रिंश-लोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्का.'—तत्त्वार्थसूत्र अ. ४ सू. ५, भाष्य पृ. ९२

२. (क) तत्त्वार्थ. भाष्य अ. ४ सू. ६, पृ. ९३, (ख) भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक २०१

नवमो उद्देसओ : इंदिय

नवम उद्देशक : इन्द्रिय

पंचेन्द्रिय-विषयों का अतिदेशात्मक निरूपण

१. रायगिहे जाव एवं वयासी—कतिविहे णं भंते ! इंदियविसए पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे इंदियविसए पण्णत्ते, तं०—सोतिंदियविसए, जीवाभिगमे[1] जोतिसियउद्देसो नेयव्वो अपरिसेसो ।

॥ तइयसए : नवमो उद्देसओ समत्तो ॥

[१ प्र] राजगृह नगर मे यावत् श्रीगौतमस्वामी ने इस प्रकार पूछा—भगवन् ! इन्द्रियो के विषय कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[१ उ] गौतम ! इन्द्रियो के विषय पाच प्रकार के कहे गए है। वे इस प्रकार हैं—श्रोत्रेन्द्रिय-विषय इत्यादि । इस सम्बन्ध मे जीवाभिगमसूत्र मे कहा हुआ ज्योतिष्क उद्देशक सम्पूर्ण कहना चाहिए ।

विवेचन—पांच इन्द्रियों के विषयो का अतिदेशात्मक वर्णन—प्रस्तुत सूत्र मे जीवाभिगम सूत्र के ज्योतिष्क उद्देशक का अतिदेश करके शास्त्रकार ने पचेन्द्रिय विषयो का निरूपण किया है ।

जीवाभिगम सूत्र के अनुसार इन्द्रिय विषय-सम्बन्धी विवरण—पाच इन्द्रियो के पाच विषय हैं, यथा—श्रोत्रेन्द्रिय-विषय, चक्षुरिन्द्रिय-विषय, घ्राणेन्द्रिय-विषय, रसेन्द्रिय-विषय और स्पर्शेन्द्रिय-विषय ।

[प्र] भगवन् ! श्रोत्रेन्द्रियविषय-सम्बन्धी पुद्गल-परिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! दो प्रकार का कहा गया है। यथा—शुभशब्द परिणाम और अशुभशब्द परिणाम ।

[प्र.] भगवन् ! चक्षुरिन्द्रिय-विषय-सम्बन्धी पुद्गल-परिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! दो प्रकार का कहा गया है । यथा—सुरूप-परिणाम और दुरूपपरिणाम ।

[प्र] भगवन् ! घ्राणेन्द्रिय-विषय-सम्बन्धी पुद्गल-परिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ] गौतम ! दो प्रकार का कहा गया है। यथा—सुरभिगन्ध परिणाम और दुरभिगन्ध परिणाम ।

---

१. जीवाभिगमसूत्र प्रतिपत्ति ३, उद्देशक २ सू १९१, पृ. ३७३-३७४ मे इसका वर्णन देखिए ।

[प्र.] भगवन् ! रसनेन्द्रिय-विषय-सम्बन्धी पुद्गलपरिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! दो प्रकार का कहा गया है। यथा—सुरस-परिणाम और दुरसपरिणाम।

[प्र.] भगवन् ! स्पर्शेन्द्रिय-विषय-सम्बन्धी पुद्गल-परिणाम कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है। यथा—सुखस्पर्श परिणाम और दु:ख स्पर्श-परिणाम। दूसरी वाचना में इन्द्रिय-सम्बन्धी सूत्र के अतिरिक्त 'उच्चावचसूत्र' और 'सुरभिसूत्र' ये दो सूत्र और कहे गए हैं। यथा—

[प्र.] भगवन् ! क्या उच्चावच (ऊँचे-नीचे) शब्द-परिणामों से परिणत होते हुए पुद्गल 'परिणत होते हैं', ऐसा कहा जा सकता है ?

[उ.] हाँ, गौतम, ऐसा कहा जा सकता है, इत्यादि सब कथन करना चाहिए।

[प्र.] भगवन् ! क्या शुभशब्दों के पुद्गल अशुभशब्द रूप में परिणत होते हैं ?

[उ.] हाँ, गौतम ! परिणत होते हैं, इत्यादि सब वर्णन यहाँ समझना चाहिए।

॥ तृतीयशतक : नवम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) जीवाभिगमसूत्र प्रतिपत्ति ३, उद्देशक २, सू. १९१, पृ. ३७३-३७४

(ख) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २०१-२०२—'सोइंदियविसए ...... हंता गोयमा !' इत्यादि।

दसमो उद्देसओ : परिसा

दशम उद्देशक : परिषद्

चमरेन्द्र से लेकर अच्युतेन्द्र तक की परिषद् सम्बन्धी प्ररूपणा

१. [१] रायगिहे जाव एव वयासी—चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुररण्णो कति परिसाओ पण्णत्ताओ ?

गोयमा ! तओ परिसाओ पण्णत्ताओ, त जहा—समिता चंडा जाता ।

[१-१ प्र] राजगृह नगर मे यावत् श्री गौतम ने इस प्रकार पूछा—भगवन् ! असुरेन्द्र असुरराज चमर की कितनी परिषदाएँ (सभाएँ) कही गई हैं ?

[१-१ उ] हे गौतम ! उसकी तीन परिषदाएँ कही गई हैं । यथा—समिका (या शमिका या शमिता), चण्डा और जाता ।

[२] एवं जहाणुपुव्वीए जाव अच्चुओ कप्पो ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

॥ तइयसए : दसमोद्देसो ॥

॥ ततियं सयं समत्तं ॥

[१-२] इसी प्रकार क्रमपूर्वक यावत् अच्युतकल्प तक कहना चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कहकर यावत् गौतम स्वामी विचरते है ।

विवेचन—असुरराज चमरेन्द्र से लेकर अच्युतेन्द्र तक की परिषदा-प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र मे भवनपति देवो के असुरेन्द्र से लेकर अच्युत देवलोक के इन्द्र तक की परिषदो का निरूपण किया गया है ।

तीन परिषदें : नाम और स्वरूप—प्रस्तुत सूत्र मे सर्वप्रथम असुरेन्द्र असुरराज चमर की तीन परिषदे बताई गई हैं—समिका या शमिका, चण्डा और जाता । जीवाभिगम सूत्र के अनुसार—स्थिर स्वभाव और समता के कारण इसे **'समिका'** कहते हैं, स्वामी द्वारा किये गए कोप एव उतावल को शान्त करने की क्षमता होने से इसे **'शमिका'** भी कहते हैं, तथा उद्धततारहित एवं शान्त स्वभाव वाली होने से इसे **'शमिता'** भी कहते हैं । शमिका के समान महत्त्वपूर्ण न होने से तथा साधारण कोपादि के प्रसंग पर कुपित हो जाने के कारण दूसरी परिषद् को **'चण्डा'** कहते हैं । गम्भीर स्वभाव न

होने से निष्प्रयोजन कोप उत्पन्न हो जाने के कारण तीसरी परिषद् का नाम **'जाता'** है। इन्हीं तीनों परिषदों को क्रमश आभ्यन्तरा, मध्यमा और बाह्या भी कहते हैं। जब इन्द्र को कोई प्रयोजन होता है, तब वह आदरपूर्वक आभ्यन्तर परिषद् बुलाता और उसके समक्ष अपना प्रयोजन प्रस्तुत करता है। मध्यम परिषद् बुलाने या न बुलाने पर भी आती है। इन्द्र, आभ्यन्तर परिषद् मे विचारित बातें उसके समक्ष प्रकट कर निर्णय करता है। बाह्य परिषद् बिना बुलाये आती है। इन्द्र उसके समक्ष स्वनिर्णीत कार्य प्रस्तुत करके उसे सम्पादित करने की आज्ञा देता है। असुरकुमारेन्द्र की परिषद् के समान ही शेष नौ निकायों की परिषदों के नाम और काम है। व्यन्तर देवों की तीन परिषद् हैं—इसा, तुडिया और दृढरथा। ज्योतिष्क देवों की तीन परिषदों के नाम—तुम्बा, तुडिया और पर्वा। वैमानिक देवों की तीन परिषदें—शमिका, चण्डा और जाता। इसके अतिरिक्त भवनपति से लेकर अच्युत देवलोक तक के तीनों इन्द्रों की तीनों परिषदों के देव-देवियों की सख्या, उनकी स्थिति आदि का विस्तृत वर्णन जीवाभिगम सूत्र से जान लेना चाहिए।[1]

॥ तृतीय शतक : दशम उद्देशक समाप्त ॥

तृतीय शतक सम्पूर्ण

---

१. (क) जीवाभिगम प्रतिपत्ति ३, उद्देशक २, पृ. १६४-१७४ तथा ३८८-३९०
 (ख) भगवतीसूत्र. अ. वृत्ति, पत्रांक २०२

चतुर्थ शतक

प्राथमिक

☐ व्याख्याप्रज्ञप्ति का यह चतुर्थ शतक है। इस शतक मे अत्यन्त सक्षेप मे, विशेषत. अतिदेश द्वारा विषयो का निरूपण किया गया है।

☐ इस शतक के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ उद्देशक मे से प्रथम उद्देशक मे ईशानेन्द्र के सोम, यम, वैश्रमण और वरुण लोकपालो के क्रमश. चार विमानो का नामोल्लेख करके प्रथम लोकपाल सोम महाराज के 'सुमन' नामक महाविमान की अवस्थिति एव तत्सम्बन्धी समग्र वक्तव्यता अतिदेश द्वारा कही गई है। शेष द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ उद्देशक मे ईशानेन्द्र के यम, वैश्रमण और वरुण नामक द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ लोकपाल के सर्वतोभद्र, वल्गु और सुवल्गु नामक महाविमान की अवस्थिति, परिमाण आदि का समग्र वर्णन पूर्ववत् अतिदेशपूर्वक किया गया है।

☐ पाचवें, छठे, सातवे और आठवे उद्देशक मे ईशानेन्द्र के चार लोकपालो की चार राजधानियों का पूर्ववत् अतिदेशपूर्वक वर्णन है।

☐ नौवे उद्देशक में नैरयिको की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे प्रज्ञापना-सूत्र के लेश्यापद[२] की अतिदेशपूर्वक प्ररूपणा की गई है।

☐ दसवे उद्देशक मे लेश्याओ के प्रकार, परिणाम, वर्ण, रस, गन्ध, शुद्ध, अप्रशस्त-सक्लिष्ट, उष्ण, गति, परिणाम, प्रदेश, अवगाहना, वर्गणा, स्थान और अल्पबहुत्व आदि द्वारो के माध्यम से प्रज्ञापनासूत्र के लेश्यापद की[३] अतिदेशपूर्वक प्ररूपणा की गई है।

☐☐

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भाग-१, पृ. ३६
(ख) श्रीमद्भगवतीसूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ. २

२. प्रज्ञापनासूत्र के १७ वें लेश्यापद का तृतीय उद्देशक देखिये।

३. प्रज्ञापनासूत्र के १७ वें लेश्यापद का चतुर्थ उद्देशक देखिए।

चउत्थं सयं : चतुर्थ शतक

चतुर्थ शतक की संग्रहणी गाथा

१. चत्तारि विमाणेहिं १-४, चत्तारि य होंति रायहाणीहिं ५-८।
नेरइए ९ लेस्साहि १० य दस उद्देसा चउत्थसते ॥ १ ॥

[१] गाथा का अर्थ—इस चौथे शतक मे दस उद्देशक हैं। इनमें से प्रथम चार उद्देशको मे विमान-सम्बन्धी कथन किया गया है। पांचवे से लेकर आठवें उद्देशको तक चार उद्देशको मे राजधानियो का वर्णन है। नौवे उद्देशक मे नैरयिको का वर्णन है और दसवे उद्देशक मे लेश्या के सम्बन्ध में निरूपण है।

पढम-बिइय-तइय-चउत्था उद्देसा : ईसाणलोगपालविमाणाणि

प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ उद्देशक : ईशानलोकपाल-विमान

ईशानेन्द्र के चार लोकपालों के विमान एवं उनके स्थान का निरूपण

२. रायगिहे नगरे जाव एवं वयासी—ईसाणस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो कति लोगपाला पण्णत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि लोगपाला पण्णत्ता, तं जहा—सोमे जमे वेसमणे वरुणे।

[२ प्र.] राजगृह नगर मे, यावत् गौतम स्वामी ने इस प्रकार कहा—भगवन् ! देवेन्द्र देवराज ईशान के कितने लोकपाल कहे गए हैं ?

[२ उ.] हे गौतम ! उसके चार लोकपाल कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—सोम, यम, वैश्रमण और वरुण।

३. एतेसि णं भंते ? लोगपालाणं कति विमाणा पण्णत्ता ?

गोयमा ? चत्तारि विमाणा पण्णत्ता, तं जहा—सुमणे सव्वतोभद्दे वग्गू सुवग्गू।

[३ प्र.] भगवन् ! इन लोकपालो के कितने विमान कहे गए है ?

[३ उ.] गौतम ! इनके चार विमान है; वे इस प्रकार हैं—सुमन, सर्वतोभद्र, वल्गु और सुवल्गु।

४ कहि णं भंते ? ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सुमणे नामं महाविमाणे पण्णत्ते ?

गोयमा ? जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए जाव ईसाणे णामं कप्पे पण्णत्ते। तत्थ णं जाव पंच वडेंसया पण्णत्ता, तं जहा—अंकवडेंसए फलिहवडेंसए रयणवडेंसए जायरूववडेंसए, मज्झे यऽत्थ ईसाणवडेंसए। तस्स णं ईसाणवडेंसयस्स महाविमाणस्स पुरत्थिमेणं

तिरियमसंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं वीतिवतित्ता तत्थ णं ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सुमणे नाम महाविमाणे पण्णत्ते, अद्धतेरसजोयण० जहा सक्कस्स वत्तव्वता ततियसते[1] तहा ईसाणस्स वि जाव अच्चणिया समत्ता।

[४ प्र.] भगवन्! देवेन्द्र देवराज ईशान के लोकपाल सोम महाराज का 'सुमन' नामक महाविमान कहाँ है?

[४ उ.] गौतम! जम्बूद्वीप नामक द्वीप के मन्दर-पर्वत के उत्तर मे इस रत्नप्रभा पृथ्वी के समतल से, यावत् ईशान नामक कल्प (देवलोक) कहा है। उसमे यावत् पाच अवतसक कहे हैं, वे इस प्रकार हैं—अकावतसक, स्फटिकावतसक, रत्नावतसक, और जातरूपावतसक; इन चारों अवतसको के मध्य मे ईशानावतसक है। उस ईशानावतसक नामक महाविमान से पूर्व में तिरछे असख्येय हजार योजन आगे जाने पर देवेन्द्र देवराज ईशान के लोकपाल सोम महाराज का 'सुमन' नामक महाविमान है। उसकी लम्बाई और चौडाई साढे बारह लाख योजन है। इत्यादि सारी वक्तव्यता तृतीय शतक (सप्तम उद्देशक) मे कथित शक्रेन्द्र (के लोकपाल सोम के महाविमान) की वक्तव्यता के समान यहाँ भी ईशानेन्द्र (के लोकपाल सोम के महाविमान) के सम्बन्ध मे यावत्-अर्चनिका समाप्तिपर्यन्त कहनी चाहिए।

५. चउण्ह वि लोगपालाणं विमाणे विमाणे उद्देसओ। चउसु विमाणेसु चत्तारि उद्देसा अपरिसेसा। नवरं ठितीए नाणत्तं—

आदि दुय तिभागूणा पलिया धणयस्स होंति दो चेव।
दो सतिभागा वरुणे पलियमहावच्चदेवाणं ॥१॥

॥ चउत्थे सए पढम-बिइय-तइय-चउत्था उद्देसा समत्ता ॥

[५] (एक लोकपाल के विमान की वक्तव्यता जहाँ पूर्ण होती है, वहाँ एक उद्देशक समाप्त होता है।) इस प्रकार चारो लोकपालो मे से प्रत्येक के विमान की वक्तव्यता पूरी हो वहाँ एक-एक उद्देशक समझना। चारो (लोकपालो के चारो) विमानो की वक्तव्यता मे चार उद्देशक पूर्ण हुए समझना। विशेष यह है कि इनकी स्थिति मे अन्तर है। वह इस प्रकार है—आदि के दो—सोम और यम लोकपाल की स्थिति (आयु) त्रिभागन्यून दो-दो पल्योपम की है, वैश्रमण की स्थिति दो पल्योपम की है और वरुण को स्थिति त्रिभागसहित दो पल्योपम की है। अपत्यरूप देवो की स्थिति एक पल्योपम की है।

विवेचन—ईशानेन्द्र के चार लोकपालो के विमानों का निरूपण—प्रस्तुत चार उद्देशकों मे चार सूत्रो द्वारा ईशानेन्द्र के सोम, यम, वैश्रमण और वरुण लोकपालो के चार विमान, उन चारों का स्थान, तथा चारो लोकपालो की स्थिति का निरूपण किया है। सु. ४ मे सोम लोकपाल के सुमन नामक महाविमान के सम्बन्ध मे बतला कर प्रथम उद्देशक पूर्ण किया है, शेष तीन उद्देशकों मे दूसरे, तीसरे और चौथे लोकपाल के विमान की वक्तव्यता शक्रेन्द्र के इसी नाम के लोकपालो के विमानो की वक्तव्यता के समान अतिदेश (भलामण) करके एक एक उद्देशक पूर्ण किया।

॥ चतुर्थ शतक : प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१. तीसरे शतक का सातवाँ उद्देशक देखना चाहिए।

पंचम-छट्ठ-सत्तम-अट्ठमा उद्देसा :
ईसाणलोगपालरायहाणी

पंचम-षष्ठ-सप्तम-अष्टम उद्देशक :
ईशान-लोकपाल-राजधानी

ईशानेन्द्र के लोकपालों की चार राजधानियों का वर्णन

१. रायहाणीसु वि चत्तारि उद्देसा भाणियव्वा जाव एमहिड्ढीए जाव वरुणे महाराया।

।। चउत्थे सए पंच-छट्ठ-सत्तम-अट्ठमा उद्देसा समत्ता ।।

[१] चारो लोकपालो की राजधानियो के चार उद्देशक कहने चाहिए। अर्थात् एक-एक लोकपाल की राजधानी सम्बन्धी वर्णन पूर्ण होने पर एक-एक उद्देशक पूर्ण हुआ समझना चाहिए। इस तरह चारो राजधानियो के वर्णन मे चार उद्देशक पूर्ण हुए। यो क्रमश पाचवे से लेकर आठवाँ उद्देशक) यावत् वरुण महाराज इतनी महाऋद्धि वाले यावत् (इतनी विकुर्वणाशक्ति वाले हैं,) (यहाँ तक चार उद्देशक पूर्ण होते हैं।)

विवेचन—चार उद्देशको मे चार लोकपालो की चार राजधानियो का वर्णन—प्रस्तुत चार उद्देशको (पाचवे से आठवे तक) का वर्णन एक ही सूत्र मे अतिदेशपूर्वक कर दिया गया है।

चार राजधानियो के क्रमशः चार उद्देशक कैसे और कौन-से ?—जीवाभिगमसूत्र मे वर्णित विजय राजधानी के वर्णन के समान चार राजधानियो के चार उद्देशकों का वर्णन इस प्रकार करना चाहिए--

[प्र] भगवन् ! देवेन्द्र देवराज ईशान के लोकपाल सोम महाराज की सोमा नामक राजधानी कहाँ है ?

[उ.] हे गौतम ! वह (राजधानी) सुमन नामक महाविमान के ठीक नीचे है, इत्यादि सारा वर्णन इसी प्रकार कहना चाहिए।

इसी प्रकार क्रमश एक-एक राजधानी के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तरपूर्वक वर्णन करके शेष तीनो लोकपालो की राजधानी-सम्बन्धी एक-एक उद्देशक कहना चाहिए।[1]

।। चतुर्थ शतक : पचम-षष्ठ-सप्तम-अष्टम उद्देशक समाप्त ।।

---

१. **'रायहाणीसु चत्तारि उद्देसा भाणियव्वा'**, ते चैवम्—**'कहि णं भंते ! ईसाणस्स देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सोमा नाम रायहाणी पण्णत्ता ?' 'गोयमा ! सुमणस्स महाविमाणस्स अहे, सपक्खि '** इत्यादि पूर्वोक्तानुसारेण जीवाभिगमोक्तविजयराजधानीवर्णकाऽनुसारेण च एकैक उद्देशकोऽध्येतव्य ।

—भगवती० अ० वृत्ति, पत्राक २०३, (—जीवाभिगम० पृ० २१७-२१९)

नवमो उद्देसो : नेरइयं

नवम उद्देशक : नैरयिक

नैरयिकों की उत्पत्तिप्ररूपणा

१ नेरइए णं भंते ! नेरतिएसु उववज्जइ ? अनेरइए नेरइएसु उववज्जइ ? पण्णवणाए लेस्सापदे ततिओ उद्देसओ भाणियव्वो जाव नाणाइं ।

।। चउत्थे सए नवमो उद्देसो समत्तो ।।

[१ प्र] भगवन् ! जो नैरयिक हैं, क्या वह नैरयिको मे उत्पन्न होता है, या जो अनैरयिक है, वह नैरयिको मे उत्पन्न होता है ?

[१ उ] (हे गौतम !) प्रज्ञापनासूत्र मे कथित लेश्यापद का तृतीय उद्देशक यहाँ कहना चाहिए और वह यावत् ज्ञानो के वर्णन तक कहना चाहिए ।

विवेचन—नैरयिकों मे नैरयिक उत्पन्न होता है या अनैरयिक ? : शंका-समाधान—प्रस्तुत सूत्र मे नैरयिको की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे प्रश्न करने पर शास्त्रकार ने उत्तर मे प्रज्ञापना सूत्र के १७वे लेश्यापद के तृतीय उद्देशक का अतिदेश किया है । वह इस प्रकार है—

[प्र] भगवन् ! क्या नैरयिक ही नैरयिकों मे उत्पन्न होता है या अनैरयिक नैरयिको मे उत्पन्न होता है ?

[उ] गौतम ! नैरयिक ही नैरयिको मे उत्पन्न होता है, अनैरयिक नैरयिको मे उत्पन्न नही होता ।

इस कथन का आशय—यहाँ से मर कर नरक मे उत्पन्न होने वाले जीव की तिर्यञ्च या मनुष्य-सम्बन्धो आयु तो यही समाप्त हो जाती है, सिर्फ नरकायु ही बधो हुई होती है । यहाँ मर कर नरक मे पहुँचते हुए मार्ग मे जो एक-दो आदि समय लगते हैं, वे उसकी नरकायु मे से ही कम होते है । इस प्रकार नरकगामी जीव मार्ग मे भी नरकायु को भोगता है, इसलिए वह नैरयिक ही है । ऋजुसूत्रनय की वर्तमानपर्यायपरक दृष्टि से भी यह कथन सर्वथा उचित है कि नैरयिक ही नैरयिको मे उत्पन्न होता है, अनैरयिक नही ।

इस तरह शेष दण्डको के जीवो की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जान लेना चाहिए ।[१]

कहाँ तक ?—प्रज्ञापनासूत्र के लेश्यापद का तीसरा उद्देशक ज्ञान सम्बन्धी वर्णन तक कहना चाहिए । वह वहाँ इस प्रकार से प्रतिपादित है—(प्र) भगवन् ! कृष्णलेश्या वाला जीव कितने ज्ञान

---

१. (क) प्रज्ञापना सूत्र पद १७ उ. ३ (पृ २८७ म. वि.) मे देखें—'**गोयमा ! नेरइए नेरइएसु उववज्जइ, नो अणेरइए नेरइएसु उववज्जइ**' इत्यादि ।

(ख) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्राक २०५

वाला होता है ?—(उ) गौतम ! वह दो ज्ञान, तीन ज्ञान या चार ज्ञान वाला होता है । यदि दो ज्ञान हो तो—मति और श्रुत होते हैं, तीन ज्ञान हो तो मति, श्रुत और अवधि अथवा मति, श्रुत और मन पर्यायज्ञान होते हैं, यदि चार ज्ञान हो तो मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यायज्ञान होते है, इत्यादि जानना चाहिए ।[1]

॥ चतुर्थ शतक : नवम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) कण्हलेस्से ण भंते ! जीवे कइसु (कयरेसु) नाणेसु होज्जा ? गोयमा ! दोसु वा, तिसु वा, चउसु वा नाणेसु होज्जा । दोसु होज्जमाणे आभिणिबोहिय-सुयणाणेसु होज्जा, इत्यादि ।

—प्रज्ञापना पद १७ उ-३ (पृ २९१ म. वि)

(ख) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २०५

दसमो उद्देसो : लेस्सा

दशम उद्देशक : लेश्या

लेश्याओं का परिणमनादि पन्द्रह द्वारों से निरूपण

१. से नूणं भंते ! कण्हलेस्सा नीललेस्सं पप्प ताख्वत्ताए तावण्णत्ताए० ?

एवं चउत्थो उद्देसओ पण्णवणाए चेव लेस्सापदे नेयव्वो जाव—

परिणाम-वण्ण-रस-गंध-सुद्ध-अपसत्थ-संकिलिट्ठुण्हा—
गति-परिणाम-पदेसोगाह-वग्गणा-ठाणमप्पबहुं ॥१॥

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

॥ चउत्थे सए : दसमो उद्देसओ समत्तो ॥

॥ चउत्थं सयं समत्तं ॥

[१ प्र] भगवन् ! क्या कृष्णलेश्या नीललेश्या का संयोग पाकर तद्रूप और तद्वर्ण मे परिणत हो जाती है ?

[१ उ] (हे गौतम !) प्रज्ञापना सूत्र मे उक्त लेश्यापद का चतुर्थ उद्देशक यहाँ कहना चाहिए, और वह यावत् परिणाम इत्यादि द्वार-गाथा तक कहना चाहिए। गाथा का अर्थ इस प्रकार है—

परिणाम, वर्ण, रस, गन्ध, शुद्ध, अप्रशस्त, सक्लिष्ट, उष्ण, गति, परिणाम, प्रदेश, अवगाहना, वर्गणा, स्थान और अल्पबहुत्व, (ये सब बातें लेश्याओ के सम्बन्ध मे कहनी चाहिए।)

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', (यो कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरण करते है।)

विवेचन—लेश्याओं का परिणमनादि पन्द्रह द्वारो से निरूपण—प्रस्तुत सूत्र मे एक लेश्या को दूसरी लेश्या का सयोग प्राप्त होने पर वह उक्त लेश्या के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शरूप मे परिणत होती है या नहीं ? इस प्रश्न को उठाकर उत्तर के रूप मे प्रज्ञापना के लेश्यापद के चतुर्थ उद्देशक (परिणामादि द्वारो तक) का अतिदेश किया गया है। वस्तुत. लेश्या से सम्बन्धित परिणामादि १५ द्वारो की प्ररूपणा का अतिदेश किया गया है।

अतिदेश का सारांश—प्रज्ञापना मे उक्त मूलपाठ का भावार्थ इस प्रकार है—(प्र.) 'भगवन् ! क्या कृष्णलेश्या नीललेश्या (के सयोग) को प्राप्त करके तद्रूप यावत् तत्स्पर्श रूप मे बारबार परिणत होती है।'

इसका तात्पर्य यह है कि कृष्णलेश्यापरिणामी जीव, यदि नीललेश्या के योग्य द्रव्यो, को ग्रहण करके मृत्यु पाता है, तब वह जिस गति-योनि मे उत्पन्न होता है, वहां नीललेश्या-परिणामी होकर उत्पन्न होता है क्योकि कहा है— **'जल्लेसाइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ, तल्लेसे उववज्जइ'** अर्थात्—'जिस लेश्या के द्रव्यो को ग्रहण करके जीव मृत्यु पाता है, उसी लेश्या वाला होकर उत्पन्न होता है।' जो कारण होता है, वही सयोगवश कार्यरूप बन जाता है। जैसे—कारणरूप मिट्टी साधन-सयोग से घटादि कार्यरूप बन जाती है, वैसे ही कृष्णलेश्या भी कालान्तर मे साधन-सयोगो को पाकर नीललेश्या के रूप मे परिणत (परिवर्तित) हो जाती है। ऐसी स्थिति मे कृष्ण और नीललेश्या मे सिर्फ औपचारिक भेद रह जाता है, मौलिक भेद नही।

प्रज्ञापना मे एक लेश्या का लेश्यान्तर को प्राप्त कर तद्रूप यावत् तत्स्पर्शरूप मे परिणत होने का कारण पूछने पर बताया गया है—जिस प्रकार छाछ का सयोग मिलने से दूध अपने मधुरादि गुणो को छोडकर छाछ के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के रूप मे परिवर्तित हो जाता है, अथवा जैसे स्वच्छ वस्त्र रग के सयोग से उस रग के रूप, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श-रूप मे परिणत हो जाता है, वैसे ही कृष्णलेश्या भी नीललेश्या का सयोग पा कर तद्रूप या तत्स्पर्शरूप मे परिणत हो जाती है। जैसे कृष्णलेश्या का नीललेश्या मे परिणत होने का कहा, वैसे ही नीललेश्या कापोतलेश्या को, कापोत-तेजोलेश्या को, तेजोलेश्या पद्मलेश्या को तथा पद्मलेश्या शुक्ललेश्या को पाकर उसके रूप, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शरूप मे परिणत हो जाती है, इत्यादि सब कहना चाहिए।[1]

परिणामादि द्वार का तात्पर्य—लेश्यापद के चतुर्थ उद्देशक मे परिणामादि १५ द्वारो का यहाँ अतिदेश किया गया है, उसका तात्पर्य यह है—**परिणाम द्वार** के विषय मे ऊपर कह दिया गया है। **वर्णद्वार**—कृष्णलेश्या का वर्ण मेघादि के समान काला, नीललेश्या का भ्रमर आदिवत् नीला कापोत-लेश्या का वर्ण खैरसार (कत्थे) के समान कापोत, तेजोलेश्या का शशक के रक्त के समान लाल, पद्मलेश्या का चम्पक पुष्प आदि के समान पीला और शुक्ललेश्या का शखादि के समान श्वेत है। **रसद्वार**—कृष्णलेश्या का रस नीम के वृक्ष के समान तिक्त (कटु), नीललेश्या का सोठ आदि के समान तीखा, कापोतलेश्या का कच्चे बेर के समान कसैला, तेजोलेश्या का पके हुए आम के समान खटमीठा, पद्मलेश्या का चन्द्रप्रभा आदि मदिरा के समान तीखा, कसैला और मधुर (तीनो सयुक्त) है, तथा शुक्ललेश्या का रस गुड़ के समान मधुर है। **गन्धद्वार**—कृष्ण, नील और कापोत, ये तीन लेश्याएँ दुरभिगन्ध वाली हैं, और तेजो, पद्म एव शुक्ल ये तीन लेश्याएँ सुरभिगन्ध वाली हैं। **शुद्ध-प्रशस्त संक्लिष्ट-उष्णादिद्वार**—कृष्ण, नील और कापोत, ये तीन लेश्याएँ अशुद्ध, अप्रशस्त, सक्लिष्ट, शीत

---

१. (क) **'से नूणं भंते ! कण्हलेस्सा नीललेस्स पप्प ताख्वत्ताए, तावण्णत्ताए, तागधत्ताए, तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति ?' 'हंता गोयमा ! कण्हलेस्सा नीललेस्स पप्प ताख्वत्ताए जाव ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति।' से केणट्ठेणं भंते एव वुच्चइ—कण्हलेस्सा जाव भुज्जो भुज्जो परिणमति ?' 'गोयमा ! से जहानामए खीरे दूसिं पप्प, सुद्धे वा वत्थे राग पप्प ताख्वत्ताए जाव ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ, से एएणट्ठेण गोयमा ! एव वुच्चइ—कण्हलेस्सा इत्यादि।'**

—प्रज्ञापना० लेश्यापद १७, उ-४

(ख) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २०५

और रूक्ष हैं, तथा दुर्गति की कारण हैं। तेजो, पद्म और शुक्ल, ये तीन लेश्याएँ शुद्ध, प्रशस्त, असंक्लिष्ट, उष्ण और स्निग्ध हैं, तथा सुगति की कारण है। **परिणाम-प्रवेश-वर्गणा-अवगाहना-स्थानादि द्वार**—लेश्याओ के तीन परिणाम—जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट। इनके भी तीन-तीन भेद करने से नौ इत्यादि भेद होते है। प्रत्येक लेश्या अनन्त प्रदेशवाली है। प्रत्येक लेश्या की अवगाहना असख्यात आकाश प्रदेशो मे है। कृष्णादि छहों लेश्याओ के योग्य द्रव्यवर्गणाए औदारिक आदि वर्गणाओ की तरह अनन्त हैं। तरतमता के कारण विचित्र अध्यवसायो के निमित्त रूप कृष्णादिद्रव्यो के समूह असख्य हैं; क्योंकि अध्यवसायो के स्थान भी असख्य है। **अल्पबहुत्वद्वार**—लेश्याओ के स्थानो का अल्पबहुत्व इस प्रकार है—द्रव्यार्थरूप से कापोतलेश्या के जघन्य स्थान सबसे थोडे हैं, द्रव्यार्थरूप से नीललेश्या के जघन्य स्थान उससे असंख्यगुणे है, द्रव्यार्थरूप से कृष्णलेश्या के जघन्य स्थान असख्यगुणे हैं, द्रव्यार्थरूप से तेजोलेश्या के जघन्य स्थान उससे असख्यगुणे हैं और द्रव्यार्थरूप से पद्मलेश्या के जघन्य स्थान उससे असख्यगुणे है और द्रव्यार्थरूप से शुक्ललेश्या के जघन्य स्थान उससे भी असख्यगुणे हैं।

इत्यादिरूप से सभी द्वारो का वर्णन प्रज्ञापनासूत्रोक्त लेश्यापद के चतुर्थ उद्देशक के अनुसार जानना चाहिए।[1]

॥ चतुर्थ शतक : दशम उद्देशक समाप्त ॥

चतुर्थ शतक सम्पूर्ण

---

१. (क) देखिये—प्रज्ञापना० मलयगिरि टीका, पद १७, उ ४ मे परिणामादि द्वार की व्याख्या।
(ख) भगवती सूत्र, अ. वृत्ति, पत्रांक २०५-२०६

पंचमं सयं : पंचम शतक

प्राथमिक

- ☐ व्याख्याप्रज्ञप्ति—भगवती सूत्र यह का पचम शतक है ।

- ☐ इस शतक मे सूर्य, चन्द्रमा, छद्मस्थ एव केवली की ज्ञानशक्ति, शब्द, आयुष्य वृद्धि-हानि आदि कई महत्त्वपूर्ण विषयो पर प्रकाश डाला गया है ।

- ☐ इस शतक के भी दस उद्देशक हैं ।

- ☐ **प्रथम उद्देशक** के प्ररूपणा स्थान—चम्पानगरी का वर्णन करके विभिन्न दिशाओ-विदिशाओ से सूर्य के उदय-अस्त का एव दिन-रात्रि का प्ररूपण है । फिर जम्बूद्वीप मे दिवस-रात्रि कालमान का विविध दिशाओ एव प्रदेशो मे ऋतु से लेकर उत्सर्पिणीकाल तक के अस्तित्व का तथा लवण-समुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि एव पुष्करार्द्ध मे सूर्य के उदयास्त आदि का विचार किया गया है ।

- ☐ **द्वितीय उद्देशक** मे विविध पहलुओ से चतुर्विध वायु का, चावल आदि की पूर्व-पश्चादवस्था का, अस्थि, अगार आदि की पूर्व-पश्चादवस्था का, तथा लवण-समुद्र की लम्बाई-ऊँचाई सस्थान आदि का निरूपण है ।

- ☐ **तृतीय उद्देशक** मे एक जीव द्वारा एक समय मे इह-पर (उभय) भव सम्बन्धी आयुष्यवेदन के मत का निराकरण करके यथार्थ प्ररूपणा तथा चौबीस दण्डको और चतुर्विध योनियो की अपेक्षा आयुष्य-सम्बन्धी विचारणा की गई है ।

- ☐ **चतुर्थ उद्देशक** मे छद्मस्थ और केवली की शब्दश्रवणसम्बन्धी सीमा तथा हास्य-औत्सुक्य, निद्रा, प्रचला सम्बन्धी विचारणा की गई है । फिर हरिणैगमैषी देव द्वारा गर्भापहरण का, अतिमुक्तक कुमारश्रमण की बालचेष्टा एव भगवत्समाधान का, देवो के मनोगत प्रश्न का भगवान् द्वारा मनोगत समाधान का, देवो को 'नो-सयत' कहने का, देवभाषा का, केवली और छद्मस्थ के अन्तकर आदि का, केवली के प्रशस्त मन-वचन का, उनके मन-वचन को जानने मे समर्थ वैमानिक देव का, अनुत्तरोपपातिकदेवो के असीम-मन सामर्थ्य तथा उपशान्तमोहत्व का, केवली के अतीन्द्रियप्रत्यक्ष का, अवगाहन सामर्थ्य का तथा चतुर्दशपूर्वधारी के लब्धि-सामर्थ्य का निरूपण है ।

- ☐ **पंचम उद्देशक** मे सर्वप्राणियो के एवम्भूत-अनेवम्भूत वेदन का, तथा जम्बूद्वीप में हुए कुलकर तीर्थंकर आदि श्लाघ्य पुरुषो का वर्णन है ।

☐ **छठे उद्देशक** में अल्पायु-दीर्घायु के कारणभूत कर्मबन्ध के कारणों का, विक्रेता-क्रेता को किराने से सम्बन्धित लगने वाली क्रियाओं का, अग्निकाय के महाकर्म-अल्पकर्म युक्त होने का, धनुर्धर तथा धनुष सम्बन्धित जीवों को उनसे लगने वाली क्रियाओं का, नैरयिक विकुर्वणा का, आधाकर्मादि दोषसेवी साधु का, आचार्य-उपाध्याय के सिद्धिगमन का तथा मिथ्याभ्याख्यानी दुष्कर्मबन्ध का प्ररूपण किया गया है।

☐ **सातवें उद्देशक** मे परमाणु और स्कन्धो के कम्पन, अवगाहन, प्रवेश तथा सार्धादि का एव उनके परस्पर स्पर्श का द्रव्यादिगत पुद्गलो की कालापेक्षया स्थिति, अन्तरकाल, अल्पबहुत्व का, चौबीस दण्डक के जीवो के आरम्भ-परिग्रह का पचहेतु-अहेतु का निरूपण है।

☐ **आठवें उद्देशक** में द्रव्यादि की अपेक्षा सप्रदेशता-अप्रदेशता की, संसारी एवं सिद्ध जीवो की वृद्धि हानि और अवस्थिति के कालमान की, उनके सोपचयादि की प्ररूपणा है।

☐ **नवें उद्देशक** मे राजगृह-स्वरूप, समस्त जीवो के उद्योत-अन्धकार तथा समयादि कालज्ञान का, पार्श्वापत्यो द्वारा लोकसम्बन्धी समाधान का एव देवो के भेद-प्रभेदो का वर्णन है।

☐ **दसवें उद्देशक** मे चम्पा मे वर्णित चन्द्रमा के उदय-अस्त आदि का अतिदेशपूर्वक वर्णन है।[1]

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), भा. १ (विसयाणुक्कमो), पृ. ३६ से ४०
(ख) भगवतीसूत्र टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त खण्ड २, विषयसूची पृ. ३ से ५ तक

पंचमं सयं : पंचम शतक

पंचम शतक की संग्रहणी गाथा

१ चंप रवि १ अनिल २ गंठिय ३ सद्दे ४ छउमायु ५-६ एयण ७ णियंठे ८ ।
रायगिहं ९ चंपाचंदिमा १० य दस पंचमम्मि सते ॥१॥

[१] (गाथा का अर्थ)—पांचवें शतक में ये दस उद्देशक हैं—प्रथम उद्देशक मे चम्पा नगरी में सूर्य सम्बन्धी प्रश्नोत्तर हैं। द्वितीय उद्देशक मे वायु सम्बन्धी प्ररूपण है। तृतीय उद्देशक मे जाल-ग्रन्थी का उदाहरण देकर तथ्य का निरूपण किया है। चतुर्थ उद्देशक मे शब्द सम्बन्धी प्रश्नोत्तर है। पंचम उद्देशक मे छद्मस्थ के सम्बन्ध में वर्णन है। छठे उद्देशक मे आयुष्य की वृद्धि-हानि सम्बन्धी निरूपण है। सातवें उद्देशक मे पुद्गलों के कम्पन का वर्णन है। आठवे उद्देशक मे निर्ग्रन्थी-पुत्र अनगार द्वारा पदार्थ-विषयक विचार किया है। नौवे उद्देशक मे राजगृह नगर सम्बन्धी पर्यालोचन है और चम्पानगरी मे वर्णित चन्द्रमा-सम्बन्धी प्ररूपणा है।

पढमो उद्देसओ : रवि

प्रथम उद्देशक : रवि

प्रथम उद्देशक का प्ररूपणा-स्थान : चम्पानगरी

२. तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नगरी होत्था।[1] वण्णओ। तीसे णं चंपाए नगरीए पुण्णभद्दे नामे चेतिए होत्था।[1] वण्णओ। सामी समोसढे जाव[2] परिसा पडिगता।

[२] उस काल और समय में चम्पा नाम की नगरी थी। उसका वर्णन औपपातिक सूत्र के अनुसार जानना चाहिए। उस चम्पा नगरी के बाहर पूर्णभद्र नाम का चैत्य (व्यन्तरायतन) था। उसका भी वर्णन औपपातिक सूत्र से जान लेना चाहिए। (एक बार) वहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी पधारे, (समवसरण लगा) यावत् परिषद् भगवान् को वन्दन करने और उनका धर्मोपदेश सुनने के लिए गई और यावत् परिषद् वापस लौट गई।

विवेचन—प्रथम उद्देशक का प्ररूपण-स्थान : चम्पानगरी—प्रस्तुत सूत्र मे प्रथम उद्देशक के उपोद्घात में चम्पानगरी मे, पूर्णभद्र नामक व्यन्तरायतन मे भगवान् महावीर के पदार्पण, समवसरण, दर्शन वन्दनार्थ परिषद् का आगमन तथा धर्मोपदेश श्रवण के पश्चात् पुन: गमन आदि

---

१. चम्पानगरी और पूर्णभद्र चैत्य का वर्णन औपपातिक सूत्र से जान लेना।
२. यहाँ जाव शब्द से परिषद्-निर्गमन से लेकर प्रतिगमन तक सारा वर्णन पूर्ववत्।

का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया गया है, ताकि पाठक यह स्पष्टतया समझ सके कि प्रथम उद्देशक में वर्णित विषयों का निरूपण चम्पानगरी में हुआ था।[1]

चम्पानगरी : तब और अब—औपपातिक सूत्र में चम्पानगरी का विस्तृत वर्णन मिलता है, तदनुसार 'चम्पा' ऋद्धियुक्त, स्तमित एवं समृद्ध नगरी थी। महावीर-चरित्र के अनुसार अपने पिता श्रेणिक राजा की मृत्यु के शोक के कारण सम्राट् कोणिक मगध की राजधानी राजगृह में रह नहीं सकता था, इस कारण उसने वास्तुशास्त्रियों के परामर्श के अनुसार एक विशाल चम्पावृक्ष वाले स्थान को पसंद करके अपनी राजधानी के हेतु चम्पानगरी बसाई। इसी चम्पानगरी में दधिवाहन राजा की पुत्री चन्दनबाला का जन्म हुआ था। पाण्डवकुलभूषण प्रसिद्ध दानवीर कर्ण ने इसी नगरी को अंगदेश की राजधानी बनाया था। दशवैकालिकसूत्र-रचयिता आचार्य शय्यंभव सूरि ने राजगृह से आए हुए अपने लघुवयस्क पुत्र मनक को इसी नगरी में दीक्षा दी थी और यहीं दशवैकालिक सूत्र की रचना की थी। बारहवें तीर्थंकर श्री वासुपूज्य स्वामी के पांच कल्याणक इसी नगरी में हुए थे। इस नगरी के बंद हुए दरवाजों को महासती सुभद्रा ने अपने शील की महिमा से अपने कलंक निवारणार्थ कच्चे सूत की चलनी बांध कर उसके द्वारा कुए में से पानी निकाला और तीन दरवाजों पर छींट कर उन्हें खोला था। चौथा दरवाजा ज्यों का त्यों बंद रखा था। परन्तु बाद में वि. सं. १३६० में लक्षणावती के हम्मीर और सुलतान समदीन ने शंकरपुर का किला बनाने हेतु उपयोगी पाषाणों के लिए इस दरवाजे को तोड़ कर इसके कपाट ले लिये थे। वर्तमान में चम्पानगरी चम्पारन कस्बे के रूप में भागलपुर के निकटवर्ती एक जिला है। महात्मा गाँधीजी ने चम्पारन में प्रथम सत्याग्रह किया था।[2]

जम्बूद्वीप में सूर्यों के उदय-अस्त एवं रात्रि-दिवस से सम्बन्धित प्ररूपणा

३ तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवतो महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूती णामं अणगारे गोतमे गोत्तेणं जाव[3] एवं वदासी।

[३] उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के ज्येष्ठ अन्तेवासी (शिष्य) गौतमगोत्रीय इन्द्रभूति अनगार थे, यावत् उन्होंने इस प्रकार पूछा—

४. जंबुद्दीवे णं भंते! दीवे सूरिया उदीण-पादीणमुग्गच्छ पादीण-दाहिणमागच्छंति? पादीण-दाहिणमुग्गच्छ दाहिण-पडीणमागच्छंति? दाहिण-पडीणमुग्गच्छ पडीण-उदीणमागच्छंति? पडीण-उदीणमुग्गच्छ उदीचि-पादीणमागच्छंति?

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २०७

२. (क) जिनप्रभसूरिरचित 'चम्पापुरीकल्प'

(ख) हेमचन्द्राचार्यरचित महावीरचरित्र सर्ग १२, श्लोक १८० से १८९ तक

(ग) आचार्य शय्यंभवसूरिरचित परिशिष्टपर्व सर्ग ५, श्लोक ६८, ८०, ८५

(घ) भगवतीसूत्र (टीकानुवाद टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ. १४४

३. 'जाव' पद से गौतम स्वामी का समस्त वर्णन एवं उपासनादि कहना चाहिए।

हंता, गोयमा ! जंबुद्दीवे णं दीवे सूरिया उदीण-पाईणमुग्गच्छ जाव[1] उदीचि-पादीणमागच्छंति ।

[४ प्र.] भगवन् ! जम्बूद्वीप नामक द्वीप मे सूर्य क्या उत्तरपूर्व (ईशान-कोण) मे उदय होकर पूर्वदक्षिण (आग्नेय कोण) मे अस्त होते (होने आते) हैं ? अथवा आग्नेय कोण मे उदय होकर दक्षिण--पश्चिम (नैऋ‍ंत्य कोण) मे अस्त होते हैं ? अथवा नैऋ‍ंत्य कोण में उदय होकर पश्चिमोत्तर (वायव्यकोण) मे अस्त होते हैं, या फिर पश्चिमोत्तर (वायव्यकोण) मे उदय होकर उत्तरपूर्व (ईशान कोण) मे अस्त होते है ?

[४ उ.] हाँ, गौतम ! जम्बूद्वीप मे सूर्य उत्तरपूर्व—ईशान कोण मे उदित हो कर अग्निकोण (पूर्व-दक्षिण) मे अस्त होते हैं, यावत् (पूर्वोक्त कथनानुसार) ईशानकोण मे अस्त होते हैं ।

५. जदा णं भंते ! जंबुद्दीवे दाहिणड्ढे दिवसे भवति तदा णं उत्तरड्ढे दिवसे भवति ? जदा णं उत्तरड्ढे दिवसे भवति तदा णं जंबुद्दीवे दीवे मदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमेणं राती भवति ?

हंता, गोयमा ! जदा णं जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे दिवसे जाव राती भवति ।

[५ प्र.] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध मे दिन होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध मे भी दिन होता है ? और जब जम्बूद्वीप के उत्तरार्द्ध मे दिन होता है, तब क्या मेरुपर्वत से पूर्व-पश्चिम में रात्रि होती है ?

[५ उ.] हाँ, गौतम ! (यह इसी तरह होता है, अर्थात्—) जब जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध मे दिन मे होता है, तब यावत् रात्रि होती है ।

६. जदा णं भंते ! जंबु० मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेण दिवसे भवति तदा ण पच्चत्थिमेण वि दिवसे भवति ? जदा णं पच्चत्थिमेणं दिवसे भवति तदा ण जंबुद्दीवे दीवे मदरस्स पव्वयस्स उत्तर-दाहिणेणं राती भवति ?

हंता, गोयमा ! जदा णं जंबु० मदर० पुरत्थिमेणं दिवसे जाव राती भवति ।

[६ प्र.] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से पूर्व में दिन होता है, तब क्या पश्चिम मे भी दिन होता है ? और जब पश्चिम मे दिन होता है, तब क्या जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से उत्तर-दक्षिण मे रात्रि होती है ?

[६ उ.] गौतम ! हाँ, इसी प्रकार होता है; अर्थात्—जब जम्बूद्वीप मे मेरुपर्वत से पूर्व में दिन होता है, तब यावत्-रात्रि होती है ।

विवेचन—जम्बूद्वीप में सूर्यों के उदय-अस्त एवं दिवस-रात्रि से सम्बन्धित प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रो मे से दो सूत्रो में जम्बूद्वीपान्तर्गत सूर्यों का विभिन्न विदिशाओ (कोणो) से उदय और अस्त का निरूपण किया गया है, तथा पिछले दो सूत्रों मे जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध, उत्तरार्द्ध, पूर्व-पश्चिम, पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण आदि की अपेक्षा से दिन और रात का प्ररूपण किया गया है।

१. यहाँ 'जाव' पद से सम्पूर्ण प्रश्नगत वाक्य सूचित किया गया है ।

सूर्य के उदय-अस्त का व्यवहार : दर्शक लोगों की दृष्टि की अपेक्षा से—यहाँ जो दिशा, विदिशा या समय की दृष्टि से सूर्य का उदय-अस्त बताया गया है, वह सब व्यवहार दर्शको की दृष्टि की अपेक्षा से बताया है, क्योकि समग्र भूमण्डल पर सूर्य के उदय-अस्त का समय या दिशा-विदिशा (प्रदेश) नियत नही है। वास्तव मे देखा जाए तो सूर्य तो सदैव भूमण्डल पर विद्यमान रहता है, किन्तु जब सूर्य के समक्ष किसी प्रकार की आड (ओट या व्यवधान) आ जाती है, तब (उस समय) उस देश (उस दिशा-विदिशा) के लोग उक्त सूर्य को देख नही पाते, तब उस देश के लोग इस प्रकार का व्यवहार करते हैं—अब सूर्य अस्त हो गया है। जब सूर्य के सामने किसी प्रकार की आड नही होती, तब उस देश (दिशा-विदिशा) के लोग सूर्य को देख पाते है, और वे इस प्रकार का व्यवहार करते हैं— अब (इस समय) सूर्य उदय हो गया है। एक आचार्य ने कहा है—सूर्य प्रति समय ज्यो-ज्यो आकाश मे आगे गति करता जाता है, त्यो-त्यो निश्चित ही इस तरफ रात्रि होती जाती है। इसलिए सूर्य की गति पर ही उदय-अस्त का व्यवहार निर्भर है। मनुष्यो की (दृष्टि की) अपेक्षा से उदय और अस्त दोनो क्रियाए अनियत है, क्योकि अपने-अपने देश (दिशा) भेद के कारण कोई किसी प्रकार का और दूसरा किसी अन्य प्रकार का व्यवहार करते हैं। इससे सिद्ध है कि सूर्य आकाश मे सब दिशाओ मे गति करता है, इस प्ररूपणा के अनुसार इस मान्यता का स्वत. निराकरण हो जाता है कि "सूर्य पश्चिम की ओर के समुद्र मे प्रविष्ट होकर पाताल मे चला जाता है, फिर पूर्व की ओर के समुद्र पर उदय होता है।"[1]

सूर्य सभी दिशाओ मे गतिशील होते हुए भी रात्रि क्यों ?—यद्यपि सूर्य सभी दिशाओ (देशो) मे गति करता है, तथापि उसका प्रकाश अमुक सीमा तक ही फैलता है, उससे आगे नही, इसलिए जगत् मे जो रात्रि-दिवस का व्यवहार होता है, वह निर्बाध है। आशय यह है कि जितनी सीमा तक जिस देश मे सूर्य का प्रकाश, जितने समय तक पहुँचता है, उतनी सीमा तक उस प्रदेश मे, उतने समय तक दिवस होता है, शेष सीमा मे, शेष प्रदेश मे उतने समय रात्रि होती है। इसलिए सूर्य के प्रकाश का क्षेत्र मर्यादित होने के कारण रात्रि-दिवस का व्यवहार होता है।

एक ही समय मे दो दिशाओं मे दिवस कैसे ?—जम्बूद्वीप मे सूर्य दो है, इसलिए एक ही समय मे दो दिशाओ मे दिवस होता है और दो दिशाओ मे रात्रि होती है।

दक्षिणार्द्ध और उत्तरार्द्ध का आशय—यदि यह अर्थ माना जाएगा कि जम्बूद्वीप के उत्तर के सम्पूर्ण खण्ड और दक्षिण के सम्पूर्ण खण्ड मे दिवस होता है, तब तो सर्वत्र दिवस होगा, रात्रि कही नही, मगर यहाँ उत्तरार्द्ध और दक्षिणार्द्ध के ये अर्थ अभीष्ट न होकर उत्तरदिशा में आया हुआ अमुक भाग 'उत्तरार्द्ध' और दक्षिणदिशा मे आया हुआ अमुक भाग 'दक्षिणार्द्ध' अर्थ ही अभीष्ट है। इसी कारण पूर्व और पश्चिम दिशा मे रात्रि का होना सगत हो सकता है।

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्रांक २०७

(ख) जह-जह समये-समये पुरओ सचरइ भक्खरो गयणे।
तह-तह इओऽवि नियमा, जायइ रयणी य भावत्थो ॥१॥
एव च सइ नराण उदयत्थमणाइ होतिऽनिययाइ।
सयदेसभेए कस्सइ किंचि ववदिस्सइ नियमा ॥२॥

—भगवती अ वृत्ति, पत्रांक २०७ मे उद्धृत

चार विदिशाएँ, अर्थात् चार कोण—**उदीण-पाईणं** = उत्तर-पूर्व के बीच की दिशा = ईशान-कोण, **दाहिण-पडीणं** = दक्षिण और पश्चिम के बीच की दिशा = नैऋत्यकोण, **पाईण-दाहिणं** = पूर्व और दक्षिण के बीच की दिशा = आग्नेय कोण, तथा **पडीण-उदीणं** = पश्चिम और उत्तर के बीच की दिशा = वायव्य कोण।[1] **उदीण** = उत्तर दिशा के पास का प्रदेश उदीचीन, तथा **पाईण** = प्राची (पूर्व) दिशा के निकट का प्रदेश—प्राचीन।

जम्बूद्वीप में दिवस और रात्रि का कालमान

७ जदा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा णं उत्तरड्ढे वि उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति ! जदा णं उत्तरड्ढे उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमेणं जहन्निया दुवालसमुहुत्ता राती भवति ?

हंता, गोयमा ! जदा णं जंबु० जाव दुवालसमुहुत्ता राती भवति।

[७ प्र.] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप नामक द्वीप के दक्षिणार्द्ध में उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध में भी उत्कृष्ट (सब से बड़ा) अठारह मुहूर्त्त का दिन होता है ?, और जब उत्तरार्द्ध में उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब क्या जम्बूद्वीप में मन्दर (मेरु) पर्वत से पूर्व-पश्चिम में जघन्य (छोटी से छोटी) बारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है ?

[७ उ.] हाँ, गौतम ! (यह इसी तरह होती है। अर्थात्—) जब जम्बूद्वीप में, यावत् बारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है।

८. जदा णं जंबु० मंदरस्स पुरत्थिमेणं उक्कोसए अट्ठारस जाव तदा णं जंबुद्दीवे दीवे पच्चत्थिमेण वि उक्को० अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति ? जया णं पच्चत्थिमेण उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे उत्तर० दुवालसमुहुत्ता जाव राती भवति ?

हंता, गोयमा ! जाव भवति।

[८ प्र.] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के मेरु-पर्वत से पूर्व में उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब क्या जम्बूद्वीप के पश्चिम में भी उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त्त का दिन होता है ?, और भगवन् ! जब पश्चिम में उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त्त का दिवस होता है, तब क्या जम्बूद्वीप के उत्तर के जघन्य (छोटी से छोटी) बारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है ?

[८ उ.] हाँ, गौतम ! यह इसी तरह—यावत् होता है।

९. जदा णं भंते ! जंबु० दाहिणड्ढे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा णं उत्तरे अट्ठारस-मुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति ? जदा णं उत्तरे अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा णं जंबु० मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमेणं सातिरेगा दुवालसमुहुत्ता राती भवति ?

हंता, गोयमा ! जदा णं जंबु० जाव राती भवति।

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २०७-२०८

(ख) भगवती० (विवेचनयुक्त) (पं. घेवरचन्दजी) भा. २, पृ. ७५३ से ७५६ तक

[९ प्र.] हे भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध में अठारह मुहूर्त्तानन्तर (मुहूर्त से कुछ कम) का दिवस होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध (उत्तर) में भी अठारह मुहूर्त्तानन्तर का दिवस होता है ? और जब उत्तरार्द्ध मे अठारह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब क्या जम्बूद्वीप मे मन्दर पर्वत से पूर्व पश्चिम दिशा मे सातिरेक (कुछ अधिक) बारह मुहूर्त की रात्रि होती है ?

[९ उ.] हाँ, गौतम ! (यह इसी तरह होती है, अर्थात्—) जब जम्बूद्वीप के····यावत् रात्रि होती है।

१०. जदा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेणं अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा णं पच्चत्थिमेण अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति ? जदा ण पच्चत्थिमेणं अट्ठारसमुहुत्ताणंतरे दिवसे भवति तदा णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं साइरेगा दुवालसमुहुत्ता राती भवति ?

हंता, गोयमा ! जाव भवति।

[१० प्र.] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के मन्दराचल से पूर्व मे अठारह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब क्या पश्चिम मे भी अठारह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है ?, और जब पश्चिम मे अठारह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब क्या जम्बूद्वीप में मेरु-पर्वत से उत्तर दक्षिण में भी सातिरेक बारह मुहूर्त की रात्रि होती है ?

[१० उ.] हाँ गौतम ! (यह इसी तरह) यावत् होती है।

११. एवं एतेण कमेणं ओसारेयव्वं—सत्तरसमुहुत्ते दिवसे, तेरसमुहुत्ता राती। सत्तरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे, सातिरेगा तेरसमुहुत्ता राती। सोलसमुहुत्ते दिवसे, चोद्दसमुहुत्ता राती। सोलसमुहुत्ताणंतरे दिवसे, सातिरेगा चोद्दसमुहुत्ता राती। पन्नरसमुहुत्ते दिवसे, पन्नरसमुहुत्ता राती। पन्नरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे, सातिरेगा पन्नरसमुहुत्ता राती। चोद्दसमुहुत्ते दिवसे, सोलसमुहुत्ता राती। चोद्दसमुहुत्ताणंतरे दिवसे, सातिरेगा सोलसमुहुत्ता राती। तेरसमुहुत्ते दिवसे, सत्तरसमुहुत्ता राती। तेरसमुहुत्ताणंतरे दिवसे, सातिरेगा सत्तरसमुहुत्ता राती।

[११] इस प्रकार इस क्रम से दिवस का परिमाण बढाना-घटाना और रात्रि का परिमाण घटाना-बढाना चाहिए। यथा—जब सत्रह मुहूर्त्त का दिवस होता है, तब तेरह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब सत्रह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब सातिरेक तेरह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब सोलह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब चौदह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब सोलह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब सातिरेक चौदह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब पन्द्रह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब पन्द्रह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब पन्द्रह मुहूर्त्तान्तिर का दिन होता है, तब सातिरेक पन्द्रह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब चौदह मुहूर्त्त का दिन होता, तब सोलह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब चौदह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब सातिरेक सोलह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब तेरह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब सत्रह मुहूर्त्त की रात्रि होती है। जब तेरह मुहूर्त्तानन्तर का दिन होता है, तब सातिरेक सत्रह मुहूर्त्त की रात्रि होती है।

१२. जदा णं जंबु० दाहिणड्ढे जहन्नए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा णं उत्तरड्ढे वि ? जया णं उत्तरड्ढे तया णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमे-पच्चत्थिमे णं उक्कोसिया अट्ठारस-मुहुत्ता राती भवति ?

हंता, गोयमा ! एवं चेव उच्चारेयव्वं जाव राती भवति ।

[१२ प्र] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से दक्षिणार्द्ध मे जघन्य बारह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध मे भी (इसी तरह होता है) ? और जब उत्तरार्द्ध में भी इसी तरह होता है, तब क्या जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से पूर्व और पश्चिम में उत्कृष्ट (सबसे बड़ी) अठारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है ?

[१२ उ] हाँ, गौतम ! इसी (पूर्वोक्त) प्रकार से सब कहना चाहिए, यावत् रात्रि होती है ।

१३. जदा णं भंते ! जंबु० मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेणं जहन्नए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति तदा णं पच्चत्थिमेण वि० ? जया णं पच्चत्थिमेणं वि तदा णं जंबु० मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राती भवति ?

हंता, गोयमा ! जाव राती भवति ।

[१३ प्र] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के मन्दर पर्वत से पूर्व मे जघन्य (सबसे छोटा) बारह मुहूर्त्त का दिन होता है, तब क्या पश्चिम में भी इसी प्रकार होता है ? और जब पश्चिम मे इसी तरह होता है, तब क्या जम्बूद्वीप के मन्दर-पर्वत के उत्तर और दक्षिण मे उत्कृष्ट (सबसे बडी) अठारह मुहूर्त्त की रात्रि होती है ?

[१३ उ.] हाँ, गौतम ! यह उसी तरह यावत् ···रात्रि होती है ।

विवेचन—जम्बूद्वीप में दिवस और रात्रि का काल-परिमाण—प्रस्तुत सात सूत्रो मे जम्बूद्वीप मे दिन और रात का मुहूर्त्तों के रूप मे परिमाण बताया गया है ।

दिन और रात्रि की कालगणना का सिद्धान्त—जैन सिद्धान्त की दृष्टि से दिन और रात्रि मिला कर दोनों कुल ३० मुहूर्त्त के होते हैं । दक्षिण और उत्तर मे दिन और रात्रि का उत्कृष्ट मान १८ मुहूर्त्त का होगा तो पूर्व और पश्चिम मे रात्रि १२ मुहूर्त्त की होगी । यदि रात्रि पूर्व व पश्चिम मे उत्कृष्टत १८ मुहूर्त्त की होगी तो दक्षिणार्द्ध एव उत्तरार्द्ध मे जघन्य १२ मुहूर्त्त का दिन होगा, इसी तरह पूर्व पश्चिम मे जघन्य १२ मुहूर्त्त का दिन होगा तो उत्तर एव दक्षिण मे रात्रि उत्कृष्ट १८ मुहूर्त्त की होगी । यदि दक्षिणार्द्ध, उत्तरार्द्ध अथवा पूर्व और पश्चिम मे १८ मुहूर्त्तानन्तर का दिन होगा तो पूर्व और पश्चिम मे अथवा उत्तर और दक्षिण में रात्रि सातिरेक १२ मुहूर्त्त की होगी ।

तात्पर्य यह है कि ३० मुहूर्त्त अहोरात्र में से दिवस का जितना भाग बढता या घटता है, उतना ही भाग, रात्रि का घटता या बढता जाता है । सूर्य के कुल १८४ मण्डल हैं । उनमे से जम्बूद्वीप में ६५ और लवणसमुद्र मे शेष ११९ मण्डल हैं । जब सूर्य सर्वाभ्यन्तर मण्डल में होता है, तब १८ मुहूर्त्त का दिन होता है और १२ मुहूर्त्त की रात्रि होती है । जब सूर्य बाह्यमण्डल से आभ्यन्तरमण्डल की ओर आता है, तब क्रमश प्रत्येक मण्डल में दिवस बढता जाता है और रात्रि

घटती जाती है; और जब सूर्य आभ्यन्तरमण्डल से बाह्यमण्डल की ओर प्रयाण करता है, तब प्रत्येक मण्डल में डेढ़ मिनट से कुछ अधिक रात्रि बढती जाती है तथा दिन उतना ही घटता जाता है। जब सूर्य सर्वाभ्यन्तर मण्डल से निकल कर उसके पास वाले दूसरे मण्डल मे जाता है, तब मुहूर्त्त के २/६१ भाग कम अठारह मुहूर्त्त का दिन होता है, जिसे शास्त्र मे 'अष्टादश-मुहूर्त्तानन्तर' कहते हैं, क्योंकि यह समय १८ मुहूर्त्त का दिन होने के तुरत बाद में आता है।

क्रमशः सूर्य की विभिन्न मण्डलो में गति के अनुसार दिन-रात्रि का परिमाण इस प्रकार है—

(१) दूसरे से ३१वे मण्डल के अर्द्धभाग मे जब सूर्य जाता है, तब दिन १७ मुहूर्त्त का, रात्रि १३ मुहूर्त्त की।

(२) ३२वें मण्डल के अर्द्ध भाग मे जब सूर्य जाता है, तब १ मुहूर्त्त के २/६१ भाग कम १७ मुहूर्त्त का दिन और रात्रि मुहूर्त्त के २/६१ भाग अधिक १३ मुहूर्त्त।

(३) ३३वे मण्डल से ६१वें मण्डल मे जब सूर्य जाता है, तब १६ मुहूर्त्त का दिन, १४ मुहूर्त्त की रात्रि।

(४) सूर्य जब दूसरे से ९२वे मण्डल के अर्द्धभाग मे जाता है, तब १५-१५ मुहूर्त्त के दिन और रात्रि।

(५) सूर्य जब १२२वे मण्डल मे जाता है तब दिन १४ मुहूर्त्त का होता है।

(६) सूर्य जब १५३वे मण्डल के अर्द्धभाग में जाता है तब दिन १३ मुहूर्त्त का होता है।

(७) सूर्य जब दूसरे से सर्व बाह्य १८३वें मण्डल मे होता है, तब[1] ठीक १२ मुहूर्त्त का दिन और १८ मुहूर्त्त की रात होती है।

ऋतु से लेकर उत्सर्पिणीकाल तक विविध दिशाओं एवं प्रदेशों (क्षेत्रों) में अस्तित्व की प्ररूपणा

१४. जया ण भंते ! जंबु० दाहिणड्ढे वासाणं पढमे समए पडिवज्जति तया णं उत्तरड्ढे वि

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्रांक २०८-२०९

(ख) भगवती० हिन्दी विवेचनयुक्त (प. घेवरचन्दजी) भा. २, पृ. ७६०-७६१

(ग) दिन और रात्रि का कालमान—घंटों के रूप मे, १। मुहूर्त्त = १ घंटा, १ मुहूर्त्त = ४८ मिनट। यदि सूर्य १ मण्डल में ४८ घटे रहता हो तो ४८ को १० का भाग करके भाजक सख्या को तिगुनी करने पर जितने घटे मिनट आवें, उतनी सख्या दिन के माप की होती है। जैसे ४८ घटे सूर्य रहता है तो ४८ मे १० का भाग देने से ४।।। घटे और ३ मिनट आते हैं। फिर उसे तीन गुणा करने पर १४। घटे ९ मिनट आते हैं। अभिप्राय यह है कि जब तक सूर्य एक मण्डल में ४८ घटे तक रहता है, वहाँ तक इतने घटे (१४। घटे, ९ मिनट) का दिन बडा होता है। रात्रि के लिए भी यही बात समझना। अर्थात्—इतना बडा दिन हो तो रात्रि ९।। घटे, ६ मिनट की होती है।

—भगवती टीकानुवाद टिप्पण, खण्ड २, पृ. १५०

वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ ? जया णं उत्तरड्ढे वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ तया णं जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं अणंतरपुरक्खडसमयंसि वासाणं पढमे समए पडिवज्जति ?

हंता, गोयमा ! जदा ण जंबु० २ दाहिणड्ढे वासाणं प० स० पडिवज्जति तह चेव जाव पडिवज्जति ।

[१४ प्र] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध मे वर्षा (ऋतु) (चौमासे के मौसम) का प्रथम समय होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध मे भी वर्षा (ऋतु) का प्रथम समय होता है ? और जब उत्तरार्द्ध मे वर्षा-ऋतु का प्रथम समय होता है, तब जम्बूद्वीप मे मन्दर-पर्वत से पूर्व पश्चिम मे वर्षा-ऋतु का प्रथम समय अनन्तर-पुरस्कृत समय मे होता है ? (अर्थात्—जिस समय दक्षिणार्द्ध मे वर्षाऋतु का प्रारम्भ होता है, उसी समय के तुरत पश्चात् दूसरे समय मे मन्दरपर्वत से पूर्व-पश्चिम मे वर्षा-ऋतु प्रारम्भ होती है ?)

[१४ उ] हाँ, गौतम ! (यह इसी तरह होता है । अर्थात्—) जब जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध मे वर्षा (ऋतु) का प्रथम समय होता है, तब उसी तरह यावत् होता है ।

१५. जदा णं भंते ! जबु० मंदरस्स० पुरत्थिमेणं वासाणं पढमे समए पडिवज्जति तया णं पच्चत्थिमेण वि वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ ? जया णं पच्चत्थिमेणं वासाणं पढमे समए पडिवज्जइ तया णं जाव मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं अणंतरपच्छाकडसमयंसि वासाणं प० स० पडिवन्ने भवति ?

हंता, गोयमा ! जदा णं जंबु० मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिमेणं एवं चेव उच्चारेयव्वं जाव पडिवन्ने भवति ।

[१५ प्र] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप मे मन्दराचल से पूर्व मे वर्षा (ऋतु) का प्रथम समय होता है, तब पश्चिम मे भी क्या वर्षा (ऋतु) का प्रथम समय होता है ? और जब पश्चिम मे वर्षा (ऋतु) का प्रथम समय होता है, तब, यावत् मन्दरपर्वत से उत्तर दक्षिण मे वर्षा (ऋतु) का प्रथम समय अनन्तर-पश्चात्कृत् समय मे होता है ? (अर्थात्—मन्दरपर्वत से पश्चिम मे वर्षा ऋतु प्रारम्भ होने के प्रथम समय पहले एक समय मे वहाँ (मन्दरपर्वत के) उत्तर-दक्षिण मे वर्षा प्रारम्भ हो जाती है ?)

[१५ उ.] हाँ, गौतम ! (इसी तरह होता है । अर्थात्—) जब जम्बूद्वीप मे मन्दराचल से पूर्व में वर्षाऋतु प्रारम्भ होती है, तब पश्चिम मे भी इसी प्रकार यावत्—उत्तर दक्षिण मे वर्षाऋतु का प्रथम समय अनन्तर-पश्चात्कृत समय मे होता है, इसी तरह सारा वक्तव्य कहना चाहिए ।

१६. एवं जहा समएणं अभिलावो भणिओ वासाणं तहा आवलियाए[1] वि भाणियव्वो २,

---

१. आवलिका सम्बन्धी पाठ इस प्रकार कहना चाहिए—'**जया णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे दाहिणड्ढे वासाणं पढमा आवलिया पडिवज्जइ तया णं उत्तरड्ढे वि, जयाण उत्तरड्ढे वासाणं पढमा आवलिया पडिवज्जइ, तया ण जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमेण अणंतरपुरक्खडसमयंसि वासाणं पढमा आवलिया पडिवज्जइ ?' हंता गोयमा !** इत्यादि । इसी प्रकार आनपान आदि पदो का भी सूत्र पाठ समझ लेना चाहिए । —सं.

आणापाणूण वि ३, थोवेण वि ४, लवेण वि ५, मुहुत्तेण वि ६, अहोरत्तेण वि ७, पक्खेण वि ८, मासेण वि ९, उउणा वि १०। एतेसिं सव्वेसिं जहा समयस्स अभिलाओ तहा भाणियव्वो।

[१६] जिस प्रकार वर्षाऋतु के प्रथम समय के विषय मे कहा गया है, उसी प्रकार वर्षा-ऋतु के प्रारम्भ की प्रथम आवलिका के विषय मे भी कहना चाहिए। इसी प्रकार आन-पान, स्तोक, लव, मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, इन सबके विषय मे भी समय के अभिलाप की तरह कहना चाहिए।

१७. जया णं भंते ! जंबु० दाहिणड्ढे हेमंताण पढमे समए पडिवज्जति ? जहेव वासाणं अभिलावो तहेव हेमंताण वि २०, गिम्हाण वि ३०, भाणियव्वो जाव उऊ। एव एते तिन्नि वि। एतेसिं तीसं आलावगा भाणियव्वा।

[१७ प्र] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध मे हेमन्त ऋतु का प्रथम समय होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध मे भी हेमन्तऋतु का प्रथम समय होता है, और जब उत्तरार्द्ध मे हेमन्त ऋतु का प्रथम समय होता है, तब क्या जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत से पूर्व-पश्चिम मे हेमन्त ऋतु का प्रथम समय अनन्तर पुरस्कृत समय मे होता है ? इत्यादि प्रश्न है।

[१७ उ.] हे गौतम ! इस विषय का सारा वर्णन वर्षा-ऋतु के (अभिलाप) कथन के समान जान लेना चाहिए। इसी तरह ग्रीष्मऋतु का भी वर्णन कह देना चाहिए। हेमन्तऋतु और ग्रीष्मऋतु के प्रथम समय की तरह उनकी प्रथम आवलिका, यावत् ऋतुपर्यन्त सारा वर्णन कहना चाहिए। इस प्रकार वर्षाऋतु, हेमन्तऋतु, और ग्रीष्मऋतु, इन तीनो का एक सरीखा वर्णन है। इसलिए इन तीनो के तीस आलापक होते हैं।

१८. जया णं भंते ! जंबु० मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणड्ढे पढमे अयणे पडिवज्जति तदा णं उत्तरड्ढे वि पढमे अयणे पडिवज्जइ ? जहा समएणं अभिलावो तहेव अयणेण वि भाणियव्वो जाव अणंतरपच्छाकडसमयंसि पढमे अयणे पडिवन्ने भवति।

[१८ प्र.] भगवन् ! जम्बूद्वीप के मन्दरपर्वत से दक्षिणार्द्ध मे जब प्रथम 'अयन' होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध मे भी प्रथम 'अयन' होता है ?

[१८ उ.] गौतम ! जिस प्रकार समय' के विषय मे आलापक कहा, उसी प्रकार 'अयन' के विषय में भी कहना चाहिए ; यावत् उसका प्रथम समय अनन्तर पश्चात्कृत समय मे होता है, इत्यादि सारा वर्णन कहना चाहिए।

१९. जहा अयणेणं अभिलावो तहा संवच्छरेण वि भाणियव्वो, जुएण वि, वाससतेण वि, वाससहस्सेण वि, वाससतसहस्सेण वि, पुव्वंगेण वि, पुव्वेण वि, तुडियंगेण वि, तुडिएण वि, एवं पुव्वे २, तुडिए २, अडडे २, अववे २, हूहुए २, उप्पले २, पउमे २, नलिणे २, अत्थणिउरे २, अउए २, णउए २, पउए २, चूलिया २, सीसपहेलिया २, पलिओवमेण वि, सागरोवमेण वि, भाणितव्वो।

[१९] जिस प्रकार 'अयन' के सम्बन्ध मे कहा, उसी प्रकार संवत्सर के विषय मे भी कहना

चाहिए, तथैव युग, वर्षशत, वर्षसहस्र, वर्षशतसहस्र, पूर्वांग, पूर्व, त्रुटितांग, त्रुटित, अटटांग, अटट, अववांग, अवव, हूहूकांग, हूहूक, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अर्थनूपुरांग, अर्थनूपुर, अयुतांग, अयुत, नयुतांग, नयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग, शीर्षप्रहेलिका, पल्योपम और सागरोपम, (इन सब) के सम्बन्ध में भी (पूर्वोक्त प्रकार से) कहना चाहिए।

२०. **जदा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे दा ़ णड्ढे पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जति तदा णं उत्तरड्ढे वि पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जइ ? जता ण उत्तरड्ढे वि पडिवज्जइ तदा ण जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिम-पच्चत्थिमेण णेवत्थि ओसप्पिणी णेवत्थि उस्सप्पिणी, अवट्ठिते णं तत्थ काले पन्नत्ते समणाउसो ! ?**

हंता, गोयमा ! तं चेव उच्चारेयव्वं जाव समणाउसो !

[२० प्र.] भगवन् ! जब जम्बूद्वीप नामक द्वीप के दक्षिणार्द्ध में प्रथम अवसर्पिणी होती है, तब क्या उत्तरार्द्ध में भी प्रथम अवसर्पिणी होती है ?, और जब उत्तरार्द्ध में प्रथम अवसर्पिणी होती है, तब क्या जम्बूद्वीप के मन्दरपर्वत के पूर्व पश्चिम में अवसर्पिणी नहीं होती ?, उत्सर्पिणी नहीं होती ?, किन्तु हे आयुष्मान् श्रमणपुंगव ! क्या वहाँ अवस्थित काल कहा गया है ?

[२० उ.] हाँ, गौतम ! इसी तरह होता है। यावत् (श्रमणपुंगव ! तक) पूर्ववत् सारा वर्णन कह देना चाहिए।

२१ **जहा ओसप्पिणीए आलावओ भणितो एवं उस्सप्पिणीए वि भाणितव्वो।**

[२१] जिस प्रकार अवसर्पिणी के विषय में आलापक कहा है, उसी प्रकार उत्सर्पिणी के विषय में भी कहना चाहिए।

विवेचन—विविध दिशाओं एवं प्रदेशों (क्षेत्रों) में ऋतु से लेकर उत्सर्पिणी काल तक के अस्तित्व की प्ररूपणा—प्रस्तुत सात सूत्रों में वर्षा आदि ऋतुओं के विविध दिशाओं और प्रदेशों में अस्तित्व की प्ररूपणा करके अहोरात्र, आनपान, मुहूर्त आदि के अस्तित्व के सम्बन्ध में अतिदेश किया गया है। तदन्तर अयन, युग, वर्षशत आदि से लेकर सागरोपमपर्यन्त तथा अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल तक के पूर्वादि दिशाओं तथा प्रदेशों में अस्तित्व का अतिदेशपूर्वक प्ररूपण किया गया है।

विविध कालमानों की व्याख्या—**वासाणं** = वर्षाऋतु का, **हेमंताणं** = हेमन्तऋतु का, **गिम्हाण** = ग्रीष्मऋतु का। ऋतु भी एक प्रकार का कालमान है। वर्षभर में यों तो ६ ऋतुएँ मानी जाती हैं—वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर। परन्तु यहाँ तीन ऋतुओं का नामोल्लेख किया गया है, इसलिए चार-चार महीने की एक-एक ऋतु मानी जानी चाहिए। **अणंतर-पुरक्खडसमयंसि** = दक्षिणार्द्ध में प्रारम्भ होने वाली वर्षाऋतु प्रारम्भ की अपेक्षा अनन्तर (तुरन्त पूर्व) भविष्यत्कालीन समय को अनन्तरपुरस्कृत समय कहते हैं। **अणंतरपच्छाकडसमयंसि** = पूर्व और पश्चिम महाविदेह में प्रारम्भ होने वाली वर्षा ऋतु प्रारम्भ की अपेक्षा अनन्तर (तुरंत बाद के) अतीतकालीन समय को अनन्तर पश्चात्कृत समय कहते हैं। समय (अत्यन्त सूक्ष्मकाल) से लेकर ऋतु तक काल के १० भेद होते हैं—(१) **समय**, (काल का सबसे छोटा भाग, जिसका दूसरा भाग न हो सके), (२) **आवलिया**

(असख्यात समय), (३) **आणापाणू** (आनपान=उच्छ्वास-नि श्वास, सख्यात आवलिकाओ का एक उच्छ्वास और इतनी ही आवलिकाओ का एक नि श्वास), (४) **थोव** (स्तोक—सात आनप्राणो अथवा प्राणो का एक स्तोक), (५) **लव**=(सात स्तोको का एक लव), (६) **मुहुत्तं** (मुहूर्त्त=७७ लव, अथवा ३७७३ श्वासोच्छ्वास, या दो घड़ी अथवा ४८ मिनट का एक मुहूर्त्त), (७) **अहोरत्तं**—(अहोरात्र—३० मुहूर्त्त का एक अहोरात्र), (८) **पक्खं** (पक्ष=१५ दिनरात-अहोरात्र का एक पक्ष), (९) **मासं** (मास—दो पक्ष का एक महीना), और उऊ (ऋतु=दो मास की एक ऋतु—मौसम)। **अयन से ले कर सागरोपम तक—अयणं** (अयन=तीन ऋतुओ का एक), **संवच्छर** (दो अयन का एक सवत्सर), **जुए** (युग=पाच सवत्सर का एक युग), **वाससत** (बीस युगो का एक वर्षशत), **वाससहस्सं** (दश वर्षशत का एक वर्ष—सहस्र—हजार), **वाससतसहस्स** (१०० वषसहस्रो का एक वर्षशतसहस्र—एक लाख वर्ष), **पुव्वंग** (८४ लाख वर्षों का एक पूर्व), **पुव्व** (८४ लाख को ८४ लाख से गुणा करने से जितने वर्ष हो, उतने वर्षो का एक पूर्व), **तुडियंगं** (एक पूर्व को ८४ लाख से गुणा करने से एक त्रुटिताग), **तुडिए** (एक त्रुटिताग को ८४ लाख से गुणा करने पर एक त्रुटित), इसी प्रकार पूर्व-पूर्व की राशि को ८४ लाख से गुणा करने पर उत्तर-उत्तर की समयराशि क्रमश बनती है। वह इस प्रकार है—अटटाग, अटट, अववाग, अवव, हूहूकाग, हूहूक, उत्पलाग, उत्पल, पद्माग, पद्म, नलिनाग, नलिन, अर्थनुपराग, अर्थनुपूर, अयुताग, अयुत, नयुताग, नयुत, प्रयुताग, प्रयुत, चूलिकाग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग, शीर्षप्रहेलिका (१९४ अकों की सख्या), पल्योपम और सागरोपम (ये दो गणना के विषय नहीं हैं, उपमा के विषय हैं, उन्हे उपमाकाल कहते हैं)।

अवसर्पिणीकाल—जिस काल मे जीवो के सहनन और संस्थान उत्तरोत्तर हीन (न्यून) होते जाते हैं, आयु और अवगाहना घटती जाती है, तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार—पराक्रम का क्रमश. ह्रास होता जाता है, पुद्गलो के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हीन होते जाते हैं एव शुभ भावो मे कमी और अशुभभावो मे वृद्धि होती जाती है, उसे अवसर्पिणी काल कहते हैं। यह काल दस कोडाकोडी सागरोपम का होता है। इसके ६ विभाग (आरे) होते है। एक प्रकार से यह अर्द्ध कालचक्र है। अवसर्पिणीकाल का प्रथम विभाग अर्थात् पहले आरे के लिए कहा गया है—'**पढमा ओसप्पिणी**'।

उत्सर्पिणीकाल—जिस काल मे जीवो के सहनन और सस्थान उत्तरोत्तर अधिकाधिक शुभ होते हैं, आयु और अवगाहना बढ़ती जाती है, उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार—पराक्रम की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है, तथा पुद्गलो के वर्णादि शुभ होते जाते हैं, अशुभतम भाव क्रमश अशुभतर, अशुभ, शुभ, शुभतर होते हुए शुभतम हो जाते है, एव उच्चतम अवस्था आ जाती है, उसे उत्सर्पिणीकाल कहते है। यह काल भी दस कोडाकोडी सागरोपम का होता है। इसके भी ६ विभाग (आरे) होते हैं, यह भी अर्द्धकालचक्र कहलाता है।[1]

लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि एवं पुष्करार्द्ध में सूर्य के उदय-अस्त तथा दिवस-रात्रि का विचार

२२. [१] **लवणे णं भंते ! समुद्दे सूरिया उदीचि-पाईणमुग्गच्छ जच्चेव जंबुद्दीवस्स**

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्रांक २११

(ख) भगवतीसूत्रम् (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड-२, पृ. १५५.

वत्तव्वता भणिता सच्चेव सवा अपरिसेसिता लवणसमुद्दस्स वि भाणितव्वा, नवरं अभिलावो इमो जाणितव्वो—'जता णं भंते ! लवणे समुद्दे दाहिणड्ढे दिवसे भवति तदा णं लवणे समुद्दे पुरत्थिम-पच्चत्थिमेणं राती भवति ?' एतेणं अभिलावेणं नेतव्वं—

[२२-१ प्र.] भगवन् ! लवणसमुद्र मे सूर्य ईशानकोण मे उदय हो कर अग्निकोण मे जाते हैं ?, इत्यादि सारा प्रश्न पूछना चाहिए।

[२२-१ उ.] गौतम ! जम्बूद्वीप मे सूर्यों के सम्बन्ध मे जो वक्तव्यता कही गई है, वह सम्पूर्ण वक्तव्यता यहाँ लवणसमुद्रगत सूर्यों के सम्बन्ध मे भी कहनी चाहिए। विशेष बात यह है कि इस वक्तव्यता मे पाठ का उच्चारण इस प्रकार करना चाहिए—'भगवन् ! जब लवणसमुद्र के दक्षिणार्द्ध मे दिन होता है,' इत्यादि सारा कथन उसी प्रकार कहना चाहिए, यावत् 'तब लवणसमुद्र के पूर्व पश्चिम मे रात्रि होती है।' इसी अभिलाप द्वारा सब वर्णन जान लेना चाहिए।

[२] जदा णं भंते ! लवणसमुद्दे दाहिणड्ढे पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जति तदा णं उत्तरड्ढे वि पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जइ ? जदा णं उत्तरड्ढे पढमा ओसप्पिणी पडिवज्जइ तदा णं लवणसमुद्दे पुरत्थिम-पच्चत्थिमेणं नेवत्थि ओसप्पिणी, णेवत्थि उस्सप्पिणी समणाउसो ! ?

हंता, गोयमा ! जाव समणाउसो !

[२२-२ प्र.] भगवन् ! जब लवणसमुद्र के दक्षिणार्द्ध मे प्रथम अवसर्पिणी (काल) होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध मे भी प्रथम अवसर्पिणी (काल) होता है ? और जब उत्तरार्द्ध मे प्रथम अवसर्पिणी (काल) होता है, तब क्या लवणसमुद्र के पूर्व-पश्चिम मे अवसर्पिणी नही होती ? उत्सर्पिणी नही होती ? किन्तु हे दीर्घजीवी श्रमणपुंगव ! क्या वहा अवस्थित (अपरिवर्तनीय) काल होता है ?

[२२-२ उ.] हाँ, गौतम ! (यह इसी तरह होता है।) और वहा यावत् आयुष्मान श्रमणवर ! अवस्थित काल कहा गया है।

२३. धायतिसंडे णं भंते ! दीवे सूरिया उदीचि-पादीणमुग्गच्छ ... ? जहेव जंबुद्दीवस्स वत्तव्वता भणिता स च्चेव धायइसंडस्स वि भाणितव्वा, नवरं इमेणं अभिलावेणं सव्वे आलावगा भाणितव्वा—जता णं भंते ! धायतिसंडे दीवे दाहिणड्ढे दिवसे भवति तदा णं उत्तरड्ढे वि ? जदा णं उत्तरड्ढे वि तदा णं धायइसंडे दीवे मंदराणं पव्वताणं पुरत्थिम-पच्चत्थिमेणं राती भवति ?

हंता, गोयमा ! एवं जाव राती भवति।

[२३ प्र.] भगवन् ! धातकीखण्ड द्वीप में सूर्य, ईशानकोण में उदय हो कर क्या अग्निकोण मे अस्त होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[२३ उ.] हे गौतम ! जिस प्रकार की वक्तव्यता जम्बूद्वीप के सम्बन्ध मे कही गई है, उसी प्रकार की सारी वक्तव्यता धातकीखण्ड के विषय में भी कहनी चाहिए। परन्तु विशेष यह है कि इस पाठ का उच्चारण करते समय सभी आलापक इस प्रकार कहने चाहिए—

[प्र.] भगवन् ! जब धातकीखण्ड के दक्षिणार्द्ध मे दिन होता है, तब क्या उत्तरार्द्ध मे भी दिन होता है ? और जब उत्तरार्द्ध मे दिन होता है, तब क्या धातकीखण्ड द्वीप के मन्दरपर्वतो से पूर्व पश्चिम में रात्रि होती है ?

[उ.] हाँ, गौतम ! यह इसी तरह (होता है ।) यावत् रात्रि होती है ।

२४. जदा णं भंते ! धायइसंडे दीवे मंदराणं पव्वताणं पुरत्थिमेणं दिवसे भवति तदा णं पच्चत्थिमेण वि ? जदा णं पच्चत्थिमेण वि तदा णं धायइसंडे दीवे मंदराणं पव्वयाणं उत्तरदाहिणेणं राती भवति ?

हंता, गोयमा ! जाव भवति । एवं एतेणं अभिलावेणं नेयव्वं जाव० ।

[२४ प्र] भगवन् ! जब धातकीखण्डद्वीप के मन्दरपर्वतों से पूर्व मे दिन होता है, तब क्या पश्चिम में भी दिन होता है ? और जब पश्चिम मे दिन होता है, तब क्या धातकीखण्डद्वीप के मन्दरपर्वतो से उत्तर-दक्षिण मे रात्रि होती है ?

[२४ उ] हाँ, गौतम ! (यह इसी तरह होता है,) यावत् (रात्रि) होती है और इसी अभिलाप से जानना चाहिए, यावत्—

२५ जदा ण भंते ! दाहिणड्ढे पढमा ओसप्पिणी तदा णं उत्तरड्ढे, जदा णं उत्तरड्ढे तदा ण धायइसडे दीवे मंदराणं पव्वयाणं पुरत्थिम-पच्चत्थिमेणं नेवत्थि ओसप्पिणी जाव समणाउसो ! ?

हता, गोयमा ! जाव समणाउसो !

[२५ प्र.] भगवन् ! जब दक्षिणार्द्ध मे प्रथम अवसर्पिणी होती है, तब क्या उत्तरार्द्ध मे भी प्रथम अवसर्पिणी होती है ? और जब उत्तरार्द्ध मे प्रथम अवसर्पिणी होती है, तब क्या धातकीखण्ड द्वीप के मन्दरपर्वतों से पूर्व पश्चिम मे भी अवसर्पिणी नही होती ? यावत् उत्सर्पिणी नही होती ? परन्तु आयुष्मान् श्रमणवर्य ! क्या वहाँ अवस्थितकाल होता है ?

[२५ उ] हाँ, गौतम ! (यह इसी तरह होता है,) यावत् हे आयुष्मान् श्रमणवर्य ! अवस्थित काल होता है ।

२६. जहा लवणसमुद्दस्स वत्तव्वता तहा कालोदस्स वि भाणितव्वा, नवरं कालोदस्स नामं भाणितव्वं ।

[२६] जैसे लवणसमुद्र के विषय मे वक्तव्यता कही, वैसे कालोद (कालोदधि) के सम्बन्ध में भी कह देनी चाहिए । विशेष इतना ही है कि वहाँ लवणसमुद्र के स्थान पर कालोदधि का नाम कहना चाहिए ।

२७. अब्भितरपुक्खरद्धे णं भंते ! सूरिया उदीचि-पाईणमुग्गच्छ जहेव धायइसंडस्स वत्तव्वता तहेव अब्भितरपुक्खरद्धस्स वि भाणितव्वा । नवरं अभिलावो जाणेयव्वो जाव तदा णं अब्भितर-

पुक्खरद्धे मंदराणं पुरत्थिम-पच्चत्थिमेणं नेवत्थि ओसप्पिणी नेवत्थि उस्सप्पिणी, अवट्ठिते णं तत्थ काले पन्नत्ते समणाउसो !

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। पंचमसतस्स पढमओ उद्देसओ ।।

[२७ प्र] भगवन् ! आभ्यन्तरपुष्करार्द्ध में सूर्य, ईशानकोण में उदय होकर अग्निकोण में अस्त होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ?

[२७ उ] जिस प्रकार धातकीखण्ड की वक्तव्यता कही गई, उसी प्रकार आभ्यन्तरपुष्करार्द्ध की वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष यह है कि धातकीखण्ड के स्थान मे आभ्यन्तरपुष्करार्द्ध का नाम कहना चाहिए, यावत्—आभ्यन्तरपुष्करार्द्ध मे मन्दरपर्वतो के पूर्व-पश्चिम मे न तो अवसर्पिणी है, और न ही उत्सर्पिणी है, किन्तु हे आयुष्मन् श्रमण ! वहाँ सदैव अवस्थित (अपरिवर्तनीय) काल कहा गया है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है ! भगवन् ! यह इसी प्रकार है' यो कहकर यावत् गौतम स्वामी विचरण करने लगे।

विवेचन—लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि तथा पुष्करार्द्ध मे सूर्य के उदय-अस्त एवं दिवस-रात्रि का विचार—प्रस्तुत पाच सूत्रो (सू २२ से २७ तक) मे लवणसमुद्र, धातकीखण्ड, कालोदधि एव पुष्करार्द्ध को लेकर विभिन्न दिशाओ की अपेक्षा सूर्योदय तथा दिन-रात्रि-आगमन का विचार किया गया है।

जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र आदि का परिचय—जैन भौगोलिक दृष्टि से जम्बूद्वीप १ लाख योजन का विस्तृत गोलाकार है। जम्बूद्वीप मे दो सूर्य और दो चन्द्र हैं। ये मनुष्यलोक मे मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए नित्यगति करते है, इन्ही से काल का विभाग होता है। जम्बूद्वीप को चारो ओर से घेरे हुए **लवणसमुद्र** है, जिसका पानी खारा है। यह दो लाख योजन विस्तृत है। जम्बूद्वीप और लवणसमुद्र दोनो वलयाकार (गोल) हैं। लवणसमुद्र के चारो ओर **धातकीखण्ड द्वीप** है। यह चार लाख योजन का वलयाकार है। इसमे १२ सूर्य एव १२ चन्द्रमा हैं। धातकीखण्ड के चारो ओर **कालोद** (कालोदधि) समुद्र है, यह ८ लाख योजन का वलयाकार है। कालोद समुद्र के चारो ओर १६ लाख योजन का वलयाकार **पुष्करवरद्वीप** है। उसके बीच मे मानुषोत्तरपर्वत आ गया है, जो अढ़ाई द्वीप और दो समुद्र के चारो ओर गढ (दुर्ग) के समान है तथा चूडी के समान गोल है। यह पर्वत बीच मे आ जाने से पुष्करवरद्वीप के दो विभाग हो गये हैं—(१) आभ्यन्तर पुष्करवरद्वीप और (२) बाह्य पुष्करवरद्वीप। आभ्यन्तर पुष्करवरद्वीप मे ७२ सूर्य और ७२ चन्द्र हैं। यह पर्वत मनुष्य-क्षेत्र की सीमा निर्धारित करता है, इसलिए इसे **मानुषोत्तरपर्वत** कहते हैं। मानुषोत्तरपर्वत के आगे भी असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं, किन्तु उनमें मनुष्य नही हैं। निष्कर्ष यह है कि मनुष्यक्षेत्र में जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड द्वीप और अर्द्धपुष्करवर द्वीप, ये ढाई द्वीप और लवणसमुद्र तथा कालोद-समुद्र ये दो

समुद्र हैं। अढाई द्वीपों और दो समुद्रों की कुल लम्बाई-चौड़ाई ४५ लाख योजन है। अढाई द्वीप मे कुल १३२ सूर्य और १३२ चन्द्र हैं, और वे चर (गतिशील) हैं, इससे आगे के सूर्य-चन्द्र अचर (स्थिर) हैं। इसलिए अढ़ाई द्वीप-समुद्रवर्ती मनुष्यक्षेत्र या समयक्षेत्र में ही दिन, रात्रि, अयन, पक्ष, वर्ष आदि काल का व्यवहार होता है। रात्रि-दिवस आदि काल का व्यवहार सूर्य-चन्द्र की गति पर निर्भर होने से तथा इस मनुष्यक्षेत्र के आगे सूर्य-चन्द्र के विमान जहाँ के तहाँ स्थिर होने से, वहाँ दिन रात्रि आदि काल का व्यवहार नही होता।[1]

॥ पंचम शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१ (क) भगवतीसूत्र (हिन्दी विवेचनयुक्त) भा २, पृ. ७७३-७७४
(ख) तत्त्वार्थसूत्र भाष्य अ. ३, सू १२ से १४ तक, पृ. ८३ से ८५, तथा
अ. ४, सू. १४-१५, पृ १०० से १०३ तक

बिइओ उद्देसओ : 'अणिल'

द्वितीय उद्देशक : 'अनिल'

ईषत्पुरोवात आदि चतुर्विध वायु की दिशा, विदिशा, द्वीप, समुद्र आदि विविध पहलुओं से प्ररूपणा

१. रायगिहे नगरे जाव एवं वयासी—

[१] राजगृह नगर में यावत् (श्री गौतमस्वामी ने) इस प्रकार पूछा—

२. अत्थि णं भंते ! ईसिं पुरेवाता, पत्था वाता, मंदा वाता, महावाता वायंति ?
हंता, अत्थि ।

[२ प्र.] भगवन् ! क्या ईषत्पुरोवात (ओस आदि से कुछ स्निग्ध, या चिकनी व कुछ गीली हवा), पथ्यवात (वनस्पति आदि के लिए हितकर वायु), मन्दवात (धीमे-धीमे चलने वाली हवा), तथा महावात (तीव्रगति से चलने वाली, प्रचण्ड तूफानी वायु, झंझावात, या अन्धड उद्दण्ड आँधी आदि) बहती (चलती) हैं ?

[२ उ.] हाँ, गौतम ! पूर्वोक्त वायु (हवाएँ) बहती (चलती) हैं।

३. अत्थि णं भंते ! पुरत्थिमेणं ईसिं पुरेवाता, पत्था वाता, मंदा वाता, महावाता वायंति ?
हंता, अत्थि ।

[३ प्र.] भगवन् ! क्या पूर्व दिशा से ईषत्पुरोवात, पथ्यवात, मन्दवात और महावात बहती हैं ?

[३ उ.] हाँ, गौतम ! (उपर्युक्त समस्त वायु पूर्वदिशा में) बहती हैं।

४ एवं पच्चत्थिमेणं, दाहिणेणं, उत्तरेणं, उत्तर-पुरत्थिमेणं, पुरत्थिम-दाहिणेणं, दाहिण-पच्चत्थिमेणं, पच्छिम-उत्तरेणं ।

[४] इसी तरह पश्चिम में, दक्षिण में, उत्तर में, ईशानकोण में, आग्नेयकोण में, नैऋत्यकोण में और वायव्यकोण में (पूर्वोक्त सब वायु बहती हैं।)

५. जदा णं भंते ! पुरत्थिमेणं ईसिं पुरेवाता पत्था वाता मंदा वाता महावाता वायंति तदा णं पच्चत्थिमेण वि ईसिं पुरेवाता० ? जया णं पच्चत्थिमेणं ईसिं पुरेवाता० तदा णं पुरत्थिमेण वि ?

हंता, गोयमा ! जदा णं पुरत्थिमेणं तदा णं पच्चत्थिमेण वि ईसिं, जया णं पच्चत्थिमेणं तदा णं पुरत्थिमेण वि ईसिं । एवं दिसासु ।

[५ प्र.] भगवन् ! जब पूर्व मे ईषत्पुरोवात, पथ्यवात, मन्दवात और महावात बहती हैं, तब क्या पश्चिम मे भी ईषत्पुरोवात आदि हवाएँ बहती हैं ?, और जब पश्चिम मे ईषत्पुरोवात आदि वायु बहती हैं, तब क्या पूर्व मे भी (वे हवाएँ) बहती हैं ?

[५ उ.] हाँ, गौतम ! जब पूर्व मे ईषत्पुरोवात आदि वायु बहती हैं, तब वे सब पश्चिम मे भी बहती हैं, और जब पश्चिम मे ईषत्पुरोवात आदि वायु बहती हैं, तब वे सब हवाएँ पूर्व मे भी बहती है। इसी प्रकार सब दिशाओ मे भी उपर्युक्त कथन करना चाहिए।

६. एव विदिसासु वि।

[६] इसी प्रकार समस्त विदिशाओ में भी उपर्युक्त आलापक कहना चाहिए।

७. अत्थि णं भंते ! दीविच्चया ईसिं ?

हंता, अत्थि।

[७ प्र.] भगवन् ! क्या द्वीप मे भी ईषत्पुरोवात आदि वायु होती हैं ?

[७ उ.] हाँ, गौतम ! होती हैं।

८. अत्थि णं भंते ! सामुद्दया ईसिं ?

हंता, अत्थि।

[८ प्र.] भगवन् ! क्या समुद्र मे भी ईषत्पुरोवात आदि हवाएँ होती हैं ?

[८ उ.] हाँ गौतम ! (समुद्र मे भी ये सब हवाएँ) होती है।

९. [१] जया ण भते ! दीविच्चया ईसिं० तया णं सामुद्दया वि ईसिं०, जदा णं सामुद्दया ईसिं० तदा णं दीविच्चया वि ईसिं० ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[९-१ प्र.] भगवन् ! जब द्वीप मे ईषत्पुरोवात आदि वायु बहती हैं, तब क्या सामुद्रिक ईषत्पुरोवात आदि वायु बहती हैं ? और जब सामुद्रिक ईषत्पुरोवात आदि वायु बहती है, तब क्या द्वीपीय ईषत्पुरोवात आदि वायु बहती है ?

[९-१ उ.] हे गौतम ! यह बात (अर्थ) समर्थ (शक्य) नही है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति जदा णं दीविच्चया ईसिं णो ण तया सामुद्दया ईसिं, जया णं सामुद्दया ईसिं णो णं तदा दीविच्चया ईसिं ?

गोयमा ! तेसि णं वाताणं अन्नमन्नस्स विवच्चासेणं लवणे समुद्दे वेलं नातिक्कमति से तेणट्ठेणं जाव वाता वायंति।

[९-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि जब द्वीपीय ईषत्पुरोवात आदि

हवाएँ बहती है, तब सामुद्रिक ईषत्पुरोवात आदि हवाएँ नहीं बहती, और जब सामुद्रिक ईषत्पुरोवात आदि हवाएँ बहती हैं, तब द्वीपीय ईषत्पुरोवात आदि हवाएँ नहीं बहती ?

[९-२ उ] गौतम ! ये सब वायु (हवाएँ) परस्पर व्यत्यासरूप से (एक दूसरे के विपरीत, पृथक्-पृथक् तथा एक दूसरे से साथ नही) बहती हैं। (जब द्वीप की ईषत्पुरोवात आदि वायु बहती हैं, तब समुद्र की नहीं बहती, और जब समुद्र की ईषत्पुरोवात आदि वायु बहती हैं, तब द्वीप की ये सब वायु नही बहती। इस प्रकार ये सब हवाएँ एक दूसरे के विपरीत बहती हैं।) साथ ही, वे वायु लवण-समुद्र की वेला का उल्लंघन नही करती। इस कारण यावत् वे वायु पूर्वोक्त रूप से बहती हैं।

१०. [१] अत्थि ण भंते ! ईसिं पुरेवाता पत्था वाता मंदा वाता महावाता वायंति ?
हंता, अत्थि।

[१०-१ प्र.] भगवन् ! (यह बताइए कि) क्या ईषत्पुरोवात, पथ्यवात, मन्दवात और महावात बहती (चलती) हैं।

[१०-१ उ] हाँ, गौतम ! (ये सब) बहती हैं।

[२] कया णं भंते ! ईसिं जाव वायंति ?
गोयमा ! जया णं वाउयाए ग्रहारियं रियति तया णं ईसिं जाव वायंति।

[१०-२ प्र] भगवन् ! ईषत्पुरोवात आदि वायु कब बहती है ?

[१०-२ उ.] गौतम ! जब वायुकाय अपने स्वभावपूर्वक गति करता है, तब ईषत्पुरोवात आदि वायु यावत् बहती हैं।

११. [१] अत्थि णं भंते ! ईसिं ?
हंता, अत्थि।

[११-१ प्र.] भगवन् ! क्या ईषत्पुरोवात आदि वायु है ?

[११-१ उ.] हाँ, गौतम ! हैं।

[२] कया ण भंते ! ईसिं ?
गोतमा ! जया णं वाउयाए उत्तरकिरियं रियइ तया णं ईसिं।

[११-२ प्र.] भगवन् ! ईषत्पुरोवात आदि वायु (और भी) कभी चलती (बहती) हैं ?

[११-२ उ.] हे गौतम ! जब वायुकाय उत्तरक्रियापूर्वक (वैक्रिय शरीर बना कर) गति करता है, तब (भी) ईषत्पुरोवात आदि वायु बहती (चलती) हैं।

१२. [१] अत्थि णं भंते ! ईसिं ?
हंता, अत्थि।

[१२-१ प्र.] भगवन् ! ईषत्पुरोवात आदि वायु (ही) है (न) ?

[१२-१ उ.] हाँ, गौतम ! वे (सब वायु ही) है।

[२] कया णं भंते ! ईसिं पुरेवाता पत्था वाता० ?

गोयमा ! जया णं वाउकुमारा वाउकुमारीओ वा अप्पणो वा परस्स वा तदुभयस्स वा अट्ठाए वाउकायं उदीरेंति तया णं ईसिं पुरेवाया जाव वायंति।

[१२-२ प्र.] भगवन् ! ईषत्पुरोवात, पथ्यवात आदि (और) कब (किस समय मे) चलती हैं ?

[१२-२ उ.] गौतम ! जब वायुकुमार देव और वायुकुमार देवियाँ, अपने लिए, दूसरो के लिए या दोनो के लिए वायुकाय की उदीरणा करते हैं, तब ईषत्पुरोवात आदि वायु यावत् चलती (बहती) हैं।

१३. वाउकाए णं भंते ! वाउकायं चेव आणमति वा पाणमति वा ?

जहा खंदए तहा चत्तारि आलावगा नेयव्वा—अणेगसतसहस्स०। पुट्ठे उद्दाति वा। ससरीरी निक्खमति।

[१३-१ प्र.] भगवन् ! क्या वायुकाय वायुकाय को ही श्वासरूप मे ग्रहण करता है और नि:श्वासरूप मे छोडता है ?

[१३ उ.] गौतम ! इस सम्बन्ध मे स्कन्दक परिव्राजक के उद्देशक मे कहे अनुसार चार आलापक जानना चाहिए—यावत् (१) अनेक लाख बार मर कर, (२) स्पृष्ट हो (स्पर्श पा) कर, (३) मरता है और (४) शरीर-सहित निकलता है।

विवेचन—ईषत्पुरोवात आदि चतुर्विध वायु की विविध पहलुओं से प्ररूपणा—प्रस्तुत १३ सूत्रो मे ईषत्पुरोवात आदि चारो प्रकार के वायु के सम्बन्ध मे निम्नलिखित सात पहलुओ से प्ररूपणा की गई है—

(१) ईषत्पुरोवात आदि चारो प्रकार की वायु चलती है।

(२) ये सब सुमेरु से पूर्वादि चारो दिशाओ और ईशानादि चारो विदिशाओ मे चलती है।

(३) ये पूर्व मे बहती हैं, तब पश्चिम मे भी बहती है, और पश्चिम में बहती है, तब पूर्व में भी।

(४) द्वीप और समुद्र मे भी ये सब वायु होती है।

(५) किन्तु जब ये द्वीप में बहती है, तब समुद्र मे नही बहती और समुद्र में बहती हैं, तब द्वीप में नहीं बहती, क्योकि ये सब एक दूसरे से विपरीत पृथक्-पृथक् बहती हैं, लवणसमुद्रीय वेला का अतिक्रमण नही करती।

(६) ईषत्पुरोवात आदि वायु हैं, और वे तीन समय मे तीन कारणों से चलती हैं—(१) जब

वायुकाय स्व-स्वभावपूर्वक गति करता है, (२) जब वह उत्तरवैक्रिय से वैक्रिय शरीर बना कर गति करता है, तथा (३) जब वायुकुमार देव-देवीगण स्व, पर एवं उभय के निमित्त वायुकाय की उदीरणा करते हैं।

(७) वायुकाय अचित्त हुए वायुकाय को ही श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करता—छोड़ता है।[1]

द्वीपीय और समुद्रीय हवाएँ एक साथ नहीं बहतीं—द्वीपसम्बन्धी और समुद्रसम्बन्धी वायु परस्पर विपर्यासपूर्वक बहती हैं, इसका तात्पर्य यह है कि जिस समय अमुक प्रकार की ईषत्पुरोवात आदि वायु चलती है, तब उसी प्रकार की दूसरी ईषत्पुरोवात आदि वायु नही चलती। इसका कारण है—वायु के द्रव्यो का स्वभाव एव सामर्थ्य ऐसा है कि वह समुद्र की बेला का अतिक्रमण नही करती। इसका आशय यह भी सम्भव है—ग्रीष्मऋतु मे समुद्र की ओर से आई हुई शीत (जल से स्निग्ध एवं ठण्डी) वायु जब चलती है, तब द्वीप की जमीन से उठी हुई उष्ण वायु नही चलती। शीत ऋतु मे जब गर्म हवाएँ चलती हैं, तब वे द्वीप की जमीन से आई हुई होती हैं। यानी जब द्वीपीय उष्णवायु चलती है, तब समुद्रीय शीतवायु नही चलती। समुद्र की शीतल और द्वीप की उष्ण दोनो हवाएँ परस्पर विरुद्ध तथा परस्पर उपघातक होने से ये दोनों एक साथ नही चलती अपितु उन दोनो मे से एक ही वायु चलती है।[2]

चतुर्विध वायु के बहने के तीन कारण—(१) ये अपनी स्वाभाविक गति से, (२) उत्तर वैक्रिय द्वारा कृत वैक्रियशरीर से, (३) वायुकुमार देव—देवीगण द्वारा स्व, पर और उभय के लिए उदीरणा किये जाने पर। यहाँ एक ही बात को तीन बार विविध पहलू से पूछे जाने के कारण तीन सूत्रो की रचना की गई है, इसलिए पुनरुक्ति दोष नही समझना चाहिए। दूसरी वाचना के अनुसार ये तीन कारण पृथक्-पृथक् सूत्रो में बताए हैं, वे पृथक्-पृथक् प्रकार की वायु के बहने के बताए हैं। यथा—पहला कारण—महावायु के सिवाय अन्य वायुओ के बहने का है, दूसरा कारण—मन्दवायु के सिवाय अन्य तीन वायु के बहने का है। और तीसरा कारण चारो प्रकार की वायु के बहने का है।[3]

वायुकाय के श्वासोच्छ्वास आदि के सम्बन्ध मे चार आलापक—(१) स्कन्दक प्रकरणानुसार वायुकाय अचित्त (निर्जीव), वायु को श्वासोच्छ्वास रूप मे ग्रहण-विसर्जन करता है (२) वायुकाय, स्वकाय शस्त्र के साथ अथवा परकायशस्त्र (पंखा आदि परनिमित्त से उत्पन्न हुई वायु) से स्पृष्ट होकर मरता है, बिना स्पृष्ट हुए नही मरता, (३) वायुकाय अनेक लाख बार मर-मर कर पुन: पुन: उसी वायुकाय में जन्म लेता है। (४) वायुकाय तैजस कार्मणशरीर की अपेक्षा सशरीरी परलोक मे जाता है, तथा औदारिक और वैक्रिय शरीर की अपेक्षा अशरीरी होकर परलोक मे जाता है।[4]

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा १, पृ १८८ से १९० तक

२. (क) भगवतीसूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड-२, पृ. १५८
(ख) भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक २१२

३. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २१२

४. (क) भगवतीसूत्र हिन्दीविवेचनयुक्त भा. २, पृ. ७८०
(ख) भगवती० (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ १६०
(ग) इस प्रकरण का विस्तृत विवेचन भगवती. शतक २., उद्देशक १ में स्कन्दक प्रकरण में किया गया है। जिज्ञासुओ को वहाँ से देख लेना चाहिए।

कठिन शब्दों के विशेष अर्थ—'**दीविच्चगा**'=द्वीपसम्बन्धी, '**सामुद्दगा**'=सामुद्रिक—समुद्र सम्बन्धी। **वायंति**=बहती हैं—चलती हैं। **अहारियं रियंति**=अपनी रीति या स्वभावानुसार गति करता है। **पुट्ठे**=स्पृष्ट होकर, स्पर्श पाकर।[1]

ओदन, कुल्माष और सुरा की पूर्वावस्था और पश्चादवस्था के शरीर का प्ररूपण

१४. अह भंते ! ओदणे कुम्मासे सुरा एते णं किंसरीरा ति वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! ओदणे कुम्मासे सुराए य जे घणे दव्वे एए णं पुव्वभावपण्णवणं पडुच्च वणस्सति-जीवसरीरा, तओ पच्छा सत्थातीता सत्थपरिणामिता अगणिज्झामिता अगणिज्झूसिता अगणिपरिणामिता अगणिजीवसरीरा इ वत्तव्वं सिया। सुराए य जे दवे दव्वे एए णं पुव्वभावपण्णवणं पडुच्च आउजीव-सरीरा, ततो पच्छा सत्थातीता जाव अगणिसरीरा ति वत्तव्वं सिया।

[१४ प्र] भगवन् ! अब यह बताएँ कि ओदन (चावल), कुल्माष (उडद) और सुरा (मदिरा), इन तीनो द्रव्यो को किन जीवों का शरीर कहना चाहिए ?

[१४ उ] गौतम ! ओदन, कुल्माष और सुरा मे जो घन (ठोस या कठिन) द्रव्य हैं, वे पूर्वभाव-प्रज्ञापना की अपेक्षा से वनस्पतिजीव के शरीर हैं। उसके पश्चात् जब वे (ओदनादि द्रव्य) शस्त्रातीत (ऊखल, मूसल आदि शस्त्रो से कूटे जा कर पूर्वपर्याय से अतिक्रान्त) हो जाते हैं, शस्त्र-परिणत (शस्त्र लगने से नये रूप मे परिवर्तित) हो (बदल) जाते हैं; अग्निध्यामित (आग मे जलाये गए एव काले वर्ण के बने हुए), अग्निभूषित (अग्नि से सेवित—तप्त हो जाने से पूर्वस्वभाव से रहित बने हुए) अग्निसेवित और अग्निपरिणामित (अग्नि मे जल जाने से नये आकार में परिवर्तित) हो जाते हैं, तब वे द्रव्य अग्नि के शरीर कहलाते हैं। तथा सुरा (मदिरा) मे जो तरल पदार्थ है, वह पूर्वभाव प्रज्ञापना की अपेक्षा से अप्कायिक जीवो का शरीर है, और जब वह तरल पदार्थ (पूर्वोक्त प्रकार से) शस्त्रातीत यावत् अग्निपरिणामित हो जाता है, तब वह भाग, अग्निकाय—शरीर कहा जा सकता है।

विवेचन—चावल, उड़द और मदिरा की पूर्वावस्था और पश्चादवस्था के शरीर का प्ररूपण—प्रस्तुत सूत्र में चावल, उडद और मदिरा इन तीनो को किस-किस जीव का शरीर कहा जाए ? यह प्रश्न उठा कर इनकी पूर्वावस्था और पश्चादवस्था का विश्लेषण करके शास्त्रीय समाधान किया गया है।

पूर्वावस्था की अपेक्षा से—चावल, उडद और मद्य, इन तीनो मे जो घन—ठोस या कठिन द्रव्य हैं, वे भूतपूर्व वनस्पतिकाय के शरीर हैं। मद्य मे जो तरल पदार्थ है, वह भूतपूर्व अप्काय के शरीर हैं।

पश्चादवस्था की अपेक्षा से—किन्तु इन सब के शस्त्र-परिणत, अग्निसेवित, अग्निपरिणामित

---

१. भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक २१२

आदि हो जाने तथा इनके रंगरूप, आकर—रस आदि के बदल जाने से इन्हें भूतपूर्व अग्निकाय के शरीर कहा जा सकता है।[1]

लोह आदि के शरीर का उनकी पूर्वावस्था और पश्चादवस्था की दृष्टि से निरूपण

१५. अह णं भंते ! अये तंबे तउए सीसए उवले कसट्टिया, एए णं किंसरीरा इ वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! अए तंबे तउए सीसए उवले कसट्टिया,[2] एए णं पुव्वभावपण्णवणं पडुच्च पुढविजीवसरीरा, तओ पच्छा सत्थातीता जाव अगणिजीवसरीरा ति वत्तव्वं सिया।

[१५ प्र.] भगवन् ! प्रश्न है—लोहा, तांबा, त्रपुष् (कलई या रांगा), शीशा, उपल (जला हुआ पत्थर—कोयला) और कसट्टिका (लोहे का काट—मैल), ये सब द्रव्य किन (जीवों के) शरीर कहलाते हैं ?

[१५ उ] गौतम ! लोहा, तांबा, कलई, शीशा, कोयला और लोहे का काट; ये सब द्रव्य पूर्वप्रज्ञापना की अपेक्षा से पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर कहे जा सकते हैं, और उसके बाद शस्त्रातीत यावत् शस्त्र-परिणामित होने पर ये अग्निकायिक जीवों के शरीर कहे जा सकते हैं।

अस्थि आदि तथा अंगार आदि के शरीर का उनकी पूर्वावस्था एवं पश्चादवस्था की अपेक्षा से प्ररूपणा

१६. अह भंते ! अट्ठी अट्ठिज्झामे, चम्मे चम्मज्झामे, रोमे रोमज्झामे, सिंगे सिंगज्झामे, खुरे खुरज्झामे, नखे नखज्झामे, एते णं किंसरीरा ति वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! अट्ठी चम्मे रोमे सिंगे खुरे नहे, एए णं तसपाणजीवसरीरा। अट्ठिज्झामे चम्मज्झामे रोमज्झामे सिंगज्झामे खुरज्झामे नहज्झामे, एए णं पुव्वभावपण्णवण पडुच्च तसपाणजीवसरीरा, ततो पच्छा सत्थातीता जाव अगणि० जाव सिया।

[१६ प्र.] भगवन् ! और ये हड्डी, अस्थिध्याम (अग्नि से दूसरे स्वरूप=पर्यायान्तर को प्राप्त हड्डी और उसका जला हुआ भाग), चमड़ा, चमड़े का जला हुआ स्वरूपान्तरप्राप्त भाग, रोम, अग्निज्वलित रोम, सींग, अग्नि प्रज्वलित विकृत सींग, खुर, अग्निप्रज्वलित खुर, नख और अग्निप्रज्वलित नख, ये सब किन (जीवों) के शरीर कहे जा सकते हैं ?

[१६ उ.] गौतम ! अस्थि (हड्डी), चमड़ा, रोम, सींग, खुर और नख ये सब त्रसजीवों के शरीर कहे जा सकते हैं, और जली हुई हड्डी, प्रज्वलित विकृत चमड़ा, जले हुए रोम, प्रज्वलित-रूपान्तरप्राप्त सींग, प्रज्वलित खुर और प्रज्वलित नख, ये सब पूर्वभावप्रज्ञापना की अपेक्षा से तो त्रसजीवों के शरीर; किन्तु उसके पश्चात् शस्त्रातीत यावत् अग्निपरिणामित होने पर ये अग्निकायिक जीवों के शरीर कहे जा सकते हैं।

---

१ भगवतीसूत्र अ० वृत्ति, पत्रांक २१३

२ 'कसट्टिका' का अर्थ भगवती, अवचूर्णि में कषपट्टिका=कसौटी भी किया गया है।

१७. अह भंते ! इंगाले छारिए, भुसे, गोमए एए णं किंसरीरा ति वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! इंगाले छारिए भुसे गोमए एए णं पुव्वभावपण्णवणाए एगिंदियजीवसरीरप्पओग-परिणामिया वि जाव पंचिंदियजीवसरीरप्पओगपरिणामिया वि, तओ पच्छा सत्थातीया जाव अगणि-जीवसरीरा ति वत्तव्वं सिया।

[१७ प्र] भगवन् ! अब प्रश्न है—अगार (कोयला, जला हुआ इंधन या अगारा) राख, भूसा और गोबर, इन सबको किन जीवो के शरीर कहे जाएँ ?

[१७ उ] गौतम ! अगार, राख, भूसा और गोबर (छाणा) ये सब पूर्व-भाव प्रज्ञापना की अपेक्षा से एकेन्द्रियजीवो द्वारा अपने शरीर रूप से, प्रयोगों से—अपने व्यापार से अपने साथ परिणामित एकेन्द्रिय शरीर हैं, यावत् (यथासम्भव द्वीन्द्रिय से) पचेन्द्रिय जीवो तक के शरीर भी कहे जा सकते हैं, और तत्पश्चात् शस्त्रातीत यावत् अग्निकाय—परिणामित हो जाने पर वे अग्निकायिक जीवो के शरीर कहे जाते हैं।

विवेचन—अस्थि आदि तथा अगार आदि के शरीर का उनकी पूर्वावस्था और पश्चादवस्था की अपेक्षा से प्ररूपण—प्रस्तुत सूत्रद्वय मे प्रथम हड्डी आदि तथा प्रज्वलित हड्डी आदि एव अगार आदि के शरीर के विषय मे पूछे जाने पर इनकी पूर्वावस्था और अनन्तरावस्था की अपेक्षा से उत्तर दिये गये हैं।

अगार आदि चारों अग्निप्रज्वलित ही विवक्षित—यहाँ अंगार आदि चारो द्रव्य अग्निप्रज्वलित ही विवक्षित हैं, अन्यथा आगे बताए गए अग्निध्यामित आदि विशेषण व्यर्थ हो जाते हैं।[1]

पूर्वावस्था और अनन्तरावस्था—हड्डी आदि तो भूतपूर्व अपेक्षा से त्रस जीव के और अगार आदि एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय जीवो तक के शरीर कहे जा सकते हैं, किन्तु बाद की शस्त्रपरिणत एव अग्निपरिणामित अवस्था की दृष्टि से ये सब अग्निकायिक जीवो के शरीर कहे जा सकते हैं। हड्डी आदि तो द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एव पचेन्द्रिय जीवो मे से किसी भी जीव के तथा नख, खुर, सीग आदि पचेन्द्रिय जीवो के ही शरीर मे होते हैं। इसी प्रकार अगारा या राख ये दोनो वनस्पति-कायिक हरी लकडी के सूख जाने पर बनती है। भूसा भी गेहू आदि का होने से पहले एकेन्द्रिय (वनस्पतिकाय) का शरीर ही था, तथा गाय, भैंस आदि पशु जब हरी घास, पत्तो, या गेहूँ, जौ आदि का भूसा खाते हैं, तब उनके शरीर मे से वह गोबर के रूप मे निकलता है, अत गोमय (गोबर) एकेन्द्रिय का शरीर ही माना जाता है। किन्तु पचेन्द्रिय जीवो (पशुओ) के शरीर मे द्वीन्द्रियादि जीव चले जाने से उनके शरीर प्रयोग से परिणामित होने से उन्हे द्वीन्द्रियजीव से ले कर पचेन्द्रियजीव तक का शरीर कहा जा सकता है।[2]

लवणसमुद्र की स्थिति, स्वरूप आदि का निरूपण

१८ लवणे णं भंते ! समुद्दे केवतियं चक्कवालविक्खंभेणं पन्नत्ते ?

एवं नेयव्वं जाव लोगट्ठिती लोगाणुभावे।

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २१३

२. (क) भगवती. टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त, खण्ड २, पृ. १६२

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक २१३

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं जाव विहरति ।

॥ पंचम सए : बिइओ उद्देसओ समत्तो ॥

[१८ प्र] भगवन् ! लवणसमुद्र का चक्रवाल-विष्कम्भ (सब तरफ की चौड़ाई) कितना कहा गया है ?

[१८ उ] गौतम ! (लवणसमुद्र के सम्बन्ध मे सारा वर्णन) पहले कहे अनुसार जान लेना चाहिए, यावत् लोकस्थिति लोकानुभाव तक (जीवाभिगमोक्त सूत्रपाठ) कहना चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कह कर भगवान् गौतम स्वामी — यावत् विचरण करने लगे ।

विवेचन—लवणसमुद्र की चौड़ाई आदि के सम्बन्ध मे अतिदेशपूर्वक निरूपण—प्रस्तुत सूत्र मे जीवाभिगमोक्त सूत्रपाठ का लोकस्थिति-लोकानुभाव-पर्यन्त अतिदेश करके लवणसमुद्र सम्बन्धी निरूपण किया गया है ।

जीवाभिगम में लवणसमुद्र-सम्बन्धी वर्णन : सक्षेप में—लवणसमुद्र का सस्थान गोतीर्थ, नौका, सीप-सम्पुट, अश्वस्कन्ध, और वलभी के जैसा, गोल चूडी के आकार का है। उसका चक्रवाल-विष्कम्भ २ लाख योजन का है । तथा १५८११३९ मे कुछ अधिक उसका परिक्षेप (घेरा) है । उसका उद्वेध (ऊँचाई-गहराई) १ हजार योजन है । इसकी ऊँचाई १६ हजार योजन, सर्वाग्र १७ हजार योजन का है । इतना विस्तृत और विशाल लवण समुद्र से अब तक जम्बूद्वीप क्यो नही डूबा, इसका कारण है—भारत और ऐरवत क्षेत्रो मे स्वभाव से भद्र, विनीत, उपशान्त, मन्दकषाय, सरल, कोमल, जितेन्द्रिय, भद्र और नम्र अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव, चारण, विद्याधर, श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका एवं धर्मात्मा मनुष्य हैं, उनके प्रभाव से लवणसमुद्र जम्बूद्वीप को डुबाता नही है, यावत् जलमय नही करता यावत् इस प्रकार का लोक का स्वभाव भी है, यहाँ तक कहना चाहिए ।[1]

॥ पंचम शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक २१४

(ख) जीवाभिगमसूत्र प्रतिपत्ति ३, उद्देशक २, सूत्र १७३, लवणसमुद्राधिकार पृ. ३२४-२५

तइओ उद्देसओ : गंठिय

तृतीय उद्देशक : ग्रन्थिका

एक जीव द्वारा एक समय में इहभविक एवं परभविक आयुष्य-वेदन विषयक अन्य-तीर्थिक मत निराकरणपूर्वक भगवान् का समाधान—

१. अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति भा० प० एव परूवेंति—से जहानामए जालगंठिया सिया आणुपुव्विगढिया अणतरगढिया परंपरगढिता अन्नमन्नगढिया अन्नमन्नगुरुयत्ताए अन्नमन्नभारियत्ताए अन्नमन्नगुरुयसंभारियत्ताए अन्नमन्नघडत्ताए चिट्ठति, एवामेव बहूणं जीवाणं बहूसु आजातिसहस्सेसु बहूइं आउयसहस्साइं आणुपुव्विगढियाइं जाव चिट्ठति। एगे वि य णं जीवे एगेणं समएणं दो आउयाइं पडिसंवेदयति, तं जहा—इहभवियाउय च परभवियाउय च; जं समय इहभवियाउयं पडिसंवेदेइ तं समयं परभवियाउयं पडिसंवेदेइ, जाव से कहमेय भंते ! एवं ?

गोतम ! ज ण ते अन्नउत्थिया त चेव जाव परभवियाउयं च; जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु। अह पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि—जहानामए जालगंठिया सिया जाव अन्नमन्नघडत्ताए चिट्ठति, एवामेव एगमेगस्स जीवस्स बहूहिं आजातिसहस्सेहिं बहूइं आउयसहस्साइं आणुपुव्विगढियाइं जाव चिट्ठति। एगे वि य णं जीवे एगेणं समएण एगं आउयं पडिसंवेदेइ, तं जहा—इहभवियाउय वा परभवियाउयं वा, जं समयं इहभवियाउय पडिसंवेदेइ नो तं समयं पर० पडिसंवेदेति, ज समयं प० नो तं समयं इहभवियाउयं प०, इहभवियाउयस्स पडिसंवेयणाए नो परभवियाउयं पडिसंवेदेइ, परभवियाउयस्स पडिसवेयणाए ना इहभवियाउयं पडिसंवेवेति। एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं आउयं प०, तं जहा—इहभवियाउयं वा, परभवियाउयं वा।

[१ प्र] भगवन् ! अन्यतीर्थिक ऐसा कहते है, भाषण करते है, बतलाते है, प्ररूपणा करते है कि जैसा कोई (एक) जालग्रन्थि (गाठे लगी हुई, जाल) हो, जिसमे क्रम से गाठे दी हुई हो, एक के बाद दूसरी अन्तररहित (अनन्तर) गाठे लगाई हुई हो, परम्परा से गूथी हुई हो, परस्पर गूथी हुई हो, ऐसी वह जालग्रन्थि परस्पर विस्तार रूप से, परस्पर भाररूप से तथा परस्पर विस्तार और भाररूप से, परस्पर सघटित रूप से यावत् रहती है, (अर्थात्—जाल तो एक है, लेकिन उसमे जैसे अनेक गाठें सलग्न रहती हैं) वैसे ही बहुत-से जीवों के साथ क्रमश· हजारो-लाखो जन्मों से सम्बन्धित बहुत-से आयुष्य परस्पर क्रमश· गूंथे हुए हैं, यावत् परस्पर सलग्न रहते हैं। ऐसी स्थिति में उनमे से एक जीव भी एक समय मे दो आयुष्यों को वेदता (भोगता—अनुभव करता) है। यथा एक ही जीव, इस भव का आयुष्य वेदता है और वही जीव, परभव का भी आयुष्य वेदता है। जिस समय इस भव के आयुष्य का वेदन करता है, उसी समय वह जीव परभव के आयुष्य का भी वेदन करता है; यावत् हे भगवन् ! यह (बात) किस तरह है ?

[१ उ.] गौतम ! उन अन्यतीर्थिको ने जो यह कहा है कि यावत् एक ही जीव, एक ही समय मे इस भव का और पर-भव का—दोनो का आयुष्य (एक साथ) वेदता है, उनका यह सब (पूर्वोक्त) कथन मिथ्या है। हे गौतम ! मैं इस प्रकार कहता हूँ, यावत् प्ररूपणा करता हूँ कि—जैसे कोई एक जालग्रन्थि हो और वह यावत् परस्पर संघटित [सामूहिक रूप से सलग्न] रहती है, इसी प्रकार क्रमपूर्वक बहुत-से सहस्रो जन्मो से सम्बन्धित, बहुत-से हजारो आयुष्य, एक-एक जीव के साथ शृ खला (साकल) की कडी के समान परस्पर क्रमशः ग्रथित (गू थे हुए) यावत् रहते हैं। (ऐसा होने से) एक जीव एक समय मे एक ही आयुष्य का प्रतिसवेदन (अनुभव) करता है, जैसे कि—या तो वह इस भव का ही आयुष्य वेदता है, अथवा पर भव का ही आयुष्य वेदता है। परन्तु जिस समय इस भव के आयुष्य का प्रतिसंवेदन करता है, उस समय परभव के आयुष्य का प्रतिसवेदन नही करता, और जिस समय परभव के आयुष्य का प्रतिसंवेदन करता है, उस समय इस भव के आयुष्य का प्रतिसवेदन नही करता। इस भव के आयुष्य का वेदन करने से परभव का आयुष्य नही वेदा जाता और परभव के आयुष्य का वेदन करने से इस भव का आयुष्य नही वेदा जाता। इस प्रकार एक जीव एक समय मे एक ही आयुष्य का वेदन करता है, वह इस प्रकार—या तो इस भव के आयुष्य का, अथवा परभव के आयुष्य का।

विवेचन—एक जीव द्वारा एक समय में इहभविक एव परभविक आयुष्य वेदन विषयक अन्यतीर्थिकमतनिराकरण पूर्वक भगवान् का समाधान—प्रस्तुत सूत्र मे अन्यतीर्थिको के एक जीव द्वारा एक समय मे उभयभविक आयुष्य-वेदन के मत का खण्डन करते हुए भगवान् द्वारा प्रतिपादित एकभविक आयुष्य-वेदन का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है।

जाल की गांठों के समान अनेक जीवों के अनेक आयुष्यों की गांठ—यहा अन्यतीर्थिको के द्वारा निरूपित जाल (मछलिया पकड़ने के जाल) की गाठो का उदाहरण देकर समझाया गया है कि जिस प्रकार जाल एक के बाद एक, क्रमपूर्वक, अन्तर-रहित गाठे देकर बनाया जाता है, और वह जाल उन सब गाठों से गुम्फित—सलग्न रहता है। इसी तरह जीवो के अनेक भव किये हैं, उन अनेक भवों के अनेक आयुष्य उस जाल की गाठो के समान परस्पर सलग्न हैं; इसलिए एक जीव दो भव का आयुष्य (एक साथ) वेदता है। भगवान् ने इस मत को मिथ्या बताया है। उनका आशय यह है कि अनेक जीवो के एक साथ अनेक आयुष्यो के या एक जीव के एक साथ दो आयुष्यों के वेदन को सिद्ध करने के लिए अन्यतीर्थिकों ने जो जालग्रन्थि का दृष्टान्त दिया है, वह अयुक्त है, क्योकि प्रश्न होता है, वे सब आयुष्य जीव के प्रदेशों के साथ परस्पर भलीभाति सम्बद्ध हैं या असम्बद्ध ? यदि वे सब आयुष्य जीव के प्रदेशो के साथ भलीभाति सम्बद्ध है तो जालग्रन्थि के समान उनको बताना मिथ्या है, क्योकि वे सब आयुष्य तो भिन्न-भिन्न जीवो के साथ सम्बद्ध हैं, इस कारण वे सब पृथक्-पृथक् होने से उनको जालग्रन्थि की तरह परस्पर सलग्न बताना ठीक नही। यदि उनको जालग्रन्थि की तरह बताया जाएगा तो सभी जीवो का सम्बन्ध उन सब आयुष्यों के साथ मानना पड़ेगा क्योंकि आयुष्यों का सीधा सम्बन्ध जीवों के साथ है। इसलिये जीवों के साथ जालग्रन्थि की तरह परस्पर सम्बन्ध माना जाने पर सभी जीवो द्वारा एक साथ सभी प्रकार के आयुष्य भोगने का प्रसंग आएगा, जो कि प्रत्यक्षबाधित है, तथा जैसे एक जाल के साथ अनेक ग्रन्थियां होती हैं, एक जीव के साथ भी अनेक भवों के आयुष्य का सम्बन्ध होने से एक साथ अनेक गतियों के वेदन का प्रसग आएगा, जो प्रत्यक्षविरुद्ध है। अत: जालग्रन्थि की तरह एक जीव के साथ दो या अनेक भवो

के आयुष्य का वेदन मानना युक्तिसगत नही। यदि यह माना जाएगा कि उन आयुष्यो का जीव से साथ कोई सम्बन्ध नही है, तो आयुष्य के कारण जो जीवो को देवादि गति में उत्पन्न होना पड़ता है, वह सम्भव न हो सकेगा। अत: जीव और आयुष्य का परस्पर सम्बन्ध तो मानना चाहिए, अन्यथा, जीव और आयुष्य का किसी प्रकार का सम्बन्ध न होने से जीव पर आयुष्य निमित्तक असर जरा भी नहीं होगा। अत आयुष्य और जीव का परस्पर सम्बन्ध शृंखलारूप समझना चाहिए। शृंखला की कड़ियाँ जैसे परस्पर संलग्न होती हैं, वैसे ही एक भव के आयुष्य के साथ दूसरे भव का आयुष्य प्रतिबद्ध है और उसके साथ तीसरे, चौथे, पांचवें आदि भवो का आयुष्य क्रमश: शृंखलावत् प्रतिबद्ध है। तात्पर्य यह है कि इस तरह एक के बाद दूसरे आयुष्य का वेदन होता रहता है, किन्तु एक ही भव मे अनेक आयुष्य नहीं भोगे जाते। वर्त्तमान भव के आयुष्य का वेदन करते समय भावी जन्म के आयुष्य का बध तो हो जाता है, पर उसका उदय नही होता, अतएव एक जीव एक भव में एक ही आयुष्य का वेदन करता है।[1]

चौबीस दण्डकों तथा चतुर्विध योनियों की अपेक्षा से आयुष्यबन्ध सम्बन्धी विचार

२. जीवे णं भंते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से ण भंते ! किं साउए संकमति, निराउए संकमति ?

गोयमा ! साउए संकमति, नो निराउए संकमति।

[२ प्र] भगवन् ! जो जीव नैरयिको मे उत्पन्न होने के योग्य है, क्या वह जीव यहीं से आयुष्य-युक्त होकर नरक मे जाता है, अथवा आयुष्य रहित होकर जाता है ?

[२ उ] गौतम ! (जो जीव नैरयिको मे उत्पन्न होने वाला है,) वह यही से आयुष्ययुक्त होकर नरक मे जाता है, परन्तु आयुष्यरहित होकर नरक में नहीं जाता।

३ से ण भंते ! आउए कहिं कडे ? कहिं समाइण्णे ?

गोयमा ! पुरिमे भवे कडे, पुरिमे भवे समाइण्णे।

[३ प्र.] हे भगवन् ! उस जीव ने वह आयुष्य कहाँ बाँधा ? और उस आयुष्य-सम्बन्धी आचरण कहाँ किया ?

[३ उ.] गौतम ! उस (नारक) जीव ने वह आयुष्य पूर्वभव मे बाँधा था और उस आयुष्य-सम्बन्धी आचरण भी पूर्वभव मे किया था।

४. एवं जाव वेमाणियाणं दंडओ।

[४] जिस प्रकार यह बात नैरयिक के विषय मे कही गई है, इसी प्रकार यावत् वैमानिक तक सभी दण्डकों के विषय में कहनी चाहिए।

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २१४
(ख) भगवती. हिन्दी विवेचन भाग २, पृ. ७९०
(ग) भगवती सूत्र (टीकानुवाद-टिप्पण) खण्ड १ मे प्रथम शतक, उद्दे. ९, सू. २९५, पृ. २०४ देखिये।

५. से नूणं भंते ! जे ज भविए जोणिं उववज्जित्तए से तमाउयं पकरेइ, तं जहा—नेरतियाउयं वा जाव देवाउयं वा ?

हंता, गोयमा ! जे ज भविए जोणि उववज्जित्तए से तमाउयं पकरेइ, तं जहा—नेरइयाउयं वा, तिरि०, मणु०, देवाउयं वा । नेरइयाउयं पकरेमाणे सत्तविहं पकरेइ, तं जहा—रयणप्पभापुढविनेरइयाउयं वा जाव अहेसत्तमापुढविनेरइयाउयं वा । तिरिक्खजोणियाउयं पकरेमाणे पंचविहं पकरेइ, तं जहा—एगिंदियतिरिक्खजोणियाउयं वा, भेदो सव्वो भाणियव्वो । मणुस्साउयं दुविहं । देवाउयं चउव्विहं ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। पंचम सए : तइओ उद्देसओ ।।

[५ प्र.] भगवन् ! जो जीव जिस योनि मे उत्पन्न होने योग्य होता है, क्या वह जीव, उस योनि सम्बन्धी आयुष्य बाधता है ? जैसे कि जो जीव नरक योनि मे उत्पन्न होने योग्य होता है, क्या वह नरकयोनि का आयुष्य बाधता है, यावत् देवयोनि मे उत्पन्न होने योग्य जीव क्या देवयोनि का आयुष्य बाधता है ?

[५ उ.] हाँ, गौतम ! जो जीव जिस योनि मे उत्पन्न होने योग्य होता है, वह जीव उस योनिसम्बन्धी आयुष्य को बाँधता है । जैसे कि नरक योनि मे उत्पन्न होने योग्य जीव नरकयोनि का आयुष्य बाधता है, तिर्यञ्चयोनि मे उत्पन्न होने योग्य जीव, तिर्यञ्चयोनि का आयुष्य बाधता है, मनुष्ययोनि मे उत्पन्न होने योग्य जीव मनुष्ययोनि का आयुष्य बाँधता है यावत् देवयोनि मे उत्पन्न होने योग्य जीव देवयोनि का आयुष्य बाधता है ।

जो जीव नरक का आयुष्य बाधता है, वह सात प्रकार की नरकभूमि मे से किसी एक प्रकार की नरकभूमि सम्बन्धी आयुष्य बाधता है । यथा—रत्नप्रभा (प्रथम नरक) पृथ्वी का आयुष्य, अथवा यावत् अध सप्तम पृथ्वी (सप्तम नरक) का आयुष्य बाधता है । जो जीव तिर्यञ्चयोनि का आयुष्य बाधता है, वह पाच प्रकार के तिर्यञ्चो मे से किसी एक प्रकार का तिर्यञ्च-सम्बन्धी आयुष्य बाँधता है । यथा– एकेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनि का आयुष्य इत्यादि । तिर्यञ्च के सभी भेद-विशेष विस्तृत रूप से यहाँ कहने चाहिए । जो जीव मनुष्य-सम्बन्धी आयुष्य बाधता है, वह दो प्रकार के मनुष्यो मे से किसी एक प्रकार के मनुष्य-सम्बन्धी आयुष्य को बाधता है, (यथा –सम्मूर्च्छिम मनुष्य का, अथवा गर्भज मनुष्य का ।) जो जीव देवसम्बन्धी आयुष्य बाधता है, तो वह चार प्रकार के देवो मे से किसी एक प्रकार के देव का आयुष्य बाधता है । (यथा—भवनपति देव का, वाणव्यन्तर देव का, ज्योतिष्क देव का अथवा वैमानिक देव का आयुष्य । इनमे से किसी एक प्रकार के देव का आयुष्य बाधता है ।)

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; यो कह कर यावत् विचरते हैं ।

विवेचन—चौबीस दण्डकों तथा चतुर्विध योनियों की अपेक्षा से आयुष्यबन्ध सम्बन्धी

विचार—प्रस्तुत चार सूत्रो मे मुख्यतया चार पहलुओ से चारो गतियो तथा चौबीसो दण्डको के जीवो का आयुष्यबन्ध-सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किया गया है। वे चार पहलू इस प्रकार हैं—

(१) नरक से लेकर वैमानिक देवो तक चौबीस ही दण्डको का दूसरी गति मे जाने योग्य जीव आयुष्य सहित होकर दूसरी गति मे जाता है।

(२) जीव अगली गति मे जाने योग्य आयुष्य इसी गति मे बाध लेता है तथा तद्योग्य आचरण इसी (पूर्व) गति में करता है।

(३) नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव इन चारो मे से जो जीव जिस योनि मे उत्पन्न होने योग्य होता है, वह उसी योनि का आयुष्य बाध लेता है।

(४) नरकयोनि का आयुष्य बाधने वाला सात नरको मे से किसी एक नरक का, तिर्यञ्चयोनि का आयुष्य बाधने वाला जीव पाच प्रकार के तिर्यंचो मे किसी एक प्रकार के तिर्यञ्च का, एव मनुष्ययोनि सम्बन्धी आयुष्य बाधने वाला जीव दो प्रकार के मनुष्यो मे से किसी एक प्रकार के मनुष्य का और देवयोनि का आयुष्य बाधने वाला जीव चार प्रकार के देवो मे से किसी एक प्रकार के देव का आयुष्य बाधता है।[1]

॥ पंचम शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

———

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २१५

चउत्थो : उद्देसओ 'सद्द'

चतुर्थ उद्देशक : शब्द

छद्मस्थ और केवली द्वारा शब्द-श्रवण-सम्बन्धी सीमा की प्ररूपणा

१. छउमत्थे णं भंते ! मणुस्से आउडिज्जमाणाइं सद्दाइं सुणेति, तं जहा—संखसद्दाणि वा, सिंगसद्दाणि वा, संखियसद्दाणि वा, खरमुहिसद्दाणि वा, पोयासद्दाणि वा, परिपिरियासद्दाणि वा, पणवसद्दाणि वा, पडहसद्दाणि वा, भंभासद्दाणि वा, होरंभसद्दाणि वा, भेरिसद्दाणि वा, झल्लरिसद्दाणि वा, दुंदुभिसद्दाणि वा, तताणि वा, विततााणि वा, घणाणि वा, झुसिराणि वा ?

हंता, गोयमा ! छउमत्थे णं मणूसे आउडिज्जमाणाइं सद्दाइं सुणेति, तं जहा—संखसद्दाणि वा जाव झुसिराणि वा ।

[१ प्र] भगवन् ! छद्मस्थ मनुष्य क्या बजाये जाते हुए वाद्यों (के) शब्दों को सुनता है ? यथा—शंख के शब्द रणसींगे के शब्द, शंखिका (छोटे शंख) के शब्द, खरमुही (काहली नामक बाजे) के शब्द, पोता (बड़ी काहली) के शब्द, परिपीरिता (सूअर के चमड़े से मढे हुए मुख वाले एक प्रकार के बाजे) के शब्द, पणव (ढोल) के शब्द, पटह (ढोलकी) के शब्द, भंभा (छोटी भेरी) के शब्द, झल्लरी (झालर) के शब्द, दुन्दुभि के शब्द, तत (तात वाले बाजों—वीणा आदि वाद्यों) के शब्द, विततशब्द (ढोल आदि विस्तृत बाजों के शब्द), घनशब्द (ठोस बाजों—कांस्य, ताल आदि वाद्यों के शब्द), शुषिरशब्द (बीच में पोले बाजों—बिगुल, बांसुरी, बंशी आदि के शब्द), इत्यादि बाजों के शब्दों को।

[१ उ] हाँ गौतम ! छद्मस्थ मनुष्य बजाये जाते हुए शंख यावत्- शुषिर आदि (पूर्वोक्त) वाद्यों के शब्दों को सुनता है।

२. ताइं भंते ! किं पुट्ठाइं सुणेति ? अपुट्ठाइं सुणेति ?

गोयमा ! पुट्ठाइं[1] सुणेति, नो अपुट्ठाइं सुणेति जाव णियमा छद्दिसिं सुणेति ।

[२ प्र] भगवन् ! क्या वह (छद्मस्थ) उन (पूर्वोक्त वाद्यों के) शब्दों को स्पृष्ट होने (कानों से स्पर्श किये जाने—टकराने) पर सुनता है, या अस्पृष्ट होने (कानों से स्पर्श न करने—न टकराने) पर भी सुन लेता है ?

[२ उ.] गौतम ! छद्मस्थ मनुष्य (उन वाद्यों के) स्पृष्ट (कानों से स्पर्श किये गए—टकराए

---

१. 'पुट्ठाई सुणेति' इस सम्बन्ध में भगवतीसूत्र प्रथम शतक के प्रथम उद्देशक का आहाराधिकार देखना चाहिए। भगवती० (टीकानुवाद टिप्पणयुक्त) खण्ड १, पृ. ७० से ७२ तक।

हुए) शब्दों को सुनता है, अस्पृष्ट शब्दों को नहीं सुनता; यावत् नियम से छह दिशाओं से आए हुए स्पृष्ट शब्दों को सुनता है।

३. छउमत्थे णं भंते ! मणुस्से किं आरगताइं सद्दाइं सुणेइ ? पारगताइं सद्दाइं सुणेइ ?

गोयमा ! आरगयाइं सद्दाइं सुणेइ, नो पारगयाइं सद्दाइं सुणेइ।

[३ प्र.] भगवन् ! क्या छद्मस्थ मनुष्य आरगत (आराद्गत—इन्द्रिय विषय के समीप रहे हुए) शब्दों को सुनता है, अथवा पारगत (इन्द्रिय विषय से दूर रहे हुए) शब्दों को सुनता है ?

[३ उ.] गौतम ! (छद्मस्थ मनुष्य) आरगत शब्दों को सुनता है, किन्तु पारगत शब्दों को नहीं सुन पाता।

४. [१] जहा णं भंते ! छउमत्थे मणुस्से आरगयाइं सद्दाइं सुणेइ, नो पारगयाइं सद्दाइं सुणेइ, तहा णं भंते ! केवली किं आरगयाइं सद्दाइं सुणेइ, नो पारगयाइं सद्दाइं सुणेइ ?

गोयमा ! केवली णं आरगयं वा पारगयं वा सव्वदूरमूलमणंतियं सद्दं जाणइ पासइ।

[४-१ प्र.] भगवन् ! जैसे छद्मस्थ मनुष्य आरगत शब्दों को सुनता है, किन्तु पारगत शब्दों को नहीं सुनता, वैसे ही, हे भगवन् ! क्या केवली (केवलज्ञानी) भी आरगत शब्दों को ही सुन पाता है, पारगत शब्दों को नहीं सुन पाता ?

[४-१ उ.] गौतम ! केवली मनुष्य तो आरगत, पारगत, अथवा समस्त दूरवर्ती (दूर तथा अत्यन्त दूर के) और निकटवर्ती (निकट तथा अत्यन्त निकट के) अनन्त (अन्तरहित) शब्दों को जानता और देखता है।

[२] से केणट्ठेणं तं चेव केवली णं आरगयं वा जाव पासइ ?

गोयमा ! केवली णं पुरत्थिमेणं मियं पि जाणइ, अमियं पि जाणइ; एवं दाहिणेणं पच्चत्थिमेणं, उत्तरेणं उड्ढं, अहे मियं पि जाणइ, अमियं पि जाणइ, सव्वं जाणइ केवली, सव्वं पासइ केवली, सव्वतो जाणइ पासइ, सव्वकालं जा० पा०, सव्वभावे जाणइ केवली, सव्वभावे पासइ केवली, अणंते नाणे केवलिस्स, अणंते दंसणे केवलिस्स, निव्वुडे नाणे केवलिस्स,[1] निव्वुडे दंसणे केवलिस्स। से तेणट्ठेणं जाव पासइ।

[४-२ प्र.] भगवन् ! इसका क्या कारण है कि केवली मनुष्य आरगत, पारगत, अथवा यावत् सभी प्रकार के (दूरवर्ती, निकटवर्ती) अनन्त शब्दों को जानता-देखता है ?

[४-२ उ.] गौतम ! केवली (भगवान् सर्वज्ञ) पूर्व दिशा की मित वस्तु को भी जानता—देखता है, और अमित वस्तु को भी जानता-देखता है, इसी प्रकार दक्षिण दिशा, पश्चिम दिशा, उत्तर दिशा, ऊर्ध्वदिशा और अधोदिशा की मित वस्तु को भी जानता-देखता है तथा अमित वस्तु को भी जानता-देखता है। केवलज्ञानी सब जानता है और सब देखता है। केवली भगवान् सर्वतः (सब

१. पाठान्तर—'**निव्वुडे वितिमिरे विसुद्धे**' इन तीनों विशेषणों से युक्त पाठ अन्य प्रतियों में मिलता है।

ओर से) जानता-देखता है, केवली सर्वकाल मे, सर्वभावों (पदार्थों) को जानता-देखता है। केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) के अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन होता है। केवलज्ञानी का ज्ञान और दर्शन निरावरण (सभी प्रकार के आवरणो से रहित) होता है।

हे गौतम! इसी कारण से ऐसा कहा गया है कि केवली मनुष्य आरगत और पारगत शब्दो को, यावत् सभी प्रकार के दूरवर्ती और निकटवर्ती शब्दो को जानता-देखता है।

विवेचन—छद्मस्थ और केवली की शब्द-श्रवण-सम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रो मे छद्मस्थ और केवली मनुष्य के द्वारा शब्दश्रवण के सम्बन्ध में निम्नोक्त तीन तथ्यो का निरूपण किया गया है—(१) छद्मस्थ मनुष्य बजाये जाते हुए शख आदि वाद्यो के शब्दो को सुनता है।

(२) किन्तु वह (छद्मस्थ) उन बजाये हुए वाद्य-शब्दो को कानो से स्पर्श होने पर सुनता है, तथा इन्द्रिय विषय के निकटवर्ती शब्दो को सुन सकता है।

(३) केवलज्ञानी आरगत पारगत, निकट-दूर के समस्त अनन्त शब्दो को जानता-देखता है तथा वह सभी दिशाओ से, सब ओर से, सब काल मे अपने निरावरण अनन्त-परिपूर्ण-केवलज्ञान केवलदर्शन से सर्वभावो (पदार्थों) को जानता-देखता है।

मूल सूत्र मे छद्मस्थ के लिए 'सुणेइ' क्रियापद का प्रयोग किया गया है जब कि केवली के लिए 'जाणइ पासइ' पद का प्रयोग किया है। इस भेद का कारण यह है कि छद्मस्थ जीव कान से शब्द सुनता है किन्तु केवली शब्द को कान से नही सुनते, केवलज्ञान-दर्शन से ही जानते-देखते है।

'आउडिज्जमाणाइं' पद की व्याख्या—सस्कृत मे इस शब्द के दो रूपान्तर होते है—(१) आजोड्माना (आजोड्यमानानि) एव (२) 'आकुट्यमानानि'। प्रथमरूपान्तर की व्याख्या इस प्रकार है—मुखादि से आसम्बद्ध होते हुए वाद्यविशेष, अर्थात् मुख के साथ शख का सयोग होने से, हाथ के साथ ढोल का सयोग होने से, लकड़ी के टुकडे या डडे के साथ झालर का सयोग होने से, इसी तरह अन्यान्य पदार्थों के साथ अनेक प्रकार के वाद्यो का सयोग होने से, अथवा बजाने के साधनरूप अनेक प्रकार के पदार्थों के पीटने—कूटने—चोट लगाने अथवा टकराने से बजने वाले अनेक प्रकार के बाजों से।

कठिन शब्दो की व्याख्या—आरगयाइं=इन्द्रियो के निकट भाग से स्थित, या इन्द्रियगोचर। **पारगयाइं**=इन्द्रियविषयो से पर, दूर या अगोचर रहे हुए। **सव्वदूरमूलमणंतियं**= (१) सर्वथा दूर और मूल=निकट मे रहे हुए शब्द को, तथा अनन्तिक अर्थात्—न तो बहुत दूर और न बहुत निकट अर्थात्—मध्यवर्ती शब्दो को, (२) अथवा सर्वदूरमूल यानी अनादि और अन्तरहित शब्दो को। **निव्वुडे नाणे**=कर्मो से अत्यन्त निवृत्त होने के कारण निरावरण ज्ञान।[१]

छद्मस्थ और केवली के हास्य और औत्सुक्य सम्बन्धी प्ररूपणा

५ छउमत्थे णं भंते! मणूस्से हसेज्ज वा? उस्सुआएज्ज वा?

हंता, हसेज्ज वा, उस्सुयाएज्ज वा।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा १, पृ. १९४-१९५

२. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २१६

(ख) भगवती (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ. १७१

[५ प्र.] भगवन् ! क्या छद्मस्थ मनुष्य हसता है तथा (किसी पदार्थ को ग्रहण करने के लिए) उत्सुक (उतावला) होता है ?

[५ उ.] गौतम ! हाँ, छद्मस्थ मनुष्य हसता तथा उत्सुक होता है।

६. [१] जहा णं भंते ! छउमत्थे मणुस्से हसेज्ज वा उस्सु० तहा णं केवली वि हसेज्ज वा, उस्सुयाएज्ज वा ?

गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे।

[६-१ प्र.] भगवन् ! जैसे छद्मस्थ मनुष्य हसता है तथा उत्सुक होता है, वैसे क्या केवली भी हंसता और उत्सुक होता है ?

[६-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। (अर्थात्—छद्मस्थ मनुष्य की तरह केवली न तो हसता है और न उत्सुक होता है।)

[२] से केणट्ठेणं भंते ! जाव नो णं तहा केवली हसेज्ज वा, उस्सुयाएज्ज वा ?

गोयमा ! जं णं जीवा चरित्तमोहणिज्जकम्मस्स उदएणं हसंति वा उस्सुयायंति वा, से णं केवलिस्स नत्थि, से तेणट्ठेणं जाव नो णं तहा केवली हसेज्ज वा, उस्सुयाएज्ज वा।

[६-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि केवली मनुष्य (छद्मस्थ की तरह) न तो हसता है और न उत्सुक होता है ?

[६-२ उ.] गौतम ! जीव, चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से हंसते हैं या उत्सुक होते हैं, किन्तु वह (चारित्रमोहनीय कर्म) केवलीभगवान् के नहीं है; (उनके चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय हो चुका है।) इस कारण से यह कहा जाता है कि जैसे छद्मस्थ मनुष्य हंसता है अथवा उत्सुक होता है, वैसे केवलीमनुष्य न तो हसता है और न ही उत्सुक होता है।

७. जीवे णं भंते ! हसमाणे वा उस्सुयमाणे वा कति कम्मपगडीओ बंधति ?

गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा।

[७ प्र.] भगवन् ! हसता हुआ या उत्सुक होता हुआ जीव कितनी कर्मप्रकृतियों (कितने प्रकार के कर्म) को बाधता है ?

[७ उ.] गौतम ! (हसता हुआ या उत्सुक होता हुआ जीव) सात प्रकार के कर्मों को बांधता है, अथवा आठ प्रकार के कर्मों को बांधता है।

८. एवं जाव[1] वेमाणिए।

[८] इसी प्रकार (नैरयिक से लेकर) वैमानिकपर्यन्त चौबीस ही दण्डकों के लिए (ऐसा आलापक) कहना चाहिए।

---

१. 'जाव' पद यहाँ नैरयिक से लेकर वैमानिक पर्यन्त चौबीस दण्डकों का सूचक है।

९ पोहत्तिएहिं जीवेगिदियवज्जो तियभंगो।

[९] जब उपर्युक्त प्रश्न बहुत जीवो की अपेक्षा पूछा जाए, तो उसके उत्तर मे समुच्चय जीव और एकेन्द्रिय को छोडकर कर्मबन्ध से सम्बन्धित तीन भंग (विकल्प) कहने चाहिए।

विवेचन—छद्मस्थ और केवली के हास्य और औत्सुक्य—प्रस्तुत ५ सूत्रो (सू ५ से ९ तक) मे छद्मस्थ और केवलज्ञानी मनुष्य के हसने और उत्सुक (किसी वस्तु को लेने के लिए उतावला) होने के सम्बन्ध मे पाच तथ्यों का निरूपण किया गया है—

१ छद्मस्थ मनुष्य हसता भी है और उत्सुक भी होता है।

२ केवली मनुष्य न हसता है, और न उत्सुक होता है।

३ क्योकि केवली के चारित्रमोहनीय कर्म का उदय नही होता, वह क्षीण हो चुका है।

४ जीव (एक जीव) हसता और उत्सुक होता है, तब सात या आठ प्रकार के कर्म बाध लेता है।

५. यह बात नैरयिक से लेकर वैमानिक तक चौबीस ही दण्डको पर घटित होती है।

६ जब बहुवचन (बहुत-से जीवो) की अपेक्षा से कहा जाए, तब समुच्चय जीव और एकेन्द्रिय को छोडकर शेष १९ दण्डको मे कर्मबन्ध सम्बन्धी तीन भग कहने चाहिए।

तीन भंग—पृथक्त्वसूत्रो (पोहत्तिएहिं) अर्थात् बहुवचन-सूत्रो (बहुत-से जीवो) की अपेक्षा से पाच एकेन्द्रियो मे हास्यादि न होने से ५ स्थावरो के ५ दण्डको को छोडकर शेष १९ दण्डको मे कर्मबन्धसम्बन्धी तीन भग होते है—(१) सभी जीव सात प्रकार के कर्म बाधते हैं, (२) बहुत-से जीव ७ प्रकार के कर्म बाधते हैं और एक जीव ८ प्रकार के कर्म बाधता है, (३) बहुत-से जीव ७ प्रकार के कर्मों को और बहुत-से जीव ८ प्रकार के कर्मों को बाधते है।[1]

आयुकर्म के बन्ध के समय आठ और जब आयुकर्म न बध रहा हो, तब सात कर्मों का बन्ध समझना चाहिए।

छद्मस्थ और केवली का निद्रा और प्रचला से सम्बन्धित प्ररूपण

१० छउमत्थे णं भंते! मणूसे निद्दाएज्ज वा? पयलाएज्ज वा?

हंता, निद्दाएज्ज वा, पयलाएज्ज वा।

[१० प्र] भगवन्! क्या छद्मस्थ मनुष्य निद्रा लेता है अथवा प्रचला नामक निद्रा लेता है?

[१० उ] हाँ, गौतम! छद्मस्थ मनुष्य निद्रा लेता है और प्रचला निद्रा (खडा-खडा नीद) भी लेता है।

११ जहा हसेज्ज वा तहा, नवरं दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं निद्दायंति वा, पयलायंति वा। से णं केवलिस्स नत्थि। अन्नं तं चेव।

१ भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्राक २१७

[११] जिस प्रकार हसने (और उत्सुक होने) के सम्बन्ध मे (छद्मस्थ और केवली मनुष्य के विषय मे) प्रश्नोत्तर बतलाए गए हैं, उसी प्रकार निद्रा और प्रचला-निद्रा के सम्बन्ध में (छद्मस्थ और केवली मनुष्य के विषय मे) प्रश्नोत्तर जान लेने चाहिए। विशेष यह है कि छद्मस्थ मनुष्य दर्शनावरणीय कर्म के उदय से निद्रा अथवा प्रचला लेता है, जबकि केवली भगवान् के वह दर्शनावरणीय कर्म नही है, (उनके दर्शनावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय हो चुका है।) इसलिए केवली न तो निद्रा लेता है, न ही प्रचलानिद्रा लेता है। शेष सब पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

१२. जीवे णं भंते ! निद्दायमाणे वा पयलायमाणे वा कति कम्मपगडीओ बंधति ?
गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा।

[१२ प्र] भगवन् ! निद्रा लेता हुआ अथवा प्रचलानिद्रा लेता हुआ जीव कितनी कर्म-प्रकृतियो (कितने प्रकार के कर्मो) को बाँधता है ?

[१२ उ] गौतम ! निद्रा अथवा प्रचला-निद्रा लेता हुआ जीव सात कर्मों की प्रकृतियो का बन्ध करता है, अथवा आठ कर्मों की प्रकृतियो का बन्ध करता है।

१३. एवं जाव वेमाणिए।

[१३] इसी तरह (एकवचन की अपेक्षा से) [नैरयिक से लेकर] वैमानिक-पर्यन्त (चौबीस ही दण्डको के लिए) कहना चाहिए।

१४. पोहत्तिएसु जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो।

[१४] जब उपर्युक्त प्रश्न बहुवचन (बहुत-से जीवो) की अपेक्षा से पूछा जाए, तब (समुच्चय) जीव और एकेन्द्रिय को छोडकर [शेष १९ दण्डको मे] कर्मबन्ध-सम्बन्धी तीन भग कहने चाहिए।

विवेचन—छद्मस्थ और केवली का निद्रा और प्रचला से सम्बन्धित प्ररूपण—प्रस्तुत चार सूत्रो मे हास्य और औत्सुक्य के सूत्रो की तरह ही सारा निरूपण है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ हास्य और औत्सुक्य के बदले निद्रा और प्रचला शब्द प्रयुक्त हुए हैं। शेष सब पूर्ववत् है।

हरिनैगमेषी द्वारा गर्भापहरण किये जाने के सम्बन्ध में शका-समाधान

१५. हरी णं भंते ! नेगमेसी सक्कदूते इत्थीगब्भं साहरमाणे किं गब्भाओ गब्भं साहरति ! गब्भाओ जोणिं साहरइ ? जोणीतो गब्भं साहरति ? जोणीतो जोणिं साहरइ ?

गोयमा ! नो गब्भातो गब्भं साहरति, नो गब्भाओ जोणिं साहरति, नो जोणीतो जोणिं साहरति, परामसिय परामसिय अव्वाबाहेणं अव्वाबाहं जोणीओ गब्भं साहरइ।

[१५ प्र] भगवन् ! इन्द्र (हरि)-सम्बन्धी शक्रदूत हरिनैगमेषी देव जब स्त्री के गर्भ का सहरण करता है, तब क्या वह एक गर्भाशय से गर्भ को उठाकर दूसरे गर्भाशय मे रहता है ? या गर्भ को लेकर योनि द्वारा दूसरी (स्त्री) के उदर मे रखता है ? अथवा योनि से (गर्भ को बाहर

निकाल कर दूसरी स्त्री के) गर्भाशय मे रखता है? या फिर योनि द्वारा गर्भ को पेट मे से बाहर निकाल कर (वापस उसी तरह) योनि द्वारा ही (दूसरी स्त्री के पेट मे) रखता है?

[१५ उ.] हे गौतम! वह हरिनैगमेषी देव, एक गर्भाशय से गर्भ को उठा कर दूसरे गर्भाशय मे नहीं रखता, गर्भाशय से गर्भ को लेकर उसे योनि द्वारा दूसरी स्त्री के उदर मे नही रखता, तथा योनि द्वारा गर्भ को (पेट मे से) बाहर निकालकर (वापस उसी तरह) योनि द्वारा दूसरी स्त्री के पेट मे नही रखता, परन्तु अपने हाथ से गर्भ को स्पर्श कर करके, उस गर्भ को कुछ पीड़ा (बाधा) न हो, इस तरीके से उसे योनि द्वारा बाहर निकाल कर दूसरी स्त्री के गर्भाशय मे रख देता है।

१६. पभू णं भंते! हरिणेगमेसी सक्कस्स दूते इत्थीगब्भं नहसिरसि वा रोमकूवंसि वा साहरित्तए वा नीहरित्तए वा?

हंता, पभू, नो चेव णं तस्स गब्भस्स किंचि वि आबाहं वा विबाहं वा उप्पाएज्जा, छविच्छेदं पुण करेज्जा, एसुहुमं च णं साहरिज्ज वा, नीहरिज्ज वा।

[१६ प्र] भगवन्! क्या शक्र का दूत हरिनैगमेषी देव, स्त्री के गर्भ को नखाग्र (नख के सिरे) द्वारा, अथवा रोमकूप (छिद्र) द्वारा गर्भाशय मे रखने या गर्भाशय से निकालने मे समर्थ है?

[१६ उ] हाँ, गौतम! हरिनैगमेषी देव उपर्युक्त रीति से कार्य करने मे समर्थ है। (किन्तु ऐसा करते हुए) वह देव उस गर्भ को थोडी या बहुत, किञ्चित्मात्र भी पीडा नही पहुँचाता। हाँ, वह उस गर्भ का छविच्छेद (शरीर का छेदन-भेदन) करता है, और फिर उसे बहुत सूक्ष्म करके अदर रखता है, अथवा इसी तरह अदर से बाहर निकालता है।

विवेचन—हरिनैगमेषी देव द्वारा गर्भापहरण किये जाने के सम्बन्ध मे शंका-समाधान—सूत्रद्वय (सू १५ और १६) मे शक्रेन्द्र के दूत एव गर्भापहारक हरिनैगमेषी देव द्वारा गर्भापहरण कैसे, किस तरीके से किया जाता है? तथा क्या वह नखाग्र और रोमकूप द्वारा गर्भ को गर्भाशय मे रखने या उससे निकालने मे समर्थ है? इन दो शंकाओ को प्रस्तुत करके भगवान् द्वारा दिया गया उनका सुन्दर एव सन्तोषजनक समाधान अकित किया गया है।

हरिनैगमेषी देव का संक्षिप्त परिचय—'हरि', इन्द्र को कहते है तथा इन्द्र से सम्बन्धित व्यक्ति को भी हरि कहते हैं। इसलिए हरिनैगमेषी का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ (निर्वचन) इस प्रकार किया गया है—हरि = इन्द्र के, नैगम = आदेश को जो चाहता है, वह **हरिनैगमेषी**, अथवा हरि = इन्द्र का नैगमेषी नामक देव। शक्रेन्द्र की पदाति (पैदल) सेना का वह नायक तथा शक्रदूत है। शक्रेन्द्र की आज्ञा से उसी ने भगवान् महावीर की माता त्रिशलादेवी के गर्भ मे देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ से भगवान् महावीर के गर्भ को सहरण करके स्थापित किया था।

यद्यपि यहाँ भगवान् महावीर का नाम मूलपाठ मे नही दिया है, तथापि हरिनैगमेषी का नाम आने से यह घटना भ० महावीर से सम्बन्धित होने की सभावना है। वृत्तिकार का कथन है कि अगर इस घटना को भ० महावीर के साथ घटित करना न होता तो 'हरिनैगमेषी' नाम मूलपाठ में न देकर सामान्यरूप से देव का निरूपण किया जाता है।

भगवतीसूत्र के अतिरिक्त हरिणैगमेषी द्वारा गर्भापहरण का वृत्तान्त अन्तकृद्दशांग मे, आचारांग भावना चूलिका में, तथा कल्पसूत्र में भी उल्लिखित है।[1]

गर्भसंहरण के चार प्रकारों में से तीसरा प्रकार ही स्वीकार्य—मूलपाठ मे गर्भापहरण के ४ तरीके विकल्प रूप मे उठाए गए हैं, किन्तु हरिनैगमेषी द्वारा योनि द्वारा गर्भ को निकल कर दूसरी स्त्री के गर्भाशय मे रखना —ही उपयोगी और लोकप्रसिद्ध तीसरा तरीका ही अपनाया जाता है, क्योंकि यह लौकिक प्रथा है कि कच्चा (अधूरा) या पक्का (पूरा) कोई भी गर्भ स्वाभाविक रूप से योनि द्वारा ही बाहर आता है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—साहरइ=सहरण करता है, **साहरित्तए**=सहरण—प्रवेश कराने के लिए। **नीहरित्तए**=निकालने के लिए। **आबाहं**=थोडी-सी बाधा-पीड़ा, **विबाहं**=विशेष बाधा-पीडा।[2]

अतिमुक्तक कुमारश्रमण की बालचेष्टा तथा भगवान् द्वारा स्थविर मुनियों का समाधान

१७. [१] **तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवतो महावीरस्स अंतेवासी अतिमुत्ते णामं कुमारसमणे पगतिभद्दए जाव विणीए।**

[१७-१] उस काल और उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के अन्तेवासी (समीप रहने वाले=शिष्य) अतिमुक्तक नामक कुमार श्रमण थे। वे प्रकृति से भद्र यावत् विनीत थे।

[२] **तए णं से अतिमुत्ते कुमारसमणे अन्नया कयाइ महावुट्ठिकायंसि निवयमाणंसि कक्ख-पडिग्गह-रयहरणमायाए बहिया संपट्ठिते विहाराए।**

[१७-२] (दीक्षित होने के) पश्चात् वह अतिमुक्तक कुमार श्रमण किसी दिन महावृष्टिकाय (मूसलधार वर्षा) पड रही थी, तब काख (बगल) मे अपना रजोहरण तथा (हाथ मे, झोली मे) पात्र लेकर बाहर विहार (स्थण्डिल भूमिका मे बडी शका के निवारण) के लिए रवाना (प्रस्थित) हुए (चले)।

[३] **तए णं से अतिमुत्ते कुमारसमणे वाहयं वहमाणं पासति, २ मट्टियापालिं बंधति, २ 'णाविया मे २' णाविओ विव णावमयं पडिग्गहकं, उदगंसि कट्टु पव्वाहमाणे पव्वाहमाणे अभिरमति।**

---

१ (क) अभिधान राजेन्द्रकोष, भाग ७, पृ ११९४ हरेरिन्द्रस्य नैगममादेशमिच्छतीति हरिनैगमेषी, अथवा हरेरिन्द्रस्य नैगमेषी नामा देव। (आव. म २ अ)

(ख) आचारांग अन्तिम भावना-चूलिका।

(ग) अन्तकृद्दशांग अ. ७, वर्ग ४, सुलसाप्रकरण

(घ) भगवतीसूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ १७४-१७५

(ङ) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्रांक २१८

२. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्राक २१८

(ख) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. १९६

[१७-३] तत्पश्चात् (बाहर जाते हुए) उस अतिमुक्तक कुमारश्रमण ने (मार्ग में) बहता हुआ पानी का एक छोटा-सा नाला देखा। उसे देखकर उसने उस नाले के दोनो ओर मिट्टी की पाल बांधी। इसके पश्चात् नाविक जिस प्रकार अपनी नौका पानी मे छोड़ता है, उसी प्रकार उसने भी अपने पात्र को नौकारूप मानकर, पानी मे छोड़ा। फिर 'यह मेरी नाव है, यह मेरी नाव है,' यो पात्रीरूपी नौका को पानी मे प्रवाहित करते (बहाते=तिराते हुए) क्रीडा करने (खेलने) लगे।

[४] तं च थेरा अद्दक्खु। जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति, २ एवं वदासी—एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी अतिमुत्ते नामं कुमारसमणे, से णं भंते! अतिमुत्ते कुमारसमणे कतिहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिहिति जाव अंतं करेहिति?

'अज्जो!' ति समणे भगवं महावीरे ते थेरे एवं वदासी—एवं खलु अज्जो! ममं अंतेवासी अतिमुत्ते णामं कुमारसमणे पगतिभद्दए जाव विणीए, से णं अतिमुत्ते कुमारसमणे इमेणं चेव भवग्गहणेणं सिज्झिहिति जाव अंतं करेहिति। तं मा णं अज्जो! तुब्भे अतिमुत्तं कुमारसमणं हीलेह निंदह खिंसह गरहह अवमन्नह। तुब्भे णं देवाणुप्पिया! अतिमुत्तं कुमारसमणं अगिलाए संगिण्हह, अगिलाए उवगिण्हह, अगिलाए भत्तेणं पाणेणं विणयेणं वेयावडियं करेह। अतिमुत्ते णं कुमारसमणे अंतकरे चेव, अंतिमसरीरिए चेव।

[१७-४] इस प्रकार करते हुए उस अतिमुक्तक कुमारश्रमण को स्थविरो ने देखा। स्थविर (अतिमुक्तक कुमारश्रमण को कुछ भी कहे बिना) जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ आए और निकट आकर उन्होने उनसे पूछा (कहा)—

[प्र.] भगवन्! आप देवानुप्रिय का अन्तेवासी (शिष्य) जो अतिमुक्तक कुमारश्रमण है, वह अतिमुक्तक कुमारश्रमण कितने भव (जन्म) ग्रहण करके सिद्ध होगा, यावत् सर्वदुःखो का अन्त करेगा?

[उ.] 'हे आर्यो!' इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी उन स्थविरो को सम्बोधित करके कहने लगे—'आर्यो! मेरा अन्तेवासी (शिष्य) अतिमुक्तक नामक कुमारश्रमण, जो प्रकृति से भद्र यावत् प्रकृति से विनीत है, वह अतिमुक्तक कुमारश्रमण इसी भव (जन्मग्रहण) से सिद्ध होगा, यावत् सब दुःखो का अन्त करेगा। अतः हे आर्यो! तुम अतिमुक्तक कुमारश्रमण की हीलना मत करो, न ही उसे झिड़को (जनता के समक्ष चिढाओ, डाटो या खिंसना करो), न ही गर्हा (बदनामी) और अवमानना (अपमान) करो। किन्तु हे देवानुप्रियो! तुम अग्लानभाव से (ग्लानि—घृणा या खिन्नता लाए बिना) अतिमुक्तक कुमारश्रमण को स्वीकार करो, अग्लानभाव से (सयम मे) उसकी सहायता (उपग्रह=उपकार) करो, और अग्लानभाव से आहार-पानी से विनय सहित उसकी वैयावृत्य (सेवा-शुश्रुषा) करो, क्योंकि अतिमुक्तक कुमारश्रमण (इसी भव मे सब कर्मों का या ससार का) अन्त करने वाला है, और चरम (अन्तिम) शरीरी है।

[५] तए णं थेरा भगवंतो समणेणं भगवता महावीरेणं एवं वुत्ता समाणा समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति, अतिमुत्तं कुमारसमणं अगिलाए संगिण्हंति जाव वेयावडियं करेंति।

[१७-५] तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर (तत्क्षण) उन स्थविर भगवन्तों ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार किया। फिर उन स्थविर मुनियों ने अतिमुक्तक कुमारश्रमण को अग्लान भाव से स्वीकार किया और यावत् वे उसकी वैयावृत्य (सेवाशुश्रूषा) करने लगे।

विवेचन—अतिमुक्तक कुमारश्रमण की बालचेष्टा तथा भगवान् द्वारा स्थविरों का समाधान—

प्रस्तुत १७वें सूत्र के पांच विभागों में अतिमुक्तक कुमारश्रमण द्वारा पात्ररूपी नौका वर्षा के जल में तिराने की बालचेष्टा से लेकर भगवान् द्वारा किये गए समाधान से स्थविरों की अतिमुक्तक मुनि की सेवा में अग्लानिपूर्वक संलग्नता तक का वृत्तान्त दिया गया है।

भगवान् द्वारा आविष्कृत सुधार का मनोवैज्ञानिक उपाय—यद्यपि अतिमुक्तक कुमारश्रमण द्वारा सचित्त जल में अपने पात्र को नौका रूप मानकर तिराना और क्रीड़ा करना, साधुजीवन चर्या में दोषयुक्त था, उसे देखकर स्थविरमुनियों के मन में अतिमुक्तक श्रमण के संयम के प्रति शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक था। किन्तु एक तो बालसुलभ स्वभाव के कारण अतिमुक्तक मुनि से ऐसा हुआ था, दूसरे वे प्रकृति से भद्र, सरल और विनीत थे, हठाग्रही और अविनीत नहीं थे। इसलिए एकान्त में वात्सल्यभाव से भगवान् ने उन्हें समझाया होगा, तब वे तुरन्त अपनी भूल को मान गए होंगे, और उसके लिए यथोचित प्रायश्चित्त लेकर उन्होंने आत्मशुद्धि भी कर ली होगी। शास्त्र के मूलपाठ में उल्लेख न होने पर भी **'पगइभद्दए जाव पगइविणीए'** पदों से ऐसी संभावना की जा सकती है।

दूसरी ओर भगवान् ने स्थविरों की मनोदशा अतिमुक्तक के प्रति घृणा, उपेक्षा, अवमानना और ग्लानि से युक्त देखी तो उन्होंने स्थविरों को भी वात्सल्यवश सम्बोधित करके अतिमुक्तक के प्रति घृणादि भाव छोड़कर अग्लानभाव से उसकी सेवा करने की प्रेरणा दी। ऐसे मनोवैज्ञानिक उपाय से भगवान् ने दोषयुक्त व्यक्ति को सुधारने का अचूक उपाय बता दिया। साथ ही अतिमुक्तक मुनि में निहित गुणों को प्रकट करके उन्हें भगवान् ने चरमशरीरी एवं भवान्तरकर बताया, यह भी स्थविरों को घृणादि से मुक्त करने का ठोस उपाय था।[1]

'कुमारश्रमण'— अल्पवय में दीक्षित होने के कारण अतिमुक्तक को **'कुमारश्रमण'** कहा गया है।

दो देवों के मनोगत प्रश्न के भगवान् द्वारा प्रदत्त मनोगत उत्तर पर गौतमस्वामी का मनःसमाधान

१८. [१] तेणं कालेणं तेणं समएणं महासुक्कातो कप्पातो महासामाणातो विमाणातो[2] दो देवा महिड्ढीया जाव[3] महाणुभागा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं पाउब्भूता।

[१८-१] उस काल और उस समय में महाशुक्र कल्प (देवलोक) से महासामान (महासर्ग या महास्वर्ग) नामक महाविमान (विमान) से दो महर्द्धिक यावत् महानुभाग देव श्रमण भगवान् महावीर के पास प्रादुर्भूत (प्रकट) हुए (आए)।

---

१. (क) भगवती. (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ. १७७-१७८

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक २१९ के आधार पर

२. पाठान्तर—'महासग्गातो महाविमाणाओ'

३ 'जाव' पद से 'महज्जुतीं' इत्यादि देववर्णन में आया हुआ समग्र विशेषणयुक्त पाठ कहना चाहिए।

[२] तए णं देवा समणं भगवं महावीरं वंदंति, नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता मणसा चेव इमं एतारूवं वागरणं पुच्छंति—कति णं भंते ! देवाणुप्पियाणं अंतेवासिसयाइं सिज्झिहिंति जाव अंतं करेहिंति ? तए णं समणे भगवं महावीरे तेहिं देवेहिं मणसा पुट्ठे, तेसिं देवाणं मणसा चेव इमं एतारूवं वागरणं वागरेति—एवं खलु देवाणुप्पिया ! मम सत्त अंतेवासिसताइं सिज्झिहिंति जाव अंतं करेहिंति।

[१८-२ प्र] तत्पश्चात् उन देवो ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके उन्होने मन से ही (मन ही मन) (श्रमण भगवान् महावीर से) इस प्रकार का ऐसा प्रश्न पूछा—'भगवन् ! आपके कितने सौ शिष्य सिद्ध होगे यावत् सर्व दु खो का अन्त करेगे ?'

[१८-२ उ] तत्पश्चात् उन देवो द्वारा मन से पूछे जाने पर श्रमण भगवान् महावीर ने उन देवो को भी मन से ही इस प्रकार का उत्तर दिया—'हे देवानुप्रियो ! मेरे सात सौ शिष्य सिद्ध होगे, यावत् सब दु खो का अन्त करेंगे।'

[३] तए ण ते देवा समणेणं भगवया महावीरेण मणसा पुट्ठेण मणसा चेव इमं एतारूव वागरणं वागरिया समाणा हट्ठतुट्ठा जाव हयहियया समण भगव महावीरं वदंति णमसति, २ त्ता मणसा चेव सुस्सूसमाणा णमंसमाणा अभिमुहा जाव पज्जुवासति।

[१८-३] इस प्रकार उन देवो द्वारा मन से पूछे गए प्रश्न का उत्तर श्रमण भगवान् महावीर ने भी मन से ही इस प्रकार दिया, जिससे वे देव हर्षित, सन्तुष्ट (यावत्) हृदय वाले एव प्रफुल्लित हुए। फिर उन्होने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार करके मन से उनकी शुश्रूषा और नमस्कार करते हुए अभिमुख होकर यावत् पर्युपासना करने लगे।

१९. [१] तेणं कालेण तेणं समएण समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इदभूति णामं अणगारे जाव अदूरसामंते उड्ढजाणू जाव विहरति।

[१९-१] उस काल और उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी (पट्टशिष्य) इन्द्रभूति नामक अनगार यावत् न अतिदूर और न ही अतिनिकट उत्कुटुक (उकडू) आसन से बैठे हुए यावत् पर्युपासना करते हुए उनकी सेवा मे रहते थे।

[२] तए णं तस्स भगवतो गोतमस्स झाणंतरियाए वट्टमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—'एवं खलु दो देवा महिड्ढीया जाव महाणुभागा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं पाउब्भूया, तं नो खलु अहं ते देवे जाणामि कयरातो कप्पातो वा सग्गातो वा विमाणातो वा कस्स वा अत्थस्स अट्ठाए इहं हव्वमागता ?' तं गच्छामि णं भगवं महावीरं वदामि णमंसामि जाव[1] पज्जुवासामि, इमाइं च णं एयारूवाइं वागरणाइं पुच्छिस्सामि त्ति कट्टु एवं संपेहेति, २ उट्ठाए उट्ठेति, २ जेणेव समणे भगवं महावीरे जाव पज्जुवासति।

---

१. 'जाव' शब्द से गौतमस्वामी द्वारा समाचरित आराधना-पर्युपासना सम्बन्धी पूर्वोक्त समग्र वर्णन कहना चाहिए।

[१९-२] तत्पश्चात् ध्यानान्तरिका मे प्रवृत होते हुए (प्रचलित ध्यान की समाप्ति होने पर और दूसरा ध्यान प्रारम्भ करने से पूर्व) भगवान् गौतम के मन में इस प्रकार का इस रूप का अध्यवसाय (सकल्प) उत्पन्न हुआ—निश्चय ही महद्धिक यावत् महानुभाग (महाभाग्यशाली) दो देव, श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के निकट प्रकट हुए, किन्तु मैं तो उन देवो को नही जानता कि वे कौन-से कल्प (देवलोक) से या स्वर्ग से, कौन-से विमान से और किस प्रयोजन से शीघ्र यहाँ आए हैं ? अत मै भगवान् महावीर स्वामी के पास जाऊँ और वन्दन-नमस्कार करूँ; यावत् पर्युपासना करू, और ऐसा करके मै इन और इस प्रकार के उन (मेरे मन मे पहले उत्पन्न) प्रश्नो को पूछूँ। यों श्री गौतम स्वामी ने विचार किया और अपने स्थान से उठे। फिर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ आए यावत् उनकी पर्युपासना करने लगे।

[३] 'गोयमा !' इ समणे भगव महावीरे भगव गोयमं एवं वयासी—से नूणं तव गोयमा ! झाणतरियाए वट्टमाणस्स इमेतारूवे अज्झत्थिए जाव जेणेव मम अंतिए तेणेव हव्वमागए। से नूणं गोतमा ! अट्ठे समट्ठे ? हता, अत्थि। त गच्छाहि ण गोतमा ! एते चेव देवा इमाइं एतारूवाइं वागरणाइं वागरेहिंति।

[१९-३] इसके पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने गौतम आदि अनगारों को सम्बोधित करके भगवान् गौतम से इस प्रकार कहा—'गौतम ! एक ध्यान को समाप्त करके दूसरा ध्यान प्रारम्भ करने से पूर्व (ध्यानान्तरिका मे प्रवृत्त होते समय) तुम्हारे मन मे इस प्रकार का अध्यवसाय (सकल्प) उत्पन्न हुआ कि मैं देवो सम्बन्धी तथ्य जानने के लिए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की सेवा मे जा कर उन्हे वन्दन-नमस्कार करूं, यावत् उनकी पर्युपासना करू, उसके पश्चात् पूर्वोक्त प्रश्न पूछूँ, यावत् इसी कारण से जहाँ मैं हूँ वहाँ तुम मेरे पास शीघ्र आए हो। हे गौतम ! यही बात है न ? (क्या यह अर्थ समर्थ है ?)' (श्री गौतम स्वामी ने कहा—) 'हाँ, भगवन् ! यह बात ऐसी ही है।'

(इसके पश्चात् भगवान् महावीर स्वामी ने कहा—)'गौतम ! तुम (अपनी शका के निवारणार्थ उन्ही देवो के पास) जाओ। वे देव ही इस प्रकार की जो भी बाते हुई थी, तुम्हे बताएँगे।'

[४] तए ण भगव गोतमे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे समणं भगवं महावीरं वंदति णमंसति, २ जेणेव ते देवा तेणेव पहारेत्थ गमणाए।

[१९-४] तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर द्वारा इस प्रकार की आज्ञा मिलने पर भगवान् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया और फिर जिस तरफ वे देव थे, उसी ओर जाने का सकल्प किया।

[५] तए णं ते देवा भगवं गोतमं एज्जमाणं पासंति, २ हट्ठा जाव हयहिवया खिप्पामेव अब्भुट्ठेंति, २ खिप्पामेव पच्चुवगच्छंति, २ जेणेव भगवं गोतमे तेणेव उवागच्छंति, २ त्ता जाव णमंसित्ता एवं वयासी—एवं खलु भंते ! अम्हे महासुक्कातो कप्पातो महासामाणातो[१] विमाणातो

१. पाठान्तर—'महासग्गातो महाविमाणातो'।

दो देवा महिड्ढिया जाव पाउब्भूता, तए णं अम्हे समणं भगवं महावीरं वंदामो नमंसामो, २ मणसा चेव इमाइं एतारूवाइं वागरणाइं पुच्छामो—कति णं भंते ! देवाणुप्पियाणं अंतेवासिसयाइं सिज्झिहिंति जाव अंतं करेहिंति ? तए णं समणे भगवं महावीरे अम्हेहिं मणसा पुट्ठे अम्हं मणसा चेव इमं एतारूवं वागरणं वागरेति—एवं खलु देवाणुप्पिया ! मम सत्त अंतेवासी० जाव अंतं करेहिंति। तए णं अम्हे समणेणं भगवया महावीरेणं मणसा पुट्ठेणं मणसा चेव इमं एतारूवं वागरणं वागरिया समाणा समणं भगवं महावीरं वंदामो नमंसामो, २ जाव पज्जुवासामो त्ति कट्टु भगवं गोतमं वंदंति नमंसंति, २ जामेव दिसिं पाउब्भूता तामेव दिसिं पडिगया।

[१९-५] उधर उन देवों ने भगवान् गौतम स्वामी को अपनी ओर आते देखा तो वे अत्यन्त हर्षित हुए यावत् उनका हृदय प्रफुल्लित हो गया; वे शीघ्र ही खड़े हुए, फुर्ती से उनके सामने गए और जहाँ गौतम स्वामी थे, वहाँ उनके पास पहुँचे। फिर उन्हें यावत् वन्दन-नमस्कार करके इस प्रकार बोले—'भगवन् ! महाशुक्रकल्प (सप्तम देवलोक) से, महासामान (महासर्ग या महास्वर्ग) नामक महाविमान से हम दोनों महर्द्धिक यावत् महानुभाग देव यहाँ आये हैं। यहाँ आ कर हमने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार किया और मन से ही (मन ही मन) इस प्रकार की ये बातें पूछी कि 'भगवन् ! आप देवानुप्रिय के कितने शिष्य सिद्ध होंगे यावत् सर्वदुःखों का अन्त करेंगे?' तब हमारे द्वारा मन से ही श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से (यह प्रश्न) पूछे जाने पर उन्होंने हमें मन से ही इस प्रकार का यह उत्तर दिया—'हे देवानुप्रियो ! मेरे सात सौ शिष्य सिद्ध होंगे, यावत् सर्वदुःखों का अन्त करेंगे।' 'इस प्रकार मन से पूछे गए प्रश्न का उत्तर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी द्वारा मन से ही प्राप्त करके हम अत्यन्त हृष्ट और सन्तुष्ट हुए यावत् हमारा हृदय उनके प्रति खिंच-गया। अतएव हम श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार करके यावत् उनकी पर्युपासना कर रहे हैं।' यों कह कर उन देवों ने भगवान् गौतम स्वामी को वन्दन-नमस्कार किया और वे दोनों देव जिस दिशा से आए (प्रादुर्भूत हुए) थे, उसी दिशा में वापस लौट गए।

विवेचन—दो देवों के मनोगत प्रश्न के भगवान् द्वारा प्रदत्त मनोगत उत्तर पर गौतम स्वामी का मनःसमाधान—प्रस्तुत दो सूत्रों द्वारा शास्त्रकार ने सात तथ्यों का स्पष्टीकरण किया है—

(१) दो देवों का अपना जिज्ञासा शान्त करने हेतु भगवान् महावीर की सेवा में आगमन।

(२) सिद्ध-मुक्त होने वाले भगवान् के शिष्यों के सम्बन्ध में देवों द्वारा प्रस्तुत मनोगत प्रश्न।

(३) उनका मनोगत प्रश्न जान कर भगवान् द्वारा मन से ही प्रदत्त उत्तर—'मेरे सात सौ शिष्य सिद्ध होंगे।'

(४) यथार्थ उत्तर पा कर देव हृष्ट और सन्तुष्ट होकर वन्दन-नमस्कार करके पर्युपासना में लीन हुए।

(५) गौतम स्वामी के ध्यानपरायण मन में देवों के सम्बन्ध में उठी हुई जिज्ञासा शान्त करने का विचार।

(६) भगवान् द्वारा गौतमस्वामी को अपनी जिज्ञासा शान्त करने हेतु देवों के पास जाने का परामर्श।

(७) देवों द्वारा अपने आगमन के उद्देश्य और उसमें प्राप्त सफलता का अथ से इति तक गौतमस्वामी से निवेदन।

प्रतिफलित तथ्य—इस समग्र वृत्तान्त पर से चार तथ्य प्रतिफलित होते हैं—

(१) देवों की तथा सर्वज्ञ तीर्थंकर की क्रमशः प्रचण्ड मन शक्ति और आत्मशक्ति।

(२) सत्य की प्राप्ति होने पर देव हृष्ट-तुष्ट, विनम्र और धर्मात्मा के पर्युपासक बन जाते हैं।

(३) सत्यार्थी गौतमस्वामी की प्रबल ज्ञानपिपासा।

(४) अपने से निम्नगुणस्थानवर्ती देवों के पास सत्य-तथ्य जानने का भगवान् का परामर्श मान कर विनम्रमूर्ति जिज्ञासुशिरोमणि श्री गौतमस्वामी का देवों के पास गमन, और यथार्थमन-समाधान से सन्तोष।[1]

कठिन शब्दों के विशेष अर्थ—**अब्भणुण्णाए**=आज्ञा प्राप्त होने पर। **खिप्पामेव**=शीघ्र ही। **पहारेत्थ गमणाए**=जाने के लिए मन में धारणा की। **एज्जमाणं**=आते हुए। **अब्भुट्ठेंति**=उठ खड़े होते हैं। **पच्चुवागच्छंति**=सामने आते हैं। **झाणंतरिया**=ध्यानान्तरिका—एक ध्यान समाप्त करके जब तक दूसरा ध्यान प्रारम्भ न किया जाए उसके बीच का समय।[2]

देवों को संयत, असंयत एवं संयतासंयत न कहकर 'नो-संयत' कथन-निर्देश

२०. **'भंते!' त्ति भगवं गोतमे समणं जाव एवं वदासी—देवा णं भंते! 'संजया' ति वत्तव्वं सिया? गोतमा! णो इणट्ठे समट्ठे। अब्भक्खाणमेयं देवाणं।**

[२० प्र.] 'भगवन्!' इस प्रकार सम्बोधित करके भगवान् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार किया यावत् इस प्रकार पूछा—भगवन्! क्या देवों को 'संयत' कहा जा सकता है?

[२० उ.] गौतम! यह अर्थ (बात) समर्थ (यथार्थ सम्यक्) नहीं है, यह (देवों को 'संयत' कहना) देवों के लिए अभ्याख्यान (मिथ्या आरोपित कथन) है।

२१. **भंते! 'असंजता' ति वत्तव्वं सिया? गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे। णिट्ठुरवयणमेयं देवाणं।**

[२१ प्र.] भगवन्! क्या देवों को 'असंयत' कहना चाहिए?

[२१ उ.] गौतम! यह अर्थ (भी) समर्थ (सम्यक् अर्थ) नहीं है। देवों के लिए ('देव असंयत हैं') यह (कथन) निष्ठुर वचन है।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भाग १, पृ. १९८-१९९

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २२१

२२ भंते ! 'संजयासंजया' ति वत्तव्वं सिया ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । असब्भूयमेयं देवाणं ।

[२२ प्र] भगवन् ! क्या देवो को **'संयतासंयत'** कहना चाहिए ?

[२२ उ] गौतम ! यह अर्थ (भी) समर्थ नही है, देवो को 'सयतासंयत' कहना (देवो के लिए) असद्भूत (असत्य) वचन है ।

२३ से किं खाति णं भंते ! देवा ति वत्तव्वं सिया ? गोयमा ! देवा णं 'नोसंजया' ति वत्तव्वं सिया ।

[२३ प्र] भगवन् ! तो फिर देवो को किस नाम से कहना (पुकारना) चाहिए ?

[२३ उ] गौतम ! देवो को 'नोसयत' कहा जा सकता है ।

विवेचन—देवों को संयत, असंयत और सयतासंयत न कह कर 'नोसयत'-कथन-निर्देश— प्रस्तुत तीन सूत्रो (सू २० से २२ तक) मे देवो को सयत, असयत एव सयतासयत न कहने का कारण बताकर चतुर्थ सूत्र मे 'नोसयत' कहने का भगवान् का निर्देश अंकित किया गया है ।

देवो के लिए 'नोसयत' शब्द उपयुक्त क्यो ? दो कारण –(१) जिस प्रकार 'मृत' और 'दिवगत' का अर्थ एक होते हुए भी 'मर गया' शब्द निष्ठुर (कठोर) वचन होने से 'स्वर्गवासी हो गया' ऐसे अनिष्ठुर शब्दो का प्रयोग किया जाता है वैसे ही यहाँ 'असयत' शब्द के बदले 'नोसयत' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

(२) ऊपर के देवलोको के देवो मे गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान न्यून होने तथा लेश्या भी प्रशस्त तथा सम्यग्दृष्टि होने से कषाय भी मन्द होने तथा ब्रह्मचारी होने के कारण यत्किंचित् भावसयतता उनमे आ जाती है, इन देवो की अपेक्षा से उन्हे 'नोसयत' कहना उचित है ।[1]

देवों की भाषा एवं विशिष्ट भाषा : अर्धमागधी

२४. देवा णं भंते ! कयराए भासाए भासंति ? कतरा वा भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति ? गोयमा ! देवा णं अद्धमागहाए भासाए भासंति, सा वि य णं अद्धमागहा भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति ।

[२४ प्र.] भगवन् ! देव कौन-सी भाषा बोलते है ? अथवा (देवो द्वारा) बोली जाती हुई कौन-सी भाषा विशिष्टरूप होती है ?

[२४ उ.] गौतम ! देव अर्धमागधी भाषा बोलते है, और बोली जाती हुई वह अर्धमागधी भाषा ही विशिष्टरूप होती है ।

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्राक २२१

(ख) **'गति-शरीर-परिग्रहाऽभिमानतो हीनाः'** —तत्त्वार्थसूत्र अ. ४, सू. २२

'परेऽप्रवीचाराः'—तत्त्वार्थसूत्र, अ. ४, सू. १०

विवेचन—देवों की भाषा एवं विशिष्टरूप भाषा : अर्धमागधी—प्रस्तुत सूत्र में देवो की भाषा-सम्बन्धी प्ररूपणा की गई है।

अर्धमागधी का स्वरूप—वृत्तिकार के अनुसार जो भाषा मगधदेश मे बोली जाती है, उसे मागधी कहते हैं। जिस भाषा मे मागधी और प्राकृत आदि भाषाओ के लक्षण (निशान) का मिश्रण हो गया हो, उसे अर्धमागधी भाषा कहते हैं। अर्धमागधी शब्द की व्युत्पत्ति—**'मागध्या अर्धम् अर्धमागधी'** के अनुसार अर्धमागधी शब्द स्पष्टत सूचित करता है कि जिस भाषा मे आधी मागधी भाषा हो और आधी दूसरी भाषाएँ मिश्रित हुई हो, वही अर्धमागधी भाषा है। आचार्य जिनदास महत्तर ने निशीथ-चूर्णि मे अर्धमागधी का स्वरूप इस प्रकार बताया है—'मगध देश की आधी भाषा मे जो निबद्ध है, वह अर्धमागधी है अथवा अठारह प्रकार की देशी भाषा मे नियत हुई जो भाषा है, वह अर्धमागधी है।' 'प्राकृतसर्वस्व' मे महर्षि मार्कण्डेय बताते है, मगधदेश और सूरसेन देश अधिक दूर न होने से तथा शौरसेनी भाषा मे पाली और प्राकृत भाषा का मिश्रण होने से तथा मागधी के साथ सम्पर्क होने से शौरसेनी को ही **अर्धमागधी**[1] कहने मे कोई आपत्ति नही।

विभिन्न धर्मों की अलग-अलग देवभाषाओ का समावेश अर्धमागधी में—वैदिक धर्मसम्प्रदाय ने संस्कृत को देवभाषा माना है। बौद्धसम्प्रदाय ने पाली को, इस्लाम ने अरबी को, ईसाई धर्म-सम्प्रदाय ने हिब्रू को देवभाषा माना है। अगर अपभ्रंश भाषा मे इन सबको गतार्थ कर दें तो जैनधर्म-सम्प्रदाय मान्य देवभाषा अर्धमागधी मे इन सब धर्मसम्प्रदायो की देवभाषाओ का समावेश हो जाता है। भ० महावीर के युग मे भाषा के सम्बन्ध मे यह मिथ्या धारणा फैली हुई थी कि 'अमुक भाषा देव-भाषा है, अमुक अपभ्रष्ट भाषा। देवभाषा बोलने से पुण्य और अपभ्रष्ट भाषा बोलने से पाप होता है।' परन्तु महावीर ने कहा कि भाषा का पुण्य-पाप से कोई सम्बन्ध नही है। चारित्र-आचरण शुद्ध न होगा तो कोरी भाषा दुर्गति से बचा नही सकती **'न चित्ता तायए भासा।'**[2]

केवली और छद्मस्थ द्वारा अन्तकर, अन्तिम शरीरी चरमकर्म और चरमनिर्जरों को जानने-देखने के सम्बन्ध में प्ररूपणा

२५ केवली णं भंते ! अंतकरं वा अंतिमसरीरियं वा जाणति पासइ ?

हंता, गोयमा ! जाणति पासति।

---

१ (क) भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक २२१
(ख) सिद्धहेमशब्दानुशासन, अ ८, पाद ४
(ग) भगवतीसूत्र टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त खण्ड २, पृ १८२
(घ) निशीथचूर्णि (लि भा पृ ३५२) मे—**'मगहद्धविसयभासानिबद्धं अद्धमागहं, अहवा अट्ठारसदेसी-भासाणियतं अद्धमागधं।'**
(ङ) प्राकृत-सर्वस्व (पृ १०३) मे—**'शौरसेन्या अदूरत्वाद् इयमेवार्धमागधी।'**

२. (क) भगवतीसूत्र (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड १, पृ १८०
(ख) 'अद्धमागह' भाषा किल षड्विधा भवति, यदाह—
'प्राकृत-संस्कृत-मागध-पिशाचभाषा च शौरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ॥' —भगवती अ. वृत्ति, पत्रांक २२१
(ग) जैनसाहित्य का बृहत् इतिहास, भा १, पृ २०३
(घ) उत्तराध्ययनसूत्र, अ. ६, गा १०—"न चित्ता"

[२५ प्र.] भगवन् ! क्या केवली मनुष्य अन्तकर (कर्मों का या ससार का अन्त करने वाले) को अथवा चरमशरीरी को जानता-देखता है ?

[२५ उ.] हाँ गौतम ! वह उसे जानता-देखता है ।

२६ [१] जहा णं भंते ! केवली अंतकरं वा अंतिमसरीरियं वा जाणति पासति तथा णं छउमत्थे वि अंतकरं वा अंतिमसरीरियं वा जाणति पासति ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, सोच्चा जाणति पासति पमाणतो वा ।

[२६-१ प्र] भगवन् ! जिस प्रकार केवली मनुष्य अन्तकर को, अथवा अन्तिमशरीरी को जानता-देखता है, क्या उसी प्रकार छद्मस्थ- मनुष्य भी अन्तकर को अथवा अन्तिमशरीरी को जानता-देखता है ?

[२६-१ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही, (अर्थात्—केवली की तरह छद्मस्थ अपने ही ज्ञान से नही जान सकता), किन्तु छद्मस्थ मनुष्य किसी से सुन कर अथवा प्रमाण द्वारा अन्तकर और अन्तिम शरीरी को जानता-देखता है ।

[२] से किं तं सोच्चा ?

सोच्चा णं केवलिस्स वा, केवलिसावयस्स वा, केवलिसावियाए वा, केवलिउवासगस्स वा, केवलिउवासियाए वा, तप्पक्खियस्स वा, तप्पक्खियसावगस्स वा, तप्पक्खियसावियाए वा, तप्पक्खिय-उवासगस्स वा तप्पक्खियउवासियाए वा । से तं सोच्चा ।

[२६-२ प्र] भगवन् ! सुन कर (किसीसे सुन कर) का अर्थ क्या है ? (अर्थात्—वह किससे सुन कर जान—देख पाता है ?)

[२६-२ उ.] हे गौतम ! केवली से, केवली के श्रावक से, केवली की श्राविका से, केवली के उपासक से, केवली की उपासिका से, केवली-पाक्षिक (स्वयम्बुद्ध) से, केवलीपाक्षिक के श्रावक से, केवली-पाक्षिक की श्राविका से, केवलीपाक्षिक के उपासक से अथवा केवलीपाक्षिक की उपासिका से, इनमे से किसी भी एक से 'सुनकर' छद्मस्थ मनुष्य यावत् जानता और देखता है। यह हुआ 'सोच्चा'—'सुन कर' का अर्थ ।

[३] से किं तं पमाणे ?

पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे । जहा अणुयोगद्दारे तहा णेयव्वं पमाणं जाव तेण परं नो अत्तागमे, नो अणंतरागमे, परंपरागमे ।

[२६-३ प्र.] भगवन् (और) वह 'प्रमाण' क्या है ? कितने हैं ?

[२६-३ उ.] गौतम ! प्रमाण चार प्रकार का कहा गया है । वह इस प्रकार है—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) औपम्य (उपमान) और (४) आगम । प्रमाण के विषय मे जिस प्रकार अनुयोग-द्वारसूत्र में कहा गया है, उसी प्रकार यहाँ भी जान लेना चाहिए; यावत् न आत्मागम, न अनन्त-रागम, किन्तु परम्परागम तक कहना चाहिए ।

२७. **केवली णं भंते ! चरमकम्मं वा चरमनिज्जरं वा जाणति, पासति ?**
हंता, गोयमा ! जाणति, पासति ।

[२७ प्र] भगवन् ! क्या केवली मनुष्य चरम कर्म को अथवा चरम निर्जरा को जानता-देखता है?

[२७ उ.] हाँ, गौतम ! केवली चरम कर्म को या चरम निर्जरा को जानता-देखता है ।

२८. **जहा णं भंते ! केवली चरमकम्मं वा०, जहा णं अंतकरेणं आलावगो तहा चरमकम्मेणं वि अपरिसेसितो णेयव्वो ।**

[२८ प्र] भगवन् ! जिस प्रकार केवली चरमकर्म को या चरमनिर्जरा को जानता-देखता है, क्या उसी तरह छद्मस्थ भी यावत् जानता-देखता है ?

[२८ उ] गौतम ! जिस प्रकार 'अन्तकर' के विषय मे आलापक कहा था, उसी प्रकार 'चरमकर्म' का पूरा आलापक कहना चाहिए ।

विवेचन—केवली और छद्मस्थ द्वारा अन्तकर, अन्तिमशरीरी, चरमकर्म और चरमनिर्जरा को जानने-देखने के सम्बन्ध में प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रो मे क्रमश. छह तथ्यो का प्रतिपादन किया गया है—(१) केवली मनुष्य अन्तकर और अन्तिम शरीरी को जानता-देखता है, (२) किन्तु छद्मस्थ मनुष्य केवली की तरह पारमार्थिक प्रत्यक्ष से इन्हे नही जानता-देखता, वह सुनकर या प्रमाण से जानता-देखता है । (३) सुन कर का अर्थ है—केवली, केवली के श्रावक-श्राविका तथा उपासक-उपासिका से, और स्वयंबुद्ध, स्वयबुद्ध के श्रावक-श्राविका तथा उपासक-उपासिका से । (४) 'प्रमाण द्वारा' का अर्थ है—अनुयोगद्वार वर्णित प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणो से । (५) केवली मनुष्य चरमकर्म और चरमनिर्जरा को आत्मप्रत्यक्ष से जानता-देखता है । (६) छद्मस्थ इन्हे केवली की तरह नही जान-देख पाता वह पूर्ववत् सुन कर या प्रमाण से जानता-देखता है ।[1]

चरमकर्म एव चरमनिर्जरा की व्याख्या—शैलेशी अवस्था के अन्तिम समय मे जिस कर्म का अनुभव हो, उसे **चरमकर्म** तथा उसके अनन्तर समय मे (शीघ्र ही) जो कर्म जीवप्रदेशो से झड़ जाते हैं, उसे **चरमनिर्जरा** कहते हैं ।

प्रमाण : स्वरूप और प्रकार—जिसके द्वारा वस्तु का सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित परिच्छेद—विश्लेषणपूर्वक ज्ञान किया जाता है, वह प्रमाण है । अथवा स्व (ज्ञानरूप आत्मा) और पर (आत्मा से भिन्न पदार्थ) का व्यवसायी—निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है । अनुयोगद्वार सूत्र मे 'ज्ञानगुणप्रमाण' का विस्तृत निरूपण है । सक्षेप मे इस प्रकार है—**ज्ञानगुणप्रमाण के मुख्यतया चार प्रकार हैं**—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमा और आगम ।

प्रत्यक्ष के दो भेद—इन्द्रियप्रत्यक्ष और नो-इन्द्रियप्रत्यक्ष । इन्द्रियप्रत्यक्ष के ५ इन्द्रियो की अपेक्षा से ५ भेद और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष के तीन भेद—अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान ।

अनुमान के तीन मुख्य प्रकार—पूर्ववत् शेषवत् और दृष्ट साधर्म्यवत् । घर से भागे हुए पुत्र को उसके पूर्व निशान (क्षत, व्रण, लांछन, मस, तिल आदि) से अनुमान करके जान लिया जाता है,

---

१ वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. २००-२०१

वह पूर्ववत्। कार्य, कारण, गुण, अवयव और आश्रय द्वारा किये गए अनुमान से होने वाला ज्ञान शेषवत्। दृष्टसाधर्म्यवत्—यथा—एक पुरुष को देख कर अनेक पुरुषों का अनुमान, एक पके चावल को देखकर अनेक चावलों के पकाने का अनुमान, सामान्यदृष्टवत् तथा अनेक पुरुषों के बीच में अपने परिचित विशिष्ट व्यक्ति को जानना विशेषदृष्टवत् है। इसके भी अतीतकालग्रहण, वर्तमानकालग्रहण और अनागतकालग्रहण ये तीन भेद है।

उपमान (उपमा) के दो भेद—साधर्म्य से उपमा, वैधर्म्य से उपमा। साधर्म्य और वैधर्म्य उपमान के भी तीन-तीन भेद हैं—किंचित्साधर्म्य, प्राय साधर्म्य और सर्वसाधर्म्य, किंचित्वैधर्म्य, प्राय वैधर्म्य और सर्ववैधर्म्य।

आगम के दो भेद—लौकिक आगम और लोकोत्तर-आगमप्रमाण।[1]

केवली के प्रकृष्ट मन-वचन को जानने-देखने में समर्थ वैमानिक देव

२९. **केवली ण भंते ! पणीतं मणं वा, वइं वा धारेज्जा ?**

हंता, धारेज्जा।

[२९ प्र] भगवन् ! क्या केवली प्रकृष्ट (प्रणीत=प्रशस्त) मन और प्रकृष्ट वचन धारण करता है ?

[२९ उ] हाँ, गौतम ! धारण करता है।

३०. [१] **जे णं भंते ! केवली पणीयं मण वा वइं वा धारेज्जा त ण वेमाणिया देवा जाणंति, पासति ?**

गोयमा ! अत्थेगइया जाणति पासति, अत्थेगइया न जाणति न पासति।

[३०-१ प्र.] भगवन् ! केवली जिस प्रकार के प्रकृष्ट मन और प्रकृष्ट वचन को धारण करता है, क्या उसे वैमानिक देव जानते-देखते है ?

[३०-१ उ.] गौतम ! कितने ही (वैमानिक देव उसे) जानते-देखते है, और कितने ही (देव) नही जानते-देखते।

[२] **से केणट्ठेणं जाव न जाणति न पासंति ?**

गोयमा ! वेमाणिया देवा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—मायिमिच्छाविट्ठिउववन्नगा य, अमायि-

---

१. (क) अनुयोगद्वारसूत्र, ज्ञानगुणप्रमाण-प्रकरण पृ २११ से २१९ तक

(ख) भगवतीसूत्र, (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ १८३ से १८६ तक

(ग) प्रकर्षेण सशयाऽऽद्यभावस्वभावेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तु येन तत्प्रमाणम्॥
'स्व-पर-व्यवसायि ज्ञान प्रमाणम्।' —रत्नाकरावतारिका १ परि.

(घ) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २२२

सम्मद्दिट्ठिउववन्नगा य ।[1] एवं अणंतर-परंपर-पज्जत्ताऽपज्जत्ता य उवउत्ता अणुवउत्ता । तत्थ णं जे ते उवउत्ता ते जाणंति पासंति । से तेणट्ठेणं०, तं चेव ।

[३०-२ प्र] भगवन् ! कितने ही देव यावत् जानते-देखते हैं, कितने ही नही जानते-देखते; ऐसा किस कारण से कहा जाता है ?

[३०-१ उ.] गौतम ! वैमानिक देव दो प्रकार के कहे गए हैं, वे इस प्रकार है—मायी-मिथ्यादृष्टिरूप से उत्पन्न और अमायीसम्यग्दृष्टिरूप से उत्पन्न । [इन दोनो मे से जो मायी-मिथ्यादृष्टिरूप से उत्पन्न हुए है, वे (वैमानिक देव केवली के प्रकृष्ट-मन-वचन को) नही जानते-देखते तथा जो अमायी सम्यग्दृष्टिरूप से उत्पन्न हुए हैं, वे जानते-देखते हैं ।]

[प्र] भगवन् ! यह किस कारण से कहा जाता है कि अमायी सम्यग्दृष्टि वैमानिक देव यावत् जानते-देखते हैं ?

[उ] गौतम ! अमायी सम्यग्दृष्टि वैमानिक देव दो प्रकार के कहे गए हैं, यथा—अनन्तरोपपन्नक और परम्परोपपन्नक । इनमे से जो अनन्तरोपपन्नक है, वे नही जानते-देखते, किन्तु जो परम्परोपपन्नक हैं, वे जानते-देखते हैं ।

[प्र] भगवन् ! परम्परोपपन्नक वैमानिक देव जानते-देखते हैं, ऐसा कहने का क्या कारण है ?

[उ] गौतम ! परम्परोपपन्नक वैमानिक देव दो प्रकार के कहे गए हैं, यथा—पर्याप्त और अपर्याप्त । इनमे से जो पर्याप्त हैं, वे इसे जानते-देखते हैं, किन्तु जो अपर्याप्त वैमानिक देव है, वे नही जानते-देखते ।]

इसी तरह अनन्तरोपपन्नक-परम्परोपपन्नक, पर्याप्त-अपर्याप्त, एवं उपयोगयुक्त (उपयुक्त)-उपयोगरहित (अनुपयुक्त) इस प्रकार के वैमानिक देवो मे से जो उपयोगयुक्त (उपयुक्त) वैमानिक देव है, वे ही (केवली के प्रकृष्ट मन एव वचन को) जानते-देखते है । इसी कारण से ऐसा कहा गया है कि कितने ही वैमानिक देव जानते-देखते हैं, और कितने ही नही जानते-देखते ।

विवेचन—केवली के प्रकृष्ट मन-वचन को जानने-देखने मे समर्थ वैमानिक देव—प्रस्तुत (३० वे) सूत्र मे केवली के प्रकृष्ट मन और वचन को कौन-से वैमानिक देव जानते है, कौन-से नही जानते ? इस विषय मे शका उठाकर सिद्धान्तसम्मत समाधान प्रस्तुत किया गया है ।

निष्कर्ष—जो वैमानिक देव मायी-मिथ्यादृष्टि है, उनको सम्यग्ज्ञान नही होता, अमायी

---

१ वृत्तिकार के अनुसार वाचनान्तर मे '**अमायिसम्मदिट्ठिउववन्नगा य**' के बाद 'एव अणतर' -- तक निम्नोक्त सूत्र-पाठ साक्षात् उपलब्ध है—

तत्थ ण जे ते माइमिच्छाविट्ठीउववन्नगा ते न याणति न पासंति । तत्थ ण जे ते अमाईसम्माविट्ठीउववन्नगा ते ण जाणंति पासति । से केणट्ठे ण एव वु० अमाईसम्मदिट्ठी जाव पा० ? गोयमा । अमाईसम्मदिट्ठी दुविहा पण्णत्ता—अणंतरोववन्नगा य परपरोववन्नगा य । तत्थ अणंतरोववन्नगा न जा०, परंपरोववन्नगा जाणंति । से केणट्ठे ण भंते ! एव वुच्चइ, परपरोववन्नगा जाव जाणंति ? गोयमा ! परंपरोववन्नगा दुविहा पण्णत्ता—पज्जत्तगा अपज्जत्तगा य । पज्जत्ता जा० । अपज्जत्तगा न जा० ।

सम्यग्दृष्टि वैमानिको मे से जो अनन्तरोपपन्नक होते हैं, उन्हे भी ज्ञान नही होता, तथा परम्परोपपन्नक वैमानिको मे भी जो अपर्याप्त होते हैं, उन्हें भी ज्ञान नहीं होता, इसी प्रकार जो पर्याप्त वैमानिक देव हैं, उनमे जो उपयोगयुक्त होता है, वही केवली के प्रकृष्ट मन-वचन को जान-देख सकता है, उपयोगरहित नही। तात्पर्य यह है कि जो वैमानिक देव अमायी सम्यग्दृष्टि, परम्परोपपन्नक पर्याप्त एवं उपयोगयुक्त होते हैं,[1] वे ही केवली के प्रकृष्ट मन-वचन को जान-देख सकते है।

अनुत्तरौपपातिक देवो का असीम मनोद्रव्य-सामर्थ्य और उपशान्तमोहत्व

३१. [१] पभू णं भंते ! अणुत्तरोववातिया देवा तत्थगया चेव समाणा इहगतेण केवलिणा सद्धि आलावं वा सलावं वा करेत्तए ?

हंता, पभू।

[३१-१ प्र] भगवन् ! क्या अनुत्तरौपपातिक (अनुत्तरविमानो मे उत्पन्न हुए) देव अपने स्थान पर रहे हुए ही, यहाँ रहे हुए केवली के साथ आलाप (एक बार बातचीत) और सलाप (बार-बार बातचीत) करने मे समर्थ हैं ?

[३१-१ उ.] गौतम ! हाँ, (वे ऐसा करने मे) समर्थ हैं।

[२] से केणट्ठेणं जाव पभू णं अणुत्तरोववातिया देवा जाव करेत्तए ?

गोयमा ! जं णं अणुत्तरोववातिया देवा तत्थगता चेव समाणा अट्ठं वा हेउं वा पसिणं वा कारणं वा वागरणं वा पुच्छंति, तं णं इहगते केवली अट्ठं वा जाव वागरणं वा वागरेति। से तेणट्ठेणं०।

[३१-२ प्र] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि अनुत्तरौपपातिक देव यावत् आलाप और सलाप करने मे समर्थ हैं ?

[३१-२ उ] हे गौतम ! अनुत्तरौपपतिक देव अपने स्थान पर रहे हुए ही, जो अर्थ, हेतु, प्रश्न, कारण अथवा व्याकरण (व्याख्या) पूछते हैं, उस (अर्थ, हेतु आदि) का उत्तर यहाँ रहे हुए केवली भगवान् देते हैं। इस कारण से यहाँ कहा गया है कि अनुत्तरौपपतिक देव यावत् आलाप-सलाप करने मे समर्थ हैं।

३२. [१] जं णं भंते ! इहगए चेव केवली अट्ठं वा जाव वागरेति तं णं अणुत्तरोववातिया देवा तत्थगता चेव समाणा जाणंति, पासंति ?

हता, जाणंति पासंति।

[३२-१ प्र] भगवन् ! केवली भगवान् यहाँ रहे हुए जिस अर्थ, यावत् व्याकरण का उत्तर देते है, क्या उस उत्तर को वहाँ रहे हुए अनुत्तरौपपातिक देव जानते-देखते है ?

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसूत्र (मूलपाठटिप्पणयुक्त), पृ. २०१

(ख) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्राक २२३

[३२-१ उ] हाँ गौतम ! वे जानते-देखते है।

[२] से केणट्ठे जाव पासंति ?

गोयमा ! तेसि णं देवाणं अणंताओ मणोदव्ववग्गणाओ लद्धाओ पत्ताओ अभिसमन्नागताओ भवंति। से तेणट्ठेणं जं णं इहगते केवली जाव पा०।

[३२-२ प्र] भगवन् ! ऐसा किस कारण से (कहा जाता है कि वहाँ रहे हुए अनुत्तरोपपातिक देव, यहाँ रहे हुए केवली के द्वारा प्रदत्त उत्तर को) जानते-देखते है ?

[३२-२ उ] गौतम ! उन देवो को अनन्त मनोद्रव्य-वर्गणा लब्ध (उपलब्ध) हैं, प्राप्त है, अभिसमन्वागत (अभिमुख समानीत=सम्मुख की हुई) है। इस कारण से यहाँ विराजित केवली भगवान् द्वारा कथित अर्थ, हेतु आदि को वे वहाँ रहे हुए ही जान-देख लेते हैं।

३३. अणुत्तरोववातिया णं भंते ! देवा किं उदिण्णमोहा उवसंतमोहा खीणमोहा ?

गोयमा ! उदिण्णमोहा, उवसंतमोहा, नो खीणमोहा।

[३३ प्र] भगवन् ! क्या अनुत्तरोपपातिक देव उदीर्णमोह हैं, उपशान्त-मोह है, अथवा क्षीणमोह हैं ?

[३३ उ] गौतम ! वे उदीर्ण-मोह नही हैं, उपशान्तमोह हैं, क्षीणमोह नहीं है।

विवेचन—अनुत्तरौपपातिक देवों का असीम मनोद्रव्यसामर्थ्य और उपशान्तमोहत्व—प्रस्तुत त्रिसूत्री मे अनुत्तरौपपातिक देवो की विशिष्ट मानसिकशक्ति और उसकी उपलब्धि के कारण का परिचय दिया गया है।

सार निष्कर्ष—(१) अनुत्तरोपपातिक देव स्वस्थान मे रहे हुए ही यहाँ विराजित केवली के साथ (मनोगत) आलाप-संलाप कर सकते है, (२) वे अपने स्थान मे रहे हुए यहाँ विराजित केवली से प्रश्नादि पूछते हैं और केवली द्वारा प्रदत्त उत्तर को जानते देखते है, (३) क्योंकि उन्हे अनन्त मनोद्रव्यवर्गणा उपलब्ध, प्राप्त और अभिमुखसमानीत हैं, (४) उनका मोह उपशान्त है, किन्तु वे उदीर्णमोह या क्षीणमोह नही है।

अनुत्तरौपपातिक देवों का अनन्त मनोद्रव्य-सामर्थ्य—अनुत्तरौपपातिक देवो के अवधिज्ञान का विषय सम्भिन्न लोकनाडी (लोकनाडी से कुछ कम) है। जो अवधिज्ञान लोकनाडी का ग्राहक (ज्ञाता) होता है, वह असीम मनोवर्गणा ग्राहक होता ही है, क्योंकि जिस अवधिज्ञान का विषय लोक का संख्येय भाग होता है, वह भी मनोद्रव्य का ग्राहक होता है, तो फिर जिस अवधिज्ञान का विषय सम्भिन्न लोकनाडी है, वह मनोद्रव्य का ग्राहक हो, इसमे सन्देह ही क्या ? इसलिए अनुत्तरविमान-वासी देवों का मनोद्रव्यसामर्थ्य असीम है।

अनुत्तरौपपातिक देव उपशान्तमोह हैं—अनुत्तरौपपातिक देवों के वेदमोहनीय का उदय उत्कट नही है, इसलिए वे उदीर्णमोह नही हैं, वे क्षीणमोह भी नही, क्योंकि उनमे क्षपक श्रेणी का अभाव

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २२३

है; किन्तु उनमे मैथुन का कथमपि सद्भाव न होने से तथा वेदमोहनीय अनुत्कट होने से वे 'उपशान्त-मोह' कहे गए है।

अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञानी केवली इन्द्रियों से नहीं जानते-देखते

३४. [१] केवली णं भंते ! आयाणेहिं जाणइ, पासइ ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

[३४-१ प्र] भगवन् ! क्या केवली भगवान् आदानो (इन्द्रियो) से जानते और देखते है ?

[३४-१ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है।

[२] से केणट्ठेण जाव केवली णं आयाणेहिं न जाणति, न पासति ?

गोयमा ! केवली णं पुरत्थिमेण मियं पि जाणति, अमियं पि जाणइ जाव[१] निव्वुडे दसणे केवलिस्स। से तेणट्ठेण०।

[३४-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से केवली भगवान् इन्द्रियो (आदानो) से नही जानते-देखते ?

[३४-२ उ] गौतम ! केवली भगवान् पूर्वदिशा मे मित (सीमित) भी जानते-देखते है, अमित (असीम) भी जानते-देखते है, यावत् केवली भगवान् का (ज्ञान और) दर्शन निरावरण है। इस कारण से कहा गया है कि वे इन्द्रियो से नही जानते-देखते।

विवेचन—अतीन्द्रियप्रत्यक्षज्ञानी केवली इन्द्रियों से नहीं जानते-देखते—प्रस्तुत सूत्र मे यह सैद्धान्तिक प्ररूपणा की गई है कि केवलज्ञानी का दर्शन और ज्ञान परिपूर्ण एव निरावरण होने के कारण उन्हे इन्द्रियो से जानने-देखने की आवश्यकता नही पडती।

केवली भगवान् का वर्तमान और भविष्य में अवगाहन-सामर्थ्य

३५. [१] केवली णं भंते ! अस्सि समयसि जेसु आगासपदेसेसु हत्थं वा पादं वा बाहं वा ऊरुं वा ओगाहित्ताणं चिट्ठति, पभू णं भंते ! केवली सेयकालंसि वि तेसु चेव आगासपदेसेसु हत्थं वा जाव ओगाहित्ताणं चिट्ठित्तए ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे।

[३५-१ प्र] भगवन् ! केवली भगवान् इस समय (वर्त्तमान) मे जिन आकाश-प्रदेशों पर अपने हाथ, पैर, बाहू और उरू (जघा) को अवगाहित करके रहते हैं, क्या भविष्यकाल मे भी वे उन्ही आकाशप्रदेशो पर अपने हाथ आदि को अवगाहित करके रह सकते हैं ?

[३५-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नही है।

---

१. 'जाव' शब्द से यहाँ शतक ५ उ. ४, सू. ४-२ मे अंकित पाठ—**'एव दाहिणेणं'** से लेकर **'निव्वुडे दसणे केवलिस्स'** तक समझना चाहिए।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! जाव केवली णं अस्सिं समयंसि जेसु आगासपदेसेसु हत्थं वा जाव चिट्ठति नो णं पभू केवली सेयकालंसि वि तेसु चेव आगासपदेसेसु हत्थं वा जाव चिट्ठित्तए ?

गोयमा ! केवलिस्स णं वीरियसजोगसद्दव्वताए चलाइं उवगरणाइं भवंति चलोवगरणट्ठयाए य णं केवली अस्सिं समयंसि जेसु आगासपदेसेसु हत्थं वा जाव चिट्ठति णो णं पभू केवली सेयकालंसि वि तेसु चेव जाव चिट्ठित्तए। से तेणट्ठेणं जाव वुच्चइ—केवली णं अस्सिं समयंसि जाव चिट्ठित्तए ?

[३५-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि केवली भगवान् इस समय मे जिन आकाशप्रदेशो पर अपने हाथ आदि को यावत् अवगाढ करके रहते है, भविष्यकाल मे वे उन्ही आकाशप्रदेशो पर अपने हाथ आदि को यावत् अवगाढ करके रहने मे समर्थ नही हैं ?

[३५-२ उ] गौतम ! केवली भगवान् का जीवद्रव्य वीर्यप्रधान योग वाला होता है, इससे उनके हाथ आदि उपकरण (अंगोपांग) चलायमान होते हैं। हाथ आदि अंगों के चलित होते रहने से वर्तमान (इस) समय मे जिन आकाशप्रदेशो मे केवली भगवान् अपने हाथ आदि को अवगाहित करके रहे हुए हैं, उन्ही आकाशप्रदेशो पर भविष्यत्काल मे वे हाथ आदि को अवगाहित करके नहीं रह सकते। इसी कारण से यह कहा गया है कि केवली भगवान् इस समय मे जिन आकाशप्रदेशो पर अपने हाथ, पैर यावत् उरू को अवगाहित करके रहते हैं, उस समय के पश्चात् आगामी समय मे वे उन्ही आकाशप्रदेशो पर अपने हाथ आदि को अवगाहित करके नही रह सकते।

विवेचन—केवली भगवान् का वर्तमान और भविष्य में अवगाहनसामर्थ्य—प्रस्तुत सूत्र मे केवली भगवान् के अवगाहन-सामर्थ्य के विषय मे प्ररूपणा की गई है कि वे वर्तमान समय मे जिन आकाशप्रदेशो पर अपने हाथ आदि को अवगाहित करके रहते हैं, भविष्य मे उन्ही आकाशप्रदेशो को अवगाहित करके रहेगे ऐसा नही है, क्योकि उनका जीवद्रव्य वीर्यप्रधान योग वाला होने से उनके अंग चलित होते रहते हैं, इसलिए वे उन्ही आकाशप्रदेशो को उस समय के अनन्तर भविष्यत्काल मे अवगाहित नही कर सकते।[1]

कठिन शब्दों के अर्थ—**अस्सिं समयंसि** = इस(वर्तमान)समय मे। **ऊरु** = जंघा। **सेयंकालंसि** = भविष्यत्काल मे। **वीरियसजोगसद्दव्वताए** = वीर्यप्रधान योग वाला स्व (जीव) द्रव्य होने से। **चलोवकरणट्ठयाए** = उपकरण (हाथ आदि अंगोपांग) चल—(अस्थिर) होने के कारण।[2]

चतुर्दश पूर्वधारी का लब्धि-सामर्थ्य-निरूपण

३६ **[१] पभू णं भंते ! चोद्दसपुव्वी घडाओ घडसहस्सं, पडाओ पडसहस्सं, कडाओ कडसहस्सं, रहाओ रहसहस्सं, छत्ताओ छत्तसहस्सं, दंडाओ दंडसहस्सं अभिनिव्वत्तित्ता उवदंसेत्तए ?**

हंता, पभू।

[३६-१] भगवन् ! क्या चतुर्दशपूर्वधारी (श्रुतकेवली) एक घडे मे से हजार घडे, एक वस्त्र मे से हजार वस्त्र, एक कट (चटाई) मे से हजार कट, एक रथ मे से हजार रथ, एक छत्र में से हजार छत्र और एक दण्ड मे से हजार दण्ड करके दिखलाने में समर्थ है ?

[३६-१ उ.] हाँ, गौतम ! वे ऐसा करके दिखलाने मे समर्थ हैं।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. २०३

२ भगवतीसूत्र अ. वृत्ति पत्रांक २२४

[२] से केणट्ठेणं पभू चोद्दसपुव्वी जाव उवदंसेत्तए ?

गोयमा ! चउद्दसपुव्विस्स णं अणंताइं दव्वाइं उक्करियाभेदेणं भिज्जमाणाइं लद्धाइं पत्ताइं अभिसमन्नागताइं भवंति । से तेणट्ठेणं जाव उवदंसित्तए ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। पंचमे सए : चउत्थो उद्देसओ समत्तो ।।

[३३-२ प्र] भगवन् ! चतुर्दशपूर्वधारी एक घट में से हजार घट यावत् करके दिखलाने (प्रदर्शित करने) मे कैसे समर्थ हैं ?

[३३-२ उ] गौतम ! चतुर्दशपूर्वधारी श्रुतकेवली ने उत्करिका भेद द्वारा भेदे जाते हुए अनन्त द्रव्यो को लब्ध किया है, प्राप्त किया है तथा अभिसमन्वागत किया है। इस कारण से वह उपर्युक्त प्रकार से एक घट से हजार घट आदि करके दिखलाने मे समर्थ है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कहकर यावत् गौतम स्वामी विचरण करने लगे।

विवेचन—चतुर्दश-पूर्वधारी का लब्धि-सामर्थ्य—प्रस्तुत सूत्र मे निरूपण किया गया है कि चतुर्दशपूर्वधारी श्रुतकेवली मे श्रुत से उत्पन्न हुई एक प्रकार की लब्धि से उत्करिकाभेद से भिद्यमान अनन्तद्रव्यो के आश्रय द्वारा एक घट, पट, कट, रथ, छत्र और दण्ड से सहस्र घट-पट-कटादि बनाकर दिखला सकने का सामर्थ्य है।[1]

उत्करिका भेद : स्वरूप और विश्लेषण—पुद्गलो को पाच प्रकार से खण्डित (भिन्न-टुकडे-टुकडे) किया जाता है। इन्हे 'पुद्गलो के भेद' कहते हैं, वे पाच प्रकार के है—(१) खण्डभेद, (२) प्रतरभेद, (३) चूर्णिकाभेद, (४) अनुतटिका-भेद और (५) उत्करिका भेद। जैसे ढेले को फेंकने पर उसके टुकडे-टुकडे हो जाते है, इसी तरह लोहे, ताम्बे आदि पुद्गलो के भेद को **'खण्डभेद'** कहते है। एक तह के ऊपर दूसरी तह का होना **'प्रतरभेद'** कहलाता है। जैसे—अभ्रक (भोडल) भोजपत्र आदि मे प्रतरभेद पाया जाता है। तिल, गेहूँ, आदि के पिस जाने पर भेद होना, **'चूर्णिका-भेद'** कहलाता है। तालाब आदि मे फटी हुई दरार के समान पुद्गलो के भेद को **'अनुतटिकाभेद'** कहते हैं। एरण्ड के बीज के समान पुद्गलो के भेद को **'उत्करिकाभेद'** कहते हैं।[2]

लब्ध, प्राप्त और अभिसमन्वागत की प्रकरणसंगत व्याख्या—**लब्ध**=लब्धिविशेष द्वारा ग्रहण करने योग्य बनाये हुए, **प्राप्त**=लब्धि-विशेष द्वारा ग्रहण किये हुए, **अभिसमन्वागत**=घटादि रूप से परिणमाने के लिए प्रारम्भ किये हुए। इन तीनो के द्वारा चतुर्दशपूर्वधारी श्रुत केवली एक घट आदि से हजार घट आदि आहारक शरीर की तरह बनाकर मनुष्यो को दिखला सकता है।[3]

।। पंचम शतक : चतुर्थ उद्देशक समाप्त ।।

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा १, पृ. २०३
   (ख) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २२४
२. (क) प्रज्ञापनासूत्र पद ११, भाषापद (पृ २६६ स) मे विस्तृत टिप्पण।
   (ख) प्रज्ञापना मलयगिरि टीका, पद ११ में संक्षिप्त विवेचन।
   (ग) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २२४
३. भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २२४

पंचमो उद्देसओ : 'छउमत्थ'

पंचम उद्देशक : 'छद्मस्थ'

छद्मस्थ मानव सिद्ध हो सकता है, या केवली होकर ? : एक चर्चा

१. छउमत्थे णं भंते ! मणूसे तीयमणंतं सासतं समयं केवलेणं संजमेणं० ?

जहा पढमसए चउत्थुद्देसे आलावगा तहा नेयव्वं जाव 'अलमत्थु' त्ति वत्तव्वं सिया।

[१ प्र] भगवन् ! क्या छद्मस्थ मनुष्य शाश्वत, अनन्त, अतीत काल (भूतकाल) मे केवल संयम द्वारा सिद्ध हुआ है ?

[१ उ.] गौतम ! जिस प्रकार प्रथम शतक के चतुर्थ उद्देशक मे कहा है, वैसा ही आलापक यहाँ भी कहना चाहिए, (और वह) यावत् 'अलमस्तु' कहा जा सकता है, यहाँ तक कहना चाहिए।

विवेचन—छद्मस्थ मानव सिद्ध हो सकता है, या केवली होकर ?—प्रस्तुत सूत्र मे छद्मस्थ मनुष्य केवल सयम द्वारा सिद्ध (मुक्त) हो सकता है या केवली होकर ही सिद्ध हो सकता है; यह प्रश्न उठाकर प्रथम शतकीय चतुर्थ उद्देशक मे प्ररूपित समाधान का अतिदेश किया गया है। वहाँ सक्षेप मे यही समाधान है कि केवलज्ञानी हुए बिना कोई भी व्यक्ति सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वदु खान्तकर, परिनिर्वाण प्राप्त, उत्पन्न ज्ञान-दर्शनधर, जिन, अर्हत् केवली और 'अलमस्तु' नही हो सकता।[1]

समस्त प्राणियों द्वारा एवम्भूत-अनेवम्भूतवेदन सम्बन्धी प्ररूपणा

२ [१] अन्नउत्थिया ण भंते ! एवमाइक्खंति जाव परूवेंति सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता एवंभूयं वेदणं वेदेंति, से कहमेयं भंते ! एवं ?

गोयमा ! जं णं अन्नउत्थिया एवमाइक्खंति जाव वेदेंति, जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु। अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि—अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता एवंभूयं वेदणं वेदेंति, अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता अणेवंभूयं वेदणं वेदेंति।

[२-१ प्र] भगवन् ! अन्यतीर्थिक ऐसा कहते हैं यावत् प्ररूपण करते हैं कि समस्त प्राण, समस्त भूत, समस्त जीव और समस्त सत्त्व, एवंभूत (जिस प्रकार कर्म बाँधा है, उसी प्रकार) वेदना वेदते (भोगते = अनुभव करते) है, भगवन् ! यह ऐसा कैसे है ?

[२-१ उ] गौतम ! वे अन्यतीर्थिक जो इस प्रकार कहते है, यावत् प्ररूपणा करते है कि सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्व एवंभूत वेदना वेदते हैं, उन्होंने यह मिथ्या कथन किया है। हे गौतम !

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति

(ख) भगवतीसूत्र प्रथम शतक चतुर्थ उद्देशक, सू. १५९ से १६३ तक (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) प्रथमखण्ड पृ. १३७-१३८

मैं यो कहता हूँ, यावत् प्ररूपणा करता हूँ कि कितने ही प्राण, भूत, जीव और सत्त्व, एवभूत वेदना वेदते हैं और कितने ही प्राण, भूत, जीव और सत्त्व, अनेवंभूत (जिस प्रकार से कर्म बांधा है, उससे भिन्न प्रकार से) वेदना वेदते हैं।

[२] से केणट्ठेणं अत्थेगइया० त चेव उच्चारेयव्वं ?

गोयमा ! जे णं पाणा भूया जीवा सत्ता जहा कडा कम्मा तहा वेदणं वेदेंति ते णं पाणा भूया जीवा सत्ता एवंभूयं वेदणं वेदति। जे णं पाणा भूया जीवा सत्ता जहा कडा कम्मा नो तहा वेदणं वेदेंति ते णं पाणा भूया जीवा सत्ता अणेवभूयं वेदणं वेदेंति। से तेणट्ठेण० तहेव।

[२-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है, कि कितने ही प्राण भूत आदि एवंभूत और कितने ही अनेवंभूत वेदना वेदते हैं ?

[२-२ उ.] गौतम ! जो प्राण, भूत, जीव और सत्त्व, जिस प्रकार स्वय ने कर्म किये है, उसी प्रकार वेदना वेदते हैं (उसी प्रकार उदय मे आने पर भोगते—अनुभव करते) है, वे प्राण, भूत, जीव और सत्त्व, एवभूत वेदना वेदते हैं किन्तु जो प्राण, भूत, जीव और सत्त्व जिस प्रकार कर्म किये हैं, उसी प्रकार वेदना नही वेदते (भिन्न प्रकार से वेदन करते हैं) वे प्राण, भूत, जीव और सत्त्व अनेवभूत वेदना वेदते हैं। इसी कारण से ऐसा कहा जाता है कि कतिपय प्राण भूतादि एवम्भूत वेदना वेदते हैं और कतिपय प्राण भूतादि अनेवभूत वेदना वेदते है।

३. [१] नेरतिया ण भंते ! किं एवंभूत वेदण वेदेंति ? अणेवभूयं वेदणं वेदेंति ?

गोयमा ! नेरइया णं एवभूयं पि वेदणं वेदेंति, अणेवंभूयं पि वेदणं वेदेंति।

[३-१ प्र] भगवन् ! नैरयिक क्या एवम्भूत वेदना वेदते है, अथवा अनेवम्भूत वेदना वेदते हैं ?

[३-१ उ] गौतम ! नैरयिक एवम्भूत वेदना भी वेदते हैं और अनेवम्भूत वेदना भी वेदते है।

[२] से केणट्ठेणं० ? तं चेव।

गोयमा ! जे णं नेरइया जहा कडा कम्मा तहा वेयणं वेदेंति ते ण नेरइया एवंभूय वेदणं वेदेंति। जे णं नेरतिया जहा कडा कम्मा णो तहा वेदणं वेदेंति ते णं नेरइया अणेवभूयं वेदण वेदेंति। से तेणट्ठेणं०।

[३-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ? (पूर्ववत् सारा पाठ यहाँ कहना चाहिए।)

[३-२ उ] गौतम ! जो नैरयिक अपने किये हुए कर्मों के अनुसार वेदना वेदते हैं वे एवम्भूत वेदना वेदते हैं और जो नैरयिक अपने किये हुए कर्मों के अनुसार वेदना नही वेदते; (अपितु भिन्न प्रकार से वेदते हैं;) वे अनेवम्भूत वेदना वेदते हैं।

४. एवं जाव वेमाणिया। संसारमंडलं नेयव्वं।

[४] इसी प्रकार यावत् वैमानिक-(दण्डक) पर्यन्त ससार मण्डल (ससारी जीवो के समूह) के विषय मे जानना चाहिए।

विवेचन—समस्त प्राणियो द्वारा एवम्भूत-अनेवम्भूतवेदन-सम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रो मे जीवो द्वारा कर्मफलवेदन के विषय मे क्रमशः चार तथ्यो का निरूपण, शास्त्रकार ने किया है—

(१) अन्यतीर्थिको का मत यह है कि सर्व प्राण भूत, जीव और सत्त्व एवम्भूत वेदना वेदते है।

(२) तीर्थंकर भगवन् महावीर का कथन यह है कि यह मान्यता यथार्थ नही है। कतिपय जीव एवम्भूत वेदना वेदते है और कतिपय जीव अनेवभूत वेदना वेदते हैं।

(३) इसका कारण यह है कि जो प्राणी, जैसे कर्म किये है उसी प्रकार से असातावेदनीयादि कर्म का उदय होने पर वेदना को वेद (भोग) ते है, वे एवम्भूतवेदनावेदक होते हैं, इससे बिपरीत जो कर्मबन्ध के अनुसार वेदना का वेदन नही करते, वे अनेवम्भूतवेदनावेदक होते हैं।

(४) यही प्ररूपणा नैरयिको के दण्डक से लेकर वैमानिकदण्डक-पर्यन्त समस्त ससारी जीवो के सम्बन्ध मे समझनी चाहिए।[1]

एवम्भूतवेदन और अनेवम्भूतवेदन का रहस्य—जिन प्राणियो ने जिस प्रकार से कर्म बाधे है, उन कर्मों के उदय आने पर वे उसी प्रकार से असाता आदि वेदना भोग लेते है, उनका वह वेदन एवम्भूतवेदनावेदन है, किन्तु जो प्राणी जिस प्रकार से कर्म बाधते हैं, उसी प्रकार से उनके फलस्वरूप वेदना नही वेदते, उनका वह वेदन—अनेवम्भूतवेदना वेदन है। जैसे—कई व्यक्ति दीर्घ-काल मे भोगने योग्य आयुष्य आदि कर्मों की उदीरणा करके अल्पकाल मे ही भोग लेते हैं, उनका वह वेदन अनेवम्भूत वेदना-वेदन कहलाएगा। अन्यथा, अपमृत्यु (अकालमृत्यु) का अथवा युद्ध आदि में लाखो मनुष्यो का एक साथ एक ही समय मे मरण कैसे सगत होगा!

आगमोक्त सिद्धान्त के अनुसार जिन जीवो के जिन कर्मों का स्थितिघात रसघात प्रकृति-सक्रमण आदि हो जाते है, वे अनेवम्भूत वेदना वेदते है, किन्तु जिन जीवो के स्थितिघात, रसघात आदि नही होते, वे एवम्भूत वेदना[2] वेदते हैं।

अवसर्पिणी में हर कुलकर तीर्थंकरादि की संख्या का निरूपण

[[५] जंबुद्दीवे णं भंते! इह भारहे वासे इमीसे उस्सप्पिणीए समाए कइ कुलगरा होत्था?

गोयमा! सत्त।

[५ प्र.] भगवन्! जम्बूद्वीप मे, इस भारतवर्ष मे, इस अवसर्पिणी काल मे कितने कुलकर हुए हैं?

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा १, पृ. २०४

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २२५

[५ उ] गौतम ! (जम्बूद्वीप मे, इस भारतवर्ष मे, इस अवसर्पिणी काल मे) सात कुलकर हुए हैं।

६. एव चेव तित्थयरमायरो, पियरो, पढमा सिस्सिणीओ, चक्कवट्टिमायरो, इत्थिरयणं, बलदेवा वासुदेवा वासुदेवमायरो, पियरो, एएसिं पडिसत्तू जहा समवाए णामपरिवाडीए तहा णेयव्वा।[1]]

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरइ।

॥ पंचम सए : पंचमो उद्देसओ समत्तो ॥

[६] इसी तरह तीर्थंकरो की माता, पिता, प्रथम शिष्याएँ, चक्रवर्तियो की माताएँ, स्त्रीरत्न, बलदेव, वासुदेव, वासुदेवो के माता-पिता, प्रतिवासुदेव आदि का कथन जिस प्रकार 'समवायागसूत्र' के नाम की परिपाटी मे किया गया है, उसी प्रकार यहाँ भी कहना चाहिए।]

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कह कर यावत् विचरने लगे।

विवेचन—अवसर्पिणीकाल में हुए कुलकर-तीर्थंकरादि की सख्या का निरूपण—प्रस्तुत दो सूत्रो मे भरतक्षेत्र मे हुए कुलकर तथा तीर्थंकरमाता आदि की सख्या का प्रतिपादन समवायागसूत्र के अतिदेशपूर्वक किया गया है।

कुलकर—अपने-अपने युग मे जो मानवकुलो की मर्यादा निर्धारित करते है, वे कुलकर कहलाते हैं। वर्त्तमान अवसर्पिणीकाल मे हुए ७ कुलकर ये है—(१) विमलवाहन (२) चक्षुषमान (३) यशस्वान् (४) अभिचन्द्र (५) प्रसेनजित (६) मरुदेव और (७) नाभि। इनकी भार्याओ के नाम क्रमश ये है—(१) चन्द्रयशा, (२) चन्द्रकान्ता, (३) सुरूपा, (४) प्रतिरूपा, (५) चक्षुष्कान्ता, (६) श्रीकान्ता और (७) मरुदेवी।

चौबीस तीर्थंकरो के नाम—(१) श्रीऋषभदेव (आदिनाथ) स्वामी, (२) श्रीअजितनाथ स्वामी (३) श्रीसम्भवनाथस्वामी, (४) श्रीअभिनन्दनस्वामी, (५) श्रीसुमतिनाथस्वामी, (६) श्रीपद्मप्रभ-स्वामी, (७) श्रीसुपार्श्वनाथस्वामी (८) श्रीचन्द्रप्रभस्वामी, (९) श्रीसुविधिनाथस्वामी (पुष्पदन्तस्वामी), (१०) श्रीशीतलनाथस्वामी, (११) श्रीश्रेयांसनाथस्वामी, (१२) श्रीवासुपूज्यस्वामी, (१३) श्रीविमलनाथस्वामी, (१४) श्रीअनन्तनाथस्वामी, (१५) श्री धर्मनाथस्वामी, (१६) श्रीशान्तिनाथस्वामी, (१७) श्रीकुन्थुनाथ स्वामी, (१८) श्रीअरनाथस्वामी,

---

१. यह पाठ आगमोदय समिति से प्रकाशित भगवतीसूत्र की अभयदेवसूरीयवृत्ति में नही है, वहाँ वृत्तिकार ने इस पाठ का सकेत अवश्य किया है—**'अथवा इह स्थाने वाचनान्तरे कुलकर-तीर्थंकरादि वक्तव्यता दृश्यते'** (अथवा इस स्थान मे अन्य वाचना मे कुलकर-तीर्थंकर आदि की वक्तव्यता दृष्टिगोचर होती है)। यही कारण है कि भगवती. टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त खण्ड २, पृ. १९५, तथा भगवती. हिन्दी विवेचनयुक्त भा. २, पृ. ८३६ मे यह पाठ और इसका अनुवाद दिया गया है। —स०

(१९) श्रीमल्लिनाथस्वामी, (२०) श्रीमुनिसुव्रतस्वामी, (२१) श्रीनमिनाथस्वामी (२२) श्री अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) स्वामी, (२३) श्रीपार्श्वनाथस्वामी, और (२४) श्रीमहावीर (वर्धमान) स्वामी।

चौबीस तीर्थंकरों के पिता के नाम—(१) नाभि, (२) जितशत्रु, (३) जितारि, (४) सवर, (५) मेघ, (६) धर, (७) प्रतिष्ठ, (८) महासेन, (९) सुग्रीव, (१०) दृढ़रथ, (११) विष्णु, (१२) वसुपूज्य, (१३) कृतवर्मा, (१४) सिंहसेन, (१५) भानु, (१६) विश्वसेन, (१७) सूर, (१८) सुदर्शन, (१९) कुम्भ, (२०) सुमित्र, (२१) विजय, (२२) समुद्रविजय, (२३) अश्वसेन और (२४) सिद्धार्थ।

चौबीस तीर्थंकरों की माताओं के नाम—(१) मरुदेवी, (२) विजयादेवी, (३) सेना, (४) सिद्धार्था, (५) मगला, (६) सुसीमा, (७) पृथ्वी, (८) लक्ष्मणा (लक्षणा), (९) रामा, (१०) नन्दा, (११) विष्णु, (१२) जया, (१३) श्यामा, (१३) सुयशा, (१५) सुव्रता, (१६) अचिरा, (१७) श्री, (१८) देवी, (१९) प्रभावती, (२०) पद्मा, (२१) वप्रा, (२२) शिवा, (२३) वामा, और (२४) त्रिशलादेवी।

चौबीस तीर्थंकरों की प्रथम शिष्याओं के नाम—(१) ब्राह्मी, (२) फल्गु (फाल्गुनी), (३) श्यामा, (४) अजिता, (५) काश्यपी, (६) रति, (७) सोमा, (८) सुमना, (९) वारुणी, (१०) सुलशा (सुयशा), (११) धारणी, (१२) धरिणी, (१३) धरणीधरा (धरा), (१४) पद्मा, (१५) शिवा, (१६) श्रुति (सुभा), (१७) दामिनी (ऋजुका), (१८) रक्षिका (रक्षिता), (१९) बन्धुमती, (२०) पुष्पवती, (२१) अनिला (अमिला), (२२) यक्षदत्ता (अधिका), (२३) पुष्पचूला और (२४) चन्दना (चन्दनबाला)।

बारह चक्रवर्तियो के नाम—(१) भरत, (२) सगर, (३) मघवान् (४) सनत्कुमार, (५) शान्तिनाथ (६) कुन्थुनाथ, (७) अरनाथ, (८) सुभूम, (९) महापद्म, (१०) हरिषेण, (११) जय और (१२) ब्रह्मदत्त।

चक्रवर्तियो की माताओं के नाम—(१) सुमगला, (२) यशस्वती, (३) भद्रा, (४) सुदेवी, (५) अचिरा, (६) श्री, (७) देवी, (८) तारा, (९) ज्वाला, (१०) मेरा, (११) वप्रा और (१२) चुल्लणी।

चक्रवर्तियो के स्त्रीरत्नो के नाम—(१) सुभद्रा, (२) भद्रा, (३) सुनन्दा, (४) जया, (५) विजया, (६) कृष्णश्री, (७) सूर्यश्री, (८) पद्मश्री, (९) वसुन्धरा, (१०) देवी, (११) लक्ष्मीमती और (१२) कुरुमती।

नौ बलदेवों के नाम—(१) अचल, (२) विजय, (३) भद्र, (४) सुप्रभ, (५) सुदर्शन, (६) आनन्द, (७) नन्दन, (८) पद्म, और (९) राम।

नौ वासुदेवों के नाम—(१) त्रिपृष्ठ, (२) द्विपृष्ठ, (३) स्वयम्भू, (४) पुरुषोत्तम, (५) पुरुषसिंह, (६) पुरुष-पुण्डरीक, (७) दत्त, (८) नारायण और (९) कृष्ण।

नौ वासुदेवो की माताओ के नाम—(१) मृगावती, (२) उमा, (३) पृथ्वी, (४) सीता, (५) अम्बिका, (६) लक्ष्मीमती, (७) शेषवती, (८) कैकयी और (९) देवकी।

नौ वासुदेवों के पिताओं के नाम—(१) प्रजापति, (२) ब्रह्मा, (३) सोम, (४) रुद्र, (५) शिव, (६) महाशिव, (७) अग्निशिव, (८) दशरथ और (९) वासुदेव।

नौ वासुदेवों के प्रतिशत्रु—प्रतिवासुदेवो के नाम—(१) अश्वग्रीव, (२) तारक, (३) मेरक, (४) मधुकैटभ, (५) निशुम्भ, (६) बली, (७) प्रभराज (प्रह्लाद) (८) रावण और (९) जरासन्ध।[1]

इसके अतिरिक्त समवायागसूत्र मे भूतकालीन और भविष्यकालीन अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी के तीर्थंकरो और चक्रवर्त्तियो आदि के नामो का भी उल्लेख है, यहाँ विस्तारभय से उन्हे नही दे रहे हैं।

॥ पचम शतक : पचम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवतीसूत्र (हिन्दी विवेचन) भाग २, पृ. ८३७ से ८३९ तक
(ख) भगवतीसूत्र (स. पृ. १५० से १५५ तक)
(ग) आवश्यकनिर्युक्ति (प्रारम्भ)
(घ) भगवती० (टीकानुवाद-टिप्पणयुक्त) खण्ड २, पृ. १९५ से १९८ तक

छट्ठो उद्देसओ : 'आउ'

छठा उद्देशक : 'आयुष्य'

अल्पायु और दीर्घायु के कारणभूत कर्मबन्ध के कारणों का निरूपण

कहं णं भंते ! जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति ?

गोतमा ! तिहिं ठाणेहिं, तं जहा—पाणे अइवाएत्ता, मुसं वइत्ता, तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेत्ता, एवं खलु जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति।

[१ प्र.] भगवन् ! जीव अल्पायु के कारणभूत कर्म किस कारण से बाधते हैं ?

[१ उ] गौतम ! तीन कारणो से जीव अल्पायु के कारणभूत कर्म बाधते हैं—(१) प्राणियो की हिसा करके, (२) असत्य भाषण करके और (३) तथारूप श्रमण या माहन को अप्रासुक, अनेषणीय अशन, पान, खादिम और स्वादिम—(रूप चतुर्विध आहार) दे (प्रतिलाभित) कर। इस प्रकार (तीन कारण से) जीव अल्पायुष्कफल वाला (कम जीने का काणणभूत) कर्म बांधते है।

२. कहं णं भंते ! जीवा दीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति ?

गोयमा ! तिहिं ठाणेहिं—नो पाणे अतिवाइत्ता, नो मुसं वदित्ता, तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेत्ता, एवं खलु जीवा दीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति।

[२ प्र] भगवन् ! जीव दीर्घायु के कारणभूत कर्म कैसे बांधते है ?

[२ उ.] गौतम ! तीन कारणो से जीव दीर्घायु के कारणभूत कर्म बाधते है—(१) प्राणातिपात न करने से, (२) असत्य न बोलने से, और (३) तथारूप श्रमण और माहन को प्रासुक और एषणीय अशन, पान, खादिम और स्वादिम—(रूप चतुर्विध आहार) देने से। इस प्रकार (तीन कारणों) से जीव दीर्घायुष्क के (कारणभूत) कर्म का बन्ध करते है।

३. कहं णं भंते ! जीवा असुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति ?

गोयमा ! पाणे अतिवाइत्ता, मुसं वइत्ता, तहारूवं समणं वा माहणं वा हीलित्ता निंदित्ता खिंसित्ता गरहित्ता अवमन्नित्ता, अन्नतरेणं अमणुण्णेणं अपीतिकारएणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेत्ता, एवं खलु जीवा असुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति।

[३ प्र.] भगवन् ! जीव अशुभ दीर्घायु के कारणभूत कर्म किन कारणों से (कैसे) बाधते हैं ?

[३ उ.[गौतम ! प्राणियों की हिंसा करके, असत्य बोल कर, एवं तथारूप श्रमण और माहन की (जातिप्रकाश द्वारा) हीलना, (मन द्वारा) निन्दा, खिसना (लोगो के समक्ष) झिडकना, बदनाम

करना), गर्हा (जनता के समक्ष निन्दा) एवं अपमान करके, अमनोज्ञ और अप्रीतिकर अशन, पान, खादिम और स्वादिम (रूप चतुर्विध आहार) दे (प्रतिलाभित) करके। इस प्रकार (इन तीन कारणों से) जीव अशुभ दीर्घायु के कारणभूत कर्म बांधते हैं।

४ कहं णं भंते ! जीवा सुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति ?

गोयमा ! नो पाणे अतिवातित्ता, नो मुसं वइत्ता, तहारूवं समणं वा माहणं वा वंदित्ता नमंसित्ता जाव पज्जुवासित्ता, अन्नतरेणं मणुण्णेणं पीतिकारएणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेत्ता, एवं खलु जीवा सुभदीहाउयत्ताए कम्मं पकरेंति।

[४ प्र] भगवन् ! जीव शुभ दीर्घायु के कारणभूत कर्म किन कारणो से बाधते है ?

[४ उ] गौतम ! प्राणिहिंसा न करने से, असत्य न बोलने से, और तथारूप श्रमण या माहन को वन्दना, नमस्कार यावत् पर्युपासना करके मनोज्ञ एव प्रीतिकारक अशन, पान, खादिम और स्वादिम देने (प्रतिलाभित करने) से। इस प्रकार जीव (इन तीन कारणो से) शुभ दीर्घायु का कारणभूत कर्म बाधते हैं।

विवेचन —अल्पायु और दीर्घायु के कारणभूत कर्मबन्ध के कारणो का निरूपण— प्रस्तुत चार सूत्रों में क्रमश. अल्पायु, दीर्घायु, अशुभ दीर्घायु और शुभ दीर्घायु के कारणभूत कर्मबन्ध के कारणो पर प्रकाश डाला गया है।

अल्पायु और दीर्घायु का तथा उनके कारणो का रहस्य—प्रथम सूत्र मे अल्पायुबन्ध के कारण बतलाए गए हैं। यहाँ अल्प आयु, दीर्घ आयु की अपेक्षा से समझनी चाहिए, क्षुल्लकभवग्रहणरूप निगोद की आयु नही। अर्थात्—प्रासुक-एषणीय आहारादि लेने वाले मुनि को अप्रासुक-अनेषणीय आहारादि देने से जो अल्प आयु का बन्ध होना बताया गया है, उसका अर्थ इतना ही समझना चाहिए कि दीर्घायु की अपेक्षा जिसकी आयु थोडी है। जैनशास्त्र मे पारगत मुनि किसी सासारिक ऋद्धि-सम्पत्तियुक्त भोगी पुरुष की अल्प आयु मे मृत्यु सुनकर प्राय कहते हैं—इस व्यक्ति ने पूर्व जन्मों मे प्राणिवध आदि अशुभ कर्मों का आचरण किया होगा। अत. यहाँ अल्पायु का अर्थ—मानवदीर्घायु की अपेक्षा अल्प आयु पाना है।

इससे आगे के सूत्र मे दीर्घायुबन्ध के कारणो का निरूपण किया गया है, उनको देखते हुए प्रतीत होता है, यह दीर्घायु भी पूर्ववत् अल्पायु की अपेक्षा दीर्घायु समझनी चाहिए, वह भी सुखरूप) शुभ दीर्घायु ही यहाँ विवक्षित है, अशुभ दीर्घायु (कसाई, चोर आदि पापकर्म परायण व्यक्ति की दीर्घायु) नही। क्योंकि इस सूत्र मे उक्त दीर्घायु के तीन कारणो मे से तीसरे कारण में अन्तर है—जैसे तथारूप श्रमण-माहन को प्रासुक एषणीय आहार देने से दीर्घायुरूप फल मिलता है। किन्तु आगे के दो सूत्रो मे शुभ दीर्घायु और अशुभ दीर्घायुरूप फल के दो कारण पूर्व सूत्र निर्दिष्ट कारणो के समान ही है। तीसरे और चौथे सूत्र मे क्रमश तथारूप श्रमण-माहन को वन्दन-नमन-पर्युपासनापूर्वक मनोज्ञ-प्रीतिकर आहार देना शुभ दीर्घायु का और तथारूप श्रमण-माहन की हीलना-निन्दा आदि करके उसे अमनोज्ञ एव अप्रीतिकर आहार देना, अशुभ दीर्घायु का तीसरा कारण बताया गया है।[1]

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २२६-२२७

इसके अतिरिक्त अल्प-आयु के जो दो आरम्भिक कारण—प्राणातिपात और मृषावाद बताए गए हैं, वे भी यहाँ सभी प्रकार के प्राणातिपात और मृषावाद नहीं लिए जाते, अपितु प्रसगोपात्त तथारूप श्रमण को आहार देने के लिए जो आधाकर्मादि दोषयुक्त आहार तैयार किया जाता है, उसमें जो प्राणातिपात होता है उसका, तथा वह दोषयुक्त आहार साधु को देने के लिए जो झूठ बोला जाता है कि यह हमने अपने लिए बनाया है, आपको तनिक भी शका नहीं करनी चाहिए, इत्यादि रूप से जो मृषावाद होता यहाँ ग्रहण किया गया है।[1]

चूंकि आगे के अशुभ-दीर्घायु तथा शुभ-दीर्घायु के कारण बताने वाले दो सूत्रों में प्रासुक एषणीय तथा अप्रासुक अनेषणीय का उल्लेख नहीं है। वहाँ केवल प्रीतिकर या अप्रीतिकर आहार देने का उल्लेख है। इसलिए यहाँ जो प्रीतिपूर्वक मनोज्ञ आहार, अप्रासुक अनेषणीय दिया जाता है, उसे शुभ अल्पायु-बन्ध का कारण समझना चाहिए, अशुभ अल्पायुबन्ध का कारण नहीं।

दूसरे सूत्र मे दीर्घ-आयुबन्ध के कारणो का कथन है, वह भी शुभ दीर्घायु समझनी चाहिए जो जीवदया आदि धार्मिक कार्यों को करने से होती है। जैसे कि लोक मे दीर्घायुष्क पुरुष को देखकर कहा जाता है, इसने पूर्वजन्म में जीवदयादिरूप धर्मकृत्य किये होगे। देवगति मे अपेक्षाकृत शुभ दीर्घायु होती है।[2]

चूंकि अवहीलना, अवज्ञा मात्सर्य आदि करके दान देने मे जो प्राणातिपात एव मृषावाद की क्रियाएँ देखी जाती है, वे नरकगति का कारण होने से अशुभ दीर्घायु हो सकती हैं। अन्य ग्रन्थो मे भी इसी तथ्य का समर्थन है।[3]

विक्रेता और क्रेता को विक्रेय माल से सम्बन्धित लगने वाली क्रियाएँ

५. गाहावतिस्स ण भंते ! भंडं विक्किणमाणस्स केइ भंडं अवहरेज्जा, तस्स णं भंते ! तं भंडं अणुगवेसमाणस्स किं आरंभिया किरिया कज्जइ ? पारिग्गहिया०, मायावत्तिया०, अपच्चक्खा०, मिच्छादंसण० ?

गोयमा ! आरंभिया किरिया कज्जइ, पारि०, माया०, अपच्च०; मिच्छादंसणकिरिया सिय कज्जति, सिय नो कज्जति। अह से भंडे अभिसमन्नागते भवति ततो से पच्छा सव्वाओ ताओ पयणुईभवंति।

---

१. 'तथाहि प्राणातिपाताद्याकर्मादिकरणतो मृषोक्त यथा—साधो ! स्वार्थं सिद्धमिद भक्तादि, कल्पनीय वा, नाशका कार्य्या'—स्थानाग टीका

२ (क) अणुव्वय-महव्वएहिं य बालतवो अकामणिज्जराए य। देवाउय निबंधइ, सम्मदिट्ठीय जो जीवो।

—भगवती० टीका, पत्राक २२६

(ख) समणोवासगस्स तहारूवं समण वा माहणं वा फासुएणं असण-पाण-खाइम साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ? गोयमा ! एगंतसो निज्जरा कज्जइ। —भगवतीसूत्र, पत्रांक २२७

३ 'मिच्छदिट्ठी महारंभपरिग्गहो तिव्वलोभनिस्सीलो।
निरयाउय निबंधइ, पावमई रोद्दपरिणामो॥' —भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्रांक २२७ में उद्धृत

[५ प्र] भगवन् ! भाण्ड (किराने का सामान) बेचते हुए किसी गृहस्थ का वह किराने का माल कोई अपहरण कर (चुरा) ले, फिर उस किराने के सामान की खोज करते हुए उस गृहस्थ को, हे भगवन् ! क्या आरम्भिकी क्रिया लगती है, या पारिग्रहिकी क्रिया लगती है ? अथवा मायाप्रत्ययिकी अप्रत्याख्यानिकी या मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रिया लगती है ?

[५ उ] गौतम ! (अपहृत किराने को खोजते हुए पुरुष को) आरम्भिकी क्रिया लगती है, तथा पारिग्रहिकी, मायाप्रत्ययिकी एव अप्रत्याख्यानिकी क्रिया भी लगती है, किन्तु मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रिया कदाचित् लगती है, और कदाचित् नही लगती। (किराने के सामान की खोज करते हुए) यदि चुराया हुआ सामान वापस मिल जाता है, तो वे सब (पूर्वोक्त) क्रियाएँ प्रतनु (अल्प—हल्की) हो जाती हैं।

६ गाहावतिस्स णं भंते ! भंडं विक्किणमाणस्स कइए भंडं सातिज्जेज्जा, भंडे य से अणुवणीए सिया, गाहावतिस्स णं भंते ! ताओ भंडाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ जाव मिच्छा-दंसणवत्तिया किरिया कज्जइ ? कइयस्स वा ताओ भंडाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ जाव मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ ?

गोयमा ! गाहावतिस्स ताओ भंडाओ आरंभिया किरिया कज्जइ जाव अपच्चक्खाणिया, मिच्छादंसणवत्तिया किरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ। कइयस्स ण ताओ सव्वाओ पयणुई-भवंति।

[६ प्र] भगवन् ! किराना बेचने वाले गृहस्थ से किसी व्यक्ति ने किराने का माल खरीद लिया, उस सौदे को पक्का करने के लिए खरीददार ने सत्यकार (बयाना या साई) भी दे दिया, किन्तु वह (किराने का माल) अभी तक अनुपनीत (ले जाया गया नही) है, (बेचने वाले के यहाँ ही पड़ा है।) (ऐसी स्थिति मे) भगवन् ! उस भाण्डविक्रेता को उस किराने के माल से आरम्भिकी यावत् मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रियाओ मे से कौन-सी क्रिया लगती है ?

[६ उ] गौतम ! उस गृहपति को उस किराने के सामान से आरम्भिकी से लेकर अप्रत्याख्यानिकी तक चार क्रियाएँ लगती हैं। मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया कदाचित् लगती है और कदाचित् नही लगती। खरीददार को तो ये सब क्रियाएँ प्रतनु (अल्प या हल्की) हो जाती हैं।

७. गाहावतिस्स णं भंते ! भंडं विक्किणमाणस्स जाव भंडे से उवणीए सिया, कइयस्स ण भंते ! ताओ भंडाओ किं आरंभिया किरिया कज्जति० ? गाहावतिस्स वा ताओ भंडाओ किं आरंभिया किरिया कज्जति ?

गोयमा ! कइयस्स ताओ भंडाओ हेट्ठिल्लाओ चत्तारि किरियाओ कज्जंति, मिच्छादंसण-किरिया भयणाए। गाहावतिस्स ण ताओ सव्वाओ पयणुईभवंति।

[७ प्र] भगवन् ! किराना बेचने वाले गृहस्थ के यहाँ से यावत् खरीददार उस किराने के माल को अपने यहाँ ले आया, (ऐसी स्थिति मे) भगवन् ! उस खरीददार को उस (खरीदे हुए)

किराने के माल से आरम्भिकी से लेकर मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी तक कितनी क्रियाएँ लगती हैं ? और उस विक्रेता गृहस्थ को पाचो क्रियाओ मे से कितनी क्रियाएँ लगती हैं ?

[७ उ] गौतम ! (उपर्युक्त स्थिति में) खरीददार को उस किराने के सामान से आरम्भिकी से लेकर अप्रत्याख्यानिकी तक चारो क्रियाएँ लगती हैं, मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रिया की भजना है; (अर्थात्—खरीददार यदि मिथ्यादृष्टि हो तो मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया लगती है, अगर वह मिथ्यादृष्टि न हो तो नही लगती)। विक्रेता गृहस्थ को तो (मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रिया की भजना के साथ) ये सब क्रियाएँ प्रतनु (अल्प) होती हैं।

८. [१] गाहावतिस्स णं भंते ! भंड जाव धणे य[1] से अणुवणीए सिया० ?

एयं पि जहा 'भंडे उवणीते' तहा नेयव्वं ।

[८-१ प्र] भगवन् ! भाण्ड-विक्रेता गृहस्थ से खरीददार ने कितने का माल खरीद लिया, किन्तु जब तक उस विक्रेता को उस माल का मूल्यरूप धन नही मिला, तब तक, हे भगवन् ! उस खरीददार को उस अनुपनीत धन से कितनी क्रियाएँ लगती हैं ? (साथ ही) उस विक्रेता को कितनी क्रियाएँ लगती हैं ?

[८-१ उ] गौतम ! यह आलापक भी उपनीत भाण्ड (खरीददार द्वारा ले जाए जाने वाले किराने) के आलापक के समान समझना चाहिए ।

[२] चउत्थो आलावगो[2]—धणे य से उवणीए सिया जहा पढमो आलावगो 'भंडे य से अणुवणीए सिया' तहा नेयव्वो । पढम-चउत्थाणं एक्को गमो । बितिय-ततियाण एक्को गमो ।

[८-२] चतुर्थ आलापक—यदि धन उपनीत हो तो प्रथम आलापक, (जो कि अनुपनीत भाण्ड के विषय मे कहा है) के समान समझना चाहिए । (साराश यह है कि) पहला और चौथा आलापक समान है, इसी तरह दूसरा और तीसरा आलापक समान है।

विवेचन—विक्रेता और क्रेता को विक्रेय माल से लगने वाली क्रियाएँ—प्रस्तुत चार सूत्रो (सू ५ से ८ तक) मे भाण्ड-विक्रेता और खरीददार को किराने के माल (भाण्ड)-सम्बन्धी विभिन्न अवस्थाओ मे लगने वाली क्रियाओ का निरूपण किया गया है।

---

१ धन से सम्बन्धित प्रथम आलापक इस प्रकार कहना चाहिए—

"गाहावइस्स णं भंते ! भंड विक्किणमाणस्स कइए भंडं साइज्जेज्जा, धणे य से अणुवणीए सिया, कइयस्स णं ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ ५ ? गाहावइस्स य ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ ५ ? गोयमा ! कइयस्स ताओ धणाओ हेट्ठिल्लाओ चत्तारि किरियाओ कज्जंति, मिच्छादंसणकिरिया भयणाए । गाहावइस्स णं ताओ सव्वाओ पतणुईभवंति ।" —भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्राक २२९

२ धन से सम्बन्धित चतुर्थ आलापक इस प्रकार कहना चाहिये—

"गाहावइस्स णं भंते ! भंड विक्किणमाणस्स कइए भंडं साइज्जेज्जा धणे य से उवणीए सिया, गाहावइस्स णं भंते ! ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ ५ ? कइयस्स वा ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ ५ ? गोयमा ! गाहावइस्स ताओ धणाओ आरंभिया ५, मिच्छादंसणवत्तिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ । कइयस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुईभवंति ।" —भगवतीसूत्र अ. वृत्ति. पत्रांक २२९

छह प्रतिफलित तथ्य—(१) किराना बेचने वाले का किराना (माल) कोई चुरा ले जाए तो उस किराने को खोजने मे विक्रेता को आरम्भिकी आदि ४ क्रियाएँ लगती है, परन्तु मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रिया, कदाचित् लगती है, कदाचित् नही लगती। (२) यदि चुराया हुआ किराने का माल वापस मिल जाए तो विक्रेता को ये सब क्रियाएँ मन्द रूप मे लगती है। (३) खरीददार ने विक्रेता से किराना (माल) खरीद लिया, उस सौदे को पक्का करने के लिए साई भी दे दी, किन्तु माल दूकान से उठाया नही, तब तक खरीददार का उस किराने-सम्बन्धी क्रियाएँ हलके रूप मे लगती हैं, जबकि विक्रेता को वे क्रियाएँ भारी रूप मे लगती है। (४) विक्रेता द्वारा किराना खरीददार को सौंप दिये जाने पर वह उसे उठाकर ले जाता है, ऐसी स्थिति मे विक्रेता को वे सब सम्भावित क्रियाएँ हलके रूप मे लगती हैं, जब कि खरीददार को भारी रूप में। (५) विक्रेता से खरीददार ने किराना खरीद लिया, किन्तु उसका मूल्यरूप धन विक्रेता को नही दिया, ऐसी स्थिति मे विक्रेता को आरम्भिकी आदि चारो क्रियाएँ हलके रूप में लगती हैं, जबकि खरीददार को वे ही क्रियाएँ भारी रूप के लगती है। और (६) किराने का मूल्यरूप धन खरीददार द्वारा चुका देने के बाद विक्रेता को धनसम्बन्धी चारो सम्भावित क्रियाएँ भारी-रूप मे लगती है, जबकि खरीददार को वे सब सम्भावित क्रियाएँ अल्परूप मे लगती है।[1]

क्रियाएँ : कब हल्के रूप मे, कब भारी रूप मे ?—(चुराये हुए माल की खोज करते समय विक्रेता (व्यापारी) विशेष प्रयत्नशील होता है, इसलिए उसे सम्भावित क्रियाएँ भारीरूप मे लगती हैं, किन्तु जब व्यापारी को चुराया हुआ माल मिल जाता है, तब उसका खोज करने का प्रयत्न बन्द हो जाता है, इसलिए वे सब सम्भावित क्रियाएँ हल्की हो जाती है। (२) विक्रेता के यहाँ खरीददार के द्वारा खरीदा हुआ माल पडा रहता है, वह उसका होने से तत्सम्बन्धित क्रियाएँ भारीरूप मे लगती है, किन्तु खरीददार उस माल को उठाकर अपने घर ले जाता है, तब खरीददार को वे सब क्रियाएँ भारीरूप मे और विक्रेता को हलके रूप मे लगती हैं। (३) किराने का मूल्यरूप धन जब तक खरीददार द्वारा विक्रेता को नही दिया गया है, तब तक वह धन खरीददार का है, अत उससे सम्बन्धित क्रियाएँ खरीददार को भारीरूप मे और विक्रेता को हल्के रूप मे लगती हैं, किन्तु खरीददार खरीदे हुए किराने का मूल्यरूप धन विक्रेता को चुका देता है, उस स्थिति मे विक्रेता को उस धनसम्बन्धी क्रियाएँ भारी-रूप मे, तथा खरीददार को हल्के रूप मे लगती हैं।

मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रिया—तभी लगती है, जब विक्रेता या क्रेता मिथ्यादृष्टि हो, सम्यग्-दृष्टि होने पर नही लगती।

कठिन शब्दों के अर्थ—**विक्किणमाणस्स**=विक्रय करते हुए। **अवहरेज्जा**=अपहरण करे (चुरा ले जाए)। **सिय कज्जइ**=कदाचित् लगती है। **पयणुईभवंति**=प्रतनु=हल्की या अल्प हो जाती हैं। **साइज्जेज्जा**=सत्यकार (सौदा पक्का) करने हेतु साई या बयाना दे दे। **अभिसमण्णागए**=माल वापस मिल जाए। **कइयस्स**=खरीददार के। **गवेसमाणस्स**=खोजते-ढूढते हुए। **अणुवणीए**=अनुपनीत—नही ले जाया गया। **उवणीए**=उपनीत—माल उठाकर ले जाया गया।[2]

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ २०६
(ख) भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्रांक २२८
२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २२८-२२९

अग्निकाय : कब महाकर्मादि से युक्त, कब अल्पकर्मादि से युक्त ?

९. अगणिकाए णं भंते ! अहुणोज्जलिते समाणे महाकम्मतराए चेव महाकिरियतराए चेव, महासवतराए चेव, महावेदणतराए चेव भवति । अहे ण समए समए वोक्कसिज्जमाणे वोक्कसिज्जमाणे वोच्छिज्जमाणे चरिमकालसमयंसि इंगालभूते मुम्मुरभूते छारियभूते, तम्रो पच्छा अप्पकम्मतराए चेव, अप्पकिरियतराए चेव, अप्पासवतराए चेव, अप्पवेदणतराए चेव भवति ?

हंता, गोयमा ! अगणिकाए णं अहुणुज्जलिते समाणे० तं चेव ।

[९ प्र] भगवन् ! तत्काल प्रज्वलित अग्निकाय क्या महाकर्मयुक्त, तथा महाक्रिया, महाश्रव और महावेदना से युक्त होता है ? और इसके पश्चात् समय-समय मे (क्षण-क्षण मे) क्रमशः कम होता हुआ—बुझता हुआ तथा अन्तिम समय मे (जब) अगारभूत, मुर्मुरभूत, (भोभर-सा हुआ) और भस्मभूत हो जाता है (तब) क्या वह अग्निकाय अल्पकर्मयुक्त तथा अल्पक्रिया, अल्पाश्रव अल्पवेदना से युक्त होता है ?

[९ उ.] हाँ, गोतम ! तत्काल प्रज्वलित अग्निकाय महाकर्मयुक्त भस्मभूत हो जाता है, उसके पश्चात् यावत् अल्पवेदनायुक्त होता है ।

विवेचन—अग्निकाय : कब महाकर्मादि से युक्त, कब अल्पकर्मादि से युक्त ?—प्रस्तुत नौवें सूत्र मे तत्काल प्रज्वलित अग्निकाय को महाकर्म, महाक्रिया, महाआश्रव एव महावेदना से युक्त तथा धीरे-धीरे क्रमश अगारे-सा, मुर्मुर-सा एव भस्म-सा हो जाने पर उसे अल्पकर्म, अल्पक्रिया, अल्प-आश्रव और अल्प-वेदना से युक्त बताया गया है ।

महाकर्मादि या अल्पकर्मादि से युक्त होने का रहस्य—तत्काल प्रज्वलित अग्निबन्ध की अपेक्षा से ज्ञानावरणीय आदि महाकर्मबन्ध का कारण होने से 'महाकर्मतर' है । अग्नि का जलना क्रियारूप होने से यह महाक्रियातर है । अग्निकाय नवीन कर्मों के ग्रहण करने मे कारणभूत होने से यह महाश्रवतर है । अग्नि लगने के पश्चात् होने वाली तथा उस कर्म (अग्निकाय से बद्ध कर्म) से उत्पन्न होने वाली पीडा के कारण अथवा परस्पर शरीर के सम्बन्ध (दबने) से होने वाली पीडा के कारण वह महावेदनातर है । लेकिन जब प्रज्वलित हुई अग्नि क्रमश बुझने लगती है, तब क्रमशः अगार आदि अवस्था को प्राप्त होती हुई वह अल्पकर्मतर, अल्पक्रियातर, अल्पाश्रवतर एव अल्पवेदनातर हो जाती है । बुझते-बुझते जब वह भस्मावस्था को प्राप्त हो जाती है, तब वह कर्मादि-रहित हो जाती है ।[1]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**अहुणोज्जलिए** - अभी-अभी तत्काल जलाया हुआ । **वोक्कसिज्ज-माणे**=अपकर्ष को प्राप्त (कम) होता हुआ । **अप्प**=अग्नि की अगारादि अवस्था की अपेक्षा अल्प यानी थोडा, तथा भस्म की अपेक्षा अल्प का अर्थ अभाव करना चाहिए ।[2]

---

१ भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २२९

२. वही, पत्रांक २२९

धनुष चलाने वाले व्यक्ति को तथा धनुष से सम्बन्धित जीवों को उनसे लगने वाली क्रियाएँ

१०. [१] पुरिसे णं भंते ! धणु परामुसति, धणु परामुसति उसु परामुसति, उसु परामुसित्ता ठाणं ठाति, ठाणं ठिच्चा आयतकण्णाययं उसु करेति, आययकण्णायय उसु करेत्ता उड्ढं वेहासं उसु उव्विहति, २ ततो णं से उसु उड्ढं वेहासं उव्विहिए समाणे जाइं तत्थ पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणति वत्तेति लेस्सेति सघाएति संघट्टेति परितावेति किलामेति, ठाणाओ ठाणं सकामेति, जीवितातो ववरोवेति, तए णं भंते ! से पुरिसे कतिकिरिए ?

गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे धणु परामुसति जाव उव्विहति तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पाणातिवातकिरियाए, पचहि किरियाहि पुट्ठे ।

[१०-१ प्र] भगवन् ! कोई पुरुष धनुष को स्पर्श करता है, धनुष का स्पर्श करके वह बाण का स्पर्श (ग्रहण) करता है, बाण का स्पर्श करके (धनुष से बाण फेंकने के) स्थान पर से आसनपूर्वक बैठता है, उस स्थिति मे बैठकर फेंके जाने वाले बाण को कान तक आयत करे—खीचे, खीच कर ऊँचे आकाश मे बाण फेंकता है । ऊँचे आकाश मे फेंका हुआ वह बाण, वहाँ आकाश मे जिन प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को सामने आते हुए मारे (हनन करे) उन्हे सिकोड दे, अथवा उन्हे ढक दे, उन्हे परस्पर श्लिष्ट कर (चिपका) दे, उन्हे परस्पर सहत (सघात=एकत्रित) करे, उनका सघट्टा—जोर से स्पर्श करे, उनको परिताप-सताप (पीडा) दे, उन्हे क्लान्त करे—थकाए, हैरान करे, एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकाए, एव उन्हे जीवन से रहित कर दे, तो हे भगवन् ! उस पुरुष को कितनी क्रियाएँ लगती हैं ?

[१०-१ उ.] गौतम ! यावत् वह पुरुष धनुष को ग्रहण करता यावत् बाण को फेंकता है यावत् वह पुरुष कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, परितापनिकी, और प्राणातिपातिकी, इन पाच क्रियाओ से स्पृष्ट होता है ।

[२] जेसि पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो धणू निव्वत्तिए ते वि य णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे ।

[१०-२] किन जीवो के शरीरो से वह धनुष बना (निष्पन्न हुआ) है, वे जीव भी पाच क्रियाओं से स्पृष्ट होते हैं ।

११. एवं धणुपुट्ठे पंचहि किरियाहि । जीवा पंचहि । ण्हारू पंचहि । उसू पंचहि । सरे पत्तणे फले ण्हारू पचहि ।

[११] इसी प्रकार धनुष की पीठ भी पाच क्रियाओ से स्पृष्ट होती है । जीवा (डोरी) पांच क्रियाओ से, ण्हारू (स्नायु) पाच क्रियाओ से एव बाण पांच क्रियाओ से तथा शर, पत्र, फल और ण्हारू भी पाच क्रियाओ से स्पृष्ट होते हैं ।

१२ अहे णं से उसू अप्पणो गरुयत्ताए भारियत्ताए गुरुसंभारियत्ताए अहे वीससाए पच्चोवयमाणे जाइं तत्थ पाणाइं जाव[1] जीविताओ ववरोवेति, एव च णं से पुरिसे कतिकिरिए ।

गोयमा ! जावं च णं से उसू अप्पणो गरुययाए जाव[2] ववरोवेति तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव चउहिं किरियाहिं पुट्ठे । जेसि पि य णं जीवाणं सरीरेहिं धणू निव्वत्तिए ते वि जीवा चउहिं किरियाहिं । धणुपुट्ठे चउहिं । जीवा चउहिं । ण्हारू चउहिं । उसू पंचहिं । सरे, पत्तणे, फले, ण्हारू पंचहिं । जे वि य से जीवा अहे पच्चोवयमाणस्स उवग्गहे चिट्ठंति ते वि य णं जीव काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा ।

[१२ प्र] हे भगवन् ! जब वह बाण अपनी गुरुता से, अपने भारीपन से, अपने गुरुसंभारता से स्वाभाविकरूप (विस्रसा प्रयोग) से नीचे गिर रहा हो, तब (ऊपर से नीचे गिरता हुआ) वह (बाण) (बीच मार्ग मे) प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को यावत् जीवन (जीवित) से रहित कर देता है, तब उस बाण फेंकने वाले पुरुष को कितनी क्रियाएँ लगती हैं ?

[१२ उ] गौतम ! जब वह बाण अपनी गुरुता आदि से नीचे गिरता हुआ, यावत् जीवो को जीवन रहित कर देता है, तब वह (बाण फेंकने वाला) पुरुष कायिकी आदि चार क्रियाओ से स्पृष्ट होता है । जिन जीवो के शरीर से धनुष बना है, वे जीव भी चार क्रियाओ से, धनुष की पीठ चार क्रियाओ से, जीवा (ज्या=डोरी) चार क्रियाओ से ण्हारू चार क्रियाओ से, बाण पाच क्रियाओ से, तथा शर, पत्र, फल और ण्हारू पाच क्रियाओ से स्पृष्ट होते हैं । 'नीचे' गिरते हुए बाण के अवग्रह मे जो जीव आते हैं, वे जीव भी कायिकी आदि पाच क्रियाओ से स्पृष्ट होते हैं ।

विवेचन—धनुष चलाने वाले व्यक्ति को तथा धनुष से सम्बन्धित जीवों को उनसे लगने वाली क्रियाएँ--प्रस्तुत तीन सूत्रो (सू. १० से १२ तक) धनुष चलाने वाले व्यक्ति को तथा धनुष के विविध उपकरण (अवयव) जिन-जिन जीवो के शरीरो से बने है उनको बाण छूटते समय तथा बाण के नीचे गिरते समय होने वाली प्राणि-हिसा से लगने वाली क्रियाओ का निरूपण किया गया है ।

किसको, क्यों, कैसे और कितनी क्रियाएँ लगती है ?—एक व्यक्ति धनुष हाथो मे लेता है, फिर बाण उठाता है, उसे धनुष पर चढा कर विशेष प्रकार के आसन से बैठता है, फिर कान तक बाण को खीचता और छोडता है । छूटा हुआ वह बाण आकाशस्थ या उसकी चपेट मे आए हुए प्राणी के प्राणो का विविध प्रकार से उत्पीडन एव हनन करता है, ऐसी स्थिति मे उस पुरुष को धनुष हाथ मे लेने से छोडने तक मे कायिकी से लेकर प्राणातिपातिकी तक पाचो क्रियाएँ लगती हैं । इसी प्रकार जिन जीवो के शरीर से धनुष, धनु पृष्ठ, डोरी, ण्हारू, बाण, शर, पत्र, फल और ण्हारू आदि धनुष एव धनुष के उपकरण बने हैं उन जीवो को भी पाच क्रियाएँ लगती हैं । यद्यपि वे इस समय अचेतन हैं तथापि उन जीवों ने मरते समय अपने शरीर का व्युत्सर्ग नही किया था, वे अविरति के परिणाम

---

१. 'जाव' पद यहाँ निम्नोक्त पाठ का सूचक है—

'भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणति वत्तेति लेस्सेति संघाएति संघट्टेति परितावेति किलामेति ठाणाओ ठाणं संकामेति' ।

(जो कि अशुभकर्म-बन्ध के हेतु हैं) से युक्त थे, इसलिए उन्हे भी पांचों क्रियाएँ लगती हैं। सिद्धों के अचेतन शरीर जीवहिंसा के निमित्त होने पर भी सिद्धो को कर्मबन्ध नही होता, न उन्हे कोई क्रिया लगती है, क्योकि उन्होने शरीर का तथा कर्मबन्ध के हेतु अविरति परिणाम का सर्वथा त्याग कर दिया था। रजोहरण, पात्र, वस्त्र आदि साधु के उपकरणो से जीवदया आदि करने से रजोहरणादि के भूतपूर्व जीवो को पुण्यबन्ध नही होता, क्योकि रजोहरणादि के जीवो के मरते समय पुण्यबन्ध के हेतुरूप विवेक, शुभ अध्यवसाय आदि नही होते।

इसके अतिरिक्त अपने भारीपन आदि के कारण जब बाण नीचे गिरता है, तब जिन देवो के शरीर से वह बाण बना है, उन्हे पाचो क्रियाएँ लगती है, क्योकि बाणादिरूप बने हुए जीवों के शरीर तो उस समय मुख्यतया जीवहिसा मे प्रवृत्त होते है, जबकि धनुष की डोरी, धनु पृष्ठ आदि साक्षात् वधक्रिया मे प्रवृत्त न होकर केवल निमित्तमात्र बनते हैं, इसलिए उन्हे चार क्रियाएँ लगती हैं। वीतराग सर्वज्ञ प्रभु ने जैसा अपने ज्ञान मे देखा है, वैसा ही कहा है, इसलिए उनके वचन प्रमाण मान कर उन पर श्रद्धा करनी चाहिए।[1]

कठिन शब्दों के अर्थ—**परामुसइ**=स्पर्श-ग्रहण करता है। **उसु**=बाण। **आययकण्णाययं**=कान तक खीचा हुआ। **वेहासं**=आकाश मे। **उव्विहइ**=फेंकता है। **जीवा**=धनुष की डोरी (ज्या), **ण्हारू**=स्नायु। **पच्चोवयमाणे**=नीचे गिरता हुआ।[2]

अन्यतीर्थिकप्ररूपित मनुष्यसमाकीर्ण मनुष्यलोक के बदले नारकसमाकीर्ण नरकलोक की प्ररूपणा एवं नैरयिक-विकुर्वणा

१३. अन्नउत्थिया णं भंते! एवमाइक्खति जाव परूवेंति—से जहानामए जुवति जुवाणे हत्थेणं हत्थे गेण्हेज्जा, चक्कस्स वा नाभी अरगाउत्ता सिया एवामेव जाव चत्तारि पंच जोयणसताइं बहुसमाइण्णे मणुयलोए मणुस्सेहिं। से कहमेतं भंते! एवं?

गोतमा! जं णं ते अन्नउत्थिया जाव मणुस्सेहिं, जे ते एवमाहंसु मिच्छा०। अहं पुण गोयमा! एवमाइक्खामि जाव एवामेव चत्तारि पंच जोयणसताइं बहुसमाइण्णे निरयलोए नेरइएहिं।

[१३ प्र.] भगवन्! अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं, यावत् प्ररूपणा करते हैं कि जैसे कोई युवक अपने हाथ से युवती का हाथ (कस कर) पकडे हुए (खडा) हो, अथवा जैसे आरो से एकदम सटी (जकडी) हुई चक्र (पहिये) की नाभि हो, इसी प्रकार यावत् चार सौ-पाच सौ योजन तक यह मनुष्यलोक मनुष्यो से ठसाठस भरा हुआ है। भगवन्! यह सिद्धान्त प्ररूपण कैसे है?

[१३ उ.] हे गौतम! अन्यतीर्थियो का यह कथन मिथ्या है। मैं इस प्रकार कहता हूँ, यावत् प्ररूपणा करता हूँ कि चार-सौ, पाच सौ योजन तक नरकलोक, नैरयिक जीवों से ठसाठस भरा हुआ है।

१ भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २३०

२ वही, पत्रांक, २३०

१४. नेरइया णं भंते ! किं एगत्तं पभू विउव्वित्तए ? पुहत्तं पभू विकुव्वित्तए ?

जाव जीवाभिगमे[1] आलावगो तहा नेयव्वो जाव दुरहियासं।

[१४ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक जीव, एकत्व (एक रूप) की विकुर्वणा करने में समर्थ हैं, अथवा बहुत्व (बहुत से रूपो) की विकुर्वणा करने मे समर्थ हैं ?

[१४ उ.] गौतम ! इस विषय में जीवाभिगमसूत्र मे जिस प्रकार आलापक कहा है, उसी प्रकार का आलापक यहाँ भी 'दुरहियास' शब्द तक कहना चाहिए।

विवेचन—अन्यतीर्थिक-प्ररूपित मनुष्य समाकीर्ण मनुष्य लोक के बदले नारकसमाकीर्ण नरकलोक प्ररूपणा, एवं नैरयिक-विकुर्वणा—प्रस्तुत दो सूत्रो मे दो मुख्य तथ्यों का निरूपण किया गया है—(१) मनुष्यलोक ४००-५०० योजन तक ठसाठस मनुष्यो से भरा है, अन्यतीर्थिको के विभंगज्ञान द्वारा प्ररूपित इस कथन को मिथ्या बताकर नरकलोक नैरयिक जीवों से ठसाठस भरा है, इस तथ्य की प्ररूपणा की गई है।

(२) नैरयिक जीव एकरूप एव अनेक रूपो की विकुर्वणा करने में समर्थ हैं।[2]

नैरयिको की विकुर्वणा के सम्बन्ध मे जीवाभिगम का अतिदेश—जीवाभिगम सूत्र के आलापक का सार इस प्रकार है—रत्नप्रभा आदि नरको मे नैरयिक जीव एकत्व (एकरूप) की भी विकुर्वणा करने मे समर्थ हैं, बहुत्व (बहुत-से रूपो) की भी। एकत्व की विकुर्वणा करते हैं, तब वे एक बडे मुद्गर या मुसु ढि, करवत, तलवार, शक्ति, हल, गदा, मूसल, चक्र, नाराच, कुन्त (भाला), तोमर, शूल और लकडी यावत् भिंडमाल के रूप की विकुर्वणा कर सकते हैं और, जब बहुत्व (बहुत से रूपो) की विकुर्वणा करते हैं, तब मुद्गर से लेकर भिंडमाल तक बहुत-से शस्त्रो की विकुर्वणा कर सकते हैं। वे सब सख्येय होते है, असख्येय नहीं। इसी प्रकार वे सम्बद्ध और सदृश रूपो की विकुर्वणा करते हैं, असम्बद्ध एव असदृश रूपो की नही। इस प्रकार की विकुर्वणा करके वे एक दूसरे के शरीर को अभिघात पहुँचाते हुए वेदना की उदीरणा करते है। वह वेदना उज्ज्वल (तीव्र), विपुल (व्यापक), प्रगाढ, कर्कश, कटुक, परुष, (कठोर), निष्ठुर, चण्ड, तीव्र, दुर्ग, दु खरूप और दु सह होती है।[3]

---

१. आलापक इस प्रकार है—

'गोयमा ! एगत्त पि पहू विउव्वित्तए पुहत्त पि पहू विउव्वित्तए। एगत्त विउव्वमाणे एग महं मोग्गररूवं वा मुसु ढिरूव वा' इच्चादि। 'पुहत्त विउव्वमाणे मोग्गररूवाणि वा' इत्यादि। ताइं संखेज्जाइ नो असखेज्जाइ। एवं सबद्धाइ २ सरीराइं विउव्वति, विउव्वित्ता अन्नमन्नस्स काय अभिहणमाणा २ वेयण उदीरेंति उज्जल विउलं पगाढं कक्कसं कडुयं फरुस निट्ठुर चंडं तिव्वं दुक्खं दुग्गं दुरहियास त्ति''

—जीवाभिगम प्र ३ उ. २, भगवती अ. वृत्ति, पृ. २३१.

२. वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ. २०८-२०९

३. (क) जीवाभिगमसूत्र, प्रतिपत्ति ३, द्वितीय उद्देशक नारकस्वरूपवर्णन, पृ ११७

(ख) भगवती-टीकानुवाद ख. २, पृ. २०८

विविध प्रकार से आधाकर्मादि दोषसेवी साधु अनाराधक कैसे ?, आराधक कैसे ?

१५. [१] 'आहाकम्मं ण अणवज्जे' त्ति मणं पहारेत्ता भवति, से णं तस्स ठाणस्स अणालोइय-पडिक्कंते कालं करेति नत्थि तस्स आराहणा।

[१५-१] 'आधाकर्म अनवद्य-निर्दोष है', इस प्रकार जो साधु मन मे समझता (धारणा बना लेता) है, वह यदि उस आधाकर्म-स्थान की आलोचना (तदनुसार प्रायश्चित्त) एव प्रतिक्रमण किये बिना ही काल कर जाता है, तो उसके आराधना नही होती।

[२] से णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेति अत्थि तस्स आराहणा।

[१५-२] वह (पूर्वोक्त प्रकार की धारणा वाला साधु) यदि उस (आधाकर्म-) स्थान की आलोचना एव प्रतिक्रमण करके काल करता है, तो उसके आराधना होती है।

[३] एतेणं गमेणं नेयव्वं—कीयकडं ठवियगं रइयगं कंतारभत्तं दुब्भिक्खभत्तं वद्दलियाभत्त गिलाणभत्त सिज्जातरपिंडं रायपिंडं।

[१५-३] आधाकर्म के (पूर्वोक्त) आलापकद्वय के अनुसार ही क्रीतकृत (साधु के लिए खरीद कर लाया हुआ), स्थापित (साधु के लिए स्थापित करके रखा हुआ) रचितक (साधु के लिये बिखरे हुए चूरे को मोदक के रूप मे बाधा हुआ (औद्देशिक दोष का भेदरूप), कान्तारभक्त (अटवी मे भिक्षुकों के निर्वाह के लिये तैयार किया हुआ आहार), दुर्भिक्षभक्त (दुष्काल के समय भिक्षुओ के लिये तैयार किया हुआ आहार), वर्दलिकाभक्त (आकाश मे बादल छाये हो, घनघोर वर्षा हो रही हो, ऐसे समय मे भिक्षुओ के लिए तैयार किया हुआ आहार), ग्लान भक्त (ग्लान— रुग्ण के लिए बनाया हुआ आहार), शय्यातरपिण्ड (जिसकी आज्ञा से मकान मे ठहरे हैं, उस व्यक्ति के यहाँ से आहार लेना), राजपिण्ड (राजा के लिए तैयार किया गया आहार), इन सब दोषो से युक्त आहारादि के विषय में (आधाकर्म सम्बन्धी आलापकद्वय के समान ही) प्रत्येक के दो-दो आलापक कहने चाहिए।

१६. [१] 'आहाकम्मं णं अणवज्जे' त्ति बहुजणमज्झे भासित्ता सयमेव परिभुंजित्ता भवति, से णं तस्स ठाणस्स जाव[1] अत्थि तस्स आराहणा।

[२] एयं पि तह चेव जाव[1] रायपिंडं।

[१६-१] आधाकर्म अनवद्य (निर्दोष) है, इस प्रकार जो साधु बहुत-से मनुष्यो के बीच मे कह (भाषण) कर, स्वय ही उस आधाकर्म-आहारादि का सेवन (उपभोग) करता है, यदि वह उस स्थान की आलोचना एव प्रतिक्रमण किये बिना ही काल कर जाता है तो उसके आराधना नही होती, यावत् यदि वह उस स्थान की आलोचना—प्रतिक्रमण करके काल करता है, तो उसके आराधना होती है।

[१६-२] आधाकर्मसम्बन्धी इस प्रकार के आलापकद्वय के समान क्रीतकृत से लेकर राजपिण्डदोष तक पूर्वोक्त प्रकार से प्रत्येक के दो-दो आलापक समझ लेने चाहिए।

---

१. 'जाव' पद से यहाँ पूर्ववत् 'अणालोइय' का तथा 'आलोइय' का आलापक कहना चाहिए।

१७. 'आहाकम्मं णं अणवज्जे' त्ति सयं अन्नमन्नस्स अणुप्पदावेत्ता भवति, से णं तस्स० एवं तह चेव जाव रायपिंडं।

[१७] 'आधाकर्म अनवद्य है', इस प्रकार कह कर, जो साधु स्वय परस्पर (भोजन करता है, तथा) दूसरे साधुओ को दिलाता है, किन्तु उस आधाकर्म दोष स्थान की आलोचना-प्रतिक्रमण किये बिना काल करता है तो उसके अनाराधना तथा यावत् आलोचनादि करके काल करता है तो उसके आराधना होती है। इसी प्रकार क्रीतकृत से लेकर राजपिण्ड तक पूर्ववत् यावत् अनाराधना एवं आराधना जान लेनी चाहिए।

१८ 'आहाकम्मं णं अणवज्जे' त्ति बहुजणमज्झे पन्नवइत्ता भवति, से णं तस्स जाव[1] अत्थि आराहणा जाव रायपिंडं।

[१८] 'आधाकर्म अनवद्य है', इस प्रकार जो साधु बहुत-से लोगो के बीच में प्ररूपणा (प्रज्ञापना) करता है, उसके भी यावत् आराधना नही होती, तथा वह यावत् आलोचना-प्रतिक्रमण करके काल करता है, उसके आराधना होती है।

इसी प्रकार क्रीतकृत से लेकर यावत् राजपिण्ड तक पूर्वोक्त प्रकार से अनाराधना होती है, तथा यावत् आराधना होती है।

विवेचन—विविध प्रकार से आधाकर्मादि दोषसेवी साधु अनाराधक कैसे, आराधक कैसे?— प्रस्तुत चार सूत्रो मे आधाकर्मादि दोष से दूषित आहारादि को निष्पाप समझने वाले, सभा मे निष्पाप कहकर सेवन करने वाले, स्वय वैसा दोषयुक्त आहार करने तथा दूसरे को दिलाने वाले, बहुजन समाज मे आधाकर्मादि के निर्दोष होने की प्ररूपणा करने वाले साधु के विराधक एव आराधक होने का रहस्य बताया गया है।[2]

विराधना और आराधना का रहस्य—आधाकर्म से लेकर राजपिण्ड तक मे से किसी भी दोष का किसी भी रूप मे मन-वचन-काया से सेवन करने वाला साधु यदि अन्तिम समय मे उस दोष-स्थान की आलोचना-प्रतिक्रमणादि किये बिना ही काल कर जाता है तो वह विराधक होता है, आराधक नही; किन्तु यदि पूर्वोक्त दोषो मे से किसी दोष का किसी भी रूप मे सेवन करने वाला साधु अन्तिम समय मे उस दोष की आलोचना-प्रतिक्रमण कर लेता है, तो वह आराधक होता है। निष्कर्ष यह है कि दोषो की आलोचना-प्रतिक्रमणादि न करके काल करने वाला साधु विराधक और आलोचना-प्रतिक्रमणादि करके काल करने वाला साधु आराधक होता है। आधाकर्मादि दोष निर्दोष होने की मन मे धारणा बना लेना, तथा आधाकर्मादि के विषय मे निर्दोष होने की प्ररूपणा करना विपरीतश्रद्धानादिरूप होने से दर्शन-विराधना है; इन्हे विपरीत रूप मे जानना ज्ञान-विराधना है। तथा इन दोषो को निर्दोष कह कर स्वयं आधाकर्मादि आहारादि सेवन करना, तथा दूसरो को वैसा दोषयुक्त आहार दिलाना, चारित्रविराधना है।[3]

---

१ जाव पद से यहाँ 'अणालोइय' इत्यादि पद तथा 'आलोइय' इत्यादि पद कहने चाहिए।

२. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. १, पृ २०९-२१०

३. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २३१

आधाकर्म की व्याख्या—साधु के निमित्त से जो सचित्त को अचित्त बनाया जाता है, अचित्त दाल, चावल आदि को पकाया जाता है, मकान आदि बनाए जाते है, या वस्त्रादि बुनाए जाते है, उन्हे आधाकर्म कहते हैं ।[1]

गणसंरक्षणतत्पर आचार्य-उपाध्याय के सम्बन्ध में सिद्धत्व प्ररूपणा

१९. आयरिय-उवज्झाए ण भंते ! सविसयंसि गण अगिलाए सगिण्हमाणे अगिलाए उवगिण्हमाणे कतिहिं भवग्गहणेहिं सिज्झति जाव अंत करेति ?

गोतमा ! अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेण सिज्झति अत्थेगइए दोच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झति, तच्चं पुण भवग्गहणं नातिक्कमति ।

[१९ प्र] भगवन् ! अपने विषय मे (सूत्र और अर्थ की वाचना-प्रदान करने मे) गण (शिष्यवर्ग) को अग्लान (अखेद) भाव से स्वीकार (सग्रह) करते (अर्थात्—सूत्रार्थ पढाते) हुए तथा अग्लानभाव से उन्हे (शिष्यवर्ग को सयम पालन मे) सहायता करते हुए आचार्य और उपाध्याय, कितने भव (जन्म) ग्रहण करके सिद्ध होते है, यावत् सर्व दु.खो का अन्त करते है ?

[१९ उ] गौतम ! कितने ही आचार्य-उपाध्याय उसी भव से सिद्ध होते हैं, कितने ही दो भव ग्रहण करके सिद्ध होते है, किन्तु तीसरे भव का अतिक्रमण नही करते ।

विवेचन—तथारूप आचार्य-उपाध्याय के सम्बन्ध मे सिद्धत्वप्ररूपणा—जो आचार्य और उपाध्याय अपने कर्तव्य और दायित्व का भली-भाति वहन करते है, उनके सम्बन्ध मे एक, दो या अधिक से अधिक तीन भव मे सिद्धत्व प्राप्ति की प्ररूपणा की गई है ।

एक दो या तीन भव में मुक्त—कई आचार्य-उपाध्याय उसी भव मे मुक्त हो जाते हैं, कई देवलोक मे जा कर दूसरा मनुष्यभव धारण करके मुक्त होते हैं, और कितने ही देवलोक मे जाकर तीसरा मनुष्यभव धारण करके मुक्त होते है, किन्तु तीन भव से अधिक भव नही करते ।[2]

मिथ्यादोषारोपणकर्ता के दुष्कर्मबन्ध-प्ररूपणा

२०. जे णं भंते ! परं अलिएण असतएणं अब्भक्खाणेणं अब्भक्खाति तस्स णं कहप्पगारा कम्मा कज्जंति ?

गोयमा ! जे णं परं अलिएणं असंतएणं अब्भक्खाणेण अब्भक्खाति तस्स णं तहप्पगारा चेव कम्मा कज्जति, जत्थेव णं अभिसमागच्छति तत्थेव णं पडिसंवेदेति, ततो से पच्छा वेदेति ।

सेवं भंते ! २ त्ति० ।

॥ पंचमसए : छट्ठो उद्देसओ ॥

---

१ "आधाकर्म—आधया साधुप्रणिधानेन यत्सचेतनमचेतन क्रियते, अचेतनं वा पच्यते, चीयते वा गृहादिकम्, वयते वा वस्त्रादिकम्, तदाधाकर्म ।"—भगवती हि. विवेचन, भा २, पृ. ८६०

२. भगवतीसूत्र वृत्ति, पत्रांक २३२

[२० प्र.] भगवन् ! जो दूसरे पर सद्भूत का अपलाप और असद्भूत का आरोप करके असत्य मिथ्यादोषारोपण (अभ्याख्यान) करता है, उसे किस प्रकार के कर्म बंधते हैं ?

[२० उ.] गौतम ! जो दूसरे पर सद्भूत का अपलाप और असद्भूत का आरोपण करके मिथ्या दोष लगाता है, उसके उसी प्रकार के कर्म बंधते है। वह जिस योनि मे जाता है, वहीं उन कर्मों को वेदता (भोगता) है और वेदन करने के पश्चात् उनकी निर्जरा करता है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कहकर यावत् गौतम-स्वामी विचरने लगे।

विवेचन—मिथ्यादोषारोपणकर्ता के दुष्कर्मबन्धन प्ररूपणा—जो व्यक्ति दूसरे पर अविद्यमान या अशोभनीय कार्य करने का दोषारोपण करता है, वह उसी रूप मे उसका फल पाता है। इस प्रकार दुष्कर्मबन्ध की प्ररूपणा की गई है।

ब्रह्मचर्यपालक को अब्रह्मचारी कहना, यह सद्भूत का अपलाप है, अचोर को चोर कहना असद्भूत दोष का आरोपण है। ऐसा करके किसी पर मिथ्या दोषारोपण करने से इसी प्रकार का फल देने वाले कर्मों का बन्ध होता है। ऐसा कर्मबन्ध करने वाला वैसा ही फल पाता है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—अलिएणं=सत्य बात का अपलाप करना। **असब्भूएणं**=असद्भूत =अविद्यमान बात को प्रकट करना। **अब्भक्खाणेणं**=अभ्याख्यान=मिथ्यादोषारोपण।[1]

॥ पंचम शतक : छठा उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ) भा. १, पृ. २१०, (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक २३२

सत्तमो उद्देसओ : एयण

सप्तम उद्देशक : एजन

परमाणुपुद्गल-द्विप्रदेशिकादि स्कन्धों के एजनादि के विषय में प्ररूपणा

१. परमाणुपोग्गले णं भंते ! एयति वेयति जाव[1] तं तं भावं परिणमति ?

गोयमा ! सिय एयति वेयति जाव परिणमति, सिय णो एयति जाव णो परिणमति ।

[१ प्र.] भगवन् ! क्या परमाणु पुद्गल कापता है, विशेष रूप से कापता है ? यावत् उस-उस भाव मे (विभिन्न परिणामो मे) परिणत होता है ?

[१ उ.] गौतम ! परमाणु पुद्गल कदाचित् कापता है, विशेष कापता है, यावत् उस-उस भाव मे परिणत होता है, कदाचित् नही कापता, यावत् उस-उस भाव मे परिणत नही होता ।

२. [१] दुपदेसिए णं भंते ! खंधे एयति जाव परिणमइ ?

गोयमा ! सिय एयति जाव परिणमति, सिय णो एयति जाव णो परिणमति; सिय देसे एयति, देसे नो एयति ।

[२-१ प्र.] भगवन् ! क्या द्विप्रदेशिक स्कन्ध कापता है, विशेष कापता है, यावत् उस-उस भाव मे परिणत होता है ?

[२-१ उ.] हे गौतम ! कदाचित् कम्पित होता है, यावत् परिणत होता है, कदाचित् कम्पित नही होता, यावत् परिणत नही होता । कदाचित् एक देश (भाग) से कम्पित होता है, एक देश से कम्पित नही होता ।

[२] तिपदेसिए णं भंते ! खंधे एयति० ?

गोयमा ! सिय एयति १, सिय नो एयति २, सिय देसे एयति, नो देसे एयति ३, सिय देसे एयति नो देसा एयंति ४, सिय देसा एयंति नो देसे एयति ५ ।

[२-२ प्र.] भगवन् ! क्या त्रिप्रदेशिक स्कन्ध कम्पित होता है, यावत् परिणत होता है ?

[२-२ उ.] गौतम ! कदाचित् कम्पित होता है, कदाचित् कम्पित नही होता, कदाचित् एक देश से कम्पित होता है, और एक देश से कम्पित नहीं होता; कदाचित् एक देश से कम्पित होता है, और बहुत देशो से कम्पित नही होता; कदाचित् बहुत देशो से कम्पित होता है और एक देश से कम्पित नही होता ।

---

१. 'जाव' पद यहाँ 'चलति, फंदति, खोभति' इन क्रियापदो का सूचक है ।

[३] चउप्पएसिए णं भंते ! खंधे एयति० ?

गोयमा ! सिय एयति १, सिय नो एयति २, सिय देसे एयति, णो देसे एयति ३, सिय देसे एयति णो देसा एयंति ४, सिय देसा एयति नो देसे एयति ५, सिय देसा एयंति नो देसा एयंति ६।

[२-३ प्र] भगवन् ! क्या चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध कम्पित होता है ?

[२-३ उ] गौतम ! कदाचित् कम्पित होता है, कदाचित् कम्पित नही होता, कदाचित् उसका एकदेश कम्पित होता है, कदाचित् एकदेश कम्पित नही होता, कदाचित् एकदेश कम्पित होता है, और बहुत देश कम्पित नही होते, कदाचित् बहुत देश कम्पित होते है और एक देश कम्पित नही होता; कदाचित् बहुत देश कम्पित होते हैं और बहुत देश कम्पित नही होते।

[४] जहा चउप्पदेसिओ तहा पंचपदेसिओ, तहा जाव अणंतपदेसिओ।

[२-४] जिस प्रकार चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के विषय मे कहा गया है, उसी प्रकार पचप्रदेशी स्कन्ध से लेकर यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक (प्रत्येक स्कन्ध के लिए) कहना चाहिए।

विवेचन—परमाणुपुद्गल और स्कन्धों के कम्पन आदि के विषय में प्ररूपणा—प्रस्तुत सूत्र मे परमाणुपुद्गल तथा द्विप्रदेशिक स्कन्ध से लेकर अनन्तप्रदेशिक स्कन्ध के कम्पन (एजन), विशेष कम्पन, चलन, स्पन्दन, क्षोभण और उस-उस भाव मे परिणमन के सम्बन्ध मे प्रश्न उठाकर उसका सैद्धान्तिक अनेकान्तशैली से समाधान किया गया है।[1]

परमाणुपुद्गल से लेकर अनन्तप्रदेशीस्कन्ध तक कम्पनादि धर्म—पुद्गलो मे कम्पनादि धर्म कादाचित्क है। इस कारण परमाणुपुद्गल मे कम्पन आदि विषयक दो भग, द्विप्रदेशिक स्कन्ध मे तीन भग, त्रिप्रदेशिक स्कन्ध मे पाच भग और चतुष्प्रदेशी स्कन्ध से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक प्रत्येक स्कन्ध मे कम्पनादि के ६ भग होते है।

विशिष्ट शब्दो के अर्थ—**एयति**=कापता है। **वेयति**=विशेष कापता है। **सिय**=कदाचित्।[2]

परमाणु पुद्गल से लेकर अनन्तदेशी स्कन्ध तक के विषय में विभिन्न पहलुओं से प्रश्नोत्तर

३ [१] परमाणुपोग्गले णं भंते ! असिधारं वा खुरधारं वा ओगाहेज्जा ?

हंता, ओगाहेज्जा।

[३-१ प्र] भगवन् ! क्या परमाणु पुद्गल तलवार की धार या क्षुरधार (उस्तरे की धार) पर अवगाहन करके रह सकता है ?

[३-१ उ.] हां, गौतम ! वह अवगाहन करके रह सकता है।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा १, पृ. २१०-२११

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २३२

[२] से णं भंते ! तत्थ छिज्जेज्ज वा भिज्जेज्ज वा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, नो खलु तत्थ सत्थं कमति ।

[३-२ प्र] भगवन् ! उस धार पर अवगाहित होकर रहा हुआ परमाणुपुद्गल छिन्न या भिन्न हो जाता है ?

[३-२ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ (शक्य) नही है । परमाणुपुद्गल में शस्त्र क्रमण (प्रवेश) नहीं कर सकता ।

४ एवं जाव असंखेज्जपएसिओ ।

[४] इसी तरह (द्विप्रदेशी स्कन्ध से लेकर) यावत् असख्यप्रदेशी स्कन्ध तक समझ लेना चाहिए । (निष्कर्ष यह है कि एक परमाणु से असख्यप्रदेशी स्कन्ध तक किसी भी शस्त्र से छिन्नभिन्न नही होता, क्योंकि कोई भी शस्त्र इसमे प्रविष्ट नही हो सकता) ।

५. [१] अणंतपदेसिए णं भंते ! खंधे असिधारं वा खुरधारं वा ओगाहेज्जा ?

हंता, ओगाहेज्जा ।

[५-१ प्र] भगवन् ! क्या अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तलवार की धार पर या क्षुरधार पर अवगाहन करके रह सकता है ?

[५-१ उ] हाँ, गौतम ! वह रह सकता है ।

[२] से णं तत्थ छिज्जेज्ज वा भिज्जेज्ज वा ?

गोयमा ! अत्थेगइए छिज्जेज्ज वा भिज्जेज्ज वा, अत्थेगइए नो छिज्जेज्ज वा नो भिज्जेज्ज वा ।

[५-२ प्र] भगवन् ! क्या तलवार की धार को या क्षुरधार को अवगाहित करके रहा हुआ अनन्तप्रदेशी स्कन्ध छिन्न या भिन्न हो जाता है ?

[५-२ उ] हे गौतम ! कोई अनन्तप्रदेशी स्कन्ध छिन्न या भिन्न हो जाता है, और कोई न छिन्न होता है, न भिन्न होता है ।

६. एवं अगणिकायस्स मज्झंमज्झेणं । तहिं णवरं 'झियाएज्जा' भाणितव्वं ।

[६] जिस प्रकार छेदन-भेदन के विषय में प्रश्नोत्तर किए गए हैं, उसी तरह से 'अग्निकाय के बीच मे प्रवेश करता है'—इसी प्रकार के प्रश्नोत्तर एक परमाणुपुद्गल से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक के कहने चाहिए । किन्तु अन्तर इतना ही है कि जहाँ उस पाठ में सम्भावित छेदन-भेदन का कथन किया है, वहाँ इस पाठ में 'जलता है' इस प्रकार कहना चाहिए ।

७. एवं पुक्खलसंवट्टगस्स महामेहस्स मज्झंमज्झेणं । तहिं 'उल्ले सिया' ।

[७] इसी प्रकार पुष्कर-संवर्त्तक नामक महामेघ के मध्य मे (बीचोबीच) प्रवेश करता है, इस प्रकार के प्रश्नोत्तर (एक परमाणुपुद्गल से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक के) कहने चाहिए। किन्तु वहाँ सम्भावित 'छिन्न-भिन्न होता है' के स्थान पर यहाँ 'गीला होता—भीग जाता है,' कहना चाहिए।

८. एवं गंगाए महाणदीए पडिसोतं हव्वमागच्छेज्जा। तर्हि विणिघायमावज्जेज्जा, उदगावत्तं वा उदगबिंदुं वा ओगाहेज्जा, से णं तत्थ परियावज्जेज्जा।

[८] इसी प्रकार 'गगा महानदी के प्रतिस्रोत (विपरीत प्रवाह) मे वह परमाणुपुद्गल आता है और प्रतिस्खलित होता है।' इस तरह के तथा 'उदकावर्त्त या उदकबिन्दु मे प्रवेश करता है, और वहाँ वह (परमाणु आदि) विनष्ट होता है,' (इस तरह के प्रश्नोत्तर एक परमाणुपुद्गल से लेकर अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध तक के कहने चाहिए।)

विवेचन—परमाणु पुद्गल से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक के सम्बन्ध में विभिन्न पहलुओं से प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत सूत्रो मे परमाणुपुद्गल से अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक के अवगाहन करके रहने, छिन्न-भिन्न होने, अग्निकाय मे प्रवेश करने, उसमे जल जाने, पुष्करसंवर्त्तक महामेघ मे प्रवेश करने उसमे भीग जाने, गगानदी के प्रतिस्रोत मे आने तथा उसमे प्रतिस्खलित होने, उदकावर्त्त या उदकबिन्दु में प्रवेश करने और वहाँ विनष्ट होने के सम्बन्ध मे प्रश्न उठा कर, अवगाहन करके रहने और छिन्न-भिन्न होने के प्रश्न के उत्तर की तरह ही इन सबके सगत और सम्भावित प्रश्नोत्तरो का अतिदेश किया गया है।[1]

असंख्यप्रदेशी स्कन्ध तक छिन्न-भिन्नता नहीं, अनन्तप्रदेशी स्कन्ध में कादाचित्क छिन्न-भिन्नता—छेदन—दो टुकडे हो जाने का नाम है और भेदन—विदारण होने या बीच मे से चीरे जाने का नाम है। परमाणुपुद्गल से लेकर असख्यप्रदेशी स्कन्ध तक सूक्ष्मपरिणामवाला होने से उसका छेदन-भेदन नहीं हो पाता, किन्तु अनन्तप्रदेशी स्कन्ध बादर परिणाम वाला होने से वह कदाचित् छेदन-भेदन को प्राप्त हो जाता है, कदाचित् नही। इसी प्रकार अग्निकाय मे प्रवेश करने तथा जल जाने आदि सभी प्रश्नो के उत्तर के सम्बन्ध मे छेदन-भेदन आदि की तरह ही[2] समझ लेना चाहिए। अर्थात् सभी उत्तरो का स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए।

परमाणुपुद्गल से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक सार्ध, समध्य आदि एवं तद्विपरीत होने के विषय में प्रश्नोत्तर

९. परमाणुपोग्गले णं भंते! किं सअड्ढे समज्झे सपदेसे? उदाहु अणड्ढे अमज्झे अपदेसे?

गोयमा! अणड्ढे अमज्झे अपदेसे, नो सअड्ढे नो समज्झे नो सपदेसे।

[९ प्र.] भगवन्! क्या परमाणु-पुद्गल सार्ध, समध्य और सप्रदेश है, अथवा अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश है?

---

१. वियाहपण्णत्ति सुत्त, (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा १, पृ. २१०-२११

२. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २३३

[९ उ.] गौतम ! (परमाणुपुद्गल) अनर्द्ध अमध्य और अप्रदेश है, किन्तु सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश नही है ।

१० [१] दुपदेसिए णं भंते ! खंधे किं सअड्ढे समज्झे सपदेसे ? उदाहु अणड्ढे अमज्झे अपदेसे ?

गोयमा ! सअड्ढे अमज्झे, सपदेसे, णो अणड्ढे णो समज्झे णो अपदेसे ।

[१०-१ प्र] भगवन् ! क्या द्विप्रदेशिक स्कन्ध सार्ध, समध्य और सप्रदेश है, अथवा अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश है ?

[१०-१ उ.] गौतम ! द्विप्रदेशी स्कन्ध सार्ध, अमध्य और सप्रदेश है, किन्तु अनर्ध, समध्य और अप्रदेश नही है ।

[२] तिपदेसिए णं भंते ! खंधे० पुच्छा ।

गोयमा ! अणड्ढे समज्झे सपदेसे, नो सअड्ढे णो अमज्झे णो अपदेसे ।

[१०-२ प्र] भगवन् ! क्या त्रिप्रदेशी स्कन्ध सार्ध, अमध्य और सप्रदेश है, अथवा अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश है ।

[१०-२ उ] गौतम ! त्रिप्रदेशी स्कन्ध अनर्ध है, समध्य है और सप्रदेश है, किन्तु सार्ध नही है, अमध्य नही है, और अप्रदेश नही है ।

[३] जहा दुपदेसिओ तहा जे समा ते भाणियव्वा । जे विसमा ते जहा तिपएसिओ तहा भाणियव्वा ।

[१०-३] जिस प्रकार द्विप्रदेशी स्कन्ध के विषय मे सार्ध आदि विभाग बतलाए गए है, उसी प्रकार समसख्या (बेकी की सख्या) वाले स्कन्धो के विषय में कहना चाहिए । तथा विषमसख्या (एकी—एक की सख्या) वाले स्कन्धो के विषय मे त्रिप्रदेशी स्कन्ध के विषय मे कहे गए अनुसार कहना चाहिए ।

[४] संखेज्जपदेसिए णं भंते ! खंधे किं सअड्ढे ६. पुच्छा ?

गोयमा ! सिय सअड्ढे अमज्झे सपदेसे, सिय अणड्ढे समज्झे सपदेसे ।

[१०-४ प्र.] भगवन् ! क्या सख्यात-प्रदेशी स्कन्ध सार्ध, समध्य और सप्रदेश है, अथवा अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश है ?

[१०-४ प्र.] गौतम ! वह कदाचित् सार्ध होता है, अमध्य होता है, और सप्रदेश है, है, और कदाचित् अनर्ध होता है, समध्य होता है और सप्रदेश होता है ।

[५] जहा संखेज्जपदेसिओ तहा असंखेज्जपदेसिओ वि अणंतपदेसिओ वि ।

[१०-५] जिस प्रकार संख्यातप्रदेशी स्कन्ध के विषय में कहा गया है, उसी प्रकार असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध और अनन्तप्रदेशी स्कन्ध के विषय में भी जान लेना चाहिए ।

विवेचन—परमाणुपुद्गल से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक के सार्ध, समध्य आदि एवं तद्विपरीत होने के विषय में प्रश्नोत्तर—प्रस्तुत सूत्रद्वय मे परमाणुपुद्गल आदि के सार्ध आदि होने, न होने के विषय में प्रश्नोत्तर अंकित हैं।

फलित निष्कर्ष—परमाणुपुद्गल अनर्ध, अमध्य और अप्रदेश होते हैं। परन्तु जो द्विप्रदेशी जैसे समसंख्या (दो, चार, छह, आठ आदि संख्या) वाले स्कन्ध होते हैं, वे सार्ध, अमध्य और सप्रदेश होते हैं, जबकि जो त्रिप्रदेशी जैसे विषम (तीन-पाच, सात, नौ आदि एकी) संख्या वाले स्कन्ध होते हैं वे अनर्ध, समध्य और सप्रदेश होते हैं। इसी प्रकार संख्यातप्रदेशी, असंख्यातप्रदेशी और अनन्त-प्रदेशी स्कन्धो मे जो समसंख्यकप्रदेशी होते है, वे सार्ध, अमध्य और सप्रदेशी होते हैं, और जो विषम-संख्यक-प्रदेशी होते हैं, वे अनर्द्ध, समध्य और सप्रदेश होते हैं।

सार्ध, समध्य, सप्रदेश, अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश—**सअड्ढे**=सार्ध, जिसका बराबर आधा भाग हो सके, **समज्झे**—मध्यसहित—जिसका मध्य भाग हो, **सप्पदेसे**=जो स्कन्ध प्रदेशयुक्त होता है। **अणड्ढे**=जो स्कन्ध अर्धरहित (असर्द्ध) होता है, **अमज्झे**=जिस स्कन्ध के मध्य नही होता, और **अप्पदेसे**—प्रदेशरहित।[1]

परमाणुपुद्गल-द्विप्रदेशी आदि स्कन्धों की परस्पर स्पर्शप्ररूपणा

११. [१] परमाणुपोग्गले णं भंते! परमाणुपोग्गलं फुसमाणे किं देसेणं देसं फुसति १? देसेणं देसे फुसति २? देसेणं सव्वं फुसति ३? देसेहिं देसं फुसति ४? देसेहिं देसे फुसति ५? देसेहिं सव्वं फुसति ६? सव्वेणं देसं फुसति ७? सव्वेणं देसे फुसति ८? सव्वेणं सव्वं फुसति ९?

गोयमा! नो देसेणं देसं फुसति, नो देसेणं देसे फुसति, नो देसेणं सव्वं फुसति, णो देसेहिं देसं फुसति, नो देसेहिं देसे फुसति, नो देसेहिं सव्वं फुसति, णो सव्वेणं देसं फुसति, णो सव्वेणं देसे फुसति, सव्वेणं सव्वं फुसति।

[११-१ प्र] भगवन्! परमाणुपुद्गल, परमाणुपुद्गल को स्पर्श करता हुआ १ क्या एक-देश से एकदेश को स्पर्श करता है?, २ एकदेश से बहुत देशों को स्पर्श करता है?, ३ अथवा एकदेश से सबको स्पर्श करता है?, ४ अथवा बहुत देशो से एकदेश को स्पर्श करता है?, ५ या बहुत देशों से बहुत देशो को स्पर्श करता है?, ६ अथवा बहुत देशो से सभी को स्पर्श करता है?, ७. अथवा सर्व से एकदेश को स्पर्श करता है?, ८. या सर्व से बहुत देशो को स्पर्श करता है?, अथवा ९. सर्व से सर्व को स्पर्श करता है?

[११-१ उ.] गौतम! (परमाणुपुद्गल परमाणपुद्गल को) १. एकदेश से एकदेश को स्पर्श नही करता, २. एकदेश से बहुत देशो को स्पर्श नही करता, ३ एकदेश से सर्व को स्पर्श नही करता, ४. बहुत देशो से एकदेश को स्पर्श नही करता, ५. बहुत देशो से बहुत देशो को स्पर्श नही करता, ६. बहुत देशो से सभी को स्पर्श नही करता, ७. न सर्व से एकदेश को स्पर्श करता है, ८. न सर्व से बहुत देशों को स्पर्श करता है, अपितु ९. सर्व से सर्व को स्पर्श करता है।

---

१. भगवतीसूत्र. अ. वृत्ति, पत्रांक २३३

[२] एव परमाणुपोग्गले दुपदेसियं फुसमाणे सत्तम-णवमेहिं फुसति ।

[११-२] इसी प्रकार द्विप्रदेशी स्कन्ध को स्पर्श करता हुआ परमाणु-पुद्गल सातवे (सर्व से एकदेश का) अथवा नौवे (सर्व से सर्व का), इन दो विकल्पो से स्पर्श करता है।

[३] परमाणुपोग्गले तिपदेसिय फुसमाणे निप्पच्छिमएहिं तिहिं फुसति ।

[११-३] त्रिप्रदेशीस्कन्ध को स्पर्श करता हुआ परमाणुपुद्गल (उपर्युक्त नौ विकल्पो मे से) अन्तिम तीन विकल्पो (सातवे, आठवे और नौवे) से स्पर्श करता है। (अर्थात्—७. सर्व से एकदेश को, ८. सर्व से बहुत देशो को और ९ सर्व से सर्व को स्पर्श करता है।)

[४] जहा परमाणुपोग्गलो तिपदेसियं फुसाविओ एवं फुसावेयव्वो जाव अणतपदेसिओ ।

[११-४] जिस प्रकार एक परमाणुपुद्गल द्वारा त्रिप्रदेशीस्कन्ध के स्पर्श करने का आलापक कहा गया है, उसी प्रकार एक परमाणुपुद्गल से चतुष्प्रदेशीस्कन्ध, पचप्रदेशी स्कन्ध यावत् सख्यात-प्रदेशी स्कन्ध, असख्यातप्रदेशीस्कन्ध एव अनन्तप्रदेशीस्कन्ध तक को स्पर्श करने का आलापक कहना चाहिए। (अर्थात्—एक परमाणुपुद्गल अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक को तीन विकल्पो से स्पर्श करता है।)

१२. [१] दुपदेसिए ण भंते ! खंधे परमाणुपोग्गलं फुसमाणे० पुच्छा ?

ततिय-नवमेहिं फुसति ।

[१२-१ प्र] भगवन्! द्विप्रदेशी स्कन्ध परमाणुपुद्गल को स्पर्श करता हुआ किस प्रकार स्पर्श करता है ?

[१२-१ उ] हे *गौतम! (द्विप्रदेशीस्कन्ध परमाणुपुद्गल को) तीसरे और नौवें विकल्प* से (अर्थात्—एकदेश से सर्व को, तथा सर्व से सर्व को) स्पर्श करता है।

[२] दुपएसिओ दुपदेसियं फुसमाणो पढम-तइय-सत्तम-णवमेहिं फुसति ।

[१२-२] द्विप्रदेशीस्कन्ध, द्विप्रदेशीस्कन्ध को स्पर्श करता हुआ पहले, तीसरे, सातवें और नौवें विकल्प से स्पर्श करता है।

[३] दुपएसिओ तिपदेसिय फुसमाणो आदिल्लएहि य पच्छिल्लएहि य तिहिं फुसति, मज्झिम-एहिं तिहिं वि पडिसेहेयव्वं ।

[१२-३] द्विप्रदेशीस्कन्ध, त्रिप्रदेशीस्कन्ध को स्पर्श करता हुआ आदिम तीन (प्रथम, द्वितीय और तृतीय) तथा अन्तिम तीन (सप्तम, अष्टम और नवम) विकल्पों से स्पर्श करता है। इसमें बीच के तीन (चतुर्थ, पचम और षष्ठ) विकल्पो को छोड़ देना चाहिए।

[४] दुपदेसिओ जहा तिपदेसियं फुसाविओ एवं फुसावेयव्वो जाव अणंतपदेसियं ।

[१२-४] जिस प्रकार द्विप्रदेशीस्कन्ध द्वारा त्रिप्रदेशीस्कन्ध के स्पर्श का आलापक कहा गया है, उसी प्रकार द्विप्रदेशीस्कन्ध द्वारा चतुष्प्रदेशीस्कन्ध, पचप्रदेशीस्कन्ध यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध के स्पर्श का आलापक कहना चाहिए।

१३ [१] तिपदेसिए णं भंते ! खंधे परमाणुपोग्गलं फुसमाणे० पुच्छा।

ततिय-छट्ठ-नवमेहिं फुसति।

[१३-१ प्र] भगवन् ! अब त्रिप्रदेशीस्कन्ध द्वारा परमाणुपुद्गल को स्पर्श करने के सम्बन्ध मे पृच्छा है।

[१३-१ उ] गौतम ! त्रिप्रदेशीस्कन्ध परमाणुपुद्गल को तीसरे, छठे और नौवे विकल्प से, (अर्थात्—एकदेश से सर्व को, बहुत देशो से सर्व को और सर्व से सर्व को) स्पर्श करता है।

[२] तिपदेसिओ दुपदेसियं फुसमाणो पढमएण ततियएणं चउत्थ-छट्ठ-सत्तम-णवमेहिं फुसति।

[१३-२] त्रिप्रदेशी स्कन्ध, द्विप्रदेशी स्कन्ध को स्पर्श करता हुआ पहले, तीसरे, चौथे, छठे, सातवे और नौवे विकल्प से स्पर्श करता है।

[३] तिपदेसिओ तिपदेसियं फुसमाणो सव्वेसु वि ठाणेसु फुसति।

[१३-३] त्रिप्रदेशीस्कन्ध को स्पर्श करता त्रिप्रदेशीस्कन्ध पूर्वोक्त सभी स्थानो (नौ ही विकल्पो) से स्पर्श करता है।

[४] जहा तिपदेसिओ तिपदेसियं फुसावितो एवं तिपदेसिओ जाव अणंतपएसिएणं संजोएयव्वो।

[१३-४] जिस प्रकार त्रिप्रदेशीस्कन्ध द्वारा त्रिप्रदेशीस्कन्ध को स्पर्श करने के सम्बन्ध मे आलापक कहा गया है, उसी प्रकार त्रिप्रदेशीस्कन्ध द्वारा चतुष्प्रदेशी स्कन्ध, यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध को स्पर्श करने के सम्बन्ध में आलापक कहना चाहिए।

[५] जहा तिपदेसिओ एवं जाव अणंतपएसिओ भाणियव्वो।

[१३-५] जिस प्रकार त्रिप्रदेशीस्कन्ध के द्वारा स्पर्श के सम्बन्ध मे (तेरहवें सूत्र के चार भागो मे) कहा गया है, वैसे ही (चतुष्प्रदेशी स्कन्ध से) यावत् (अनन्तप्रदेशीस्कन्ध द्वारा परमाणु-पुद्गल से लेकर) अनन्तप्रदेशीस्कन्ध तक को स्पर्श करने के सम्बन्ध मे कहना चाहिए।

विवेचन—परमाणुपुद्गल, द्विप्रदेशीस्कन्ध आदि की परस्पर स्पर्श-सम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत तीन सूत्रो द्वारा परमाणुपुद्गल से लेकर द्विप्रदेशीस्कन्ध, त्रिप्रदेशीस्कन्ध यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध के परस्पर स्पर्श की प्ररूपणा नौ विकल्पो मे से अमुक विकल्पो द्वारा की गई है।

स्पर्श के नौ विकल्प—(१) एकदेश से एकदेश का स्पर्श, (२) एकदेश से बहुत देशो का स्पर्श (३) एकदेश से सर्व का स्पर्श, (४) बहुत देशों से एक देश का स्पर्श, (५) बहुत देशों से बहुत देशों

का स्पर्श, (६) बहुत देशो से सर्व का स्पर्श, (७) सर्व से एकदेश का स्पर्श (८) सर्व से बहुत देशो का स्पर्श और (९) सर्व से सर्व का स्पर्श। देश का अर्थ यहाँ भाग है, और 'सर्व' का अर्थ है—सम्पूर्ण भाग।

सर्व से सर्व के स्पर्श की व्याख्या—सर्व से सर्व को स्पर्श करने का अर्थ यह नही है कि दो परमाणु परस्पर मिलकर एक हो जाते हैं, परन्तु इसका अर्थ यह है कि दो परमाणु समस्त स्वात्मा द्वारा परस्पर एक दूसरे का स्पर्श करते है, क्योकि दो परमाणुओ के आधा आदि विभाग नही होते।

द्विप्रदेशी और त्रिप्रदेशी स्कन्ध में अन्तर—द्विप्रदेशीस्कन्ध स्वय अवयवी है, वह किसी का अवयव नही है, इसलिए इसमें सर्व से दो (बहुत) देशो का स्पर्श घटित नही होता, जबकि त्रिप्रदेशी-स्कन्ध मे तोन प्रदेशो की अपेक्षा दो प्रदेशो का स्पर्श करते समय एक प्रदेश बाकी रहता है।[1]

द्रव्य-क्षेत्र-भावगत पुद्‌गलो का काल की अपेक्षा से निरूपण

१४. [१] **परमाणुपोग्गले णं भंते ! कालतो केवच्चिरं होति ?**

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं।

[१४-१ प्र] भगवन् ! परमाणुपुद्‌गल काल की अपेक्षा कब तक रहता है ?

[१४-१ उ.] गौतम ! परमाणुपुद्‌गल (परमाणुपुद्‌गल के रूप मे) जघन्य (कम से कम) एक समय तक रहता है, और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) असख्यकाल तक रहता है।

[२] **एवं जाव अणंतपदेसिओ।**

[१४-२] इसी प्रकार (द्विप्रदेशीस्कन्ध से लेकर) यावत् अनन्तप्रदेशीस्कन्ध तक कहना चाहिए।

१५. [१] **एगपदेसोगाढे णं भंते ! पोग्गले सेए तम्मि वा ठाणे अन्नम्मि वा ठाणे कालओ केवचिरं होइ ?**

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं।

[१५-१ प्र.] भगवन् ! एक आकाश-प्रदेशावगाढ (एक आकाशप्रदेश मे स्थित) पुद्‌गल उस (स्व)स्थान मे या अन्य स्थान में काल की अपेक्षा से कब तक सकम्प (सैज) रहता है ?

[१५-१ उ.] गौतम ! (एकप्रदेशावगाढ पुद्‌गल) जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट आवलिका के असख्येय भाग तक (उभय स्थानो मे) सकम्प रहता है।

[२] **एवं जाव असंखेज्जपदेसोगाढे।**

[१५-२] इसी तरह (द्विप्रदेशावगाढ से लेकर) यावत् असख्येय प्रदेशावगाढ तक कहना चाहिए।

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २३४

[३] एगपदेसोगाढे णं भंते ! पोग्गले निरेए कालग्रो केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं ।

[१५-३ प्र.] भगवन् ! एक आकाशप्रदेश में अवगाढ पुद्गल काल की अपेक्षा से कब तक निष्कम्प (निरेज) रहता है ?

[१५-३ उ.] गौतम ! (एक-प्रदेशावगाढ़ पुद्गल) जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक असख्येय काल तक निष्कम्प रहता है ।

[४] एवं जाव असंखेज्जपदेसोगाढे ।

[१५-४] इसी प्रकार (द्विप्रदेशावगाढ से लेकर) यावत् असख्येय प्रदेशावगाढ तक (के विषय मे कहना चाहिए ।)

१६ [१] एगगुणकालए ण भंते ! पोग्गले कालतो केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेण एगं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं ।

[१६-१ प्र.] भगवन् ! एकगुण काला पुद्गल काल की अपेक्षा से कब तक (एकगुण काला) रहता है ?

[१६-१ उ.] गौतम ! जघन्यत एक समय तक और उत्कृष्ट असख्येयकाल तक (एकगुण काला पुद्गल रहता है ।)

[२] एवं जाव अणंतगुणकालए ।

[१६-२] इसी प्रकार (द्विगुणकाले पुदगल से लेकर) यावत् अनन्तगुणकाले पुद्गल का (पूर्वोक्त प्रकार से) कथन करना चाहिए ।

१७ एवं वण्ण-गंध-रस-फास० जाव अणंतगुणलुक्खे ।

[१७] इसी प्रकार (एक गुण) वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श वाले पुद्गल के विषय मे यावत् अनन्तगुण रूक्ष पुद्गल तक पूर्वोक्त प्रकार से काल की अपेक्षा से कथन करना चाहिए ।

१८ एवं सुहुमपरिणए पोग्गले ।

[१८] इसी प्रकार सूक्ष्म-परिणत (सूक्ष्म-परिणामी) पुद्गल के सम्बन्ध मे कहना चाहिए ।

१९. एवं बादरपरिणए पोग्गले ।

[१९] इसी प्रकार बादर-परिणत (स्थूल परिणाम वाले) पुद्गल के सम्बन्ध मे कहना चाहिए ।

२०. सद्दपरिणते णं भंते ! पुग्गले कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं ।

[२० प्र.] भगवन् ! शब्दपरिणत पुद्गल काल की अपेक्षा से कब तक (शब्दपरिणत) रहता है ?

[२० उ.] गौतम ! शब्दपरिणतपुद्गल जघन्यतः एक समय तक और उत्कृष्टतः आवलिका के असख्येय भाग तक रहता है।

२१ असद्दपरिणते जहा एगगुणकालए।

[२१] जिस प्रकार एकगुण काले पुद्गल के विषय मे कहा है, उसी तरह अशब्दपरिणत पुद्गल (की कालावधि) के विषय मे (कहना चाहिए।)

विवेचन—द्रव्य-क्षेत्र-भावगत पुद्गलों का काल की अपेक्षा से निरूपण—प्रस्तुत आठ सूत्रो द्वारा शास्त्रकार ने द्रव्यगत, क्षेत्रगत, एव वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शभावगत पुद्गलो का काल की अपेक्षा से निरूपण किया है।

द्रव्य-क्षेत्र-भावगतपुद्गल—प्रस्तुत सूत्रो मे 'परमाणुपुद्गल' का उल्लेख करके द्रव्यगत पुद्गल की ओर, एकप्रदेशावगाढ आदि कथन करके क्षेत्रगतपुद्गल की ओर, तथा वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श गुणयुक्त, शब्दपरिणत-अशब्दपरिणत, सकम्प-निष्कम्प, एकगुणकृष्ण इत्यादि कथन से भावगत पुद्गल की ओर संकेत किया है। तथा इन सब प्रकार के विशिष्ट पुद्गलो का कालसम्बन्धी अर्थात् पुद्गलो की सस्थितिसम्बन्धी निरूपण है। कोई भी पुद्गल 'अनन्तप्रदेशावगाढ' नही होता, वह उत्कृष्ट असख्येयप्रदेशावगाढ होता है, क्योकि पुद्गल लोकाकाश मे ही रहते हैं और लोकाकाश के प्रदेश असख्यात ही हैं। इसी तरह परमाणुपुद्गल उत्कृष्ट असख्यातकाल तक रहता है, उसके पश्चात् पुद्गलो की एकरूप स्थिति नही रहती।[1]

विविध पुद्गलों का अन्तरकाल

२२. परमाणुपोग्गलस्स णं भंते अंतरं कालतो केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं।

[२२ प्र.] भगवन् ! परमाणु-पुद्गल का काल की अपेक्षा से कितना लम्बा अन्तर होता है ? (अर्थात्—जो पुद्गल अभी परमाणु रूप है उसे अपना परमाणुपन छोडकर, स्कन्धादिरूप मे परिणत होने पर, पुन परमाणुपन प्राप्त करने मे कितने लम्बे काल का अन्तर होता है ?)

[२२ उ.] गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट असख्येय काल का अन्तर होता है।

२३. [१] दुप्पदेसियस्स णं भंते ! खंधस्स अंतरं कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं अणंतं कालं।

[२३-१ प्र.] भगवन् ! द्विप्रदेशिक स्कन्ध का काल की अपेक्षा से कितना लम्बा अन्तर होता है ?

---

१ भगवतीसूत्र अ वृत्ति, पत्रांक २३५

[२३-१ उ.] गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्टतः अनन्तकाल का अन्तर होता है।

[२] एवं जाव अणंतपदेसिओ।

[२३-२] इसी तरह (त्रिप्रदेशिकस्कन्ध से लेकर) यावत् अनन्तप्रदेशिकस्कन्ध तक कहना चाहिए।

२४. [१] एगपदेसोगाढस्स णं भंते ! पोग्गलस्स सेयस्स अंतरं कालतो केवचिरं होइ ?
गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं।

[२४-१ प्र.] भगवन् ! एकप्रदेशावगाढ सकम्प पुद्गल का अन्तर कितने काल का होता है ? (अर्थात्—एक आकाश-प्रदेश में स्थित सकम्प पुद्गल अपना कम्पन बंद करे, तो उसे पुनः कम्पन करने में—सकम्प होने में—कितना समय लगता है ?)

[२४-१ उ.] हे गौतम ! जघन्यतः एक समय का, और उत्कृष्टतः असंख्येयकाल का अन्तर होता है। (अर्थात्—वह पुद्गल जब कम्पन करता रुक जाए—अकम्प अवस्था को प्राप्त हो और फिर कम्पन प्रारम्भ करे—सकम्प बने तो उसका अन्तर कम से कम एक समय और अधिक से अधिक असंख्यात काल का है।)

[२] एवं जाव असंखेज्जपदेसोगाढे।

[२४-२] इसी तरह (द्विप्रदेशावगाढ सकम्प पुद्गल से लेकर) यावत् असंख्यप्रदेशावगाढ तक का अन्तर कहना चाहिए।

२५. [१] एगपदेसोगाढस्स णं भंते ! पोग्गलस्स निरेयस्स अंतरं कालतो केवचिरं होइ ?
गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं।

[२५-१ प्र.] भगवन् ! एकप्रदेशावगाढ निष्कम्प पुद्गल का अन्तर कालतः कितने काल का होता है ?

[२५-१ उ.] गौतम ! जघन्यतः एक समय का और उत्कृष्टतः आवलिका के असंख्येय भाग का अन्तर होता है।

[२] एवं जाव असंखेज्जपएसोगाढे।

[२५-२] इसी तरह (द्विप्रदेशावगाढ निष्कम्प पुद्गल से लेकर) यावत् असंख्येयप्रदेशावगाढ तक कहना चाहिए।

२६. वण्ण-गंध-रस-फास-सुहुमपरिणय-बादरपरिणयाणं एतेसिं जं च्चेव संचिट्ठणा तं चेव अंतरं पि भाणियव्वं।

[२६] वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शगत, सूक्ष्म-परिणत एवं बादरपरिणत पुद्गलों का जो संस्थितिकाल (संचिट्ठणाकाल) कहा गया है, वही उनका अन्तरकाल समझना चाहिए।

२७. सद्दपरिणयस्स णं भंते ! पोग्गलस्स अंतरं कालतो केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं ।

[२७ प्र.] भगवन् ! शब्दपरिणत पुद्गल का अन्तर काल की अपेक्षा कितने काल का होता है ?

[२७ उ.] गौतम ! जघन्य एक समय का, उत्कृष्टत. असख्येय काल का अन्तर होता है ।

२८. असद्दपरिणयस्स णं भंते ! पोग्गलस्स अंतरं कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ? जहण्णेणं एगं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं ।

[२८ प्र] भगवन् ! अशब्दपरिणत पुद्गल का अन्तर कालत कितने काल का होता है ?

[२८ उ] गौतम ! जघन्य एक समय का और उत्कृष्टत आवलिका के असंख्येय भाग का अन्तर होता है ।

विवेचन— विविध पुद्गलों का अन्तर-काल—प्रस्तुत सात (सू २२ मे २८ तक) सूत्रो मे परमाणुपुद्गल, द्विप्रदेशीस्कन्ध से लेकर अनन्तप्रदेशी तक के सामान्य अन्तर-काल तथा सकम्प, निष्कम्प वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-सूक्ष्म-बादरपरिणत एव शब्दपरिणत-अशब्दपरिणत के विशिष्ट अन्तर-काल का निरूपण किया गया है ।

अन्तरकाल की व्याख्या—एक विशिष्ट पुद्गल अपना वह वैशिष्ट्य छोड कर दूसरे रूप मे परिणत हो जाने पर फिर वापस उसी भूतपूर्व विशिष्टरूप को जितने काल बाद प्राप्त करता है, उसे ही अन्तरकाल कहते है ।[1]

क्षेत्रादि-स्थानायु का अल्प-बहुत्व

२९. एयस्स णं भंते ! दव्वट्ठाणाउयस्स खेत्तट्ठाणाउयस्स ओगाहणट्ठाणाउयस्स भावट्ठाणाउयस्स कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवे खेत्तट्ठाणाउए, ओगाहणट्ठाणाउए असंखेज्जगुणे, दव्वट्ठाणाउए असंखेज्जगुणे, भावट्ठाणाउए असंखेज्जगुणे ।

खेत्तोगाहण-दव्वे भावट्ठाणाउयं च अप्पबहुं ।
खेत्ते सव्वत्थोवे सेसा ठाणा असंखगुणा ।।१।।

[२९ प्र] भगवन् ! इन द्रव्यस्थानायु, क्षेत्रस्थानायु, अवगाहनास्थानायु और भावस्थानायु, इन सबमें कौन किससे कम, अधिक, तुल्य और विशेषाधिक है ?

[२९ उ.] गौतम ! सबसे कम क्षेत्रस्थानायु है, उससे अवगाहनास्थानायु असख्येयगुणा है, उससे द्रव्य-स्थानायु असख्येयगुणा है और उससे भावस्थानायु असंख्येयगुणा है ।

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २३५

गाथा का भावार्थ—क्षेत्रस्थानायु, अवगाहना-स्थानायु, द्रव्यस्थानायु और भावस्थानायु; इनका अल्प-बहुत्व कहना चाहिए। इनमे क्षेत्रस्थानायु सबसे अल्प है, शेष तीन स्थानायु क्रमशः असख्येयगुणा हैं।

विवेचन—क्षेत्रादिस्थानायु का अल्पबहुत्व—प्रस्तुत सूत्र और तदनुरूप गाथा मे क्षेत्र, अवगाहना, द्रव्य और भावरूप स्थानायु के अल्प-बहुत्व की प्ररूपणा की गई है।

द्रव्य-स्थानायु आदि का स्वरूप—पुद्गल द्रव्य का स्थान—यानी परमाणु, द्विप्रदेशिकादि स्कन्ध आदि रूप मे अवस्थान की आयु अर्थात् स्थिति (रहना) द्रव्यस्थानायु है। एकप्रदेशादि क्षेत्र मे पुद्गलो के अवस्थान को क्षेत्रस्थानायु कहते है। इसी प्रकार पुद्गलो के आधार-स्थलरूप एक प्रकार का आकार अवगाहना है, इस अवगाहित किये हुए परिमित क्षेत्र में पुद्गलो का रहना अवगाहना-स्थानायु कहलाता है। द्रव्य के विभिन्न रूपो मे परिवर्तित होने पर भी द्रव्य के आश्रित गुणो का जो अवस्थान रहता है, उसे भावस्थानायु कहते है।[1]

द्रव्यस्थानायु आदि के अल्प-बहुत्व का रहस्य—द्रव्यस्थानायु आदि चारो मे क्षेत्र अमूर्तिक होने से तथा उसके साथ पुद्गलो के बध का कारण 'स्निग्धत्व' न होने से पुद्गलो का क्षेत्रावस्थान-काल (अर्थात्—क्षेत्रस्थानायु) सबसे थोडा बताया गया है। एक क्षेत्र मे रहा हुआ पुद्गल दूसरे क्षेत्र मे चला जाता है, तब भी उसकी अवगाहना वही रहती है, इसलिए क्षेत्रस्थानायु की अपेक्षा अवगाहनास्थानायु असंख्यगुणा है। सकोच-विकासरूप अवगाहना की निवृत्ति हो जाने पर भी द्रव्य दीर्घकाल तक रहता है, इसलिए अवगाहना-स्थानायु की अपेक्षा द्रव्यस्थानायु असख्यगुणा है। द्रव्य की निवृत्ति, या अन्यरूप मे परिणति होने पर द्रव्य मे बहुत से गुणो की स्थिति चिरकाल तक रहती है, सब गुणो का नाश नही होता; अनेक गुण अवस्थित रहते है, इसलिए द्रव्यस्थानायु की अपेक्षा भावस्थानायु असख्यगुणा है।[2]

चौबीस दण्डकों के जीवों के आरम्भ-परिग्रहयुक्त होने की सहेतुक प्ररूपणा

३० [१] नेरइया णं भंते ! किं सारंभा सपरिग्गहा ? उदाहु अणारंभा अपरिग्गहा ?

गोयमा ! नेरइया सारभा सपरिग्गहा, नो अणारंभा णो अपरिग्गहा।

[३०-१ प्र] भगवन् ! क्या नैरयिक आरम्भ और परिग्रह से सहित होते है, अथवा अनारम्भी एव अपरिग्रही होते हैं ?

[३०-१ उ] गौतम ! नैरयिक सारम्भ एव सपरिग्रह होते हैं, किन्तु अनारम्भी एव अपरिग्रही नही होते।

[२] से केणट्ठेणं जाव अपरिग्गहा ?

गोयमा ! नेरइया णं पुढविकायं समारभंति जाव तसकायं समारंभंति, सरीरा परिग्गहिया भवंति, कम्मा परिग्गहिया भवंति, सचित्त-अचित्त-मीसयाइं दव्वाइं परिग्गहियाइं भवंति; से तेणट्ठेणं तं चेव।

---

१. (क) भगवती अ वृत्ति, पत्रांक २३८ (ख) भगवती० हिन्दी विवेचन, भा. २, पृ ८८३-८८४

२. (क) भगवती अ वृत्ति, पत्रांक २३६-२३७ (ख) भगवती० हिन्दी विवेचन, भा २, पृ ८८४

(ग) 'स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः' —तत्त्वार्थसूत्र अ ५, सू ३२

[३०-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से वे आरम्भयुक्त एव परिग्रह-सहित होते है, किन्तु अनारम्भी एव अपरिग्रही नही होते।

[३०-२ उ] गौतम ! नैरयिक पृथ्वीकाय का समारम्भ करते हैं, यावत् त्रसकाय का समारम्भ करते हैं, (इसलिए वे आरम्भयुक्त है) तथा उन्होने शरीर परिगृहीत किये (ममत्वरूप से ग्रहण किये—अपनाए) हुए हैं, कर्म (ज्ञानावरणीयादिकर्मवर्गणा के पुद्गलरूप द्रव्यकर्म तथा रागद्वेषादिरूप भावकर्म) परिगृहीत किये हुए हैं, और, सचित्त अचित्त एव मिश्र द्रव्य परिगृहीत किये (ममत्वपूर्वक ग्रहण किये) हुए हैं, इस कारण से हे गौतम ! नैरयिक परिग्रहसहित है, किन्तु अनारम्भी और अपरिग्रही नही है।

३१. [१] असुरकुमारा ण भंते ! किं सारंभा सपरिग्गहा ? उदाहु अणारंभा अपरिग्गहा ?
गोयमा ! असुरकुमारा सारंभा सपरिग्गहा, नो अणारंभा अपरिग्गहा।

[३१-१ प्र] भगवन् ! असुरकुमार क्या आरम्भयुक्त एवं परिग्रह-सहित होते है, अथवा अनारम्भी एवं अपरिग्रही होते हैं ?

[३१-१ उ] गौतम ! असुरकुमार भी सारम्भ एव सपरिग्रह होते है, किन्तु अनारम्भी एव अपरिग्रहो नही होते।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोयमा ! असुरकुमारा णं पुढविकायं समारंभंति जाव तसकायं समारंभंति, सरीरा परिग्गहिया भवंति, कम्मा परिग्गहिया भवंति, भवणा परि० भवंति, देवा देवीओ मणुस्सा मणुस्सीओ तिरिक्खजोणिया तिरिक्खजोणिणीओ परिग्गहियाओ भवंति, असण-सयण-भंडमत्तोवगरणा परिग्गहिया भवंति, सचित-अचित्त-मीसयाइं दव्वाइं परिग्गहियाइं भवंति; से तेणट्ठेणं तहेव।

[३१-२ प्र] भगवन् ! असुरकुमार किस कारण से सारम्भ एव सपरिग्रह होते हैं, किन्तु अनारम्भी एव अपरिग्रही नही होते ?

[३१-२ उ] गौतम ! असुरकुमार पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक का समारम्भ करते हैं, तथा उन्होने शरीर परिगृहीत किये हुए है, कर्म परिगृहीत किये हुए हैं, भवन परिगृहीत (ममत्वपूर्वक ग्रहण) किये हुए हैं, वे देव-देवियो, मनुष्य पुरुष-स्त्रियो, तिर्यञ्च नर-मादाओ को परिगृहीत किये हुए हैं, तथा वे आसन, शयन, भाण्ड (मिट्टी के बर्तन या अन्य सामान) मात्रक (बर्तन—कासी आदि धातुओ के पात्र), एव विविध उपकरण (कडाही, कुडछी आदि) परिगृहीत किये (ममतापूर्वक सग्रह किये) हुए हैं, एव सचित्त, अचित्त तथा मिश्र द्रव्य परिगृहीत किये हुए हैं। इस कारण से वे आरम्भयुक्त एवं परिग्रहसहित हैं, किन्तु अनारम्भी और अपरिग्रही नही है।

[३] एवं जाव थणियकुमारा।

[३१-३] इसी प्रकार (नागकुमार से लेकर) यावत् स्तनितकुमार तक कहना चाहिए।

३२. एगिदिया जहा नेरइया।

[३२] जिस तरह नैरयिकों के (सारम्भ-सपरिग्रह होने के) विषय में कहा है, उसी तरह (पृथ्वीकायादि) एकेन्द्रियों के विषय में कहना चाहिए।

३३ [१] बेइंदिया णं भंते ! किं सारंभा सपरिग्गहा० ?

तं चेव जाव सरीरा परिग्गहिया भवंति, बाहिरिया भंडमत्तोवगरणा परि० भवंति, सचित्त-अचित्त० जाव भवंति।

[३३-१ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव क्या सारम्भ-सपरिग्रह होते हैं, अथवा अनारम्भी एवं अपरिग्रही होते हैं ?

[३३-१ उ.] गौतम ! द्वीन्द्रिय जीव भी आरम्भ-परिग्रह से युक्त है, वे अनारम्भी-अपरिग्रही नहीं है, इसका कारण भी वही पूर्वोक्त है। (वे षट्काय का आरम्भ करते हैं) तथा यावत् उन्होंने शरीर परिगृहीत किये हुए हैं, उनके बाह्य भाण्ड (मिट्टी के बर्तन), मात्रक (कांसे आदि धातुओं के पात्र) तथा विविध उपकरण परिगृहीत किये हुए होते है, एवं सचित्त, अचित्त तथा मिश्र द्रव्य भी परिगृहीत किये हुए होते हैं। इसलिए वे यावत् अनारम्भी, अपरिग्रही नहीं होते।

[२] एवं जाव चउरिंदिया।

[३३-२] इसी प्रकार त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के विषय में कहना चाहिए।

३४. पंचिंदियतिरिक्खजोणिया णं भंते ?

तं चेव जाव कम्मा परिग्गहिया भवंति, टंका कूडा सेला सिहरी पब्भारा परिग्गहिया भवंति, जल-थल-बिल-गुह-लेणा परिग्गहिया भवंति, उज्झर-निज्झर-चिल्लल-पल्लल-वप्पिणा परिग्गहिया भवंति, अगड-तडाग-दह-नदीओ वावि-पुक्खरिणी-दीहिया गुंजालिया सरा सरपंतियाओ सरसरपंतियाओ बिलपंतियाओ परिग्गहियाओ भवंति, आराम-उज्जाणा काणणा वणाइं वणसंडाइं वणराईओ परिग्गहियाओ भवंति, देवउल-सभा-पवा-थूभा खातिय-परिखाओ परिग्गहियाओ भवंति, पागार-ट्टालग-चरिया-दार-गोपुरा परिग्गहिया भवंति, पासाद-घर-सरण-लेण-आवणा परिग्गहिता भवंति, सिंघाडग-तिग-चउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापहा परिग्गहिया भवंति, सगड-रह-जाण-जुग्ग-गिल्लि-थिल्लि-सीय-संदमाणियाओ परिग्गहियाओ भवंति, लोही लोहकडाह-कडच्छुया परिग्गहिया भवंति, भवणा—परिग्गहिया भवंति, देव देवीओ मणुस्सा मणुस्सीओ तिरिक्खजोणिया तिरिक्खजोणीओ आसण-सयण-खंभ-भंड-सचित्ताचित्त-मीसयाइं दव्वाइं परिग्गहियाइं भवंति; से तेणट्ठेणं०।

[३४ प्र.] भगवन् ! पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक जीव क्या आरम्भ-परिग्रहयुक्त हैं, अथवा आरम्भ-परिग्रहरहित हैं ?

[३४ उ.] गौतम ! पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक जीव, आरम्भ-परिग्रह-युक्त हैं, किन्तु आरम्भ-परिग्रहरहित नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने शरीर यावत् कर्म परिगृहीत किये है। तथा उनके टंक (पर्वत से विच्छिन्न टुकड़ा), कूट (शिखर अथवा उनके हाथी आदि को बांधने के स्थान), शैल (मुण्ड-

पर्वत), शिखरी (चोटी वाले पर्वत), एव प्राग्भार (थोडे से झुके पर्वत के प्रदेश) परिगृहीत (ममतापूर्वक ग्रहण किये हुए) होते है। इसी प्रकार जल, स्थल, बिल, गुफा, लयन (पहाड खोद कर बनाए हुए पर्वतगृह) भी परिगृहीत होते है। उनके द्वारा उज्झर (पर्वततट से नीचे गिरने वाला जल-प्रपात), निर्झर (पर्वत से बहने वाला जलस्रोत -झरना), चिल्लल (कीचड मिला हुआ पानी या जलाशय), पल्लल (प्रह्लाददायक जलाशय) तथा वप्रीण (क्यारियो वाला जलस्थान अथवा तट-प्रदेश) परिगृहीत होते है। उनके द्वारा कूप, तडाग (तालाब), द्रह (झील या जलाशय), नदी, वापी (चौकान बावडी), पुष्करिणी (गोल बावडी या कमलो से युक्त बावडी, दीर्घिका (हौज या लम्बी बावडी), सरोवर, सर-पक्ति (सरोवरश्रेणी), सरसरपक्ति (एक सरोवर से दूसरे सरोवर मे पानी जाने का नाला), एव बिलपक्ति (बिलो की श्रेणी) परिगृहीत होते हैं। तथा आराम (लतामण्डप आदि से सुशोभित परिवार के आमोद-प्रमोद का स्थान), उद्यान (सार्वजनिक बगीचा), कानन (सामान्य वृक्षो से युक्त ग्राम के निकटवर्ती वन), वन (गाँव से दूर स्थित जगल), वन-खण्ड (एक ही जाति के वृक्षो से युक्त वन), वनराजि (वृक्षो की पक्ति), ये सब परिगृहीत किये हुए होते है। फिर देवकुल (देवमन्दिर), सभा, आश्रम, प्रपा (प्याऊ), स्तूभ (खम्भा या स्तूप), खाई, परिखा (ऊपर और नीचे समान खोदी हुई खाई), ये भी परिगृहीत की होती है, तथा प्राकार (किला), अट्टालक (अटारी), या किले पर बनाया हुआ मकान अथवा झरोखा), चरिका (घर और किले के बीच मे हाथी आदि के जाने का मार्ग), द्वार, गोपुर (नगरद्वार), ये सब परि-गृहीत किये होते है। इनके द्वारा प्रासाद (देवभवन या राजमहल), घर, सरण (झौपडा), लयन (पर्वतगृह), आपण (दुकान) परिगृहीत किये जाते है। शृङ्गाटक (सिघाडे के आकार का △ त्रिकोण मार्ग), त्रिक (तीन मार्ग मिलते है, ऐसा स्थान), चतुष्क (चौक--जहाँ चार मार्ग □ मिलते हैं), चत्वर (जहाँ सब मार्ग मिलते हो ऐसा स्थान, या आगन), चतुर्मुख (चार द्वारो वाला मकान या देवालय), महापथ (राजमार्ग या चौडी सडक) परिगृहीत होते है। शकट (गाडी), रथ, यान (सवारी या वाहन), युग्य (युगल हाथ प्रमाण एक प्रकार की पालखी), गिल्ली (अम्बाडी), थिल्ली (घोडे का पलान —काठी), शिविका (पालखी या डोली), स्यन्दमानिका (म्याना या सुखपालकी) आदि परिगृहीत किये होते है। लोही (लोहे की दाल-भात पकाने की देगची या बटलोई), लोहे की कडाही, कुडछी आदि चीजे परिग्रहरूप मे गृहीत होती है। इनके द्वारा भवन (भवनपति देवो के निवासस्थान) भी परिगृहीत होते है। (इनके अतिरिक्त) देवदेवियाँ मनुष्यनर-नारियाँ, एव तिर्यंच नर-मादाएँ, आसन, शयन, खण्ड (टुकड़ा), भाण्ड (बर्तन या किराने का सामान) एव सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य परिगृहीत होते है। इस कारण से ये पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीव आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं, किन्तु अनारम्भी—अपरिग्रही नही होते।

३५. जहा तिरिक्खजोणिया तहा मणुस्सा वि भाणियव्वा।

[३५] जिस प्रकार तिर्यञ्चपञ्चेन्द्रिय जीवो के (सारम्भ सपरिग्रह होने के) विषय में कहा, उसी प्रकार मनुष्यों के विषय मे भी कहना चाहिए।

३६. वाणमंतर-जोतिस-वेमाणिया तहा नेयव्वा।

[३६] जिस प्रकार भवनवासी देवो के विषय में कहा, वैसे ही वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो के (आरम्भ-परिग्रहयुक्त होने के) विषय मे (सहेतुक) कहना चाहिए।

विवेचन—चौबीस दण्डकों के जीवों के आरम्भपरिग्रहयुक्त होने की सहेतुक प्ररूपणा—प्रस्तुत सात सूत्रो (सू. ३० से ३६ तक) मे नारको से लेकर वैमानिक तक चौबीस ही दण्डको के जीवो के आरम्भ-परिग्रहयुक्त होने को कारण सहित प्ररूपणा विविध प्रश्नोत्तरो द्वारा की गई है।

आरम्भ और परिग्रह का स्वरूप—आरम्भ का अर्थ है– वह प्रवृत्ति जिससे किसी भी जीव का उपमर्दन—प्राणहनन होता हो। और परिग्रह का अर्थ है—किसी भी वस्तु या भाव का ममता-मूर्च्छापूर्वक ग्रहण या सग्रह। यद्यपि एकेन्द्रिय आदि जीव आरम्भ करते या परिग्रहयुक्त होते दिखाई नही देते, तथापि जब तक जीव द्वारा मन-वचन-काय से—स्वेच्छा से आरम्भ एव परिग्रह का प्रत्याख्यान (त्याग) नही किया जाता, तब तक आरम्भ और परिग्रह का दोष लगता ही है, इसलिए उन्हे आरम्भ-परिग्रहयुक्त कहा गया है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय प्राणियों के भी सिद्धान्तानुसार शरीर, कर्म एव कुछ सम्बन्धित उपकरणो का परिग्रह होता है, और उनके द्वारा अपने खाद्य, शरीररक्षा आदि कारणो से आरम्भ भी होता है। तिर्यंचपचेन्द्रिय जीवो, मनुष्यो, नारको, तथा समस्त प्रकार के देवो के द्वारा आरम्भ और परिग्रह मे लिप्तता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि मनुष्यो मे वीतराग पुरुष, केवली, तथा निर्ग्रन्थ साधु-साध्वी आरम्भ-परिग्रह से मुक्त होते है, किन्तु यहाँ समग्र मनुष्यजाति की अपेक्षा से मनुष्य को सारम्भ-सपरिग्रह बताया गया है।[1]

विविध अपेक्षाओं से पांच हेतु-अहेतुओं का निरूपण

३७ पंच हेतू पण्णत्ता, तं जहा—हेतुं जाणति, हेतुं पासति, हेतुं बुज्झति, हेतुं अभिसमागच्छति, हेतुं छउमत्थमरणं मरति।

[३७] पाच हेतु कहे गए है, वे इस प्रकार है—(१) हेतु को जानता है, (२) हेतु को देखता (सामान्यरूप से जानता) है, (३) हेतु का बोध प्राप्त करता—तात्त्विक श्रद्धान करता है, (४) हेतु का अभिसमागम—अभिमुख होकर सम्यक् रूप से प्राप्त—करता है, और (५) हेतुयुक्त छद्मस्थमरणपूर्वक मरता है।

३८. पंच हेतू पण्णत्ता, तं जहा—हेतुणा जाणति जाव हेतुणा छउमत्थमरणं मरति।

[३८] पाच हेतु (प्रकारान्तर मे) कहे गए हैं। वे इस प्रकार—(१) हेतु (अनुमान) द्वारा (अनुमेय को) सम्यक् जानता है, (२) हेतु (अनुमान) से देखता (सामान्य ज्ञान करता) है, (३) हेतु द्वारा (वस्तु-तत्त्व को सम्यक् जानकर) श्रद्धा करता है, (४) हेतु द्वारा सम्यक्तया प्राप्त करता है, और (५) हेतु (अध्यवसायादि) छद्मस्थमरण मरता है।

३९. पंच हेतू पण्णत्ता, तं जहा—हेतुं न जाणइ जाव हेतुं अण्णाणमरणं मरति।

[३९] पाच हेतु (मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से) कहे गए हैं। यथा—(१) हेतु को नही जानता, (२) हेतु को नही देखता, (३) हेतु की बोधप्राप्ति (श्रद्धा) नही करता, (४) हेतु को प्राप्त नही करता, और (५) हेतुयुक्त अज्ञानमरण मरता है।

---

१ (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्राक २३८

(ख) वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा १, २१७ से २१८ तक

४०. पच हेतू पण्णत्ता, तं जहा—हेतुणा ण जाणति जाव हेतुणा अण्णाणमरणं मरति।

[४०] पाच हेतु कहे गए हैं। यथा—(१) हेतु से नही जानता, यावत् (५) हेतु से अज्ञान-मरण मरता है।

४१. पच अहेऊ पण्णत्ता, तं जहा—अहेउ जाणइ जाव अहेउं केवलिमरणं मरति।

[४१] पाच अहेतु कहे गए हैं—(१) अहेतु को जानता है, यावत् (५) अहेतुयुक्त केवलि-मरण मरता है।

४२. पच अहेऊ पण्णत्ता, तं जहा—अहेउणा जाणइ जाव अहेउणा केवलिमरणं मरइ।

[४२] पाच अहेतु कहे गए हैं—(१) अहेतु द्वारा जानता है, यावत् (५) अहेतु द्वारा केवलि-मरण मरता है।

४३. पंच अहेऊ पण्णत्ता, तं जहा—अहेउ न जाणइ जाव अहेउं छउमत्थमरण मरइ।

[४३] पाच अहेतु कहे गए है—(१) अहेतु को नही जानता, यावत् (५) अहेतुयुक्त छद्मस्थ-मरता है।

४४ पंच अहेऊ पण्णत्ता, त जहा—अहेउणा न जाणइ जाव अहेउणा छउमत्थमरणं मरइ।
सेवं भते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ पचमसए : सत्तमो उद्देसओ समत्तो ॥

[४४] पाच अहेतु कहे गए हैं- (१) अहेतु से नही जानता, यावत् (५) अहेतु से छद्मस्थ-मरण मरता है।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यो कह कर यावत् श्री-गौतमस्वामी विचरण करते हैं।

विवेचन—विविध अपेक्षाओं से पाच हेतु-अहेतुओं का निरूपण—प्रस्तुत आठ सूत्रो (सू ३७ से ४४) द्वारा शास्त्रकार ने भिन्न-भिन्न दृष्टियो से, तथा विभिन्न क्रियाओ की अपेक्षा से पांच प्रकार के हेतुओ और पाच प्रकार के अहेतुओ का तात्त्विक निरूपण किया है।

हेतु-अहेतु विषयक सूत्रों का रहस्य—प्रस्तुत आठ सूत्र; हेतु को, हेतु द्वारा; अहेतु को, अहेतु द्वारा इत्यादि रूप से कहे गए हैं। इनमे से प्रारम्भ के चार सूत्र छद्मस्थ की अपेक्षा से और बाद के ४ सूत्र केवली की अपेक्षा मे कहे गए हैं। पहले के चार सूत्रो मे से पहला-दूसरा सूत्र सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ की अपेक्षा से और तीसरा-चौथा सूत्र मिथ्यादृष्टि छद्मस्थ की अपेक्षा से है। इन दो-दो सूत्रो मे अन्तर यह है कि प्रथम दो प्रकार के व्यक्ति छद्मस्थ होने से साध्य का निश्चय करने के लिए साध्य से अविनाभूत कारण—हेतु को अथवा हेतु से सम्यक् जानते हैं, देखते हैं, श्रद्धा करते हैं, साध्यसिद्धि के लिए सम्यक् हेतु प्रयोग करके वस्तुतत्त्व प्राप्त करते हैं, और सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ का मरण हेतुपूर्वक या हेतु से समझ कर होता है, अज्ञानमरण नही होता; जबकि आगे के दो

सूत्रों में मिथ्यादृष्टि छद्मस्थ हेतु को सम्यक्तया नही जानता-देखता, न ही सम्यक् श्रद्धा करता है, न वह हेतु का सम्यक् प्रयोग करके वस्तुतत्त्व को प्राप्त करता है और मिथ्यादृष्टि छद्मस्थ होने के नाते सम्यग्ज्ञान न होने से अज्ञानमरणपूर्वक मरता है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि छद्मस्थ हेतु द्वारा सम्यक् ज्ञान और दर्शन नही कर पाता, न ही हेतु से सम्यक् श्रद्धा करता है, न हेतु के प्रयोग से वस्तुतत्त्व का निश्चय कर पाता है, तथा हेतु का प्रयोग गलत करने से अज्ञानमरणपूर्वक ही मृत्यु प्राप्त करता है। इसके पश्चात्—पिछले चार सूत्रों में से दो सूत्रो मे केवलज्ञानी की अपेक्षा से कहा गया है कि केवलज्ञानियो को सकलप्रत्यक्ष होने से उन्हे हेतु की अथवा हेतु द्वारा जानने (अनुमान करने) की आवश्यकता नही रहती। केवलज्ञानी स्वय 'अहेतु' कहलाते हैं। अतः अहेतु से ही वे जानते-देखते है, अहेतुप्रयोग से ही वे क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते हैं, इसलिए पूर्ण श्रद्धा करते हैं, वस्तुतत्त्व का निश्चय भी अहेतु से करते है, और अहेतु से यानी बिना किसी उपक्रम—हेतु से नही मरते, वे निरुपक्रमी होने से किसी भी निमित्त से मृत्यु नही पाते। इसलिए अहेतु केवलिमरण है उनका।

सातवा और आठवा सूत्र अवधिज्ञानी मन पर्यायज्ञानी छद्मस्थ की अपेक्षा से है—वे अहेतु व्यवहार करने वाले जीव सर्वथा अहेतु से नही जानते, अपितु कथचित् जानते है, कथचित् नहीं—जानते-देखते। अध्यवसानादि उपक्रमकारण न होने से अहेतुमरण, किन्तु छद्मस्थमरण (केवलिमरण नही) होता है।[1]

इन आठ सूत्रो के विषय मे वृत्तिकार अभयदेवसूरि स्वयं कहते हैं—कि "हमने अपनी समझ के अनुसार इन हेतुओ का शब्दशः अर्थ कर दिया है, इनका वास्तविक भावार्थ बहुश्रुत ही जानते हैं।"

॥ पंचम शतक : सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २३९

(ख) 'गमनिकामात्रमेवेदम् अष्टानामपि सूत्राणाम्, भावार्थं तु बहुश्रुता विदन्ति।'

—भ. अ. वृत्ति, पत्रांक २३९

अट्ठमो उद्देसओ : नियंठ

अष्टम उद्देशक : निर्ग्रन्थ

पुद्गलों की द्रव्यादि की अपेक्षा सप्रदेशता-अप्रदेशता आदि के सम्बन्ध में निर्ग्रन्थीपुत्र और नारदपुत्र की चर्चा

१. तेणं कालेणं समएणं जाव परिसा पडिगता। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी नारयपुत्ते नामं अणगारे पगतिभद्दए जाव[1] विहरति।

[१] उस काल और उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर पधारे। परिषद् दर्शन के लिये गई, यावत् धर्मोपदेश श्रवण कर वापस लौट गई। उस काल और उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के अन्तेवासी (शिष्य) नारदपुत्र नाम के अनगार थे। वे प्रकृतिभद्र थे यावत् आत्मा को भावित करते विचरते थे।

२ तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी नियंठिपुत्ते णाम अणगारे पगतिभद्दए जाव[2] विहरति।

[२] उस काल और उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी निर्ग्रन्थीपुत्र नामक अनगार थे। वे प्रकृति से भद्र थे, यावत् विचरण करते थे।

३. तए णं से नियंठिपुत्ते अणगारे जेणामेव नारयपुत्ते अणगारे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता नारयपुत्तं अणगारं एवं वदासी--सव्वपोग्गला ते अज्जो! किं सअड्ढा समज्झा सपदेसा? उदाहु अणड्ढा अमज्झा अपएसा?

'अज्जो' त्ति नारयपुत्ते अणगारे नियंठिपुत्तं अणगारं एवं वदासी—सव्वपोग्गला मे अज्जो! सअड्ढा समज्झा सपदेसा, नो अणड्ढा अमज्झा अपएसा।

[३ प्र] एक बार निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार, जहाँ नारदपुत्र नामक अनगार थे, वहाँ आए और उनके पास आकर उन्होने नारदपुत्र अनगार से इस प्रकार पूछा--(कहा—) 'हे आर्य! तुम्हारे मतानुसार सब पुद्गल क्या सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, अथवा अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश हैं?'

[३ उ] 'हे आर्य!' इस प्रकार सम्बोधित कर नारदपुत्र अनगार ने निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार से इस प्रकार कहा—आर्य, मेरे मतानुसार सभी पुद्गल सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, किन्तु अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश नही हैं।

---

१. यहाँ दोनो जगह **'जाव'** पद से **'विणीए'** इत्यादि पूर्ववर्णित श्रमण वर्णन कहना चाहिए।

२. यहा जाव' शब्द से पूर्वसूचित **'समोसढे'** तक भगवान् का तथा परिषद् का वर्णन कहना चाहिए।

४. तए णं से नियंठिपुत्ते अणगारे नारयपुत्तं अणगारं एवं वयासी—जति णं ते अज्जो ! सव्व पोग्गला सअड्ढा समज्झा सपदेसा, नो अणड्ढा अमज्झा अपदेसा; किं दव्वादेसेणं अज्जो ! सव्व-पोग्गला सअड्ढा समज्झा सपदेसा, नो अणड्ढा अमज्झा अपदेसा ? खेत्तादेसेणं अज्जो ! सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपदेसा ? तह चेव । कालादेसेण० तं चेव ? भावादेसेणं अज्जो ! ० तं चेव ?

तए णं से नारयपुत्ते अणगारे नियंठिपुत्तं अणगारं एवं वयासी—दव्वादेसेण वि मे अज्जो ! सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपदेसा, नो अणड्ढा अमज्झा अपदेसा; खेत्ताएसेण वि सव्वपोग्गला सअड्ढा०; तह चेव कालादेसेण वि; तं चेव भावादेसेण वि ।

[४ प्र] तत्पश्चात् उन निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार ने नारदपुत्र अनगार से यों कहा—हे आर्य ! यदि तुम्हारे मतानुसार सभी पुद्गल सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश है, अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश नही है, तो क्या, हे आर्य ! द्रव्यादेश (द्रव्य की अपेक्षा) से वे सर्वपुद्गल सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश है, किन्तु अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश नही हैं ? अथवा हे आर्य ! क्या क्षेत्रादेश से भी पुद्गल सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश आदि पूर्ववत् है ? या कालादेश से सभी पुद्गल उसी प्रकार है या भावादेश से समस्त पुद्गल उसी प्रकार हैं ?

[४ उ] तदनन्तर वह नारदपुत्र अनगार, निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार से यों कहने लगे—हे आर्य ! मेरे मतानुसार (विचार मे), द्रव्यादेश से भी सभी पुद्गल सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश है, किन्तु अनर्द्ध अमध्य और अप्रदेश नही हैं । क्षेत्रादेश से भी सभी पुद्गल सार्द्ध, समध्य आदि उसी तरह है, कालादेश से भी वे सब उसी तरह हैं, तथा भावादेश से भी उसी प्रकार हैं ।

५. तए ण से नियंठिपुत्ते अणगारे नारयपुत्त अणगार एवं वयासी—जति ण अज्जो ! दव्वा-देसेण सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपएसा, नो अणड्ढा अमज्झा अपएसा; एव ते परमाणुपोग्गले वि सअड्ढे समज्झे सपएसे, णो अणड्ढे अमज्झे अपएसे; जति ण अज्जो ! खेत्तादेसेण वि सव्वपोग्गला सअ० ३, जाव एव ते एगपदेसोगाढे वि पोग्गले सअड्ढे समज्झे सपदेसे; जति णं अज्जो ! कालादेसेणं सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपएसा; एव ते एगसमयठितीए वि पोग्गले ३[1]; त चेव जति ण अज्जो ! भावादेसेणं सव्वपोग्गला सअड्ढा समज्झा सपएसा ३[1], एव ते एगगुणकालए वि पोग्गले सअड्ढे ३[1] तं चेव; अह ते एव न भवति, तो ज वदसि दव्वादेसेण वि सव्वपोग्गला सअ०[1] ३ नो अणड्ढा अमज्झा अपदेसा, एवं खेत्तादेसेण वि, काला०, भावादेसेण वि तं णं मिच्छा ।

[५ प्र.] इस पर निर्ग्रन्थपुत्र अनगार ने नारदपुत्र अनगार से इस प्रकार प्रतिप्रश्न किया—हे आर्य ! तुम्हारे मतानुसार द्रव्यादेश से सभी पुद्गल यदि सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश है, तो क्या तुम्हारे मतानुसार परमाणुपुद्गल भी इसी प्रकार सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, किन्तु अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश नही है ? और हे आर्य ! क्षेत्रादेश से भी यदि सभी पुद्गल सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश हैं तो तुम्हारे मतानुसार एकप्रदेशावगाढ पुद्गल भी सार्द्ध, समध्य एव सप्रदेश होने चाहिए !

---

१. यहाँ '३' का अंक तथा 'जाव' पद 'सअड्ढा समज्झा सपदेसा' पाठ का सूचक है ।

और फिर हे आर्य ! यदि कालादेश से भी समस्त पुद्गल सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, तो तुम्हारे मतानुसार एक समय की स्थिति वाला पुद्गल भी सार्द्ध, समध्य एवं सप्रदेश होना चाहिए। इसी प्रकार भावादेश से भी हे आर्य ! सभी पुद्गल यदि सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश हैं, तो तदनुसार एकगुण काला पुद्गल भी तुम्हे सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश मानना चाहिए। यदि आपके मतानुसार ऐसा नही है, तो फिर आपने जो यह कहा था कि द्रव्यादेश से भी सभी पुद्गल सार्द्ध, समध्य और सप्रदेश है, क्षेत्रादेश से भी उसी तरह है, कालादेश से और भावादेश से भी उसी तरह हैं, किन्तु वे अनर्द्ध, समध्य और अप्रदेश नही है, इस प्रकार का आपका यह कथन मिथ्या हो जाता है।

६ तए णं से नारयपुत्ते अणगारे नियंठिपुत्तं अणगारं एवं वदासि—नो खलु वयं देवाणुप्पिया ! एतमट्ठं जाणामो पासामो, जति णं देवाणुप्पिया ! नो गिलायंति परिकहित्तए तं इच्छामि णं देवाणुप्पियाणं अंतिए एतमट्ठं सोच्चा निसम्म जाणित्तए।

[६-जिज्ञासा] तब नारदपुत्र अनगार ने निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार से इस प्रकार कहा—"हे देवानुप्रिय ! निश्चय ही हम इस अर्थ (तथ्य) को नही जानते-देखते (अर्थात्—इस विषय का ज्ञान और दर्शन हमे नही है।) हे देवानुप्रिय ! यदि आपको इस अर्थ के परिकथन (स्पष्टीकरणपूर्वक कहने) मे किसी प्रकार की ग्लानि, ऊब या अप्रसन्नता) न हो तो मै आप देवानुप्रिय से इस अर्थ को सुनकर, अवधारणापूर्वक जानना चाहता हूँ।"

७. तए णं से नियंठिपुत्ते अणगारे नारयपुत्तं अणगारं एवं वदासी—दव्वादेसेण वि मे अज्जो सव्वपोग्गला सपदेसा वि अपदेसा वि अणंता। खेत्तादेसेण वि एवं चेव। कालादेसेण वि एवं चेव। जे दव्वतो अपदेसे से खेत्तओ नियमा अपदेसे, कालतो सिय सपदेसे सिय अपदेसे, भावओ सिय सपदेसे सिय अपदेसे। जे खेत्तओ अपदेसे से दव्वतो सिय सपदेसे सिय अपदेसे, कालतो भयणाए, भावतो भयणाए। जहा खेत्तओ एवं कालतो। भावतो। जे दव्वतो सपदेसे से खेत्ततो सिय सपदेसे सिय अपदेसे, एवं कालतो भावतो वि। जे खेत्ततो सपदेसे से दव्वतो नियमा सपदेसे, कालओ भयणाए, भावतो भयणाए। जहा दव्वतो तहा कालतो भावतो वि।

[७-समाधान] इस पर निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार ने नारदपुत्र अनगार से इस प्रकार कहा (समाधान किया)—हे आर्य ! मेरी धारणानुसार द्रव्यादेश से भी पुद्गल सप्रदेश भी हैं, अप्रदेश भी हैं, और वे पुद्गल अनन्त है। क्षेत्रादेश से भी इसी तरह हैं, और कालादेश से तथा भावादेश से भी वे इसी तरह हैं। जो पुद्गल द्रव्यादेश से अप्रदेश है, वे क्षेत्रादेश से भी नियमतः (निश्चितरूप से) अप्रदेश हैं। कालादेश से उनमे से कोई सप्रदेश होते है, कोई अप्रदेश होते हैं और भावादेश से भी कोई सप्रदेश तथा कोई अप्रदेश होते हैं। जो पुद्गल क्षेत्रादेश से अप्रदेश होते हैं, उनमे कोई द्रव्यादेश से सप्रदेश और कोई अप्रदेश होते हैं, कालादेश और भावादेश से इसी प्रकार की भजना (कोई सप्रदेश और कोई अप्रदेश) जाननी चाहिए। जिस प्रकार क्षेत्र (क्षेत्रादेश) से कहा, उसी प्रकार काल से और भाव से भी कहना चाहिए। जो पुद्गल द्रव्य से सप्रदेश होते हैं, वे क्षेत्र से कोई सप्रदेश और कोई अप्रदेश होते है, इसी प्रकार काल से और भाव से भी वे सप्रदेश और अप्रदेश समझ लेने चाहिए। जो पुद्गल क्षेत्र से सप्रदेश होते हैं; वे द्रव्य से नियमतः (निश्चित ही) सप्रदेश होते हैं, किन्तु काल से

तथा भाव से भजना से (विकल्प से—कदाचित् सप्रदेश, कदाचित् अप्रदेश) जानना चाहिए। जैसे (सप्रदेशी पुद्गल के सम्बन्ध मे) द्रव्य से (द्रव्य की अपेक्षा से) कहा, वैसे ही काल से (कालादेश से) और भाव (भावादेश) से भी कथन करना चाहिए।

८. एतेसि णं भंते ! पोग्गलाणं दव्वादेसेणं खेत्तादेसेणं कालादेसेणं भावादेसेणं सपदेसाण य अपदेसाण य कतरे कतरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

नारयपुत्ता ! सव्वथोवा पोग्गला भावादेसेणं अपदेसा, कालादेसेणं अपदेसा असंखेज्जगुणा, दव्वादेसेणं अपदेसा असंखेज्जगुणा, खेत्तादेसेणं अपदेसा असंखेज्जगुणा खेत्तादेसेणं चेव सपदेसा असंखेज्जगुणा, दव्वादेसेणं सपदेसा विसेसाहिया, कालादेसेणं सपदेसा विसेसाहिया, भावादेसेणं सपदेसा विसेसाहिया।

[८ प्र] हे भगवन् ! (निर्ग्रन्थीपुत्र !) द्रव्यादेश से, क्षेत्रादेश से, कालादेश से और भावादेश से, सप्रदेश और अप्रदेश पुद्गलो मे कौन किन से कम, अधिक, तुल्य और विशेषाधिक हैं ?

[८ उ] हे नारदपुत्र ! भावादेश से अप्रदेश पुद्गल सबसे थोडे हैं। उनकी अपेक्षा कालादेश से अप्रदेश पुद्गल असख्येगुणा है, उनकी अपेक्षा द्रव्यादेश से अप्रदेश पुद्गल असख्येयगुणा हैं और उनकी अपेक्षा भी क्षेत्रादेश से अप्रदेश पुद्गल असख्येयगुणा है। उनसे क्षेत्रादेश से सप्रदेश पुद्गल असख्यातगुणा है, उनसे द्रव्यादेशेन सप्रदेश पुद्गल विशेषाधिक हैं, उनसे कालादेशेन सप्रदेश पुद्गल विशेषाधिक हैं और उनसे भी भावादेशेन सप्रदेश पुद्गल विशेषाधिक हैं।

९ तए णं से नारयपुत्ते अणगारे नियंठिपुत्तं अणगारं वंदइ नमसइ, नियंठिपुत्तं अणगारं वंदित्ता नमंसित्ता एतमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेति, २त्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ।

[९] इसके पश्चात् (यह सुन कर) नारदपुत्र अनगार ने निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार को वन्दन नमस्कार किया। उन्हे (निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार को) वन्दन-नमस्कार करके उनसे इस (अपनी कही हुई मिथ्या) बात के लिए सम्यक् विनयपूर्वक-बार-बार उन्होने क्षमायाचना की। इस प्रकार क्षमायाचना करके वे (नारदपुत्र अनगार) संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करने लगे।

विवेचन—द्रव्यादि की अपेक्षा पुद्गलो की सप्रदेशता-अप्रदेशता के सम्बन्ध में निर्ग्रन्थीपुत्र और नारदपुत्र अनगार की चर्चा—प्रस्तुत ९ सूत्रो मे भगवान् महावीर के ही दो शिष्यो—निर्ग्रन्थीपुत्र और नारदपुत्र के बीच द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से सर्वपुद्गलो की सार्द्धता-अनर्द्धता, समध्यता-अमध्यता और सप्रदेशता-अप्रदेशता के सम्बन्ध मे हुई मधुर चर्चा का वर्णन किया गया है।[1]

द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादेश का स्वरूप—द्रव्य की अपेक्षा परमाणुत्व आदि का कथन करना **द्रव्यादेश**, एकप्रदेशावगाढत्व इत्यादि का कथन करना **क्षेत्रादेश**; एक समय की स्थिति आदि का कथन **कालादेश** और एकगुण काला इत्यादि कथन **भावादेश** कहलाता है। दूसरे शब्दो में द्रव्यादि की अपेक्षा क्रमश: द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादेश का अर्थ है।[2]

१. वियाहपण्णत्तिसुत्त (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) भा १, पृ. २१९ से २२१

२. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २४१ (ख) भगवतीसूत्र (हिन्दी विवेचन) भा. २, पृ. ८९९

सप्रदेश-अप्रदेश के कथन से सार्द्ध-अनर्द्ध और समध्य-अमध्य का समावेश—निर्ग्रन्थीपुत्र अनगार ने यद्यपि सप्रदेश-अप्रदेश का ही निरूपण किया है, किन्तु सप्रदेश मे सार्द्ध और समध्य का, तथा अप्रदेश मे अनर्द्ध और अमध्य का ग्रहण कर लेना चाहिए।[1]

द्रव्यादि की अपेक्षा पुद्गलों की अप्रदेशता के विषय मे—जो पुद्गल **द्रव्य से अप्रदेश**—परमाणुरूप है, वह पुद्गल क्षेत्र से एकप्रदेशावगाढ़ होने से नियमत. अप्रदेश है। काल से वह पुद्गल यदि एक समय की स्थिति वाला है तो अप्रदेश है और यदि वह अनेक समय की स्थिति वाला है तो सप्रदेश है। इस तरह भाव से एकगुण काला आदि है तो अप्रदेश है, और अनेकगुण काला आदि है तो सप्रदेश है।

जो पुद्गल **क्षेत्र की अपेक्षा अप्रदेश** (एकक्षेत्रावगाढ़) होता है, वह द्रव्य से कदाचित् सप्रदेश और कदाचित् अप्रदेश होता है, क्योकि क्षेत्र (आकाश) के एक प्रदेश मे रहने वाले द्वयणुक आदि सप्रदेश हैं, किन्तु क्षेत्र से वे अप्रदेश हैं, तथैव परमाणु एक प्रदेश मे रहने वाला होने से द्रव्य से अप्रदेश है, वैसे ही क्षेत्र से भी अप्रदेश है। जो पुद्गल क्षेत्र से अप्रदेश है, वह काल से कदाचित् अप्रदेश और कदाचित् सप्रदेश इस प्रकार होता है। जैसे—कोई पुद्गल क्षेत्र से एकप्रदेश मे रहने वाला है, वह यदि एक समय की स्थिति वाला है तो कालापेक्षया अप्रदेश है, किन्तु यदि वह अनेक समय की स्थिति वाला है तो कालापेक्षया सप्रदेश है। जो पुद्गल **क्षेत्र की अपेक्षा अप्रदेश है**, यदि वह अनेकगुण काला आदि है तो भाव की अपेक्षा अप्रदेश है, किन्तु यदि वह अनेकगुण काला आदि है तो क्षेत्र की अपेक्षा अप्रदेश होते हुए भी भाव की अपेक्षा सप्रदेश है। क्षेत्र से अप्रदेश पुद्गल के कथन की तरह **काल और भाव से भी** कथन करना चाहिए। यथा—**जो पुद्गल काल से अप्रदेश होता** है, वह द्रव्य से, क्षेत्र से, और भाव से कदाचित् सप्रदेश और कदाचित् अप्रदेश होता है। तथा **जो पुद्गल भाव से अप्रदेश** होता है, वह द्रव्य से, क्षेत्र से और काल से कदाचित् सप्रदेश होता है, और कदाचित् अप्रदेश।

द्रव्यादि की अपेक्षा पुद्गलो की सप्रदेशता के विषय में—जो पुद्गल द्वयणुकादिरूप होने से **द्रव्य से सप्रदेश** होता है, वह क्षेत्र से कदाचित् सप्रदेश और कदाचित् अप्रदेश होता है, क्योकि वह यदि दो प्रदेशो मे रहता है तो सप्रदेश है और एक ही प्रदेश मे रहता है तो अप्रदेश है। इसी तरह काल से और भाव से भी कहना चाहिए।

आकाश के दो या अधिक प्रदेशो मे रहने वाला पुद्गल **क्षेत्र से सप्रदेश** है, वह द्रव्य से भी सप्रदेश ही होता है, क्योकि जो पुद्गल द्रव्य से अप्रदेश होता है, वह दो आदि प्रदेशो मे नही रह सकता। जो पुद्गल क्षेत्र से सप्रदेश होता है, वह काल से और भाव से कदाचित् सप्रदेश होता है, कदाचित् अप्रदेश होता है।

जो पुद्गल **काल से सप्रदेश** होता है, वह द्रव्य से, क्षेत्र से और भाव से कदाचित् सप्रदेश होता है, कदाचित् अप्रदेश होता है।

जो पुद्गल **भाव से सप्रदेश** होता है, वह द्रव्य से, क्षेत्र से और काल से कदाचित् सप्रदेश और कदाचित् अप्रदेश होता है।[2]

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २४१ (ख) भगवतीसूत्र (हिन्दी विवेचन) भा. २, पृ. ९००
२. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २४१ से २४३ तक
(ख) भगवतीसूत्र (हिन्दी विवेचन) भा. २, पृ. ९००-९०१

सप्रदेश-अप्रदेश पुद्गलों का अल्प-बहुत्व—सबसे थोड़े एक गुणकाला आदि **भाव से अप्रदेशी पुद्गल** हैं, उनसे असख्यात गुणा हैं—एक समय की स्थितिवाले—**काल से अप्रदेशी पुद्गल**। उनसे असंख्यातगुणा हैं—समस्त परमाणु पुद्गल, जो **द्रव्य से अप्रदेशी पुद्गल** हैं, उनसे भी असख्यात गुणे हैं—**क्षेत्र से अप्रदेशी पुद्गल**, जो एक-एक आकाशप्रदेश के अवगाहन किये हुए हैं। उनसे भी असख्यातगुणे है—**क्षेत्र से सप्रदेशी पुद्गल**, जिनमे द्विप्रदेशावगाढ से लेकर असख्येयप्रदेशावगाढ़ आते हैं। उनसे **द्रव्य से सप्रदेशी पुद्गल**—अर्थात्—द्विप्रदेशस्कन्ध से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक के पुद्गल विशेषाधिक है। उनसे **काल से सप्रदेशी पुद्गल**—दो समय की स्थिति वाले से लेकर असख्यात समय की स्थिति वाले पुद्गल विशेषाधिक हैं। उनमे भी **भाव से सप्रदेशी पुद्गल**—दो गुण काले यावत् अनन्तगुणकाले पुद्गल आदि विशेषाधिक हैं।[1]

संसारी और सिद्ध जीवों की वृद्धि हानि और अवस्थिति एवं उनके कालमान की प्ररूपणा

१०. **'भंते !' त्ति भगवं गोतमे समणं जाव एवं वदासी—जीवा णं भंते ! किं वड्ढंति, हायंति, अवट्ठिया ?**

गोयमा ! जीवा णो वड्ढंति, नो हायंति, अवट्ठिता।

[१० प्र.] 'भगवन् !' यो कह कर भगवान् गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से यावत् इस प्रकार पूछा—भगवन् ! क्या जीव बढ़ते हैं या घटते हैं या अवस्थित रहते हैं।

[१० उ] गौतम ! जीव न बढते हैं, न घटते हैं, किन्तु अवस्थित रहते हैं।

११ **नेरतिया णं भंते ! किं वड्ढंति, हायंति, अवट्ठिता ?**

गोयमा ! नेरइया वड्ढंति वि, हायंति वि, अवट्ठिया वि।

[११ प्र] भगवन् ! क्या नैरयिक बढते है, घटते हैं, अथवा अवस्थित रहते हैं ?

[११ उ] गौतम ! नैरयिक बढते भी है, घटते भी है और अवस्थित भी रहते है।

१२. **जहा नेरइया एवं जाव वेमाणिया।**

[१२] जिस प्रकार नैरयिको के विषय मे कहा, इसी प्रकार वैमानिक-पर्यन्त (चौबीस ही दण्डको के जीवो के विषय मे) कहना चाहिए।

१३. **सिद्धा णं भंते ! ० पुच्छा।**

गोयमा ! सिद्धा वड्ढंति, नो हायंति, अवट्ठिता वि।

[१३ प्र] भगवन् ! सिद्धों के विषय मे मेरी पृच्छा है (कि वे बढते हैं, घटते हैं या अवस्थित रहते हैं ?)

---

१. भगवती० अ. वृत्ति, पत्रांक २४३ (ख) भगवती० (हिन्दी विवेचन) भा. २, पृ. ९०१

[१३ उ.] गौतम ! सिद्ध बढते हैं, घटते नही, वे अवस्थित भी रहते है ।

१४. जीवा णं भंते ! केवतियं कालं अवट्ठिता ?

गोयमा ! सव्वद्धं ।

[१४ प्र.] भगवन् ! जीव कितने काल तक अवस्थित रहते हैं ?

[१४ उ.] गौतम ! सर्वाद्धा (अर्थात्—सब काल मे जीव अवस्थित ही रहते हैं) ।

चौबीस दण्डकों की वृद्धि, हानि और अवस्थित कालमान की प्ररूपणा

१५. [१] नेरतिया णं भंते ! केवतिय कालं वड्ढंति ?

गोयमा ! जहान्नेणं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जतिभागं ।

[१५-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक कितने काल तक बढते हैं ?

[१५-१ उ.] गौतम ! नैरयिक जीव जघन्यत. एक समय तक, और उत्कृष्टत आवलिका के असख्यात भाग तक बढते हैं ।

[२] एवं हायंति ।

[१५-२] जिस प्रकार बढने का काल कहा है, उसी प्रकार घटने का काल भी (उतना ही) कहना चाहिए ।

[३] नेरइया णं भंते ! केवतियं कालं अवट्ठिया !

गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं चउव्वीसं मुहुत्ता ।

[१५-३ प्र.] भगवन् ! नैरयिक कितने काल तक अवस्थित रहते हैं ।

[१५-३ उ.] गौतम ! (नैरयिक जीव) जघन्यत एक समय तक और उत्कृष्टत चौबीस मुहूर्त तक (अवस्थित रहते हैं ।)

[४] एवं सत्तसु वि पुढवीसु 'वड्ढंति, हायंति' भाणियव्वं । नवरं अवट्ठितेसु इमं नाणत्तं, तं जहा—रयणप्पभाए पुढवीए अडतालीसं मुहुत्ता,[1] सक्करप्पभाए चोद्दस राइंदियाइं, वालुयप्पभाए मासं, पंकप्पभाए दो मासा, धूमप्पभाए चत्तारि मासा, तमाए अट्ठ मासा, तमतमाए बारस मासा ।

[१५-४] इसी प्रकार सातों नरक-पृथ्वियो के जीव बढते हैं, घटते हैं, किन्तु अवस्थित रहने के काल में इस प्रकार भिन्नता है । यथा—रत्नप्रभापृथ्वी में ४८ मुहूर्त्त का, शर्करापृथ्वी मे चौबीस अहोरात्रि का, बालुकाप्रभापृथ्वी मे एक मास का, पकप्रभा में दो मास का, धूमप्रभा में चार मास का, तम:प्रभा में आठ मास का और तमस्तम:प्रभा मे बारह मास का अवस्थान-काल है ।

---

१. रत्नप्रभा आदि में उत्पाद-उद्वर्तन-विरहकाल ४४ मुहूर्त्त आदि बताया गया है, उसके लिए देखें—प्रज्ञापना-सूत्र का छठा व्युत्क्रान्ति पद । -स.

१६. [१] असुरकुमारा वि वड्ढंति हायंति, जहा नेरइया। अवट्ठिता जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अट्ठचालीसं मुहुत्ता।

[१६-१] जिस प्रकार नैरयिक जीवो की वृद्धि-हानि के विषय में कहा है, उसी प्रकार असुरकुमार देवो की वृद्धि-हानि के सम्बन्ध मे समझना चाहिए। असुरकुमार देव जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट ४८ मुहूर्त्त तक अवस्थित रहते हैं।

[२] एवं दसविहा वि।

[१६-२] इसी प्रकार दस ही प्रकार के भवनपतिदेवों की वृद्धि, हानि और अवस्थिति का कथन करना चाहिए।

१७. एगिंदिया वड्ढंति वि, हायंति वि, अवट्ठिया वि। एतेहिं तिहि वि जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जतिभागं।

[१७] एकेन्द्रिय जीव बढते भी हैं, घटते भी हैं और अवस्थित भी रहते हैं। इन तीनों (वृद्धि-हानि-अवस्थिति) का काल जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टत: आवलिका का असख्यातवा भाग (समझना चाहिए।)

१८. [१] बेइंदिया वड्ढंति हायंति तहेव अवट्ठिता जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं दो अंतोमुहुत्ता।

[१८-१] द्वीन्द्रिय जीव भी इसी प्रकार बढते-घटते हैं। इनके अवस्थान-काल मे भिन्नता इस प्रकार है—ये जघन्यत एक समय तक और उत्कृष्टत. दो अन्तमुहूर्त्त तक अवस्थित रहते हैं।

[२] एवं जाव चतुरिंदिया।

[१८-२] द्वीन्द्रिय की तरह त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवो तक (का वृद्धि-हानि-अवस्थिति-काल) कहना चाहिए।

१९. अवसेसा सव्वे वड्ढंति, हायंति तहेव। अवट्ठियाणं णाणत्तं इमं, तं जहा—सम्मुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं दो अंतोमुहुत्ता। गब्भवक्कंतियाणं चउव्वीसं मुहुत्ता। सम्मुच्छिममणुस्साणं अट्ठचत्तालीसं मुहुत्ता। गब्भवक्कंतियमणुस्साणं चउव्वीसं मुहुत्ता। वाणमंतर-जोतिस-सोहम्मीसाणेसु अट्ठचत्तालीसं मुहुत्ता। सणंकुमारे अट्ठारस रातिंदियाइं चत्तालीस य मुहुत्ता। माहिंदे चउवीसं रातिंदियाइं, वीस य मुहुत्ता। बंभलोए पंच चत्तालीसं रातिंदियाइं। लंतए नउतिं रातिंदियाइं। महासुक्के सट्ठं रातिंदियसतं। सहस्सारे दो रातिंदियसताइं। आणय-पाणयाणं संखेज्जा मासा। आरणऽच्चुयाणं संखेज्जाइं वासाइं। एवं गेवेज्जगदेवाणं। विजय-वेजयंत-जयंत अपराजियाणं असंखिज्जाइंवाससहस्साइं। सव्वट्ठसिद्धे य पलिओवमस्स संखेज्जतिभागो। एवं भाणियव्वं-वड्ढंति हायंति जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जतिभागं; अवट्ठियाणं जं भणियं।

[१९] शेष सब जीव (तिर्यञ्चपञ्चेन्द्रिय, मनुष्य, वाणव्यन्तर देव, ज्योतिष्क देव और वैमानिक देव), बढते-घटते हैं, यह पहले की तरह ही कहना चाहिए। किन्तु उनके अवस्थान-काल में इस प्रकार भिन्नता है, यथा—सम्मूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक जीवों का (अवस्थानकाल) दो अन्तर्मुहूर्त्त का; गर्भज पचेन्द्रिय तिर्यग्योनिकों का चौबीस मुहूर्त्त का, सम्मूर्च्छिम मनुष्यों का ४८ मुहूर्त्त का, गर्भज मनुष्यों का चौबीस मुहूर्त्त का, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और सौधर्म, ईशान देवो का ४८ मुहूर्त्त का, सनत्कुमार देव का अठारह अहोरात्रि तथा चालीस मुहूर्त्त का अवस्थानकाल है। माहेन्द्र देवलोक के देवो का चौबीस रात्रिदिन और बीस मुहूर्त्त का, ब्रह्मलोकवर्ती देवो का ४५ रात्रिदिवस का, लान्तक देवो का ९० रात्रिदिवस का, महाशुक्र-देवलोकस्थ देवो का १६० अहोरात्रि का, सहस्रार-देवों का दो सौ रात्रिदिन का, आनत और प्राणत देवलोक के देवों का संख्येय मास का, आरण और अच्युत देवलोक के देवो का सख्येय वर्षों का अवस्थान-काल है। इसी प्रकार नौ ग्रैवेयक देवो के (अवस्थान-काल के) विषय मे जान लेना चाहिए। विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित विमान-वासी देवों का अवस्थानकाल असख्येय हजार वर्षों का है। तथा सर्वार्थसिद्ध-विमानवासी देवो का अवस्थानकाल पल्योपम का सख्यातवां भाग है।

और ये सब जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट आवलिका के असख्यातवे भाग तक बढते-घटते हैं, इस प्रकार कहना चाहिए, और इनका अवस्थानकाल जो ऊपर कहा गया है, वही है।

२०. [१] सिद्धा णं भंते ! केवतियं कालं वड्ढंति ?

गोयमा ! जहण्णेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अट्ठ समया।

[२०-१ प्र.] भगवन् ! सिद्ध कितने काल तक बढते हैं ?

[२०-१ उ.] गौतम ! जघन्यत एक समय और उत्कृष्टत आठ समय तक सिद्ध बढते हैं।

[२] केवतियं कालं अवट्ठिया ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेण छम्मासा।

[२०-२ प्र.] भगवन् ! सिद्ध कितने काल तक अवस्थित रहते है ?

[२०-२ उ.] गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह मास तक सिद्ध अवस्थित रहते हैं।

विवेचन—संसारी और सिद्ध जीवों की वृद्धि, हानि और अवस्थिति एवं उनके काल-मान की प्ररूपणा—प्रस्तुत ग्यारह सूत्रो (सू. १० से २० तक) मे समस्त जीवो की वृद्धि, हानि एव अवस्थिति तथा इनके काल-मान की प्ररूपणा की गई है।

वृद्धि, हानि और अवस्थिति का तात्पर्य—कोई भी जीव जब बहुत उत्पन्न होते हैं और थोडे मरते हैं, तब '**वे बढते हैं,**' ऐसा व्यपदेश किया जाता है, और जब वे बहुत मरते हैं और थोडे उत्पन्न होते हैं, तब '**वे घटते हैं,**' ऐसा व्यपदेश किया जाता है। जब उत्पत्ति और मरण समान संख्या मे होता है, अर्थात्—जितने जीव उत्पन्न होवे हैं, उतने ही मरते हैं, अथवा कुछ काल तक जीव का जन्म-मरण नहीं होता, तब यह कहा जाता है कि '**वे अवस्थित हैं।**'

उदाहरणार्थ—नैरयिक जीवों का अवस्थान काल २४ मुहूर्त का कहा गया है। वह इस प्रकार समझना चाहिए—सातों नरकपृथ्वियों में १२ मुहूर्त तक न तो कोई जीव उत्पन्न होता है, और न ही किसी जीव का मरण (उद्वर्तन) होता है। इस प्रकार का उत्कृष्ट विरहकाल होने से इतने समय तक नैरयिक जीव अवस्थित रहते हैं, तथा दूसरे १२ मुहूर्त तक जितने जीव नरकों में उत्पन्न होते हैं, उतने ही जीव वहाँ से मरते है, यह भी नैरयिकों का अवस्थानकाल है। तात्पर्य यह है कि २४ मुहूर्त तक नैरयिकों की (हानि-वृद्धिरहित) एक परिमाणता होने से उनका अवस्थानकाल २४ मुहूर्त का कहा गया है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों का अवस्थानकाल उत्कृष्ट दो अन्तर्मुहूर्त्त का बताया गया है। एक अन्तर्मुहूर्त्त तो उनका विरहकाल है। विरहकाल अवस्थानकाल से आधा होता है। इस कारण दूसरे अन्तर्मुहूर्त्त में वे समान संख्या में उत्पन्न होते और मरते हैं। इस प्रकार इनका अवस्थानकाल दो अन्तर्मुहूर्त्त का हो जाता है।[1]

सिद्ध पर्याय सादि अनन्त होने से उनकी संख्या कम नहीं हो सकती, परन्तु जब कोई जीव नया सिद्ध होता है तब वृद्धि होती है। जितने काल तक कोई भी जीव सिद्ध नहीं होता उतने काल तक सिद्ध अवस्थित (उतने के उतने) ही रहते हैं।

संसारी एवं सिद्ध जीवों में सोपचयादि चार भंग एवं उनके कालमान का निरूपण

२१. जीवा णं भंते ! किं सोवचया, सावचया, सोवचयसावचया, निरुवचयनिरवचया ?

गोयमा ! जीवा णो सोवचया, नो सावचया, णो सोवचयसावचया, निरुवचयनिरवचया।

[२१ प्र.] भगवन् ! क्या जीव सोपचय (उपचयसहित) हैं, सापचय (अपचयसहित) हैं, सोपचय-सापचय (उपचय-अपचयसहित) है या निरुपचय (उपचयरहित)-निरपचय (अपचय-रहित) हैं ?

[२१ उ.] गौतम ! जीव न सोपचय है, और न ही सापचय है, और न सोपचय-सापचय हैं, किन्तु निरुपचय-निरपचय है।

२२. एगिंदिया ततियपदे, सेसा जीवा चउहि वि पदेहिं भाणियव्वा।

[२२] एकेन्द्रिय जीवों में तीसरा पद (विकल्प—सोपचय-सापचय) कहना चाहिए। शेष सब जीवों में चारों ही पद (विकल्प) कहने चाहिए।

२३. सिद्धा णं भंते ! ० पुच्छा।

गोयमा ! सिद्धा सोवचया, णो सावचया, णो सोवचयसावचया, निरुवचयनिरवचया।

[२३ प्र.] भगवन् ! क्या सिद्ध भगवान् सोपचय है, सापचय हैं, सोपचय-सापचय हैं या निरुपचय-निरपचय हैं ?

---

१. (क) भगवतीसूत्र, अ. वृत्ति, पत्रांक २४५
(ख) भगवतीसूत्र (हिन्दी विवेचन) भा. २, पृ. ९११-९१२

[२३ उ] गौतम ! सिद्ध भगवान् सोपचय है, सापचय नही हैं, सोपचय-सापचय भी नही है, किन्तु निरुपचय-निरपचय हैं।

२४. जीवा णं भंते ! केवतियं कालं निरुवचयनिरवचया ?

गोयमा ! सव्वद्धं ।

[२४ प्र.] भगवन् ! जीव कितने काल तक निरुपचय-निरपचय रहते हैं ?

[२४ उ.] गौतम ! जीव सर्वकाल तक निरुपचय-निरपचय रहते हैं।

२५. [१] नेरतिया णं भंते ! केवतियं कालं सोवचया ?

गोयमा ! जहन्नेण एक्कं समयं, उक्कोसेण आवलियाए असंखेज्जइभागं ।

[२५-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक कितने काल तक सोपचय रहते है ?

[२५-१ उ] गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट आवलिका के असख्येय भाग तक नैरयिक सोपचय रहते हैं।

[२] केवतियं कालं सावचया ?

एवं चेव ।

[२५-२ प्र.] भगवन् ! नैरयिक कितने काल तक सापचय रहते हैं ?

[२५-२ उ.] (गौतम !) उसी प्रकार (सोपचय के पूर्वोक्त कालमानानुसार) सापचय का काल जानना चाहिए।

[३] केवतियं कालं सोवचयसावचया ?

एवं चेव ।

[२५-३ प्र] और वे सोपचय-सापचय कितने काल तक रहते हैं ?

[२५-३ उ.] (गौतम !) सोपचय का जितना काल कहा है, उतना ही सोपचय-सापचय का काल जानना चाहिए।

[४] केवतियं कालं निरुवचयनिरवचया ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेण बारस मुहुत्ता ।

[२५-४ प्र.] नैरयिक कितने काल तक निरुपचय-निरपचय रहते हैं ?

[२५-४ उ] गौतम ! नैरयिक जीव जघन्य एक समय और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त्त तक निरुपचय-निरपचय रहते हैं।

२६. एगिंदिया सव्वे सोवचयसावचया सव्वद्धं ।

[२६] सभी एकेन्द्रिय जीव सर्व काल (सर्वदा) सोपचय-सापचय रहते हैं।

२७. सेसा सव्वे सोवचया वि, सावचया वि, सोवचयसावचया वि, निरुवचयनिरवचया वि जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जतिभाग अवट्ठिएहिं वक्कंतिकालो[1] भाणियव्वो।

[२७] शेष सभी जीव सोपचय भी है, सापचय भी हैं, सोपचय-सापचय भी है और निरुपचय-निरपचय भी है। इन चारो का काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट, आवलिका का असख्यातवां भाग है। अवस्थितो (निरुपचय-निरपचय) मे व्युत्क्रान्तिकाल (विरहकाल) के अनुसार कहना चाहिए।

२८. [१] सिद्धा ण भंते! केवतियं काल सोवचया?

गोयमा! जहन्नेण एक्कं समयं, उक्कोसेण अट्ठ समया।

[२८-१ प्र.] भगवन्! सिद्ध भगवान् कितने काल तक सोपचय रहते हैं?

[२८-१ उ.] गौतम! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट आठ समय तक वे सोपचय रहते हैं।

[२] केवतियं कालं निरुवचयनिरवचया?

जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं छम्मासा।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति०।

॥ पंचमसए : अट्ठमो उद्देसो ॥

[२८-२ प्र.] और सिद्ध भगवान्, निरुपचय-निरपचय कितने काल तक रहते हैं?

[२८-२ उ.] (गौतम!) वे जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह मास तक निरुपचय-निरपचय रहते हैं।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है' यो कहकर गौतम स्वामी यावत् विचरने लगे।

विवेचन—संसारी और सिद्ध जीवों में सोपचयादि चतुर्भंग एवं उनके काल-मान का निरूपण— प्रस्तुत आठ सूत्रों मे समुच्चयजीवो, तथा चौबीस दण्डको व सिद्धो मे सोपचयादि के अस्तित्व एव उनके कालमान का निरूपण किया गया है।

सोपचयादि चार भंगों का तात्पर्य—सोपचय का अर्थ है—वृद्धिसहित। अर्थात्—पहले के जितने जीव हैं, उनमे नये जीवो की उत्पत्ति होती है, उसे **सोपचय** कहते है। पहले के जीवो मे से कई जीवों के मर जाने से सख्या घट जाती है, उसे **सापचय** (हानिसहित) कहते हैं। उत्पाद और उद्वर्तन (मरण) द्वारा एक साथ वृद्धि-हानि होती है, उसे **सोपचय-सापचय** (वृद्धिहानिसहित) कहते हैं, उत्पाद और उद्वर्तन के अभाव से वृद्धि-हानि न होना **'निरुपचय-निरपचय'** कहलाता है।

---

१. व्युत्क्रान्ति (विरह) काल के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए 'प्रज्ञापनासूत्र' का छठा 'व्युत्क्रान्ति पद' देखना चाहिए। —सं.

शंका-समाधान—इस प्रकरण से पूर्व सूत्रों में उक्त वृद्धि, हानि और अवस्थिति के ही समानार्थक क्रमशः उपचय, अपचय और सोपचयापचय शब्द हैं, फिर भी इन नये सूत्रों की आवश्यकता इसलिए है कि पूर्वसूत्रों में जीवों के परिमाण का कथन अभीष्ट है, जबकि इन सूत्रों में परिमाण की अपेक्षा बिना केवल उत्पाद और उद्वर्तन इष्ट है। तथा तीसरे भंग में वृद्धि, हानि और अवस्थिति इन तीनों का समावेश हो जाता है।[1]

॥ पंचम शतक : अष्टम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक २४५

(ख) भगवती. हिन्दी विवेचन, भा. २, पृ. ९१२-९१३

नवमो उद्देसओ : 'रायगिह'

नवम उद्देशक : 'राजगृह'

राजगृह के स्वरूप का तात्त्विक दृष्टि से निर्णय

१. तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव[1] एवं वयासी—

[१] उस काल और उस समय में यावत् गौतमस्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर से इस प्रकार पूछा—

२. [१] किमिदं भंते ! 'नगरं रायगिहं' ति पवुच्चति ? किं पुढवी 'नगरं रायगिहं' ति पवुच्चति ? आऊ 'नगरं रायगिहं' ति पवुच्चति ? जाव[2] वणस्सती ! जहा एयणुद्देसए[3] पंचिंदिय-तिरिक्खजोणियाणं वत्तव्वता तहा भाणियव्वं जाव सचित्त-अचित्त-मीसयाइं दव्वाइं 'नगरं रायगिहं' ति पवुच्चति ?

गोतमा ! पुढवी वि 'नगरं रायगिहं' ति पवुच्चति जाव सचित्त-अचित्त-मीसियाइं दव्वाइं 'नगरं रायगिहं' ति पवुच्चति।

[२-१ प्र.] भगवन् ! यह 'राजगृह' नगर क्या है—क्या कहलाता है ? क्या पृथ्वी राजगृह नगर कहलाता है ?, अथवा क्या जल राजगृहनगर कहलाता है ? यावत् वनस्पति क्या राजगृहनगर कहलाता है ?, जिस प्रकार 'एजन' नामक उद्देशक (पंचम शतक के सप्तम उद्देशक) में पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्योनि जीवों की (परिग्रह-विषयक) वक्तव्यता कही गई है, क्या उसी प्रकार यहाँ भी कहनी चाहिए ? (अर्थात्—क्या 'कूट' राजगृह नगर कहलाता है ? शैल राजगृह नगर कहलाता है ? इत्यादि), यावत् क्या सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य, (मिलकर) राजगृह नगर कहलाता है ?

[२-१ उ.] गौतम ! पृथ्वी भी राजगृहनगर कहलाती है, यावत् सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य (सब मिलकर) भी राजगृहनगर कहलाता है।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोयमा ! पुढवी जीवा ति य अजीवा ति य 'नगरं रायगिहं' ति पवुच्चति जाव सचित्त-

---

१. **'जाव'** शब्द से यहाँ पूर्वसूचित भगवद्वर्णन, नगर-वर्णन, समवसरण-वर्णन एवं परिषद् के आगमन-प्रतिगमन का वर्णन कहना चाहिए।

२. यहाँ **'जाव'** शब्द 'तेउ-वाउ' पदों का सूचक है।

३. पाँचवें शतक के ७ वें उद्देशक (एजन) में वर्णित तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय वक्तव्यता में टंका, कूडा, सेला आदि पदों को यहाँ कहना चाहिए।

अचित्त-मीसियाइं दव्वाइं जीवा ति य अजीवा ति य 'नगरं रायगिहं' ति पवुच्चति, से तेणट्ठेणं तं चेव।

[२-२ प्र] भगवन्! किस कारण से (पृथ्वी को राजगृहनगर कहा जाता है, यावत् सचित्त अचित्त-मिश्र द्रव्यों को राजगृहनगर कहा जाता है?)

[२-२ उ] गौतम! पृथ्वी जीव-(पिण्ड) है और अजीव-(पिण्ड) भी है, इसलिए यह राजगृह नगर कहलाती है, यावत् सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य भी जीव हैं, और अजीव भी हैं, इसलिए ये द्रव्य (मिलकर) राजगृहनगर कहलाते हैं। हे गौतम! इसी कारण से पृथ्वी आदि को राजगृहनगर कहा जाता है।

विवेचन—राजगृह के स्वरूप का निर्णय : तात्त्विक दृष्टि से—श्री गौतमस्वामी ने प्रायः बहुत से प्रश्न श्रमण भगवान् महावीर से राजगृह मे पूछे थे, भगवान् के बहुत-से विहार भी राजगृह मे हुए थे। इसलिए नौवें उद्देशक के प्रारम्भ मे राजगृह नगर के स्वरूप के विषय मे तात्त्विक दृष्टि से पूछा गया है।

निष्कर्ष—चू कि पृथ्वी आदि के समुदाय के बिना तथा राजगृह मे निवास करने वाले मनुष्य, पशु-पक्षी आदि के समूह के बिना 'राजगृह' शब्द की प्रवृत्ति नही हो सकती, अत राजगृह जीवाजीव रूप है।[1]

चौबीस दण्डक के जीवों के उद्योत-अन्धकार के विषय में प्ररूपणा

३. [१] से नूणं भंते दिया उज्जोते, राति अंधकारे?

हता, गोयमा! जाव अधकारे।

[३-१ प्र.] हे भगवन्! क्या दिन मे उद्योत (प्रकाश) और रात्रि मे अन्धकार होता है?

[३-१ उ] हाँ, गौतम! दिन में उद्योत और रात्रि मे अन्धकार होता है।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोतमा! दिया सुभा पोग्गला, सुभे पोग्गलपरिणामे, रतिं असुभा पोग्गला, असुभे पोग्गल-परिणामे, से तेणट्ठेण०?

[३-२ प्र.] भगवन्! किस कारण से दिन मे उद्योत और रात्रि मे अन्धकार होता है?

[३-२ उ] गौतम! दिन में शुभ पुद्गल होते हैं अर्थात् शुभ पुद्गल-परिणाम होते हैं, किन्तु रात्रि मे अशुभ पुद्गल अर्थात् अशुभपुद्गल-परिणाम होते हैं। इस कारण से दिन में उद्योत और रात्रि में अन्धकार होता है।

४. [१] नेरइयाणं भंते! किं उज्जोए, अंधकारे?

गोयमा! नेरइयाणं नो उज्जोए, अंधयारे।

---

१ भगवती. अ वृत्ति, पत्रांक २४६

[४-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों के (निवासस्थान में) उद्योत होता है, अथवा अन्धकार होता है ?

[४-१ उ.] गौतम ! नैरयिक जीवों के (स्थान में) उद्योत नहीं होता, (किन्तु) अन्धकार होता है।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोतमा ! नेरइयाणं असुभा पोग्गला, असुभे पोग्गलपरिणामे, से तेणट्ठेणं०।

[४-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से नैरयिकों के (स्थान में) उद्योत नहीं होता, अन्धकार होता है ?

[४-२ उ.] गौतम ! नैरयिक जीवों के अशुभ पुद्गल और अशुभ पुद्गल परिणाम होते हैं, इस कारण से वहाँ उद्योत नहीं, किन्तु अन्धकार होता है।

५ [१] असुरकुमाराणं भंते ! किं उज्जोते, अंधकारे ?

गोयमा ! असुरकुमाराणं उज्जोते, नो अंधकारे।

[५-१ प्र.] भगवन् ! असुरकुमारों के क्या उद्योत होता है, अथवा अन्धकार होता है ?

[५-१ उ.] गौतम ! असुरकुमारों के उद्योत होता है, अन्धकार नहीं होता।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोतमा ! असुरकुमाराणं सुभा पोग्गला, सुभे पोग्गलपरिणामे, से तेणट्ठेणं एवं वुच्चति०।

[५-२ प्र.] भगवन् ! यह किस कारण से कहा जाता है (कि असुरकुमारों के उद्योत होता है, अन्धकार नहीं ?)

[५-२ उ.] गौतम ! असुरकुमारों के शुभ पुद्गल या शुभ परिणाम होते हैं, इस कारण से कहा जाता है कि उनके उद्योत होता है, अन्धकार नहीं होता।

[३] एवं जाव[1] थणियाणं।

[५-३] इसी प्रकार (नागकुमार देवों से लेकर) स्तनितकुमार देवों तक के लिए कहना चाहिए।

६. पुढविकाइया जाव[2] तेइंदिया जहा नेरइया।

[६] जिस प्रकार नैरयिक जीवों के (उद्योत-अन्धकार के) विषय में कथन किया, उसी प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों से लेकर त्रीन्द्रिय जीवों तक के विषय में कहना चाहिए।

---

१. 'जाव' पद नागकुमार से लेकर स्तनितकुमार तक का सूचक है।

२. यहाँ जाव पद पृथ्वीकायादि पाँच स्थावर से लेकर द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय जीवों तक का सूचक है।

७. [१] चउरिंदियाणं भंते ! किं उज्जोते, अंधकारे ?

गोतमा ! उज्जोते वि, अंधकारे वि।

[७-१ प्र] भगवन् ! चतुरिन्द्रिय जीवो के क्या उद्योत है अथवा अन्धकार है ?

[७-१ उ] गौतम ! चतुरिन्द्रिय जीवो के उद्योत भी है, अन्धकार भी है।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोतमा ! चतुरिंदियाणं सुभाऽसुभा पोग्गला, सुभाऽसुभे पोग्गलपरिणामे, से तेणट्ठेणं०।

[७-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से चतुरिन्द्रिय जीवो के उद्योत भी है, अन्धकार भी है ?

[७-२ उ] गौतम ! चतुरिन्द्रिय जीवो के शुभ और अशुभ (दोनो प्रकार के) पुद्गल होते हैं, तथा शुभ और अशुभ पुद्गल परिणाम होते हैं, इसलिए ऐसा कहा जाता है, कि उनके उद्योत भी है और अन्धकार भी है।

८. एवं जाव[1] मणुस्साणं।

[८] इसी प्रकार (तिर्यञ्चपञ्चेन्द्रिय और) यावत् मनुष्यो तक के लिए कहना चाहिए।

९. वाणमंतर-जोतिस-वेमाणिया जहा असुरकुमारा।

[९] जिस प्रकार असुरकुमारो के (उद्योत-अन्धकार) के विषय मे कहा, उसी प्रकार वाण-व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो के विषय मे भी कहना चाहिए।

विवेचन—चौबीस दण्डक के जीवों के उद्योत-अन्धकार के विषय में प्ररूपणा—प्रस्तुत सात सूत्रो (सू. ३ से ९ तक) मे नैरयिक जीवो से लेकर वैमानिक देवो तक के उद्योत और अन्धकार के सम्बन्ध मे कारण-पूर्वक सैद्धान्तिक प्ररूपणा की गई है।

उद्योत और अन्धकार के कारण : शुभाशुभ पुद्गल एवं परिणाम—क्यो और कैसे ?—शास्त्रकार ने दिन मे शुभ और रात्रि मे अशुभ पुद्गलो का कारण प्रकाश और अन्धकार बतलाया है, इसके पीछे रहस्य यह है कि दिन मे सूर्य की किरणों के सम्पर्क के कारण पुद्गल के परिणाम शुभ होते हैं, किन्तु रात्रि मे सूर्यकिरण-सम्पर्क न होने से पुद्गलो का परिणमन अशुभ होता है।

नरको मे पुद्गलो की शुभता के निमित्तभूत सूर्यकिरणो का प्रकाश नही है, इसलिए वहाँ अन्धकार है। पृथ्वीकायिक से लेकर त्रीन्द्रिय तक के जीव, जो मनुष्यक्षेत्र मे है, और उन्हे सूर्य-किरणों आदि का सम्पर्क भी है, फिर भी उनमे अन्धकार कहा है, उसका कारण यह है कि उनके चक्षुरिन्द्रिय न होने से दृश्य वस्तु दिखाई नहीं देती, फलत: शुभ पुद्गलो का कार्य उनमें नही होता, उस अपेक्षा से उनमे अशुभ पुद्गल हैं, अत उनमें अन्धकार ही है। चतुरिन्द्रिय जीवों से लेकर मनुष्य तक मे शुभाशुभ दोनों पुद्गल होते हैं, क्योंकि उनके आंख होने पर भी जब रविकिरणादि का सद्भाव होता है, तब दृश्य पदार्थों के ज्ञान मे निमित्त होने से उनमे शुभ पुद्गल होते हैं, किन्तु

---

१. यहाँ 'जाव' पद से तिर्यञ्चपंचेन्द्रियो एवं मनुष्यो का ग्रहण करना चाहिए।

रविकिरणादि का सम्पर्क नहीं होता, तब पदार्थज्ञान का अजनक होने से उनमें अशुभ पुद्गल होते हैं। भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के रहने के आश्रय (स्थान) आदि की भास्वरता के कारण वहाँ शुभ पुद्गल हैं, अतएव अन्धकार नहीं उद्योत है।[1]

चौबीस दण्डकों में समयादि काल-ज्ञानसम्बन्धी प्ररूपणा

१०. [१] अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं तत्थगयाणं एवं पण्णायति, तं जहा—समया ति वा आवलिया ति वा जाव[2] ओसप्पिणी ति वा उस्सप्पिणी ति वा ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[१०-१ प्र] भगवन् ! क्या वहाँ (नरकक्षेत्र मे) रहे हुए नैरयिको को इस प्रकार का प्रज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) होता है, जैसे कि—यह समय (है), आवलिका (है), यावत् (यह) उत्सर्पिणी काल (या) अवसर्पिणी काल (है) ?

[१०-१ उ] गौतम ! यह अर्थ समर्थ (शक्य) नहीं है। (अर्थात्—वहाँ रहे हुए नैरयिक जीवो को समयादि का प्रज्ञान नहीं होता।)

[२] से केणट्ठेणं जाव[3] समया ति वा आवलिया ति वा जाव ओसप्पिणी ति वा उस्सप्पिणी ति वा।

गोयमा ! इहं तेसिं माणं, इहं तेसिं पमाणं, इहं तेसिं एवं पण्णायति, तं जहा—समया ति वा जाव उस्सप्पिणी ति वा। से तेणट्ठेणं जाव नो एवं पण्णायति, तं जहा—समया ति वा जाव उस्सप्पिणी ति वा।

[१०-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से नरकस्थ नैरयिको को समय, आवलिका, यावत् उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल का प्रज्ञान नहीं होता ?

[१०-२ उ] गौतम ! यहाँ (मनुष्यलोक मे) समयादि का मान है, यहाँ उनका प्रमाण है, इसलिए यहाँ (मनुष्य क्षेत्र मे) उनका (समयादि का) ऐसा प्रज्ञान होता है कि—यह समय है, यावत् यह उत्सर्पिणीकाल है, (किन्तु नरक मे न तो समयादि का मान है, न प्रमाण है और न ही प्रज्ञान है।) इस कारण से कहा जाता है कि नरकस्थित नैरयिको को इस प्रकार से समय, आवलिका यावत् उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी-काल का प्रज्ञान नहीं होता।

११. एवं जाव पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं।

[११] जिस प्रकार नरकस्थित नैरयिको के (समयादिप्रज्ञान के) विषय मे कहा गया है;

---

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २४७

२. यहाँ 'जाव' पद से लव, स्तोक, मुहूर्त्त, दिवस, मास इत्यादि समस्त काल-विभागसूचक अवसर्पिणीपर्यन्त शब्दों का कथन करना चाहिए।

३. 'जाव' पद यहाँ समग्र प्रश्न वाक्य पुन उच्चारण करने का सूचक है।

उसी प्रकार (भवनपति देवो, स्थावर जीवो, तीन विकलेन्द्रियो से लेकर) यावत् पचेन्द्रिय तिर्यग्योनिक जीवो तक के लिए कहना चाहिए ।

१२. [१] अत्थि णं भंते ! मणुस्साणं इहगताणं एवं पण्णायति, तं जहा—समया ति वा जाव उस्सप्पिणी ति वा ?

हंता, अत्थि ।

[१२-१ प्र] भगवन् ! क्या यहाँ (मनुष्यलोक मे) रहे हुए मनुष्यो को इस प्रकार का प्रज्ञान होता है, कि (यह) समय (है,) अथवा यावत् (यह) उत्सर्पिणीकाल (है) ?

[१२-१ उ] हाँ, गौतम ! (यहाँ रहे हुए मनुष्यो को समयादि का प्रज्ञान) होता है ।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोतमा ! इहं तेसिं माणं, इहं तेसिं पमाणं, इहं चेव तेसिं एवं पण्णायति, तं जहा— समया ति वा जाव उस्सप्पिणी ति वा । से तेणट्ठेणं० ।

[१२-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से (ऐसा कहा जाता है) ?

[१२-२ उ.] गौतम ! यहाँ (मनुष्यलोक मे) उनका (समयादि का) मान है, यहाँ उनका प्रमाण है, इसलिए यहाँ उनको उनका (समयादि का) इस प्रकार से प्रज्ञान होता है, यथा—यह समय है, या यावत् यह उत्सर्पिणीकाल है । इस कारण से ऐसा कहा जाता है कि यहाँ रहे हुए मनुष्यो को समयादि का प्रज्ञान होता है ।

१३. वाणमंतर-जोतिस-वेमाणियाणं जहा नेरइयाणं ।

[१३] जिस प्रकार नैरयिक जीवो के विषय मे कहा गया है, उसी प्रकार वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एव वैमानिक देवों मे (समयादिप्रज्ञान के) विषय मे कहना चाहिए ।

विवेचन—चौबीस दण्डक के जीवों में समयादिकाल के ज्ञानसम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत चार सूत्रों (सू. १० से १३ तक) मे नैरयिक से लेकर वैमानिक तक के जीवो मे से कहाँ-कहाँ किन-किन जीवों को समयादि का ज्ञान नही होता, किनको होता है ? और किस कारण से ? यह निरूपण किया गया है ।

निष्कर्ष—चौबीस दण्डक के जीवो मे से मनुष्यलोक मे स्थित मनुष्यो के अतिरिक्त मनुष्यलोक-बाह्य किसी भी जीव को समय आवलिका आदि का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वहाँ समयादि का मान-प्रमाण नहीं होता है । समयादि की अभिव्यक्ति सूर्य की गति से होती है और सूर्य की गति मनुष्यलोक में ही है, नरकादि मे नही । इसीलिए यहाँ कहा गया है कि मनुष्यलोक स्थित मनुष्यो को ही समयादि का ज्ञान होता है; मनुष्यलोक से बाहर समयादि कालविभाग का व्यवहार नहीं होता । यद्यपि मनुष्यलोक में कितने ही तिर्यंच-पंचेन्द्रिय, भवनपति, वाणव्यन्तर, और ज्योतिष्कदेव हैं, तथापि वे स्वल्प हैं और कालविभाग के अव्यवहारी हैं, साथ ही मनुष्यलोक के बाहर वे बहुत हैं । अतः उन

बहुतों की अपेक्षा से यह कहा गया है कि पंचेन्द्रियतिर्यंच, भवनपति, वाणव्यन्तर एवं ज्योतिष्कदेव समय आदि कालविभाग को नही जानते।[1]

मान और प्रमाण का अर्थ—समय, आवलिका आदि काल के विभाग है। इनमे अपेक्षाकृत सूक्ष्म काल 'मान' कहलाता है, और अपेक्षाकृत प्रकृष्ट काल 'प्रमाण'। जैसे—'मुहूर्त्त' मान है, मुहूर्त्त की अपेक्षा सूक्ष्म होने से 'लव' 'प्रमाण' है। लव की अपेक्षा 'स्तोक' प्रमाण है और स्तोक की अपेक्षा 'लव' मान है। इस प्रकार से 'समय' तक जान लेना चाहिए।[2]

पार्श्वापत्य स्थविरों द्वारा भगवान् से लोक-सम्बन्धी शंका-समाधान एवं पंचमहाव्रत धर्म में समर्पण

१४. [१] तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते ठिच्चा एवं वयासी—से नूणं भंते ! असंखेज्जे लोए, अणंता रातिंदिया उप्पज्जिसु वा उप्पज्जंति वा उप्पज्जिस्संति वा ?, विगच्छिसु वा विगच्छंति वा विगच्छिस्संति वा ?, परित्ता रातिंदिया उप्पज्जिसु वा उप्पज्जंति वा उप्पज्जिस्संति वा ? विगच्छिंसु वा ३ ?

हंता, अज्जो ! असंखेज्जे लोए, अणंता रातिंदिया० तं चेव।

[१४-१ प्र] उस काल और उस समय मे पार्श्वापत्य (पार्श्वनाथ भगवान् के सन्तानीय शिष्य) स्थविर भगवन्त, जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, वहाँ आए। वहाँ आ कर वे श्रमण भगवान् महावीर से अदूरसामन्त (अर्थात्—न बहुत दूर और न बहुत निकट, अपितु यथायोग्य स्थान पर) खड़े रह कर इस प्रकार पूछने लगे—भगवन् ! असंख्य लोक मे क्या अनन्त रात्रि-दिवस उत्पन्न हुए हैं, उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होगे; तथा नष्ट हुए है, नष्ट होते हैं और नष्ट होंगे ? अथवा परिमित (नियत परिमाण वाले) रात्रि-दिवस उत्पन्न हुए है, उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होंगे, तथा नष्ट हुए हैं, नष्ट होते हैं और नष्ट होंगे ?

[१४-१ उ] हाँ, आर्यो ! असख्य लोक मे अनन्त रात्रि-दिवस उत्पन्न हुए है, उत्पन्न होते हैं, यावत् उपर्युक्त रूप सारा पाठ कहना चाहिए।

[२] से केणट्ठेणं जाव विगच्छिस्संति वा ? से नूणं भे अज्जो ! पासेणं अरहया पुरिसादाणीएणं "सासते लोए बुइते अणादीए अणवदग्गे परित्ते परिवुडे; हेट्ठा विच्छिण्णे, मज्झे संखित्ते, उप्पिं विसाले, अहे पलियंकसंठिते, मज्झे वरवइरविग्गहिते, उप्पिं उद्धमुइंगाकारसंठिते। तंसि च णं सासयंसि लोगंसि अणादियंसि अणवदग्गंसि परित्तंसि परिवुडंसि हेट्ठा विच्छिण्णंसि, मज्झे संखित्तंसि,

१ (क) भगवती सूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक २४७
(ख) 'मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके', 'तत्कृतः कालविभागः,' 'बहिरवस्थिताः'—तत्त्वार्थसूत्र अ ४ सू १४-१५-१६।

२. भगवतीसूत्र अ० वृत्ति, पत्रांक २४७

उप्पिं विसालंसि, अहे पलियंकसंठियंसि, मज्झे वरवइरविग्गहियंसि, उप्पिं उद्धमुइंगाकारसंठियंसि अणंता जीवघणा उप्पज्जित्ता उप्पज्जित्ता निलीयंति, परित्ता जीवघणा उप्पज्जित्ता उप्पज्जित्ता निलीयंति । से भूए उप्पन्ने विगते परिणए अजीवेहिं लोक्कति, पलोक्कइ । जे लोक्कइ से लोए ?

'हंता, भगवं !' । से तेणट्ठेणं अज्जो ! एवं वुच्चति असंखेज्जे तं चेव' ।

[१४-२ प्र] भगवन् ! किस कारण से असंख्य लोक मे अनन्त रात्रि-दिवस उत्पन्न यावत् नष्ट होगे ?

[१४-२ उ] हे आर्यो ! यह निश्चित है कि आपके (गुरुस्वरूप) पुरुषादानीय (पुरुषो मे ग्राह्य), अर्हत् पार्श्वनाथ ने लोक को शाश्वत कहा है । इसी प्रकार लोक को अनादि, अनवदग्र (अनन्त), परिमित, अलोक से परिवृत (घिरा हुआ), नीचे विस्तीर्ण, मध्य मे सक्षिप्त, और ऊपर विशाल, तथा नीचे पल्यकाकार, बीच मे उत्तम वज्राकार और ऊपर ऊर्ध्वमृदगाकार कहा है । उस प्रकार के शाश्वत, अनादि, अनन्त, परित्त, परिवृत, नीचे विस्तीर्ण, मध्य मे सक्षिप्त, ऊपर विशाल, तथा नीचे पल्यकाकार, मध्य मे उत्तमवज्राकार और ऊपर ऊर्ध्वमृदगाकारसस्थित लोक मे अनन्त जीवघन उत्पन्न हो-हो कर नष्ट होते हैं और परित्त (नियत = असख्य) जीवघन भी उत्पन्न हो-हो कर विनष्ट होते हैं । इसीलिए ही तो यह लोक भूत है, उत्पन्न है, विगत है, परिणत है । यह, अजीवो (अपनी सत्ता को धारण करते, नष्ट होते, और विभिन्न रूपो मे परिणत होते लोक के अनन्यभूत पुद्गलादि) से लोकित—निश्चित होता है, तथा यह (भूत आदि धर्म वाला लोक) विशेषरूप से लोकित--निश्चित होता है । 'जो (प्रमाण से) लोकित—अवलोकित होता है, वही लोक है न ?' (पार्श्वापत्य स्थविर—) हाँ, भगवन् ! (वही लोक है ।) इसी कारण से, हे आर्यो ! ऐसा कहा जाता है कि असख्य लोक मे (अनन्त रात्रिदिवस यावत् परिमित रात्रि-दिवस यावत् विनष्ट होगे ।) इत्यादि सब पूर्ववत् कहना चाहिए ।

[३] तप्पभिर्ति च णं ते पासावच्चेज्जा थेरा भगवंतो समणं भगवं महावीरं पच्चभिजाणंति 'सव्वण्णुं सव्वदरिसिं' ।

[१४-३] तब से वे पार्श्वापत्य स्थविर भगवन्त श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को सर्वज्ञ और सर्वदर्शी जानने लगे ।

१५. [१] तए णं ते थेरा भगवंतो समणं भगवं महावीरं वंदंति नमंसंति, २ एवं वदासी—इच्छामो णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सप्पडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।

[१५-१] इसके पश्चात् उन (पार्श्वापत्य) स्थविर भगवन्तों ने श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया । वन्दन-नमस्कार करके वे इस प्रकार बोले—'भगवन् ! चातुर्याम धर्म के बदले हम आपके समीप प्रतिक्रमण सहित पंचमहाव्रतरूप धर्म को स्वीकार करके विचरण करना चाहते हैं ।

१. यहाँ 'लोक' के पूर्वसूचित समग्र विशेषण कहने चाहिए ।

[२] 'अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह ।'

[१५-२ भगवान्—] 'देवानुप्रिय ! जिस प्रकार आपको सुख हो, वैसा करो, किन्तु प्रतिबन्ध (शुभ कार्य में ढील या रुकावट) मत करो ।'

१६. तए णं ते पासावच्चिज्जा थेरा भगवतो जाव[1] चरिमेहिं उस्सासनिस्सासेहिं सिद्धा जाव[2] सव्वदुक्खप्पहीणा, अत्थेगइया देवा देवलोगेसु उववन्ना ।

[१६] इसके पश्चात् वे पार्श्वापत्य स्थविर भगवन्त, यावत् अन्तिम उच्छ्वास-निःश्वास के साथ सिद्ध हुए यावत् सर्वदुःखो से प्रहीण (मुक्त—रहित) हुए और (उनमे से) कई (स्थविर) देवलोको मे देवरूप मे उत्पन्न हुए ।

विवेचन—पार्श्वापत्य स्थविरों द्वारा भगवान् से लोक-सम्बन्धी शंका-समाधान एवं पंचमहाव्रत-धर्म में समर्पण— प्रस्तुत तीन सूत्रों द्वारा शास्त्रकार ने पार्श्वनाथशिष्य स्थविरो के भगवान् महावीर के पास लोक सम्बन्धी शका के समाधानार्थ आगमन से लेकर उनके सिद्धिगमन या स्वर्गगमन तक का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है ।

पार्श्वापत्य स्थविरों द्वारा कृत दो प्रश्नों का आशय—(१) स्थविरो द्वारा पूछे गए प्रथम प्रश्न का आशय यह है कि जो लोक असख्यात प्रदेशवाला है, उसमे अनन्त रात्रि-दिवस (काल), कैसे हो या रह सकते है ? क्योकि लोकरूप आधार असख्यात होने से छोटा है और रात्रिदिवसरूप आधेय अनन्त होने से बडा है । अत: छोटे आधार मे बडा आधेय कैसे रह सकता है ? (२) दूसरे प्रश्न का आशय यह है कि जब रात्रिदिवस (काल) अनन्त हैं, तो परित्त कैसे हो सकते हैं ?

भगवान् द्वारा दिये गए समाधान का आशय—उपर्युक्त दोनो प्रश्नो के समाधान का आशय यह है—एक मकान मे हजारो दीपको का प्रकाश समा सकता है, वैसे ही तथाविधस्वभाव होने से असंख्य-प्रदेशात्मक लोक मे अनन्त जीव रहते है । वे जीव साधारण शरीर की अपेक्षा एक ही स्थान मे, एक ही समय में, आदिकाल मे अनन्त उत्पन्न होते हैं और अनन्त ही विनष्ट होते हैं । उस समय वह समयादिकाल साधारण शरीर मे रहने वाले अनन्तजीवो मे से प्रत्येक जीव मे विद्यमान है, तथैव प्रत्येक शरीर में रहने वाले परित्त (परिमित) जीवो मे से प्रत्येक जीव मे विद्यमान है । क्योकि वह समयादि काल मे जीवो की स्थिति पर्यायरूप है । इस प्रकार काल अनन्त भी हुआ और परित्त भी हुआ । इसी कारण से कहा गया—असख्यलोक मे रात्रिदिवस अनन्त भी हैं, परित्त भी । इसी प्रकार तीनो काल मे हो सकता है ।

लोक अनन्त भी है, परित्त भी; इसका तात्पर्य—भगवान् महावीर ने अपने पूर्वज पुरुषो मे माननीय (आदानीय) तीर्थंकर पार्श्वनाथ के मत का ही विश्लेषण करते हुए बताया कि लोक शाश्वत एवं प्रतिक्षण स्थिर भी है और उत्पन्न, विगत (विनाशी) एव परिणामी (निरन्वय विनाशी नही किन्तु विविधपर्यायप्राप्त) भी है । वह अनादि होते हुए भी अनन्त है । अनन्त (अन्तरहित) होते हुए भी प्रदेशों की अपेक्षा से परित्त (परिमित—असख्येय) है ।

---

१. **'जाव'** पद से यहाँ निर्वाणगामी मुनि का वर्णन करना चाहिए ।
२. **'जाव'** पद से यहाँ **'बुद्धा परिनिव्वुडा'** आदि पद कहने चाहिए ।

अनन्त जीवघन और परित्त जीवघन—अनन्त जीवघन का अर्थ है—परिमाण से अनन्त अथवा जीवसन्तति की अपेक्षा अनन्त। जीवसतति का कभी अन्त नही होता इसलिए सूक्ष्मादि साधारण शरीरो की अपेक्षा तथा संतति की अपेक्षा जीव अनन्त हैं। वे अनन्तपर्याय-समूहरूप होने से तथा असख्येयप्रदेशों का पिण्डरूप होने से घन कहलाते हैं। ये हुए अनन्त जीवघन। तथा प्रत्येक शरीर वाले भूत भविष्यत्काल की संतति की अपेक्षा से रहित होने से पूर्वोक्तरूप से परित्त जीवघन कहलाते हैं। चू कि अनन्त और परित्त जीवो के सम्बन्ध से रात्रि-दिवसरूप कालविशेष भी अनन्त और परित्त कहलाता है, इसलिए अनन्त जीवरूप लोक के सम्बन्ध से रात्रिदिवसरूप कालविशेष भी अनन्त हो जाता है और परित्त जीवरूप लोक के सम्बन्ध से रात्रिदिवसरूप कालविशेष भी परित्त हो जाता है। अत इन दोनो मे परस्पर विरोध नही है।[1]

चातुर्याम एवं सप्रतिक्रमण पंचमहाव्रत में अन्तर—सर्वथा प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान और बहिद्धादान का त्याग चातुर्याम धर्म है, और सर्वथा प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से विरमण पचमहाव्रत धर्म है। बहिद्धादान मे मैथुन और परिग्रह दोनो का समावेश हो जाता है। इसलिए इन दोनो प्रकार के धर्मों मे विशेष अन्तर नही है। भरत और ऐरवत क्षेत्र के २४ तीर्थंकरो मे से प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरो के सिवाय बीच के २२ तीर्थंकरो के शासन मे तथा महाविदेह क्षेत्र मे चातुर्याम प्रतिक्रमणरहित (कारण होने पर प्रतिक्रमण) धर्म प्रवृत्त होता है, किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरो के शासन मे सप्रतिक्रमण पचमहाव्रत धर्म प्रवृत्त होता है।[2]

१७. **कइविहा णं भंते ! देवलोगा पण्णत्ता ?**

गोयमा ! चउव्विहा देवलोगा पण्णत्ता, तं जहा—भवणवासी-वाणमंतर-जोइसिय-वेमाणिय-भेएणं। भवणवासी दसविहा, वाणमंतरा अट्ठविहा, जोइसिया पंचविहा, वेमाणिया दुविहा।

[१७ प्र] भगवन् ! देवगण कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[१७ उ] गौतम ! देवगण चार प्रकार के कहे गए हैं। वे इस प्रकार है—भवनवासी, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक के भेद से (चार प्रकार होते हैं।) भवनवासी दस प्रकार के हैं। वाणव्यन्तर आठ प्रकार के हैं, ज्योतिष्क पाच प्रकार के हैं और वैमानिक दो प्रकार के हैं।

विवेचन—देवलोक और उसके भेद-प्रभेदों का निरूपण—प्रस्तुत सूत्र में देवगण के मुख्य चार प्रकार और उनमे से प्रत्येक के प्रभेदो का निरूपण किया गया है।

देवलोक का तात्पर्य—प्रस्तुत प्रसंग मे देवलोक का अर्थ—देवो का निवासस्थान या देवक्षेत्र

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ वृत्ति पत्रांक २४८-२४९ (ख) भगवती हिन्दी विवेचन भा. २ पृ. ९२५

२. (क) भगवती० हिन्दी विवेचन भा २ पृ ९२७, (ख) भगवती. अ. वृत्ति. पत्रांक २४९

(ग) सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स पच्छिमस्स य जिणस्स। मज्झिमगाण जिणाण, कारणजाए पडिक्कमण।

(घ) मूलपाठ के इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि भगवान् महावीर एव अर्हत् पार्श्वनाथ एक ही परम्परा के तीर्थंकर हैं, यह तथ्य पार्श्वापत्य स्थविरो को ज्ञात न था। इसी कारण प्रथम साक्षात्कार में वे भगवान् महावीर के पास आकर वन्दना-नमस्कार किये बिना अथवा विनय भाव व्यक्त किये बिना ही उनसे प्रश्न पूछते हैं। —जैनसाहित्य का बृहत् इतिहास भा. १ पृ. १९७

नहीं, अपितु देव-समूह या देवनिकाय ही यथोचित है; क्योंकि यहाँ प्रश्न के उत्तर में देवलोक के भेद न बताकर देवों के भेद-प्रभेद बताए हैं। तत्त्वार्थसूत्र में देवों के चार निकाय बताए गए हैं।[1]

भवनवासी देवों के दस भेद—१ असुरकुमार, २ नागकुमार, ३. सुवर्ण (सुपर्ण) कुमार, ४. विद्युत्कुमार, ५. अग्निकुमार, ६ द्वीपकुमार, ७ उदधिकुमार, ८, दिशाकुमार, ९ पवन-कुमार और १०. स्तनितकुमार।

वाणव्यन्तर देवों के आठ भेद—किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच।

ज्योतिष्क देवों के पांच भेद—सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे।

वैमानिक देवों के दो भेद—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। पहले से लेकर बारहवें देवलोक तक के देव 'कल्पोपपन्न' और उनसे ऊपर नौ ग्रैवेयक एवं पंच अनुत्तरविमानवासी देव 'कल्पातीत' कहलाते हैं।[2]

किमियं रायगिहं ति य, उज्जोए अंधकार-समए य।
पासंतिवासि-पुच्छा, राइंदिय देवलोगा य॥

उद्देशक की संग्रह-गाथा

[१८ गाथार्थ—] राजगृह नगर क्या है ? दिन में उद्योत और रात्रि में अन्धकार क्यों होता है ? समय आदि काल का ज्ञान किन जीवों को होता है, किनको नहीं ? रात्रि-दिवस के विषय में पार्श्वजिनशिष्यों के प्रश्न और देवलोक विषयक प्रश्न, इतने विषय इस नौवें उद्देशक में कहे गए हैं।

॥ पंचम शतक नवम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) 'देवाश्चतुर्निकायाः'—तत्त्वार्थसूत्र अ. ४ सू. १ (ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. २, पृ. ९२९
२. (क) तत्त्वार्थसूत्र अ. ४ सू. ११, १२, १३, १७-१८ (ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. २, पृ. ९२९

दसमो उद्देसओ : 'चंपाचंदिमा'

दशम उद्देशक : 'चम्पा-चन्द्रमा'

[१] तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी, जहा पढमिल्लो उद्देसओ तहा नेयव्वो एसो वि, नवरं चंदिमा भाणियव्वा।

[१] उस काल और उस समय मे चम्पा नाम की नगरी थी। जैसे (पचम शतक का) प्रथम उद्देशक कहा है, उसी प्रकार यह उद्देशक भी कहना चाहिए। विशेषता यह है कि यहाँ 'चन्द्रमा' कहना चाहिए।

विवेचन—जम्बूद्वीप में चन्द्रमा के उदय-अस्त आदि से सम्बन्धित अतिदेशपूर्वक वर्णन— प्रस्तुत उद्देशक के प्रथम सूत्र मे चम्पानगरी मे श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित चन्द्रमा का उदय-अस्त सम्बन्धी वर्णन, पंचम शतक के प्रथम उद्देशक (चम्पा-रवि) मे वर्णित सूर्य के उदय-अस्त सम्बन्धी वर्णन का हवाला देकर किया गया है।

चम्पा-चन्द्रमा—चन्द्रमा का उदय-अस्त-सम्बन्धी प्ररूपण श्रमण भगवान् महावीर स्वामी द्वारा चम्पा नगरी में किया गया था, इसलिए इस उद्देशक का नाम **'चम्पा-चन्द्रमा'** रखा गया है। रवि के बदले चन्द्रमा नाम के अतिरिक्त सारा ही वर्णन सूर्य के उदयास्त वर्णनवत् समझना चाहिए।

॥ पंचम शतक : दशम उद्देशक समाप्त ॥

॥ पंचम शतक सम्पूर्ण ॥

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमो में जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल मे स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियो मे भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायो का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थो का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या सयुक्त होने के कारण, इनका भी आगमों में अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, त जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, त जहा—अट्ठी, मस, सोणित्ते, असुतिसामंते, सुसाणसामते, चदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अतो ओरालिए सरीरगे।

—स्थानाङ्गसूत्र, स्थान १०

नो कप्पति निग्गथाण वा, निग्गथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झाय करित्तए, त जहा—आसाढपाडिवए, इदमहापाडिवए, कत्तिअपाडिवए, सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा, चउहि संझाहिं सज्झाय करेत्तए, त जहा—पडिमाते, पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गथीण वा, चाउक्काल सज्झाय करेत्तए, त जहा—पुव्वण्हे, अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—स्थानाङ्गसूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गये हैं। जिनका सक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. **उल्कापात-तारापतन**—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नही करना चाहिए।

२. **दिग्दाह**—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पडे कि दिशा में आग-सी लगी है, तब भी स्वाध्याय नही करना चाहिए।

३-४ —गर्जित-विद्युत्—गर्जन और विद्युत प्रायः ऋतु स्वभाव से ही होता है। अतः आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नही माना जाता।

५. निर्घात—बिना बादल के आकाश मे व्यन्तरादिकृत घोर गर्जन होने पर या बादलो सहित आकाश में कड़कने पर दो प्रहर तक अस्वाध्यायकाल है।

६ यूपक—शुक्ल पक्ष मे प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनो प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

७. यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा मे बिजली चमकने जैसा, थोड़े थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अत आकाश मे जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

८. धूमिका कृष्ण—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघों का गर्भमास होता है। इसमे धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पड़ती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पड़ती रहे, तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

९. मिहिकाश्वेत—शीतकाल मे श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुन्ध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. रज उद्घात—वायु के कारण आकाश मे चारो ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नही करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के हैं।

औदारिक सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३. हड्डी मांस और रुधिर—पचेंद्रिय तिर्यंच की हड्डी, मास और रुधिर यदि सामने दिखाई दे, तो जब तक वहां से यह वस्तुएं उठाई न जाएँ जब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओ के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि मास और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एव बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमशः सात एव आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. अशुचि—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. श्मशान—श्मशानभूमि के चारो ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

१७. सूर्यग्रहण—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमशः आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बडे मान्य राजा अथवा राष्ट्र पुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसंस्कार न हो तब तक स्वाध्याय न करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो तब तक शनै शनै स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओ मे परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नही करें।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पडा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पडा हो तो स्वाध्याय नही करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये हैं।

२१-२८ चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढपूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओ के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इसमे स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रात सायं मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घडी पहिले तथा एक घडी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घडी पहिले तथा एक घडी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर मे एक घडी आगे और एक घडी पीछे एव अर्धरात्रि मे भी एक घडी आगे तथा एक घडी पीछे स्वाध्याय नही करना चाहिए।

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ मोहनमलजी चोरडिया, मद्रास
२. श्री गुलाबचन्दजी मांगीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३. श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरडिया, बेंगलोर
५ श्री प्रेमराजजी भंवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६. श्री एस किशनचन्दजी चोरडिया, मद्रास
७ श्री कंवरलालजी बेताला, गोहाटी
८ श्री सेठ खींवराजजी चोरडिया मद्रास
९. श्री गुमानमलजी चोरड़िया, मद्रास
१० श्री एस बादलचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
११. श्री जे. दुलीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१२ श्री एस. रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१३. श्री जे अन्नराजजी चोरड़िया, मद्रास
१४ श्री एस सायरचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१५ श्री आर शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१६ श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१७. श्री जे हुक्मीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१. श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२ श्री जसराजजी गणेशमलजी संचेती, जोधपुर
३. श्री तिलोकचदजी, सागरमलजी संचेती, मद्रास
४. श्री पूसालालजी किस्तूरचंदजी सुराणा, कटंगी
५. श्री आर. प्रसन्नचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
६. श्री दीपचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७. श्री मूलचन्दजी चोरड़िया, कटंगी
८. श्री वर्द्धमान इण्डस्ट्रीज, कानपुर
९. श्री मांगीलालजी मिश्रीलालजी संचेती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री बिरदीचदजी प्रकाशचदजी तलेसरा, पाली
२ श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी मेहता, मेड़ता सिटी
४. श्री श० जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५ श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, ब्यावर
६ श्री मोहनलालजी नेमीचन्दजी ललवाणी, चांगाटोला
७. श्री दीपचदजी चन्दनमलजी चोरड़िया, मद्रास
८ श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चांगाटोला
९ श्रीमती सिरेकुंवर बाई धर्मपत्नी स्व श्री सुगनचन्दजी झामड़, मदुरान्तकम्
१० श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K G F) जाडन
११ श्री थानचन्दजी मेहता, जोधपुर
१२ श्री भैरुदानजी लाभचन्दजी सुराणा, नागौर
१३ श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
१४ श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया ब्यावर
१५ श्री इन्द्रचन्दजी बैद, राजनांदगाव
१६ श्री रावतमलजी भीकमचन्दजी पगारिया, बालाघाट
१७ श्री गणेशमलजी धर्मीचन्दजी कांकरिया, टंगला
१८ श्री सुगनचन्दजी बोकड़िया, इन्दौर
१९. श्री हरकचन्दजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२०. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचन्दजी लोढ़ा, चांगाटोला
२१. श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चांगाटोला

२२ श्री सागरमलजी नोरतमलजी पींचा, मद्रास
२३ श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी बालिया, अहमदाबाद
२४. श्री केशरीमलजी जंवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५. श्री रतनचन्दजी उत्तमचन्दजी मोदी, ब्यावर
२६ श्री धर्मीचन्दजी भागचन्दजी बोहरा, झूठा
२७. श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा डोंडीलोहारा
२८ श्री गुणचंदजी दलीचंदजी कटारिया, बेल्लारी
२९. श्री मूलचन्दजी सुजानमलजी सचेती, जोधपुर
३०. श्री सी० अमरचन्दजी बोथरा, मद्रास
३१ श्री भवरलालजी मूलचंदजी सुराणा, मद्रास
३२ श्री बादलचंदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३ श्री लालचंदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४ श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, अजमेर
३५ श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बेंगलोर
३६ श्री भवरीमलजी चोरडिया, मद्रास
३७. श्री भवरलालजी गोठी, मद्रास
३८. श्री जालमचंदजी रिखबचंदजी बाफना, आगरा
३९. श्री घेवरचंदजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४०. श्री जबरचन्दजी गेलडा, मद्रास
४१. श्री जडावमलजी सुगनचन्दजी, मद्रास
४२ श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३. श्री चेनमलजी सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४. श्री लूणकरणजी रिखबचंदजी लोढा, मद्रास
४५. श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१. श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसा, मेड़तासिटी
२. श्रीमती छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
३. श्री पूनमचन्दजी नाहटा, जोधपुर
४. श्री भवरलालजी विजयराजजी काकरिया, विल्लीपुरम्
५. श्री भंवरलालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री विजयराजजी रतनलालजी चतर, ब्यावर
७. श्री बी. गजराजजी बोकडिया, सेलम
८ श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी कांठेड, पाली
९. श्री के. पुखराजजी बाफणा, मद्रास
१० श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११. श्री मोहनलालजी मंगलचंदजी पगारिया, रायपुर
१२ श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणिया, चण्डावल
१३. श्री भवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१४ श्री उत्तमचंदजी मांगीलालजी, जोधपुर
१५ श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६ श्री सुमेरमलजी मेड़तिया, जोधपुर
१७ श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टांटिया, जोधपुर
१८ श्री उदयराजजी पुखराजजी सचेती, जोधपुर
१९. श्री बादरमलजी पुखराजजी बंट, कानपुर
२० श्रीमती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री ताराचंदजी गोठी, जोधपुर
२१ श्री रायचन्दजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२ श्री घेवरचन्दजी रूपराजजी, जोधपुर
२३ श्री भवरलालजी माणकचंदजी सुराणा, मद्रास
२४ श्री जंवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
२५. श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेड़तासिटी
२६ श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
२७. श्री जसराजजी जंवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८ श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९. श्री नेमीचंदजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३०. श्री ताराचंदजी केवलचंदजी कर्णावट, जोधपुर
३१. श्री आसूमल एण्ड कं०, जोधपुर
३२. श्री पुखराजजी लोढा, जोधपुर
३३. श्रीमती सुगनीबाई W/o श्री मिश्रीलालजी सांड, जोधपुर
३४. श्री बच्छराजी सुराणा, जोधपुर
३५. श्री हरकचन्दजी मेहता, जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लाभचंदजी मेड़तिया, जोधपुर
३७. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
३८. श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टांटिया, जोधपुर
३९. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा

४०. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१. श्री ओकचंदजी हेमराजजी सोनी, दुर्ग
४२. श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३. श्री घीसूलालजी लालचंदजी पारख, दुर्ग
४४. श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट क) जोधपुर
४५. श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६. श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार, बेंगलोर
४७ श्री भवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
४८. श्री लालचंदजी मोतीलालजी गादिया, बेंगलोर
४९ श्री भवरलालजी नवरत्नमलजी साखला, मेट्टूपालियम
५०. श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१. श्री आसकरणजी जसराजजी पारख, दुर्ग
५२. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३ श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेडतासिटी
५४. श्री घेवरचंदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५ श्री मांगीलालजी रेखचंदजी पारख, जोधपुर
५६. श्री मुन्नीलालजी मूलचंदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७ श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेडता सिटी
५९. श्री भवरलालजी रिखबचंदजी नाहटा, नागौर
६० श्री मांगीलालजी प्रकाशचन्दजी रूणवाल, मैसूर
६१ श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया कला
६२ श्री हरकचंदजी जुगराजजी बाफना, बेंगलोर
६३. श्री चन्दनमलजी प्रेमचंदजी मोदी, भिलाई
६४. श्री भीवराजजी बाघमार, कुचेरा
६५. श्री तिलोकचंदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
६६. श्री विजयलालजी प्रेमचंदजी गुलेच्छा, राजनांदगांव
६७. श्री रावतमलजी छाजेड, भिलाई
६८. श्री भंवरलालजी डूगरमलजी काकरिया, भिलाई
६९. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
७०. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ, दल्ली-राजहरा
७१. श्री चम्पालालजी बुद्धराजजी बाफणा, ब्यावर
७२ श्री गंगारामजी इन्द्रचंदजी बोहरा, कुचेरा
७३ श्री फतेहराजजी नेमीचंदजी कर्णावट, कलकत्ता
७४ श्री बालचंदजी थानचन्दजी भरट, कलकत्ता
७५ श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६ श्री जवरीलालजी शांतिलालजी सुराणा, बोलारम
७७ श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८ श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९ श्री माणकचंदजी रतनलालजी मुणोत, टंगला
८० श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढा, ब्यावर
८१ श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गौहाटी
८२ श्री पारसमलजी महावीरचंदजी बाफना, गोठ
८३ श्री फकीरचंदजी कमलचंदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४. श्री मांगीलालजी मदनलालजी चोरडिया, भैरूंदा
८५ श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६ श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७ श्री सरदारमलजी एण्ड कम्पनी, जोधपुर
८८ श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
८९ श्री धुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९० श्री इन्द्रचन्दजी मुकनचन्दजी, इन्दौर
९१ श्री भवरलालजी बाफणा, इन्दौर
९२ श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३ श्री बालचन्दजी अमरचन्दजी मोदी, ब्यावर
९४ श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भंडारी, बेंगलौर
९५ श्रीमती कमलाकंवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व. पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६ श्री अखेचंदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७. श्री सुगनचन्दजी संचेती, राजनांदगांव

९८. श्री प्रकाशचंदजी जैन, नागौर
९९. श्री कुशालचंदजी रिखबचन्दजी सुराणा, बोलारम
१००. श्री लक्ष्मीचंदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
१०१ श्री गूदड़मलजी चम्पालालजी, गोठन
१०२ श्री तेजराजजी कोठारी, मांगलियावास
१०३. सम्पतराजजी चोरड़िया, मद्रास
१०४. श्री अमरचंदजी छाजेड़, पादु बड़ी
१०५. श्री जुगराजजी धनराजजी बरमेचा, मद्रास
१०६. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
१०७ श्रीमती कंचनदेवी व निर्मलादेवी, मद्रास
१०८. श्री दुलेराजजी भंवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१०९. श्री भंवरलालजी मांगीलालजी बेताला, डेह
११०. श्री जीवराजजी भंवरलालजी चोरड़िया, भैरू दा
१११. श्री मांगीलालजी शांतिलालजी रूणवाल, हरसोलाव
११२ श्री चांदमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
११३ श्री रामप्रसन्न ज्ञानप्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
११४ श्री भूरमलजी दुलीचंदजी बोकड़िया, मेड़ता सिटी
११५. श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली
११६ श्रीमती रामकुंवरबाई धर्मपत्नी श्री चांदमलजी लोढा, बम्बई
११७. श्री मांगीलालजी उत्तमचंदजी बाफणा, बैंगलोर
११८. श्री सांचालालजी बाफणा, औरंगाबाद
११९ श्री भीखमचन्दजी माणकचन्दजी खाबिया, (कुडालोर) मद्रास
१२० श्रीमती अनोपकुंवर धर्मपत्नी श्री चम्पालालजी संघवी, कुचेरा
१२१. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थांवला
१२२ श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता
१२३ श्री भीखमचन्दजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
१२४. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड़, सिकन्दराबाद
१२५. श्री मिश्रीलालजी सज्जनलालजी कटारिया सिकन्दराबाद
१२६. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, बगड़ीनगर
१२७. श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी, बिलाड़ा
१२८. श्री टी. पारसमलजी चोरड़िया, मद्रास
१२९. श्री मोतीलालजी आसूलालजी बोहरा एण्ड कं., बैंगलोर
१३० श्री सम्पतराजजी सुराणा, मनमाड़ □□